

हिन्दी भक्ति काव्य में

**रसभक्ति धारा**

और

**उसका वाणी**

**साहित्य**

किशोरीशरण 'अलि'



## ग्रन्थ दर्शन

‘रस’ सहृदय सम्बेद्य पदार्थ है। अतः उसकी भक्ति भी बुद्धि सम्बेद्य नहीं कही जा सकती; फिर भी उसके निबन्ध परिचयालोक को प्रबन्धाकृत किया गया है। यह चमत्कार गण आनन्द की अद्भुतता का ही द्योतक है। ‘रस’ यदि किसी साहित्य-‘सामग्री’ पर आधारित है तो वह कृत्तिम ही है; सत्यं शिवं और सुन्दरम् नहीं। इसीलिए वह ‘रस’ सरसिकाचार्य की वाणी से विचुम्बित अद्भुतानन्द ही है। ऐसे अद्भुतानन्द रूप में परिभाषित ‘रस’ की भक्ति निर्गुण निराकार और सगुण साकार की स्वरूप सीमा में समावृत कैसे हो सकती है—वह तो स्वयमेव उन दोनों से परे स्वतः सिद्ध है।

इस रस भक्ति धारा का समुद्गम श्री हिताचार्य द्वारा विक्रम की सोलहवीं शताब्दी ही हो गया था; किन्तु वह रस धारा सरस्वती नदी की भाँति प्रकटाप्रकट ही बनी रही, नी हुई है और बनी रहेगी। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों की दृष्टि में भी वह सगुण भक्ति धारा के रूप में ही परिलक्षित बनी रही। इस रस धारा के समज्जक रसिकगण श्रीकृष्ण भक्त संज्ञक तथा उनकी रस वाणी कृष्ण भक्ति काव्य संज्ञक बनी रही। पूज्यपाद श्री महाराज जी द्वारा प्रणीत यह शोध प्रबंध इन भ्रान्तियों का उन्मूलन उनके निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति से पृथक् रस भक्ति धारा का सांगोपाङ्ग परिचय, रस भक्ति धारा के रसिक वाणीकारों और उनके रस वाणी साहित्य का परिचय प्रदायक है।

रस भक्ति धारा के उत्सकार श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी की विषय वस्तु को नित्य नूतन ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ घोषित किया है। ‘नित्य नूतन’ शब्द ही गेय, ध्येय और स्वरूप परमेष्ठ तत्त्व की परात्परता नित्यता और उसकी नित्य नव रूपता की रम्य प्रेमियों कीर्ण करता है। परमेष्ठ ‘प्रेम’ की नित्य नव रूपता ही उसे सभी अवतार स्वरूपों पृथक्, प्रकटाप्रकट की सीमा से विमुक्त ‘सदैव प्रकटतर’ मानने के लिये विवश करती है। इस ‘सदैव प्रकटतर’ स्वरूप ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ की निरंतर चलने वाली क्रीड़ा का नाम नित्यबिहार है। यह रस विज्ञान प्रस्तुत प्रबंध की ही रसमयी देन है।

समादरणीय सभी वैदिक सत सम्प्रदायाचार्यगणों ने श्रुतियों के ‘नेति-नेति’ शब्द अर्थ तो किया है; किन्तु ‘नेति-नेति’ शब्द के द्वारा अभिव्यंजित रहस्यमय रूप को उपास्य बनाकर श्रुति वर्णित रूप को ही अपना उपास्य बनाया है। श्री हिताचार्य ने श्रुतियों के अर्थ में ही विद्यमान किन्तु उसकी वाणी से असंपृक्त रूप को ही अपना उपास्य बनाया है। अतः उन्होंने स्वयं ही अपने को सबके विरुद्ध घोषित किया है। यही कारण है कि प्रेमोपासना किंवा प्रेमोपासना के लिये श्री हिताचार्य की वाणी ही एकमात्र प्रमाण है। सन्धान प्रधान वर्तमान युग के विद्वान यदि प्रस्तुत प्रबन्ध के अभिनव ऐतिहासिक तथ्यों हिन्दी जगत को परिचित कराने के लिये इसे शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान देने का प्रयास तो हिन्दी साहित्य का इतिहास अपने पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष होगा।

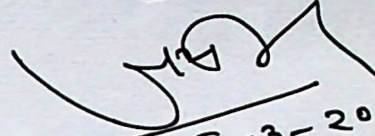
डॉ० जयेश खण्डेलवाल  
निदेशक

रस भारती संस्थान, वृन्दावन



भादरणीय शुक्र राव मादूरु  
को

सप्रेम भेंट

  
8-2-2006







हिन्दी भक्ति काव्य में रसभक्ति धारा  
और  
उसका वाणी साहित्य

लेखक  
किशोरीशरण 'अलि'

संस्थापक, अध्यक्ष  
रस भारती संस्थान, वृन्दावन

प्रकाशक  
रस भारती संस्थान, वृन्दावन



प्रकाशक  
रस भारती संस्थान, वृन्दावन  
१०२ सेवाकुंज गली, वृन्दावन - २८११२१  
दूरभाष - [ ०५६५ ] ४४३८००

प्रकाशन तिथि  
शारदीय पूर्णिमा वि. सं. २०५४  
प्रथम संस्करण

न्यौछावर - रु. ५०० / मात्र

सर्वाधिकार - प्रकाशकाधीन

मुद्रक  
राधा प्रेस,  
गांधी नगर, दिल्ली-११००३१  
दूरभाष - [ ०११ ] २२१३१०७

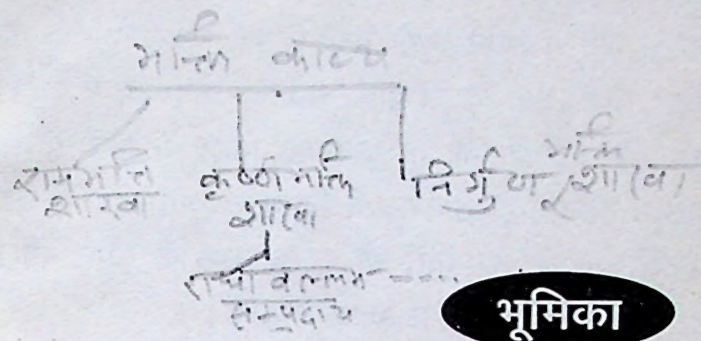
### प्राप्ति स्थल

खण्डेलवाल एण्ड सन्स  
अठखम्मा बाजार, वृन्दावन  
दूरभाष - [ ०५६५ ] ४४३१०१

चौखम्मा सुभारती प्रकाशन  
K- ३७ / ११७ गोपाल मन्दिर लेन,  
पो. वा. नं. ११२६ वाराणसी  
दूरभाष - [ ०५४२ ] ३३३४३१

सीताराम पुस्तकालय  
द्वारिकाधीश मन्दिर के पास  
विश्राम बाजार, मथुरा  
दूरभाष - [ ०५६५ ] ४०३६६१





मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में वृन्दावन का सुविख्यात राधाबल्लभ सम्प्रदाय अपनी मौलिक स्थापनाओं के कारण माधुर्यभाव के भक्तों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। श्री हित हरिवंश गोस्वामी ने आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व वृन्दावन में भक्ति मार्ग का नवोन्मेष किया और कर्मकांड के विधि विधानों से भक्त को मुक्ति दिलाकर माधुर्य भाव से रसभक्ति का आनन्दप्रद नूतन मार्ग दिखाया था। माधुर्य भाव की भक्ति तो तत्कालीन सगुणोपासक वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित थी किन्तु 'रस' अर्थात् 'प्रेम' को केन्द्र में रखकर इसकी अद्भुत परिपाटी श्री हिताचार्य जी की ही देन है। श्री हिताचार्य ने उस परम्परा को भली भाँति समझ कर उसका केन्द्र 'रस' को बना दिया जो एक नूतन और अद्भुत कोटि की भक्ति बनकर अत्यन्त आह्लादकारी भक्ति बन गयी और उसे रसभक्ति कहा जाने लगा।

इस रसभक्ति के उद्भव और विकास में किसी शास्त्रीय परम्परा का योगदान नहीं है। भक्ति रसायन, हरिभक्तिरसामृत सिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि आदि ग्रन्थों में वर्णित भक्ति को हित हरिवंश जी ने रसभक्ति में समाहित न करके ब्रजभाषा में अपनी मौलिक प्रतिभा से प्रतिष्ठित किया। वैसे राधासुधानिधि शीर्षक अपनी संस्कृत रचना में उन्होंने रसभक्ति के संदर्भ यत्र-तत्र स्वरचित श्लोकों में अवश्य प्रस्तुत किये हैं किन्तु समग्र रूप से सर्वाङ्गीण रसभक्ति का प्रवाह उनके हित चौरासी शीर्षक ग्रंथ में ही लक्षित किया जा सकता है। हित



चौरासी ब्रजभाषा का एक ऐसा वाणी ग्रन्थ है जिसमें राधाबल्लभ सम्प्रदाय के प्रेम विषयक मन्तव्यों के साथ रसभक्ति के माधुर्य भाव को उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस रसभक्ति को राधाबल्लभ सम्प्रदाय के तीन सौ से अधिक रसिकों ने अपने वाणी ग्रंथों में बड़े मनोयोगपूर्वक गाया है। रसभक्ति का सर्वप्रथम और इतना विपुल वाणी साहित्य ब्रजभाषा में कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। श्री हित हरिवंश जी के ब्रजभाषा काव्य में हित चौरासी तथा स्फुट वाणी शीर्षक दो रचनाएं ही उपलब्ध हैं किन्तु संस्कृत भाषा में लिखी राधासुधानिधि में भी प्रकारान्तर से रस मूर्ति श्री राधाबल्लभ के 'प्रेम' को रस की कसौटी पर स्थिर कर भक्ति का वर्णन किया गया है।

श्री हित हरिवंश जी ने तथा परवर्ती मतानुयायियों ने, अपनी ललित प्रांजल वाणी में रसभक्ति का बड़े विस्तार से वर्णन कर इस नूतन रसभक्ति को ब्रजभाषा का आकर्षक उपास्य तत्व बना दिया। यदि ब्रज भाषा के चार सौ वर्ष के वाणी साहित्य का, भक्ति की कसौटी पर, आकलन किया जाय तो हम देखते हैं कि राधाबल्लभीय रसिकों ने रसभक्ति को केन्द्र में रखकर जो वाणी साहित्य लिखा वैसा उच्चस्तरीय रसभक्ति विषयक साहित्य किसी सम्प्रदाय में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु इस विपुल वाणी साहित्य पर अद्यावधि मनीषी विद्वानों का ध्यान नहीं गया। शोध-प्रबंध लिखने वाले अनुसंधाताओं की दृष्टि में भी यह विशाल वाणी-साहित्य नहीं आया। हित हरिवंश जी के शिष्यों तथा कतिपय प्रमुख वाणीकारों की रचनाओं पर तो शोधकर्ताओं ने विहंगम दृष्टिपात किया किन्तु तीन सौ से अधिक रचनाकारों की वाणियों पर गंभीरतापूर्वक अनुसंधानपरक विवेचन-विश्लेषण नहीं हुआ। यदि इन सभी वाणीकारों की समग्र रचनाओं को एकत्रित कर उन पर गवेषणात्मक दृष्टि से रसभक्ति-मीमांसा की जाती तो निस्सन्देह इस गूढ़-गंभीर तत्व का भक्तों को बोध अवश्य हो जाता।

यह बड़े हर्ष का विषय है कि 'हिन्दी भक्ति काव्य में रसभक्ति धारा और उसका वाणी साहित्य' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर श्री किशोरीशरण जी 'अलि' जी ने अपने जीवन का अधिकांश समय सार्थक कार्य सम्पन्न करने में लगाया और पुण्य लाभ प्राप्त करके श्री हिताचार्य द्वारा प्रतिपादित, रसभक्ति को सर्व सामान्य भक्तजन के लिए सुलभ बनाया। रसिक प्रवर अलि जी का यह कार्य धर्म,



अध्यात्म और भक्ति के क्षेत्र में स्तुत्य रहेगा। अलि जी राधाबल्लभीय उच्च कोटि के रसिक हैं किन्तु रसभक्ति साधना के साथ-साथ वे रसभक्ति-तत्त्व के अनुसंधाता एवं प्रमाता भी हैं। इस विशाल ग्रन्थ में उन्होंने जो सामग्री एकत्र की है वह प्रामाणिक स्रोतों से अवगाहन पूर्वक जुटाई है। मैंने अलि जी द्वारा तीन सौ से अधिक वाणीकारों की रचनाओं में व्याप्त रसभक्ति को पूरी पारदर्शिता के साथ उद्घाटित होते हुए पाया है। श्री अलि जी ने रसभक्ति को हृदयंगम करने के लिए उन सभी विषयों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है जो रसभक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने में सहायक होते हैं। एक विशेषता यह भी है कि रसभक्ति के सिद्धान्त प्रतिपादन में उन्होंने रसभक्ति-आविर्भावक श्रीहित हरिवंश जी की रचनाओं को ही इस शोधग्रन्थ में प्रमाण रूप में स्वीकार किया है।

### रसभक्ति का प्रेमपथ :-

रसभक्ति का मार्ग 'प्रेम' की भक्ति का मधुर पथ है। इस पथ का अनुसरण या अनुगमन करने पर भक्त के मन की जिज्ञासाएं, शंकाएं और भ्रामक धारणाएं स्वयमेव समूल नष्ट हो जाती हैं। आराध्या प्रेम मूर्ति श्री राधा के स्मरण मात्र से जब भक्त की मनोग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तब उसे किसी अन्य गुरु या पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती। राधाबल्लभ सम्प्रदाय में राधा-स्मरण के लिए कुछ मानसिक अनुष्ठानों का विधान तो है किन्तु किसी बाह्य कर्मकांड की व्यवस्था नहीं है। अष्टयाम सेवा-पूजा में रसोपासना के लिए जो विधि-विधान स्वीकृत हैं वे भी बाह्य कर्मकांड से असंपृक्त ही हैं। रसभक्ति में बाधक यामों की पूजा-अर्चा को छोड़ दिया गया है। बल्लभ सम्प्रदाय की बाल लीलाओं को हिताचार्य ने इसी कारण छोड़ दिया कि उनके समावेश से राधाकृष्ण की रसाश्रित प्रेम लीलाएं सम्पन्न नहीं हो सकतीं। बाल लीला, पौगंडलीला और ऐश्वर्यमयी लीलाओं में रसभक्ति की अव्याहत धारा सतत प्रवाहित नहीं रहती। उनमें प्रेम की चरम परिणति भी नहीं होती। गौचारण करने में कृष्ण की माधुर्य मंडित छवि पर आघात पहुँचता है, इसलिए अष्टयामी सेवा में इस लीला को स्थान नहीं दिया गया।

श्री किशोरीशरण 'अलि' ने अपने रसभक्ति विषयक ग्रन्थ में उन सभी विषयों का समावेश किया है जो राधाकृष्ण की प्रेम एवं अनुरागमयी लीलाओं का



आधार बनते हैं। भक्ति का स्वरूप विवेचन करने के उपरान्त उन्होंने राधाबल्लभीय लीलाओं का विस्तार से वर्णन किया है। नित्यबिहार एक ऐसा विषय है जो रसभक्ति को प्रतिष्ठित करने में सर्वप्रथम सहायक होता है। जब तक नित्यबिहार स्वरूप को हृदयंगम न किया जायगा तब तक रसभक्ति के परिसर में प्रवेश का अधिकार प्राप्त न होगा। श्रीकृष्ण, श्रीराधा, वृन्दावन धाम और सहचरी [सखी] के समवेत रूप को नित्यबिहार का अनिवार्य रूप माना जाता है। इस 'नित्यबिहार' की अलि जी ने विशद व्याख्या प्रस्तुत की है और रसभक्ति के उपादान के रूप में नित्यबिहार की अनिवार्यता पर बल दिया है। यदि वृन्दावन का नित्य रूप न हो तो राधा-कृष्ण की प्रेममयी रसभक्ति कैसे निष्पन्न होगी। यदि राधा और कृष्ण न हों तो लीला का स्फुरण और स्पन्दन कैसे होगा और यदि उन रसमयी लीलाओं के दर्शन द्वारा आनन्द विभोर होने वाली सहचरी न हों तो लीलाओं की सार्थकता क्या होगी? हिताचार्य जी ने नित्यबिहार को स्थापित करते समय उन सभी उपादानों का ध्यान रखा है जो रसभक्ति में सहायक होते हैं।

श्री हिताचार्य जी ने परात्पर 'प्रेम' किंवा 'रस' को उपास्य बनाते समय इन सभी तत्वों पर ध्यान दिया है। श्री अलि जी के ग्रन्थ में इस विषय का विशद विवेचन है। इस ग्रन्थ में गादी सेवा पर भी ध्यान दिया है। हित हरिवंश जी ने राधा विग्रह के स्थान पर गादी सेवा को स्थान दिया है। गादी अर्थात् गद्दी सेवा का तात्पर्य यही है कि भक्त के मन में नित्यबिहारी श्रीकृष्ण और राधा का जो रूप उद्भासित हो वह काम केलि क्रीड़ा रहित रसमयी भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए। रसभक्ति के क्षेत्र में हिताचार्य का यह एक अभिनव प्रयोग था। यद्यपि आज यह प्रयोग रूढ़ बन गया है तथापि इसमें भावना का उदात्त तत्व निहित है।

हिताचार्य जी ने वृन्दावन के प्रसिद्ध स्थलों का भी प्राकट्य किया जिनमें रासमंडल, सेवाकुंज आदि हैं। इन स्थलों पर लीलाओं का दर्शन आज भी प्रस्तुत किया जाता है। समाज संगीत की परिपाटी भी श्रीहिताचार्य के विद्यमान काल से अद्यावधि श्री राधाबल्लभ मन्दिर में प्रचलित है। समाज संगीत में वही संगीत गाया जाता है जो साम्प्रदायिक दृष्टि से स्वीकृत है। इन सब विषयों का विशद विवेचन अलि जी ने किया है और वाणी ग्रन्थों से प्रमाण देकर उसको पुष्ट किया



है। इससे पूर्व इन विषयों पर भक्तों और विद्वानों का ध्यान नहीं गया था। अलि जी ने अध्यवसाय पूर्वक वाणी ग्रन्थों का अध्ययन किया और पठनीय सामग्री पाठक वृन्द के लिए एकत्र कर दी है। वाणी साहित्य का इतना विशाल भंडार और गवेषणात्मक परिचय पहले अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं था।

राधाबल्लभीय सम्प्रदाय में स्वीकृत रसभक्ति का श्री किशोरीशरण 'अलि' जी ने अपने ग्रन्थ में जिस शैली से वाणी ग्रन्थों के साक्ष्य द्वारा निरूपण एवं प्रतिपादन किया है वह आधुनिक भौतिकतावादी वैज्ञानिक युग में किस विधि से ग्राह्य हो सकता है और क्या रसभक्ति को अपनी जीवनचर्या में उतार लेने से आज का भौतिकवादी मानव सुख, शान्ति और सन्तोष प्राप्त कर सकता है, यह एक जटिल प्रश्न है। प्रश्न ही क्या यह तो एक विकट समस्या है। इस समस्या का भक्तजन अपनी साधना से यदि समाधान खोजना भी चाहें तो शायद समाधान आसानी से सुलभ नहीं होगा। मैं इस समस्या के समाधान के लिए भक्तों को रसिकों की वाणी ग्रन्थों के पारायण का परामर्श देना चाहता हूँ। यदि वाणी ग्रन्थ से भी समाधान न मिले तो मैं ध्यान, धारणा और समाधि द्वारा अपनी अन्तश्चेतना को श्रीराधाबल्लभ लाल के नित्यबिहार की लीलाओं में निमज्जित होने और 'समाज' के सत्संग में बैठकर शान्तिमय [तल्लीन] भाव से रस देश में विचरण करने का संकेत करना चाहूँगा।

### भौतिक विज्ञानवाद और रसभक्ति :-

आज का विश्व-मानस भौतिकता से आकृष्ट होकर बौद्धिक तर्क और प्रत्यक्ष तत्व में विश्वास करता है। उसका सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो गया है। आज की संस्कृति भौतिक सभ्यता के उपादानों के संग्रह के कारण परिग्रह की, पार्थिव समृद्धि की, सुख-सम्पदा को जुटाने की बन गई है। वह भौतिक विज्ञान द्वारा प्रत्येक तत्व को प्रत्यक्ष प्रमाण से जानना चाहती है। आज का विश्व-मानस वैज्ञानिक दृष्टि से विकास की ओर अग्रसर है, निष्ठुर और निर्मम भाव से सत्यानुसंधान की व्याकुलता आधुनिकता का लक्षण है। जो बात बुद्धि की पकड़ में नहीं आती, उसे आज का विश्व-मानस मानने को उद्यत नहीं है। यह कैसी विडम्बना है कि हम आज के विश्व-मानस हो गये हैं। बौद्धिक-विमर्श आज के विश्व-मानस की सीमा है। आज का वैज्ञानिक गोचर जगत तक जिस



मनोजगत तक नहीं पहुँच पाता। फलतः धर्म, दर्शन, भक्ति, उपासना, अध्यात्म, श्रद्धा, विश्वास, परम्परा आदि को यथावत् स्वीकार करने को बुद्धिजीवी वैज्ञानिक तैयार नहीं है।

### मध्ययुगीन भक्ति-साधना और रसभक्ति :-

भारतीय अध्यात्म-चिन्तन में भौतिकतावादी दृष्टि के लिए वह स्थान नहीं है, जो आज के चिन्तन में लक्षित होता है। भारतीय जीवन-दर्शन के मूल में आस्तिक भावना है। आस्तिक भावना के साथ भगवान् के प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पण है। यह समर्पण ही सान्निध्य का मार्ग है। भगवान् का अनुग्रह, प्रपत्ति, कृपा और भरोसा भक्त के लिए इतना प्रबल है कि वह अपने अस्तित्व को विस्मृत कर भगवन्निष्ठ होने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानता है। संसार का भौतिक वैभव उसके लिए रजकण के सदृश तुच्छ हो जाता है और अपरिग्रह की ऐसी स्थिति आती है कि भगवान् की रसमयी लीलाओं के दर्शन के सिवा भक्त की आकांक्षा में कुछ भी शेष नहीं रहता। इस प्रकार की भक्ति-भावना से जो सान्निध्य भक्त को सुलभ होता है, वह रसानुभूति का चरम बिन्दु है। यदि हम आज के विश्व-मानस को रसानुभूति के इस परम आह्लादक बिन्दु पर देखना चाहते हैं तो भौतिकवादी धूमिल दृष्टि से परिष्कार की सबसे पहले आवश्यकता होगी।

मध्ययुग के विश्व-मानस पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर-विश्वास के साथ धार्मिक भावना की एक गहरी छाप उस युग में विद्यमान थी। उस युग में मनुष्य का प्रयत्न प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा स्वयं अपनी चित्तवृत्ति पर, अपने मनोवेगों पर विजय प्राप्त करने की ओर अधिक था। इसीलिए भौतिक उपादानों की दृष्टि से वह सुखी कम होने पर भी सन्तुष्ट अधिक था। लेकिन सुख का अधिष्ठान बाहर न होकर मनुष्य के भीतर, मनुष्य के मन में होता है। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि कोपीन और करवा रख कर भी मनुष्य सुख की अनुभूति कर सकता है। मध्ययुग के भक्तों और सन्तों ने आणविक शक्ति के विकास द्वारा संसार को ध्वंस के कगार पर खड़ा करने का स्वप्न नहीं देखा था। उनकी दृष्टि विश्वमैत्री, करुणा, अहिंसा और सद्भाव के साथ स्व-सुख से उपर उठकर मानव-मात्र के सुख की ओर



रहती थी। आधुनिक युग की व्यस्त, संतुष्ट, संहार और विनाश की जीवनचर्या से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।

आज के विश्व-मानस पर विचार करते समय जीवन-दर्शन और जीवन-मूल्यों का प्रश्न सामने आता है। प्राचीन भारत में साधना के चार मार्ग थे—ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग। ज्ञान-मार्गी के लिए तत्त्व-चिन्ता ही अन्तिम साध्य विषय था, कर्म-मार्गी के लिए नाना प्रकार के कर्मकाण्डों का विधान था। भक्ति-मार्गी के लिए भक्ति के विविध साधन और उपाय थे, योगमार्गी शुद्ध तपस्या, यम-नियम आदि पर निर्भर रहकर जीवनयापन में विश्वास करता था। आज ज्ञान का क्षेत्र बदल गया है, अध्यात्म को ज्ञान के लिए ग्रहण नहीं किया जाता अर्थात् तत्त्व-चिन्ता ब्रह्म-जिज्ञासा नहीं है, पदार्थ जिज्ञासा है। कर्मकाण्ड का स्थान दैनन्दिन जीवन के कर्मजाल ने ले लिया है, धनोपार्जन ही कर्म रह गया है, उसमें शुद्ध साधन की भी अपेक्षा नहीं है। भक्ति और योग के लिए आधुनिक भौतिकवादी चिन्तन में कोई स्थान नहीं है। मन्दिर और पूजास्थल बनवाने की अपेक्षा आज प्रयोगशालाएं स्थापित करने में उसकी निष्ठा है। ईश्वर और आत्मा अर्थात् अध्यात्म-चिन्तन को छोड़कर आज का मानव पदार्थ की जिज्ञासा और भूत की साधना में संलग्न है।

### रसभक्ति का स्वरूप :-

आज हम भक्ति के संदर्भ में जो चर्चा करते हैं, वह मध्ययुगीन भक्तों की देन है। मध्ययुगीन भक्तों ने अपनी भक्ति-साधना को माधुर्य मण्डित कर जिस रूप में रस-प्लावित किया, वैसा पहले किसी साधक या भक्त ने नहीं किया था। इस रसभक्ति को समझने के लिए भारतीय उपासना मार्गों का सही परिप्रेक्ष्य में निर्वचन-विश्लेषण करना होगा। भारतीय उपासना मार्गों का आकलन करते समय उनके मूल संनिविष्ट व्यापक जीवन दृष्टि को ध्यान में रखना होगा। भारतीय मनीषी पुनर्जन्म में विश्वास करते हुए शाश्वत जीवन मूल्यों का संधान करते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि आधुनिकता और अद्यतन तक सीमित नहीं रहती। कालातीत दृष्टि से सत्यानुसंधान भारतीय मनीषा की देन है।

### रस और लीला-दर्शन :-

रसोपासना की पद्धति में 'रस' को साध्य मानकर, आनन्द का अनन्त स्रोत



मानकर ही उपास्य तत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। ब्रज के भक्ति सम्प्रदायों में 'रस' कल्पित या आरोपित न होकर भक्ति का मेरुदण्ड है। यह 'रस' धर्म और सम्प्रदाय की धुरी है, जिसे किसी भी रूप में छोड़ा नहीं जा सकता। तैत्तिरीयोपनिषद की ब्रह्मानन्दवल्ली में जिस ब्रह्म-जिज्ञासा को उठाकर "रसो वै सः" द्वारा समाधान किया गया है, वही रस, आनन्द, स्वरूप रस, ब्रज-भक्ति-सम्प्रदायों में आस्वाद्य बनता है। अतएव इस 'रस' को हम साधना और साध्य दोनों रूपों में देख सकते हैं। औपनिषदिक विचारधारा में ब्रह्म-चिन्तन को सर्वाधिक प्रिय ठहराकर उसका प्रियतम रूप वर्णित किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद में "प्रेयः पुत्रात् प्रयो वित्तात् प्रेमोऽन्यास्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा"—द्वारा उसकी अव्यक्त सत्ता को रसघन-विग्रह अर्थात् सर्वाधिक प्रिय रूप से प्रस्तुत किया गया है। रसोपासना का यह वैशिष्ट्य ही उसे अन्य सभी उपासना मार्गों एवं प्रकारों से पृथक् कर देता है। रसोपासना का आधार-बिन्दु तो भाव ही है। भावविहीन व्यक्ति रसोपासना का अधिकारी नहीं है। वृन्दावन भावना की भूमि है। जिसके पास मानसिक भाव-सम्पदा नहीं, वह इसके मर्म को नहीं समझ सकता —

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृण्मये।

देवो हि विद्यते भावे, तस्माद् भावो हि कारणम्॥

भक्ति-रस के सम्बन्ध में काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में जो कुछ लिखा गया है, उसकी चिन्ता न करते हुए वृन्दावन के रसोपासकों ने राधाकृष्ण की आनन्दमयी लीलाओं को रस का अधिष्ठान बनाया है और उन्हीं लीलाओं के माध्यम से अपनी भक्तिभावना का प्रसार किया है। जिस प्रकार एक ही सिन्धु में नाना प्रकार की रत्नराशि, जीव-जन्तु और जल-बुदबुद रहते हैं, उसी प्रकार लीलार्णव में एक ही राधाकृष्ण-प्रेम नाना रूपों और नाना भावों में व्यक्त होता रहता है। वृन्दावन इस रस की मंगलमयी स्थली है। जिस वृन्दावन को धाम कहा जाता है, वहीं यह नित्य 'रस' निवास करता है। जिस प्रकार शुक को वृक्ष के गहन झुरमुट में पल्लव और डाल-पात की जगह केवल रसपूर्ण पका फल ही दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार रसिक भक्त को वृन्दावन की निभृत निकुंजों में प्रिया-प्रियतम की अहर्निश चल रही माधुर्य-लीला की झाँकी ही लक्षित होती है। इस युगल-लीला के साक्षात्कार के लिए रसिक भक्त को रस स्वरूपा



राधाकिंकरी-भाव धारण करना पड़ता है। रसोपासकों की दृष्टि में इस नित्य-लीला-रस के साक्षात्कार की तुलना में ब्रह्म साक्षात्कार, मोक्ष या मुक्ति तुच्छ प्रतीत होती है। इसीलिए इस रसोपासना को सर्वोपरि ठहरा कर अन्य मार्गों से भिन्न माना गया है।

रसोपासना के सम्बन्ध में एक बात ध्यातव्य है। इस उपासना को एक प्रकार से गुह्य कहा जाता है। वास्तव में यह गुह्य उपासना नहीं है। यह अव्याकृत भी नहीं है। हाँ, अधिकारी और अनधिकारी का प्रश्न इस मार्ग में सदैव रहा है। राधाकिंकरी-भाव की उपासना के मर्म को न समझ पाने वाले उपासक के लिए यह गोप्य ही है। नीरस व्यक्तियों के लिए इसे वर्जित ही कहना उचित है। इस मार्ग में नवधा भक्ति का विधान नहीं है। व्रत, उपवास, तीर्थाटन आदि का पालन भी नहीं माना जाता। विधि-निषेध की जो मर्यादा अन्य भक्ति-मार्गों में है वह भी इस मार्ग में नहीं है —

**सेवी नित्यबिहार के, रसिक अनन्य नरेस।**

**विधि-निषेध क्षिति छाँड़ि कै, मढ़े प्रेम नभ-देस॥**

संक्षेप में रसोपासना का यह भक्ति-मार्ग लोकोत्तर है, चर्म-चक्षुओं से इसका साक्षात्कार सम्भव नहीं। यह चिद्विलास है, सांसारिक भोग-विलास नहीं। यह मर्म गोचर है, चक्षु गोचर नहीं। भाव-जगत् में प्रवेश करने पर ही इसका आस्वांद सम्भव होता है —

**काम केलि रस और न परसत प्रेम समुद्र अपार।**

**मत्त मुदित सहचरि सेवत नित लता ललित आगार॥**

रस के जगत् में वही व्यक्ति प्रवेश का अधिकारी होता है जिसका मन निर्मल, स्वच्छ, निष्कपट, वासनाहीन, लौकिक कामकेलि-रहित और लीला-दर्शन में सम्पूर्ण रूप से लीन होता है। आज के आधुनिक चिन्तन का मूल बुद्धि है। बुद्धि तर्काश्रित सत्य से आगे नहीं जाती। बुद्धि मन की अतल गहराइयों तक जाने में समर्थ नहीं है। यह हमारी बौद्धिक विडम्बना ही है कि हम बुद्धि तक सीमित रहकर आत्म-तत्त्व को पहचानना और पकड़ना चाहते हैं। रस की सूक्ष्म चेतना को समझने में अक्षम होकर उसे प्रति क्रियावादी, रूढ़िवादी और संकीर्ण परम्परावादी जीवन-दृष्टि कहने की भूल करते हैं।



### रसोन्मुखी दृष्टि :-

पाश्चात्य देश का मानस आज अपने द्वारा निर्मित सुख-सुविधा के साधनों से स्वयं संतुष्ट है। जीवन का रस सूख जाने से वह भौतिकता से परेशान होकर भारत जैसे धर्म-प्राण देश की ओर शान्ति और संतोष प्राप्ति के लिए देख रहा है। सिगरेट और शराब की प्याली से उसका मन ऊब गया है। वह अपनी मशीनी सभ्यता से उत्पन्न ऊब, खीझ, उलझन, कुण्ठा, त्रास, उद्वेग और अशान्ति को भारत के भक्ति-मार्गी चिन्तन और योग-मार्गी साधना से दूर करना चाहता है। दूसरे शब्दों में वह रस की आनन्दमयी भूमिका में आकर अपनी कुण्ठाजनित निराशा और त्रासोद्भव विभीषिका को दूर करना चाहता है। वह भारतीय पुराकथा और भक्ति-साहित्य को आह्लाद के साथ पढ़ना चाहता है। वह जीवन की त्रासदी में फँसा मानव आज यदि कहीं चैन पाता है तो वह भारतीय आध्यात्मिक चिंतन की रसमयी धारा में ही पाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए योग और मानसिक शांति के लिए भक्ति-मार्ग ही अवलम्ब बन गये हैं।

### रस-भक्ति की पुनरावृत्ति :-

मैं अनुभव करता हूँ कि इक्कीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इतिहास की पुनरावृत्ति जिस रूप में होगी वह इतिहास यूरोप, चीन, जापान, रूस और अमरीका का इतिहास न होकर भारत का इतिहास होगा। भारत का वह इतिहास होगा जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर भगवदनिष्ठ होकर अपरिग्रह-भाव से जीवन यापन करता था। प्रकृति पर विजय प्राप्त करना उसका लक्ष्य नहीं था, प्राकृतिक उपादानों के आवश्यकतानुसार उपयोग से वह सन्तुष्ट रहता था। प्रकृति उसकी सहचरी थी और वह प्रकृति के साथ पूरे सामंजस्य के साथ व्यवहार करता था। इस भावी युग का इतिहास वैज्ञानिक उपलब्धियों पर गर्व न करके आध्यात्मिक शान्ति-साधनों पर गर्व करने वाला होगा। विज्ञान मनुष्य का सेवक होगा और अध्यात्म, विज्ञान का स्वामी होगा। उस समय जिस संस्कृति की पुनरावृत्ति होगी वह रागात्मिकावृत्ति से उद्वेलित रसमयी, आनन्दप्रद संस्कृति होगी। आपाधापी और उद्वेलन की घबराहट से रहित संस्कृति में साँस लेने वाला मानव तब सचमुच जीवन की सार्थकता का अनुभव करेगा। हो सकता है मेरी यह कल्पना आपको यूटोपिया, अयथार्थ, कल्पित सुख प्रतीत हो किन्तु



जिस गति से विश्व-मानस आधुनिक युग में विज्ञान और भौतिकतावाद की ओर अग्रसर है उसकी चरम परिणति को लक्ष्य कर मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ। पार्थिव प्रलोभन और दैहिक क्षुधा की एक सीमा होती है, उसके आगे अतृप्ति, संत्रास और विभीषिका के सिवा कुछ और नहीं रहता। अतः विज्ञान की अंधी गली में रास्ता न मिलने पर लौटकर विश्व-मानव को रस के देश में आना ही होगा।

रस का क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि उसमें पहुँचकर मानव-जाति अपना खोया हुआ सुख-चैन, सन्तोष-आनन्द पुनः प्राप्त कर सकेगी। रस की भूमिका उसकी साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनों में है। जो रस को संस्कृति के स्तर पर स्वीकार करना चाहते हैं उनके लिए भी इसमें स्थान है और जो रस को आनन्दावस्था के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं उनके लिए भी रस-लीन होने का पूरा अवकाश है। पाश्चात्य देशों में ऐसा विश्वास उत्पन्न हो गया था कि अतीत की संस्कृति वर्तमान से पराजित हो गई है लेकिन मेरा विश्वास है कि वह भारत में अपनी ऊर्जा के साथ जीवित है और वर्तमान के आगे उसने घुटने नहीं टेके हैं। यदि रस भक्ति को भली भाँति समझ लिया जाय तो भक्त को भगवान के अनुग्रह से सच्चा सुख और सन्तोष मिल सकता है।

रस-भक्ति एक संस्कार है, एक उदात्त आस्तिक जीवनचर्या है। जब तक जीवन में अशांति है, हाहाकार है, भोग-विलास की बलवती स्पृहा है, तब तक इस संस्कृति का पौधा कुण्ठा और नैराश्य के आल-बाल में नहीं पनप सकता। जिस दिन शांति, सन्तोष, अध्यात्म और अपरिग्रह के स्वाति नक्षत्र की रसधार इस कुण्ठित मन पर पड़ेगी उसी दिन रस-भक्ति का पादप लहलहाने लगेगा। विज्ञान का उपयोग भी तब सृष्टि-संहार के लिए नहीं होगा, विज्ञान मानव जाति के कल्याण का मार्ग बनेगा। विश्व-मानस पर संस्कृति की अमिट छाप पड़ेगी और मानस का क्रन्दन एवं भीषण चीत्कार, उल्लास और आनन्द में बदल जायेगा।

रसिक सन्त श्री किशोरीशरण जी 'अलि' ने रस विषयक इस शोध ग्रंथ की विपुल सामग्री तथा वाणी साहित्य के रचयिता तीन सौ से अधिक वाणीकारों के साहित्यिक अवदान को रसभक्ति के निकष पर कसकर जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह पठनीय एवं मननीय होने के साथ-साथ रसभक्ति मार्ग के अनुसरण



में भी सहायक सिद्ध होगी। मैं श्रीअलि जी को इस गवेषणात्मक ग्रंथ-लेखन के लिए साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे इसी प्रकार के अनुसंधानात्मक ग्रन्थ लिखकर वाणी ग्रन्थों के विलुप्त होते हुए साहित्य को रसिक भक्तजनों और मनीषीगणों के लिए सुलभ बनाने में सहायक सिद्ध होंगे। ऐसे पुनीत कार्य के लिए श्रीजी की उन पर सदैव कृपा बनी रहे यही मेरी शुभ कामना है।

(विजयेन्द्र स्नातक)

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष,

हिन्दी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।



## पुरोवाक्

श्री किशोरीशरण जी 'अलि' की महत्वपूर्ण कृति 'हिन्दी भक्तिकाव्य में रस-भक्ति धारा और उसका वाणी-साहित्य' मेरे हाथों में है। इसकी 'भूमिका' अलग अन्तर के साथ लिखने का उनका अनुरोधमय आदेश हुआ है। श्रीहित-तत्त्व में अनन्य निष्ठा और तद्राग-रंजित वाणी में गहरी पैठ-दोनों ही अपेक्षित बातों से लगभग वंचित रहा हूँ। इधर यह कृति श्री अलिजी की दो दशकों की साधना का फल है। श्री हितोपासना के इतिहास-सिद्धान्त-साहित्य तीनों के सरल एवं सूक्ष्म अध्ययन की त्रिवेणी लिए यह कृति किसी वास्तविक अधिकारी की भूमिका के साथ अवतीर्ण होती तो पाठकों को अधिक मार्गदर्शिनी होती। यह 'पुरोवाक्' उनके आदेश का निर्वाह भर है।

इस कृति का महत्त्व हिन्दी-साहित्य की समष्टि से जुड़े अध्येताओं के लिए जितना होगा, उससे अधिक हित-चेतना के मर्म में अनुप्रवेश चाहने वालों के लिए होगा। इसमें सिद्धान्त ही नहीं समझाए गए, अपितु रसोपासना- साहित्य की परख के लिए कसौटियाँ भी दी गई हैं। साहित्यिक रस से, विशेषकर तद्गत शृंगार से, भक्ति-धारा का माधुर्य कहाँ कितना अलग होता है, इसकी चर्चा काफी-कुछ होती रही है। किन्तु रसोपासना का माधुर्य भक्ति-धारा के माधुर्य से कहाँ कितना अलग है, इसका बारीक विश्लेषण इस कृति में ही मिलेगा। कृष्ण-भक्ति के श्रीमद्भागवतानुसारी चित्रण में निहित अन्य रस-रूपों से 'माधुर्य' को व्यतिरेकी दिखाने के लिए 'महत्वानुभूति' या 'ऐश्वर्य' को कसौटी बनाया जा चुका था, किन्तु इसे अन्तर्भुक्त कर पाने की प्रक्रियाओं के और उनकी परिणतियों



के सूक्ष्म अन्तरों को हित-वाणी के उदाहरणों में ही विश्लेषित करते हुए यहाँ समझाया गया है। श्री हितवाणी में ब्रजलीला से जुड़े अनेक उपादानों का उल्लेख विद्वानों को भी संभ्रम पैदा कर देता है। भागवतानुसारी 'महारास' और हितोपासना का 'नित्यरास' किस बिन्दु पर पार्थक्य ग्रहण करते हैं, दोनों की 'श्रीराधा' में क्या अन्तर है, 'महारास' की गोपियों और 'नित्यरास' की सहचरियों के स्वरूपों में क्या भेद है, इसे हित-वाणी-वचनों द्वारा ही उदाहृत करके समझाया गया है। यहाँ का 'वृन्दावन' ब्रज में होते हुए भी ब्रज-चेतना से कहाँ और कितना भिन्न है, यह निरूपित कर पाना आसान काम नहीं था। 'हितोपासना' या कहिए 'रसोपासना' के एक-एक अपेक्षित बिन्दु को लेकर उसका स्वरूप एवं उसकी परिभाषा ही नहीं मिलेंगे, उनका स्पष्टीकरण भी आपको मिलेगा और वह भी मूलाचार्य के वाणी-वचनों में ही। अनेक बार तो समीक्षा ने 'शास्त्र' की भाषा पकड़ ली है।

'माधुर्य' की अतिशयिता—अधिकाधिक प्रकाश ही ऐश्वर्य रूप के अप्रकाशित होने का कारण है। माधुर्यमूर्ति पूर्णतर प्रेमस्वरूप श्री युगलवर में ईशत्व का अभाव नहीं, प्रत्युत अप्रकाश है, अनाभास है। सारांश यह कि श्रीराधा-श्यामसुन्दर ईश्वरत्व से सर्वथा विहीन साधारण लौकिक किशोर-किशोरी नहीं हैं। प्रत्युत वह पूर्ण माधुर्यमूर्ति के साथ-साथ पूर्ण और परात्पर ईश्वर भी हैं। यही कारण है कि कभी ये ब्रजलीला किंवा ऐश्वर्य लीला और उससे निष्पन्न होने वाले रूपों को अपने विनोद और आमोद पूर्ण परिहास का विषय बनाकर पारस्परिक विनोद करते देखे जाते हैं।

रसोपासना के माधुर्य की अन्तर्भुक्त-अनाभासित-ईशत्व वाली व्याख्या के माध्यम से श्रीहितवाणी-गत ब्रजलीला के संस्पर्शों को पुनराख्यात करते हुए जो प्रशंसनीय मार्ग प्रस्तुत किया गया है, वह हितोपासना के सिद्धान्त-पक्ष की सूक्ष्मतर रेखाएं तो प्रस्तुत करता ही है, साथ ही कसौटियों को विदग्ध-ग्राह्य भी बना देता है।

श्री अलिजी ने लम्बे एवं स-तर्क विवेचन के उपरान्त एक प्रस्ताव उपस्थित किया है : श्रीमद्भागवतानुसारी कृष्णभक्ति-चेतना से श्रीहिताचार्योद्घाटित रसोपासना की चेतना स्वतन्त्र एवं पूर्वापेक्षया सर्वथा नवीन है। उसमें यदि 'पूर्व' का कहीं संस्पर्श दिखता है तो वह आभास ही है या हितोपासना के व्यतिरेक की



संस्थापना के लिए पूर्व-पीठिका का काम करता है। इस रसोपासना की स्वतन्त्र रस-पद्धति है जिसका श्रीहितहरिवंशजी से पूर्व उपस्थित होने का प्रमाण नहीं मिलता। इस रसोपासना का वाणी-साहित्य मात्रा की प्रचुरता के कारण ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु इसके कई वाणीकार साहित्य की ऊँची से ऊँची कसौटी पर खरे, समर्थ साहित्य-स्रष्टा भी हैं। रसोपासना- साहित्य एक पुष्ट धारा के रूप में उपलब्ध है जिसका श्रीअलिजी ने विस्तार से परिचय दिया है। इस साहित्य में संस्कृत और ब्रज-दोनों ही में रचना हुई है। गद्य तथा पद्य दोनों रूप प्राप्त हैं। वाणी-साहित्य में रस-केलि-वर्णनात्मक ग्रन्थों के साथ-साथ लक्षण-ग्रन्थ, टीका ग्रन्थ, नाटक ग्रन्थ आदि अन्य रूप भी प्राप्त हैं। मात्रा की बात अलग है। वाणी-साहित्य में दो अन्तर्धाराएं भी दिखाई देती हैं, एक में निकुंजलीला का अनन्य गान है, दूसरी में निकुंजलीला के साथ-साथ [ शिष्टाचार-रूप में ] ब्रजलीला का गान भी स्वीकार है। श्रीअलिजी ने वाणी-साहित्य को पाँच कालों में विभाजित कर उनका नामकरण भी किया है। दो-ढाई सौ पृष्ठों में इस साहित्य का संक्षिप्त परिचय मात्र ही दिया जा सका है। इस विपुल साहित्य की सशक्त धारा को हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में उपयुक्त स्थान मिलना चाहिए।

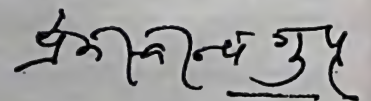
इस दृष्टि से अलिजी ने स्वयं हिन्दी भक्ति-साहित्य का नया विभाजन भी प्रस्तुत किया है। भक्ति-साहित्य को निर्गुण-सगुण दो धाराओं में विभाजित करने के स्थान पर 'निर्गुण-भक्ति', 'रस-भक्ति', और 'सगुण-भक्ति', इन तीन धाराओं में विभाजित किया जाना चाहिए। 'रस-भक्ति' यह नाम रसोपासना-साहित्य की धारा के लिए स्वीकार करने में 'रस-साहित्य' मोटे तौर पर भक्ति-साहित्य है, यह सहज स्वीकृति तो है ही साथ ही 'रसोपासना' 'निर्गुण-सगुण' के दायरों से स्वतन्त्र है यह व्यतिरेक-स्वीकृति भी है। आशा है कि रसोपासना के इस-विपुल साहित्य और इसकी प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी का साहित्येतिहास-लेखन इस प्रस्ताव पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेगा। हाँ कई प्रकार के प्रश्न उसके सामने उठेंगे। रसोपासना या रस-भक्ति की परिधि क्या हो ? राम-भक्ति के रसिक साहित्य का स्थान कहाँ हो ? सगुण-भक्ति, विशेषकर कृष्ण-भक्ति से वृन्दावनी रसोपासना की व्यतिरेकी रेखाओं को हिन्दी-साहित्य के सामान्य अधःपतन के लिए, जिनमें सम्प्रदाय की निष्ठा और बोध का प्रायः अभाव होता है, किस प्रकार सुग्राह्य बनाया जाए ? इन जैसे अनेक प्रश्न होंगे जिन पर हिन्दी



साहित्य के सम्प्रदायेतर और सम्प्रदाय-निष्ठित दोनों प्रकार के विद्वान् विचार करेंगे, श्रीअलिजी के प्रस्ताव को आगे बढ़ायेंगे और हिन्दी-साहित्येतिहास लेखन के एक भारी अभाव को पूरा करेंगे। इतना निश्चित है कि हिन्दी-साहित्य का कोई इतिहास रस-भक्ति-धारा-साहित्य का उल्लेख मात्र करके पूर्णता का दावा नहीं कर सकता।

‘हितोपासना’ या ‘प्रेमोपासना’ की विशिष्ट पद्धति का प्रादुर्भाव गो. श्रीहितहरिवंशजी द्वारा सं. १५६६ विक्रम के आस-पास किया गया। श्रीअलिजी ने यह काल-निर्णय श्री हिताचार्य द्वारा स्वेष्ट श्री रंगीलाल जी के विधि निषेध शून्य अष्टयामी सेवा संस्थापन काल, ज्ञानू विठ्ठलदासादि हित-शिष्यों के दीक्षा काल और श्री हित-वाणी के रचना काल-निर्णय के आधार पर प्राप्त किया है। अलिजी का समूचा कार्य शोध-परक है, किसी उपाधि के लिए किया गया शोध नहीं; तत्त्व जिज्ञासा की परिणति से सहजोद्भूत शोध है, यह इस ग्रन्थ के विवेक-पूर्ण अनुशीलन से पाठक जान सकेंगे। अतः जब तक कोई शोध-परक विपरीत तर्क ही सामने न हों, अलिजी के निष्कर्षों को स्वीकारना ही शोध का आदर होगा। अनेकानेक वाणीकारों की जिन वाणियों के नमूने उन्होंने प्रस्तुत किए हैं, उनकी मूल पाण्डुलिपियाँ उनके संग्रहालय में सुरक्षित हैं। जिज्ञासु अनुसन्धाता उन्हें देख-परख सकते हैं। जहाँ तक सिद्धान्त-पक्ष की बारीक रूप-रेखाओं का प्रश्न है, आचार्य श्रीहरिवंशजी की वाणियों का विश्लेषण ही अलिजी का मुख्य आधार है। अलिजी के इस अनुसंधान से सम्प्रदाय में परंपरा-सर्व-स्वीकृत मान्यताओं का भी संपोषण एवं पुनराख्यान हुआ है।

रसिकवर श्रीअलिजी की अर्घणीय कृति की भूमिका के संदर्भ से जुड़ने का सौभाग्य अनधिकारी अकिंचन को मिले, यह उसका तो सौभाग्य ही है। अलिजी की इस अहैतुकी कृपा के लिए धन्यवाद के शब्द मेरे पास नहीं हैं।



डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त

एम.ए. साहित्य (हिन्दी), एम.ए.पी.एच.डी. (संस्कृत) साहित्याचार्य  
पूर्व मुख्य प्रो. हिन्दी विभाग एवं पूर्व डीन—कला विभाग,  
मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़



## प्राक्कथन

### अन्तरादेश—

माधुर्य-प्रियता मानव की प्राकृतिक प्रियताओं में विशिष्ट स्थान रखती है। यह माधुर्य साहित्य और संगीत में सर्वाधिक होता है। संभवतः इसीलिये यह महदुक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है कि—“साहित्य-संगीत-कला विहीन साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण-हीन।” मुझे भी संगीत परम प्रिय लगता था। यह संगीत प्रियता मुझे पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में जन्मतः प्राप्त हुई थी। मेरे जन्मस्थान मुकुन्दपुरस्थ ठाकुर श्री जगन्नाथजी के मन्दिर में ‘रामायण’ और ‘ब्रजविलास’ का संगीतमय गायन और तत्पश्चात् स्थानीय गायकों द्वारा गायन-वादन करना दैनिक आराधना का निर्वाह जैसा था। इस दैनिक संगीत समाराधनोत्सव के समायोजन का उत्तरदायित्व मेरे पिताश्री राधिकाचरणदासजी तथा ज्येष्ठ भ्राता श्रीमदनमोहनदास जी के ऊपर था। माता-पिता के लाड़-प्यार के साथ मेरे बाल जीवन में ही मिला यह संगीतमय वातावरण अपने सुमधुर संपोषण से मेरे संगीत-संस्कारों को संपुष्ट बनाता रहा; उन्हें पल्लवित और पुष्पित करता रहा।

विक्रम संवत् १९८६ में वृन्दावन आने और यहाँ पर स्थाई रूप से निवास करने पर भी सौभाग्य से मुझे संगीतमय वातावरण में ही निवास करने का शुभावसर मिला और साथ ही मिला वृन्दावन रस रसिकों द्वारा विरचित रस वाणी साहित्य का सुमधुर रसास्वादन। इस रसानन्दोपलब्धि ने मुझे संगीत और साहित्य का लोलुप प्रकृति ही बना दिया। किशोरावस्था के नवोदय काल में ही मुझे श्री राधाबल्लभलाल जी के मन्दिर



में नित्यप्रति होने वाले उस 'समाज' में प्रमुख गायक पद पर बैठने का सहज सुयोग प्राप्त हुआ जिसमें गो. श्रीहितहरिवंशोदित रसोपासना के रसिकों की रस वाणियों का गायन हुआ करता था। मन्दिर में होने वाले 'समाजगान' में श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसोपासक रसिकों द्वारा विरचित रसकेलि वर्णनात्मक पदों का गायन तो होता ही था, यदाकदा सूरदास, नन्ददास, गदाधर भट्ट, माधुरीदास, बल्लभरसिक, और भगवतमुदित जी आदि-आदि महानुभावों के वे पद भी गाये जाते थे जो श्री हिताचार्य की रसरीति से बहुत कुछ साम्य रखते थे। इन महानुभावों के पदों में जब मुझे कुछ साम्य और कुछ असाम्य जैसा दिखाई दिया तब मैंने गुरुजनों से इसका कारण जानने की जिज्ञासा प्रकट की। कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये महात्मा हितसम्प्रदायानुयायी न होकर अन्य-अन्य सम्प्रदायानुयायी हैं। उनके इस उत्तर से मुझे इन महात्माओं के सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हुई और मैं पुष्टि सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना तथा इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन करने में संलग्न हो गया। इसी अध्ययनकाल में मैंने हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इस दीर्घकालीन अध्ययन से मुझे ज्ञात हुआ कि श्री सूरदास, नन्ददास, गदाधर भट्ट, बल्लभरसिक, भगवतमुदित, श्रीभट्ट जी, और रूप रसिक जी आदि-आदि ये सभी पद प्रणेता सगुण भक्ति धारा के कृष्णोपासक भक्त हैं। इनके द्वारा विरचित पदों में यत्र तत्र जो श्री राधा चरण प्राधान्य तथा राधाकिंकरीभाव की कलित किरणें दिखाई देती हैं वह श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत रसोपासना की रसरीति का ही प्रभाव है; साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. रामकुमार वर्मा आदि-आदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इतिहास लेखन में बड़ी भारी भूलें की हैं। यथा—

गो. हितहरिवंशोदित रसोपासना संज्ञक उस 'रस भक्ति' का नामोल्लेख तक नहीं किया है; जिसका अपना स्वतन्त्र स्वरूप है, स्वतन्त्र इतिहास है और स्वतन्त्र विपुलकाय वाणी साहित्य है। इस ऐतिहासिक तथ्य के विपरीत इन इतिहास लेखकों ने गो. हितहरिवंशोदित रसोपासना के रसोपासक रसिकों को कृष्ण भक्त कवि, इन रसिकों द्वारा रचित रस वाणी साहित्य को कृष्ण भक्ति काव्य और हिन्दी भक्ति काव्य की निर्गुण-सगुण भक्तिधारा से पृथक स्वतन्त्र 'रसभक्तिधारा' को सगुण भक्ति की कृष्ण भक्ति शाखा में अन्तर्भुक्त राधाबल्लभ सम्प्रदाय के नाम से उल्लिखित किया है। रसभक्तिधारा के आदि आविर्भावक श्री हिताचार्य को किसी ने माध्व मतानुयायी और किसी ने निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी लिख दिया है। श्री हिताचार्य की ही शिष्य-प्रशिष्य परम्परा के अनुयायी रसिकवर हरिरामव्यास जी तथा प्रबोधानन्द जी सरस्वती को माध्व सम्प्रदायानुयायी और स्वामी चतुर्भुजदास जी को आचार्य बल्लभ का शिष्य लिख दिया



## तीन

है। हिन्दीसाहित्य के इन भ्रान्तिमूलक तथ्यों ने ही मुझे गो. हितहरिवंशोदित रसोपासना संज्ञक रस भक्ति धारा का बृहद् इतिहास लिखने का अन्तरादेश दिया और इस अन्तरादेश से प्रेरित होकर मैं इस शोधकार्य में संलग्न हो गया।

### उपार्जन—

इसी अन्तरादेश ने मुझे सर्वप्रथम वृन्दावन रस रसिकों के वाणी साहित्य के अनुसन्धान करने का मार्ग भी संकेत किया और मैंने वि. सं. १९६५ से ही राधाबल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामीगणों तथा वृन्दावन रस रसिकों के पास सुरक्षित वाणी ग्रन्थों का अनुसन्धान करना प्रारम्भ कर दिया। प्रातःस्मरणीय गुरुवर्य गो. श्रीहित रूपलाल जी महाराज [अधिकारी श्रीराधाबल्लभ मन्दिर, वृन्दावन] अपने पिताश्री राधिकाचरणदास जी [मानसरोवर, वृन्दावन] ज्येष्ठ भ्राता श्रीमदनमोहनदासजी [सेवाकुंज गली, वृन्दावन] विरक्त वेषदाता गुरुवर्य बाबा श्री सन्तदास जी महाराज [सनेहीजी की बगीची, वृन्दावन] बाबा नवेलीशरण जी [मदनटेर, वृन्दावन] बाबा परमानन्ददास जी [दुसायत मौहल्ला, वृन्दावन] गो. सोहनकिशोर जी, [कोइलिया घाट, वृन्दावन] गो. गोवर्धनलाल जी और उनके सुपुत्र गो. ब्रजबल्लभलाल जी बँगला वाले [हित घाट, वृन्दावन] बाबा जुगलदास जी [हिण्डोल स्थल, वृन्दावन] बाबा काशीदास जी [महन्त हिण्डोल स्थल, वृन्दावन] गो. बसन्तलाल जी [बड़ वाला मौहल्ला, वृन्दावन] गो. हितानन्द जी [बड़ वाला मौहल्ला, वृन्दावन] गो. ब्रजभूषणलाल जी राजभोगिया [श्रीराधाबल्लभ घेरा, वृन्दावन] गो. श्री वनमालीलाल जी व उनके सुपुत्र ब्रजजीवनलाल जी [छोटी सरकार, अठखम्मा, वृन्दावन] गो. बल्देवलाल जी [छोटी सरकार, अठखम्मा, वृन्दावन] वैष्णव सिद्धनाथ जी [अठखम्मा, वृन्दावन] गो. जुगलबल्लभ जी एवं उनके सुपुत्र गो. वृन्दावनबल्लभ जी [श्रीराधाबल्लभ घेरा, वृन्दावन] गो. श्यामलाल जी [अठखम्मा, वृन्दावन] श्रीभोलानाथ जी 'भोरी सखी जी' [श्रीराधाबल्लभ मन्दिर, वृन्दावन] गो. श्री किशोरीलाल जी [बड़े अधिकारी जी, श्री राधाबल्लभ मन्दिर, वृन्दावन] श्री मनुआलाल जी पुजारी [अठखम्मा, वृन्दावन] गो. मुकुन्दबल्लभ जी [अठखम्मा, वृन्दावन] गो. गोवर्धनलाल जी [बड़ी सरकार, अठखम्मा, वृन्दावन] गो. नवललाल जी [बड़ी सरकार, अठखम्मा, वृन्दावन एवं अहमदाबाद] गो. प्रमोदचन्द्रजी [अठखम्मा, वृन्दावन] बाई प्रियादासी जी [श्रीराधाबल्लभ घेरा, वृन्दावन] बाबा कुञ्जदास जी [श्रीराधाबल्लभ घेरा, वृन्दावन] महन्त श्री कुन्दनदास जी [महन्त श्रीहित रासमण्डल, वृन्दावन] बाबा माखनचोरदास जी [श्रीहित रासमण्डल, वृन्दावन] गो. ब्रजजीवनलाल जी कमरा वाले [अठखम्मा, वृन्दावन] बाई राधादासी जी, [श्रीराधाबल्लभ घेरा, वृन्दावन] बाई अनुरागअली जी [श्री राधाबल्लभ घेरा, वृन्दावन] बाबा बैजनाथ जी [सेवाकुञ्ज गली, वृन्दावन] श्रीगोवर्धनलाल जी 'छुट्टन भट्ट जी'



[रूपराम कटारे की हवेली, अठखम्भा, वृन्दावन] राधारमणीय गो. अद्वैतचरण जी [श्रीराधारमण घेरा, वृन्दावन] और इन्द्र जी ब्रह्मचारी आदि-आदि इन महानुभावों से बहुत कुछ शोध-सामग्री का संचयन किया। इस कार्य के लिये मुझे वृन्दावन से बाहर भी कई स्थानों में जाना पड़ा। अहमदाबाद में निवास कर रहे राधाबल्लभीय गो. राधाप्रताप जी, गो. मनोहरलाल जी, गो. देवकीनन्दनलाल जी तथा गो. रणछोड़लाल जी से, कोलारस [जिला-शिवपुरी] के श्रीराधागोपाल मन्दिर से, कोलारस के ही एक सज्जन पण्डित श्री वासुदेव जी खेमरिया से, बाबई के श्रीजुगलकिशोर जी ताल्लुकेंदार से, अलीगढ़ के बनवारीलाल जी पचौरी आदि के निजी संग्रह से भी आधारभूत शोध सामग्री प्राप्त हुई। इसी सन्दर्भ में लेखक को दिल्ली, कलकत्ता, पटना, इलाहाबाद, बनारस, मिर्जापुर, ग्वालियर, शिवपुरी, आगरा, बादग्राम, मथुरा, हाथरस, अलीगढ़, इटावा, जयपुर, जबलपुर, छतरपुर, अलवर, भरतपुर, गोवर्धन, नन्दगाँव, बरसाना, बठैन, संकेत, गाजीपुर, राधाकुण्ड आदि अनेक स्थलों का भी भ्रमण करना पड़ा; इनमें से कुछ स्थलों से केवल निराशा ही हाथ लगी। लेखक द्वारा लिखित व. वि. सं. २००७ में प्रकाशित 'राधाबल्लभीय साहित्य रत्नावली' उपर्युक्त महानुभावों और स्थलों से किये गये वाणी साहित्यानुसन्धान का ही एक संक्षिप्त प्रतिफल है। रसभक्तिधारा के इस स्वल्पतम इतिहास प्रकाशन के पश्चात् भी वाणी साहित्य का अनुसन्धान तथा उस पर लेखन कार्य चलता ही रहा। आलेख्य विषय से सम्बन्धित अन्यान्य कार्यों के निष्पादन, सम्पादन और आलेखन में भी मैं संलग्न रहा। 'ब्रजभाषा का आदि गीत काव्य और आदि कवि' यह शोध प्रबन्ध, 'अनन्यअली जी और उनकी वाणी' इस विषय पर लघु शोध प्रबन्ध, चाचा वृन्दावनदास जी कृत रसिक अनन्य परचावली ग्रन्थ का सम्पादन, 'हितहरिवंश यश' और 'हित अष्टयाम' आदि पद्यात्मक ग्रन्थों का प्रणयन भी इसी बीच हुआ। इसी काल में अनेकानेक दुर्लभ व प्राचीन हस्तलिखित वाणी ग्रन्थों की आद्योपान्त अविकल अनुप्रतियाँ भी कीं। इन अप्राप्त वाणी ग्रन्थों को प्राप्त करने में लेखक को जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा वह सब केवल अनुभूति का ही विषय है; लेखन का नहीं।

किसी भी उपासना का सर्वाङ्गीण स्वरूप परिचय विद्वद्जन तथा सन्तजन सम्मन्य तभी कहा जाता है और कहा जा सकता है जबकि वह उस सम्प्रदाय के मूल आचार्य द्वारा रचित वाणी ग्रन्थों पर आधारित होता है। इस दृष्टि से रस भक्ति संज्ञक रसोपासना का प्रामाणिक और सर्वाङ्गीण स्वरूप परिचय देने के लिये रस भक्ति किंवा रसोपासना आविर्भावक श्रीहिताचार्य की वाणियों का गहन अध्ययन, अन्वेषण और सूत्रों का आकलन करने में लेखक को पर्याप्त समय देना पड़ा; साथ ही आचार्यचरण के सूत्र वाक्यों पर आधारित और भाष्य ग्रन्थ के रूप में समाहित सेवक जी, हरिरामव्यास जी, प्रबोधानन्द



जी सरस्वती तथा हितध्रुवदास जी आदि रसिकों की वाणियों का अध्ययन-अनुशीलन करने में भी बहुत समय लगा। इसीप्रकार ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि हेतु लेखक को अनेक संग्रहालयों में जाकर अधिक समय तक अनेकानेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का आलोड़न-विलोड़न भी करना पड़ा। प्रस्तुत प्रबन्ध में ऐसी ऐतिह्य सामग्री का परिचय यथास्थान दिया गया है। इस शोध सामग्री का उपार्जन करने में लेखक को अठारह वर्ष लग गये। वि. सं. १९६५ से प्रारम्भ की गई—ग्रन्थान्वेषण, अनुशीलन, अन्तरालोड़न और ग्रन्थलेखन रूपी मेरी यह साहित्यिक साधना ही वि. सं. २०१३ में 'हिन्दी भक्ति काव्य में रस भक्ति धारा और उसका वाणी साहित्य' नामक बृहद् शोध ग्रन्थ के रूप में परिणत हो गई।

### रूप-निरूपण—

प्रस्तुत प्रबन्ध के आलेख्य विषयों को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है। विषयावतरणिका संज्ञक प्रथम अध्याय में प्रबन्ध का महत्व और उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में प्रबन्ध की आधारभूत ऐतिह्य सामग्री का परिचय भी दिया गया है। भक्ति और भक्ति काव्य—इस द्वितीय अध्याय में भक्ति के स्वरूप और उसका अनादित्व आलोचित करते हुए भक्ति काव्य का अनादित्व तथा उसके आलम्बन—'परब्रह्म' के विविध स्वरूपों को परिलक्षित कराया गया है। भक्ति की धारायें नामक तृतीय अध्याय में पूर्व पक्ष रूप में—निर्गुण भक्ति, सगुण भक्ति, राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा का सूक्ष्म परिचय देते हुये भक्ति के सभी वैष्णवाचार्यों के शब्दों में उनका उपास्य स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। वर्तमान काल में इस बात का अत्यधिक प्रचलन हो गया है कि हम लिखते तो हैं स्वामी रामानुजाचार्य की उपासना पद्धति; किन्तु उनकी उपासना पद्धति सम्बन्धी ज्ञातव्य तथ्यों के प्रमाण हेतु उनकी परवर्ती शिष्य-प्रशिष्य परम्परा की रचनाओं का आश्रय लेते हैं। हम लिखते तो हैं निम्बार्काचार्य की उपासना पद्धति किन्तु उनकी उपासना सम्बन्धी ज्ञातव्य तथ्यों के प्रमाण आचार्य चरण के बहुत परवर्ती भक्त श्री भट्ट जी तथा रूपरसिक जी आदि की रचनाओं से देते हुए उन्हें निम्बाकाचार्य और निम्बार्क सम्प्रदाय की मान्यता कहते हैं। यहाँ तक कि वर्तमान काल के अधुनातन विद्वानों द्वारा लिखे गये निबन्धों की पंक्तियाँ भी सम्प्रदाय के उपासना सम्बन्धी प्रमाण में प्रस्तुत की जाती हैं। किन्तु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इस प्रचलन के विरुद्ध तत्-तत् सम्प्रदायों के उपासना सम्बन्धी तथ्यों की जानकारी हेतु मूलाचार्य की गिरा को ही स्वीकार किया गया है। भले ही इन मूलाचार्यों की रचनाओं में अपने-अपने उपासना-विधान सूत्र रूप में ही अंकित क्यों न हों। रस भक्ति धारा—इस चतुर्थ अध्याय में रस भक्ति धारा का श्रोत किंवा उद्गम तथा तात्कालिक राजनैतिक,



सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए रस भक्ति धारा के प्रमेय तत्व—‘रस’ किंवा ‘प्रेम’ की परात्परता के आलोक में रस भक्ति और रसोपासना का स्वरूप सामञ्जस्य परिलक्षित कराया गया है। इसी अध्याय में ‘रस’ का क्रमिक विकास प्रदर्शित करते हुए उपासना के क्षेत्र में रसोपासना का पदन्यास भी परिलक्षित कराया गया है। रसोपासना का सर्वाङ्गीण परिचय नामक पञ्चम अध्याय में रसोपासना के पाँचों अंगों [उपास्य, उपासक, उपासना विधा, सहायक तत्व और बाधक तत्व] पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालते हुए उपासना के पार्थक्य की परिचायिका रसरीति का भी सम्यक् वर्णन किया गया है। रसोपासना सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातें श्री हिताचार्य के सूत्र वाक्यों पर ही आधारित हैं। सेवक जी, प्रबोधानन्द जी सरस्वती, हरिरामव्यास जी और हितध्रुवदास जी की वाणियों को आचार्यचरण द्वारा प्रदत्त सूत्र वाक्यों के भाष्य रूप में ही स्वीकार किया गया है। रसभक्ति-आविर्भावक : गो. हितहरिवंश नामक षष्ठम अध्याय में रस भक्ति धारा के उत्सकार श्रीहिताचार्य का ऐतिह्य जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है। रस भक्ति धारा का वाणी साहित्य संज्ञक सप्तम अध्याय में श्री हिताचार्य के अनुगतानुगत रसिक वाणीकारों और उनके द्वारा प्रणीत वाणी साहित्य का सूक्ष्म ऐतिहासिक परिचय दिया गया है। अनुसंधित्सुओं की सुविधा हेतु वाणीकारों के नाम और उनके द्वारा रचित वाणी ग्रन्थों की नामानुक्रमणिका वर्णाधारित क्रम से दी गई है। अन्त में उपसंहार में प्रबन्ध की उपलब्धियों और मूल्यांकन पर विचार किया गया है। ग्रन्थ की उपादेयता वर्द्धन हेतु यत्र तत्र प्राप्त प्राचीन पाण्डुलिपियों के छाया चित्र एवं अन्त में सहायक ग्रन्थ सूची भी संलग्न की गई है।

इस शोध ग्रन्थ के कतिपय अंश वि. सं. २००८, २००६, २०१२ और २०१३ में ब्रजभारती व प्रेम सन्देश आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुये और होते ही जाते; किन्तु उसी समय किसी कारणवश इनका प्रकाशन होना सहसा बन्द हो गया। क्यों बन्द हो गया? इस रहस्य को रहस्य बनाये रखना ही साधु स्वरूपानुरूप होगा। अस्तु:

प्रबन्ध-प्रकाशन के प्रतीक्षाकाल में ही लेखक को श्रीहरिवंशोदित रसोपासना के सम्बन्ध में कुछ ऐसी भ्रान्तियाँ व शंकायें पढ़ने-सुनने को मिलीं जिन्हें पढ़कर और सुनकर ऐसा लगा कि इनका निराकरण और समाधान करना प्रबन्ध का अंग ही है। जिनका समाधान न करने से यह प्रबन्ध अधूरा ही रह जायेगा। अतः यथा समय उन भ्रान्तियों का समाधान—‘रसोपासना पर लोक दृष्टि और उसका परिमार्जन’—इस विशिष्ट अध्याय के रूप में लिखकर प्रस्तुत प्रबन्ध के षष्ठम अध्याय के स्थान पर संलग्न कर दिया गया। इस अध्याय परिवर्धन के कारण वि. सं. २०१३ में लिखित सप्ताध्यायी यह प्रबन्ध अब अष्टाध्यायी हो गया है।



प्रस्तुत प्रबन्ध में कुछ ऐसे आलेख्य विषयों के भी नामोल्लेख हुए हैं जिन पर शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक विवेचना पूर्ण दृष्टि से प्रकाश डालना अनिवार्य था। यथा— वृन्दावन रस का स्वरूप विवेचन, रासलीलानुकरण, समाजसंगीत, राधासुधानिधि रचयिता कौन ? ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वृन्दावन; इत्यादि। इन सभी विषयों पर जब वाञ्छनीय दृष्टियों से प्रकाश डाला गया तो वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन गया। अतः उसकी परिशिष्ट संज्ञा दे दी गई; जोकि अभी अप्रकाशित ही है। यह परिशिष्ट भाग भी किसी एक निश्चित समय में रचित न होकर समय-समय पर लिखे गये निबन्धों का ही एक संकलन है।

### कृपा-कीर्ति-गान—

प्रस्तुत प्रबन्ध के स्वरूप का निर्धारण रस भक्ति संज्ञक रसोपासना और अन्यान्य भक्ति सम्प्रदायों के उपासना सम्बन्धी तथ्यों तथा ऐतिहासिक विवरणों पर ही आधारित था। ये आधारभूत तथ्य अनेक संग्रहालयाध्यक्षों की कृपा से ही उपलब्ध हो सके। अतः इनकी कृपा-कीर्ति का उद्गान करना अत्यन्त अनिवार्य है। रस भक्ति धारा के प्रवर्तक गो. हित हरिवंश वंशीय परमादरणीय गोस्वामीगणों तथा सम्माननीय रसिक महानुभावों एवं अन्यान्य भक्तजनों [जिन सबका नामोल्लेख पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है] का अविस्मरणीय योगदान प्राप्त हुआ है। उन उदारचेताओं ने आदर्श उदारता के साथ अपने-अपने संग्रहों से वाणी ग्रन्थों को दिखाने की महती कृपा की है। उन सबके प्रति शब्दतः कृतज्ञता प्रकट करना उनकी महती कृपा का अवमूल्यन होगा; हाँ मेरा हृदय उनका चिर आभारी ही बना रहेगा। प्रातःस्मरणीय गुरुवर्य गो. श्रीहित रूपलाल जी महाराज [अधिकारी श्रीराधाबल्लभ मन्दिर, वृन्दावन] ने हार्दिक स्नेह के साथ अपने निजी वाणी संग्रहालय [हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन] से ऐसे अनेक वाणी ग्रन्थों का अवलोकन कराने की अनुकम्पा की; जो कि अन्यत्र दुर्लभ ही थे और जिनके अभाव में यह प्रबन्ध अपूर्ण ही रह जाता। इस स्नेहिल देन के लिये मैं उनका चिर ऋणी ही बना रहूँगा।

प्रबन्ध के सांगोपाङ्ग पूरा होते-होते मैं अधिक वय वृद्ध और अत्यधिक अस्वस्थ हो चला था। प्रबन्ध को सांगोपाङ्ग पूरा करने और व्यवस्थित रूप में प्रकाशित करने में अपने को असमर्थ भी अनुभव करने लगा था। ऐसी स्थिति में चिरंजीव डॉ. श्यामबिहारीलाल खण्डेलवाल और चिरंजीव डॉ. जयेश खण्डेलवाल ने अत्यावश्यक और वाञ्छनीय योगदान देकर इस प्रबन्ध को पूरा कराया है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं हो रहा है कि यदि इन दोनों बालकों का ऐसा महत्वपूर्ण योगदान नहीं मिलता तो यह शोध प्रबन्ध अपने सांगोपाङ्ग रूप में विद्वज्जनों की दृष्टि से ओझिल ही बना रह जाता। श्रीजी से प्रार्थना है कि इन दोनों की कमनीय कीर्ति-किरणें सम्पूर्ण विश्व



## आठ

में प्रसरित हो जायें; यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद भी है। मेरे परम प्रिय शिष्य यशवन्त देवधर ने भी अत्यधिक परिश्रम तथा पूर्ण मनोयोग के साथ प्रबन्धांशों की स्वच्छ और सुन्दर अक्षरों में लिपि तैयार करने में अविस्मरणीय सहयोग प्रदान किया है। श्रीजी उन्हें भी उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करें; मेरा यही हार्दिक आशीर्वाद है। अन्त में जिन वाणी ग्रन्थों से मुझे सहायक शोध सामग्री समुपलब्ध हुई है उन सभी वाणी ग्रन्थ प्रणेताओं के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

यह बात सर्वविदित है कि ग्रन्थ को लोक के निकट लाने में प्रकाशक और मुद्रक का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना कि लेखक का। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशन का श्रेय मेरे द्वारा संस्थापित रस भारती संस्थान, वृन्दावन को है; जिसने अपने पैंतालीसवें स्थापना दिवस के उपलक्ष्य में यह रस विषयक ग्रन्थ प्रकाशित करके एक महान कार्य किया है। इस प्रबन्ध के मुद्रण करने का श्रेय श्रीव्यासनन्दनशरण जी शर्मा एवं उनके भ्रातृव्य चिरंजीव वंशीबल्लभ शर्मा को है। इन दोनों ने आदर्श आत्मीयता के साथ हार्दिक सहयोग देकर ग्रन्थ का मुद्रण किया है। एतदर्थ ये सब साधुवाद के पात्र हैं। चिरंजीव महेन्द्रकुमार पाण्डेय ने समय-समय पर ग्रन्थ को यन्त्र पर मुद्रण करने का रूप देकर हमें उपकृत किया है। अतः उन्हें भी हम हृदय से धन्यवाद देते हैं।

प्रकाशित शोध प्रबन्ध पर समादरणीय डॉ. श्री विजयेन्द्र स्नातक जी ने 'भूमिका' लिखकर और सम्माननीय डॉ. श्री प्रेमस्वरूप जी गुप्त ने 'पुरोवाक्' लिखकर इसे सुधीजनों के लिये पठनीय प्रमाणित किया है। एतदर्थ मैं इन दोनों का भी हृदय से आभारी हूँ।

बैशाख शुक्ला एकादशी,  
विक्रम संवत् २०५४

बैशाख शुक्ला एकादशी



## विषयानुक्रमणिका

### १. विषयावतरणिका : [प्रथम अध्याय : १-४८ ]

|                                             |    |
|---------------------------------------------|----|
| १.१. विषय का महत्व और उपादेयता              | १  |
| १.२. प्रबन्ध के ऐतिह्य उपादान               | ५  |
| १.२.१. रससुधानिधि या राधासुधानिधि           | ५  |
| १.२.२. हित चौरासी                           | १० |
| १.२.३. स्फुटवाणी [ फुटकर पदावली]            | १२ |
| १.२.४. श्रीहिताचार्य द्वारा लिखित पत्र द्वय | १६ |
| १.२.५. गो. वनमालीदास द्वारा लिखित पत्र      | १८ |
| १.२.६. सेवकवाणी                             | १८ |
| १.२.७. व्यासवाणी                            | २१ |
| १.२.८. वृन्दावन महिमामृतम् या वृन्दावन शतक  | २३ |
| १.२.९. ब्यालीस लीला या हितध्रुव वाणी        | २३ |
| १.२.१०. हस्तामलक                            | २६ |
| १.२.११. प्रश्नोत्तरी                        | २६ |
| १.२.१२. कर्णानन्द                           | २६ |
| १.२.१३. वैयासिकी अष्टक किंवा हरिवंशाष्टक    | २७ |
| १.२.१४. हरिवंशाष्टक                         | २७ |
| १.२.१५. भक्तमाल                             | २७ |
| १.२.१६. भक्ति रस बोधिनी [ टीका ]            | २८ |
| १.२.१७. रसिक अनन्य माल                      | २८ |
| १.२.१८. श्री हरिवंश चरित्र                  | ३४ |
| १.२.१९. हितकुलशाखा या जयकृष्ण जी की वाणी    | ३७ |
| १.२.२०. अतिबल्लभदास जी की वाणी              | ३७ |
| १.२.२१. अनन्य सार या रसिक अनन्य सार         | ३९ |
| १.२.२२. हित परिकर वंदन पत्रिका              | ४० |
| १.२.२३. हितरूप चरित्र बेली                  | ४० |
| १.२.२४. रसिक अनन्य परिचावली                 | ४० |
| १.२.२५. बसन्त प्रबन्ध [ प्रथम से चतुर्थ ]   | ४० |



|                                     |    |
|-------------------------------------|----|
| १.२.२६. हित भक्ति कल्पतरु           | ४० |
| १.२.२७. वृन्दावन प्रकाश माला        | ४४ |
| १.२.२८. रसिक भक्त गाथा या भक्त गाथा | ४४ |
| १.२.२९. श्रीहरिवंश सहस्रनाम         | ४५ |
| १.२.३०. वृन्दावन प्रेम विलास बेली   | ४६ |
| १.२.३१. वृन्दावनधामानुरागावली       | ४६ |
| १.२.३२. हित चन्द्र प्रकाश           | ४७ |
| १.२.३३. हित हरिवंश चरित्र           | ४७ |

## २. भक्ति और भक्ति-काव्य : [ द्वितीय अध्याय : ४६-६२ ]

|                                           |    |
|-------------------------------------------|----|
| २.१. भक्ति का स्वरूप विवेचन               | ४६ |
| २.२. लोक भक्ति और ईश्वर भक्ति             | ५१ |
| २.३. भक्ति का अनादित्व और अक्षुण्णता      | ५२ |
| २.३.१. वेदों में भक्ति                    | ५२ |
| २.३.२. उपनिषदों में भक्ति                 | ५३ |
| २.३.३. ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति        | ५३ |
| २.३.४. आगम और पांचरात्र में भक्ति         | ५३ |
| २.३.५. पुराणों में भक्ति                  | ५४ |
| २.३.६. गीता में भक्ति                     | ५४ |
| २.३.७. अन्य भक्ति शास्त्रों में भक्ति     | ५५ |
| २.४. भक्ति के साथ भक्ति काव्य का अनादित्व | ५७ |
| २.५. भक्ति का आलम्बन : परब्रह्म           | ५८ |
| २.५.१. उपनिषदों में परब्रह्म का स्वरूप    | ५९ |
| २.५.२. गीता में परब्रह्म का स्वरूप        | ६१ |
| २.५.३. पुराणों में परब्रह्म का स्वरूप     | ६२ |

## ३. भक्ति की धारार्ये : [ तृतीय अध्याय : ६३-१०० ]

|                                                 |    |
|-------------------------------------------------|----|
| ३.१. निर्गुण भक्ति धारा                         | ६३ |
| ३.१.१. निर्गुण भक्ति धारा के प्रवर्तक           | ६३ |
| ३.१.२. आचार्य शंकर के शब्दों में निर्गुण ब्रह्म | ६४ |
| ३.१.३. क्या निर्गुण भक्ति संभव है ?             | ६६ |



|                                                                      |    |
|----------------------------------------------------------------------|----|
| ३.१.४. सन्त काव्य में निर्गुण ब्रह्म                                 | ७१ |
| ३.१.५. सन्त काव्य में भक्ति का स्वरूप                                | ७४ |
| ३.१.६. सन्त काव्य का अभीष्ट : निर्गुण ब्रह्म                         | ७५ |
| ३.२. सगुण भक्ति धारा                                                 | ७६ |
| ३.२.१. संक्षिप्त परिचय एवं प्रवर्तक                                  | ७६ |
| ३.२.२. आचार्य रामानुज का उपास्य [ नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर ]       | ७८ |
| ३.२.३. मध्वाचार्य का उपास्य [ नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर ]           | ८२ |
| ३.२.४. आचार्य विष्णु स्वामी का उपास्य                                | ८४ |
| ३.२.५. निम्बार्काचार्य का उपास्य [ नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर ]      | ८४ |
| ३.२.६. सगुण भक्ति के क्षेत्र में अवतार भक्ति की प्रतिष्ठा            | ८६ |
| ३.२.६.१. राम भक्ति शाखा                                              | ८६ |
| ३.२.६.१.१. प्र. आ. रामानन्द का उपास्य [ नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर ] | ९० |
| ३.२.६.२. कृष्ण भक्ति शाखा                                            | ९२ |
| ३.२.६.२.१. आचार्य बल्लभ का उपास्य [ नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर ]     | ९३ |
| ३.२.६.२.२. आचार्य चैतन्यदेव का उपास्य                                | ९८ |

#### ४. रस भक्ति धारा : [चतुर्थ अध्याय : १०१-२०२]

|                                                              |     |
|--------------------------------------------------------------|-----|
| ४.१. रस भक्ति धारा के स्वरूप का कथंचित आलोक                  | १०१ |
| ४.२. रस भक्ति धारा का श्रोत किंवा उद्गम                      | १०२ |
| ४.३. रस भक्ति की प्राकट्य भूमिका                             | १०७ |
| ४.३.१. राजनैतिक परिस्थिति                                    | १०७ |
| ४.३.२. सामाजिक परिस्थिति                                     | १०६ |
| ४.३.३. साहित्यिक परिस्थिति                                   | ११० |
| ४.३.४. धार्मिक परिस्थिति [ उपासना का धरातल ]                 | १११ |
| ४.४. रस भक्ति धारा का प्रमेय और प्रमाण                       | ११८ |
| ४.५. रस भक्ति प्राकट्य का प्रयोज्य एवं प्रयोजन               | १२३ |
| ४.६. प्रमेय तत्व 'प्रेम' किंवा 'रस' की परात्परता             | १२६ |
| ४.६.१. निर्गुण-सगुण रूप से पृथक् तथा दोनों का मूलाधिष्ठान    | १२७ |
| ४.६.१.१. परात्पर तत्व के निर्गुण-सगुण रूप : एक आलोक          | १२७ |
| ४.६.१.२. परात्पर तत्व का पूर्णतम स्वरूप : 'प्रेम' किंवा 'रस' | १२६ |



|                                                                   |     |
|-------------------------------------------------------------------|-----|
| ४.६.१.३. श्रीहिताचार्य के शब्दों में परात्पर तत्त्व               | १३० |
| ४.६.१.४. आकृतवान रूप की साकार रूप से भिन्नता                      | १३१ |
| ४.६.१.५. हित रसिक वाणियों में निर्गुण-सगुण रूप से भिन्न उद्गीत    | १३७ |
| ४.६.१.६. निर्गुण सगुण रूप से भिन्न तथा अभिन्न                     | १४२ |
| ४.६.२. अणोरणीयान् और महतोमहीयान्                                  | १४५ |
| ४.६.३. भगवान का भी जनक, नियामक, प्रेरक और वशकारक                  | १४६ |
| ४.६.४. पूर्ण माधुर्य तथा पूर्ण ऐश्वर्य का एकाधिष्ठान              | १४७ |
| ४.६.४.१. माधुर्य और ऐश्वर्य रूप का परिज्ञान                       | १४७ |
| ४.६.४.२. पूर्ण माधुर्य तथा पूर्ण ऐश्वर्य के एकाधिष्ठान रूप की खोज | १५० |
| ४.६.४.३. सम्बन्धित शंका और समाधान                                 | १५७ |
| ४.६.५. अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक                                 | १५८ |
| ४.६.६. लौकिकता और अलौकिकता की मर्यादासे अनाबद्ध                   | १५६ |
| ४.६.७. परमसच्चिदानन्दघन                                           | १६१ |
| ४.६.८. पुरुष, नपुंस न नारी                                        | १६३ |
| ४.६.६. द्वैत और अद्वैत मूलक महाविलक्षण                            | १७० |
| ४.६.१०. साधन और साध्य                                             | १७४ |
| ४.७. 'रस' 'प्रेम' और 'हित' की एक रूपता                            | १७५ |
| ४.८. शास्त्रीय दृष्टि में रस भक्ति                                | १७६ |
| ४.८.१. शब्द व्युत्पत्ति                                           | १७६ |
| ४.८.२. क्या रस भक्ति संभव है ?                                    | १७६ |
| ४.८.३. रस भक्ति और रसोपासना                                       | १८१ |
| ४.८.४. रस का क्रमिक विकास और रसोपासना                             | १८४ |
| ४.८.४.१. वेदों में रस और रसोपासना                                 | १८४ |
| ४.८.४.२. काव्य ग्रन्थों में रस और रसोपासना                        | १८५ |
| ४.८.४.३. भक्ति दर्शन ग्रन्थों में रस और रसोपासना                  | १८६ |
| ४.८.४.४. भक्ति काव्य ग्रन्थों में रस और रसोपासना                  | १८६ |
| ४.८.४.५. एक प्रासंगिक शंका व उसका निराकरण                         | १६३ |
| ४.८.४.५.१. उपास्य रूप की दृष्टि से विचार                          | १६३ |
| ४.८.४.५.२. रस रूप के प्रत्यक्ष होने में बाधक कारण                 | १६४ |



|                                                      |     |
|------------------------------------------------------|-----|
| ४.८.४.५.२.१. ऐश्वर्य रूपावरण के कारण                 | १६४ |
| ४.८.४.५.२.२. स्वयं प्रेमी बन जाने के कारण            | १६७ |
| ४.८.४.५.२.३. नारीत्व या पुंसत्वाभिमान के कारण        | १६८ |
| ४.८.४.५.२.४. भक्त और भगवान के मध्य द्वैत भाव के कारण | २०० |

## ५. रसोपासना का सर्वाङ्गीण परिचय : [ पंचम अध्याय २०३-४६२ ]

|                                                                                                                                                                          |     |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| ५.१. उपास्य                                                                                                                                                              | २०४ |
| ५.१.१. लीला                                                                                                                                                              | २०४ |
| ५.१.१.१. शाब्दिक अर्थ                                                                                                                                                    | २०५ |
| ५.१.१.२. लीला और चरित्र                                                                                                                                                  | २०६ |
| ५.१.१.३. लीला और नित्यबिहार                                                                                                                                              | २०६ |
| ५.१.१.४. लीलाओं के प्रकार                                                                                                                                                | २०६ |
| [ ऐश्वर्य लीला और माधुर्य लीला, ऐश्वर्य-माधुर्य विमिश्रित लीला, विशुद्ध माधुर्य लीला ही नित्यनिकुञ्ज लीला, ऐश्वर्य लीला या ऐश्वर्य-माधुर्य मिश्रित लीला ही ब्रज लीला । ] |     |
| ५.१.१.५. निकुञ्ज लीला किंवा रस लीलायें                                                                                                                                   | २११ |
| [ वनबिहार, रास क्रीड़ा, गेंद क्रीड़ा, जल क्रीड़ा, बासन्ती क्रीड़ा, फाग क्रीड़ा, हिंडोल विनोद, पावसीय झूलन विनोद, अनुकरण क्रीड़ा, शैयाबिहार और रसदान लीला आदि । ]         |     |
| ५.१.१.६. रसदान लीला और ब्रजदान लीला का पार्थक्य                                                                                                                          | २१३ |
| ५.१.१.७. नित्यरासलीला व अवतारकालीनरास का पार्थक्य                                                                                                                        | २१४ |
| ५.१.१.७.१. अवतारकालीन महारास में श्रीकृष्ण                                                                                                                               | २१४ |
| ५.१.१.७.२. नित्यरास की भूमिका में श्रीकृष्ण                                                                                                                              | २१५ |
| ५.१.१.७.३. महारास की श्री राधा                                                                                                                                           | २१६ |
| ५.१.१.७.४. नित्य रास की श्री राधा                                                                                                                                        | २१६ |
| ५.१.१.७.५. महारास में वंशी तथा संगीत                                                                                                                                     | २१७ |
| ५.१.१.७.६. नित्य रास में वंशी तथा संगीत                                                                                                                                  | २१७ |
| ५.१.१.७.७. महारासमें ललिता-बिशाखादि गोपियाँ                                                                                                                              | २१६ |
| ५.१.१.७.८. नित्य रास में ललिता-बिशाखादि                                                                                                                                  | २१६ |
| ५.१.१.७.९. महारास का समय                                                                                                                                                 | २२० |



|                                                            |     |
|------------------------------------------------------------|-----|
| ५.१.१७.१०. नित्यरास का समय                                 | २२० |
| ५.१.१७.११. महारास का स्थान                                 | २२२ |
| ५.१.१७.१२. नित्यरास का स्थान                               | २२३ |
| ५.१.१७.१३. महारास के अन्य अविस्मरणीय तथ्य                  | २२४ |
| ५.१.१७.१४. नित्यरास के अन्य अविस्मरणीयतथ्य                 | २२५ |
| ५.१.१८. निर्णायक कसौटी और हित वाणी                         | २२६ |
| ५.१.१९. लीला गान सम्बन्धी शंका और निराकरण                  | २३४ |
| ५.१.१९.१. पूर्व पक्ष और स्वपक्ष निर्धारण                   | २४१ |
| ५.१.१९.२. अनधिकारियों से सुरक्षा और असहृदयजनों से संगोपन   | २४७ |
| ५.१.१९.३. भक्ति भावना के उदयन और संरक्षणार्थ               | २४६ |
| ५.१.१९.४. प्रेमोपासना के लिये यथेष्ट रूप प्रकाशनार्थ       | २५१ |
| ५.१.१९.५. परिचित-द्वारा अपरिचित का परिचय प्रदानार्थ        | २५२ |
| ५.१.१९.६. भावी हानियों से संरक्षणार्थ                      | २५३ |
| ५.१.१९.७. जन्मबधाई जैसे पद द्वय का उद्देश्य                | २५३ |
| ५.१.१९.७.१. वर्ण्य और वर्णना की दृष्टि से                  | २५४ |
| ५.१.१९.७.२. ऐतिहासिक दृष्टि से                             | २५७ |
| ५.१.१९.७.३. अवतारी और परात्पर रूप की सिद्धि हेतु           | २६३ |
| ५.१.१९.७.४. नित्य और नैमित्तिक रूप के उद्बोधन हेतु         | २६७ |
| ५.१.१९०. लीला और रसरीति                                    | २६८ |
| ५.१.१९०.१. शब्द व्युत्पत्ति और शाब्दिक अर्थ                | २६८ |
| ५.१.१९०.२. राधा चरण प्राधान्य                              | २७५ |
| ५.१.१९०.२.१. प्रेमास्पदा श्रीराधा और राधा चरण प्राधान्य    | २७५ |
| ५.१.१९०.२.२. रस की आत्मा श्रीराधा और राधा चरण प्राधान्य    | २७६ |
| ५.१.१९०.३. पूर्ण संयोग में ही वियोगानुभूति का अद्भुत दर्शन | २७६ |
| ५.१.१९०.३.१. प्रेम के दो दल : संयोग और वियोग               | २७६ |
| ५.१.१९०.३.२. स्वकीया और परकीया नायिका का स्वरूप परिचय      | २८० |
| ५.१.१९०.३.३. रसास्वादन में संयोग और वियोग का स्थान         | २८२ |
| ५.१.१९०.३.४. अद्भुत प्रेमास्वाद की मौलिक और अद्भुत विधा    | २८३ |
| ५.१.१९०.३.५. प्रेम वैचित्र्य व प्रेम वैचित्य               | २८७ |



|                                                                   |     |
|-------------------------------------------------------------------|-----|
| ५.१.१.१०.४. रसकेलि से ही रसबेलि बृद्धि; मान व विरह से नहीं        | २८८ |
| ५.१.१.१०.५. खाय और तृप्त होय और                                   | २६३ |
| ५.१.१.११. लीला : प्रेम केलि या काम केलि ?                         | २६४ |
| ५.१.२. रूप                                                        | २६६ |
| ५.१.२.१. परिभाषा और प्रकार                                        | २६६ |
| ५.१.२.२. उपास्य का स्वरूप                                         | ३०० |
| ५.१.२.२.१. निर्गुण-सगुण तथा अवतार स्वरूपों से पृथक्               | ३०० |
| ५.१.२.२.२. सदैव प्रगटतर 'प्रेम' किंवा 'रस'                        | ३०१ |
| ५.१.२.३. उपास्य का रूप                                            | ३०७ |
| ५.१.२.३.१. नित्य नवकिशोराकृत नित्य नव दम्पति रूप                  | ३०७ |
| ५.१.२.३.२. प्रेमी और प्रेमास्पद रूप                               | ३१२ |
| ५.१.२.३.२.१. प्रेम के तीन धर्म और प्रेमी प्रीतम                   | ३१२ |
| ५.१.२.३.२.२. प्रेमके तीन धर्म और प्रेमास्पदा प्रिया               | ३१८ |
| ५.१.२.३.३. रस और रसिक रूप                                         | ३२७ |
| ५.१.२.३.४. प्रतिक्षण नवल रूप                                      | ३२८ |
| ५.१.२.३.४.१. लोक जीवन में प्रेम                                   | ३२८ |
| ५.१.२.३.४.२. भक्ति साहित्य में प्रेम                              | ३२६ |
| ५.१.२.३.४.३. प्रेम के विविध रूप                                   | ३३१ |
| ५.१.२.३.४.४. प्रेम का वास्तविक रूप                                | ३३२ |
| ५.१.२.३.४.५. हितवाणी में प्रेम का नित्य नवल रूप                   | ३३३ |
| ५.१.२.३.४.६. प्रतिक्षण नवलता प्रेम में ही क्यों?                  | ३३३ |
| ५.१.२.३.४.७. नवलता का मूल कारण 'रति'                              | ३३४ |
| ५.१.३. नाम                                                        | ३३५ |
| ५.१.३.१. नाम और आकृति                                             | ३३५ |
| ५.१.३.२. उपास्य प्रेम की आकृति और नाम                             | ३३५ |
| ५.१.३.३. हित वाणी में अन्य नामों का उल्लेख                        | ३३६ |
| ५.१.३.४. पौराणिक नामों का उल्लेख क्यों ? व पौराणिक रूप से भिन्नता | ३३७ |
| ५.१.४. धाम : वृन्दावन                                             | ३४३ |
| ५.१.४.१. निज आलय और नित्यबिहार स्थल                               | ३४४ |
| ५.१.४.२. श्री राधिका कृपा गम्य                                    | ३४४ |



|                                                          |     |
|----------------------------------------------------------|-----|
| ५.१.४.३. अन्य सभी लोकों से पृथक् अवनीतलस्थ               | ३४५ |
| ५.१.४.४. क्रीड़ा प्रेरक और सहायक                         | ३५१ |
| ५.१.४.५. प्रेम मूर्ति किंवा प्रीति मूर्ति                | ३५१ |
| ५.१.४.६. रस केलि का साक्षी                               | ३५३ |
| ५.१.४.७. केलि द्रष्टा रसिक और रसदाता                     | ३५४ |
| ५.१.५. परिकर : राधाकिंकरीगण                              | ३५४ |
| ५.१.५.१. परिकर और लीला : पारस्परिक संबंध                 | ३५४ |
| ५.१.५.२. परिकरीय पार्थक्य                                | ३५५ |
| ५.१.५.३. प्रीति स्वरूपा                                  | ३५७ |
| ५.१.५.४. केलि संयोजिका और सहायिका                        | ३६० |
| ५.१.५.५. केलि प्रेरिका                                   | ३६१ |
| ५.१.५.६. वर्गीकरण और स्वरूप                              | ३६२ |
| ५.१.५.६.१. अंतरंगासखी किंवा विधिकरी                      | ३६२ |
| ५.१.५.६.२. सहचरी                                         | ३७० |
| ५.१.५.६.३. अनुचरी                                        | ३७० |
| ५.१.५.६.४. किंकरी                                        | ३७० |
| ५.२. उपासक                                               | ३७१ |
| ५.२.१. उपासक का अर्थ और रूप                              | ३७१ |
| ५.२.२. उपासक का तात्त्विक स्वरूप                         | ३७२ |
| ५.२.३. नित्यलीला में उपासक का निज रूप                    | ३७२ |
| ५.२.४. उपासना के क्षेत्र में उपासक का रसिक रूप           | ३७४ |
| ५.२.५. रसिक ही नहीं रसिक अनन्य                           | ३८३ |
| ५.२.६. अनन्य धर्म ही 'प्रेम धर्म' है                     | ३८५ |
| ५.२.६.१. तत्सुखसुखिता                                    | ३८६ |
| ५.२.६.२. तदाधीनता                                        | ३८६ |
| ५.२.६.३. अनन्यता                                         | ३८८ |
| ५.२.६.३.१. उपास्य स्वरूपाधारित अनन्यता का स्वरूप वैविध्य | ३८८ |
| ५.२.६.३.२. भगवदुपासना क्षेत्रीय अनन्यता                  | ३८६ |
| ५.२.६.३.३. प्रेमोपासना क्षेत्रीय अनन्यता                 | ३६० |
| ५.२.६.३.४. प्रेम धर्म और अनन्यता                         | ३६१ |



|                                                         |     |
|---------------------------------------------------------|-----|
| ५.२.६.३.५. प्रेम प्रकृति और अनन्यता                     | ३६१ |
| ५.२.६.३.६. अनन्यधर्म-आविर्भावक के शब्दों में अनन्यता    | ३६२ |
| ५.२.६.३.७. हरिरामव्यासजी के शब्दों में अनन्यता          | ३६५ |
| ५.२.६.३.८. प्रबोधानन्द जी सरस्वती के शब्दों में अनन्यता | ३६७ |
| ५.२.६.३.९. सेवक जी के शब्दों में अनन्यता                | ३६९ |
| ५.२.६.३.१०. हितध्रुवदास जी के शब्दों में अनन्यता        | ४०३ |
| <b>५.३. उपासना विधा</b>                                 | ४०७ |
| ५.३.१. शाब्दिक अर्थ और परिभाषा                          | ४०७ |
| ५.३.२. रति और भाव                                       | ४०८ |
| ५.३.३. भावों की अवतरणिका                                | ४०८ |
| ५.३.४. प्रेमोपासना और भगवदुपासना                        | ४०९ |
| ५.३.५. भक्तिभाव के परिभाव्य और राधाकिंकरीभाव            | ४११ |
| ५.३.६. राधाकिंकरीभाव की मौलिकता                         | ४२३ |
| ५.३.६.१. भाव और उनके धरातल                              | ४२३ |
| ५.३.६.२. राधाकिंकरीभाव और दास्यभाव                      | ४२५ |
| ५.३.६.३. राधाकिंकरीभाव और सख्यभाव                       | ४२७ |
| ५.३.६.४. राधाकिंकरीभाव और मधुरभाव [ गोपीभाव ]           | ४२९ |
| ५.३.७. राधाकिंकरीभावोपलब्धि कैसे हो ?                   | ४३० |
| ५.३.८. राधाकिंकरी रूप की प्राप्ति कैसे हो ?             | ४३२ |
| ५.३.९. राधाकिंकरी रूप से स्वेष्ट-सेवा                   | ४३३ |
| ५.३.९.१. मानसी सेवा या मानसी भावना                      | ४३३ |
| ५.३.९.१.१. मानसी सेवा क्या है ?                         | ४३३ |
| ५.३.९.१.२. मानसी सेवा और ध्यान                          | ४३४ |
| ५.३.९.१.३. मानसी सेवा का वैशिष्ट्य                      | ४३५ |
| ५.३.९.१.४. मानसी सेवा का संविधान और प्रक्रिया           | ४३६ |
| ५.३.९.१.५. मानसी सेवा की महत्ता                         | ४४३ |
| ५.३.९.२. प्रगट सेवा                                     | ४४५ |
| ५.३.९.२.१. प्रगट सेवा क्या है ?                         | ४४५ |
| ५.३.९.२.२. प्रगट सेवा का उद्देश्य व वैशिष्ट्य           | ४४५ |
| ५.३.९.२.३. प्रगट सेवा का मूर्त विधान                    | ४४७ |



|                                                                     |     |
|---------------------------------------------------------------------|-----|
| ५.३.६.२.३.१. श्री राधा की गादी                                      | ४४८ |
| ५.३.६.२.३.२. गादी स्थापन का उद्देश्य                                | ४४९ |
| ५.३.६.२.३.३. गादी सेवा ही हितानुयायी होने का प्रतीक                 | ४५० |
| ५.३.६.२.४. प्रगट सेवा के रूप                                        | ४५० |
| ५.३.६.२.४.१. गादी संयुक्त सेव्य स्वरूप विग्रह की सेवा               | ४५० |
| ५.३.६.२.४.२. नाम सेवा                                               | ४५१ |
| ५.३.६.२.४.३. चित्र सेवा                                             | ४५१ |
| ५.३.६.२.५. प्रगट सेवा की प्रक्रिया                                  | ४५१ |
| ५.३.६.२.५.१. अष्टयामी सेवा                                          | ४५१ |
| ५.३.६.२.५.२. औत्सविक सेवा                                           | ४५२ |
| ५.३.६.२.६. अन्य सम्प्रदायी सेवा पद्धति से पार्थक्य                  | ४५२ |
| ५.३.६.२.६.१. विधिनिषेध नहीं दाम                                     | ४५३ |
| ५.३.६.२.६.२. सर्वसु महाप्रसाद                                       | ४५५ |
| ५.३.६.२.७. प्रगट सेवा की महत्ता                                     | ४५६ |
| ५.३.६.२.८. इष्ट-सेवा साधन है या साध्य ?                             | ४६० |
| <b>५.४. सहायक तत्व</b>                                              | ४६० |
| ५.४.१. गुरु-शरणागति                                                 | ४६१ |
| ५.४.२. प्रवृत्ति-निवृत्ति                                           | ४६४ |
| ५.४.३. तिलक और कण्ठी                                                | ४६४ |
| ५.४.४. मन्त्र-जाप                                                   | ४६८ |
| ५.४.४.१. मूल मन्त्र या निज मन्त्र                                   | ४६९ |
| ५.४.४.२. शरणागत मन्त्र                                              | ४७० |
| ५.४.४.३. अन्य मन्त्र                                                | ४७१ |
| ५.४.५. रसिक वाणियों का कथन-श्रवण                                    | ४७२ |
| ५.४.६. रसिक-संग                                                     | ४७३ |
| ५.४.७. स्वेष्ट के नाम-धाम का ही नित्य सेवन                          | ४७४ |
| ५.४.८. श्री हरिवंश नाम-स्मरण                                        | ४७६ |
| ५.४.९. स्वेष्ट-सेवा                                                 | ४८३ |
| <b>५.५. बाधक तत्व</b>                                               | ४८३ |
| [ नवग्रहों के शुभ-अशुभ फल, लोक-वेदोक्त [ विधि निषेध ] संपूर्ण कर्म, |     |



एकादशी आदि संपूर्ण व्रत, ईश्वर भक्ति या भगवद् धर्म के प्रति ममत्व, परेश भजनोन्मद शुकादिकों के प्रति ममत्व, भगवान श्री कृष्ण की ऐश्वर्य व ऐश्वर्य-माधुर्य मिश्रित लीलायें, शाक्त संग, यम नियम, संयम आदि, कुल जाति आदि का विचार, लग्न-ग्रहण आदि की मान्यता, ज्ञान-ध्यान आदि भागवत धर्म की क्रियायें, स्वार्थ-परमार्थ, वेद-पुराण वर्णित कथायें, अन्यान्य देव-सेवन, आदि । ]

## ६. रसोपासना पर लोक-दृष्टि और उसका परिमार्जन :

[षष्ठम अध्याय : ४६३-५६८]

|                                                       |     |
|-------------------------------------------------------|-----|
| ६.१. रसोपासना और चतुःसम्प्रदाय                        | ४६३ |
| ६.२. रसोपासना और श्रीमद्भागवत                         | ४६४ |
| ६.३. रसोपासना और शक्तिवाद                             | ५११ |
| ६.४. प्रेमोपासना और रहस्यवाद                          | ५१७ |
| ६.५. प्रेमोपासना और सूफियों का प्रेम मार्ग            | ५२६ |
| ६.६. प्रेमोपासना और रीतिकालीन श्रृंगारी काव्य         | ५२६ |
| ६.७. रस सिद्धान्त सम्बन्धी भ्रान्ति व निराकरण         | ५३५ |
| ६.८. नित्यबिहार और अष्टयामी क्रीड़ा                   | ५४० |
| ६.९. तत्सुखसुखी भाव की एकाधिकारिणी                    | ५४२ |
| ६.१०. संयोग और वियोग                                  | ५४४ |
| ६.११. हित वाणी की रहस्यता                             | ५४४ |
| ६.११.१. अकस्मात् कौमारे प्रकट नव कैशोर विभवौ          | ५४५ |
| ६.११.२. चित्रग्राम निवासिनी                           | ५४६ |
| ६.११.३. यावाराधयति प्रियं ब्रजमणिं प्रौढानुरागोत्सवै  | ५५० |
| ६.११.४. स्वयमुपनयेत स्मर कलाम्                        | ५५२ |
| ६.११.५. ब्रज नगर बीथीषु हृदयं                         | ५५४ |
| ६.११.६. दैत्य राजोस्मिनाहं पूतना नाहमस्मि             | ५५८ |
| ६.११.७. गोवर्धन एक एव भवता                            | ५६० |
| ६.११.८. विटकुल नृपति                                  | ५६१ |
| ६.११.९. निज प्राणेश्वर्या, यदि स्नेहा, राधा पाद सरोज. | ५६३ |



## ७. रसभक्ति-आविर्भावक : गो. श्रीहितहरिवंश :

[सप्तम अध्याय : ५६६-६५०]

|                                                             |     |
|-------------------------------------------------------------|-----|
| ७.१. जन्मस्थान, जन्मतिथि, जननी-जनक और जाति                  | ५७१ |
| ७.२. जन्मस्थल [ बादग्राम ] का ऐतिहासिक परिचय                | ५७३ |
| ७.३. जननी-जनक का सूक्ष्म परिचय                              | ५७५ |
| ७.४. जन्मकाल : अनुसन्धानालोक में                            | ५७६ |
| ७.५. नामकरण                                                 | ५७८ |
| ७.६. शैशव-क्रीड़ा [ देववन में ]                             | ५८० |
| ७.६.१. कुञ्ज-वैभव-प्रकाशी                                   | ५८० |
| ७.६.२. रंगीलाल-प्राकट्य                                     | ५८० |
| ७.७. शिक्षा                                                 | ५८१ |
| ७.८. गुरुवर व मन्त्र प्राप्ति                               | ५८२ |
| ७.९. देववन निवास                                            | ५८८ |
| ७.१०. रचनारम्भकाल                                           | ५८६ |
| ७.११. रचनार्ये                                              | ५९१ |
| ७.१२. वृन्दावन प्रस्थान                                     | ५९२ |
| ७.१३. वृन्दावन में प्रथम पदन्यास की तिथि                    | ५९३ |
| ७.१४. श्री वन प्राकट्य एवं मधुर प्रभाव                      | ५९६ |
| ७.१५. वृन्दावन निवास                                        | ५९६ |
| ७.१५.१. निवासस्थल या श्रीराधाबल्लभलाल जी का सर्वप्रथम मंदिर | ५९६ |
| ७.१५.२. स्वेष्ट-सेवा-संस्थापन                               | ६०६ |
| ७.१५.३. रसोपासना का प्रचार-प्रसार                           | ६०६ |
| ७.१५.४. लीला स्थलों का प्राकट्य                             | ६०८ |
| ७.१५.४.१. रासमण्डलं                                         | ६०६ |
| ७.१५.४.२. वंशीवट                                            | ६११ |
| ७.१५.४.३. धीरसमीर                                           | ६१३ |
| ७.१५.४.४. सेवाकुञ्ज                                         | ६१४ |
| ७.१५.४.५. मानसरोवर                                          | ६१८ |
| ७.१५.४.६. हिंडोलस्थल                                        | ६२० |



|                                                              |     |
|--------------------------------------------------------------|-----|
| ७.१५.४.७. शृंगारवट                                           | ६२१ |
| ७.१५.४.८. वनबिहार स्थल                                       | ६२२ |
| ७.१५.५. दिव्यदेन                                             | ६२६ |
| ७.१५.५.१. रसोपासना-संसृष्टि                                  | ६२६ |
| ७.१५.५.२. रसपान विधा विनिर्मिति                              | ६२८ |
| ७.१५.५.२.१. रासलीलानुकरण प्रागट्य                            | ६२८ |
| ७.१५.५.२.२. रसलीलागान या वृन्दावनरसात्मक काव्य धारा का उद्गम | ६२६ |
| ७.१५.५.२.३. समाज संगीत समुद्भव .                             | ६३१ |
| ७.१५.६. शिष्य परिकर                                          | ६३२ |
| ७.१५.७. परम प्रभावी महदाचरण                                  | ६३८ |
| ७.१५.७.१. अनुपम उदारता                                       | ६३६ |
| ७.१५.७.२. शरणागत पालिता                                      | ६३६ |
| ७.१५.७.३. निरभिमानता व निर्वैरता                             | ६४० |
| ७.१५.७.४. सहज स्वाभाविक कृपालुता                             | ६४२ |
| ७.१५.७.५. विभव-विरक्ति                                       | ६४३ |
| ७.१५.७.६. इष्टसेवा-परायणता                                   | ६४४ |
| ७.१५.७.७. अनुग्रह की अद्भुतता                                | ६४५ |
| ७.१५.८. निकुञ्ज गमन                                          | ६४६ |

## ८. रसभक्तिधारा का वाणी साहित्य : [अष्टम अध्याय : ६५१-८५५]

|                                                             |     |
|-------------------------------------------------------------|-----|
| ८.१. वाणी का सम्यक् स्वरूप परिचय                            | ६५२ |
| ८.२. वाणी साहित्य की सर्वाङ्ग पूर्णता                       | ६५४ |
| ८.२.१. उपासना के रससिद्धान्त किंवा रसरीति वर्णनात्मक ग्रन्थ | ६५४ |
| ८.२.२. श्यामा-श्याम की निकुञ्ज केलि वर्णनात्मक ग्रन्थ       | ६५४ |
| ८.२.३. स्वेष्ट के नाम, धाम तथा स्वरूप का महिम्नगान          | ६५५ |
| ८.२.४. नख-शिख वर्णन                                         | ६५५ |
| ८.२.५. उत्सव-वर्णन                                          | ६५५ |
| ८.२.६. अष्टयाम सेवा पद गान                                  | ६५६ |
| ८.२.७. ऐतिहासिक ग्रन्थ                                      | ६५६ |
| ८.३. वाणी साहित्य की धारार्ये                               | ६५६ |



|                                                                    |     |
|--------------------------------------------------------------------|-----|
| ८.४. वाणी साहित्य का स्वरूप वैभव                                   | ६५८ |
| ८.४.१. रस केलि वर्णन साहित्य                                       | ६५८ |
| ८.४.२. रस सिद्धान्त वर्णन साहित्य                                  | ६५९ |
| ८.४.३. अष्टयाम सेवा साहित्य                                        | ६५९ |
| ८.४.४. वर्षोत्सव पद साहित्य                                        | ६५९ |
| ८.४.५. महिमा तथा स्वरूप गान साहित्य                                | ६६० |
| ८.४.६. मंगल गान साहित्य                                            | ६६१ |
| ८.४.७. जन्म बधाई पद साहित्य                                        | ६६१ |
| ८.४.८. अनूदित ग्रन्थ किंवा टीका साहित्य                            | ६६१ |
| ८.४.९. लक्षण ग्रन्थ साहित्य                                        | ६६३ |
| ८.४.१०. नाट्य साहित्य                                              | ६६३ |
| ८.४.११. ऐतिहासिक साहित्य                                           | ६६४ |
| ८.४.१२. यश गान साहित्य                                             | ६६४ |
| ८.४.१३. गद्य साहित्य                                               | ६६५ |
| ८.४.१४. संस्कृत भाषा-साहित्य                                       | ६६५ |
| ८.५. वाणी साहित्य के विविध मोड़ क्यों ?                            | ६६६ |
| ८.६. वाणी साहित्य का काल विभाजन                                    | ६६७ |
| ८.६.१. श्री हित हरिवंश काल                                         | ६६७ |
| ८.६.२. श्री हित सेवक काल                                           | ६६८ |
| ८.६.३. श्री हित ध्रुव काल                                          | ६६८ |
| ८.६.४. श्री हित रूप काल                                            | ६६९ |
| ८.६.५. श्री हित रतन काल                                            | ६७० |
| ८.७. वाणी साहित्य का स्वरूप सौन्दर्य एवं रूप सौन्दर्य              | ६७० |
| ८.७.१. स्वरूप और रूप की परिभाषा                                    | ६७० |
| ८.७.२. स्वरूप और रूप का सौन्दर्य पार्थक्य                          | ६७१ |
| ८.७.३. रसिक वाणियों में स्वरूप सौन्दर्य व रूप सौन्दर्य का अनुसंधान | ६७२ |
| ८.८. वाणी साहित्य की विपुलता                                       | ६७३ |
| ८.९. वाणी साहित्य का प्रभाव                                        | ६७३ |
| ८.१०. वाणी साहित्य और विविध वाणीकार                                | ६७६ |



**वाणीकारों की वर्णाधारित नामानुक्रमणिका :**

८.१०. १. आचार्य प्रवर गो. श्रीहित हरिवंशचन्द्र जी महाप्रभु, ६८०, २. अलिमोहनदास जी, ६८२, ३. अतिबल्लभदास जी, ६८२, ४. अनन्यअली जी, [ पूर्व नाम-भगवानदास ] ६८३, ५. अलिभगवान जी, ६८५, ६. अनन्यदास जी, ६८५, ७. अमयराम जी ब्रजवासी, ६८५, ८. अलबेलीशरण जी, ६८६, ९. अलबेलीदास जी, ६८६, १०. अनन्त भट्ट जी, ६८७, ११. आनन्दी बाई जी, ६८७, १२. आनन्दलाल जी गो., ६८८, १३. इन्द्रमणि जी गो., ६८८, १४. इच्छासखी जी, ६८८, १५. उदयलाल जी गो. ६८६, १६. उत्तमदास जी [ प्रथम ], ६८६, १७. उत्तमदास जी नागाजी [ द्वितीय ], ६९०, १८. उत्तम नेह जी, ६९०, १९. कल्याणदास जी पुजारी [ प्रथम ], ६९०, २०. कल्याणदास जी छाप—‘अलि कल्याण’ [ द्वितीय ], ६९१, २१. कन्हर स्वामी जी, ६९१, २२. कमलनयन जी गो., ६९१, २३. [ महारानी ] कमलकुँवरि जी ‘हितदासी’, ६९२, २४. कविरानीजी, ६९३, २५. कवीन्द्रजी, ६९३, २६. कान्हदास जी, ६९३, २७. किशोरीदासजी [ प्रथम ], ६९४, २८. किशोरीदासजी [ द्वितीय ], ६९४, २९. किशोरीलाल जी गो. [ प्रथम ], ६९५, ३०. किशोरीलाल जी गो. अधिकारी [ द्वितीय ], ६९५, ३१. किशोरीसखी जी, ६९५, ३२. किशोरीशरण जी, ६९६, ३३. किशोरबल्लभ जी गो., ६९६, ३४. किंकर शिवप्रसाद जी, ६९६, ३५. कीर्तिलाल जी गो. ६९७, ३६. कुँवरिअली जी, ६९७, ३७. कुंजलाल जी गो. ६९७, ३८. कुंजदास जी, ६९८, कुंजदासी जी, ६९८, ४०. कुन्दनदास जी, ६९८, ४१. केलिदास जी, ६९८, ४२. केलिलाल जी गो., ६९६, ४३. केवलराम जी, ६९६, ४४. केशवदेव जी, ब्रजवासी, ६९६, ४५. कृष्णदास जी गो. [ कृष्णचन्द्र जी गो. ]-[ प्रथम ], ७००, ४६. कृष्णदास जी भावुक [ द्वितीय ], ७००, ४७. कृष्णदास जी [ तृतीय ], ७०१, ४८. कृष्णदासी जी, ७०१, ४९. कृष्णप्रसाद जी, ७०२, ५०. कृष्णअली जी, ७०२, ५१. कृपालाल जी गो., ७०२, ५२. कृपाअली जी, ७०३, ५३. कृपासिन्धुलाल जी गो., ७०३, ५४. [ स्वामी ] कृपाराम जी, ७०४, ५५. खरगसेन जी, ७०४, ५६. खुश्यालदास जी, ७०४, ५७. खुश्यालबल्लभ जी गो., ७०५, ५८. खुशवख्तराय जी, ७०५, ५९. खेमदास जी, ७०६, ६०. गुलाबलाल जी गो., ७०६, ६१. गोविन्दलाल जी गो. ७०७, ६२. गोविन्दअली जी, ७०७, ६३. गोपीनाथ जी गो., ७०७, ६४. गोपीलाल जी गो. ७०८, ६५. गोपालबल्लभ जी गो., ७०८, ६६. गोपाल जी पण्डित, ७०८, ६७. गोपालदास जी, ७०६, ६८. गोपालप्रसाद जी शर्मा, ७०६, ६९. गोस्वामीदास जी, ७१०, ७०. गोवर्धनदास जी, ७१०, ७१. गोवर्धननाथ जी, ७१०, ७२. गोवर्धनेश जी, ७११, ७३. गोवर्धनलाल जी गो. ‘अधिकारी रास वंश’, ७११, ७४. गोवर्धनलाल जी गो. ‘प्रेम कवि’ [ बैंगला वाले ]



७१२, ७५-७६. गंगाबाई और जमुनाबाई, ७१२, ७७. गंगादास जी 'हितप्रसाद' [प्रथम], ७१३, ७८. गंगादास जी 'हितप्रसाद' [द्वितीय], ७१३, ७६. घनश्यामदास जी, ७१४, ८०. [स्वामी] चतुर्भुजदास जी, ७१४, ८१. चतुरअली जी, ७१५, ८२. चन्द्रसखी जी [प्रथम], ७१५, ८३. चन्द्रसखी जी [द्वितीय], ७१६, ८४. चन्द्रलाल जी गो., ७१६, ८५. चतुरशिरोमणिलाल जी गो., ७१७, ८६. चतुरसिंह जी गौड़ छाप—'ललित शरण', ७१७, ८७. चेतनदास जी छाप—'चितवन अलि', ७१८, ८८. छबीलेबल्लभ जी गो., ७१८, ८९. जदुबल्लभ जी गो., ७१८, ९०. जयकृष्णदास जी, [प्रथम] ७१६, ९१. जयकृष्णदास जी [द्वितीय], ७१६, ९२. जतनलाल जी गो., ७१६, ९३. जयबल्लभ जी गो., ७२०, ९४. जयदासी जी, ७२०, ९५. [स्वामी] जयदेव जी, ७२१, ९६. जगदीशनारायण जी, ७२१, ९७. जगदीशलाल जी गो. ७२१, ९८. जगन्नाथदास जी, ७२२, ९९. जमुनादास जी, ७२२, १००. जनश्यामदास जी, ७२२ १०१, जादौ रसिक जी, ७२३, १०२ जुगलदास जी [प्रथम] ७२३, १०३. जुगलदास जी [द्वितीय] ७२४, १०४. जुगलदास जी [तृतीय] ७२४, १०५. जुगलबल्लभ जी गो. ७२४, १०६. जुगलकिशोर जी गो. ७२५, १०७. जोरीलाल जी गो. ७२५, १०८. झूठा स्वामी जी ७२६, १०९. तुलसीदास जी ७२६, ११०. दम्पति किशोर जी गो. ७२६, १११. दम्पतिदासी जी ७२७, ११२ दम्पतिअलि जी , ७२७, ११३. दयासिन्धुलाल जी गो. ७२८, ११४. दयासखी जी ७२८, ११५. दयानिधि जी अथवा दयालाल जी गो. ७२८, ११६. दामोदरवर जी गो. ७२६, ११७. [स्वामी] दामोदरदास जी ७३०, ११८. द्वारिकादास जी ७३०, ११९. दीनदयाल जी ७३०, १२०. दुलहिनिदासी जी ७३१, १२१-१२२. दौलतराम और माणिकचन्द्र जी ७३१, १२३. धरनीधरदास जी ७२३, १२४. धीरजदास जी ७३३, १२५. [हित] ध्रुवदास जी ७३३, १२६ नरवाहन जी ७३४, १२७. नवलदास जी ७३५, १२८. नवलसखी जी ७३५, १२९. नवनीतलाल जी गो. ७३६, १३०. नन्दकिशोर जी गो. ७३६, १३१. नन्दबल्लभ जी गो. ७३६, १३२. नरहरिदास जी गो. ७३७, १३३. नरोत्तमदास जी ७३८, १३४. [नेही] नागरीदास जी ७३८, १३५. नागरवर जी गो. ७३६, १३६. नाथ भट्ट जी ७३६, १३७, नारायणदास जी, ७३६, १३८. नित्यानन्ददास जी ७३६, १३९. नित्यकिशोर जी गो. ७४० १४०. नित्यबल्लभ जी गो. ७४०, १४१. निकुञ्जअली जी ७४० १४२. निर्मलदास जी, ७४१, १४३. प्यारेलाल जी गो. ७४१, १४४. परमानन्ददास जी [प्रथम], ७४१, १४५. परमानन्ददास जी [द्वितीय] ७४१, १४६. परमानन्द जी गो. [तृतीय] ७४२, १४७. प्रबोधानन्द जी सरस्वती ७४२, १४८. प्रहलाददास जी ७४६, १४९. प्राणनाथ जी ७५०, १५०. प्रियालाल जी गो. [प्रथम] ७५०, १५१. प्रियालाल जी गो. [द्वितीय] ७५०, १५२. प्रियादास जी [प्रथम]



७५०, १५३. प्रियादास जी [द्वितीय] ७५१, १५४. प्रियादास जी [तृतीय] ७५१, १५५. प्रियादास जी [चतुर्थ] ७५२, १५६. प्रियादास जी [पंचम] ७५२, १५७. प्रियादास जी [षष्ठम] ७५३, १५८. प्रियाअली जी ७५३, १५९. प्रियादत्त जी ७५३, १६०. प्रीतमलाल जी गो. ७५५, १६१. प्रीतमदास जी ७५५, १६२. प्रेमदास जी [प्रथम] ७५६, १६३. प्रेमदास जी [द्वितीय] ७५७, १६४. प्रेमदासी जी ७५७, १६५. [महारानी] प्रेमकुँवरि जी ७५८, १६६. प्रेम पथ पथिक जी ७५८, १६७. फतेहसिंह जी छाप—'हितराम' ७५८, १६८. बलीदास जी ७५८, १६९. बल्लभसखी जी ७५९, १७०. बल्लभदास जी [प्रथम] ७५९, १७१. [महंत] बल्लभदास जी 'बल्लभसखी' [द्वितीय] ७५९, १७२. बल्लभदास जी [तृतीय] ७६०, १७३. बल्लदेव कवि जी ७६०, १७४. बनवारीलाल जी गो. ७६०, १७५. [स्वामी] बालकृष्णदास जी [प्रथम] ७६१, १७६. [स्वामी] बालकृष्ण तुलाराम जी 'बाबरीसखी' [द्वितीय] ७६१, १७७. बिठलदास जी ७६१, १७८. बीठलदास जी ७६२, १७९. बीठलराय जी गो. ७६२, १८०. बुलाकीदास जी, ७६३, १८१. ब्रजभूषण जी गो. ७६३, १८२. ब्रजपति जी गो. ७६३, १८३. ब्रजलाल जी गो. ७६४, १८४. ब्रजदासी जी ७६४, १८५. ब्रजगोपालदास जी ७६४, १८६. ब्रजनिधिबल्लभ जी गो. ७६५, १८७. ब्रजमोहन जी गो. ७६५, १८८. ब्रजजीवनदास जी ७६५, १८९. ब्रजनाथ जी शास्त्री ७६६, १९०. ब्रजजीवनलाल जी ७६७, १९१. ब्रजभूषणलाल जी ७६७, १९२. बैजनाथ जी सक्सैना ७६७, १९३. भगवानदास जी ७६७, १९४. भजनदास जी ७६८, १९५. भागवतावतंश जी ७६८, १९६. भोलानाथ जी 'भोरीसखी' [प्रथम] ७६८, १९७. भोलानाथ जी 'भोरीसखी' [द्वितीय] ७६९, १९८. मधुरानन्द जी ७७०, १९९. मथुरा हित जी ७७०, २००. मनोरथलाल जी गो. ७७०, २०१. मदनमोहनदास जी ७७१, २०२. मन्नीलाल जी गो. 'प्रेमबन्धु' ७७२, २०३. मनोहरदास जी ७७२, २०४. मनोहरअली जी ७७२, २०५. मनोहरबल्लभ जी गो. ७७३, २०६. माधौरसिक जी ७७३, २०७. माधौदास जी [माधौमुकुन्द] ७७४, २०८. माधुरीदास जी ७७४, २०९. माखनलाल जी गो. ७७५, २१०. माखनचोरदास जी छाप—'चोरअली' ७७५, २११. मीठा भाई जी छाप—'मिष्ट' अथवा 'हित मकरन्द' ७७६, २१२. मुरलीधर जी ७७६, २१३. मुकुन्दलाल जी गो. ७७६, २१४. मुरलीसखी जी, ७७७, २१५. मोहनदास जी गो., [मोहनचन्द्र जी गो.] ७७७, २१६. मोहनदास जी ७७८, २१७. मोहनमत्त जी ७७८, २१८. मोहन जी ७७८, २१९. मोहनलाल जी गो. ७७९, २२०. यज्ञेश्वर द्विज ७७९, २२१. रसिकलाल जी गो. ७८०, २२२. रसिकानन्दलाल जी गो. ७८०, २२३. रसिकदास जी [प्रथम] ७८०, २२४. रसिकदास जी 'रसिकसखी' [द्वितीय] ७८१, २२५. रसिक मुकुन्द जी ७८१, २२६. रतनदास जी ७८२, २२७. रसन भाई जी ७८२, २२८.



रमनलाल जी गो. ७८३, २२६. रामदास जी ७८३, २३०. रामकृष्ण हित [प्रथम] ७८३, २३१. रामकृष्ण जी चौबे [द्वितीय] ७८४, २३२. राधिकाचरणदास जी 'ढोंगीबाबा' ७८४, २३३. राधिकादास जी [प्रथम] ७८६, २३४. राधादास जी या राधिकादास जी [द्वितीय] ७८६, २३५. राधिकाबल्लभ शरण जी 'हड़िया बाबा' ७८७, २३६. राधाबल्लभशरण जी [पूर्वनाम-पं. रामनाथ] ७८७, २३७. राधिकाशरण जी या राधाशरण जी [प्रथम] ७८८, २३८. राधिकाशरण जी प्रसिद्ध नाम-सन्तदास जी [द्वितीय] ७८८, २३६. राधालाल जी गो. ७८६, २४०. रासरंगीली दासी जी ७८६, २४१. राधाबालकृष्ण हित ७८६, २४२. राधामोहनदास जी [प्रथम] ७६० २४३. राधामोहन जी माली [द्वितीय] ७६०, २४४. रूपअली जी ७६०, २४५. रूपदास जी ७६१, २४६. रूपनाथ जी गो. ७६१, २४७. रूपलाल जी गो. [प्रथम] ७६२, २४८. रूपलाल जी गो. 'अधिकारी' [द्वितीय] ७६३, २४६. रंगीदास जी ७६३, २४४. २५०. रंगीलाल जी गो. ७६३, २५१, [सन्त] ललितसखी जी [छाप-'ललितलता', 'ललितादिक', 'सन्त ललितसखी'] ७६४, २५२. लक्ष्मीदास जी हित ७६४, २५३. ललिताशरण जी ७६५, २५४. लक्ष्मण भगत जी ७६५, २५५. लड़ैतीदास जी 'तालधारी' ७६५, २५६. लल्लू जी [छाप-राधाचरण] ७६६, २५७. ललितकिशोरी जी ७६६, २५८. लक्ष्मीनारायण जी दतिया वाले ७६७. २५६. [स्वामी] लालदास जी [प्रथम] ७६७, २६०. लालदास जी [द्वितीय] ७६७, २६१. लालदास जी [तृतीय] ७६८. २६२. लालसखी जी ७६२, २६३. लाड़िलीदास जी [प्रथम] ७६८, २६४. लाड़िलीदास जी 'निजुदासी' [द्वितीय] ७६६, २६५. लाड़िलीदास जी [तृतीय] ७६६, २६६. लाड़िलीलाल जी गो. ८००, २६७. लोकनाथ जी ८००, २६८. वनमालीदास जी गो. [वनचन्द जी गो.] ८०१, २६६. [महारानी] वखतकुँवरि जी 'प्रियासखी' ८०२, २७०. वंशीधर जी वरसानियाँ ८०२, २७१. वंशीलाल जी गो. ८०२, २७२. विलासदास जी गो. ८०२, २७३. विपिनदासी जी ८०३, २७४. विष्णुसखी जी ८०३, २७५. विमलादासी जी ८०३, २७६. विजय सु कवि गो. ८०४, २७७. वीरमाई जी ८०४, २७८. वेणी कवि ८०५, २७६. वैष्णवदास जी ८०५, २८०. वृन्दावनदास जी गो. [प्रथम] ८०६, २८१. [चाचाजी] वृन्दावनदास जी [द्वितीय] ८०६, २८२. वृन्दावनदास जी [तृतीय] ८१२, २८३. श्यामशाह जी तोमर ८१३, २८४. श्यामलाल जी गो. ८१३, २८५. श्यामदास जी ढाँड़िन [प्रथम] ८१४, २८६. श्यामदास जी [द्वितीय] ८१४, २८७. श्यामसखी जी ८१५, २८८. श्यामादास जी ८१५, २८६. स्वामिनीशरण जी [पूर्वनाम-राधासर्वेश्वरदास] ८१६, २६०. सदानन्द जी गो. ८१६, २६१. सन्तदास जी ८१७, २६२. सहचरिसुख जी [छाप-'सखीसुख', 'सुखसखी'] ८१७, २६३. सदाशिवलाल जी



[छाप—'सुन्दरदास'] ८१७, २६४. सर्वसुखराय जी [छाप—'सुखद', 'सुखदा', 'जनसुखद'] ८१८, २६५. सर्वसुखदास जी ८१८, २६६. सनेही जी ८१६, २६७. सिंगारसखी जी ८२०, २६८. शीलसखी जी ८२०, २६६. सुजनसखी जी ८२०, ३००. सुन्दरदास जी [प्रथम] ८२१, ३०१. सुन्दरदास जी [द्वितीय] ८२१, ३०२. सुखसखी जी [सहचरिसुख—'सुखसखी' जी से पृथक] ८२१, ३०३. सुखदान कवि ८२२, ३०४. सुखलाल जी गो. [छाप—'सुख', 'सुखसजनी', 'सुखलाल'] ८२२, ३०५. सुन्दरीशरण जी ८२२, ३०६. सेवक जी [पूर्व नाम—दामोदरदास जी] ८२३, ३०७. सेवादास जी [प्रथम] ८२३, ३०८. सेवादास जी [द्वितीय] ८२३, ३०६. सेवासखी जी ८२४, ३१०. सोमनाथ जी भट्ट ८२५, ३११. [महारानी] सोनकुँवरि जी ८२५, ३१२. शंकराचार्य जी ८२५, ३१३. शंकरदत्त जी कवि ८२६, ३१४. श्रीपतिशरण जी ८२६, ३१५. [स्वामी] श्री हरिदास जी ८२६, ३१६. हरिरामव्यास जी ८४१, ३१७. हरिलाल जी गो. ८४७, ३१८. हरिलालव्यास जी ८४७, ३१६. हरिवंशदास जी ८४८, ३२०. हरिजीमल जी ८४८, ३२१. हरीदास जी ८४६, ३२२. हठी जी ८४६, ३२३. हितअनूपअली जी ८४६, ३२४. हित रघुनाथ जी ८५०, ३२५. हितकिशोर जी गो. ८५०, ३२६. हितलाल जी गो. ८५०, ३२७. हितदास जी [प्रथम] ८५१, ३२८. हितदास जी [द्वितीय] ८५१, ३२६. हितदासी जी ८५१, ३३०. हितशरण जी ८५२, ३३१. हितसुख जी ८५२, ३३२. हित गोपाल जी ८५२, ३३३. हित रसिक जी ८५३, ३३४. हितनिधि जी ८५३, ३३५. हितूलडैतीअलि जी ८५३, ३३६. हीरादास जी ८५४, ३३७. हीरासखी जी ८५४, ३३८. हुलासलाल जी गो. ८५५।

## उपसंहार

८५६

सहायक ग्रन्थ सूची

८५६

## परिशिष्टांक - [ पृथक से ]

१. राधासुधानिधि रचयिता कौन ?
२. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वृन्दावन
३. रासलीलानुकरण
४. समाज संगीत
५. वृन्दावनरस का स्वरूप विवेचन
६. औत्सविक सेवा, इत्यादि।



## प्रबन्ध में प्रयुक्त सांकेतिक शब्दों की अर्थ-बोधिका

| वाणी-ग्रन्थ —     |                        | कृ. आ.             | कृष्णाश्रय               |
|-------------------|------------------------|--------------------|--------------------------|
| अ. सा.            | अनन्यसार               | कृ. गी.            | कृष्ण गीतावली            |
| अ. र.             | अनुभव रस               | कृ. अ.             | कृष्ण अष्टक              |
| अ. से. प्र.       | अष्टयाम सेवा प्रबंध    | कृ. दा. जी की वा.  | कृष्णदास जी की वाणी      |
| अ. अ. जी. की. वा. | अनन्यअलीजी की वाणी     | कृ. दा. गो. की वा. | कृष्णदास गो. की वाणी     |
| अति. की वा.       | अतिबल्लभ जी की वाणी    | कुं. दा. के. प.    | कुंभनदास जी के पद        |
| अ. ब. दा. की वा.  | अतिबल्लभदास जी की वाणी | ग. दा. की वा.      | गरीबदास की वाणी          |
| अ. भा.            | अणु भाष्य              | गी. भा. उ.         | गीताभाष्य-उपोद्घात       |
| अ. नि.            | अध्वविनिर्णय           | गी. गो.            | गीत गोविन्द              |
| आ. पु.            | आदि पुराण              | गु. कृ. च. बे.     | गुरु कृपा चरित्र बेली    |
| आ. त्या.          | आशा त्याग              | गोकु. अ.           | गोकुलाष्टक               |
| अं. प्र.          | अंतःकरण प्रबोध         | गो. इ. भा. व.      | गोल्डन इतिहास भारतवर्ष   |
| आ. वृ. च.         | आनन्द वृन्दावन चम्पू   | गो. गो. ला. की वा. | गो. गोवर्धनलालजी की वाणी |
| इ. प. वं. बे.     | इष्ट पद वंदन बेली      | गो. व. च. की वा.   | गो. वनचन्द्रजी की वाणी   |
| उ. नी. म.         | उज्ज्वल नील मणि        | गो. हि. रु. वा.    | गो. हितरूपलाल जी की वाणी |
| ऐ. उ.             | ऐतरेय उपनिषद           | गोपी. ब. अ.        | गोपीजनबल्लभ अष्टक        |
| ऋ. वे.            | ऋग्वेद                 | गौ. ग. दी.         | गौर गणोद्देश्य दीपिका    |
| क. प.             | कवित्त पच्चीसी         | घ. रा.             | घट रामायण                |
| क. ग्र.           | कबीर ग्रन्थावली        | चतु. श्लो.         | चतुःश्लोकी               |
| क. न.             | कर्णानन्द              | चै. च.             | चैतन्य चन्द्रामृत        |
| क. सा. की प.      | कबीर साहित्य की परख    | छां. उ.            | छांदोग्य उपनिषद          |
| क. न. गो. की वा.  | कमलनयन गो. की वाणी     | ज. कृ. जी की वा.   | जयकृष्ण जी की वाणी       |
| कठो. उ.           | कठोपनिषद               | जा. ग्र.           | जायसी ग्रन्थावली         |
| का. प्र.          | काव्य प्रकाश           | जु. स. प.          | जुगल सनेह पत्रिका        |
| काँ. का इ.        | काँकरौली का इतिहास     | टी. रा. सु. नि.    | टीका राधासुधानिधि        |
| कि. अ. की वा.     | किशोरीअली जी की वाणी   | त. सा. प्र. टी.    | तत्त्वसार प्रकाशिनी टीका |
| के. क.            | केलि कल्लोल            | त. सा. चे. ली.     | तत्त्वसार चेतावनी लीला   |
| केनो.             | केनोपनिषद              | तै. उ.             | तैत्तरीय उपनिषद          |
| कृ. गि. पू. बे.   | कृष्ण गिरि पूजन बेली   |                    |                          |



|                      |                      |                           |                          |
|----------------------|----------------------|---------------------------|--------------------------|
| दा. द. की वा.        | दादूदयाल की वाणी     | बि.वा.द. सा. की वा.       | बिहार वाले दरिया साहब    |
| दो. व.               | दोहावली              |                           | की वाणी                  |
| दोहा. सं.            | दोहावली-संग्रहीत     | बी. वि. जी के प.          | बीठलविपुल जी के पद       |
| दो सौ वा. वै. की वा. | दो सौ वावन वैष्णवन   | वै. ग.                    | बैकुण्ठ गद्य             |
|                      | की वार्ता            | बृ. उ.                    | बृहदारण्यक उपनिषद        |
| द्वा. य.             | द्वादशयश             | बृ. भा.                   | बृहद भागवतामृत           |
| न. ग्र.              | नन्ददास ग्रन्थावली   | ब्र. जी. दा. की वा.       | ब्रजजीवनदास जी की वाणी   |
| ना. शा.              | नाट्यशास्त्र         | ब्र. सू. भा., र. प्र. टी. | ब्रह्म सूत्र भाष्य,      |
| ना. दा. की वा.       | नागरीदास जी की वाणी  |                           | रत्न प्रमा टीका          |
| ना. भ. सू.           | नारद भक्ति सूत्र     | ब्र. प्र. बे.             | ब्रज प्रसाद बेली         |
| नि. भा.              | निम्बार्क भाष्य      | भ. प्रा. बे.              | भक्ति प्रार्थना बेली     |
| नि. ल.               | निरोध लक्षण          | भ. क. व्या.               | भक्ति कवि व्यास जी       |
| नि. प्र.             | निर्मल प्रकाश        | भ. सु.                    | भक्त सुमिरनी             |
| प. वि. ली.           | परिचर्या विलास लीला  | भ. मा.                    | भक्तमाल                  |
| पदा.                 | पदावली               | भ. की टी.                 | भक्तमाल की टीका          |
| प. प्र. मा.          | पद प्रसंग माला       | भ. मा. टी.                | भक्तमाल की टीका          |
| प. सा. की वा.        | पलदू साहब की वाणी    | भ. मा. स.                 | भक्तमाल सटीक             |
| प. पु.               | पद्म पुराण           | भ. टी.                    | भक्तिरसबोधिनी टीका       |
| प्र.                 | प्रश्नोत्तरी         | भ. र. सि.                 | भक्ति रसामृत सिन्धु      |
| प्रश्नो.             | प्रश्नोत्तरी         | भ. गा.                    | भक्त गाथा                |
| प्रा. प. सं.         | प्राचीन पद संग्रह    | भ. मु. के. प.             | भगवत्मुद्रित जी के पद    |
| प्री. दा. की वा.     | प्रीतमदास जी की वाणी | भ. मा. पू.                | भगवन्मानस पूजनं स्तोत्र  |
| प्रे. प्र. षो.       | प्रेम प्रकाश षोडशी   | भ. र. की वा.              | भगवतरसिक जी की वाणी      |
| प्रे. प.             | प्रेम पहेरी          | भ. सा.                    | भक्तिसागर [ शब्द वर्णन ] |
| प्रे. वि.            | प्रेम विनोद          | भ. गी.                    | भगवद् गीता               |
| फु. स.               | फुटकर सवैया          | भ. दा. की वा.             | भजनदास जी की वाणी        |
| फु. प. सं.           | फुटकर पद संग्रह      | भा. व. का बृ. इ.          | भारतवर्ष का बृहद इतिहास  |
| ब्या. ली.            | ब्यालिस लीला         | भा. मृ.                   | भावामृत                  |
| ब. प्र.              | बसन्त प्रबन्ध        | भा. म. पु.                | भागवत् महापुराण          |
| बि. स.               | बिहारी सतसई          | भो. ना. जी. की वा.        | भोलानाथ जी की वाणी       |
| बि.दा. जी की वा.     | बिहारिनदासजी की वाणी |                           |                          |



|                           |                                    |                     |                               |
|---------------------------|------------------------------------|---------------------|-------------------------------|
| म. भा.                    | महाभारत                            | रा. सु. नि.-टी.     | राधासुधानिधि-टीका             |
| म. नि.                    | महोत्सव निर्णय                     | रा. उ. सु. नि.      | राधाउपसुधानिधि                |
| म. अ.                     | मधुराष्टक                          | रा. प.              | रामार्चन पद्धति               |
| म. स्मृ.                  | मनुस्मृति                          | रा. च. मा.          | राम चरित मानस                 |
| म. दा. की वा.             | मलूकदास की वाणी                    | री. का. क. सं.      | रीति कालीन कवित्त संग्रह      |
| मा. वि.                   | माधुर्य विलास                      | रू. स. की वा.       | रूपसखी जी की वाणी             |
| मा. प्र.                  | माधुर्य प्रकाश                     | रू. र. की वा.       | रूपरसिक जी की वाणी            |
| मा. वा. द. सा. की वा.     | मारवाड़ वाले<br>दरिया साहब की वाणी | रू. र. की प.        | रूपरसिक जी की पदावली          |
| माँ. व.                   | माँझावली                           | ल. कि. की वा.       | ललितकिशोरी जी की वाणी         |
| मी. जी वा.                | मीठा जी की वाणी                    | ला. स्वा. की वा.    | लालस्वामी जी की वाणी          |
| मु. उ.                    | मुण्डक उपनिषद                      | व्या. वा.           | व्यास वाणी                    |
| मो. म. की माँ.            | मोहनमत्त जी की माँझ                | वा. का. सू.         | वात्सायन कामसूत्र             |
| मं. वि. बे.               | मंगल विनोद बेली                    | वि. चू.             | विवेक चूड़ामणि                |
| मं. ध्या. प.              | मंत्र ध्यान पद्धति                 | वे. का.             | वेदान्त कामधेनु               |
| य. अ.                     | यमुनाष्टक                          | वे. पा. सौ.         | वेदान्त पारिजात सौरभ          |
| यु. प्री. प्र. प.         | युगल प्रीति प्रकाश पच्चीसी         | वे. सं.             | वेदार्थ संग्रह                |
| यु. स. प.                 | युगल सनेह पत्रिका                  | वे. र. म.           | वेदान्त रत्न मञ्जूषा          |
| र. नि.                    | रस निरूपण                          | वै. अ.              | वैयासिकी अष्टक                |
| र. अ. प.                  | रसिक अनन्य परिचावली                | वै. व.              | वैष्णव वन्दना                 |
| र. अ. सा.                 | रसिक अनन्य सार                     | वृ. म.              | वृन्दावन महिमामृतम्           |
| र. अ. मा.                 | रसिक अनन्य माल                     | वृ. धा.             | वृन्दावन धामानुरागावली        |
| र. सा.                    | रस सार                             | वृ. म. की टी.       | वृन्दावन महिमामृतम् की टीका   |
| र. आ. स.                  | रस आन्धिक सतक                      | वृ. म. बे.          | वृन्दावन महिमा बेली           |
| रं. ना.                   | रसिक नामावली                       | वृ. प्रे. वि. बे.   | वृन्दावन प्रेम विलास बेली     |
| र. मो. ना. से. वा. की टी. | रसिकमोदिनी नाम्नी                  | वृ. प्र. मा.        | वृन्दावन प्रकाश माला          |
| र. ह. आ.                  | रसिक हृदय आमरन                     | वृ. अ.              | वृन्दावन अष्टक                |
| र. भ. गा.                 | रसिक भक्त गाथा                     | वृ. दा. की वा.      | वृन्दावनदासजी की वाणी         |
| रं. ग.                    | रंग गद्य                           | वृ. र. स. त. सा.    | वृन्दावन रहस्य सर्वतत्त्व सार |
| रा सु. नि.                | राधासुधानिधि                       | वं. अ. के प.        | वंशीअली जी के पद              |
|                           |                                    | स्वा. ह. दा. की वा. | स्वामी हरिदास जी<br>की वाणी   |



|                 |                      |                           |                        |
|-----------------|----------------------|---------------------------|------------------------|
| स्फु. वा.       | स्फुट वाणी           | श्री ह. च.                | श्री हरिवंश चरित्र     |
| स्क. पु.        | स्कन्द पुराण         | श्री ह. स.                | श्री हरिवंश सहस्रनाम   |
| स. द. सं.       | सर्व दर्शन संग्रह    | श्री म. भा.               | श्री मदभागवत           |
| स. प्र. [एकादश] | समय प्रबंध [एकादश]   | श्री भ. प.                | श्री भट्ट जी की पदावली |
| स. प्र. [दसम]   | समय प्रबन्ध [दसम]    | श्री मु. प.               | श्री मुख पत्री         |
| स. प्र.         | समय प्रबंध           | श्री म. भ. गी.            | श्री मदभागवद् गीता     |
| स. सु. की वा.   | सहचरिसुख जी की वाणी  | हरि.                      | हरिवंशाष्टक            |
| स. कु. सं.      | सनत्कुमार संहिता     | ह. कृ. क. चा.             | [श्री] हरिवंश कृपा     |
| स. प्र.         | सम्प्रदाय प्रदीप     |                           | कटाक्ष चालीसा          |
| स. क.           | सम्प्रदाय कल्पद्रुम  | ह. ना. म.                 | हरि नाम महिमा          |
| सा. वि. ग्र.    | सार विचार ग्रन्थ     | ह. क. बे.                 | हरि कला बेली           |
| सा. दी.         | साधन दीपिका          | ह. म. वि.                 | हरिमक्ति विलास         |
| सि. मु.         | सिद्धान्त मुक्तावली  | ह. पु.                    | हरिवंश पुराण           |
| सि. प.          | सिद्धान्त पच्चीसी    | ह. म.                     | हस्तामलक               |
| सि. के प.       | सिद्धान्त के पद      | हिता.                     | हिताष्टक               |
| सि. र.          | सिद्धान्त रत्नांजली  | हि. स्व. उ. य.            | हित स्वरूप उत्कर्ष यश  |
| सु. बो.         | सुधर्म बोधनी         | हि. प्र.                  | हित प्रभावली           |
| सू. सा.         | सूर सागर             | हि. चौ. की टी.            | हित चौरासी की टीका     |
| से. वा.         | सेवक वाणी            | हि. ह. च.                 | हित हरिवंश चरित्र      |
| से. च.          | सेवक चरित्र          | हि. चौ.                   | हित चौरासी             |
| से. वा. सि.     | सेवकवाणी सिद्धान्त   | हि. सु.                   | हित सुभिरनी            |
| से. ज. वि.      | सेवक जस विरदावली     | हि. य. र. सि.             | हित यश रसामृत सिन्धु   |
| से. वि.         | सेवा विचार           | हि. छ. की टी.             | हित छप्पय की टीका      |
| सं. का.         | सन्त काव्य           | हि. ह. च. ना. र. मा. स्त. | हित हरिवंश चरित्र      |
| सं. गी.         | संस्कृत गीत          |                           | नाम रत्न माला स्तव     |
| श्वे. उ.        | श्वेताश्वेतर उपनिषद् | हि. रू. च. बे.            | हित रूप चरित्र बेली    |
| श. ग.           | शरणागति गद्य         | हि. कु. शा.               | हित कुल शाखा           |
| शां. भा.        | शांकर भाष्य          | हि. कु. की ज. ब.          | हित कुल की जनम बघाई    |
| शां. म. सू.     | शांडिल्य भक्ति सूत्र | हि. स्व. बे.              | हित स्वरूप बेली        |
| शि. अ.          | शिक्षा अष्टक         | हि. प. वं. प.             | हित परिकर वंदन पत्रिका |
| शु. मा.         | शुद्धाद्वैत मार्तण्ड | हि. भ. क.                 | हित भक्ति कल्पतरु      |



| हि. प्रि. से. वि.            |  | हि. प्रिया सेवक विलास         |  | वाणी-ग्रन्थ प्रणेता - |                         |
|------------------------------|--|-------------------------------|--|-----------------------|-------------------------|
| हि. भ. क.                    |  | हित भक्ति कल्पतरु             |  | अ. श.                 | अलबेलीशरण जी            |
| हि. द.                       |  | हित दशावधी                    |  | अभि. गु.              | अभिनव गुप्त             |
| हि. शा.                      |  | हित शास्त्र                   |  | अ. ब. दा.             | अतिबल्लभदास जी          |
| हि. औ. मे. इ.                |  | हिन्दी ऑफ<br>मेडिकमयल इण्डिया |  | अ. अ.                 | अनन्यअली जी             |
| हि. बो.                      |  | हित बोधनी                     |  | अति. दा.              | अतिबल्लभदास जी          |
| हि. सा. ल.                   |  | हितानन्द सागर लहरी            |  | आ. ब.                 | आचार्य बल्लभ जी         |
| हि. प्र. ना., से. वा. की टी. |  | हित प्रकाशिनी                 |  | आ. भ. मु.             | आचार्य भरत मुनि         |
|                              |  | नाम्नी सेवकवाणी की टीका       |  | आ. म.                 | आचार्य मम्मट            |
| हि. च. प्र.                  |  | हित चन्द्र प्रकाश             |  | आ. रा.                | आचार्य रामानुज          |
| हि. धु. वा. की फ.            |  | हित ध्रुववाणी की फलस्तुति     |  | आ. शं.                | आचार्य शंकर             |
| हि. चौ. टी.                  |  | हित चौरासी की टीका            |  | आ. रा.                | आचार्य रामानन्द         |
| हि. सा. का इ.                |  | हिन्दी साहित्य का इतिहास      |  | आ. बा.                | आनन्दीबाई जी            |
|                              |  |                               |  | आ. रा. च. शु.         | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल  |
|                              |  |                               |  | उ. दा.                | उत्तमदास जी             |
|                              |  |                               |  | क. कर्ण.              | कवि कर्णपूर             |
|                              |  |                               |  | कृ. दा. भा.           | कृष्णदास भावुक          |
|                              |  |                               |  | कि. अ.                | किशोरीअली जी            |
|                              |  |                               |  | कुं. दा.              | कुंभनदास जी             |
|                              |  |                               |  | गो. हि. ह.            | गोस्वामी हित हरिवंश जी  |
|                              |  |                               |  | गो. अ.                | गोविन्दअली जी           |
|                              |  |                               |  | गो. म.                | गोपाल भट्ट जी           |
|                              |  |                               |  | गो. च. ला.            | गोस्वामी चन्द्रलाल जी   |
|                              |  |                               |  | गो. ज. ब.             | गोस्वामी जदुबल्लभ जी    |
|                              |  |                               |  | गो. कृ. दा.           | गोस्वामी कृष्णदास जी    |
|                              |  |                               |  | गो. सु. ला.           | गोस्वामी सुखलाल जी      |
|                              |  |                               |  | गो. ब्र. ला.          | गोस्वामी ब्रजलाल जी     |
|                              |  |                               |  | गो. कुं. ला.          | गोस्वामी कुंजलाल जी     |
|                              |  |                               |  | गो. रू. ला.           | गोस्वामी रूपलाल जी      |
|                              |  |                               |  | गो. तु. दा.           | गोस्वामी तुलसीदास जी    |
|                              |  |                               |  | गो. कृ. च.            | गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी |



|                  |                           |                   |                            |
|------------------|---------------------------|-------------------|----------------------------|
| गो. ब्र. प.      | गोस्वामी ब्रजपति जी       | बी. वि.           | बीठलविपुल जी               |
| गो. गो. ला.      | गोस्वामी गोवर्धनलाल जी    | ब्र. ला. गो.      | ब्रजलाल जी गोस्वामी        |
| गो. र. ला.       | गोस्वामी रसिकलाल जी       | ब्र. जी. दा.      | ब्रजजीवनदास जी             |
| गो. दा. व.       | गोस्वामी दामोदरवर जी      | म. र.             | भगवत रसिक जी               |
| गो. क.           | गोपाल कवि                 | म. दा.            | भजनदास जी                  |
| घ. दा.           | घनश्यामदास जी             | म. मु.            | भगवत मुदित जी              |
| च. स.            | चन्द्रसखी जी              | म. ज.             | महाकवि जयदेव जी            |
| चा. वृ. दा.      | चाचा वृन्दावनदास जी       | म. मो. दा.        | मदनमोहनदास जी              |
| चै. दे.          | चैतन्य देव जी             | म. स.             | मधुसूदन सरस्वती            |
| ज. ला. गो.       | जतनलाल जी गोस्वामी        | मी.               | मीठा जी                    |
| ज. कृ. दा.       | जयकृष्णदास जी             | यशो.              | यशोधर                      |
| जी. गो.          | जीव गोस्वामी जी           | र. दा.            | रतनदास जी                  |
| डॉ. ई. प्र. सिं. | डॉ. ईश्वरीप्रसाद सिंह     | र. दा.            | रसिकदास जी                 |
| तु. दा.          | तुलसीदास जी               | र. दे.            | रसिकदेव जी                 |
| दा. स्वा.        | दामोदर स्वामी जी          | रा. कृ. गो.       | राधाकृष्ण गोस्वामी         |
| न. दा.           | नन्ददास जी                | रा. च. दा.        | राधिकाचरणदास जी            |
| ना. दा.          | नामादास जी                | रु. गो.           | रूप गोस्वामी               |
| नि.              | निम्बार्काचार्य           | ला. दा.           | लाङ्गिलीदास जी             |
| नि. दा.          | निर्मलदास जी              | ला. दा.           | लालदास जी                  |
| ने. ना. दा.      | नेही नागरीदास जी          | ला. स्वा.         | लालस्वामी जी               |
| प. च.            | परशुराम चतुर्वेदी         | लो. ना.           | लोकनाथ जी                  |
| पुरु.            | पुरुषोत्तमाचार्य          | वा. गो.           | वासुदेव जी गोस्वामी        |
| प्र. स.          | प्रबोधानन्द जी सरस्वती    | वृ. दा. गो.       | वृन्दावनदास जी गोस्वामी    |
| प्र. न.          | प्रबोधानन्द जी [ गौड़ीय ] | वृ. दा. [ द्वि. ] | वृन्दावनदास जी [ द्वितीय ] |
| प्रा. ना.        | प्राणनाथ जी               | वं. अ.            | वंशीअली जी                 |
| प्रि. दा.        | प्रियादास जी              | स्वा. श.          | स्वामिनीशरण जी             |
| प्री. दा.        | प्रीतमदास जी              | स्वा. च. दा.      | स्वामी चतुर्भुजदास जी      |
| प्रे. दा.        | प्रेमदास जी               | स्वा. ह. जी       | स्वामी हरिदास जी           |
| ब. दा. म.        | बल्लभदास जी महंत          | स्वा. दा.         | स्वामी दामोदरदास जी        |
| ब. र.            | बल्लभरसिक जी              | स. सु. दा.        | सर्वसुखदास जी              |
| बि. दा.          | बिहारिनदास जी             | स. सु.            | सहचरिसुख जी                |



|             |                              |                     |                               |
|-------------|------------------------------|---------------------|-------------------------------|
| सु. स.      | सुखसखी जी [सहचरिसुख से पृथक] | न. श.               | नवम शतक                       |
| सू. दा.     | सूरदास जी                    | प. सं.              | पद संख्या                     |
| ह. व्या.    | हरिरामव्यास जी               | पा. लि.             | पाण्डुलिपि                    |
| ह. व्या.    | हरिलालव्यास जी               | पं. श.              | पंचम शतक                      |
| ह. दे.      | हरिव्यास देवाचार्य           | प्र. अ.             | प्रथम अध्याय                  |
| हि. अ.      | हितअनूपअलि जी                | प्र. आ.             | प्रतिष्ठापक आचार्य            |
| हि. घु. दा. | हितघुवदास जी                 | प्र. श.             | प्रथम शतक                     |
| हि. मो.     | हित मोहन जी                  | प्र. पृ. सं.        | प्रबन्ध की ही पृष्ठ संख्या    |
| हि. दा.     | हितदास जी                    | प्रा. पु.           | प्रारम्भिक पुष्पिका           |
| हि. खु. दा. | हित खुश्यालदास जी            | प्रा. ह. लि. प्र.   | प्राचीन हस्तलिखित प्रति       |
| ही. स.      | हीरासखी जी                   | प्रा. ह. लि. प. सं. | प्राचीन हस्तलिखित पद संग्रहों |

### कतिपय अन्य नाम -

|             |                     |             |                           |
|-------------|---------------------|-------------|---------------------------|
| अ. पु.      | अन्तिम पुष्पिका     | पृ. सं.     | पृष्ठ संख्या              |
| अ. श.       | अष्टम शतक           | र. भा. सं.  | रसमारती संस्थान, वृन्दावन |
| आ.          | आचार्य              | रा. पं.     | रासपंचाध्याई              |
| गो.         | गोस्वामी            | वि. सं.     | विक्रम सम्बत              |
| च. श.       | चतुर्थ शतक          | श्लो. सं.   | श्लोक संख्या              |
| च. अ.       | चतुर्थ अध्याय       | स. श.       | सत्रहवाँ शतक              |
| छं. सं.     | छन्द संख्या         | ष. अ.       | षष्ठम अध्याय              |
| तृ. अ.      | तृतीय अध्याय        | ष. श.       | षष्ठम शतक                 |
| तृ. श.      | तृतीय शतक           | ह. लि. प्र. | हस्तलिखित प्रति           |
| टी.         | टीकाकार             |             |                           |
| द. श.       | दशम शतक             |             |                           |
| द. स्क.     | दशम स्कन्ध          |             |                           |
| द्वि. श.    | द्वितीय शतक         |             |                           |
| दे.         | देखिये              |             |                           |
| दे. पृ. सं. | देखिये पृष्ठ संख्या |             |                           |
| दो. सं.     | दोहा संख्या         |             |                           |







रस मूर्ति श्री राधावल्लभलाल जी



## समर्पण

हे रसिकाचार्य !

हे रसिकाराध्य !

हे रस भक्ति के भाव्य !

रस रूप श्रीहित महाप्रभु !

आप ही भोग्य और आप ही भोक्ता हैं —

रसमय वाणी और वाणीमय रस के ।

अतः

आप ही को समर्पित है

यह— रसभक्ति वाणी साहित्य

— 'अलि'





# हिन्दी भक्ति काव्य में रस भक्ति धारा और उसका वाणी साहित्य

## प्रथम अध्याय

### १. विषयावतरणिका

#### १.१. विषय का महत्व और उपादेयता :

महा मधुर मोद मूलक भावों की मंजुल-मदिर ऊर्मियाँ सरस काव्य की सृष्टि किया करती हैं। मानव मनस्थ उत्साह, विस्मय और रत्यादि भावों में 'मधुरभाव'; काव्य सृजन की दृष्टि से सर्वाधिक सशक्त विख्यात है। भारतीय चिन्तन धारा का अलिखित किन्तु जन-जन मानस में अंकित इतिहास साक्षी है कि मधुर भाव के बीज मानव के हृदय में जन्म के साथ ही संसृष्ट होते रहे हैं। उस मधुर भाव का सम्बन्ध चाहे जिस किसी से भी रहा हो, किन्तु उसका अस्तित्व सत्य है, परम सत्य है; इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोविज्ञान के आधार पर ही सही, पर पाश्चात्य विद्वानों तक को यह स्वीकार है कि 'भक्ति, भगवान और भक्तिकाव्य, ये तीनों ही सनातन नहीं तो चिर पुरातन तो अवश्य ही हैं और भारतीय चिन्तनधारा की अजस्र मधुर ध्वनि तो इसे सनातन ही घोषित करती चली आ रही है।



वैदिक काल में यह भक्ति भाव और भक्ति काव्य दोनों ही कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की क्रीड़ा में पलते, कभी चलते और कभी जरायु की ओर ढलते जैसे दिखाई देते हैं; किन्तु पौराणिक युग में वे दोनों ही नवीन रूप में रमणीय परिलक्षित होते हैं, क्योंकि उस समय इस मधुर भाव का सम्बन्ध उस विषय के निकट आ चला था जिसकी उसे चिरकाल से खोज थी। मधुरभाव का विषय था षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान का वह लोकावतरित रूप, जो मानव के मन-बुद्धि के अति निकट था। जिससे सम्बन्ध स्थापित करने में ईश्वर की अलौकिकता बाधक नहीं थी। मानवीय मधुर भावों को उद्बुद्ध करने वाले धार्मिक समता, सजातीयता तथा समरुचि आदि-आदि सहायक तत्व सम्बन्ध स्थापन की भूमिका तैयार करने में योगदान कर रहे थे।

भगवान के लोकावतरित—अवतार रूपों में राम और कृष्णावतार अपनी लोक लीला के वैशिष्ट्य के कारण मधुरभाव को विकसित करने में अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। परिणामतः मानव का यह मधुर भाव शान्तारति, दास्यरति, सख्यरति, वत्सलरति और मधुररति इन पाँच रूपों में अभिव्यक्त होकर विशिष्ट-विशिष्ट आस्वाद-प्रदायक रूप में आस्वादित होकर विकसित हुआ। ये मधुर भाव भगवान से सम्बन्धित होने के कारण, शान्तभक्ति, दास्यभक्ति सख्यभक्ति वत्सलभक्ति और मधुर भक्ति [भाव] नाम से अभिसंज्ञात हुआ।

यह एक निम्नान्त और सार्वजनीन मान्यता है कि भक्तिभाव में काव्य सृजन के बीज अन्तर्निहित होते हैं, जोकि सुयोग्य अवसर और सुयोग्य भूमिका पाकर अंकुरित हो उठते हैं और हुआ भी ऐसा ही, भक्ति काव्य अनेकानेक विशालकाय कल्पद्रुमावली के रूप में प्रगट हुआ। इस भक्तिकाव्य के उदयकाल में लोक भाषा तथा काव्य भाषा दोनों ही संस्कृत थीं, अतः उस समय का भक्ति काव्य संस्कृत वाङ्मय के रूप में विनिर्मित हुआ। सामयिक प्रभावानुसार भाषा के क्षेत्र में भी परिवर्तन अनिवार्य था, फलतः यह भक्तिकाव्य भी संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि रूपों में संसृष्ट हुआ। इन भाषाओं में सौरसेनी अपभ्रंश अपनी मधुरिमा विशेष के कारण साधारण जनता के अत्यधिक निकट थी अतः इस अपभ्रंश से समुद्भूत ब्रजभाषा में संसृष्ट यह भक्ति काव्य अत्यधिक रुचिकर और अत्यधिक मधुर सिद्ध हुआ। इस भाषा में विनिर्मित काव्य ही कालान्तर में हिन्दी भक्ति काव्य के नाम से संरूढ़ हो गया।

ब्रजभाषा की मधुरिमा और मार्दव ब्रजभाषा काव्य के आकर्षण का आनुसंगिक कारण कहा जा सकता है, किन्तु वस्तुतः उसका मूल कारण था—भगवान कृष्ण की लोक प्रत्यक्ष लीलायें। वे लीलायें और उनका माधुर्य मानव की रुचि और सहज वृत्तियों का पोषक था। वे लीलायें थीं—श्रीकृष्ण की बाल क्रीड़ा, कौमार कालीन क्रीड़ा, सख्य भाव परिपोषक



माखनचोरी, गेंद क्रीड़ा तथा आँख मिचौनी क्रीड़ा और उनकी वे मधुर लीलायें जो उन्होंने ब्रज किशोरियों के साथ कदम्ब वाटिकाओं, करील कुंजों और कलिन्दजा के कलित कछारों में की थीं। इन लीलाओं का माधुर्य मानव परिचित सभी माधुर्यों से विशिष्ट अद्भुत और सर्वथा नूतन था।

सर्वसाधारण मानव, कविगण और भक्त कवियों की दृष्टि इसी भाव, इसी प्रेम और इसी आनन्द पर केन्द्रित थी। आनन्द और प्रेम का कोई रूप विशेष इसके अतिरिक्त भी है, ऐसी कल्पना भी कोई न कर सका था, वे सब इसी को वास्तविक, विशुद्ध और पूर्ण माधुर्य मूलक प्रेम समझते थे। उस समय दास्य प्रेम, सख्य प्रेम, वत्सल प्रेम और मधुर प्रेम की झाँकियाँ प्रचुर रूप में प्रसरित थीं और इन्हीं झाँकियों के आनन्द में सारा विश्व निमग्न था। वह इतना अधिक आनन्द विभोर और इतना आनन्दोन्मत्त था कि उसे इन आनन्दों के बीच में होने वाले दुःखों का अनुभव ही न होता था। वह सब प्रेम नहीं था, आनन्द नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रेम की छटा, प्रेम का रूप एक प्रकार का नहीं होता, वह लौकिक प्रेम, भगवत् प्रेम, एकांगी प्रेम, सख्य प्रेम, वत्सल प्रेम और मधुर प्रेम आदि-आदि अनेक रूपों वाला है, किन्तु प्रेम के इन रूपों को निमित्त रहित नित्य प्रेम, निरवधि, विशुद्ध और निरुपाधि प्रेम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन सभी प्रेम-रूपों में कुछ विरोधी तत्वों का भी मिश्रण है। जैसे—लौकिक तथा अलौकिक प्रेम में लोक और वेद की मर्यादा का मिश्रण, वत्सल प्रीति में नीति और भीति का विमिश्रण, सख्य प्रीति में स्वार्थ मूलक नीति का मिश्रण और मधुर प्रेम में नायक-नायिका के मत्सुखोपलब्धि की लालसा का विमिश्रण बना रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण मानव जगत प्रेम के उस अमिश्रित, निरुपाधि, नित्य और परिपूर्णतम रूप से सर्वथा अपरिचित बना हुआ था जो दुख और सुख से परे लोक और वेद की मर्यादा से विमुक्त सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तथा सभी प्रकार के माधुर्यों का मूल था।

ऐसे परात्पर तत्व 'प्रेम' किंवा 'रस' को श्री हिताचार्य ने अपना उपास्य बनाकर लोक प्रत्यक्ष किया। श्री हिताचार्य ने उपासना के धरातल पर उस परात्पर तत्व 'प्रेम' किंवा 'रस' की उपासना प्रतिष्ठित की थी जो कि श्रुतियों के हृदय में ही स्थित किन्तु उससे अलक्षित, निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक् था। जो जड़-चेतन की चेतना के अत्यन्त निकट और अत्यन्त दूर, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष घटना से अनभिसंज्ञात, लौकिकता तथा अलौकिकता की सीमा से अनावृत्त, सभी भावों और सभी रसों से विलक्षण था। जो श्री मदभागवतादि पुराणों में व्याख्यात समस्त भगवद् रूपों से पृथक्, नित्य और परात्पर था।

श्रुति विमृग्य तत्व की इस रहस्यमयिता के कारण श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत रसोपासना का वास्तविक स्वरूप ज्ञान केवल श्री व्याससुवन हितहरिवंश-पथानुगामी



रसिकों को ही हो सका सर्व साधारण को नहीं<sup>१</sup>। इसीलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इस रसोपासना को सगुण भक्ति धारा की कृष्ण भक्ति शाखा, रस-उपासक रसिकों को कृष्ण भक्त कवि, और रसिक-वाणी ग्रन्थों को कृष्ण भक्ति काव्य लिखकर इसका परिचय दिया। इतिहास लेखकों द्वारा उल्लिखित इस परिचय ने श्री हिताचार्य की रसोपासना के वास्तविक स्वरूप को जानने का मार्ग ही अवरुद्ध नहीं कर दिया प्रत्युत उसे जानने की जिज्ञासा ही निर्मूल कर दी। प्रस्तुत प्रबंध इतिहास लेखकों द्वारा डाले गये आवरण को दूर हटाकर रस भक्ति धारा की दिव्य देन— अभिनव रसोपासना का सर्वाङ्गीण सम्यक् ज्ञान—प्रदान करेगा। यही इसका अप्रतिम महत्व है।

इस प्रबंध का विशिष्टतम महत्व यह भी है कि इसमें उपासना संबंधी प्रत्येक तथ्य रस भक्ति प्रादुर्भावक श्री हिताचार्य की वाणी में प्राप्त सूत्र वाक्यों पर ही आधारित हैं और सेवक जी, प्रबोधानंद जी हरिराम व्यासजी तथा हितध्रुवदास जी आदि रसिकों की वाणियों के प्रमाण श्रीहिताचार्य के द्वारा निर्दिष्ट सूत्र वाक्यों के भाष्य रूप में स्वीकार किये गये हैं।

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना ने अपनी अभिनव मधुरिमा का अदम्य उन्माद पूर्ण ऐसा रसानन्द प्रवाहित किया जिसे पान करने का लोभ कोई भी संवरण न कर सका। मुक्तजन तथा भक्तजन भी इस प्रेम रस का आनन्द लेकर झूम उठे। इस अभिनव प्रेमोपासना ने कविजनों, भक्तजनों तथा रसिकजनों को क्या-क्या प्रदान किया—प्रस्तुत प्रबंध उन सभी दिव्य दानों पर प्रकाश डालेगा। यही इसका एकान्त महत्व है।

गो. हित हरिवंशोदित रस भक्ति धारा ने एक ऐसी साहित्य-सुधा-सरिता का प्रादुर्भाव किया जिसने ही ब्रज-साहित्य-सागर को लवालव भरा है, यह ऐतिहासिक तथ्य हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों की दृष्टि से अछूता रह गया है, यह प्रबन्ध विद्वज्जनों को इस तथ्य से अवगत करायेगा; यही इसका विद्वद् सम्मन्य महत्व है।

गो. हित हरिवंशोदित रस भक्ति धारा का वाणी साहित्य सब प्रकार की समृद्धियों से सम्पन्न है। इसका अपना स्वतन्त्र जीवन और अपना स्वतन्त्र इतिहास है। इतिहास लेखकों ने अपनी सीमित गवेषणा के आधार पर उसे भ्रमाच्छादित और विरूपित कर दिया है। प्रस्तुत प्रबन्ध इस रहस्य का उद्घाटन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास को अपरिलाञ्छित, सत्य स्वरूप प्रदान करेगा। यही इस प्रबन्ध का मूल्यवान महत्व और यही इसकी उज्ज्वल उपादेयता है।

इस प्रबन्ध के द्वारा विद्वद् जगत तथा अनुसन्धित्सु जगत को शोध के अनेकानेक अभिनव विषयों का ज्ञान होगा तथा अन्वेषण का आलोक पूर्ण मार्ग प्रशस्त होगा, साथ ही

१. श्री हरिवंश गुप्तोंई भजन की रीति सकृत् कोउ जानिहै ।... व्याससुवन-पथ अनुसरै सोई भलैं पहिचानिहै ।।



सर्वसाधारण को 'प्रेमोपासना' किंवा 'रसोपासना' का वास्तविक स्वरूप-परिचय प्राप्त हो सकेगा, यही इस प्रबन्ध की उपयोगिता है।

## १.२. प्रबन्ध के ऐतिह्य उपादान :

सुधीजन सम्मन्य शोध प्रबंध वही कहा जाता है, जिसके प्रतिपाद्य विषय से संबंधित सभी तथ्य प्राचीन प्रमाण पुष्ट ग्रन्थों से प्राप्त साक्ष्याधारों पर आधारित होते हैं। आज के विचार प्रधान युग में तो इस प्रकार की लेखन शैली का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। आलोच्य प्रबंध का आलेख्य या प्रतिपाद्य विषय निर्गुण तथा सगुण भक्ति धारा से सर्वथा पृथक्, राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा से भी सर्वथा पृथक् 'रसभक्ति' नाम्नी एक स्वतंत्र रस धारा है। इसके विवेचित विषय भी सभी पाठकों के लिये नवीन ही नहीं, आश्चर्यजनक हैं।

चिर अनादि काल से शाश्वत प्रवहित भगवद् भक्ति के पुण्य धरातल पर 'रसभक्ति' का अवतरण परिलक्षित कराने, कालान्तर में प्रेमोपासना किंवा रसोपासना नाम से संरुद्ध हुई 'रस भक्ति' के उपास्य, उपासक, उपासना विधा आदि को आलोकित करने और रस भक्ति धारा के साहित्य तथा साहित्यकारों का सर्वाङ्गीण परिचय प्रदर्शित करने के लिए जिन-जिन वाणी ग्रन्थों से सामग्री संकलित की गई है, उन सभी ग्रन्थों का सूक्ष्म परिचय प्रबन्ध के इस 'ऐतिह्य उपादान' नामक प्रकरण में देने का प्रयास करेंगे। रस भक्ति धारा के आविर्भावक श्री हिताचार्य की वाणियाँ तो रसोपासना के सूत्र ग्रन्थ के रूप में रस भक्ति धारा की मूलाधारभूत ऐतिह्य हैं। एतावता हम प्रस्तुत प्रकरण का शुभारंभ आचार्य वाणी के सूक्ष्म परिचय से ही कर रहे हैं।

### १.२.१. रससुधानिधि या राधासुधानिधि :

यह ग्रन्थ प्रेमोपासना किंवा रसोपासना संज्ञक 'रस भक्ति' का सर्वप्रथम प्रमुख आधार ग्रन्थ है। इसके रचयिता गो. हित हरिवंश जी हैं। गोस्वामी श्री हित हरिवंश जी के शब्दों में यह ग्रन्थ स्तव ग्रन्थ किंवा स्तोत्र ग्रन्थ है। स्तोत्र ग्रन्थ में स्तोता की स्तुतियों द्वारा स्तुत्य की स्वरूप महिमा और उसके प्रत्यक्ष करने के विधान का उल्लेख होता है। इसके साथ ही स्तोता का आत्म निवेदन, स्तव पाठ के फल का उल्लेख भी हुआ करता है। इसलिए आलोच्य ग्रन्थ में कहीं पर इष्ट का स्वरूप चित्रण, कहीं महिमा गान और कहीं पर ग्रन्थकार का आत्म निवेदन परिलक्षित होता है।

भक्ति सम्प्रदायाचार्यों के ग्रन्थों में कथन शैली की यह एक चिर पुरातन परम्परा प्राप्त होती है कि आचार्यों ने अपने कृपापात्रों के लिये जो कुछ भी प्रेरणाएँ प्रदान की हैं, वह अपने आत्म निवेदन और अपने आचरणों के द्वारा ही प्रदान की हैं, स्पष्टतः पर



उपदेश के रूप में नहीं। उदाहरण के लिए श्री मद बल्लभाचार्य और श्री चैतन्य चरण के वचनमृत दृष्टव्य हैं, जो कि आज भी तत्तत् साम्प्रदायिक विधान के रूप में समादृत हैं।

आलोच्य ग्रन्थ में भी रसोत्सव की अनेकानेक सुमधुर अभिलाषाओं का निवेदन परिलक्षित होता है, किन्तु वह इष्ट से अत्यन्त दूर स्थित और परोक्ष काल का नहीं, अपितु इष्ट से अत्यन्त निकट और अपरोक्ष काल का निवेदन है। वह केवल निवेदन ही नहीं, उस लीला का पूरक और अङ्गभूत कार्य भी है, जिस लीला में वह निवेदन किया गया है। उन सेवा कार्यों किंवा रसाभिलाषाओं को वृन्दावन रसोपासना के विधान का स्वरूप देने के उद्देश्य से ही श्री हिताचार्य ने आत्म निवेदन के रूप में कथन कर दिया है। यह आत्म निवेदन किंवा रसाभिलाषा किसी स्थल पर सखी रूप से, किसी स्थल पर आचार्य रूप से और किसी स्थल पर एक ही वाक्य एक साथ दोनों स्वरूपों द्वारा कहा गया है। यही तो श्री हिताचार्य की भावाभिव्यक्ति की वैचित्री विशेष है, लेखन कला की अद्वितीय प्रतिभा है। यही कारण है कि उनकी रचना का वही श्लोक अभिलाषा मूलक भी बना हुआ है, और वही लीला का प्रकाशक और पूरक भी दिखाई देता है।

जिस समय और जिन शब्दों द्वारा वे आचार्य रूप से कोई अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं ठीक उन्हीं शब्दों द्वारा अपने निज रूप—अपने श्री हित सखी वपु से—श्री प्रिया जी से सम्भाषण भी कर रहे हैं। इस प्रकार से यह ग्रन्थ अभिलाषा ग्रन्थ होने के साथ-साथ रस लीला—प्रकाशक ग्रन्थ भी है।

‘उपासना’—उपास्य, उपासक और उपासनाविद्या आदि अंगों को लेकर ही पूर्ण होती है। उपास्य का स्वरूप भी नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर इन पाँच अङ्गों को लेकर पूर्ण होता है। जिस ग्रन्थ में उपासना के इन सभी अङ्ग-उपाङ्गों का सम्यक् रूप में वर्णन होता है और प्रमेय तथा प्रमाण पर प्रकाश डाला जाता है; तात्पर्य यह है कि जिस ग्रन्थ में उपासना से सम्बन्धित जितनी भी ज्ञातव्य बातें होती हैं उन सभी पर प्रकाश डाला जाता है, वह ग्रन्थ ही उस उपासना का सूत्र ग्रन्थ, संविधान ग्रन्थ, प्रमाण ग्रन्थ अथवा आचार्य ग्रन्थ कहा जाता है। आलोच्य ग्रन्थ में ही रस भक्ति संज्ञक रसोपासना के उपर्युक्त सभी अंगों पर सम्यक् रूप से सर्वप्रथम प्रकाश डाला गया है। इसीलिए इस ग्रन्थ को रसोपासना का संविधान ग्रन्थ, प्रमाण ग्रन्थ अथवा सर्वाद्य रसिकाचार्य ग्रन्थ कहा गया है।

आलोच्य ग्रन्थ में वृन्दावन रसोपासना के उपास्य, उपासक और उपासना का स्वरूप वर्णन अवश्य है किन्तु वह सविस्तर नहीं, सूक्ष्म रूप में ही है। अतः यह ग्रन्थ वृन्दावन रस का सूत्र ग्रन्थ कहा गया है। इस ग्रन्थ से समुपलब्ध सूत्रों का विशदीकरण ही व्यास जी, प्रबोधानन्द जी सरस्वती, सेवकजी तथा हितघुवदास जी आदि की वाणियों के रूप में संप्राप्त है, जो कि रस सूत्रों के भाष्य और लक्षण ग्रन्थों के रूप में समादृत हैं।



वैदिक काल से लेकर वैक्रमीय सोलहवीं शताब्दी तक के सम्पूर्ण साहित्य में 'रस' के उपासनीय रूप एवं उसकी उपासना विधा विशेष का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अद्वय युगल रूप में ही नित्य प्रत्यक्ष 'रस' को अपना उपास्य बनाने और उस 'रस' रूप को प्रत्यक्ष करने के लिए एक अभिनव रस विधा बनाने का श्रेय—रस और रसिकों के आधार तथा रस-रीति-भार 'रसिकाचार्यत्व' के एकमात्र धारक—श्री हिताचार्य को ही है<sup>१</sup>। श्री हिताचार्य द्वारा प्रणीत विवेच्य ग्रन्थ में उपास्य की रस रूपता [रस और रसिक रूप में अभिव्यक्ति] पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इसीलिए इस ग्रन्थ को रसोपासना का बीज किंवा मूल ग्रन्थ कहा गया है और सम्भवतः इसीलिए ग्रन्थकार श्री हिताचार्य ने इस ग्रन्थ को 'रस सुधा निधि' इस नाम से अभिसंज्ञात किया है<sup>२</sup>।

ग्रन्थ में रचयिता, रचनाकाल और रचना स्थल का उल्लेख नहीं है, किन्तु जिस प्रकार श्री मद्भागवतादि अठारह पुराणों, महाभारत, बाल्मीकि रामायण आदि-आदि ग्रन्थों में ग्रन्थ रचयिताओं के नामोल्लेख नहीं हैं; फिर भी इन ग्रन्थों से समुपलब्ध अन्तःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्यों के आधार पर निर्भ्रान्त रूप से ये ग्रन्थ बादरायण वेदव्यास तथा बाल्मीकि जी कृत माने जाते हैं। ठीक इसी प्रकार यह ग्रन्थ भी अन्तःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर निरापद रूप से गो. हित हरिवंश कृत 'सिद्ध' एवं विद्वद् सम्मन्य है। जिन अन्तःसाक्ष्यों और बहिर्साक्ष्यों के आधार पर यह ग्रन्थ गो. हित हरिवंश जी कृत सिद्ध होता है, वे सभी साक्ष्य इसी प्रबंध के परिशिष्ट भाग में उल्लिखित हैं। अतः यहाँ पर उनका उल्लेख एक अनावश्यक पुनरावृत्ति होगी।

ग्रन्थ प्रणेता ने ग्रन्थ के रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु ग्रन्थ में प्राप्त श्लोकों के आधार पर इसका रचना काल स्थिर किया जा सकता है। श्लोक सं. १ में श्री हिताचार्य ने अपनी गुरुवर श्री राधा और उनकी क्रीड़ा भूमि वृन्दावन की दिशा को नमस्कार किया है। इसी प्रकार श्लोक सं. १३७, १३८ तथा २१३ में भी वृन्दावन की कुंज वीथियों में भ्रमण करने की आकांक्षा प्रकट की गई है। अतः ये श्लोक वृन्दावन आने से पूर्व देववन में ही निर्मित प्रतीत होते हैं। श्लोक सं. २६६ में वृन्दावन वास की अभिलाषा तथा श्लोक सं. १९७ में वृन्दावन में अतिथि होने की उत्कण्ठा अभिव्यक्त की है। ये दोनों श्लोक भी वृन्दावन आने से पूर्व देववन में ही प्रणीत सम्भव हैं। श्री हिताचार्य का वृन्दावन आगमन काल वि. सं. १५९० है।

१. हुतौ रस रसिकन कौ आधार। विनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार।।

—व्या. वा., ह व्या., प. सं. १६

२. अद्भुतानन्द लोमश्वेन्नाम्ना रससुधानिधिः।.....

—रा. सु. नि., श्लो. सं. २७०



‘राधासुधानिधि’ की रचना श्री हिताचार्य के वृन्दावन आगमन [वि. सं. १५९०] से पूर्व हो चुकी थी यह बात चाचा वृन्दावनदास जी ने इन शब्दों में लिखी है —

राधासुधानिधि बानी द्रयौ। पुनि चौरासी पद निर्मयौ॥  
सुत समरथ लखि यह मन धास्यौ। वृन्दावन चलिबौ जु विचास्यौ॥  
मन कौ भेद न काहू दीयौ। वृन्दावन कौ गवन जु कीयौ<sup>१</sup>॥

प्रेमदास जी, मीठाजी वृन्दावनदास जी [द्वितीय] तथा गोपाल कवि द्वारा विरचित निम्नांकित छन्दों के आधार पर ग्रन्थ का रचना काल वि. सं. १५५९-६० स्थिर होता है—

षाण मासिक कृत श्रीमद् राधा रस सुधा निधिः।  
बाल्यादिकेपि कान्कान्स्वान् ज्योति युग्मनदत्तवान्<sup>२</sup>॥

राधारससुधानिधि षाण मास में वरवान्यौ, बीठल सु जान्यौ सान्यौ हियौ सुख सार है।  
अंधि कंज मंजु पुंज रसन अमंद सार, हित मकरन्द मिष्ट दृष्टि कौ आधार है<sup>३</sup>।

अक्षर-अक्षर प्रकट सुधानिधि द्रवत अपारा।  
राधा-राधा रटन राधिका गुन विस्तारा॥  
प्रीति रीति रस रहसि केलि कल सुंदरताई।  
को करि सकै वखान गान करि प्रिया रिझाई॥

बाल वय क्रम सहज ही, झूलत फूलत पालने।  
श्री मद् राधासुधानिधि, कही व्यास के लाल ने<sup>४</sup>॥

षट महिना ही के हित जी ने ग्रन्थ सुधानिधि कीनीं।  
चौरासी पद और कहे पुनि जमुनाष्टक कहि दीनौ<sup>५</sup>॥

‘रससुधानिधि’ ग्रन्थ में कुछ ऐसे श्लोक भी प्राप्त हैं जिनकी रचना निश्चित रूप से वृन्दावन में ही हुई थी। वे श्लोक निम्नांकित हैं —

.....कदास्यां श्री राधे चकित इह वृन्दावन भुवि<sup>६</sup>॥  
.....विदग्ध द्वन्दं तद्रमत इह वृन्दावन भुवि<sup>७</sup>॥  
.....इयं सा कालिन्दी विकसित नवेन्दी वर रुचि<sup>८</sup>॥

१. हि. प. ब. प., चा. वृ. दा., छं. सं. ७०, ७७, ७९

२. हि. ह. च. ना. र. मा. स्त., प्रे. दा., श्लो. सं. ३२

३. हि. ब. अ., मी., छं. सं. ८

४. अ. से. प्र., वृ. दा. [द्वितीय] पृ. सं. ५

५. वृ. घा., गो. क., पृ. ३८

६ से ८ — रा. सु. नि., श्लो. सं. २१०, २१९, २६३







मासत माजी पाठ से रसमय गीत पाठ से विचार  
 को रस और मय रसिगत पाठ माफिरायो यह व  
 त्तमयन को पाठ रसमय है। अतः रसमय वस्तु कवि  
 रसिगता का रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता

तय रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 क एक रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 ती रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 को रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 को रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता

१७१२ रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 को रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 को रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 को रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता  
 को रसमय को रसिगता को रसिगता को रसिगता को रसिगता

राधा सुधानिधि की अन्तिम पुष्पिका

लिपिकाल-वि० सं० १७१२

गोस्वामी नवललालजी, अहमदाबाद के सौजन्य से





हा कालिन्दि त्वयि मम निधिः प्रेयसाक्षालितोभूद्भोगो दिव्याद्भुत तरु लतास्त्वत्कर स्पर्श भाजः ।  
हे राधायाः रतिगृह शुका हे मृगाः ! हे मयूराः ! भूयो भूयः प्रणतिभिरहं प्रार्थयेवोनुकम्पाम् ।

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर यह स्वीकार करने में कोई ऐतिहासिक विरोध नहीं दिखाई देता कि ग्रन्थ की रचना देववन में वि. सं. १५९० के अनिश्चित काल पूर्व से प्रारम्भ होकर वृन्दावन निवास काल में किसी समय पूर्ण हुई।

ग्रन्थ पर हित रसिकों द्वारा की गई अनेक प्राचीन टीकायें प्राप्त हैं। अन्य-अन्य सम्प्रदानुयायी ग्रन्थकारों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ के उद्धरण दिये हैं। इन टीका ग्रन्थों और उद्धरणों से भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता और प्राचीनता सिद्ध है। 'राधासुधानिधि' के कतिपय प्राचीन टीकाकारों के नामोल्लेख तथा उद्धरण देने वाले महानुभावों और उनके ग्रन्थों के नामोल्लेख इसी प्रबंध के परिशिष्ट भाग में उल्लिखित हैं।

'राधासुधानिधि' की अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ भारत वर्ष के विभिन्न संग्रहालयों तथा निजी संग्रहों में सुरक्षित हैं। जिनकी प्रारंभिक या अन्तिम पुष्पिका में—  
"इति गुसाँई हरिवंश जू विरचित राधासुधानिधि" लिखा मिलता है। लेखक ने अपनी खोज में ऐसी लगभग शताधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं जिन सबकी प्रारम्भिक और अन्तिम पुष्पिका का विवरण देना यहाँ स्थान सापेक्ष और समय सापेक्ष है। अतः हम यहाँ अपनी खोज में प्राप्त इस ग्रन्थ की वि. सं. १७१२ में प्रतिलिपित एक सर्वाधिक प्राचीन प्रति [जो गो. नवललाल जी, अहमदाबाद के निजी संग्रह में तथा जिसकी जीरोक्स प्रति रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है] की प्रारंभिक तथा अन्तिम पुष्पिका का उल्लेख कर रहे हैं —

प्रारम्भिक पुष्पिका -

"श्री व्यासनन्दनो जयति श्री राधावल्लभो जयति॥ यस्या कदापि...॥१॥

अन्तिम पुष्पिका -

"या प्रत्य मा जो पाठ है सो देववन की प्रत्य देखि करि लख्यौ है सो और प्रत्य देखकर पाठ मत फिरायौ। यह बहुत वर्षन कौ पाठ पुरातन है। याकौ अर्थ बहुत कठिन है। श्री हित जू कृपा करैं तब आवै। श्री हित जू कि कृपा ते यह पाठ मिल्यो है। एक सौ बासठ कि आगे कौ जो श्लोक एक मत्कंठे किं नखर शिखया यामें नहीं है सो और तीनों प्रत्य में नहीं है सो आगे पीछे के सम्बन्ध मा नहीं लगै है। सो श्री हित जू कौ हारद नहीं लगै है सो कोई कौ धर्यौ है। याते या रस सौ मिलत नहीं। या समझनों। संवत् १७१२ वर्ष जेठ मासे पुर्नमास्यां श्री वृन्दावन मध्ये लिखितं राजबाई के नाम दामोदरदास गुजराती पठनार्थ। देववन की प्रती लिखी है। पुस्तक याद्रसमीती॥"



### १.२.२. हित चौरासी :

यह ब्रजभाषा में विनिर्मित पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसके रचयिता गो. हित हरिवंश जी हैं। इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य प्रेमोपासना के परमोपास्य प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम का नित्य बिहार है। इस नित्यबिहार में ही नित्य विहारी अद्वय युगल, उनके लीला धाम, लीला परिकर तथा रसरीति का स्वरूप परिचय परिलक्षित हुआ है। प्रेमी, प्रेमपात्र और प्रीति, 'प्रेम' के इन तीनों अंगों का सजीव चित्रण या मूर्त अभिव्यक्ति ही 'प्रेम' की सम्पूर्ण और सर्वाङ्गीण स्वरूपाभिव्यक्ति है। इन तीनों रूपों की अभिव्यक्ति पृथक-पृथक पदों में तो हुई ही है; विशेषता तो यह है कि किसी-किसी पद में एक ही पृष्ठभूमि पर तीनों अंगों की अभिव्यक्ति एक साथ हो गई है। यहाँ पर एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य यह है कि पदों के उद्गाता की आत्म अभिव्यक्ति [अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति] इतने सहज रूप से हो गई है कि उसे अभिव्यक्त करने में प्रणेता का कोई आयासप्रयास नहीं दिखाई देता। वह तो लीला दृष्टा होते हुए भी लीला का अभिन्न अंग बनकर ही अभिव्यक्त हुआ है; जिसे अलग कर देने पर वह लीला ही अधूरी रह जाती है। इस आत्म स्वरूपाभिव्यक्ति में उद्गाता की यह सतर्कता अविस्मरणीय है कि उसने न तो वर्ण्य विषय को ईश रूप में उपस्थित करके अपने को उससे अलग ही होने दिया है और न उसे विशुद्ध लोक-नायक रूप में चित्रित करके अपने [कवि रूप के] निकट ही खड़ा कर दिया है। इस प्रकार से वह भाव, भावक, और भाव्य की स्वरूपाभिव्यक्ति में पूर्णरूपेण सफल हुआ है। जिसका उदाहरण पूर्ववर्ती भक्त कवियों की रचनाओं में मिलना सर्वथा असंभव ही है।

ग्रन्थ एक समय विशेष में विनिर्मित नहीं अपितु समय-समय पर लिखे गये मुक्तक पदों का संकलन है। अतः इस ग्रन्थ में रचना काल का उल्लेख नहीं है। ग्रन्थ में कुल पदों की संख्या चौरासी है। इन पदों में पद संख्या ११, १२ तथा ५९ इन तीन पदों की रचना वृन्दावन में [वि. सं. १५९१ में] तथा शेष इक्यासी पदों की रचना श्री व्यास जी के जीवन वृत्त से प्राप्त तथ्यों के आधार पर वृन्दावन आने से पूर्व देववन में हो गई थी<sup>१</sup>। इन पदों में प्रयुक्त काव्य की भाषा, पाद पूर्ति-प्रकार, प्रणेता की छाप, रचनाओं की प्रेरक घटनायें, सोलहवीं शताब्दी की रचनाओं में प्राप्त इस रचना के पद उद्धरण और प्राप्त आलोचनाओं के आधार पर 'हित चौरासी' के इन इक्यासी पदों का रचनाकाल विक्रम संवत् १५८० से लेकर विक्रम संवत् १५६० तक स्थिर होता है<sup>२</sup>।

१. र. अ. मा., म. मु., व्यास जी की परचई

२. हितचौरासी के रचनाकाल तथा रचना स्थल संबंधी विस्तृत विवरण देखें—'ब्रजभाषा का आदि काव्य और आदि कवि' नामक शोध ग्रन्थ में, लेखक कृत।



श्री हरिवंशात्मज गो. वनमालीदास जी कृत चतुरासी की फलस्तुति का छन्द प्राप्त होता है<sup>१</sup>। गो. वनमालीदास जी का गद्दीस्थ विद्यमान काल वि. सं. १६०९-१६६५ है। श्री हिताचार्य के शिष्य हरिराम व्यास तथा सेवक जी द्वारा रचित वाणियों [व्यास वाणी और सेवकवाणी] में इस ग्रन्थ की पद पक्तियाँ ज्यों की त्यों प्राप्त होती हैं।

ग्रन्थ पर अनेक प्राचीन टीकायें प्राप्त होती हैं जिनमें से कतिपय टीकाकारों के नाम और उनके रचनाकाल नीचे उल्लिखित हैं। इन सभी टीकाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित हैं -

| टीकाकार                      | टीकाकाल                    | भाषा                         |
|------------------------------|----------------------------|------------------------------|
| ब्रजभूषणलालजी गो.            | वि. सं. १६५० आनु.          | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| रसिकलालजी गो.                | वि. सं. १७३४ श्रावण शु.३   | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| धरनीधरदास जी                 | वि. सं. १७४९ से पूर्व आनु. | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| केलिदास जी                   | वि. सं. १७५० आनु.          | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| अतिबल्लभदास जी               | वि. सं. १७६० आनु.          | ब्रजभाषा-गद्यानुवाद          |
| सुखलाल जी गो.                | वि. सं. १७७० बैशाख शु.३    | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| लोकनाथ जी                    | वि. सं. १७८० आनु.          | ब्रजभाषा-गद्यानुवाद          |
| प्रेमदासजी                   | वि. सं. १७६१ बैशाख शु.२    | ब्रजभाषा-गद्यानुवाद          |
| चन्द्रलाल जी गो.             | वि. सं. १८२५ आनु.          | ब्रज. पद्या. [सूचनिका मात्र] |
| जुगलदास जी                   | वि. सं. १८४० आनु.          | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| रतनदास जी                    | वि. सं. १८५३ मकरमास कृ.१०  | ब्रजभाषा-गद्यानुवाद          |
| उत्तमदास जी 'उत्तम नेह'      | वि. सं. १८५५ आनु.          | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| सर्वसुखदास जी                | वि. सं. १८७० आनु.          | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| कोऽपि अज्ञात हित रसिक        | वि. सं. १८७० आनु.          | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| [दयानिधि गो. की आज्ञा से]    |                            |                              |
| म. कमलकुँवरि 'हितदासी'       | वि. सं. १६४०               | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| राधिकाचरणदास जी 'ढोंगी बाबा' | वि. सं. १६६५ आनु.          | ब्रजभाषा-पद्यानुवाद          |
| कोऽपि अज्ञात रसिक            | अर्वाचीन                   | हिन्दी                       |

१. भव जल निधि कौ नाव काम पावक कौ पानी। प्रेम भक्ति कौ मूल मोद मंगल सुखदानी॥  
निगम सार सिद्धान्त सन्त विश्राम मधुर वर। रसिकन कौ रस सार सकल अक्षर रस कौ घर॥  
चौरासी श्री हरिवंश कृत पढ़ै सुनै निशि-मोर। छुटै चौरासी भ्रमनि ते निरखै जुगल किशोर॥  
-व. दा.गो.की वा., व.दा.गो., हित वाणी की फलस्तुति



उपर्युक्त सामग्री से ग्रन्थ की प्राचीनता और प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। ग्रन्थ की सर्वाधिक प्राचीन प्रति धरनीधरदास जी की टीका के साथ वि. सं. १७४९ की प्राप्त है। यह गो. हितानन्द जी, बड़वाला मुहल्ला, वृन्दावन के निजी संग्रह में तथा इसी की जीरोक्स प्रति रस भारती संस्थान वृन्दावन में सुरक्षित है। प्रारंभिक और अन्तिम पुष्पिका नीचे दी जाती है —

प्रारंभिक पुष्पिका —

“ ॥ श्री राधाबल्लभो जयति ॥

॥ श्री व्यास नंदनो जयति ॥

॥ श्री दामोदर मनिर्जयति ॥

॥ राग ललित ॥ जोई जोई प्यारौ करै.....[संपूर्ण पद]

अन्तिम पुष्पिका —

॥ इति श्री चौरासी सटीक संपुरनं ॥ शुभं मस्तु मंगलं ददात् ॥

॥ दोहा ॥ बानी हित हरिवंश की सागर ते गंभीर ।

कही गई मोपै जिती तितौ गहै खग नीर ॥

जुग रस माते रसिकवर तिनिमें होई जु वास ।

‘हित धरनीधरदास’ की पुरवौ यहई आस ॥

कियौ बुद्धि अनुसार यह टीका अर्थ सभाइ ।

धरनीधर है दास हित मन वच प्रेम सुभाइ ॥

॥ संवत् १७४९ फाल्गुन.....सम्पूर्ण ॥ लेखक नाम पाठिक परमानंद अस्थान उदैपुरे ॥ शुभं मस्तु ॥ श्री रस्तु ॥ द. ॥ सुहस्त धरनीधरदास सुत श्री जगजीवनिदास के ॥ ०० ॥ ०० ॥ ”

### १.२.३. स्फुट वाणी [ फुटकर पदावली ] :

इस पदावली में नौ पद सिद्धान्त के, चौदह पद रस के तथा चार दोहे सर्व साधारणार्थ उपदेश के हैं। इसी वाणी में यत्र तत्र पूर्णतम प्रेम के सूक्ष्म स्वरूप का भी मार्मिक विवेचन किया गया है। यह पदावली गो. हित हरिवंश जी द्वारा समय-समय पर लिखी गई मुक्तक रचनाओं का संकलन है। अतः इसमें रचनाकाल का उल्लेख नहीं है, किन्तु इन पदों की भाषा-शैली, रचनाओं की प्रेरक ऐतिहासिक घटनाओं का संकेत, रचयिता की छाप, आदि-आदि के आधार से इन पदों का रचना काल स्थिर किया जा सकता है<sup>१</sup>।

१. स्फुट वाणी का रचनाकाल संबंधी विस्तृत विवरण देखें—‘ब्रजभाषा का आदि काव्य और आदि कवि’ नामक शोध ग्रन्थ में, लेखक कृत।

भाषा के आधार पर -

यद्यपि इसमें प्राप्त सिद्धान्त-पदों की भाषा भी 'हितचौरासी' की भाँति संस्कृत निष्ठ ही है, तथापि वह प्रवाह पूर्ण नहीं है। शब्दों में भावाभिव्यक्ति की शक्ति पर्याप्त नहीं है। इन पदों में भाषा का वह परिमार्जित रूप और वह विशिष्ट सौन्दर्य नहीं दिखाई देता जो 'हित चौरासी' के पदों में विकसित हुआ है। इन पदों की भाषा में उस अपभ्रंश के घिसे घिसाये रूप का भी कुछ आभास है जो कि तत्काल ही काव्य भाषा के स्थान से पदच्युत हुई थी। छप्पय छन्द का अधिकार पूर्ण प्रयोग भी रासो साहित्य की शैली की ओर इंगित करता है। यह तथ्य पद रचयिता के अभिनव प्रयास के परिचायक हैं। उदाहरण के लिए कुछ छन्द उद्धृत किये जाते हैं -

तैं भाजन कृत जटित विमल चन्दन कृत ईधन।  
 अमृत पूरि तिहि मध्य करत सरषप खल रिंघन॥  
 अद्भुत धर पर करत कष्ट कंचन हल वाहत।  
 वार करत पावार मन्द वोवन विष चाहत॥  
 हित हरिवंश विचारिकें मनुज देह गुरु चरन गहि।  
 सकहि तौ सब परपंच तजि कृष्ण-कृष्ण गोविन्द कहि॥  
 द्वादश चन्द्र कृतस्थल मंगल बुद्ध विरुद्ध सुरः गुरु बंक।  
 यदि दशम्म भवन्न भृगुःसुत मन्द सु केतु जनम्म के अंक॥  
 अष्टम राहु चतुर्थ दिवामणि तौ हरिवंश करत न शंक।  
 जोपै कृष्ण चरन मन अर्पित तौ करिहैं कहा नवग्रह रंक॥

ऐतिह्य साक्ष्य के आधार पर -

इन्हीं पदों में एक ऐसा पद भी मिलता है जिससे संप्राप्त ऐतिह्य सामग्री उसके रचनाकाल का स्पष्ट संकेत करती है। पद निम्नांकित है -

मानुष कौ तन पाय भजौ ब्रजनाथ कौं। दरवी लै कैं मूढ़ ज़रावत हाथ कौं॥  
 जै श्री हित हरिवंश प्रपंच विषय रस मोह के। बिनु कंचन क्यों चलैं पचीसा लोह के॥

इस अरिल्ल के चौथे चरण में कहा गया है कि बिना कंचन के 'लोहे के पचीसा' कैसे चल सकते हैं। यह पंक्ति उस समय की ओर सुस्पष्ट संकेत करती है, जिस समय विशुद्ध स्वर्ण मुद्राओं के स्थान पर मिश्रित स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन था। अर्थात् लोहे, ताँबे और चाँदी आदि के सिक्कों में स्वर्ण की मुहर विशेष या उनमें एक नियत तोल का सोना मिश्रित होता था। और इन मुद्राओं को पचीसा कहकर पुकारा जाता था।



गयासुदीन तुगलक के शासन काल [ सन् १३२०-२५ ] में शुद्ध सोने-चाँदी के सिक्कों का प्रचलन था। उसके लड़के मुहम्मद विन तुगलक ने अपने राजत्व काल [ सन् १३२५-५१ ] में सोने के सिक्कों का प्रचलन बन्द करके ताँबे के सिक्के चलाये किन्तु इससे उसे बहुत बड़ी आर्थिक हानि हुई<sup>१</sup>। अतः उसने पुनः सोने के सिक्कों का प्रचलन कर दिया। सन् १५०० ईसवी तक इन सिक्कों में बहुत मिलावट हो गई और शुद्ध सोने के सिक्कों के स्थान पर स्वर्ण मिश्रित धातुओं के सिक्कों का प्रचलन हो गया, किन्तु शेरशाह सूरी ने अपने राजत्व काल [ सन् १५४० से सन् १५४५ ] में पुनः सोने के सिक्के प्रचलित कर दिये<sup>२</sup>। अर्थात् सन् १५४० से पूर्व अन्य धातुओं के स्वर्ण मिश्रित सिक्के चलते थे। इस आधार पर इस पद का रचनाकाल सन् १५४० [ वि. सं. १५९४ ] से अनिश्चित काल पूर्व स्थिर होता है।

रचनाकाल के सूचक अन्य पद —

तू बालक नहीं, भस्थौ सयानप काहे कृष्ण भजत नहीं नीके।  
अतिऽव सु मिष्ट तजिऽव सुरभिन पय मन बन्धत तन्दुल जल फीके।  
हित हरिवंश नरक गति दुर्भर यम द्वारें कटियत नक छीके।  
भव अज कठिन मुनीजन दुर्लभ पावत क्यों जु मनुज तन भीके<sup>३</sup>।

राधाबल्लभ सम्प्रदाय में वृद्ध परंपरागत एक जनश्रुति है कि हिताचार्य ने इन पदों की रचना अपने बाल सखा बीठलदास, नाहरमल, छबीलेदास और गाँगू-गोविन्दादि को भगवदोन्मुख करने के लिए की थी। यदि गोस्वामी हित हरिवंश जी [ जन्मकाल-वि. सं. १५५९ ] की बाल्यावस्था की अन्तिम सीमा ११-१२ वर्ष की आयु मान ली जाय तो इन पदों का रचना काल वि. सं. १७७०-७१ के लगभग स्थिर होता है।

छाप के आधार पर —

श्री हिताचार्य की रचनाओं में चार प्रकार की छाप प्राप्त होती है। उन चारों प्रकार की छाप की पद संख्या इस प्रकार है —

‘हरिवंश’ छाप - ‘स्फुटवाणी’ के उपदेशात्मक पद सं. १ और २ में; तथा ‘हित चौरासी’ के युगल केलि वर्णनात्मक पद सं. १५, १७, २६, ३४, ३५, ४३, ५३, ६८, ७६ और ८० में।

‘हरिवंश प्रभु’ छाप - ‘स्फुटवाणी’ के आरती के पद सं. १८ में।

१ भा. व. का वृ. इ. प्रो. ने. पा., पृ. १२५-१२६.

२ गो. इ. भा. व.

३ स्फु. वा., गो. हि. इ., प. सं. ४

‘हरिवंश आलि’ छाप- ‘हित चौरासी’ पद सं. १० और ८१ में।

‘हित हरिवंश’ छाप- ‘स्फुटवाणी’ के पद सं. ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १९, २०, २१, २३ तथा ‘हित चौरासी’ के शेष सभी पदों में ‘हित हरिवंश’ छाप ही प्राप्त होती है।

उपर्युक्त पद संख्याओं से हमें निम्नांकित तथ्य प्राप्त होते हैं —

‘हरिवंश’ छाप वाले पद संख्या में बहुत थोड़े हैं। सम्भवतः इस छाप से पद रचना करने का समय रचयिता को बहुत कम मिला है। हित हरिवंश’ छाप वाले पदों की संख्या सर्वाधिक है। इससे ज्ञात होता है कि इस छाप से पद रचना करने के लिए रचयिता को पर्याप्त समय प्राप्त हुआ है। श्री हिताचार्य के जीवन वृत्त से ज्ञात होता है कि इनका मूल नाम ‘हरिवंश’ ही था किन्तु बाद में श्री राधा द्वारा ‘हित-छाप’ प्राप्त होने पर उनका हरिवंश नाम ‘हित’ संयुक्त ही विख्यात हो गया और तत्पश्चात् श्री हरिवंश, जी ‘हित हरिवंश’ छाप में भी पद रचना करने लगे।

गुरुवर्य श्रीराधा ने इन्हें मंत्र दान के साथ-साथ ‘हित’ छाप भी प्रदान की थी। इसका उल्लेख चाचा वृन्दावनदास जी ने इन शब्दों में किया है —

रसमय करे चरित प्रशंश। जग गुरु विदित श्री हरिवंश।  
श्री राधा अनुग्रह कियौ। श्रीमुख मंत्र निजु कर दियौ।  
दयिता कृष्ण जिनके इष्ट। पुनि गुरु भाव प्रीति गरिष्ट।  
दीनी रीझि हित की छाप। ताकरि बढ़ायो भक्ति प्रताप।

उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि व्यासनंदन श्री हरिवंश जी को यह ‘हित छाप’ मन्त्र प्राप्ति के साथ ही या निकट पश्चात् और उनके भक्ति प्रताप फैलने से पूर्व ग्यारह-बारह वर्ष की आयु वि. सं. १५७०-७१ में प्राप्त हो गई थी। इस आधार पर हरिवंश’ छाप वाले पदों का रचनाकाल वि. सं. १५७०-७१ के लगभग स्थिर होता है।

यद्यपि ‘स्फुटवाणी’ के तीनों पदों और ‘हित चौरासी’ के ग्यारह पदों में भी ‘हरिवंश’ छाप मिलती है किन्तु भाषा की दृष्टि से अध्ययन करने पर तीनों फुटकर पदों की रचना पहिले और हित चौरासी के ग्यारह पदों की रचना पीछे की ज्ञात होती है। वस्तु, विचार की दृष्टि से भी यह अनुमान युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

‘स्फुटवाणी’ के तीनों पद सर्व साधारण के हितार्थ उपदेशात्मक हैं। यह भी बहुत स्पष्ट है कि रचयिता ने इन पदों की रचना नवग्रहों से आतंकित जन समाज के मस्तिष्क



से उनका प्रभाव हटाने और उन्हें भगवदोन्मुख करने के उद्देश्य से की है। रचयिता के पिता श्री व्यास मिश्र सुविख्यात ज्योतिषी थे। अतः उनके घर पर नवग्रहों के प्रभाव पर विश्वास रखने वालों का जमघट बना रहना स्वाभाविक था। इन उपदेशात्मक पदों के अमोघ प्रभाव ने हरिदास पण्डित, पूरनदास और प्रियादास जैसे कर्मकाण्डी विद्वानों को भी श्री हिताचार्य के चरणाश्रित किया था।

इस प्रकार भाषा के आधार पर, छाप के आधार पर और प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर स्फुटवाणी की रचना वि. सं. १५७०-८० तक अनुमानित है।

इस लघुकाय रचना की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ वि. सं. १८०० से पूर्व की तो हमें प्राप्त नहीं हो सकी हैं किन्तु वि. सं. १६३७ में होने वाले श्री राधा जन्मोत्सव [ बरसाने ] के ऐतिहासिक वर्णनों में 'आनंद आज नंद के द्वार' तथा 'चलौ वृषभान गोप के द्वार' [ स्फुट वाणी पद सं. ११ तथा १६ ] इन दोनों पदों का उल्लेख इस रचना की प्रामाणिकता और प्राचीनता की साक्षी देते हैं। इस ग्रन्थ पर रतनदास जी, ब्रजगोपालदास जी, स्वामिनी शरण जी, प्रियादास जी [ पटना ], भोलानाथ जी 'भोरी सखी', गोपाल प्रसाद 'रैसलपुर वारे' तथा गो. जुगलबल्लभ जी आदि कृत टीकायें प्राप्त हैं।

#### १.२.४. श्री हिताचार्य द्वारा लिखित पत्र द्वय :

श्री हिताचार्य ने ये दोनों पत्र वृन्दावन से अपने प्रिय शिष्य नाहरमल<sup>१</sup> और बीठलदास<sup>२</sup> [ देववन निवासी ] को लिखे थे। इन पत्रों में पत्र लिखने की तिथि का अनुल्लेख है किन्तु इन पत्र द्वय में प्राप्त अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर इनका लेखन काल वि. सं. १५९८ से १६०९ के मध्य किसी समय स्थिर होता है।

१. स्यामा जू हित जू सौं कही। नाहरमल निर्दूषित सही॥  
सुपने में कहि भेद जतायौ। हित जू लिखि सुठि पत्र पठायौ॥  
ता पत्री में अदमुत रीति। गुरु शिष की लखि परै न नीति॥  
जोरी जू तब कृपा ते वरषत रास बिलास।  
कोटि-कोटि अपराध में छमे सहित हुल्लास॥  
ऐसैं शिष्यहि लिखी गुसौई। आइ प्रसाद जूँठि लै पाई॥

—र. अ. मा., भ. मु., नाहरमल चरित्र

२. कबहूँ कछु हित आज्ञा दीनी। मन करि बीठल मानि न लीनी॥  
तापर श्रीजी दुख सो पायौ। शिक्षा भई बहुरि अपनायौ॥  
पत्री ताकाँ लिखी गुसौई। तामें वाकी अधिक बड़ाई॥  
जोरी जू तब कृपा ते वरषत हैं रस रासि।  
कोटि-कोटि अपराध में छमे जु बीठलदास॥  
शिष्यन काँ कोउ लिखत न ऐसैं। हित जू आप लिखी है जैसैं॥

—श्री ह. च., उ. दा., बीठलदास प्रसंग



पत्र में प्राप्त “वृन्दावन रजोपसेवी श्री हरिवंश जोरी सुमिरन बंचनौ”—यह पंक्ति यह कहने के लिए प्रेरणा देती है कि यह पत्र उस समय लिखा गया था जब श्री हिताचार्य वृन्दावन में निवास कर रहे थे। आचार्य का वृन्दावन में निवास काल वि. सं. १५९० से १६०९ तक निर्विवाद है। इस आधार पर ये पत्र वि. सं. १५९० से १६०९ के मध्य लिखे गये ज्ञात होते हैं।

पत्र में प्राप्त—‘कृष्णदास-मोहनदास कौ कृष्ण सुमिरन बंचनौ’.....यह पंक्ति यह कहने के लिए भी बाध्य करती है यह पत्र उनके सबसे छोटे सुपुत्र मोहनदास के जन्म [ वि. सं. १५९८ ] के पश्चात् ही किसी समय लिखा गया।

पत्र में प्राप्त—‘...तुम दोऊ सफल आनन्द बरसौ...’—यह पंक्ति इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि यह पत्र उस समय लिखा गया जब बीठलदास जी अपने भ्राता नाहरमल के साथ देववन में ही निवास कर रहे थे, जूनागढ़ नहीं गये थे। क्योंकि बीठलदास जूनागढ़ अकेले ही गये थे, नाहरमल के साथ नहीं<sup>१</sup>।

पत्र में प्राप्त—“...तिहारे हस्ताक्षर बारंबार आवत हैं, सुख-अमृत सरूप हैं, पत्री बाँचत आनंद उमड़ि चलै है।... तुम लिखी कि दिन दस में आवेंगे सोई आशा प्रान रहैं हैं।..” आदि पंक्तियों से यह भी ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य ने यह पत्री बीठलदास जी द्वारा लिखे गये पत्रों के प्रत्युत्तर में संप्रेषित की थीं।

पत्र में स्वयं श्री हिताचार्य ने श्री राधा को अपना गुरुवर्य और गुरु मार्ग [ उपासना मार्ग या सम्प्रदाय ] की संस्थापिका लिखा है। अतः ये पत्र ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

आज श्री हिताचार्य के इन पत्र द्वय की मूल प्रतियाँ तो विनष्ट हो गई हैं तथापि ‘श्री हरिवंश चरित’ [ आनुमानिक रचनाकाल— वि. सं. १७३६ ]<sup>२</sup> के लेखक उत्तमदास जी के आलेखानुसार वि. सं. १७३६ में इन पत्रों की अनेक प्रतियाँ तत्कालीन रसिक समाज में प्रचुर रूप में प्रचरित थीं।<sup>३</sup> प्रियादास जी ने स्वरचित ‘सेवक प्रिया विलास’ [ रचनाकाल वैशाख शु. ११ वि. सं. १८४१, तथा प्रतिलिपि काल असाढ़ बदी ११ वि. सं. १८४१, रसभारती संस्थान वृन्दावन में क्रमांक १५१ पर सुरक्षित ] में इन दोनों पत्रियों के उद्धरण दिये गये हैं। लाड़िलीदास जी ने अपने ग्रन्थ ‘सुधर्म बोधनी’ [ रचनाकाल

१. देखें — र. अ. मा., भ. मु., नाहरमल और बीठलदास चरित्र

२. देखें — इसी अध्याय के आगे के पृष्ठों में, पृ. सं. ३४

३. पत्री की प्रति कहुँ-कहुँ देखी। ऐसी काहू लिखी न विशेषी॥



१८४२] के प्रारंभ में ही इन दोनों पत्रों का अविकल आलेख किया है। इन दोनों प्राप्त ऐतिह्य के आधार पर पत्र द्वय की प्राचीनता प्रमाणित होती है। गो. रूपलाल जी [अधिकारी, श्री राधाबल्लभ मंदिर, वृन्दावन] द्वारा ये दोनों पत्र वि. सं. १९९३ में 'हितसुधा सागर' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुके हैं।

### १.२.५. गो. वनमालीदास द्वारा लिखित पत्र :

गो. वनमालीदास जी ने यह पत्र वृन्दावन से श्री हिताचार्य के शिष्य सेवक जी को गढ़ा से वृन्दावन बुलाने के लिये शाके १४७५ [फागुन शु. चतुर्दशी वि. सं. १६१०] में लिखा था<sup>१</sup>। सेवकवाणी का रचनाकाल स्थिर करने का यह पत्र प्रमुख आधार भी है। गो. वनमालीदास जी के हाथ की लिखी इस पत्र की मूल प्रति अत्यधिक जीर्णशीर्ण रूप में जबलपुर निवासी पंडित श्री जगदीशप्रसाद जी त्रिपाठी के निजी संग्रह में सुरक्षित है। जो अविकल नीचे उद्धृत है -

“साके १४७५ मिती फाल्गुन सुदि चतुरदसि। हित धरमी मरमी हित रसिक मंडली मंडन मेरे प्राननि के प्रान सेवक जू जोग लिषितं बिन्दावन रजोपसेवी वनमालीदास जोरी सुमिरन बंचनों। हम सबनि माँझ तुमही सर्वोपरि भागमान हौ, काहे ते जु तुमकों ही श्री हरिवंश जू ने दरसन दिये और काहू कौं दिये नाही तिहारी वानी करि ही श्री हरिवंश जू कौ सरूप परगट भयौ मौकों तिहारे दरस की घनी लालसा है तुमकों श्रीजू की सौंह है जू तुम वेगि आवौ अरु हमारौ मनोरथ पूरन करो जी।।”

### १.२.६. सेवकवाणी :

इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री हिताचार्य के शिष्य सेवक जी हैं। यह ग्रन्थ राधाबल्लभ सम्प्रदाय में सम्प्रदायाचार्य की वाणी के समान उसी समय से समाद्रित है<sup>२</sup>। ग्रन्थ का

१.[क]जब सेवक वानी उर धरै। श्री हरिवंश कृपा तब करै॥

श्री वनचन्द सुनी यह वानी। सेवक दरसन की मन आनी॥

जा छिन सेवक कौं लिखि पाऊँ। तौ हौं सब मंडार लुटाऊँ॥

यह प्रण श्री वनचन्द जु कियौ। सेवक सुनी थरहयौ हियौ॥

मेरे गयें लुटै मंडार। प्रभु दरसन कौ रह्यौ विचार॥

यह सुनि पत्री लिखी गुसाँई। आवहु वेगि सौंह बहु छाई॥

—र. अ. मा., भ. मु., सेवक जी कौ चरित

[ख] यह सुनि सेवक वन नहिं आवैं। लिखि-लिखि श्री वनचन्द बुलावैं॥

—श्री ह. च., उ. दा., सेवक जी कौ प्रसंग

२. तब ते आज्ञा दई गुसाँई। पोथी दोऊ मिली लिखाई॥

चौरासी अरु सेवक वानी। इक सँग लिखत-पढ़त सुखदानी॥

—र. अ. गा., भ. मु., सेवक जी कौ चरित



प्रतिपाद्य विषय रसभक्ति संज्ञक रसोपासना के उपास्य, उपासक, उपासना आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करना है। इस प्रतिपादन में ग्रन्थकार ने श्री हिताचार्य की वाणी में प्राप्त रसोपासना संबंधी सूत्र वाक्यों का विशद व्याख्यान किया है। उन्होंने परम तत्त्व 'प्रेम' 'रस' किंवा 'हित' को श्री हरिवंश रूप में देखा है। अतः ग्रन्थ में नित्य विहार और सपरिकर नित्यविहारी श्यामा-श्याम को श्री हरिवंश कहकर ही वर्णन किया गया है। श्री हिताचार्य के जीवनोदय काल की प्रथम किरणों का विस्फूर्जन भी सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इन सभी दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

सेवक जी ने ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं लिखा है किन्तु भगवत्तुमुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल' से प्राप्त तथ्यों के आधार से विचार करने पर ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १६१० स्थिर होता है। वे आधार निम्नलिखित हैं —

श्री हिताचार्य के निकुंज गमन का समयोल्लेख<sup>१</sup>।

गो. वनमालीदास जी का आचार्यासनासीन होने का उल्लेख<sup>२</sup>।

स्वामी चतुर्भुजदास जी का गढ़ा से वृन्दावन आकर गो. वनचन्द जी से दीक्षित होने तथा दीक्षित होकर पुनः गढ़ा [ जबलपुर ] पहुँचने पर सेवकवाणी का दर्शन<sup>३</sup>।

'सेवकवाणी' की प्रति श्री वृन्दावन आने और उसे सुनकर गो. वनमालीदास [ वनचन्द जी ] जी का सेवक जी के दर्शनेच्छुक होने तथा सेवक जी को वृन्दावन आने

१. ह्यौ हित जू अन्तरहित भये। सुनिकैं विरह ताप तन तये॥

—र. अ. मा., भ. मु., सेवक चरित

२. पुनि यह सुनी जु श्री वनचंद। हित आसन थित देत अनन्द॥  
चतुर्भुज सेवक सौं तब कही। गुरु कीजै वनचंद जु सही॥  
सेवक कही यही प्रण मेरे। हित जी मोहि दया करि हेरै॥  
दीक्षा तौ हित जी पै लेऊँ। नातरु तौ यह तन तजि देऊँ॥

—र. अ. मा., भ. मु., सेवक चरित

३. यह सुनि चतुर्भुज वन कौ चले। सेवक प्रण ते नेकु न हले॥  
चतुर्भुज गुरु कीये वनचन्द। पूरन भई कामना वृन्द॥  
चतुर्भुजदास विपिन है आये। सब वन के विरतान्त सुनाये॥  
जोई मंत्र चतुर्भुज सुनि आये। सोई मंत्र सेवक घर पाये॥  
सेवक वानी सुनत। सिहाये। तब तौ पग गहि उर लपटाये॥

—र. अ. मा., भ. मु., सेवक चरित



के लिये अनुरोध पत्र भेजने का उल्लेख<sup>१</sup>।

हम देखते हैं कि ग्रन्थकार ने 'सेवकवाणी' की रचना श्री हिताचार्य से दीक्षा प्राप्त होने के बाद की थी। सेवक जी को यह दीक्षा हिताचार्य के निकुंज गमन [ आश्विन पूर्णिमा वि. सं. १६०९ ]<sup>२</sup> के और गो. वनमालीदास जी के आचार्यासनासीन होने [ कार्तिक शु. १३ वि. सं. १६०९ ]<sup>३</sup> के पश्चात् प्राप्त हुई थी। सेवकवाणी की रचना स्वामी चतुर्भुजदास जी के गो. वनचन्द जी के शिष्य होकर गढ़ा पहुँचने से पूर्व हो चुकी थी। वृन्दावन से गढ़ा ग्राम [ जबलपुर ] लगभग ५६५ मील की दूरी पर स्थित है। वृन्दावन से वहाँ तक की यदि पैदल यात्रा भी की जाय तो अधिक से अधिक डेढ़ या दो माह का समय लगेगा — ऐसा अनुमान करना संभवतः सभी की दृष्टि में निरापद होगा। यात्रा के इस मापदण्ड के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिन रसिकों ने जबलपुर जाकर सेवक जी और चतुर्भुजदास जी को श्री हिताचार्य के अन्तर्धान होने की सूचना दी थी उन्हें वृन्दावन से गढ़ा [ जबलपुर ] पहुँचने में कम से कम दो मास लगे होंगे। चतुर्भुजदास जी को जबलपुर से वृन्दावन आने गो. वनचन्द जी से दीक्षा लेकर पुनः जबलपुर पहुँचने में अधिकतम चार-पाँच महीने का समय लगा होगा। इस प्रकार हिताचार्य के अन्तर्धान काल से लेकर चतुर्भुजदास जी के गढ़ा [ जबलपुर ] पहुँचने तक का समय पूरे एक वर्ष का भी मान लिया जाय तो स्वामी चतुर्भुजदास जी के जबलपुर पहुँचने का समय कार्तिक सं. १६१० स्थिर होता है। सेवक वाणी की रचना स्वामी जी के जबलपुर पहुँचने से पूर्व हो चुकी थी। इस प्रकार सेवक वाणी का रचनाकाल वि. सं. १६१० माना जाना इतिहास सम्मत होगा।

'सेवकवाणी' को पढ़कर गो. वनमालीदास जी ने सेवक जी को वृन्दावन आने के लिये विशेष आग्रहपूर्ण एक पत्र भी लिखा था। इस पत्र लेखन की तिथि शाके १४७५ [ वि. सं. १६१० ] फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी है। [ देखें प्रबंध की पृ. सं. १८ पर ] पत्र में उल्लिखित तिथि के ठोस आधार पर भी सेवकवाणी का रचनाकाल पत्र लेखन तिथि से पूर्व स्थिर होता है।

१. श्री वनचन्द सुनी यह वानी। सेवक दरसन की मन ठानी॥  
जा दिन सेवक कौं लखि पाऊँ। तौ हौं सब भण्डार लुटाऊँ॥  
यह प्रण श्री वनचन्द जु कीयो। सेवक सुनी थरहर्चौ हीयो॥  
मेरे गये लुटै भंडार। प्रभु — दरसन कौ रह्यौ विचार॥  
यह सुनि पत्री लिखी गुसाईं। आवहु वेगि सौँह बहु द्याईं॥

—र. अ. मा., भ. मु., सेवक चरित

२. ३. हि. कु. शा., ज. कृ. दा., छं. सं. ४६ और उसके आगे के छन्द

हमने अपनी खोज में सेवकवाणी की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति गो. मनोहरलाल जी, अहमदाबाद के निजी संग्रह में देखी है। यह प्रति वि. सं. १७९६ में लिखी गई है। किन्तु उसका चित्र लेने में हम असफल ही रहे। इसकी एक प्रति रस भारती संस्थान, वृन्दावन में प्राप्त है जो वि. सं. १८०० में प्रतिलिपि की गई है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ हितरूप संग्रहालय वृन्दावन तथा वृन्दावन के अनेक स्थानीय व्यक्तियों के निजी संग्रहों में भी सुरक्षित हैं। नागरी प्रचारणी समा काशी तथा मिश्र बन्धु विनोद के खोज विवरणों में भी इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ लखनऊ, इलाहाबाद, हर्दो गंज, झाँसी और छतरपुर आदि स्थानों में बताई गई हैं।

### १.२.७. व्यास वाणी

यह ग्रन्थ श्री हिताचार्य के शिष्य हरिराम व्यास जी कृत है। इस ग्रन्थ में वृन्दावन रस के रससिद्धान्त और साधारण भक्ति सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ में तत्कालीन वृन्दावन रस रसिकों के अन्तः स्वरूप और बाह्य स्वरूप परिचय के साथ-साथ सोलहवीं शती के अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को भी रचना का वर्ण्य विषय बनाया गया है। यह सब तो आनुसंगिक वर्णन है मूलतः यह ग्रन्थ श्यामा-श्याम की रस केलि का उद्गाता ही है। इस ग्रन्थ में प्राप्त ऐतिह्य सामग्री के आधार पर इसका रचनाकाल वि. सं. १५९१ पूर्व से लेकर वि. सं. १६५० तक माना जा सकता है।

व्यासवाणी में पाँच पद ऐसे मिलते हैं जिनमें ब्रजस्थ वृन्दावन वास करने की अभिलाषा प्रगट की गई है। ये वृन्दावन वि. सं. १५९१ में आये थे। इस आधार पर इन पदों का रचना काल वि. सं. १५९१ से पूर्व स्थिर होता है। व्यास वाणी में एक ऐसा पद भी प्राप्त होता है जिसमें मथुरा नगरी के खुदने तथा वृन्दावन की लताओं

१. यहि तन वृन्दावन जो पावै।.....
- हरि हम कब हुइहैं ब्रजवासी।.....
- वृन्दावन कबहि बसाइहौ।.....
- अब न और कछु करने रहने हैं वृन्दावन।.....
- हरि मिलिहैं वृन्दावन में।.....
- साधु वचन में साँचे माने फूल भई मेरे मन में।

— व्या. वा., ह. व्या, प. सं. १००, १०१, १०२, १०३, १०४

[ उपर्युक्त पद पंक्ति—‘साधु वचन में साँचे माने’—में संकेतित साधु श्री हिताचार्य के शिष्य नवलदास जी हैं जो व्यास जी के पास गये थे। ‘इक दिन नवल वैरागी आये’.....र. अ. मा., म. मु., व्यास जी कौ चरित ]



के कटने का उल्लेख है<sup>१</sup>। मथुरा के खुदने तथा वृन्दावन की लताओं के कटने का कारण यह था कि उस समय [ वि. सं. १६४१ से १६४८ ] में दिल्लीश्वर अकबर की आज्ञा से यहाँ मन्दिर निर्माण होने लगे थे<sup>२</sup>। वृन्दावन में सुन्दरदास कायथ द्वारा बनवाया गया लालप्रस्तर वाला श्री राधावल्लभ मन्दिर [ निर्माण काल वि. सं. १६४१ ] तथा गोविन्ददेव मन्दिर [ निर्माण काल वि. सं. १६४७ ] जैसे अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ था। इस आधार पर उपर्युक्त संकेतित पद का रचनाकाल वि. सं. १६४७ के पश्चात् स्थिर होता है। इनकी वाणी में एक पद ऐसा भी प्राप्त होता है जिसमें गो. हित हरिवंश जी, स्वामी हरिदास जी, रूप, सनातन, कृष्णदास, मीराबाई, जैमल, परमानंददास, सूरदासजी आदि के निधन पर दुख प्रकट किया गया है<sup>३</sup>। इन सबका निधन काल वि. सं. १६०९-१६४८ के मध्य हुआ है। स्पष्ट है कि इस पद की रचना वि. सं. १६४८ के पश्चात् हुई है। इस प्रकार इनकी वाणी का रचनाकाल वि. सं. १५९० पूर्व से लेकर १६५० तक स्थिर होता है। हमें अपनी खोज में व्यासवाणी की सर्वाधिक प्राचीन प्रति वि. सं. १७९१ की प्राप्त हुई है, जो कोलारस— जिला शिवपुरी में पं. वासुदेव जी खेमरिया के पास सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त व्यासवाणी की अनेक प्रतियाँ विभिन्न संग्रहालयों और व्यक्तिगत संग्रहों में भी सुरक्षित हैं। वि. सं. १७९१ वाली प्रति की अन्तिम पुष्पिका निम्नांकित है —

“ इति श्री व्यास जी कृत साखी, विष्णु पद भाषा प्रबंध सम्पूर्ण। लिष्यते ज्येष्ठ मासे शुक्ल पक्षे तिथौ नवम्यां गुरुबासरे संवत् १७९१।। लिपि कृतं भूधरदासेन शुभमस्तु लेखक पाठकयोश्चिरं तिष्ठतु।।”

हित ध्रुवदास जी तथा बिहारिनिदास जी की वाणी में व्यास जी के पदों के उद्धरण भी व्यास वाणी की प्राचीनता प्रमाणित करते हैं अर्थात् इनके द्वारा विरचित पदावली बिहारिनिदास जी तथा हित ध्रुवदास जी से पूर्व ही प्रचलित थी।

१. अब साँचौ कलियुग आयौ ।...मथुरा खुदत कटत वृन्दावन मुनि जन सोच उपायौ ।

.....इतनीं दुख सहिवे के कारन काहे कूँ व्यास जिवायौ ।। —व्या. वा., ह. व्या., प. सं. २३३

२. सब राजन कौं अज्ञा दीनी। देवस्थल की रचना कीनी।।

मन्दिर हौन लगे सतपुरी। प्रभु सौं प्रीति सबन की जुरी।।

—र. अ. मा., म. मु., सुन्दरदास की परचई

३. बिहारहि स्वामी बिनु को गावै। बिनु हरिवंशहि राधावल्लभ को रसरीति सुनावै।। रूप—सनातन बिनु को वृन्दाविपिन माधुरी पावै। कृष्णदास बिनु गिरधर जू कौं को अब लाड़ लड़ावै।। मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जानि उर लावै। स्वारथ परमारथ जैमल बिनु को सब बन्धु कहावै।। परमानंददास बिन को अब लीला गाय सुनावै। सूरदास बिनु पद रचना को कौन कविहि कहि आवै।। और सकल साधन बिनु को अब यह कलिकाल करावै। व्यासदास इन बिनु को अब तन की तपन बुझावै।।

—व्या. वा., ह. व्या., प. सं. २१



## १.२.८. वृन्दावन महिमामृतम् या वृन्दावन शतक :

इस ग्रन्थ के प्रणेता गो. हित हरिवंश जी के शिष्य प्रबोधानन्द सरस्वती हैं। ऐसा बहु चर्चित जन प्रवाद है कि सरस्वती पाद ने एक सौ शतकों की रचना की थी किन्तु आज केवल सहत्र शतक ही प्राप्त हैं। ग्रन्थ में श्री हिताचार्य की रसरीति के अनुसार वृन्दावनाधीश अद्वय नित्य किशोर की नित्य केलि का वर्णन किया गया है। इस केलि वर्णना में ही रसोपासना संबंधी अनेक ज्ञातव्य बातों का प्रकाश हुआ है। अतः वृन्दावन रसोपासना के सर्वाङ्गीण स्वरूप ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह प्रामाणिक ग्रन्थ है। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में विरचित ग्रन्थों में इस ग्रन्थ के श्लोक प्रमाण रूप में उद्धृत प्राप्त होते हैं<sup>१</sup>। इस आधार पर ग्रन्थ प्रामाणिक और प्राचीन रसिकों द्वारा समादृत सिद्ध होता है। इन शतकों में प्रथम से पंचम शतक तक की टीका गो. हित चन्द्रलाल जी ने की है तथा सत्रहवें शतक पर भगवतमुदित जी गौड़ीय कृत टीका भी प्राप्त है। इस टीका का रचना काल वि. सं. १७०७ है। दोनों टीकाओं की प्राचीन हस्तलिखित प्रति रसभारती संस्थान वृन्दावन में सुरक्षित हैं। हित ध्रुवदास जी ने 'भक्त नामावली' में इनके द्वारा वृन्दावन रस माधुरी गान करने का उल्लेख किया है

युगल प्रेम रस अवधि में परचौ प्रबोध मन जाइ। वृन्दावन रस माधुरी गाई अधिक लड़ाइ<sup>२</sup>।।

इन प्राप्त प्रमाण पंक्तियों के आधार पर 'वृन्दावन महिमामृतम्' का रचना काल वि. सं. १६०० से लेकर १६५० के मध्य स्थिर होता है। 'वृन्दावन महिमामृतम्' के सत्रहों शतक की प्राचीन हस्तलिखित प्रति श्री हित रूप संग्रहालय, श्री राधाबल्लभ मंदिर, वृन्दावन में सुरक्षित हैं।

## १.२.९. बयालीस लीला या हितध्रुव वाणी :

इस वाणी के प्रणेता हितध्रुवदास जी हैं। वाणी में श्यामा-श्याम की रस केलि का वर्णन प्रधान रूप से है। इस रस केलि वर्णन-माध्यम से ही प्रणेता ने वृन्दावन रसोपासना के उपास्य, उपासना विधा आदि का विस्तृत स्वरूप परिचय दिया है। साथ ही सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के रसिक-भक्तों का सूक्ष्म परिचय भी दे दिया है। एतावता रसोपासना का सरल भाषा में स्वरूप ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। श्री हिताचार्य ने जिस नित्य विहार प्राण श्रीराधा चरण प्रधान वृन्दावन रसोपासना का प्रागद्वय किया था; उसका सिद्धान्त कथन अति सूक्ष्म रूप से सूत्र रूप में ही किया था; जो कि

१. "तथोक्तं श्री प्रबोधानन्द सरस्वती पादैः— कुरु सकलमधर्मं.....वासान्तरायः।

— प्रेम पत्तनम्, रसिकोत्तंशजी कृत

२. ब्या. ली., [भक्तनामावली] हि. ध्रु. दा., छं. सं. २६



सर्व साधारण के लिये बुद्धि से अगम्य ही था। रस सिद्ध रसिक हित ध्रुवदास जी ने अपनी 'वाणी' के माध्यम से उन रस सिद्धान्त सूत्रों का सरल-सुबोध भाषा में विशद भाष्य प्रस्तुत करके उन्हें सर्वबोध-गम्य बनाने का सफल प्रयास किया है। प्रस्तुत रचना के माध्यम से प्रेम तत्व के अद्वितीय व्याख्याता हित ध्रुवदास जी ने प्रेमोपासना की सर्वांगीण जानकारी के लिये प्रेम-स्वरूप, प्रेम-नेम के लक्षण, गोपी प्रेम, सखी प्रेम, काम-प्रेम, प्रेमावस्था में नेम की स्थिति, लौकिक काम और वृन्दावनीय काम, मान-विरह, रसोपासना का स्वरूप, रसोपासना के प्रागट्य कर्ता, रसोपासना सिद्धि का उपाय, रसिक रूप, रसिक अनन्य रूप, रसिक संग, रसिक परिचर्या, विधि निषेध और प्रसाद निष्ठा आदि-आदि विषयों का विशद विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत करके एक महान कार्य किया है। 'बयालीस लीला' नामक रचना में 'रसानन्द लीला', 'प्रेमावली लीला', 'वृन्दावन शतक' और 'रहस्य मंजरी लीला' का रचनाकाल क्रमशः विक्रम सं. १६५०, १६७१, १६८६ तथा १६९८ है। इस आधार पर इनकी वाणी रचना की समय सीमा वि. सं. १६५० से वि. सं. १६९८ तक निश्चित है। इनकी 'वृन्दावन शतक' नामक रचना का पद्यानुवाद बल्देव कवि ने कवित्तों में तथा राधिकाचरणदास 'ढोंगी बाबा' ने ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया है। दोनों टीकायें रस भारती संस्थान वृन्दावन में सुरक्षित हैं। 'सिद्धान्त विचार' नामक रचना का सर्वसुखदास जी ने और राधिकाचरणदास जी 'ढोंगी बाबा' ने पद्यानुवाद किया है, जो गोपाल जी का मन्दिर कोलारस, जिला शिवपुरी में तथा रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है। भगवत मुदित जी, अनन्यअली जी, गो. जतनलाल जी, कृष्णदास जी भावुक, चाचा वृन्दावनदास जी, वृन्दावनदास जी [चाचाजी से पृथक्], गोविन्दअली जी, राधादासजी, बल्देव कवि, गोपाल कवि, हितदासी [रानी कमल कुँवर], स्वामिनीशरण जी, प्रीतमदास जी, मदनमोहनदास जी, वियोगीहरि जी आदि ने अपनी वाणी में ध्रुवदास जी की वाणी की फलस्तुति लिखी हैं। सभी सम्प्रदायों में सम्मानित होने के कारण इस वाणी की प्रकाशित या अप्रकाशित प्रति प्रायः प्रत्येक वैष्णव के पास सुरक्षित हैं। इन सभी बातों को देखते हुए 'हित ध्रुववाणी' की गरिमा का परिचय प्राप्त होता है।

अपनी सरसता—सरलता और मधुरता के कारण हित ध्रुववाणी की अनेकानेक प्रतियाँ ग्रन्थकार के विद्यमान काल में ही लिखी जा चुकी थीं। इस वाणी की प्रशस्ति में लिखे गये दोहों में [रचनाकाल—वि. सं. १७८८] अनन्यअली जी ने स्वयं लिखा है कि मैंने

१. कोमल वाणी सबकों मावै। अक्षर पढ़त अर्थ दरसावै॥

दिसि-दिसि घर घर प्रगटी वानी। रसिकन अपनी निधि करि जानी॥

चारि दिशानि समुद्र प्रयंत। वानी पढ़ै सुनै सब संत॥



हित ध्रुववाणी की प्रति लिखी है<sup>१</sup>। परन्तु आज यह प्राप्त नहीं है। इस वाणी की सर्वाधिक प्राचीन प्रति हमें वि. सं. १८१५ की प्राप्त हुई है जो हमारे संस्थान में ही क्रमांक ७४ पर सुरक्षित है। इसकी अन्तिम पुष्पिका नीचे द्रष्टव्य है —

“इति श्री श्रीजू के कृपापात्र श्री ध्रुवदास जी कृत बयालीस लीला संपूर्ण।।  
शूभं भूयात्।।

भक्त कृपा हित सरन है कियौ वृन्दावन वास।  
प्रथम नाम गंगा हुतौ अब हित दासि प्रसाद।।  
ताके पाठ निमित्त कौ पुस्तक लिखी बनाय।  
हितबल्लभ हित प्रीति सौं तन मन नैन लड़ाय।।  
अठारह सै पन्द्रह कौ संवत अद्भुत जानि।  
जेठ वदी तेरस विमल पुस्तक लिखी सुजान।।”

इसके अतिरिक्त आठ प्रतियाँ और भी हमारे संस्थान में सुरक्षित हैं जिनमें से एक में लिपिकाल का उल्लेख नहीं है तथा शेष सातों के लिपिकाल क्रमशः इस प्रकार हैं — क्रमांक ३३४ पर वि. सं. १८६० की, क्रमांक १७७ पर वि. सं. १८७० की, क्रमांक २९७ पर वि. सं. १९०७ की, क्रमांक १४४ पर वि. सं. १९४२ की, क्रमांक ६१ पर वि. सं. १९६२ की, क्रमांक ५३६ पर वि. सं. १९०४ की क्रमांक ५६० पर वि. सं. १९४० की।

गो. ब्रजभूषणलाल जी राजभोगिया, वृन्दावन के यहाँ वि. सं. १८१८ की तथा १८७० की, गो. ब्रजजीवनलाल जी छोटी सरकार वृन्दावन के यहाँ वि. सं. १८७० की, गो. सोहनकिशोर जी, वृन्दावन के यहाँ वि. सं. १९०४ की, गो. राधाप्रताप जी, अहमदाबाद में वि. सं. १८७२ की तथा गो. बल्देवलाल जी, छोटीसरकार वृन्दावन के यहाँ वि. सं. १९४२ की प्रतियाँ भी लेखक ने देखी हैं। बाबा ध्रुवअली शरण जी [श्रीराधाबल्लभ मन्दिर, वृन्दावन] के पास भी इस ग्रन्थ की कतिपय लीलाओं की एक सचित्र प्रति सुरक्षित है। जिसमें प्रतिलिपि काल का उल्लेख तो नहीं है किन्तु कागज, स्याही एवं लेखन शैली आदि को देखते हुए ‘बयालीस लीला’ की इस प्रति का लिपि काल उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से अधिक पूर्व का नहीं ज्ञात होता। भारतवर्षीय विभिन्न संग्रहालयों में पृथक-पृथक लीलाओं के रूप में भी इस ‘वाणी’ की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं।

१. अनन्यअली हित सौं लिखी सकल अंग मन लाइ। निशि दिन तौ जाँचत रहै यह बानी कब गाइ।।  
सम्बत सत सत्रह परे चौरासी पर चार। सावन झूलनि त्रयोदशी शुक्ल पक्ष शुभ वार।।

— हि. ध्रु. वा. की फ., अ. अ., छं. सं. ११. १२



## १.२.१०-११. हस्तामलक तथा प्रश्नोत्तरी :

इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता गो. दामोदरवर जी के शिष्य प्राणनाथ जी हैं। ग्रन्थ में श्री हिताचार्य द्वारा प्रवर्तित रसोपासना की उपासना विधा संबंधी ज्ञातव्य बातों का प्रकाश हुआ है। प्राणनाथ जी ने 'हस्तामलक' नामक ग्रन्थ की निर्मिति के संबंध में ग्रन्थारम्भ में लिखा है कि— गो. दामोदरवर जी के मुख से मैंने जो कुछ सुना और उसमें से मुझे जो कुछ स्मरण रहा है, वही इस ग्रन्थ में लिखा है —

“श्री गुसाँई दामोदरवर जी पूर्ण जुगलं परमानन्द प्रकाशक रूप प्रागट्य हैं।। उनके मुख ते सुने ता मधि जू सुधि रह्यौ सु लिखि राख्यौ है”।”

द्वितीय ग्रन्थ 'प्रश्नोत्तरी' किंवा 'दामोदर गोस्वामी चरित' के नाम से अति ख्यात है। ग्रन्थ गोस्वामी दामोदरवर जी के जीवन से संबंधित संस्मरणों का संकलन है। किन्तु इन संस्मरणों में ही गो. दामोदर जी का जीवनवृत्त तथा रसोपासना संबंधी अनेक बातों का आकलन हुआ है अतः यह ग्रन्थ भी रस भक्ति सम्बन्धी आधारभूत सामग्री की श्रेणी में विशिष्ट स्थान रखता है।

दोनों ग्रन्थ गो. दामोदरवर जी के निकुंज गमनोपरान्त [वि. सं. १७१४ के पश्चात्] उनके स्मारक रूप में लिखे गये हैं। अतः इनका रचनाकाल वि. सं. १७१४ के निकट पश्चात् ही स्थिर होता है। ये दोनों ग्रन्थ एक ही हस्तलिखित प्रति में हमारे संस्थान में क्रमांक ९३ पर सुरक्षित हैं। अन्तिम पुष्पिका नीचे दृष्टव्य है —

“।। इति श्री दामोदर गोस्वामी चरित्र संपूर्ण।। शुभं भवतु।। संवत् १९५३ वर्षे आसोज शुक्ल द्वितीया भौमवासरेऽयं लिपी समाप्तं।। लेखक पुरवीआ जीवणसींग आणंदराम।। श्लोक संख्या ३७५ है। इति तत्त्वं।।”

## १.२.१२. कर्णानन्द :

यह ग्रन्थ श्री हिताचार्य के द्वितीय पुत्र गो. कृष्णदास जी द्वारा प्रणीत है। इसकी मूल विषय वस्तु तो श्यामा श्याम की प्रेम केलि ही है किन्तु ग्रन्थ के मंगलाचरणात्मक श्लोकों में रसोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य के ऐहिक जीवन से संबंधित कतिपय तथ्यों का भी प्रकाश होता है। एतावता यह ग्रन्थ श्री हिताचार्य के ऐहिक जीवन परिचय जानने के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। इसका रचनाकाल शकाब्द १५०० भादों कृष्णाष्टमी

१. ह. न., प्रा. ना. पृ. १

२. श्री दामोदरवर चरित जिहि—जिहि कौ उपदेश। प्राणनाथ कछु लिखि लियौ निजु मन ही उपदेश।।

— प्रश्नो., प्रा. ना., पृ. १२



[वि. सं. १६३५] है<sup>१</sup>। इसकी सर्वाधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रति हमारे रस भारती संस्थान में क्रमांक ५३५ पर सुरक्षित है जो वि. सं. १६५० में प्रतिलिपित की गई है।

### १.२.१३. वैयासिकी अष्टक किंवा हरिवंशाष्टक :

‘वैयासिकी’ अष्टक किंवा ‘हरिवंशाष्टक’ नामक यह लघु काव्य रचना भी इन्हीं गो. कृष्णदास जी द्वारा विरचित है। ग्रन्थ के श्लोकों में श्री हरिवंशोत्कर्ष का सुन्दर वर्णन किया गया है साथ ही रसभक्ति अविर्भावक श्री हिताचार्य के लोक प्रत्यक्ष जीवन को आलोकित करने वाली कुछ विशिष्ट बातें भी सूत्रात्मक रूप से कहीं गई हैं इसलिए उपयोगिता की दृष्टि से यह रचना अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ की अनेक प्राचीन पाण्डुलिपि हमारे संस्थान में सुरक्षित हैं।

### १.२.१४. हरिवंशाष्टक :

यह रचना श्री हिताचार्य के शिष्य प्रबोधानन्द सरस्वती द्वारा विरचित है। इस अष्टक में श्री हिताचार्य के महामहिम स्वरूप का समुद्गान किया गया है। रचना भाव प्रधान होते हुए भी रसोपासना-प्रवर्तक गो. हित हरिवंश जी के आचार्य जीवन की कतिपय किरणें विकीर्णित करती है। अतः श्री हितहरिवंश चरित्र को उजागर करने में अत्यधिक उपादेय सिद्ध हुई है। इस ‘हरिवंशाष्टक’ का उल्लेख सर्वप्रथम भगवत मुदित जी गौड़ीय ने स्वरचित ग्रन्थ ‘र. अ. मा.’ में प्रबोधानन्द सरस्वती के चरित्र वर्णन में किया है। इसके पश्चात् प्रायः सभी चरित्र लेखकों ने भी किया है। अनन्य अली जी ने वि. सं. १७७३ में रचित अपनी वाणी में इस अष्टक को अविकल उद्धृत किया है जो वि. सं. १८३१ की प्रति में रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है। इस अष्टक की एक संस्कृत टीका गो. सुखलाल जी कृत दूसरी टीका लोकनाथ जी कृत बृजभाषा गद्य में प्राप्त होती है। दोनों टीकाओं की प्राचीन हस्तलिखित प्रति भी रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित हैं।

### १.२.१५. भक्तमाल :

यह ग्रन्थ रामानन्द सम्प्रदाय के महात्मा श्री नाभादास जी द्वारा प्रणीत है। ग्रन्थ रचयिता ने इसमें भगवान के चतुर्युगीन भक्तों के चरित्र सूक्ष्म रूप से ऐतिहासिक-शैली में लिखे हैं। ग्रन्थ में गो. हितहरिवंश द्वारा आविर्भूत रसोपासना के सिद्धान्तों का सूक्ष्म रूप से सांगोपांग परिचय दिया गया है। निष्पक्ष नीति से लिखित होने के कारण यह

१. कृष्णाष्टम्यां शकाब्दे गगन-गगन बाणेन्दु संख्ये व्यतीते।



ग्रन्थ सभी सम्प्रदाय के भक्तों और विद्वान् लेखकों में समान रूप से समान्वित है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का रचनाकाल उल्लेख नहीं किया है। किन्तु विद्वानों ने इसका रचनाकाल वि. सं. १६५०-६० के मध्य माना है। इसकी अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न ग्रन्थगारों में सुरक्षित हैं तथा अनेक संस्करण प्रकाशित भी हो चुके हैं।

### १.२.१६. भक्ति रस बोधिनी [टीका] :

भक्ति रस बोधिनी नाम्नी रचना नाभाजी द्वारा विरचित भक्तमाल का टीका ग्रन्थ है। इसका प्रणयन गौड़ीय सम्प्रदाय के महात्मा श्री प्रियादास जी द्वारा हुआ है —

कीनी भक्तमाल सु रसाल नाभा स्वामी जू ने, तरे जीव जाल जग जन मन मोहनी॥  
भक्ति रस बोधिनी सु टीका मति शोधनी है, बाँचत कहत अर्थ लागै अति सोहनी<sup>१</sup>॥

ग्रन्थ प्रणेता ने अपनी खोज के आधार पर भक्तों के जीवन से संबन्धित अनेकों चरित्रों का समावेश इस ग्रन्थ में किया है, जिनके आकलन से ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी बन गया है। रसमूर्ति श्यामा श्याम के निकुंज विलासों का प्रकाश करने वाले गो. हितहरिवंश के चरित्रालेखन में तो यह टीका ग्रन्थ सन्निकट साक्षी जैसा सिद्ध हुआ है। ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १७६९ है —

सम्बत प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर फाल्गुन मास बदी सप्तमी विताइकें॥  
नारायणदास सुखरासि भक्तमाल लै कैं प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइकें<sup>२</sup>॥

इस टीका की हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं और अनेक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। गो. मनुआलाल जी पुजारी [अठखम्भा बाजार, वृन्दावन] के निजी संग्रह में इसकी एक सर्वाधिक प्राचीन प्रति वि. सं. १७८२ की है, जो मीठा जी द्वारा लिखी गई है। अन्तिम पुष्पिका नीचे दृष्टव्य है —

“॥ इति श्री भक्ति रस बोधिनी टीका जुत भक्तमाल संपूर्ण॥ शुभमस्तु संवत १७८२ मिति माघ वदि १३ लिषितं श्री वृन्दावन मध्ये रसिकाश्रित मीठा हस्ताक्षरे पठनार्थ अनूपसिंह जू की बेटी सुजान कुँवरि बाई जी॥”

### १.२.१७. रसिक अनन्यमाल :

‘रसिक अनन्य माल’ गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना के अनन्य रसिकों का चरित्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता भगवत मुदित जी गौड़ीय भक्त हैं ; जो कि आगरे के सूबेदार शुजाउल्मुल्क के दीवान थे और तत्कालीन प्रशासन से सम्बद्ध प्रशासकों



के निकट परिचित थे। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने सभी चरित्र नायकों का रसिक रूप चित्रण अपनी तटस्थ तूलिका से तत्कालीन ऐतिहासिक आलोक में ही किया है। और यही कारण है कि तीन सौ से अधिक वर्षों से यह ग्रन्थ रसिक चरित्र मूलक होते हुए भी हिन्दी साहित्य के विद्वानों और रसिकों के लिए आधारभूत प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में समादृत होता चला आया है। भक्तमालकार प्रियादास जी गौड़ीय तथा उत्तमदास जी, अनन्यअली जी, चाचा वृन्दावनदास जी और गोविन्दअली जी आदि भक्त चरित्र लेखकों ने अपने-अपने ग्रन्थों में इसी ग्रन्थ के आधार पर रसिक चरित्रांकन किया है।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में 'भक्तिकाल' के नाम से अभिसंज्ञात है। किन्तु इसी भक्तिकाल में भगवद् भजन के साथ-साथ 'भक्त भजन गान' करने की भी एक भव्य धारा के दर्शन होते हैं। हरिराम व्यास जी ने भक्त-सुयश गान करके<sup>१</sup>, स्वामी चतुर्भुजदास जी ने 'द्वादश यश' में संत प्रताप यश की रचना करके<sup>२</sup> तथा नामा जी ने 'भक्तमाल' की रचना करके इस धारा को अनुप्राणित किया था। भगवतमुदित जी ने इन्हीं महज्जनों का अनुगमन और अनुसरण करके इस धारा को गति प्रदान की थी। यद्यपि ग्रन्थ का मुख्य वर्ण्य विषय रसिक चरित्र है किन्तु रसिकों के चरित्र वर्णनालोक में रसोपासना सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञातव्य बातें भी आलोकित हो गई हैं।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का मंगलाचरण श्री चैतन्य वन्दना के साथ किया है जो कि गौड़ीय होने के नाते स्वरूपानुकूल और अनुकरणीय भी है। ग्रन्थ में सम्प्रदायाचार्य गो. हित हरिवंश जी का चरित्र नहीं है। सम्भवतः इस अभाव से प्रेरणा पाकर ही राधाबल्लभीय रसिक उत्तमदास जी ने 'श्री हरिवंश चरित्र' नामक लघु ग्रन्थ की रचना की है। 'रसिक अनन्य माल' में वर्णित रसिक चरित्रों की चारु चन्द्रिका में रस भक्ति आविर्भावक श्री हिताचार्य के और भी अनेक चरित्र आलोकित हुए हैं। इन सब दृष्टियों से विचार करने पर यह ग्रन्थ और भी अधिक मूल्यवान दिखाई देता है।

ग्रन्थ में रचनाकाल का उल्लेख नहीं है, किन्तु ग्रन्थ में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर 'रसिक अनन्य माल' का रचनाकाल वि. सं. १७१४ के लगभग अनुमानित होता है। प्राप्त सामग्री इस प्रकार है —

१. देखें—व्या. वा., ह. व्या., साधु स्तुति प्रकरण

२. सर्वोपरि सौँचो यह भजन। श्यामहि सुख संतन कौ जजन॥ बहुत पुराननि में सुनी॥  
वृन्दावन जु रसिकजन जहाँ। चतुर्भुजदास शरण रह्यौ तहाँ॥ सन्त प्रतापहि गाइहौ॥

— द्वा. य., संत प्रताप यश, स्वा. च. दा.



१. कर्मठी बाई के चरित्र में अकबर के धाय भाई अजीज वेग का मथुरा में हाकिमी करने का उल्लेख<sup>१</sup>।
२. तत्कालीन दिल्लीश्वर की आज्ञा से सातों पुरियों में मन्दिर निर्माण होने का उल्लेख तथा अब्दुल रहीम खानखाना के दीवान सुन्दरदास कायथ द्वारा मन्दिर निर्माण का उल्लेख<sup>२</sup>।
३. हरीदास तोमर द्वारा मन्दिर बनवाने का उल्लेख<sup>३</sup>।
४. दामोदर स्वामी की रचनाओं के उल्लेख के साथ उनके निकुंज गमन का उल्लेख<sup>४</sup>।
५. स्वामी चतुर्भुजदास जी द्वारा 'धर्म विचार यश' निर्माण करने का उल्लेख<sup>५</sup>।
६. कल्याण पुजारी जी के चरित्र वर्णन में गो. दामोदरवर से तत्पुत्र रासदास और विलासदास गो. द्वारा पुजारी जी को मन्दिर से अलग करने के अनुरोध का उल्लेख<sup>६</sup>।

अकबर बादशाह का राजत्व काल वि. सं. १६१३ से वि. सं. १६६२ तक है। सुन्दरदास जी द्वारा विनिर्मित मन्दिर का निर्माण काल वि. सं. १६४१ है। हरीदास तोमर द्वारा बनवाये गये मन्दिर का निर्माण काल वि. सं. १६८० है। दामोदर स्वामी की अन्तिम रचना 'आशा

१. अकबर कौ हौ धाय जु भाई। अजीजवेग जिन मथुरा पाई ॥

— र. अ. मा., भ. मु., कर्मठी बाई की परचई

२. मन्दिर हौन लगे सतपुरी। प्रभु सौं प्रीति सबनि की जुरी ॥

खरचत दर्व न मन सकुचायौ। तीन वरष में सिद्ध करायौ ॥

दिव्य पौवड़े डारे वाट। मन्दिर करि बैठाये पाट ॥

— र. अ. मा., भ. मु., सुन्दरदास की परचई

३. श्री वृन्दावन जमुना तीर। घाट सँवार्यौ सब सुख सीर ॥

मन्दिर शिखर बन्ध करवायौ। प्रभु पधराय कियौ मन भायौ ॥

— र. अ. मा., भ. मु., हरीदास तूँवर की परचई

४. निजु प्रसाद दंपति कौ आयौ। इहि विधि वन निजु धाम सिंघायौ ॥

— र. अ. मा., भ. मु., दामोदर स्वामी की परचई

५. धर्म विचार सु पृथक सुनायौ। शिक्षा सकल समाज बतायौ ॥

— र. अ. मा., भ. मु., चतुर्भुज स्वामी की परचई

६. इक दिन रास विलास जु ऐसैं। कही पिता सौं हठ करि वैसैं ॥

महा भ्रष्ट यह भयौ पुजारी। अब सेवा कौ नहि अधिकारी ॥

— र. अ. मा., भ. मु., कल्याण पुजारी की परचई



त्याग' का रचना काल—वि. सं. १७१३ है<sup>१</sup>। 'धर्म विचार यश' का रचना काल वि. सं. १६८६ है<sup>२</sup>। गो. रासदास तथा विलासदास जी ने पुजारी को मन्दिर से अलग करने का उल्लेख गो. दामोदरवर के अधिकार काल में किया है। गो. दामोदरवर जी का अधिकार काल वि. सं. १७१४ तक है<sup>३</sup>।

उपर्युक्त ऐतिह्य के आधार पर 'रसिक अनन्य माल' का रचनाकाल दामोदर स्वामी के निकुंज गमन काल वि. सं. १७१३ के पश्चात् ज्ञात होता है। गो. रासदास जी का अधिकार काल वि. सं. १७१४ से १७२२ है। ग्रन्थ में न तो इनके अधिकार होने का ही संकेत मिलता है और न इनके किसी शिष्य का चरित्र ही लिखा गया है। इस ग्रन्थ में गो. दामोदरवर जी के शिष्य प्राणनाथ [गो. दामोदर जी के संस्मरण लेखक] जैसे प्रतिभा सम्पन्न रसिक चरित्र का भी अनुल्लेख है। इन अनुल्लेखों के आधार पर ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १७१४ के पूर्व ही अनुमानित होता है।

ग्रन्थोल्लिखित एकाधिक रसिक चरित्रों में कुछ ऐसी विसंगतियाँ परिलक्षित होती हैं जिन्हें पढ़कर एक बार ग्रन्थ प्रणेता की ऐतिहासिक अनभिज्ञता का आभास होता है। नवलदास जी के चरित्र वर्णन में यह उल्लेख मिलता है कि—“शेरशाह के मरने के पश्चात् कुछ दिन तक हेमू ने राज्य किया। हुमायूँ के पुनः दिल्लीश्वर होने पर उसने हेमू का वध कर दिया।”

यह उल्लेख वस्तुतः इतिहास विरुद्ध है। सत्य यह है कि हुमायूँ के मरणोपरान्त उसका लड़का अकबर गद्दी पर बैठा। हेमू ने पुनः दिल्लीश्वर बनने के उद्देश्य से ससैन्य दिल्ली की ओर कूच किया। पानीपत के मैदान में युद्ध हुआ। हेमू अकबर के द्वारा आहत हुआ और बन्दी बना लिया गया। उसी समय बैराम खाँ ने उसका वध भी कर दिया।

ग्रन्थ कर्ता भगवत मुदित जी तत्कालीन शाह शुजा के दीवान थे। दिल्ली सल्तनत के पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन शासकों के जीवनवृत्तों तथा ऐतिहासिक घटनाओं के पूर्ण ज्ञाता थे। अतः उनके द्वारा ऐसी इतिहास विरुद्ध पंक्ति लिखा जाना सर्वथा असम्भव है, अकल्प्य

१. नख शिख छवि निरखत रहौं गुन गाँऊँ तजि आश। यह माँगाँ पाऊँ सदा हित दामोदर दास॥  
सत्रह सौ तेरह समय करी कृपा श्री कृष्ण। कातिक सुदि एकादशी तजी लैन की तृष्ण॥

— आ. त्या., स्वा. दा., वि. सं. १७५८ की प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ८०, ८२

२. सम्वत सोरह सौ चौरासी अधिक द्वै बरस सिरानी जू। मुरलीधर वर भक्ति चतुर्भुजदास प्रताप बखानी जू॥

— द्वा. य., स्वा. चतु. [धर्म विचार यश]

३. हि. कु. शा., ज. कृ. दा. छं. सं. ६७

४. शेरशाह जब गढ़ करि मर्यौ। हेमू राज कछुक दिन कर्यौ।

बहुरि हुमायूँ कौ भयौ राज। हेमू मार्यौ बैठ्यौ गाज॥

— र. अ. मा., भ. मु., नवलदास जी की परचई



है। वस्तुतः यह भूल ग्रन्थ प्रणेता की नहीं प्रत्युत ग्रन्थ के किसी प्रतिलिपिकर्ता की है जिसने भूल से चौपाई छन्द की दो अर्धालियाँ ही छोड़ दी हैं। वि. सं. १७७० की सर्वाधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रति में वह चौपाई इस प्रकार उल्लिखित हैं —

बहुरि हुमायू कौ भयौ राज। गिरि कैँ मर्यौ गरीब निवाज॥

अकबर के सिर धर्यौ जु ताज। हेमू मार्यौ बैठ्यौ गाज<sup>१</sup>॥

यह भूल ग्रन्थ प्रणेता की इसलिए भी नहीं कही जा सकती क्योंकि ग्रन्थ में ऐसी अनेक प्रशासनिक शब्दावलियों का संप्रयोग है जिन्हें प्रशासन से सम्बद्ध व्यक्ति ही प्रयोग कर सकता है—सर्व साधारण नहीं। जैसे—अहदी, मनसब, पंचसदी, इजाफा, खिजमत इत्यादि।

‘अजीजवेग’ अकबर का धाय भाई था, यह जानकारी बादशाही परिवार के निकटतम व्यक्ति को ही हो सकती है, सर्व साधारण को नहीं। नवलदास के चरित्र में वर्णित घटना का वर्णन इस प्रकार से किया गया है, जिसे पढ़कर ऐसा ज्ञात होता है कि वर्णनकर्ता, घटना का कोई पात्र या घटना का द्रष्टा ही हो। भगवतमुदित जी ऐसे ही ऐतिहासिक व्यक्ति थे। अतः यह भूल उनके द्वारा नहीं ग्रन्थ के किसी प्रतिलिपिकर्ता की ही सुनिश्चित है।

ग्रन्थ में प्राप्त दूसरी विसंगति इस प्रकार है —

नागरीदास जी के चरित्र वर्णनानुसार स्वामी चतुर्भुजदास जी के उपदेश से नागरीदास और उनके बड़े भाई की पत्नी भागमती एक साथ वृन्दावन आये थे और दोनों ने एक साथ ही गो. वनचन्द्र जी से गुरुमन्त्र प्राप्त किया था<sup>३</sup> जबकि नागरीदास जी के

१. र. अ. मा., भ. मु., नवलदास जी की परचई [वि. सं. १७७० में लिखी प्रा. ह. लि. प्र.]

२. अहदी गये पकरि सब लाये।.....

—र. अ. मा., भ. मु., नवलदास जी की परचई

मनसब दियौ कियौ बहु प्यार। पंचसदी रु इते असवार॥

जहँ पठ्यौ तहँ कारज कियौ। बारंबार इजाफा लियौ॥

—र. अ. मा., भ. मु., परमानंददास जी की परचई

प्रभु इच्छा अनयासा भई। पातशाह खिजमत लिखि दई॥

जूनागढ़ कौ सूवा जानि। ताकौ इनहिं कियौ परिधान॥

—र. अ. मा., भ. मु., विठ्ठलदास जी की परचई

३. नागरी दास वेरछा रहते। हरिजन निरखि दौरि पग गहते॥.....

भागनि चतुर्भुजदास जु मिले। चरचा करि रस रँग में झिले॥

संगति करि वृन्दावन आये। श्री वनचन्द्र के पद लपटाये॥

भागमती भावज हू आई। दहुँन एक सँग दीक्षा पाई॥

—र. अ. मा., भ. मु., नागरीदास जी की परचई



चरित्र के पश्चात् आगे के पृष्ठ पर ही लिखे भागमती के चरित्र वर्णन में इसके विपरीत दोनों को एक साथ दीक्षा नहीं मिलती अपितु गो. वनचन्द्र जी के शिष्य नागरीदास जी कभी वेरछा जाते हैं भागमती उनके उपदेशों से प्रभावित होकर वृन्दावन आती हैं और गो. वनचन्द्र जी से दीक्षित होती हैं<sup>१</sup>। इस प्रकार भागमती जी के दीक्षा प्रकार और दीक्षा काल में संगति की जगह असंगति दिखाई देती है।

इस असंगति पूर्ण लेख को देखकर चरित्र लेखक की अनभिज्ञता का अनुमान किया जा सकता है किन्तु यह 'चरित्र' ग्रन्थ लेखक की अनभिज्ञता नहीं प्रत्युत ग्रन्थ के किसी प्रतिलिपिकर्ता की प्रमादजन्य भूल है। क्योंकि वि. सं. १७७० की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति में "कबहुँक नागरीदास पधारे" तथा "सुनि नागरीदास पधराये" के स्थान पर "कबहुँ चतुरभुजदास पधारे" तथा "सुनि चतुर्भुजदास पधराये" पाठ प्राप्त होता है। इस प्राचीनतम प्रति में प्राप्त उक्त पंक्तियों को सामने रखकर जब हम नागरीदास और भागमती के चरित्र वर्णन पर विचार करते हैं तो किसी प्रकार की विसंगति नहीं दिखलाई पड़ती।

भगवत मुदित जी द्वारा वर्णित नागरीदास जी के चरित्र को देखते हुए भी अष्ट प्रहर जुगल बिहार की भावना करने वाले नागरीदास जी का ब्रज क्षेत्र से अन्यत्र गमन करना असंभव प्रतीत होता है। नागरीदास जी ब्रज क्षेत्र छोड़कर वेरछा गये थे—ऐसा उल्लेख परवर्ती अन्य रसिक चरित्र लेखकों ने भी नहीं किया है। अतः वि. सं. १७७० की प्राचीनतम प्रति में प्राप्त पाठ ही युक्तियुक्त ज्ञात होता है।

हमारी खोज में समुपलब्ध 'रसिक अनन्य माल' की वि. सं. १७७० में लिखी सर्वाधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रति गो. ब्रजबल्लभलालजी बैंगला वाले [कोइलिया घाट, वृन्दावन] के यहाँ सुरक्षित है। जिसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है —

“इति श्री रसिक अनन्यमाल भगवत मुदित कृत संपूरन।। शुभं भवतु। श्री रस्तु।। मिति माघ सुदि पंचमि संवतु १७७० पटना मद्धे।। लिषतं मोतीराम दूबे।।”

एक अन्य प्रति बाबा बैजनाथ [सेवाकुंज गली, वृन्दावन] के यहाँ सुरक्षित है जो कि वि. सं. १७८९ में लिखी गयी है। पुष्पिका नीचे दी जाती है —

१. कबहुँक नागरीदास पधारे। जीव विमुख तिनके भ्रम टारे।।...  
कोईक सखी प्रवीन सुहाई। तिन भागमतीहि जाइ सुनाई।।  
सुनि नागरीदास पधराये। विधिवत पूजि सबनि सिर नाये।।



प्रा. पु. -।। अथ रसिक अनन्य माल लिख्यते।

अ. पु.-“इति श्री रसिक अनन्य माल सम्पूर्ण संवत् १७८९ आश्विन मासे कृष्ण पक्षे तिथौ द्वितीयायां आदित्य बासरे।। पोथी लिषतं भूधरदास कायस्थ भटनागर पोथी लिखायतं साहजी श्री साहिबराय जी शुभमस्तु।।”

‘रसिक अनन्य माल’ की तीसरी प्रति हमने बाबा ध्रुवअलीशरण जी [श्री राधावल्लभ मन्दिर, वृन्दावन] के पास देखी है। प्रति के अन्त में वि. सं. १७७३ वैशाख वदि ११ लिखा है किन्तु यह प्रति लेखन काल पीछे से किसी अन्य का लिखा प्रतीत होता है। इन प्रतियों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की अन्य अनेकानेक प्रतियाँ भारत वर्षीय अनेक राजकीय संग्रहालयों तथा स्थानीय व्यक्तियों के संग्रह में सुरक्षित हैं।

## १.२.१८. श्री हरिवंश चरित्र :

‘श्री हरिवंश चरित्र’ नामक इस ग्रन्थ में मुख्यतः रसोपासना प्रवर्तक श्री हित हरिवंश जी का जीवन वृत्त ऐतिहासिक रूप से वर्णन किया गया है। श्री हिताचार्य के जीवन चरित्र पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डालने वाला यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है, अतः विगत तीन शतियों से सभी की दृष्टि में आदरणीय रहा है।

इस ग्रन्थ में श्री हिताचार्य के जन्म से लेकर वृन्दावन निवास काल के संपूर्ण जीवन वृत्त पर क्रमवद्ध प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ हिताचार्य के जन्म की पूर्व भूमिका से प्रारंभ होता है। तत्पश्चात् देववन निवास कालीन जीवन घटनाओं और वृन्दावनीय जीवन वृत्त पर विशद प्रकाश डाला गया है।

ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों पर प्राप्त कवि नाम की छापा<sup>१</sup> के आधार से बोध होता है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता उत्तमदास जी हैं। साथ ही मंगलाचरण के दोहा संख्या तीन<sup>२</sup> को पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि ग्रन्थ का आलेखन उत्तमदास जी की प्रेरणा से

१. [क] उत्तमदास लिखे जु प्रभु प्रेरे है हिय माँहिं।  
[ख] सुनी बड़ेन मुख तहँ कछू उत्तम करी वखानि।  
[ग] वानी सुनै जु व्यास की हूँ उत्तमदास।  
[घ] उत्तम चरित अनेक जुत श्री स्वामी हरिदास।  
[ङ] उत्तम पदवी पाइकैं बैठे वृन्दारण्य।  
[च] अब बीठल इनकी अनुज ताकी उत्तम बुद्धि।  
[छ] यह उत्तम निष्ठा कही लही महंतन बैन।  
[ज] अधिक कही भगवन्त ने उत्तम सेवक रीति।

२. प्रेरे उत्तम रसिक के हरि जू लिखे बनाइ।

—श्री ह. च., उ. दा., प्रा. ह. लि. प्र.

—श्री ह. च., उ. दा., प्रा. ह. लि. प्र.



हरि जू [जो उत्तमदास जी के ही गुरु भाई थे] ने बहुत सुन्दर अक्षरों में किया था। जिस प्रकार चाचा वृन्दावन दास जी की वाणियों का आलेखन केलिदास जी किया करते थे। इसका उल्लेख चाचा वृन्दावनदास जी ने भी स्वयं ही अपनी वाणियों में अनेक स्थलों पर किया है<sup>१</sup>।

भगवत मुदित जी ने अपने 'रसिक अनन्यमाल' नामक ग्रन्थ में श्री हरिवंशोदित रसोपासना के रसिकों के चरित्र वर्णन किये थे। उत्तमदास जी ने इन चरित्रों का निकट अध्ययन करके यह अनुभव किया कि इन रसिक चरित्रों में वस्तुतः गुरुवर श्री हरिवंश की कृपा का ही चमत्कार पूर्ण चरित्र आलोकित हुआ है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने उन चरित्रों को भी [जिनमें गुरुवर श्री हरिवंश की कृपा का दर्शन हुआ है— ऐसे हित जी के प्रमुख शिष्यों के चरित्रों को] अपने श्री हरिवंश चरित्र का अभिन्न अंग मानकर उसमें गुम्फित कर दिया है।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का रचना काल नहीं लिखा है किन्तु हित शिष्यों के चरित्र वर्णन सन्दर्भ में लिखी — "अधिक कही भगवन्त ने" इस पंक्ति से निर्भ्रान्त रूप से प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ की रचना वि. सं. १७१४-१५ के पश्चात् ही हुई है।

ग्रन्थकार उत्तमदास जी के गुरुभ्राता जयकृष्ण जी ने वि. सं. १७६० में 'हितकुल शाखा' नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ में श्री हरिवंश की वंशावली वर्णन की गई है। वंशावली में श्री हरिवंश जी से लेकर अपने गुरु के प्रपौत्र गो. घनश्यामलाल तक के नामोल्लेख हैं साथ ही कतिपय गोस्वामियों की जन्मतिथियों और सेवाधिकार का समय भी उल्लेख किया गया है। अनुसंधान पूर्ण दृष्टि से इस ग्रन्थ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकर्ता ने श्री हरिवंश वंशोद्भव गोस्वामियों के नामों का उल्लेख तो किया ही है, साथ ही हित हरिवंश जी के जीवनवृत्त के उन अंशों का भी उल्लेख कर दिया है जिनका उल्लेख इनके गुरुभ्राता उत्तमदास जी ने 'श्रीहरिवंश चरित' में नहीं किया है। इस तथ्य के आलोक में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' का रचनाकाल वि. सं. १७६० के अनिश्चित काल पूर्व ही स्थिर होता है।

वि. सं. १७१४ के पश्चात् तथा वि. सं. १७६० के अनिश्चित काल पूर्व की लम्बी समयावधि में रचनाकाल के निराधार समय विशेष का अनुमान करना कोरी कल्पना होगी। अतः अनुमान करने के लिए हम कोई ठोस आधार आवश्यक समझते हैं।

ग्रन्थकर्ता उत्तमदास जी के गुरु गो. कुंजलाल जी का जन्म वि. सं. १६९६ है<sup>२</sup>।

१. वृन्दावन हित रूप कथा यह कुमति विनासन। केलिदास कर लिखी प्रार्थना भक्ति प्रकाशन॥

—म. प्रा. वे., चा. वृ., दा., प्रा. ह. लि. प्र.

२. हि. कु. शा., छं. सं. ७४



ग्रन्थकर्ता के शरणागत होते समय गो. कुंजलाल जी की आयु कम से कम तीस वर्ष की ही अनुमानित की जाय तो ग्रन्थकर्ता उत्तमदास जी का दीक्षाकाल वि. सं. १७२६ स्थिर होता है। अतः यह तो निश्चित ही है कि वि. सं. १७२६ के पश्चात् ही ग्रन्थ की रचना हुई होगी। इससे पूर्व नहीं।

उत्तमदास जी ने ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर लिखा है कि मैंने बड़ों के मुख से जैसा कुछ सुना श्री हरिवंश का चरित्र वैसा ही वर्णन किया है<sup>१</sup>। श्री हरिवंश और उनके शिष्यों के चरित्रों का गहन अध्ययन, अनुशीलन और मनन करने में उन्हें पर्याप्त समय लगा होगा। कोई आश्चर्य नहीं कि ग्रन्थ प्रणेता को श्री हरिवंश चरित्रों का निकट अध्ययन करने के लिए देववन भी जाना पड़ा हो। इस समय सीमा को अधिक से अधिक दस वर्ष मानकर दीक्षा काल [वि. सं. १७२६] में योग देने से 'श्रीहरिवंश चरित्र' का रचनाकाल वि. सं. १७३६ के लगभग स्थिर होता है।

श्री हिताचार्य के निकुंज गमन का वर्णन उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' और जयकृष्ण जी कृत 'हित कुल शाखा' इन दोनों ग्रन्थों में मिलता है किन्तु 'हित कुल शाखा' की कतिपय पंक्तियाँ यह कहने के लिए विवश करती हैं कि जयकृष्ण जी द्वारा वर्णित श्री हिताचार्य का निकुंज गमन वर्णन पहले लिखा गया है। जयकृष्ण जी से पूर्व आचार्य के निकुंज गमन का वर्णन किसी ने भी नहीं किया था। 'हित कुल शाखा' में रसिकों से निवेदन करते हुए जयकृष्ण जी ने कहा है कि—श्री हरिवंश जी के निकुंज गमन वर्णन करने के कारण आप लोग मुझसे दुखी होकर यह न कहें कि तूने छोटे से मुँह से ऐसा वर्णन क्यों किया? अन्य चरित्र लेखकों की भाँति तूने भी यह बात हृदय में ही क्यों नहीं रखी? मुझे आप लोग अपराधी न समझें क्योंकि मैंने पूर्ण प्रभु की आज्ञा से ही उनके निकुंज गमन का वर्णन किया है—

विनती अब रसिकन सौं करौ। तुम मति दूखहु हौं अति डरौं॥  
मेरौ जिन अपराध विचारौ। कृपा-अनुग्रह दृष्टि निहारौ॥  
तनक सौ मुख ऐसी क्यों भाखी। यह सु बात किन उर में राखी॥  
परिपूरन प्रभु आज्ञा दर्ई। तब यह बुद्धि कहन कौं भई॥  
प्रभु आज्ञा सर्वसु करि मानी। ताते मैं यह समय वखानी<sup>२</sup>॥

१. [क] श्री हरिवंश चरित्र बहु बरने कापै जात। कछुक सुने आरज वदन सो हौं लिखि हुलसात॥

—श्री ह. च., पृ. सं. १

[ख] प्रथम कहीं देववन की कथा। सुनी सु धर्मिन मुख ते यथा॥

—श्री ह. च., पृ. सं. १

२. हि. कु. शा., छं. सं. ३५ से ३७



इन पंक्तियों के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य के चरित्र में उनके निकुंज गमन वाले अंश को सर्वप्रथम जयकृष्ण जी ने ही लिखा। इनसे पूर्व श्री हरिवंश चरित्र में उनके निकुंज गमन का वर्णन करना अपराध माना जाता था। जयकृष्ण जी के द्वारा निकुंज गमन वर्णन करने के पश्चात् उत्तमदास जी ने भी निकुंज गमन वाले इस अंश को श्री हरिवंश चरित्र का अत्यन्त आवश्यक अंग मानकर स्वरचित 'श्री हरिवंश चरित्र' में जोड़ दिया है।

उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' की सर्वाधिक प्राचीनतम प्रति भगवत मुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल' की वि. सं. १७७० में लिखी प्राचीनतम प्रति के प्रारंभ में ही संलग्न है। अक्षर साम्य के आधार पर ज्ञात होता है कि 'रसिक अनन्यमाल' के प्रतिलिपि कर्ता मोतीराम दुबे ने ही इसकी भी प्रतिलिपि की है।

## १.२.१६. हित कुल शाखा या जयकृष्ण जी की वाणी :

'हितकुल शाखा' नामक इस ग्रन्थ के प्रणेता जयकृष्णदास जी हैं। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का रचना काल वि. सं. १७६० लिखा है —

संवत सत्रह सौ चालीस। बरस अधिक हैं सब सुख बीस॥

कार्तिक सुदि तेरस कुल शाखा। मथुरा मधि पूरन भई भाखा॥

इस ग्रन्थ में रसभक्ति अविर्भावक श्री हिताचार्य के जीवन की समय सारणी के साथ-साथ ही हरिवंश वंशोद्भव गोस्वामियों की जन्म तिथियों का वर्णन किया गया है। श्री हरिवंश जीवनवृत्त वर्णन संदर्भ में उनके निकुंज गमन का वर्णन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। रचयिता ने ग्रन्थ में श्री राधाबल्लभ मन्दिर के अपने समय तक के सेवाधिकारियों का अधिकार काल तथा कतिपय वाणीकारों द्वारा विरचित वाणी ग्रन्थों का नामोल्लेख भी किया है। श्रद्धा भावना से भव्य होने पर भी यह ग्रन्थ ऐतिहासिक परिचय प्रधान है। इसीलिए रसिकजनों तथा सर्वसाधारण विद्वानों की दृष्टि में अत्यधिक उपादेय है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति लेखक ने हित रूप संग्रहालय, [अठखम्मा बाजार, वृन्दावन में] देखी है तथा एक प्राचीनतम प्रति रसभारती संस्थान, वृन्दावन में भी सुरक्षित है।

## १.२.२०. अतिबल्लभदास जी की वाणी :

इस वाणी के प्रणेता गो. कमलनैन जी के शिष्य अतिबल्लभदास जी किंवा बल्लभदास जी हैं। 'वाणी' तीन 'प्रकाशों' [खण्डों] में विभाजित है। प्रथम प्रकाश में प्रणेता ने अपनी गुरु परम्परा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इसी संदर्भ में उन्होंने



रस भक्ति के आचार्य हित हरिवंश जी के जन्म संवत् का भी उल्लेख किया है। द्वितीय प्रकाश में मंत्र तथा तृतीय प्रकाश में इष्ट के धाम का ध्यान वर्णन किया है। ग्रन्थ के अन्त में अतिबल्लभदास जी ने लिखा है कि —

गुरु परनाली हित मत रीति। ध्यान इष्ट कौ धाम प्रतीति॥  
कही जथामति सुनत जु रही। श्री अंबुजद्रग-कृपा सु लही॥  
रसिक अनन्य भाव मत सिद्धि। अति सूक्ष्म है तिनकी बुद्धि॥  
वरनत जो कहूँ भयौ अशुद्ध। ते छमियहु याते अविबुद्ध॥  
मंत्र ध्यान भाषा करि गायौ। गुरु परनाली ते जो पायौ॥  
मंत्र ध्यान वरनन कियौ, श्री गुरु कृपा मनाइ॥  
दुर्लभ सो सुर्लभ भयौ, अतिबल्लभ मन लाइ॥  
॥ इति श्री मंत्र ध्यान पद्धति भाषा बल्लभदास जी कृत संपूर्ण॥

अतिबल्लभ जी ने ग्रन्थ का रचना काल तो नहीं लिखा है किन्तु ग्रन्थ में अपने गुरुवर्य के उत्तराधिकारी गो. ब्रजलाल जी कृत — ‘सेवासत’ नामक ग्रन्थ का नामोल्लेख अवश्य किया है —

श्री ब्रजलाल कियौ सेवासत। सेवा रीति लहौ तिहि अनुमत॥  
औरहु ग्रन्थ किये श्री ब्रजमनि। भाव भावना करत तेई धनि॥

गो. ब्रजलाल जी द्वारा विरचित इस ‘सेवासत’ का रचनाकाल वि. सं. १७५५ है<sup>१</sup>। इस आधार पर तीन प्रकाशों में वर्णित इस अतिबल्लभ जी की वाणी का रचनाकाल वि. सं. १७५५ के अनिश्चित काल पश्चात् स्थिर होता है। ग्रन्थ मौलिक खोज पर आधारित है साथ ही साम्प्रदायिक भाव भावना से भी भव्य है। अतः सभी की दृष्टि में प्रामाणिक और समादरणीय रहा है। इस वाणी की प्राचीन हस्तलिखित प्रति हमारे संस्थान में क्रमांक १३६ पर सुरक्षित है। इस प्रति के लिपिकर्ता राधाबल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रतिलिपि कर्ता केलिदास जी हैं। हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन, बाबा ध्रुवअलीशरण जी, वृन्दावन, गो. श्यामलाल जी वृन्दावन तथा गो. ब्रजजीवनलाल जी वृन्दावन के यहाँ भी इस वाणी की एक-एक हस्तलिखित प्रति लेखक ने देखी हैं।

अतिबल्लभ जी ने ‘श्रीहित हरिवंश जी की जन्म बधाई’ के एक पद में हिताचार्य के कतिपय ऐसे शिष्यों का भी नामोल्लेख किया है जिनके नाम इनसे पूर्ववर्ती चरित्र ग्रन्थों में नहीं मिलते।

१. २. अति. दा. की. वा. [मंत्र ध्यान पद्धति] अति, दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १३

३. बाणा बाणर्षि चन्द्रारव्ये संवत्याचार्य जन्मनि गोस्वामी ब्रजलालेन सेवासत मिदं कृतं॥

— से. सा., ब्र. ला. गो., श्लो. १०१

## १.२.२१. अनन्य सार :

यह 'अनन्यसार' ग्रन्थ मूलतः 'रसिक अनन्यमाल' की भाँति रसिक चरित्र ग्रन्थ ही है। किन्तु ग्रन्थ प्रणेता गो. जतनलाल जी ने इसमें रस भक्ति आविर्भावक श्री हरिवंश जी के चरित्र का भी उल्लेख किया है। ग्रन्थकार के शब्दों में यह 'अनन्यसार' पाँच विलासों में वर्णित है<sup>१</sup>।

प्रथम विलास में श्री हित जी का स्वरूप और स्तुति, द्वितीय में हित जी की पूर्व वंशावली, तृतीय में हित जी का जन्म, जनेऊ, विवाह और वृन्दावन आगमन, चतुर्थ में वृन्दावन शोभा वर्णन तथा पंचम में हित जू के कृपापात्र शिष्यों के चरित्रों का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। ग्रन्थ ऐतिहासिक होते हुए भी विशेष रूप से भावना प्रधान है। ग्रन्थ वर्णित श्री हरिवंश चरित्र में हिताचार्य के शैशव कालीन कुछ घटनाओं का भी वर्णन है; जो कि ग्रन्थ प्रणेता की मौलिक खोज की अभिनव देन हैं। ग्रन्थ में रचना काल का उल्लेख नहीं है।

गो. चन्द्रलाल जी ने अपने 'वृन्दावन प्रकाशमाला' नामक ग्रन्थ में गो. जतनलाल जी के चारों पौत्रों—दयालाल, मयालाल, कृपालाल और मोहनलाल के नाम श्लेषार्थ में स्मरण किये हैं<sup>२</sup>। इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १८२४ है। यदि इस समय गो. जतनलालजी की आयु ७०-७५ वर्ष की अनुमानित कर ली जाय तो इनका जन्मकाल अनुमानतः वि. सं. १७४९ के लगभग स्थिर होता है। वि. सं. १७६० में विरचित 'हित कुल शाखा' नामक ग्रन्थ में गो. जतनलाल का नामोल्लेख भी हमारे इस आनुमानिक जन्मकाल को प्रमाण पुष्ट बनाता है<sup>३</sup>। 'अनन्यसार' जैसे बृहद् ग्रन्थ की रचना के समय रचयिता की आयु अनुमानतः तीस वर्ष की मान ली जाय तो ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १७८४ या १७७९ के लगभग स्थिर होता है। इस ग्रन्थ की अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे संस्थान में व अन्य अनेक ग्रन्थागारों में सुरक्षित हैं।

१. श्री हरिवंश कृपा मुकट शीश आपने धारि। अनन्यसार के करन कौ कीनीं मनहिं विचार।।.....

प्रथम विलास मौहि हित जू कौ रूप कह्यौ, द्वितीय विलास मौहि वंशावलि गाइयै।

तृतीय विलास मौहि जन्म औ जनेऊ व्याह, प्यारी जू कृपा करि वृन्दावन आइयै।

तुरिय विलास मौहि वृन्दावन कुंज नई, नई-नई मौतिन सौ शोभा मन ध्याइये।

पंचम विलास मौहि शिष्य सबै हित जू के, तिनकी बहु कथा कहि सुनै मन लाइये।

—अ. सा., ज. ला. गो., छं. सं. ३, ६

२. दया, मया, कृपा चहौ मोहन रंगीली जू की, वृन्दावन वास हेत मति ललचाई है।

—वृ. प्र. मा., च. ला. गो., छं. सं. १०६

३. अब गिरधरलाल के कुँवर कृपाल। श्री जतनलाल गुन की करि माल

—हि. कु. शा., छं. सं. ११७



## १.२.२२. हित परिकर वन्दन पत्रिका :

इस ग्रन्थ के निर्माता सुप्रसिद्ध वाणीकार चाचा वृन्दावनदास जी हैं। ग्रन्थ का वर्ण्य विषय रस भक्ति आविर्भावक श्री हित जी के साथ-साथ हित परिकर का चरित्र प्रकाश करना है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

हित जुत हित परिकर पद बंदौ। तिनते सुमति पाइ आनंदौ।

गिरा उदोत कृपा ते लहौं। चरित मोहनी हित के कहौं।

बन्दौ गुरु-आचारज इष्ट। तिनके गुन गाऊँ अति मिष्ट॥

भये हित-रीति सुमति जे ज्ञाता। तिन पद बंदौं मुहि वर दाता॥

भये रस रतन रसिकजन जहाँ। बंदौं देश - धाम कुल तहाँ॥

अस बन बानिक स्वामिनि इच्छा। हित मुख तिनहिं कराई शिक्षा॥

अपनी पद्धति प्रकाशन काज। दियौ बनाइ जु सबहि समाज१॥

‘हित परिकर वन्दन पत्रिका’ की प्राचीन हस्तलिखित प्रति हमारे रस भारती संस्थान में क्रमांक ४३४ पर सुरक्षित है जो ग्रन्थकार के चिर संगी केलिदास जी के हाथ से लिपिबद्ध होने कारण अत्यन्त मूल्यवान है। दुख का विषय है कि इस ग्रन्थ की प्राप्त प्रति खण्डित है और इसमें १३९ छन्द तक के पत्रांक ही सुरक्षित हैं। फलतः ग्रन्थ का रचनाकाल तो अज्ञात रहा ही, साथ ही हित परिकर के चरित्र भी विलुप्त ही रहे आये।

## १.२.२३. हित रूप चरित्र बेली :

## १.२.२४. रसिक अनन्य परचावली :

## १.२.२५. बसन्त प्रबंध [प्रथम से चतुर्थ] :

## १.२.२६. हित भक्ति कल्पतरु :

ये चारों ग्रन्थ रस भक्ति धारा के रसिकों के परिचयात्मक ग्रन्थ हैं। ये मूलतः भावना प्रधान हैं तथापि इन सबमें रसिकों के जीवन से संबंधित ऐतिह्य और उनके वाणीकार होने के संकेत भी पर्याप्त रूप में प्राप्त होते हैं। अतः रस भक्ति धारा के वाणीकार रसिकों का परिचय प्राप्त करने के लिए ये चारों ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय हैं। ग्रन्थ निर्माता चाचा वृन्दावनदास जी ने इन ग्रन्थों में रसोपासना के प्रागट्यकाल से लेकर अपने जीवनकाल तक के अनेकों रसिकों के परिचय दिये हैं।



‘हित रूप चरित्र बेली’ का रचनाकाल रचयिता के शब्दों में वि. सं. १८२० है<sup>१</sup>।

‘हित रूप चरित्र बेली’ की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति श्री हित रूप संग्रहालय श्री राधाबल्लभ मंदिर, वृन्दावन में तथा एक प्रति रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है।

‘रसिक अनन्य परचावली’ में ग्रन्थ के रचनाकाल का उल्लेख तो नहीं है किन्तु रसिक चरित्रों में ही प्राप्त सामग्री के आधार से इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १७९१ से १८२० के मध्य स्थिर होता है आधार निम्नांकित हैं—

ग्रन्थ की छप्पय सं. १८८ में जुगलदास जी का परिचय दिया गया है<sup>२</sup>। उन पर ग्रन्थकार की अत्यन्त श्रद्धा थी। उनके निकुंज गमन के पश्चात् ग्रन्थकार ने ‘गुरु कृपा चरित्र बेली’ नामक ग्रन्थ में उनका विशद उत्कर्ष वर्णन करते हुए उनका निधन काल वि. सं. १७९२ लिखा है<sup>३</sup>। किन्तु ‘रसिक अनन्य परचावली’ में नहीं लिखा है। इस आधार से यह स्पष्ट है कि यह छप्पय सं. १८८ वि. सं. १७९२ से पूर्व की रचना है।

ग्रन्थ की छप्पै सं. २०४ में प्रेमदास जी का परिचय देते हुए<sup>४</sup> ग्रन्थकार ने उनके द्वारा लिखे गये ‘भाव कल्पतरु’ आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है किन्तु उनके द्वारा ‘हित चौरासी’ की टीका किये जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। संभव है कि उस समय तक उनके द्वारा उक्त टीका पूरी न हुई हो। इस टीका का रचना काल वि. सं. १७९१ है<sup>५</sup>। इस आधार पर छप्पय संख्या २०४ का रचनाकाल वि. सं. १७९१ से पूर्व स्थिर होता है।

१. अठारह सौ बीस वरष संवत गत जानिये जू, चैत्र सुदी पूरनिमा गन्थ पूरन है भयौ।.....  
बेली हित रूप चरित हरी भरी फूली फरी, वृन्दावन हित याहि कण्ठ राखि गानिये॥

—हि. रु. च. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. ४५९, ४६२

२. नव-नव उत्सव सचित रचित वचनावलि हरषत। जबहि गान उच्चरत प्रेम-धारा ज्यों बरषत।  
भूषन रसिक समाज महत जन मान बढ़ावत। नृप आज्ञा आधीन राधिकापति दुलरावत।  
श्रीकुंजलाल सिर कर धर्यौ, कीरति सब जग विस्तरि। श्रीहरिवंश कृपा अधिक, जुगलदास के उर भरी।

—र. अ. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १८८

३. विदा मौंगि दण्डवत करि श्री गुरु कृपा मनाइ। जुगलदास पहुँचे महल सारंग राग सुनाइ॥...  
सन्वत सत्रह सौ बानवा पूस मास कीयौ गवन। श्री राधा विपिनेश्वरी राखे अपने भवन॥

—गु. कृ. च. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. १३५, १३७

४. श्री हित-गिरा गंभीर धीर वीरन मति झूलहिं। बिढ़ते की अभिलाष तीर ठाढ़े सब फूलहिं॥  
अक्षर सिन्धु अगाध समझि मरजीवा घसिबौ। अर्थ काढ़ि रस रतन जौहरी रसिक विलसिबौ॥  
भाव कल्पतरु आदि दै ग्रन्थ रचे दृढ़ भाव पन। श्रीरूपलाल गुरु कृपा ते, श्री प्रेमदास लबौ गूढ़ धन॥

—र. अ. प., चा. वृ. दा. छं. सं. २०४

५. सत्रह सौ इक्यानवै संवत माघौ मास। यह प्रबन्ध पूरन भयौ शुक्ल द्वैज बुधवास॥

—हि. चौ. टी., टी. प्रे. दा., पृ. सं. २८६



ग्रन्थ की छप्पय संख्या २०३ में कृष्णदास जी भावुक का चरित्र वर्णन किया गया है<sup>१</sup>। जिसमें उनके निकुंज गमन करने का उल्लेख है। इसी प्रकार छप्पय सं. २४३ में जादौं भगत का परिचय देते हुए उनके निकुंज गमन काल का उल्लेख किया गया है<sup>२</sup>। इन दोनों रसिकों का निकुंज गमन काल वि. सं. १८१७ है। जिसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थ कर्ता ने स्वरचित 'हरिकला बेली' में विस्तार पूर्वक किया है<sup>३</sup>। इस आधार पर इन दोनों छप्पयों का रचना का समय वि. सं. १८१७ के पश्चात् स्थिर होता है।

इस ग्रन्थ में उन रसिकों के नाम का अनुल्लेख भी मिलता है जो कि वि. सं. १८२० के आसपास राधाबल्लभीय रसिक जगत में समादृत और विख्यात हो चुके थे। साथ ही वे ग्रन्थ प्रणेता के अत्यन्त निकटवर्ती इनके गुरुवर गो. रूपलाल जी और गुरु पुत्र गो. किशोरीलाल जी के शिष्य थे। ऐसे रसिकों में साहिबराम व्यास, हरिलाल व्यास, धनराज राठौर, राधाबल्लभ-मन्दिर के तत्कालीन समाजी बालकृष्ण, राधिकादास, हरीदास, मुरलीदास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और जिनका परिचय ग्रन्थकार ने बसन्त प्रबंध [चतुर्थ] नामक अपने एक अन्य ग्रन्थ में दिया है<sup>४</sup>।

१. श्री व्याससुवन दिन जनम वरष लगि रहै उमाहै। सर्वसु देत न हटै मास माधव उत्साहैं।  
वर वानी रस सनी रसिकजन सुनि मति दहलैं। श्री हित विनोदवल्लभ प्रसाद लही महल सु टहलैं।  
कहनि रहनि बाँकी सबै रहै जुगल रूप नित दृग जकी। अनुराग सहित दृढ़ भावना कृष्णदास अलि रस छकी।

—र. अ. प., चा. वृ. दा., छं. सं. २०३

२. गुज्जर घर जिहि वास संत सेवा अनुरागी। सुनत गिरा ध्रुवदास सुरत वृन्दावन लागी।  
जाति-पाँति कुल छाँड़ि वास रुचि कानन कीयौ। विधि निषेध परिहर्यौ चित्त हित चरनन दीयौ।  
राधा सु धाम त्याग्यौ जु तन यह अलभि लाम पायौ जगत। हित धर्म बढ्यौ विश्वास दृढ़ धनि धन्य जनम जादौ भगत।

—र. अ. प., चा. वृ. दा., छं. सं. २४३

३. [क] ठारह सै सत्रहौं बरस बहुरिकैं जनम आयौ, ऐसे सत्यवादी बात कला की न भूले हैं।  
ब्रज के जीव जन्तु सब कौंपैं अति मानि भय, लाइकैं मलेच्छ कछू चौगुने से फूले हैं।

—ह. क. बे., चा. वृ. दा., पा. लि. छं. सं. १२

[ख] कृष्णदास छकनि सौं छकेई रहैं जुगल भाव, आयौ जमन हाली सृष्टि भय हू न भई है।  
व्यासनंदन चरन सौं गाढ़ी अति निष्ठा बाढ़ी, जद्यपि मलेच्छन ताप नाना मौति दई है।  
रज की अभिलाषा बड़ी रहति ही निशि-दिन, वही रज में साँचे पन सौं मिलई है।.....

—ह. क. बे., चा. वृ. दा., पा. लि., छं. सं. १७७

[ग] पूरौ वैराग त्याग देह अन्त रह्यौ अचल, धन्य जादौदास गही सुदृढ़ वन थली है।  
चाहना के बीज इष्ट-प्रापति-आँच जारी डारे, एक आसन बैठिकैं बिताई वर्ष भली है।  
तिनहूँ कौ आनिकैं मलेच्छनि जब पीड़ा दई, बार-बार यही रज अंगनि लै मली है।

—ह. क. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. १७९

४. श्री किशोरीलाल जिहि गुरु प्रशंश। धनराज भक्त राठौर वंश।।  
अति प्रेमी साहिबराम व्यास। पुनि सुत हरिलाल-किशोरीदास।।  
परिकर जुत हिय रहै यह हुलास। देखैं वृन्दाविपिन बसंत रास।।  
हरिदास करैं तानन प्रकाश। पुनि बालकृष्ण-राधिकादास।।  
सखी मुरलीदास हिय गहरी आस। प्रियादास भजन रचैं बहु विलास।।

—ब. प्र. [चतुर्थ], चा. वृ. दा., छं. सं. ११७, १२१, १२३



उपर्युक्त दिये गये इन आधारों से 'रसिक अनन्य परचावली' का रचना काल वि. सं. १७९१ से १८१८ के मध्य स्थिर होता है।

हमारी खोज में इस ग्रन्थ की दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। एक अपूर्ण पाण्डुलिपि रसभारती संस्थान, वृन्दावन में क्रमांक सं. २४२ पर चाचा वृन्दावनदास की रचनाओं के संग्रह में सुरक्षित है। प्रस्तुत प्रति के लिपिकर्ता बल्लभदास है। प्रति में प्रतिलिपि काल का अनुल्लेख है किन्तु कागज, स्याही और लेखन शैली पर आधारित आनुमानिक प्रतिकाल वि. सं. १८५०-६० के मध्य निश्चित रूप से माना जा सकता है।

दूसरी प्रति हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित है जिसकी अन्तिम पुष्पिका निम्नांकित है — "॥२४६॥ इति श्री रसिक अनन्य परचावली श्री वृन्दावनदास जी कृत॥ प्रति करी राधिकाशरण ने निज स्वादार्थ सम्वत् १९६४ जेट सुदी दशमी॥"

चाचा वृन्दावनदास जी ने चार बसन्त प्रबंधों की रचना की है। इन प्रबंधों में भी रचनाकाल का अनुल्लेख है। प्रबंधों में प्राप्त तथ्यों के आधार पर इनका रचनाकाल वि. सं. १८२५ के आसपास स्थिर होता है। चतुर्थ बसन्त प्रबंध में गो. किशोरीलाल जी के शिष्यों के नामोल्लेख या सूक्ष्म परिचय दिये गये हैं। गो. किशोरीलाल जी का जन्म काल वि. सं. १७७७ है<sup>१</sup>। वि. सं. १८२० तक इनके अनेक शिष्य हो गये होंगे। इस आधार से इन प्रबंधों का रचना काल वि. सं. १८२५ के लगभग निश्चित है।

इन बसन्त प्रबंधों की दो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। एक प्रति हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में, दूसरी रसभारती संस्थान, वृन्दावन में। रसभारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित प्राचीन प्रति के लिपिकर्ता चाचा वृन्दावनदास जी के संगी केलिदास जी हैं।

'हित भक्ति कल्पतरु' में भी रचना काल का उल्लेख नहीं है किन्तु इस ग्रन्थ में प्राप्त ऐतिह्य सामग्री के आधार पर ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १८३० के लगभग स्थिर होता है। रचयिता ने इस ग्रन्थ में अपने गुरुवर्य गो. रूपलाल जी के पुत्र गो. किशोरीलाल जी [जन्म संवत् १७७७] के पौत्रों—दयासिन्धु और कृपासिन्धु—का नामोल्लेख करके गो. रूपलाल जी की शाखा पूर्ण कर दी है<sup>२</sup>। स्पष्ट है कि गो. किशोरीलाल जी के किसी प्रपौत्र का जन्म नहीं हुआ था। यदि इस समय तक गो. किशोरीलाल जी की आयु न्यूनाधिक

१. जनम आचारज प्रभु जु समान। तिनके भजन सुकृत फल लाग्यौ लाल किशोरी जान॥  
सत्रह सै सतहत्तरि आठै अश्वनि मास प्रमान।.....

—हि. कु. की. ज. ब., चा. वृ. दा., पा. लि., पृ. १९८

२. कृपासिन्धु दूजे सुनौ कुल वर्द्धन जु अनूप। वृन्दावन हित बन्दि नित बेलि फली हित रूप॥

—हि. म. क., चा. वृ. दा., पा. लि., पृ. १८



पचास वर्ष की भी मान ली जाय तो ग्रन्थ का रचनाकाल वि. सं. १८२७ से लेकर वि. सं. १८३० के मध्य स्थिर होता है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति रसभारती संस्थान, वृन्दावन में क्रमांक १२० पर सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की दो अन्य प्राचीन हस्तलिखित प्रति भी लेखक ने देखी हैं। एक गो. श्यामलाल जी, अठखम्भा बाजार, वृन्दावन के संग्रह में तथा दूसरी गो. वृन्दावनबल्लभ जी, श्री राधाबल्लभ मन्दिर के निकट, वृन्दावन के संग्रह में सुरक्षित है।

### १.२.२७. वृन्दावन प्रकाश माला :

‘वृन्दावन प्रकाश माला’ विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान रस भक्ति धारा के रसिकों का चरित्र ग्रन्थ है। इसमें उन रसिकों के परिचय उल्लिखित हैं जो कि वृन्दावन की परिक्रमा में विद्यमान थे। यद्यपि रसिकों के चरित्रों का सुचारु चित्रांकन श्रद्धा भावना की भव्य तूलिका से किया गया है तो भी उस चित्र-चन्द्रिका में ही तत्कालीन वृन्दावन और उसमें विद्यमान रसिकों के ऐहिक स्वरूप का परिचय प्राप्त हो ही जाता है। अतः ग्रन्थ सभी दृष्टियों से अत्यधिक उपादेय है। इस ग्रन्थ के रचयिता गो. चन्द्रलाल जी हैं। उन्होंने इसकी रचना रूप नगर के शाहपुरा नामक स्थल में वि. सं. १८२४ में की है—

वृन्दाविपिन वियोग भयौ हिय दुख भयौ भारी।

तब श्री वृन्दावन प्रकाश माला उर धारी॥

अष्टादश शत चतुर्विंश संवत् सुख दीनों।

माघव मास उत्सव वसन्त पंचमि हित भीनों॥.....

रूप नगर के मध्य यह ग्रन्थ महा सुख दीन। शाहपुरा में चन्द यह हित सों पूरन कीन<sup>१</sup>॥

इस ग्रन्थ की तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं, जिनमें पहली प्रति वि. सं. १८२५ की गो. अद्वैतचरण जी [षड्भुज महाप्रभु का मन्दिर, वृन्दावन] के यहाँ, दूसरी गो. श्यामलाल जी [अठखम्भा बाजार, वृन्दावन] के निजी संग्रह में तथा तीसरी रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है।

### १.२.२८. रसिक भक्त गाथा :

‘रसिक भक्त गाथा’ भी एक चरित्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में रस भक्ति धारा के निमज्जक उन ज्ञात-अज्ञात रसिकों के जीवन परिचय का उल्लेख है जो रसिक अनन्य मालादि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में वर्णित हैं; साथ ही उन रसिकों के चरित्रों का भी उल्लेख है जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। ऐसे अज्ञात रसिकों का चरित्र प्रदायक



होने के कारण ग्रन्थ अत्यधिक उपादेय है। ग्रन्थ के रचयिता रसिकवर गोविन्दअली जी हैं। ग्रन्थ का रचनाकाल ग्रन्थकर्ता के शब्दों में वि. सं. १८४४ है —

यह विनती गोविन्द की सुनियों रसिकअनन्य। व्यासनन्द अरविन्द पद वास सदा आरण्य॥  
अभिलाषा वनराज में उठी हंसजा पास। राधामोहन वास 'अलिगोविन्द' हिये हुलास॥  
श्री ब्रजलाल कृपाल हित कृष्णदेव के नन्द। अपनाये 'गोविन्दअलि' काटि सकल भव फन्द॥  
सम्बत अष्टादश अधिक चालिस ऊपर चार। सावन कृष्णा पंचमी गाथा भक्त विचार॥

इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति बाबा ध्रुवअली शरण जी [श्री राधाबल्लभ मन्दिर वृन्दावन] के संग्रह में तथा दूसरी रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है।

## १.२.२६. श्री हरिवंश सहस्रनाम :

इस ग्रन्थ के रचयिता ब्रज साहित्य सम्राट चाचा वृन्दावनदास जी हैं। ग्रन्थ में रसोपासना प्रवर्तक श्री हरिवंश के सहस्रनामों को माध्यम बनाकर उनके रूप, स्वरूप, नाम, वाणी, चरित्र और परिकर पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है। अनेक अभिनव ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण होने के कारण ग्रन्थ रसिक भक्तों तथा शोधकर्ताओं के लिए भी उपादेय है। ग्रन्थकार के शब्दों में इसका रचनाकाल अगहन शुक्ल दोज वि. सं. १८१२ है —

नमामि गुरु हित रूप कृपा रावरी सु दत है।  
वृन्दावन हित नाम सुभग वरने दस सत हैं॥  
ठारह सै गत भये वर्ष बारहौ पुनि लगौ।  
श्री हरिवंश नाम स्तव दिनमणि सु जगमगौ॥  
अगहन दुतिया सुदी ग्रन्थ पूरन है आयौ।  
वृन्दावन हित रूप कृपा दत वरनि सुनायौ॥

इस ग्रन्थ की प्राचीन हस्तलिखित प्रति हमारे संस्थान में क्रमांक २०२ पर सुरक्षित है। अन्तिम पुष्पिका निम्नांकित है —

“इति श्री श्री गोस्वामी श्री मद्धित हरिवंशचन्द्र जू कौ सहस्रनाम बेली की जै श्री हित स्वामिनी राधे, संवत् १९४७ फालगुन कृष्ण ९ बुधवार, लिषतं लाल गिरधारी शुदाउली के, मुकाम श्री वृन्दावन, कुंज चरषारी वारे श्री महाराजा साहब की॥”

१ र. म. गा., गो. अ., पा. लि., अन्तिम छन्द

२ श्री ह. स., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ५२९ से ५३१



### १.२.३०. वृन्दावन प्रेम विलास बेली :

यह ग्रन्थ भी चाचा वृन्दावनदास जी द्वारा प्रणीत है। ग्रन्थ प्रणेता के शब्दों में ही इस वाणी का वर्ण्य-वृन्दावन में निरंतर होने वाली मधुर रस की केलि है —

वृन्दावन मधुर रस केलि। वरनी मिथुन आनंद बेलि॥

यह रस गूढ़ परम विनोद। दैहै रसिक स्वादिनु मोद<sup>१</sup>॥

प्रणेता ने ग्रन्थ का मंगलाचरण रस भक्ति आविर्भावक श्री हिताचार्य के यशोद्गान से किया है। इस यश गान में उनके ऐहिक जीवन से संबंधित एकाधिक अभिनव बातों का उल्लेख हुआ है — अतएव ग्रन्थ भावना पूर्ण होते हुए भी हित चरित्र लेखकों के लिए नितान्त उपयोगी है। ग्रन्थ का रचनाकाल पौष शु. ७ वि. सं. १८४० है —

लीला चरित कानन ईश। संवत अठारह सै चालीस॥

सातैं पौष सुदी जु पुनीत। पूरन कियौ यह रस गीत॥

बेली वृन्दावन हित कृत्य। गुरु हित रूप पद रज भृत्य॥

हिय जिय धरि जु अधिक हुलास। करवर लिखी केलि जु दास<sup>२</sup>॥

इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति हमारे संस्थान में क्रमांक १४५ पर सुरक्षित है।

### १.२.३१. वृन्दावनधामानुरागावली :

इस ग्रन्थ के रचयिता प्रवीनराय के सुपुत्र गोपाल कवि हैं। रचयिता ने वृन्दावन परिक्रमा वर्णनालोक में यहाँ के संतों, महन्तों, रसिकों, गोस्वामियों और इन सबके सेव्य स्वरूप विग्रहों के साथ-साथ वृन्दावन की कुंजों, मन्दिरों तथा घाटों का ऐतिहासिक वर्णन किया है। ग्रन्थ में वर्णित कुछ ऐतिहासिक विवरण रचयिता का स्वयं संदृष्ट है और कुछ महत्तज्जनों से सुना हुआ है —

भगति भगत भगवंत गुरुहि के चरनन में सिर नाऊँ।

वृन्दावन वासिन की पुनि-पुनि कृपा कटाक्षहि पाऊँ॥

वरन्धौ चहत चक्रवेधी परिकरमा प्रथम सुहाई।

निज जन जानि 'गुपाल कविहि' पै करहु कृपा सब आई॥

जैसैं जनमि चरित जिन कीने हरि हरिजनन सुहाये।

व्यास समास सहित वरनत कछु जो मैंने सुनि पाये॥

वेद-पुराण स्मृति मत-मत जिमि रसिकजनन मिलि गायौ।

पुनि नैननि देख्यौ चरित्र सो सुनहु संत मन भायौ॥

१. २. वृ. प्रे. वि. बे. चा. वृ. दा. प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. १४०, १४३, १४४

३. वृ. घा. गो. क., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. १ से ४

वृन्दावन के तत्कालीन स्वरूप वर्णन के लिए तो यह ग्रन्थ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ही इसकी उपयोगिता इसलिए भी अधिक है क्योंकि इसमें रस भक्ति आविर्भावक श्री हिताचार्य के वृन्दावन के निवास काल की उन कतिपय घटनाओं का सुस्पष्ट उल्लेख किया गया है जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में सूत्र रूप में ही वर्णित हैं।

ग्रन्थ का रचना काल और लिपिकाल वि. सं. १९०० है। स्वयं रचयिता के हाथ की मूल पाण्डुलिपि राधारमणीय गो. श्री अद्वैतचरण जी के संग्रह में सुरक्षित है। अन्तिम पुष्पिका नीचे द्रष्टव्य है —

“॥ यह वृन्दावन धामानुरागावली गुपाल बनाई॥

सुजन सभा के बीच सुजन सब करहु प्रचुर अब जाई॥”

॥ इति श्री वृन्दावन धामानुरागावली समाप्त॥ संमत १९०० मिति पूस वदी॥१०॥ सनिवार लिखी गुपालदास॥”

### १.२.३२. हित चन्द्र प्रकाश :

इस ग्रन्थ के प्रणेता प्रीतमदास जी हैं। इष्ट लीला गान, स्वेष्ट सानिध्य प्राप्ति की अभिलाषा, रसोपासना प्रवर्तक श्री हरिवंश चरित्र तथा उनके कृपापात्रों के चरित्र आदि का वर्णन इस ग्रन्थ की विषय वस्तु है। ग्रन्थ भावना पूर्ण होने पर भी ऐतिह्य सामग्री प्रदान करने वाला है। ग्रन्थ संपूर्ति काल और प्रतिलिपि काल वि. सं. १९७४ है। स्वयं ग्रन्थकार के हाथ की लिखी इसकी मूल पाण्डुलिपि हमारे रस भारती संस्थान में क्रमांक ७५ पर सुरक्षित है जिसकी अन्तिम पुष्पिका नीचे दी जा रही है —

“इति श्री व्यासनंदन हित चन्द्र प्रकाश श्री गुरु कृपा सृ दृष्टि प्रभावेन हृदयाभासो संपूर्ण॥ लिखितं वृन्दावन धाम मध्ये श्री व्यासनंदन श्री हित राधिकाबल्लभ लाल श्री चरण-कमल समीपे संवत् १९७४ बैशाख शुक्ल एकादश्यां श्री व्यासनंदन वर्षगांठि दिवसे श्री हिताब्द॥४४५॥ हस्ताक्षर कपटी कुटिल अधम अपराधी अनुचर श्री हित प्रीतम जू के दास के॥ पाठार्थ श्री हित प्रियादासी जी के॥ जो महानुभाव रसिक कहीं धोके भूल से यापै सुदृष्टि करें तिनके श्री चरणनु में दास की बारंबार विनय है कि मेरे अपराध क्षमा करि श्री व्यासनंदन जू के श्री चरण-कमल सहर्ष शीघ्र प्रदान करि अपनाई लेवैं॥”

### १.२.३३. हित हरिवंश चरित्र :

यह ‘हित हरिवंश चरित्र’ नामक ग्रन्थ मदनमोहनदास जी द्वारा विरचित है। ग्रन्थ का वर्ण्य विषय रस भक्ति आविर्भावक श्री हरिवंश चरित्र ही है। ज्ञात होता है



कि ग्रन्थ प्रणेता ने श्री हरिवंश चरित्र संबंधी सभी प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करके इस ग्रन्थ में चरित्र संबंधी संपूर्ण ज्ञातव्य बातों का संक्षिप्त शब्दों में समावेश कर दिया है। ग्रन्थ का रचना काल वि. सं. १९९० है —

रसिकन मुख जैसें सुन्यौ ता विधि कीयौ गान। सीप भरी ज्यों सिन्धु ते ऐसें लीजै जान।।  
दासि मदनमोहन सु हित सुजश कियौ यह गान। नित प्रति ही गावत रहौं ऐसौ दीजै दान।।  
सम्बत सत उन्नीस, ऊपर नवै जानियौ। कृपा जु श्री वन ईश, पूरण भयौ चरित्र यह।।

स्वयं ग्रन्थकार के हाथ से लिपि बद्ध की गई ग्रन्थ की मूल प्रति, सहचरि शरण सूबेदार [ निवास स्थल — २३/ गाढ़ी पुरा इटावा ] के निजी संग्रह में सुरक्षित है। इसकी अन्तिम पुष्पिका निम्नांकित है —

“ इति श्री हित हरिवंश चन्द्र जू कौ चरित संपूर्ण।। लिषतं वृन्दावन मध्ये।।  
हस्ताक्षर मदनमोहनदास के।। संवत १९९० कौ।। वैशाख की पूनौ।।”

उपर्युक्त प्रमाण ग्रन्थों के अतिरिक्त गो. ब्रजलाल जी प्रणीत एक ‘संस्कृत गीत’ तथा अतिबल्लभदास जी, मधुरानंद जी, गो. कुंजलाल जी, कृष्णदास जी भावुक, प्रेमदास जी और चाचा वृन्दावनदास जी द्वारा विरचित ‘हित जन्म बधाई’ विषयक पदावली भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इन सबमें रस भक्ति आविर्भावक श्री हरिवंश—जीवन चरित्र संबंधी लेख्य सामग्री समाहित है। इन सबके द्वारा विरचित जिन गीतों और गेय पदों का उल्लेख हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है उन सभी की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे संस्थान में सुरक्षित हैं।

## द्वितीय अध्याय

### २. भक्ति और भक्ति काव्य

#### २.१. भक्ति का स्वरूप विवेचन :

मानव हृदय में रति, विस्मय, हास, शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा आदि भाव सुप्तावस्था में चिर स्थित रहते हैं। चिर स्थित रहने के कारण ही सम्भवतः रसशास्त्र मनीषियों ने उन्हें स्थायी भाव नाम से अभिसंज्ञात किया है। कारण का योग पाकर ही ये भाव उद्बुद्ध होते हैं। उदाहरणतः— हम किसी सभा में, मन्दिर में अथवा किसी महात्मा के आश्रम में श्रोता समाज में बैठे हुए भाषण या कथा सुनने में दत्त चित्त हों; आनन्द में निमग्न हों और यदि उसी समय वहाँ पर काला सर्प निकल आये तो निश्चय ही हम सब भयभीत हो जायेंगे, अर्थात् हमारे हृदय में संसृप्त भय भाव-भय का कारण सर्प का योग पाकर जग जायगा। इसी प्रकार रति, विस्मय, शोक और क्रोधादि भाव भी।



रति नामक भाव अपनी कई विशेषताओं के कारण सर्वाधिक बलशाली है। इस भाव का वेग अन्य भाव-वेगों की अपेक्षा अधिक तीव्र है, इस भाव में माधुर्य की मात्रा भी है, जिसके कारण यह चित्त को अति शीघ्र द्रुत करता है और अधिक देर तक द्रुत बनाये रखता है। कहना अत्युक्ति न होगा कि इसका प्रभाव प्रायः अमिट होता है। इसके प्रभाव काल में अन्य भावों के कारणों का योग होने पर भी अन्य भावों का प्रभाव कम पड़ता है।

यह रति भाव जब अपने से महत् की ओर प्रवहित होता है, तब इसी भाव की भक्ति संज्ञा हो जाती है। जब यह रति भाव पिता की ओर उन्मुख होकर, पितृ चरणों से संलग्न होता है तो पितृभक्ति संज्ञक, माता के चरणों से संलग्न होने पर मातृभक्ति संज्ञक, बड़े भाई के चरणों से संलग्न होने पर भ्रातृभक्ति संज्ञक, राजा की ओर उन्मुख होने पर राजभक्ति, साधु की ओर उन्मुख होने पर साधुभक्ति संज्ञक, गुरु की ओर उन्मुख होने पर गुरुभक्ति और भगवान के चरणों में संलग्न होने पर भगवद्भक्ति किंवा ईश्वरभक्ति आदि नामों से सम्बोध्य होता है। यह रति भाव केवल महत् की ओर ही नहीं, अपितु अपने से लघु की ओर भी प्रवहित होता है, किन्तु उस समय उसकी भक्ति संज्ञा न होकर वात्सल्य, स्नेह, ममता तथा कृपा आदि संज्ञा होती है और समयवस की ओर उन्मुख होने पर यह 'मैत्री' संज्ञक हो जाता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह कि मूलतः मानव का रति भाव ही अपने से महत्, महत्तर और महत्तम-महतो महीयान् ईश्वर की ओर प्रवहित [ भगवदोन्मुख ] होने पर 'ईश्वरभक्ति' संज्ञक हो जाता है।

स्वेष्ट-सानिध्य-समुपलब्ध महत्जनों ने अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार किन्तु एक मत होकर भक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नांकित विचार प्रगट किये हैं।

महर्षि शांडिल्य ने भक्ति का लक्षण देते हुए लिखा है कि ईश्वर के प्रति परमानुराग को ही भक्ति कहते हैं — "सा परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः"।

देवर्षि नारद ने भक्ति का लक्षण देते हुए कहा है कि परमेश्वर के प्रति होने वाले परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं — "सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा अमृत स्वरूपा च"।

अद्वैत सिद्धिकार श्री मधुसूदन-सरस्वती ने भक्ति का लक्षण देते हुए बताया है कि — भगवद् भाव से द्रवित होकर भगवान के साथ चित्त के सविकल्प तदाकार भाव को भक्ति कहते हैं — "द्रवीभाव पूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्प वृत्तिभक्तिः"।

१ शां. म. सू. १, १, २

२ ना. म. सू. २

३ म. स.



महत्जन मन्य कोऽपि अज्ञात महदाचार्य का कथन है कि – भगवान में चित्त की स्थिरता ही भक्ति है। – “भगवति मनः स्थिरीकरण भक्तिः।”

शब्दों में किंवा कथन शैली में किसी को किसी प्रकार का भेद भले ही लक्षित हो परन्तु इस तथ्य में किसी को कोई आपत्ति नहीं है कि पूज्य में अनुराग होना [ ईश्वर में रति भाव का संयोजन होना ] ही भक्ति है। – “पूज्येष्वनुरागो भक्तिः”

यह रति भाव मानव के साथ ही संसृष्ट होता है, आगे या पीछे नहीं। मानवीय जगत के लघु या महत् सम्बन्ध भी मानव के साथ ही पलते और जीवित दिखाई देते हैं। सच बात तो यह है कि इन सम्बन्धों पर ही यह मानव जगत आधारित है, उसका अस्तित्व सुरक्षित है। मानव और ये मानवीय सम्बन्ध अनादि हैं। इस मान्यता के आधार पर यह भक्ति भी अनादि है।

## २.२. लोक भक्ति और ईश्वर भक्ति :

महत् के प्रति आदर भाव रखना, उनकी पूजा करना, उनका स्तवन करना उनकी आज्ञा पालन करना और उनकी सेवा करना भारतीय संस्कृति के मेरुदंड हैं और प्राण-स्पन्दन है। इस सुन्दर और सुदृढ़ मेरुदण्ड के कारण ही तो यह संस्कृति चिर पुरातन काल से विदेशी, विधर्मी आक्रमणों के द्वारा क्षत विक्षत होने पर भी जीवित बनी हुई है।

हमारे भारत की पतिभक्ति तो देश की मुखश्री को संसार के लिये आकर्षक बनाये हुए है। परशुराम तथा शान्तनुनन्दन भीष्म की पितृभक्ति, श्रवण कुमार की मातृ-पितृ भक्ति और उपमन्यु तथा आरुणि ऋषि की गुरु भक्ति आज भी भारतीय जनता के लिये नित्य स्मरणीय बनी हुई है। सुमित्रानन्दन श्री लक्ष्मण जी तथा कैकेयीनन्दन भरत की भ्रातृभक्ति प्रत्येक मानव को भ्रातृ भक्त बनने की प्रेरणा देती है। इसी प्रकार महाराज दिलीप की गो-भक्ति उनको अमर बनाये हुए है। चिर अनन्त काल से अविरल और अक्षुण्ण रूप में प्रवाहित यह लोक भक्ति धारा भक्ति का अनादित्व और अक्षुण्णत्व प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है।

इस मानव जगत की सृष्टि कब प्रारम्भ हुई, इस प्रश्न का उत्तर चाहे न भी दिया जा सके, किन्तु यह तथ्य अकाट्य है कि इसकी सृष्टि होती है। लय, प्रलय और महा प्रलय भी अवश्य होती है परन्तु इस मानव जगत का स्रष्टा, अनेकानेक लोक और लोक नायकों का स्रष्टा, निखिल ब्रह्माण्ड नायक-ईश्वर सदा सनातन एक रस बना रहता है। इसीलिये तो अनीश्वरवादी, निराकारवादी तथा घोर संसारी व्यक्ति भी उसे एकान्त सत्ता परात्पर सत्ता और अचिन्त्य सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। इस परात्पर ईश्वर में



एकान्त अनुरक्ति ही भगवद् भक्ति कही जाती है। भगवान में हेतु रहित निष्काम एकान्त निष्ठा युक्त प्रेम का नाम ही भक्ति है। इसी से आत्मा प्रसन्न होती है<sup>१</sup>।

### २.३. भक्ति का अनादित्व और अक्षुण्णता :

परमात्मा और भगवान संज्ञक ईश्वर नित्य एवं अचिन्त्य है तथा अगणित शक्तियों और अमित गुणों का आकर है। यहाँ पर यह नितान्त अविस्मरणीय है कि उसकी इन शक्तियों, इन गुणों को प्रकाशित करने का एक मात्र आधार उसके भक्त ही हैं। इस आधेय-आधार सम्बन्ध को देखते हुए भगवान के साथ ही भक्त का अनादित्व भी मानना पड़ता है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान को भगवान और भक्त को भक्त बनाये रखने वाला, दोनों को आकृतवान् बनाये रखने वाला सम्बन्ध-सूत्र 'भक्ति' भी अनादि है। भारतीय चिन्ताधारा का इतिहास इस तथ्य का जीवन्त प्रमाण है।

संस्कृत वाङ्मय के विपुलकाय भाण्डागार में वेद, उपनिषद्, आरण्यक आगम, पुराण, संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, तन्त्र और स्तोत्र ग्रन्थों का आलोड़न करने से निर्भ्रान्त रूप से ज्ञात होता है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही ईश्वर भक्ति विविध रूपों में तथा विविध परिवेशों में मानव हृदय को भगवान के सन्निकट पहुँचाती रही है। तंत्र साहित्य तथा स्तोत्र साहित्यागारों में प्राप्त शिवस्तोत्र, शक्ति स्तोत्र, सूर्य, गणपति तथा सरस्वती आदि के महिम्न स्तोत्र भक्ति के ही विविध परिवेश हैं।

#### २.३.१. वेदों में भक्ति :

भागवत धर्म के आचार्यों ने भक्ति का जो विवेचनात्मक स्वरूप उपस्थित किया है उसकी समग्र पृष्ठ भूमि वेद मंत्रों में विद्यमान है। आत्म निवेदन की अमल उर्वरा अवनी पर अंकुरित भक्ति के सभी अंगों के दर्शन वेद मंत्रों में होते हैं। इन मंत्रों में आत्म निवेदन के साथ ही कहीं विनय, कहीं विरह पीड़ा है, कहीं घर पहुँचने की अभिलाषा है, कहीं भक्त का दैन्य तथा साधन की अक्षमता है। कहीं विचारणा, व्याकुलता और पश्चात्ताप की भावनायें हैं तो कहीं पर प्रभु की उदारता, क्षमता, सुन्दरता, शरणागत वत्सलता और आश्वासन है। कहीं अपने पापों का स्मरण, कहीं उद्बोधन और कहीं समर्पण है। इस प्रकार से वेदों में उस अचिन्त्य सत्ता 'ईश्वर' का विविध रूपों में स्तवन किया गया है। यह निश्चित रूप से स्तोत्र हृदय के भक्ति भाव का ही प्रतीक है —

१. स वै पुंसां परोधर्मायतो भक्ति रघोक्षजे । अहेतुक्य प्रतिहताययात्मा स प्रसीदति ।।

ओं असतो मा सद्गमय ।। तमसो मा ज्योतिर्गमय ।।

मृत्योर्मा अमृत गमय । आविराषीर्म एधि ।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः<sup>१</sup>

### २.३.२. उपनिषदों में भक्ति :

उपनिषद ज्ञान चर्चा प्रधान हैं । यद्यपि ऐसे अनेक उपनिषद हैं जिनमें परब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप का ही प्रतिपादन किया गया है, किन्तु इस प्रतिपादन से इतना ही सिद्ध होता है कि परब्रह्म का स्वरूप निर्गुण निराकार भी है, केवल सगुण साकार ही नहीं । इस प्रतिपादन से यह व्यंजित नहीं होता कि उस समय भगवद् भक्ति का अभाव हो चला था । श्रुतियाँ इस प्रतिपादन के साथ ही सगुण साकार रूप का भी प्रतिपादन करती हैं । इस रूप के प्रतिपादन का उद्देश्य ही अंश रूप जीव को परब्रह्म की ओर उन्मुख करना तथा उसका नित्य सामीप्य प्राप्त करने के लिये उपासना में प्रवृत्त करना है । वृत्तियों का भगवदोन्मुख होना ही तो भक्ति है, जो कि उपनिषदों में दार्शनिकता से परिवेष्टित दिखाई देती है । यही कारण है कि रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी आदि भक्ति सम्प्रदायाचार्यों ने अपने अपने भक्ति सिद्धान्त की संस्थापना के लिये गीता और ब्रह्मसूत्र के साथ-साथ उपनिषदों को भी प्रस्थानत्रयी रूप में स्वीकार किया है । रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त तो श्वेताश्वेतर उपनिषद के निम्नांकित सूत्र पर ही आधारित है —

भोक्ता भोग्यं प्ररितारं च<sup>२</sup>

एवमपि-यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहणोति तस्मै ।

तर्हि देवमात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वैशरणं महं प्रपद्ये<sup>३</sup> ।

### २.३.३. ब्राह्मण ग्रन्थ और भक्ति :

ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, गोपद ब्राह्मण तथा आर्षेय ब्राह्मण, इन सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का ही प्रमुख रूप में वर्णन होते हुए भी दैन्य प्रपत्ति और भव सागर से पार होने की प्रार्थना के रूप में भक्ति भावना के अंगों का वर्णनाभास भी अवश्य मिलता है ।

### २.३.४. आगम और पांचरात्र में भक्ति :

वैखानस आगम और नारद पांचरात्र ये भागवत धर्म के सर्व प्राचीन और आधारभूत ग्रन्थ हैं । वैखानस आगम मरीचि ऋषि प्रोक्त है जो कि पांचरात्र साहित्य के

१. ऋ. वे.

२., ३. श्वे. उ., प्र. अ., १२ एवं ष. अ., १८



सात रचयिताओं में से एक हैं। ये दोनों ग्रन्थ श्री नारायण को परमदेव मानते हैं। मन्दिर निर्माण और प्रतिमा पूजन की पद्धतियाँ भी दोनों में लगभग एक जैसी ही वर्णित हैं; परन्तु वैखानस आगम वैदिकता प्रधान अधिक है।

ईश्वर संहिता, हयग्रीव संहिता, विष्णु तत्त्व संहिता, परम संहिता, पाराशर संहिता मार्कण्डेय संहिता, बृहद ब्रह्म संहिता, जयाख्य संहिता आदि-आदि संहिताओं में चार विषयों का वर्णन है। ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद। क्रियापाद में मन्दिरों और मूर्तियों की निर्माण विधि तथा चर्यापाद में पूजा का विधान वर्णन किया गया है।

पांचरात्र और संहिताओं में अर्चा का सांगोपांग वर्णन भक्ति भागीरथी का कलकल निनादपूर्ण कलित कल्लोल है।

### २.३.५. पुराणों में भक्ति :

अठारह पुराणों में से आधे से अधिक वैष्णव पुराण हैं। 'विष्णु' 'ब्रह्मवैवर्त' 'पद्म' 'भागवत' आदि पुराणों का वैष्णव धर्म या भक्ति आन्दोलन के इतिहास की सामग्री प्रदान करने में बहुत अधिक महत्व है। इन पुराणों में भगवान के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया गया है। समस्त पुराणों में श्रीमद्भागवत ग्रन्थ प्रमुख है। भागवत ने रुढ़ि गत भक्ति भावना में उद्दाम प्रेम एवं रोमांचकारी तत्वों का समावेश करारकर भक्ति को पूर्णतया हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के अनुसार कर दिया, यह उसकी मौलिकता है।

इस पुराण की एक विशिष्ट देन यह भी है कि इसने भक्त चरित्रों तथा भगवान की मधुर लीलाओं के माध्यम से लीला नायक भगवान श्री कृष्ण की नवधा भक्ति के साथ-साथ माधुर्य भक्ति किंवा प्रेमलक्षणा भक्ति का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

### २.३.६. गीता में भक्ति :

गीता में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों धर्म साधनाओं का समुचित विवेचन करते हुए भी अन्त में भक्ति को ही सर्वोपरि ठहराया गया है। तदर्थ उन दोनों उल्लेखों की ओर संकेत करना पर्याप्त होगा। पहला उल्लेख है अध्याय ग्यारह का जिसमें विश्व रूप दिखाने के बाद भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि "मेरे जिस रूप को तुमने देखा है उसका दर्शन अत्यन्त कठिन है। देवता लोग भी इस रूप को देखने की सदा इच्छा किया करते हैं। न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से, मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूँ जैसा कि मुझे तुमने देखा है। हे अर्जुन, हे परन्तप ! केवल अनन्य भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्त्वतः जाना और देखा जा सकता हूँ।"



दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख गीता के अन्तिम अध्याय में प्राप्त होता है। इस अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज" का उपदेश देते हैं जो इस बात का सबल प्रमाण है कि श्रीकृष्ण ने जिन-जिन साधना पद्धतियों का विवेचन गीता में किया है उन सबके ऊपर भक्ति है। और वह भक्ति शरणागति भाव की भक्ति है। ऐसा भाव आने पर भगवान् अर्जुन को विश्वास दिलाते हैं कि मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।

गीता के बारहवें अध्याय में निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का सुन्दरतम समन्वय करते हुए श्रीकृष्ण ने सगुण भक्ति को इसलिए महत्व दिया है कि यह सर्व साधारण द्वारा साध्य है जबकि निर्गुण भक्ति केवल ज्ञानी पुरुषों के लिए ही है।

आदि कल्प के प्रारंभिक युग में बृहस्पति का प्रादुर्भाव हुआ और ऋषियों ने सांगोपांग वेद तथा उपनिषदों सहित वह पांचरात्र शास्त्र उन्हें पढ़ाया। बृहस्पति ने चित्र शिखण्डियों के बनाये उन शास्त्रों को राजा उपरिचरि को पढ़ाया।

संस्कृत धर्म [भक्ति] की क्रम परंपरा का वर्णन करते हुए महाभारत प्रणेता लिखते हैं कि सृष्टि के आरंभ में ब्रह्माजी ने दक्ष प्रजापति को इस धर्म का उपदेश किया। दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दोहित्र आदित्य को, आदित्य ने अपने लघुभ्राता विवस्वान को, विवस्वान ने त्रेता युग के प्रारंभ में मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को इस धर्म की शिक्षा दी। इक्ष्वाकु ने विश्व भर में इस धर्म का प्रचार किया। गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारंभ में भी यही क्रम संक्षेप में दिया हुआ है।

## २.३.७. अन्य भक्ति शास्त्रों में भक्ति :

महाभारत के अनुसार नारद ने रहस्य और संग्रह सहित इस धर्म को साक्षात् नारायण से प्राप्त किया था। यह धर्म महान, सर्व प्रथम और सनातन है। यद्यपि इसके तथ्य को समझना और इसका पूर्णतः पालन करना कठिन है परन्तु भगवान् के भक्त इसे सदैव धारण करते हैं।

'नारद भक्ति सूत्र' तथा 'शांडिल्य भक्ति सूत्र' ये दोनों भक्ति ग्रन्थ भी सम्भवतः समय की परिधि से बाहर अत्यन्त प्राचीन हैं। नारद ने अपने भक्ति सूत्रों में शांडिल्य का नाम लिखा है अतः 'शांडिल्य भक्ति सूत्र' नारद भक्ति सूत्र से पूर्ववर्ती है। श्री नारद ने सूत्र सं. १६, १७ तथा ८३ में ब्रह्म कुमार सनक सनन्दनादि, व्यास, शुक, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु कौण्डिन्य, शेष, उद्धव अरुणी, बलि विभीषण आदि को भक्ति के आचार्य रूप में मान्यता



दी है। शांडिल्य ने कश्यप, बादरायण और जैमिनि के नाम सूत्र सं. २६, ३० और ६१ में दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि नारद और शांडिल्य से पूर्व कई आचार्य हो गये हैं जिन्होंने भक्ति के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन किया होगा किन्तु उनके ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

उपर्युक्त साहित्य के निर्माण काल तक भारतीय अध्यात्म चिन्ता का क्रमिक विकास तो अवश्य परिलक्षित होता है, किन्तु उसके साधन प्रणालियों की अनेकता-अनेक रूपता का प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, संस्कृत साहित्य के दर्शन काल से साधन प्रणाली की अनेक रूपता के दर्शन अवश्य होने लगे। इतना ही नहीं मुख्यतः षट् दर्शन [सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा जो कि आगे चलकर समस्त भारतीय अध्यात्मवाद की विविध साधनाओं के मूल उत्स सिद्ध हुए] के निर्माणकाल के अन्तिम क्षणों में ही एक ऐसी प्रतिकूल धारा का जन्म हुआ, जो कि अन्त तक की समस्त धाराओं के विरुद्ध पड़ती थी। इस धारा के मूल ग्रन्थों के नाम चार्वाक दर्शन तथा जैन दर्शन या नास्तिक दर्शन हैं। तत्कालीन जनता पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। इनका प्राप्त विपुल साहित्य ही इसका पुष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके बाद फिर बौद्ध दर्शन का जन्म हुआ है। इस धर्म ने कभी न भूलने वाली क्रान्ति को जन्म दिया। जिसका प्रभाव भारत पर ही नहीं प्रत्युत संसार के अन्य राष्ट्रों पर भी अमिट रूप से पड़ा। यह प्रभाव क्यों और किस प्रकार का पड़ा इसकी विशुद्ध विवेचना तो समय सापेक्ष और स्थान सापेक्ष है किन्तु फिर भी भारतीय अध्यात्म चिन्ता का क्षीण श्रोत अक्षुण्ण रूप से चलता ही रहा और एक दिन तो हमने यह भी देखा कि इन चार्वाक, जैन और बौद्धों का तूफान, तूफान बनकर ही रह गया। वे जितने जोर से उठे उतने ही जोर से—जिधर मुख मुड़ा—चले गये। शंकर के अद्वैत वाद के महावेग ने इस धर्म को भारत से उखाड़ फेंका या आत्म विलीन कर लिया। इस प्रकार भारतीय पूर्व चिन्तन धारा को पुनः अनुप्राणित किया। दो तीन शताब्दी तक इस अद्वैत वाद की खूब धूम रही। बारहवीं शताब्दी के आस पास अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, तभी दक्षिण में चार नये वादों [दार्शनिक मतों] का जन्म हुआ।

श्रीरामानुजाचार्य के द्वारा विशिष्टाद्वैत, श्रीमध्वाचार्य के द्वारा द्वैत, श्रीविष्णुस्वामी के द्वारा शुद्धाद्वैत और श्री निम्बार्काचार्य के द्वारा द्वैताद्वैत। इन चारों मतों में मतभेद होते हुए भी एक बात से सब सहमत हैं और वह है शंकर के अद्वैतवाद का विरोध। इन सभी आचार्यों ने अनुभव किया कि परम सच्चिदानन्द घन तत्त्व की प्राप्ति के लिये सरल और सुन्दर साधन भक्ति ही है। भक्ति के लिये जीव और ब्रह्म की एकता उपयुक्त नहीं इसके लिये जीव और भगवान इन दोनों की उपस्थिति आवश्यक है। इस उज्ज्वल आलोक में



आचार्यों ने अपने-अपने भक्ति मूलक दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना की जिन्हें प्राचीन भागवत धर्म स्वीकार करता था। आगे चलकर ये सम्पूर्ण भारतीय साधना के रूप को बदल देने में समर्थ सिद्ध हुए।

## २.४. भक्ति के साथ भक्ति काव्य का अनादित्व :

भगवान और भक्त की नित्यता तो निर्विवाद सत्य है ही किन्तु इसके साथ ही इन दोनों को दो और दोनों को एक [निकटतम] बनाये रखने वाला सम्बन्ध किंवा भक्ति भाव भी निर्भ्रान्त रूप से नित्य है। भाव ही रस बनता है। रस उद्वेलित और आन्दोलित होता है। रसान्दोलन की उत्तुंग अवस्था में ही भावोदगलन किंवा रसोदगलन होता है। आनन्दमयिता [रस से अभिन्न अवस्था] के क्षणों में निकले हुए उदगलन-रसात्मक वाक्य—को ही रस शास्त्र मनीषियों ने काव्य नाम से अभिसंज्ञात किया है। भक्ति को यदि भाव कल्लोलिनी के रूप में प्रकीर्तित किया जाय तो उसकी श्रवणानन्ददायी कल्लोल ध्वनि को काव्य कहा जाना कोई अनुचित और असंगत न होगा।

भारतीय चिन्तन धारा का इतिहास साक्षी है कि भक्ति की पुण्य पयस्विनी हमारे देश के लोक मानस को अनन्त काल से पावन करती हुई भक्तों के कण्ठों से आर्द्रवाक्य [रसार्द्र वाक्य या रसात्मक वाक्य] के रूप में संस्कृत, पाली, अपभ्रंश और हिन्दी वाङ्मय इन सभी में प्रस्फुटित हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति के साथ भक्ति काव्य भी अनादि है। उसका अनादित्व निर्भ्रान्त सत्य है। इन सभी भाषाओं में अवतरित भक्ति काव्य के प्रारंभिक इतिहास को प्रस्तुत करना हमें अभीष्ट भी नहीं है और वह स्थान सापेक्ष व समय सापेक्ष भी है। एतावता हम हिन्दी के क्षेत्र में अवतरित काव्य हिन्दी भक्ति काव्य—पर ही प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

### हिन्दी भक्ति काव्य -

हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहास लेखकों ने हिन्दी भक्ति काव्य का शुभारम्भ काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से माना है और इस भक्ति काव्य को निर्गुण भक्ति काव्य और सगुण भक्ति काव्य इन दो धाराओं में विभक्त किया है। इन सभी लेखकों ने यह भी उल्लेख किया है कि हिन्दी भक्ति काव्य की निर्गुण धारा के प्रतिष्ठापक कबीर थे और सगुण धारा को प्रौढ़ रूप देने वाले सूरदास एवं गो. तुलसीदास थे। विद्वानों की उपर्युक्त मान्यता से ही यह तथ्य व्यंजित हो जाता है कि हिन्दी भक्ति काव्य के क्षेत्र में निर्गुण भक्ति काव्य और सगुण भक्ति काव्य का सूत्रपात कबीर, सूर, और तुलसी के अनेक वर्षों पूर्व ही हो गया था। इनके पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों में रामानन्द, नामदेव, त्रिलोचन आदि के नाम विशेष



रूप से उल्लेखनीय है। यह तो हुई हिन्दी भक्ति काव्य के धरातल पर निर्गुण व सगुण भक्ति धारा के पदन्यास सम्बन्धिनी एक विशिष्ट बात किन्तु इससे पूर्व यहाँ निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति के क्रमिक विकास पर भी दृष्टिपात करना उचित होगा।

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में विवेचित किया जा चुका है कि परात्पर तत्त्व ब्रह्म, ईश्वर ओर परमात्मा से रति सम्बन्ध स्थापित करना ही भक्ति वाच्य होता है। अतः यहाँ सर्व प्रथम भक्ति के आलंबन स्वरूप परब्रह्म का स्वरूप विवेचन करना परमावाश्यक होगा।

## २.५. भक्ति का आलंबन : परब्रह्म :

वह परब्रह्म, परमतत्त्व, परमसत्, अनादि और अनन्त एकान्त सत् क्या है ? कहाँ रहता है ? और किस प्रकार से प्राप्त होता है ? इन सभी बातों के ज्ञान का उत्स वेद हैं। इसीलिए इन्हें वेद कहा जाता है।

धार्यमाण भक्ति ज्ञान आदि धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए मुख्य—स्वतः प्रमाण एकमात्र श्रुति हैं<sup>१</sup>। श्रुति विरुद्ध कोई भी वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। एतावता वेदों के महत्त्व में महाभारत में कहा गया है कि वेदों के ज्ञाता सब कुछ जानते हैं। क्योंकि वेद में सब कुछ प्रतिष्ठित है<sup>२</sup>। वेद वाणी दिव्य है, नित्य है एवं आदि अन्त रहित है<sup>३</sup>। महर्षियों ने वेदों की अपार महिमा व्यक्त करते हुए उसे साक्षात् नारायण माना है<sup>४</sup>।

वेदों के चार भाग माने जाते हैं —

(१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक और (४) उपनिषद्

एक अन्य दृष्टि से वेदों के तीन भाग कहे जाते हैं —

(१) उपनिषद् भाग (२) मंत्र भाग (३) ब्राह्मण भाग

विश्व के समस्त मानव समाज को नव चेतना देकर आत्यंतिक शान्ति प्रदान करने का श्रेय उपनिषदों को ही है। ये उपनिषद् साक्षात् कामधेनु हैं। ब्रह्म सूत्रों की रचना इन्हीं के आधार पर हुई है। उपनिषदों का प्रादुर्भाव वेद के अत्युच्च शीर्ष स्थानीय भाग से हुआ

१. धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

२. सर्व विदुर्वेद विदो वेदे सर्व प्रतिष्ठितं।

३. आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।

४. वेदो नारायणः साक्षात् स्वयं भूरिति शुश्रुम।

— म. स्मृ., २, १३

—म. भा., शा., २६०, ४३

—म. भा., १२, २३३, २४

है। जिन्हें प्रायः वेदान्त ब्रह्म विद्या या आम्नाय मस्तक कहते हैं। उपनिषदों ने उस परब्रह्म के स्वरूप का विशद और स्फुट निरूपण किया है।

## २.५.१. उपनिषदों में परब्रह्म का स्वरूप :

तैत्तिरीय उपनिषद की भृगु बल्ली [ भृगु-वरुण संवाद ] में ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जहाँ से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय में जीवित रहते हैं और अन्त में विनष्ट होकर जिसमें प्रविष्ट होते हैं उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये, वही परब्रह्म है <sup>१</sup>। इसी संदर्भ में ये भी कहा गया है कि — आनन्द ही ब्रह्म है क्योंकि आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीते हैं, और इस लोक से प्रयाण करते हुए [अन्त में] आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं <sup>२</sup>। इसी उपनिषद में अन्य स्थल पर ब्रह्म को सत्य ज्ञान और अनन्त रूप बतलाया गया है <sup>३</sup>।

बृहदारण्यक उपनिषद में ब्रह्म के स्वरूप का विशद विवेचन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं —मूर्त और अमूर्त <sup>४</sup>। इन रूपों में मूर्त मर्त्य है और अमूर्त अमृत है। ब्रह्म का जो रूप मूर्त है वही मर्त्य स्थित और सत है <sup>५</sup> ब्रह्म का अमूर्त स्वरूप ही अमृत है <sup>६</sup>।

इस प्रकार उक्त उपनिषद में ब्रह्म के साकार और निराकार दो रूप कहे गये हैं। अमूर्त ब्रह्म अतीन्द्रिय सत्य है वही निर्गुण ब्रह्म है किन्तु मूर्त ब्रह्म ही जगत रूप में उपलब्ध होता है। इन्हीं रूप विभागों के आधार पर सगुण और निर्गुण स्वरूपों की प्रतिष्ठा हुई है। इसी उपनिषद में ब्रह्म को विज्ञान और आनन्द स्वरूप बताया गया है <sup>७</sup>। इसी उपनिषद में कहा गया है कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ <sup>८</sup>। इसी उपनिषद में बताया गया है कि ये आत्मा ब्रह्म है <sup>९</sup>। इसी उपनिषद में कहा गया है कि मैं ब्रह्म हूँ <sup>१०</sup>।

१. तूँ हो वाच। यतो इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रययन्त्यभिसं विशान्ति तद्धि जिज्ञासाख तद् ब्रह्मेति। — तै. उ., ३. १

२. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धयेव खल्विमामि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

— तै. उ., [ब्रह्मानन्द बल्ली, षष्ठम् अनुवाक]

३. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

— तै. उ., २. १. १

४. द्वै वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्तचैवामूर्त।

— बृ. उ., ३०२. ३. १

५. मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यै तस्य स्थितस्यैस्यसत।

— बृ. उ., २. ३. ४

६. एतद्मृत मेतद्यदेतत्त्यन्तस्यै तस्य तस्यै तस्या मृतस्यै तस्यामृतस्यै तस्य।

— बृ. उ., २. ३. ५

७. विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

— बृ. उ., ३. ६. १८

८. अहं ब्रह्म अहं यज्ञः।

— बृ. उ., १. ५. ६१

९. अयात्मा ब्रह्म।

— बृ. उ., १. ५. ६१

१०. अहं ब्रह्मस्मि।

— बृ. उ., १. ४. ०१



उक्त उपनिषद में अन्य स्थल पर 'ऐसा [ब्रह्म] नहीं है, ऐसा नहीं है' भी आदेश किया गया है<sup>१</sup>।

मुण्डक उपनिषद में ब्रह्म का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा गया है कि वह दिव्य पूर्ण पुरुष आकार रहित, समस्त जगत के बाहर और भीतर व्याप्त, जन्मादि विकारों से अतीत, प्राण रहित, और मन रहित होने के कारण सर्वथा विशुद्ध है<sup>२</sup>। मुण्डकोपनिषदानुसार यह दृश्य जगत भी ब्रह्म ही है<sup>३</sup>।

छांदोग्य उपनिषद में ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए उसे नाम रूपों का धारण करने वाला कहा है<sup>४</sup>। इस उपनिषद ने इस चराचर [संसार] को ब्रह्म ही कहा है<sup>५</sup>। छांदोग्य उपनिषद के वर्णनानुसार ब्रह्म ही जीव रूप में प्रविष्ट हुआ है<sup>६</sup>।

ऐतरेय उपनिषद में प्रज्ञान [मन बुद्धि गोचर समस्त दृश्य विषय रूप] को ब्रह्म कहा है<sup>७</sup>।

श्वेताश्वेतरोपनिषद में परब्रह्म परमात्मा को एक स्थल पर तो आकार रहित और सब प्रकार के दोषों से शून्य बताया गया है,<sup>८</sup> तथा दूसरे स्थल पर यह भी कहा गया है कि उन सर्वेश्वर भगवान के सभी जगह मुख हैं सभी जगह सिर हैं और सभी जगह ग्रीवा हैं<sup>९</sup>। यह अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला अन्तर्यामी परम पुरुष सदा ही मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है<sup>१०</sup>। वह परम पुरुष हजारों सिर वाला हजारों आँख वाला और हजारों पैर वाला है<sup>११</sup>।

उक्त उपनिषद के अन्य स्थल पर इसी प्रकार उस परब्रह्म का स्वरूप निर्वचन करते

१. नेति नेति।

— बृ. उ., २, ३, ६

२. दिव्योद्भूतः मूर्तः पुरुषः सबाह्यम्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यामनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।

— मु. उ., २, १, २

३. ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

— मु. उ., २, २, ११

४. नाम रूपयो निर्विहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म।

— छां. उ., ६, १४, १

५. सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

— छां. उ., ३, १४, १

६. अनेन जीवतात्मनानुप्रविश्य।

— छां. उ., ६, १३, १

७. प्रज्ञानं ब्रह्म।

— ऐ. उ., ३, १, ३

८. ततोयदुत्तरतं तदरूपमनामयः।

— श्वे. उ., तृ. अ., १०

९. सर्वान्न शिरोग्रीवः सर्वमूतं गुहाशयः।

— श्वे. उ., तृ. अ., ११

१०. अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

— श्वे. उ., तृ. अ., १३

११. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्ष सहस्रपात्।

— श्वे. उ., तृ. अ., १४

हुए उसे एक ओर तो सर्वथा विशुद्ध निर्गुण बताया गया है<sup>१</sup> तथा दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि वह काल का भी काल और सम्पूर्ण दिव्य गुणों से सम्पन्न है<sup>२</sup>।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् के वर्णनानुसार वह ब्रह्म त्रिविध है। अर्थात् जड़ प्रकृति चेतन आत्मा और उन दोनों के आधार पर नियामक परमात्मा ये तीनों ब्रह्म के ही रूप हैं<sup>३</sup>। उक्त उपनिषद् में अन्यत्र जीव और ब्रह्म को सख्य भाव से नित्य शरीर रूपी वृक्ष पर बैठे दो पक्षी के रूप में वर्णन किया गया है और विशेष रूप से यह लक्ष्य कराया गया है कि उनमें से एक पक्षी [जीवात्मा] दुख-सुख भोगता है तथा दूसरा पक्षी [परमात्मा] केवल साक्षी बना रहता है<sup>४</sup>।

कठोपनिषद् ने परब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुए उसे आकार रहित अमृत स्वरूप और आनन्दमय कहा है<sup>५</sup>।

सारांशतः सभी उपनिषदों में परब्रह्म का कोई एक ही स्वरूप स्वीकार नहीं किया गया है प्रत्युत कहीं उसे निर्गुण निराकार और कहीं सगुण साकार रूप में प्रतिपादित किया गया है।

## २.५.२. गीता में परब्रह्म का स्वरूप :

‘गीता’ में भगवान श्रीकृष्ण मुखोद्गलित अपने अन्तरंग सखा अर्जुन के प्रति कहे गये वे उपदेश वाक्य हैं—वे प्रेरणा सूत्र हैं—जो कि अर्जुन को स्वात्मज्ञान कराकर युद्ध में संनिष्ठ होने के लिए दिये गये थे। स्वात्मज्ञान के सन्दर्भ में ही भगवान ने अर्जुन को अपने परब्रह्म स्वरूप का निकट परिचय भी दिया था। अपने परब्रह्म रूप का निरावरण परिचय देते हुए उन्होंने कहा है कि—मैं अज, अव्यक्त, अविनाशी और सर्वव्यापक हूँ<sup>६</sup>। अपनी इस सर्व व्यापकता को पूर्ण रूपेण हृदयंगम कराने के उद्देश्य से अर्जुन को विराट रूप में भी दर्शन दिया था। सगुण रूप का प्रतिपादन भगवान श्री कृष्ण के इस कथन —

१. [क] कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। — श्वे. उ., ष. अ., श्लो. ११
- [ख] निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं। — श्वे. उ., ष. अ., श्लो. १६
२. सविश्वकृद्विश्व विदात्म योनिज्ञः काल कालो गुणी सर्वविधः — श्वे. उ., ष. अ., श्लो. १६
३. भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च भव्य सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् — श्वे. उ., प्र. अ., श्लो. १२
४. हा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।  
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। — श्वे. उ., च. अ., श्लो. ६
५. अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोलिङ्ग एव च।  
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति। — कठो. उ., २, ३, ८
६. अजोऽपि सन्नव्यात्मा भूतानामीश्वरोऽपि यन् ।..... — श्री म. भ. गी., च. अ. श्लो. सं. ६



सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मां शुचः<sup>१</sup>।।

में बहुत ही स्पष्ट रूप से हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता में परब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का प्रतिपादन हुआ है।

### २.५.३. पुराणों में परब्रह्म का स्वरूप :

पुराणों में भगवान के सभी रूपों का उद्गान करते हुए उनके विशिष्ट अवतारों की प्रतिष्ठा की गई है। श्रीमद्भागवत पुराण इस अवतार प्रतिष्ठा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। श्रीमद्भागवत वर्णित राम-कृष्ण के लीला ललित रूप का प्रकृत प्रभाव प्रत्येक पाठक को यह कहने के लिए विवश जैसा अवश्य कर देता है कि पुराणों में परब्रह्म के सगुण साकार रूप का प्रतिपादन सशक्त रूप से किया गया है किन्तु यह एकान्त सत्य और अकाद्य तथ्य नहीं है। निर्भ्रान्त और निरापद तथ्य तो यह है कि पुराणों में उपनिषद और गीता की भाँति परब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों का प्रतिपादन किया गया है।



## तृतीय अध्याय

### ३. भक्ति की धारार्ये

#### ३.१. निर्गुण भक्ति धारा :

भारत वर्ष के सभी धार्मिक सम्प्रदायाचार्यो [अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैत सिद्धान्तो के प्रादुर्भावको] संतो और भक्तो ने वेद, उपनिषद, गीता और पुराणो आदि में वर्णित परब्रह्म के स्वरूपो में से किसी ने सगुण साकार रूप को और किसी ने निर्गुण निराकार स्वरूप को अपनी-अपनी उपासना का लक्ष्य-भक्ति भावना का आलंबन-स्वीकार किया है।

#### ३.१.१. निर्गुण भक्ति धारा के प्रवर्तक :

निर्गुण अद्वैत सिद्धान्त के मूल संस्थापक आचार्य शंकर ने यद्यपि ब्रह्म के निर्गुण और सगुण इन दोनों स्वरूपो को सम्मान दिया है; किन्तु अनेक स्थलो पर उन्होंने शिष्ट



भाषा में ब्रह्म के सगुण स्वरूप की आलोचना करते हुए ब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। अतः यह तो निर्विवाद है कि उन्होंने निर्गुण ब्रह्म को ही अपनी उपासना का आलंबन बनाया था।

### ३.१.२. आचार्य शंकर के शब्दों में निर्गुण ब्रह्म :

आचार्य शंकर ने ब्रह्म सूत्र के भाष्य में 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे इन शब्दों में परिभाषित किया है — 'ब्रह्मणात् ब्रह्म' व्युत्पत्ति से ब्रह्म में देश-काल वस्तु आदि से अपरिच्छिन्नता रूप नित्यता लक्षित होती है<sup>१</sup>।

एक स्थल पर उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप का व्याख्यान करते हुए कहा है कि अनेक कर्ता-भोक्ता युक्त क्रिया फल देशकाल और निमित्त जिसमें नियमित है जो सृष्टि का आधार है, मन से जिसकी रचना का विचार नहीं हो सकता, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान कारण है वह ब्रह्म है<sup>२</sup>।

आचार्य शंकर ने अपने 'विवेक चूड़ामणि' ग्रन्थ में कहा है कि परब्रह्म समस्त मायिक भेदों से रहित है नित्य सुख स्वरूप कला रहित और प्रमाणादि का अविषय है। वह अरूप अव्यक्त, अनाम, अक्षय स्वरूप और स्वयं प्रकाश्य है<sup>३</sup>।

शंकर ने ब्रह्म को जाति, कुल, नीति और गोत्र से परे कहा है। उनका कहना है कि 'ब्रह्म' नाम रूप गुण और दोष से रहित है। वह देश-काल और वस्तु रूपता से भी भिन्न है<sup>४</sup>। वह परब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञान, घन, निर्मल, आदि-अन्त रहित, अक्रिय और सदैव आनंद रस स्वरूप है<sup>५</sup>।

१. अतो ब्रह्मणाद ब्रह्मेति व्युत्पत्त्या देशकाल वस्तुतः परिच्छेदो भाव रूपं नित्यत्वं प्रतीयते।

— ब्र. सू. भा., र. प्र. टी., १, १, १

२. अनेक कर्तृ भोक्तृ संयुक्तस्य प्रलिनियत देशकाल निमित्त क्रिया फलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्य रचना रूपस्य जन्म स्थिति भंग यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद्।

— ब्र. सू. भा., १, १, २

३. निरस्त माया कृत सर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलम प्रमेयम्।  
अरूपमव्यक्त मनाख्य मव्ययं ज्योतिः स्वयं किंचिदिदं चकास्ति॥

— वि. चू., २४०

४. जातिनीतिकुल गोत्र दुरगं नामरूप गुण दोष विवर्जितम्।  
देशकाल विषयातिवर्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्यनि॥

— वि. चू., २५५

५. अतः परंब्रह्म सदा द्वितीयं विशुद्ध विज्ञान घनं निरञ्जनम्।  
प्रशान्तमाद्यन्त विहीनमक्रियं निरंतरानन्द रस स्वरूपम्॥

— वि. चू., २३६



आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म के दो रूप हैं। कहीं तो ब्रह्म का स्वरूप नाम रूपात्मक व जगत भेद इत्यादि उपाधियों से युक्त है और कहीं उसके विपरीत सब उपाधियों से रहित है<sup>१</sup>। उन्होंने केवल उपासना भेद के आधार पर ही साकार और निराकार का विभाजन किया है। उपासना के क्षेत्र में वह निर्विशेष निराकार चैतन्य स्वरूप ब्रह्म साकार और सविशेष हो जाता है किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में तो ब्रह्म निर्गुण निराकार और निर्विशेष ही है<sup>२</sup>।

आचार्य शंकर का मत है कि ब्रह्म वस्तुतः निराकार ही है<sup>३</sup>। परन्तु उपाधि के कारण ब्रह्म में आकारों की प्रतीति होती है<sup>४</sup>। जिस प्रकार प्रकाश किसी आकार युक्त आश्रय को प्राप्त करके तदाकार हो जाता है इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म गुणों से युक्त हो जाने पर साकार रूप धारण कर लेता है<sup>५</sup>। माया की प्रतिष्ठा करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्म प्रकृति अथवा माया से उसी प्रकार संस्पृष्ट नहीं होता जिस प्रकार मायावी तीनों कालों में भी अपनी माया से लिप्त नहीं होता<sup>६</sup>। माया में ब्रह्म का प्रतिविम्ब पड़ने से ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा होती है। माया से युक्त ब्रह्म जगत की सृष्टि करता है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्म सूत्र और उपनिषदों के भाष्यों में उपासना की दृष्टि से ब्रह्म के अवतार के संबंध में कहीं भी संकेत नहीं किया है परन्तु वे ब्रह्म के अवतार धारण करने की भावना के विपक्ष में भी नहीं दिखाई देते। गीता भाष्य के उपोद्घात में उन्होंने कहा है कि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि सम्पन्न भगवान यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव हैं तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति या वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से शरीर धारी की तरह उत्पन्न हुए से और लोगों पर अनुग्रह करते हुए दिखाई देते हैं<sup>७</sup>। आचार्य शंकर पुनः अपना मत प्रकट करते हैं कि जब अधर्म से धर्म दबने लगा और अधर्म की वृद्धि होने लगी, तब जगत की स्थिति सुरक्षित रखने की इच्छा से युक्त आदि कर्ता नारायण नामक श्री विष्णु भगवान

१. द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते नाम रूप विकार भेदोपाधि विशिष्टम्। तद्विपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितम्।

— ब्र. सू. भा., ३, २, १५

२. दे. ब्रह्मसूत्रभाष्य ३, २, २ एवं ३, २, २७

३. अरूपवदेव हि तत्प्रधानात्वात्।

— ब्र. सू. भा., ३, २, १४

४. उपाधीनां चाऽविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात्।

— ब्र. सू. भा., ३, २, १५

५. प्रकाशवच्चावैयर्थ्यामि यथा प्रकाश..... विरुध्यते

— ब्र. सू. भा., २, ३, १७

६. दे. ब्र. सू. भा., १२, १, २८

७. स च भगवान् ज्ञानेश्वर्य शक्ति बलवीर्य तेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणांति त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूल प्रकृतिं वशीकृत्य अजः अपिसन् स्व मायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते

— गी. भा. उ.



ब्राह्मणों की रक्षा के लिए श्री वसुदेव से देवकी के गर्भ में अपने अंश से श्रीकृष्ण के रूप में प्रगट हुए।

### ३.१.३. क्या निर्गुण भक्ति संभव है ? :

‘भज् सेवायाम्’ इस सूत्र के अनुसार ‘भक्ति’ शब्द का वास्तविक अर्थ है — सेवा। वैयाकरणिय दृष्टि से विचार करने पर भी भक्ति में सेव्य और सेवक इन दोनों का अस्तित्व व्यंजित हो जाता है, क्योंकि सेवा के लिए सेव्य और सेवक दोनों का होना अनिवार्य है। भक्ति के लिए भक्त और भगवान का होना अनिवार्य है।

अद्वैत सिद्धान्त के मूल संस्थापक आचार्य शंकर सुनिश्चित रूप से निर्गुण निराकारवादी हैं। ‘सर्व खल्विदं ब्रह्म’ ‘त्वमसि’ और ‘सोऽहं’ के उद्घोषक हैं। ऐसी स्थिति में उनके हृदय में राग [अनुराग] और इस राग के आलंबन सगुण साकार ब्रह्म [परमात्मा किंवा भगवान] की स्थिति की कल्पना कैसे की जा सकती है ? यह केवल व्यक्तिगत प्रश्न नहीं विद्वद् वृन्द के समक्ष भी एक समस्या है कि निर्गुण काव्य धारा का संबंध भक्ति भाव के साथ कैसे स्थापित हो सकता है ? राग या तो रूप, सौन्दर्य और गुण से होता है या उससे समन्वित व्यक्ति से। जिसमें ये विशेषताएं हैं ही नहीं उससे किस प्रकार संबंध स्थापित हो सकता है ?

भक्ति भाव का आलंबन तो शक्ति, सौन्दर्य, माधुर्य, औदार्य और ऐश्वर्य आदि का निधान भगवान है परन्तु जिस धारा में ‘एकमेव द्वितीयनास्ति’ का सिद्धान्त स्वीकृत है उस निर्गुण मत में भक्ति भाव का आलंबन आधार कैसे बनाया जा सकता है ?

आचार्य शंकर वीतराग सन्यासी थे। ऐसी स्थिति में ‘भूलोनास्ति कुतो साखा’ के न्याय से राग के आलंबन का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। सच बात तो यह है कि वे वीतराग सन्यासी होते हुए भी मानव जगत से समुत्थित महा मानव ही नहीं प्रत्युत युग-युग में धर्म संस्थापनार्थ तथा साधुजनों की रक्षा करने के लिए प्रकट होने वाले ऐसे साधूत्तम थे जिनका हृदय नवनीत के समान होता है; जो पर दुख दुखी और सबका कल्याण करने वाले होते हैं।

आचार्य शंकर ने देखा और अनुभव किया कि राग-द्वेष पुंजित जन सामान्य के लिए शुद्ध ज्ञान का मार्ग ही व्यापक रूप से ग्राह्य और बोध्य नहीं हो सकता है। इसीलिए

१. अधर्मेण अभिमूयमाने धर्मे प्रवर्द्धमाने च अधर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषु स आदि कर्ता नारायणारयो विष्णु भीमरय ब्रह्मणो ब्राह्मत्वरय रक्षणार्थं देवाक्यां वसुदेवाद् अंशेन कृष्णः किल सर्वभूव।

— गी. भा. उ.



उन्होंने जन सामान्य के लिए भक्ति को भी स्वीकार किया। अपने 'विवेक चूड़ामणि' ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि मुक्ति की सामग्री के रूप में भक्ति ही सबसे बढ़कर है। हाँ यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि उन्होंने राग पर आधारित 'ईश्वर भक्ति' के स्थान पर ब्रह्म लीन कर्त्री - 'स्वरूपानुसंधान भक्ति' को ही स्वीकार किया है<sup>१</sup>।

आचार्य शंकर ने जीव की व्यावहारिकता में भी उसके संसार धर्मित्व का तिरस्कार नहीं किया। कर्म और उसके फल के लिए जीव ईश्वर के आधीन है। अविद्या के कारण जीवत्व है अन्यथा नहीं। शंकर का मत है कि जीव और ईश्वर में यद्यपि समान धर्मित्व है किन्तु फिर भी जीव में अविद्या का व्यवधान है। यही कारण है कि जीव का ईश्वर धर्म तिरोभूत है<sup>२</sup>।

ब्रह्म सूत्रों में जीव को ईश्वर का अंश कहा गया है<sup>३</sup>। आचार्य शंकर के अनुसार जीव और ईश्वर में अग्नि और उसके विस्फुलिंग के समान भेद है। इन दोनों में भेद प्रतीत होते हुए भी उनकी ऊष्णता में अभिन्नत्व है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में चैतन्य साम्य है<sup>४</sup>। इस प्रकार का अभेद होते हुए भी इनमें भेद की प्रतिष्ठा की गई है। इस भेद से सेवक स्वामी भाव में भी विरोध नहीं है। ईश्वर निरतिशय है। आचार्य शंकर के अनुसार ईश्वर निरतिशय उपाधि से हीन, उपाधि वाले जीवों का शासक है<sup>५</sup>। यही कारण है कि उन्होंने सर्व साधारण जीव को सभी प्रकार के मायिक बन्धनों से विमुक्त होने के लिये भक्ति को सर्वश्रेष्ठ साधन बताया है।

शंकराचार्य ने जहाँ दार्शनिक सिद्धान्त निरूपण के क्षेत्र में ज्ञान मार्ग या ज्ञान योग की सर्वोत्कृष्टता के प्रतिपादन में अत्यन्त सबल एवं विवेक पूर्ण विचार उपस्थित किये हैं वहीं उनके द्वारा संप्रोक्त विविध देवी-देवों के स्तोत्रों में भक्ति भाव की मंजुल मन्दाकिनी का रसमय प्रवाह भी परिलक्षित होता है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान मार्ग की

१. मोक्ष कारण सामग्र्यां भक्ति रेव गरीयसी। स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्य परे जगुः।

— वि. चू. श्लो., ३३

२. तिरोहितमविद्या दिव्यवधानात्

— ब्र. सू. भा., ३. २. ५

३. अंशो नानाव्यपदेशादन्था चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।

— ब्र. सू. भा., ३. २. ५

४. चैतन्यं चाऽविशिष्टं जीवेश्वर योर्ययाग्नि विस्फुलिंग योरौराष्यायन्।

— ब्र. सू. भा., २. ३. ४३

५. निरतिशयोपाधि सम्पन्नश्चेश्वरो विहीनोपाधि समन्ना सम्पन्नाज्जीवान् प्रशास्तीति।

— ब्र. सू. भा., २. ३. ४५



साधना चाहे जिस प्रकार चलती रही हो किन्तु स्तोत्र साहित्य ने भक्ति भाव की पतवार को सदा सम्हाले रखा। 'श्री मद भगवन्मानस पूजनम्' शीर्षक स्तोत्र में आचार्य शंकर ने कहा है —

हृदम्भोजे कृष्णः सजल दल श्यामलतनुः। सरोजाक्षः सम्भी मुकुट कटकाद्याभरणवान्।  
शरद्राकानाथ प्रतिम वदनः श्री मुरलिकां। वहन् ध्येयो गोपीगण परिवृतः कुङ्कुमचितः<sup>१</sup>।  
सदा सेव्य कृष्ण सजल घन नीलः करतले। दधानो दध्यन्नं तदनु नवीनतं मुरलिकाम्।  
कदाचिद् गोपीनां कुच कलश पत्रालि रचना। समासक्तं स्निग्धैः सह शिशु बिहारं विरचयन्<sup>२</sup>।

इन श्लोकों में शंकर ने श्रीकृष्ण के जिस रूप का वर्णन किया है वह वही रूप है जिसकी प्रतिष्ठा सगुण भक्ति काव्य के कृष्णोपासकों ने की है।

अपने 'कृष्णाष्टक' में भी उन्होंने 'शरण्यो लोकेण मम भवतु कृष्णोक्षि विषयः'<sup>३</sup> कहकर कृष्ण के मधुरतम रूप को भक्ति का आलंबन बताया है।

आचार्य रचित 'पाण्डुरङ्गाष्टक' में भी इसी सगुण भावना की भक्ति भावमयी भूमि का अंकन हुआ है। आचार्य शंकर ने 'आत्म पंचक', 'विज्ञान नौका', 'आत्म बोध', 'हस्तामल स्तोत्र' आदि में अपने सैद्धान्तिक मतवाद का निर्देश करते हुए भी सगुण स्वरूप के सौन्दर्य, औदार्य, कारुण्य, वात्सल्य, वैभव, ऐश्वर्य अनंत शक्तिमत्ता आदि का भावपूर्ण उल्लेख किया है। यह उल्लेख सगुण स्वरूप के प्रति उनकी भक्ति भावना का ही व्यंजक है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

हम पूर्व पृष्ठों में लिख चुके हैं कि आचार्य शंकर ने राग पर आधारित सगुण स्वरूप की भक्ति, राग-द्वेष पुंजित जन सामान्य के लिए स्वीकार की। अपने लिए तो उन्हें 'स्वरूपानुसंधान भक्ति' [अपने स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति है] का सिद्धान्त ही भक्ति के रूप में मान्य है।

निर्गुण निराकार स्वरूप — अद्वैत ब्रह्म की उपासना [स्वरूपानुसंधान भक्ति] की प्रेरणा आचार्य शंकर को सुनिश्चित रूप से उपनिषदों से ही मिली होगी। 'केनोपनिषद्' में सुस्पष्ट शब्दों में घोषणा की गई है कि भजनीय वस्तु होने के कारण ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए — "तद्धनमित्युपासितव्यम्"<sup>४</sup>

तद् [ब्रह्म] वनम् [भजनीयम्] इति उपासितव्यम्।

१. २. म. मा. पू. श्लो. सं. ११, १०

३. कृ. अ. आ. शं.

४. केनो., ४, ६

आचार्य शंकर ने 'उपासना' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधारा के तुल्य समान वृत्तियों के प्रवाह से दीर्घ काल तक उसमें स्थित रहना उपासना कहलाता है<sup>१</sup>।

भक्त की भक्ति का एकमात्र लक्ष्य अपने भगवान का नित्य सामीप्य प्राप्त करना होता है। आचार्य शंकर ने इस नित्य सामीप्य को तैल धारावत अपने रूप का अनुसंधान करना कहकर उपासना और भक्ति को एकार्थक व्यंजित किया है। आचार्य शंकर की ये उपासना निश्चित रूपेण अद्वैत ब्रह्म के निर्गुण रूप की उपासना है। यही आगे चलकर निर्गुण भक्ति धारा के नाम से संरूढ़ हुई।

जैसा कि सर्व विदित है कि आचार्य शंकर निखिल भारत भूमि में विख्यात अद्वैत वादी थे। अप्रतिम निर्गुण परब्रह्म के उपासक थे फिर भी भक्त चरित गायकों ने उन्हें प्रातः स्मरणीय भक्त के रूप में ही स्मरण किया है<sup>२</sup>। क्यों ? बहुत अधिक स्पष्ट है कि निर्गुण ब्रह्म के प्रति पूर्ण सन्निष्ठ होते हुए भी उन्होंने कुछ ऐसे महान कार्य किये जो एक भक्त किंवा भगवान द्वारा ही संभव थे। इन्होंने वेदों का पुनः संस्थापन करके भक्ति की एक ऐसी उर्वरा भूमि तैयार की जिसमें भक्ति सम्प्रदायाचार्यों ने भक्ति का बीज वपन किया। इन्होंने सगुण स्वरूप का यशोगान करके सगुण स्वरूप के आराधकों को ही नहीं प्रत्युत सर्व साधारण को भी सगुण स्वरूपोन्मुख किया<sup>३</sup>। इन्होंने निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का भी उद्गम करके ज्ञान प्रधान मानवों को ज्ञानी भक्त बनाया।

आचार्य शंकर द्वारा समुद्भूत निर्गुण भक्ति काव्य की यह धारा विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में कुछ परिवर्तन के साथ संत काव्य के रूप में लोक प्रत्यक्ष हुई। यहाँ पर ये बात अविस्मरणीय है कि इस काव्य धारा ने अभी तक अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम संस्कृत को बना रखा था, इस काल में आकर उसने अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी भाषा को बनाकर एक नया मोड़ लिया। आचार्य शंकर से लेकर संत कबीर के मध्यकाल

१. उपासनं नाम यथा शास्त्रम् उपास्यतस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यम् उपगम्य तैलधारावत समान प्रत्यय प्रवाहेण दीर्घ कालं यद् आसनं तद् उपासनम् आचक्ष्ये।

— गी. भा., १२, ३

२. उत्सुंखल अज्ञान जिते अनईश्वर वादी। बुद्ध कुतरकी जैन और पाखंडहि आदी॥

विमुखनि कौ दियौ दंड ऐंचि सनमारग आने। सदाचार की सीव विश्व कीरतहि बखानें॥

ईश अंश अवतार महि मरजादा मौड़ी अघट। कलियुग धर्म पालक प्रगत आचारज शंकर सुमट॥

— भ. भा., ना. दा., छ. सं. ४२

३. विमुख समूह लैं कै किये सनमुख श्याम, अति अभिराम लीला जग विस्तारी है।

— भ. भा. स., टी-प्रि. दा., छ. सं. ११६



में यह धारा किन किन रूपों में विकसित हुई यह अनुसंधान के गर्भ में है और इसका अनुसंधान करना हमारा अभिप्रेत विषय भी नहीं है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों के शब्दों में इस धारा के प्रतिष्ठापक संत कबीर थे, किन्तु नानक जी के ग्रंथ साहिब में कबीरदास के पूर्ववर्ती नामदेव, रामानन्द, त्रिलोचन, सदना और बैनी आदि संतों के निर्गुण भक्ति सम्बन्धी कतिपय पद मिलते हैं<sup>१</sup>। कबीर ने भी अपनी रचनाओं में नामदेव जी का सादर स्मरण किया है<sup>२</sup>। रामानन्द जी तो कबीर के गुरु ही थे।

कबीर से पूर्व प्राप्त हिन्दी की निर्गुण भक्ति परक रचनाएं यह कहने को विवश करती हैं कि हिन्दी भक्ति काव्य के क्षेत्र में कबीर को इस धारा का प्रमुख किंवा उन्नायक तो कहा जा सकता है किन्तु प्रतिष्ठापक नहीं। हिन्दी भक्ति काव्य के क्षेत्र में निर्गुण भक्ति की प्रतिष्ठापना करने का श्रेय किसे मिलना चाहिए यह अनुसन्धेय है। जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में लिखा जा चुका है कि आचार्य शंकर द्वारा आविर्भूत निर्गुण भक्ति ही कुछ परिवर्तन के साथ हिन्दी भक्ति काव्य के क्षेत्र में संत काव्य के नाम से लोक प्रत्यक्ष हुई। यह परिवर्तन संत काव्य में भक्ति के सभी अंगों पर दिखाई देता है।

ये परिवर्तन हमें सर्वप्रथम संत कबीर की रचनाओं में दिखाई देता है। संत कबीर का पालन-पोषण मुस्लिम परिवार में हुआ था। उनका शैशव मुस्लिम संस्कृति की क्रीड़ा में पुष्ट होकर गतिवान बना था। उन्होंने गोरखपंथी एवं सूफी संतों का संग किया था और साथ ही रामानन्द जी से राम भक्ति की दीक्षा भी प्राप्त की थी। यही कारण है कि उनके मन मस्तिष्क और हृदय पर हठ योग, इश्क हकीकी अरूप ईश्वरवादिता तथा राम नाम गुण मूलक भक्ति का अमिट प्रभाव पड़ा। परिणामतः उनका परम तत्त्व ऐकेश्वर वाद और अद्वैत वाद के बीच कुछ विचित्र रूप से उलझा हुआ दिखाई देता है। साथ ही वह सगुण और निर्गुण के जाल में भी उलझ गया है। इतना ही नहीं इस परम तत्त्व की चिन्तन विधा-उपासना पद्धति किंवा भक्ति भी एक परिवेश वाली न होकर बहु परिवेश वाली हो गई है। यही कारण है कि संत कबीर और उनके परवर्ती सभी संत कवि उस परम तत्त्व का वर्णन विविध प्रकार से करते हैं। कहीं पर तो वे ब्रह्म के सगुण स्वरूप का भक्ति भाव

१. सबै घट रामु बोलै रामा बोलै रामा बिना को बोलै रे।  
सकल माटी कुंजर चींटी भाजन है बहु नान्हा रे॥  
अस थावर जंगम कीट पतंगम घटि घटि राम समाना रे।  
प्रणवै नामा भये निहकामा को ठाकुर को दासा रे॥

२. गुर प्रसादी जै दैउ नामा । मगति के प्रेम इनहि है जाना॥

— सं. का., प. च., पृ. सं. १२५

कबीर वानी, रागु गडड़ी ३६

से गुण गान करते हैं और कहीं उसकी सशक्त शब्दों में आलोचना भी करते हैं। कहीं पर वे अपने को तद्रूप कहते हैं तो कहीं दास और पुत्र बने दिखाई देते हैं। हाँ, यह निर्विवाद है कि परब्रह्म की अनेक रूपता के आलोक में भी वे उसके निर्गुण निराकार स्वरूप के प्रतिपादन में पूर्ण रूप से सचेष्ट रहे हैं।

### ३.१.४. संत काव्य में निर्गुण ब्रह्म :

ब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए संत कबीर ने कहा है कि—  
जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूपक रूप। पहुप वास थैं पाथला ऐसा तत्त अनूप<sup>१</sup>॥

एक स्थल पर उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की श्रेष्ठता बताते हुए लिखा है कि—

वेद कहै सरगुन के आगे निरगुन का विसराम<sup>२</sup>

दरिया साहब का भी कथन है कि—

तजि विकार आकार तजि निराकार कौं ध्याय। निराकार में पैठ कर निराधार लौं लाय॥  
अनुभौ झूठी थोथरी निर्गुण सच्चा नाम। परम ज्योत परचै भई तो धूँवा से क्या काम<sup>३</sup>॥

एक अन्य स्थल पर कबीर ने ब्रह्म को सभी कार्य-कारणों से रहित व्यक्त करते हुए उसके अवतार लेने का निषेध किया है —

ना दशरथ घर औतारि आवा। ना लंका का राव सतावा।  
देवकि कूख न औतारि आवा। ना जसुदा लै गोद खिलावा॥  
वामन होइ नहीं बलि छलिया। धरनी वेद ले न धरिया।  
गंडक सालिकराम न कोला। मच्छ कच्छ है जलहि न डोला॥  
बद्री वैस ध्यान नहीं लावा। परसराम है खत्री न सतावा।  
व्दारावती शरीर न छाँड़ा। जगन्नाथ लै पिंड न गाड़ा<sup>४</sup>॥

एक स्थल पर उन्होंने अवतारों को निरंजन से अभिन्न तो माना किन्तु उनकी उपासना न करने का परामर्श दिया है—

दस औतार निरंजन कहिये सो अपना ना होई<sup>५</sup>॥

१. क. ग्र., पीव पिछावन कौ अंग, ६

२. क. ग्र., सं., ६५

३. मारवाड़ वाले दरिया साहब की वानी, मिश्रित अंग

४. क. ग्र., रमैणी, पृ. सं., २४२

५. क. ग्र., पृ. सं., २४०



ये अवतारी पुरुष उस निर्गुण निराकार ब्रह्म के समक्ष सदैव हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। संत कबीर ने अपने 'साहब' की इसी महत्ता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि —

कोटि कृष्ण जहाँ जोड़े हाथ। कोटि विष्णु जहाँ नावें माथ॥  
कोटिन ब्रह्मा पढ़ें पुरान। कोटि महेश धरें जहाँ ध्यान॥  
कोटि ब्रह्म सरस्वती जहाँ धरें राग। कोटि इन्द्र जहाँ गगन लाग॥  
सुर गंधर्व मुनि गने न जाय। तहाँ साहब प्रगटे आप आय<sup>१</sup>॥

मारवाड़ वाले दरिया साहब ने भी इसी से मिलती जुलती बात कही है —

ब्रह्म- विष्णु- महेशुर- ईसा ते भी बंधे सेवा<sup>२</sup>॥

यह सत्य है कि इन निर्गुणी संतों ने ब्रह्म के सगुण स्वरूप व्यंजक नामों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है, परन्तु ये नामोल्लेख इसलिए किये गये हैं कि ये बहु परिचित नाम हैं तथा सामान्य जनों के लिए उनमें भाव संबंधी प्रेषणीयता अधिक है। वस्तुतः उनके द्वारा प्रयुक्त राम-कृष्ण-खुदा-करीम आदि शब्द सगुण या अवतारवाची न होकर निर्गुण निराकार ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त है—

निर्गुण राम जपहु रे भाई। अवगति की गति लखी न जाई<sup>३</sup>॥

इन संतो ने निर्गुण ब्रह्म का महत्व स्थापित करते हुए राम-कृष्ण आदि अवतार स्वरूपों को काल कवलित मनुष्य की श्रेणी में ही परिगणित किया है—

[क] राम कृष्ण परसुराम ने मरना किया कबूल<sup>४</sup>॥

[ख] मारै मरै न सिद्ध शरीरं। कृष्ण काल वश एकहि तीरं<sup>५</sup>॥

[ग] दस अवतार काल के जाना। जामें सारा जगत भुलाना<sup>६</sup>॥

[घ] दस औतार कहाँ ते आये किन रे गढ़े<sup>७</sup>॥

दादू दयाल ने मूर्ति तथा अवतारों की उपासना का निषेध किया है—

सोई देव पूजों जे टाँकी नहिं घड़िया। गरभ वास नहि औतरिया<sup>८</sup>॥२७॥

१. क. ग्र., पृ. सं., १५

२. मा. वा. द. सा. की वा. मिश्रित अंग

३. क. ग्र., पृ. सं., १०४

४. प. सा. की वा., भाग १, पृ. सं., ५४

५. सर्वगी [रज्जब] पृ. सं., ४४

६. घ. रा. पृ. सं., २८०

७. म. दा. की वा. शब्द—१

८. दा. द. की वा. भाग—१, प. सं. ३११

संत काव्य में ऐसे भी अनेक उल्लेख हैं जिनमें निर्गुण ब्रह्म को गुण युक्त बताते हुए उनके नाम स्मरण की प्रेरणा दी है—

कहत मलूका निर्गुण के गुण कोई बड़भागी गावै<sup>१</sup>।

सुमिरहु निर्गुण अजर नाम। सब विधि पूजै सकल काम॥

निर्गुण नाह से करहु प्रीति। लेहु काया गढ़ काम जीति<sup>२</sup>॥

संत काव्य की एक विशिष्ट देन रहस्यवाद है। हमारे अध्ययन से तो संपूर्ण संत काव्य ही एक रहस्य है और वह इसलिये कि जहाँ एक ओर ये संत कवि उस ब्रह्म को गुण रहित बताते हैं वहीं दूसरी ओर उसमें दयालुता, कृपालुता, भक्त वत्सलता और क्षमा शीलता आदि गुणों का आधान करते हुए उसकी शरण याचना भी करते दिखाई देते हैं।

संत कबीर ने भक्त प्रहलाद चरित्र-वर्णन के माध्यम से परब्रह्म की भक्त वत्सलता का चित्रण इस प्रकार किया है —

प्रहलाद पधारे पढ़न साल। संग सखा लीये बहुत बाल॥

मोहि कहा पढ़ावै आल जाल। मेरी पाटी लिख दै श्री गोपाल॥

मोहि कहा डरावै बार-बार। जिन जल थल गिरि कौ कियौ प्रहार॥

तब काढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ। तोहि राखनहारौ मोहि बताय॥

खंभा में ते प्रगट्यौ गिलारि। हरनाकुश माख्यौ नख विदारि॥

महा पुरुष देवाधि देव। नरसिंघ प्रगट कियौ भगति भेव॥

कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रहलाद उबाख्यौ अनेक बार<sup>३</sup>॥

संत दादूदयाल ने भी भगवान श्रीकृष्ण के पतितपावनकारी रूप और उनकी दयालुता का वर्णन करते हुए कहा है कि —

मुखि बोलि स्वामी तू अन्तरयामी तेरा शबद सुहावै राम जी।

धैनु चरावन बैन बजावन दरस दिखावन कामिनी।

विरह उपावन तपनि बुझावन अंगि लगावन भामिनी।

संग खिलावन रास बनावन गोपी भावन भू धरा।

दादू तारन दुरित निवारण संत साधारन राम जी<sup>४</sup>।

१. म. दा. की. वा.

२. बि. वा. द. सा. की वा., बसंत ६

३. क. ग्र., प. सं. ३६६

४. दा. द. की वा., शब्द ४२४



संत चरणदास ने भी भक्तों की रक्षा के लिए परब्रह्म का निर्गुण से सगुण होना कहा है —

निर्गुण सो सरगुण वपु धारै कष्ट निवारण काजै।  
योगश्वर जेहि ध्यान लगावैं नाम लिए अघ भाजै<sup>१</sup>॥

### ३.१.५. संत काव्य में भक्ति का स्वरूप :

संत काव्य में ऐसी रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं जिनसे सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि इन संतों ने आचार्य शंकर की चिन्तन विधा—उपासना पद्धति किंवा भक्ति में भी कतिपय परिवर्तन किये हैं। इन संत कवियों ने स्वरूपानुसंधान के साथ-साथ भाव मूला भक्ति को भी स्वीकार किया है। स्वयं कबीर ने ही अनेक स्थलों पर अपने को पुत्र, दास और बहुरिया तथा परब्रह्म को माता-पिता स्वामी और भरतार कहकर वात्सल्य भाव, दास्य भाव और मधुर भाव की स्वीकृति व्यंजित की है —

- [क] हरि जननी में बालक तेरा। काहे न औगुण बकसहु मेरा।  
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी। बालक दुखी दुखी महतारी<sup>२</sup>॥
- [ख] तहाँ मुझ गरीब की को गुदरावै। मजलसि दूर महल को पावै।  
तुम साहिब हम कहा भिखारी। देत जबाब होत बजगारी<sup>३</sup>॥
- [ग] बहुत दिनन थैं प्रीतम पाये। भाग बड़े घर बैठे आये।  
मंगलचार माँहि मन राखौं। राम रसाइ रसना चाखौं॥  
मंदिर माँहि भया उजियारा। ले सूती अपना पिव प्यारा।  
कहै कबीर मैं कछु न कीन्हा। सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा<sup>४</sup>॥

संत दादू दयाल ने भी इन भक्ति भावों को अपने हृदय में स्थान देकर स्फुट शब्दों में कहा है —

भगति माँगौं बाप भगति माँगौं<sup>५</sup>॥

तथैव —

मेरे गृह आवहु गुरु मेरा। मैं बालक सेवक तेरा॥  
मात-पिता तू अम्हचा स्वामी। देव हमारे अंतरयामी॥

१. भ. सा., शब्द वर्णन

२. क. प्र., प. सं. १११

३. ४. क. प्र., प. सं. ३३६ एवं २

५. दा. द. की वा., भाग २, पृ. सं. १७६

अम्हचा सज्जन अम्हचा बंधू। प्राण हमारे अम्हचा जिंदू॥  
अम्हचा प्रीतम अम्हचा मेला। अम्हचा जीवनि आप अकेला॥  
अम्हचा साथी संग सनेही। राम बिना दुख दादू देही<sup>१</sup>॥

इन संतों ने उपर्युक्त भक्ति भावना को अपनी व्यक्तिगत भक्ति भावना के रूप में ही व्यक्त न करके निर्गुण भक्ति के क्षेत्र में उसे सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है—

सतगुरु सिर पर राखिये निर्मल ज्ञान विचार॥  
प्रेम भगति करि प्रीति सौं सनमुख सिरजन हार<sup>२</sup>॥  
करै भक्ति भगवंत की करै कबहुँ नहिं चूक॥  
हरि रस में राचौ रहै साँची भक्ति मलूक<sup>३</sup>॥  
बिना भगति क्या होत है काशी करवत लेह॥  
मिटै नहीं मन वासना बहु विधि भरम संदेह<sup>४</sup>॥

यही कारण है कि संत कबीर के समकालीन तथा परवर्ती सभी संतों की रचनाओं में भावमूला भक्ति भावना स्पष्ट दिखाई देती है।

### ३.१.६. संत काव्य का अभीष्ट : निर्गुण ब्रह्म :

हिन्दी भक्ति काव्य की निर्गुण धारा के प्रतिष्ठापक कहे जाने वाले संत कबीर की रचना में एक ऐसा छन्द भी प्राप्त होता है जिसमें ब्रह्म के निर्गुण-सगुण रूप से पृथक् रूप का भ्रम होता है—

सर्गुण की सेवा करौ निर्गुण का करौ ध्यान।

निर्गुण-सगुण से परे तहाँ हमारा ध्यान<sup>५</sup>॥

कबीर की इस पंक्ति को लेकर डॉ. परशुराम चतुर्वेदी ने ये विचार प्रकट किये हैं—  
“कबीर यथार्थतः न निर्गुण वादी हैं न सगुण वादी। उनके अनुसार वह परम तत्त्व निर्गुण और सगुण इन दोनों से परे हैं और अनुभव में आने पर अनिर्वचनीय है”<sup>६</sup>

कोई व्यक्ति जब दो वस्तुओं में से एक वस्तु की आलोचना करता है, हेयता प्रदर्शित

१. दा. द. की वा. भाग २, पृ. सं. ४०६

२. दा. द. की वा., पंथीड़ा

३. म. दा. की वा.

४. ग. दा. की वा.

५. क. ग्र., पृ. सं. ११५

६. क. सा. की प., प. च., पृ. सं. ६२



करता है और दूसरी वस्तु की विशेषता, महत्ता और किसी प्रकार का ममत्व संबंध व्यक्त करके उसका गुण गान करता है; तो ऐसी स्थिति में बहुत अधिक स्पष्ट है कि जिस वस्तु को उसने महत् बताया है और उसका गुणगान किया है वही उसे अभीष्ट है दूसरी नहीं।

कबीर ने परम तत्त्व को निर्गुण-सगुण से परे तो कहा है किन्तु वे स्थल-स्थल पर सगुण साकार ब्रह्म की प्रखर आलोचना करते हुए दिखाई देते हैं और निर्गुण निराकार ब्रह्म की महत्ता नित्यता और परम सत्यता घोषित करते हुए उसे अपना 'पिउ' कहकर भी स्मरण करते हैं।

निर्गुणवादी संतों के इन हृदयोदगारों का गहन अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चाहे उन्हें निर्गुण और सगुण ब्रह्म से पृथक् सत्ता का आभास मिल भी गया होगा किन्तु वे वहाँ टिक नहीं सके। ये सभी संत अपने मन-बुद्धि और चिन्तन वृत्ति को वहाँ पर स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो सके। अन्ततोगत्वा इन्होंने परब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप को ही अपना परम गेय, ध्येय और प्रेय स्वीकार किया तथा अन्तरंग चतुष्टय से निर्गुण निराकार रूप में ही परिनिष्ठ हो गये।

## ३.२. सगुण भक्ति धारा :

### ३.२.१. संक्षिप्त परिचय एवं प्रवर्तक :

भक्ति भागीरथी की जो प्रकृत पावन पयस्विनी प्राचीन काल से चली आ रही थी, उस पयस्विनी में उसके उद्गम काल [अनादि काल] से ही परब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण रूप की कलित कान्ति परिलक्षित होती थी। पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि भक्ति भावना का सर्वप्रथम बीजारोपण करने वाले उपनिषदों में निर्गुण निराकार ब्रह्म की तो स्पष्ट घोषणा मिलती है पर साथ ही कुछ उपनिषदों में सगुण साकार ब्रह्म की भी उद्भावना दिखाई देती है। परब्रह्म के ये दोनों रूप गीता में भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। पुराणों में तो इन दोनों रूपों का व्याख्यान प्रचुर रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भागवत ग्रन्थों में ब्रह्म के दोनों रूपों को ही महत्त्व दिया गया था। किन्तु आचार्य युग आते-आते स्थिति कुछ बदलने लगी।

जगत्प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म के निर्गुण रूप की प्रतिष्ठा करके जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था वह भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त न था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता भी स्वीकार थी पर सगुण भक्ति के लिए जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी, वैसा दृढ़ आधार रामानुजादि वैष्णवाचार्यों के द्वारा ही विनिर्मित हुआ। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में ही भक्ति सम्प्रदायाचार्यों



द्वारा उपासना के क्षेत्र में निर्गुण निराकार ब्रह्म के स्थान पर सगुण साकार ब्रह्म की स्थापना की गई। सगुण भक्ति के आलंबन स्वरूप सगुण ब्रह्म का परिचय इन सभी आचार्यों ने इस प्रकार दिया है—

वह परब्रह्म सविशेष साकार तथा अनन्त नाम रूप गुणों से युक्त है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम नित्य तथा अनंत है। सगुण भक्ति के वैष्णवाचार्यों के मतानुसार उपनिषदोक्त निर्गुण का अर्थ निराकार तथा गुणों का अभाव नहीं है वरन इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म में सीमित शक्ति वाले जीव के गुण नहीं पाये जाते। जैसे राग-द्वेष आदि। ब्रह्म ही सृष्टि का निर्माण, पालन तथा संहार करने वाला है<sup>१</sup>।

वैष्णव धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में प्रथमतः व्याप्त होकर उत्तर भारत में वृद्धि पाने लगा। इस धर्म का प्रचार करने में चार महान आचार्यों ने सहयोग दिया। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत नामक भक्ति सिद्धान्तों की स्थापना की। इन चारों वैष्णवाचार्यों ने परब्रह्म को सर्वशक्तिमान पुराण प्राण विष्णु रूप में प्रतिष्ठित करके अपनी-अपनी उपासना पद्धति की नींव डाली। ये विष्णु सतो गुणी, दयालु, पोषक, स्वयंभू और व्यापक हैं; इसीलिए उनका सम्बन्ध जल से है जो सृष्टि के पूर्व सर्व व्यापक था। इसी कारण वे नारायण हैं<sup>२</sup>। वे शेषशायी होकर क्षीर सागर में शयन करते हैं। सगुण भक्ति के परवर्ती साहित्य में ये विष्णु ही अवतार रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। इस विष्णु रूप ब्रह्म की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं। ब्रह्मा के रूप में ये सृष्टि किया करते हैं, विष्णु रूप में सृष्टि का पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं एवं रुद्र रूप से सृष्टि का संहार किया करते हैं। यही वैष्णव धर्म की चरम भावना है। इस भावना की आधार शिला पर ही चारों वैष्णवाचार्यों का वैष्णव धर्म किंवा वैष्णवी उपासना स्थित है।

उपासना पाँच अंगों को लेकर ही पूर्ण होती है; और वे अंग हैं—उपास्य, उपासक, उपासनाविधा, साधक [सहायक] और बाधक तत्त्व। इन पाँच अंगों पर प्रकाश प्राप्त होने पर ही कोई भी उपासना पूर्ण रूपेण हृदयंगम की जा सकती है। यह ठीक है कि किसी उपासना विशेष का सर्वाङ्गीण स्वरूपालोचन उक्त पाँचों अंगों के सम्यक ज्ञान पर ही

१. [क] तल्लक्षणायेक्षायां सिद्धान्त माहअस्याऽचिन्त्य विचित्र संस्थान सम्पन्नस्या संख्येयनामरूपादि विशेषाश्रयस्या चिन्त्यरूपस्य विश्वस्य सृष्टि स्थितिलया यस्मात् सर्वज्ञाद्यनन्त गुणाश्रयाद् ब्रह्म शकलादि नियन्तुर्भगवतो भगवन्ति, तदेव पूर्वोक्त निर्वचन विषयं ब्रह्मेति लक्षण वाक्यार्थः।

— नि. मा.

[ख] साकारां सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञ सर्वकर्तृ च। सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदं जगत्।

— शु. मा., ८

२. आपो नाराः इति प्रोक्ताः आपो वै नर सूनवः। ताः यद् अस्यायनम् पूर्वं तेन नारायणः स्मृतिः।।

— म. स्मृ. १. [५]



आधारित है किन्तु यहाँ हमारा अभीष्ट सगुण भक्ति की प्रत्येक उपासनाओं के पाँचों अंगों पर प्रकाश डालना नहीं है; प्रत्युत सगुण भक्ति द्वारा भावित उपास्य के रूप पर प्रकाश डालना ही परमाभीष्ट है। प्रत्येक उपासना के उपास्य के नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर इन पाँचों अंगों पर भी विचार करना आवश्यक होता है। भारतीय उपासना मार्ग की दीर्घ कालीन परम्परा में हमें तत्त्वतः एक रूपता होते हुए भी उपास्य के विभिन्न रूपों में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

### ३.२.२. आचार्य रामानुज का उपास्य :

श्री रामानुजाचार्य ने अपने उपास्य [उपास्य का नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर] का सर्वाङ्गीण परिचय अपने 'गद्य त्रय' [शरणागति गद्य, श्री रंग गद्य और बैकुण्ठ गद्य] नामक ग्रन्थ में इस प्रकार दिया है—

**नाम —**

आचार्य चरण ने अपने परमोपास्य का स्वरूप परिचय देते हुए उन्हें श्री मन्नारायण, पुरुषोत्तम, रंगनाथ, शेषशायी और बैकुण्ठनाथ आदि नामों से स्मरण किया है।—

“जो परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, श्री रंगधाम में शयन करने वाले हैं वे मेरे स्वामी हैं<sup>१</sup>। जीव मात्र को शरण देने वाले श्री मन्नारायण ! मैं आपके युगल चरण—कमलों की शरण ग्रहण करता हूँ<sup>२</sup>। ककुत्स्थ कुल के गौरव श्रीमन्नारायण पुरुषोत्तम श्री रंगनाथ ! मेरे नाथ! मैं आपकी शरण में हूँ<sup>३</sup>।

**रूप एवं स्वरूप —**

आचार्य चरण ने अपने परमोपास्य का रूप चित्रण करते हुए कहा है कि—

“भगवान श्रीमन्नारायण के दोनों नेत्र तुरन्त खिले हुए कमलों के समान हैं। उनका दिव्य मंगल विग्रह निर्मल श्याम मेघ के समान है। वे अत्यन्त उज्ज्वल पीताम्बर धारण किये हैं। वे अत्यन्त निर्मल अत्यन्त शीतल [अत्यन्त कोमल] स्वच्छ माणिक्य की सी आभा से सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करते हैं। वे अचिन्त्य दिव्य अद्भुत नित्य यौवन स्वभाव एवं लावण्यमय अमृत के समुद्र हैं। अत्यन्त सुकुमारता के कारण उनका ललाट

१. परब्रह्म भूतं पुरुषोत्तमं, श्री रंग शायिनम् अस्मत्स्वामिनं।

२. निखिल जन्तु जात शरण्य । श्रीमन् नारायण । तव चरणारविन्द युगलं शरणमहं प्रपद्ये ॥

३. काकुत्स्थ! श्रीमन् नारायण! पुरुषोत्तम! श्रीरंगनाथ! मम नाथ नमोऽस्तुते

— रं. ग., ३

— रं. ग., २

— रं. ग., ७

कुछ पसीने की बूँदों से युक्त दिखाई देता है। बाँह तक फैली हुई उनकी दिव्य अलकावली शोभायमान है। भगवान के नेत्र विकसित कोमल कमल के समान सुन्दर हैं, उनकी भ्रूलता विभ्रम विलास से युक्त है। उनके अधर उज्ज्वल हैं, उनकी मुस्कयान पवित्र है, उनके कपोल कोमल हैं, उनकी नासिका उँची है.....। ऊँचे और मांसल कंधों पर लटकी हुई लटों—कुण्डलों के कारण भगवान की शंख सरीखी ग्रीवा सुन्दर लगती है<sup>१</sup>। वे अत्यन्त मनोहर किरीट, मुकुट, चूड़ामणि मकराकृत कुण्डल, कण्ठाहार, केयूर, कटक, श्री वत्स, कौस्तुभ, मुक्तादाम, कटिबंध, पीतांबर, काञ्चीसूत्र और नूपुर आदि अत्यन्त सुखद स्पर्श वाले दिव्य गन्ध युक्त आभूषणों से विभूषित हैं। श्रीमती वनमाला शोभा दे रही है। शंख, चक्र, गदा, असि और शार्ङ्ग धनुष आदि दिव्य आयुध उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं<sup>२</sup>।

आचार्य चरण ने अपने परमोपास्य श्री मन्नारायण का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि — आप समस्त हेय गुणों से रहित हैं। आप समस्त कल्याण गुणों के आकर हैं। अपने से भिन्न समस्त पदार्थों से आप विलक्षण हैं। अनन्त ज्ञान एवं आनंद के एकमात्र स्वरूप हैं<sup>३</sup>। आप स्वाभाविक असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, [मृदुता] आर्जव, [ऋजुता] सौहार्द, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, पराक्रम, सत्यकाम, सत्य संकल्प, कृतित्व [उपकारिता] कृतज्ञता आदि असंख्य कल्याण गुण समूह के महासागर हैं<sup>४</sup>। गुण विशेष का विचार किये

१. प्रत्यग्रोन्मीलित सरसिज सदशनयन गुगलं स्वच्छं नीलजीमूतसंज्ञांशं अत्युज्ज्वलपीतवाससं, स्वया प्रमया अति निर्मलया अतिशीलया [अति कोमलया] स्वच्छया माणिक्याभया कृत्स्नं जगद्भासयन्तम् । १२॥ अचिन्त्य दिव्याद्भूत-नित्य यौवन-स्वभाव लावण्यमयामृत सागरम् अति सौकुमार्या दीप्तप्रस्विन्नवदालक्ष्यमाण ललाट फलक दिव्यालकावली विराजितम् । १३॥ प्रबुद्ध मुग्धाम्बुज चारुलोचनं सविभ्रम भ्रूलत मुज्ज्वलाधरम् । शुचिस्मितं कोमल गण्डमुन्नसं..... । १४॥

— बै. ग.

२. अति मनोहर किरीट मुकुट चूड़ावतंसमकर-कुण्डल ग्रैवेयहार केयूर कटक-श्रीवत्स कौस्तुभमुक्ता दामोदर बन्धन-पीताम्बर काञ्चीगुण-नूपुरादिभिरत्यन्त सुख स्पर्शं दिव्य गन्धैर्भूषणैर्भूषितं, श्री मत्या वैजयन्त्या वनमालया विराजितं शंखचक्रगदासि शार्ङ्गादिदिव्यायुधैस्सेव्यमानम् । १५॥

— बै. ग.

३. अखिल हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण अनन्त ज्ञानानन्दैक स्वरूप !

— श. ग., १

४. स्वाभाविकानवाधिकातिशय-ज्ञान-बलैश्वर्य वीर्य शक्ति तेजस्मौशील्य वात्सल्य-मार्दवाज व सौहार्द—साम्यकारुण्य माधुर्य गाम्भीर्यौदार्य चातुर्य-स्थैर्य धैर्य शौर्य पराक्रम सत्यकाम सत्य संकल्प कृतित्व कृतज्ञताघ सङ्ख्येय कल्याण गुण गणौघ महार्णव !

— श. ग., ३



बिना आप सम्पूर्ण जगत को शरण देने के लिए प्रस्तुत हैं। शरणागत के समस्त दुःखों को दूर करने वाले हैं। शरणागत वत्सलता के एकमात्र समुद्र हैं<sup>१</sup>।

**लीला —**

आचार्य चरण ने अपने परमोपास्य श्रीमन्नारायण की स्वरूपभूत लीला पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि —

जिसका स्वरूप, स्थिति एवं प्रवृत्ति आपके संकल्पानुसार है, आपकी शेषता जिसका स्वभाव है, ऐसे प्रकृति, पुरुष और कालरूप विविध विचित्र अनन्त भोग्य, भोक्तृ वर्ग, भोगोपकरण एवं भोगस्थान रूप सम्पूर्ण जगत की सृष्टि स्थिति एवं प्रलय आपकी लीला है<sup>२</sup>। सम्पूर्ण चेतनाचेतन जगत की समस्त क्रियाओं के नियमन करने में आप संलग्न रहते हैं<sup>३</sup>।

**धाम -**

श्री रामानुजाचार्य ने अपने परमोपास्य नारायण के निज धाम बैकुण्ठ का सविस्तर वर्णन करते हुए लिखा है कि “जिसका स्वरूप एवं स्वभाव परम योगियों की वाणी और मन से परे है, जो आपके अभिमत विविध विचित्र अनन्त भोग्य भोगोपकरण एवं भोगस्थानों से सपन्न है, जो अनन्त आश्चर्यमय अनन्त महावैभव से सम्पन्न अनन्त विस्तार युक्त नित्य निरवधि एवं निरतिशय है; ऐसे बैकुण्ठ के आप स्वामी हैं”<sup>४</sup>।

एक अन्य स्थल पर आचार्य पाद ने लिखा है कि —

“इस ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन हैं। इसके उत्तरोत्तर दशगुणित सात आवरण हैं। यह समस्त कार्य कारण रूप जगत है। इससे परे है बैकुण्ठ धाम। परमव्योम इसी का एक नाम है। यह ब्रह्मा आदि की मन वाणी के लिए अगोचर है। लक्ष्मी के वैभव से संपन्न यह बैकुण्ठ दिव्य लोक है। यह बैकुण्ठ धाम ऐसे असंख्य दिव्य महात्मा पुरुषों से परिपूर्ण है

१. अनालोचित विशेषाशेष लोक शरण्य ! प्रणतार्तिहर ! आश्रित वात्सल्यैक जलधे !

— श. ग., २०, २२

२. स्वसंकल्पानुविधा चिरस्वरूप—स्थिति प्रवृत्ति स्वशेषतैक स्वभाव प्रकृति—पुरुष कालात्मक विविध विचित्रानन्त भोग्य भोक्तृवर्ग भोगोपकरण भोगस्थान रूप निखिल जगदुदय विमवलय लीला !

— श. ग., १०

३. अशेष चराचर भूतं निखिल नियमन निरत।

— श. ग., २३, २६

४. परिमयोगिवाङ्मनसापरिच्छेद्य स्वरूप स्वभाव स्वामिमत विविध विचित्रानन्त भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान समृद्धानन्तारचर्यान्तमहाविमवानन्त परिमाण नित्य निरवद्यानिरतिशय बैकुण्ठ नाथ।

— श. ग., ६

जिनका स्वभाव एवं ऐश्वर्य सनक, ब्रह्मा, शिव आदि के लिए भी अचिन्त्य है<sup>१</sup>।

बैकुण्ठान्तर्गत आस्थान मण्डप के मध्य में अनंत शेष विराजमान हैं। उनके अंक में महान दिव्य योगपर्यंक है जो पुष्पराशि के संचय से विचित्र रूप से सुशोभित हैं। उस पर भगवान श्री देवी के साथ विराजमान हैं<sup>२</sup>।

### परिकर —

बैकुण्ठ नाथ नारायण अपने जिस लीला परिकर के साथ विराजमान रहते हैं उसका सूक्ष्म परिचयात्मक वर्णन करते हुए श्री आचार्य चरण ने लिखा है कि —

“जो आपके संकल्प के अनुगामी हैं अनुरूप स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति के भेद से सम्पन्न हैं पूर्ण शेषता विषयक प्रीति से युक्त तथा नित्य, निरवधि, निरतिशय ज्ञान, क्रिया, ऐश्वर्य आदि गुणों से सम्पन्न हैं ऐसे शेष, विष्वक्सैन, गरुड़ आदि-आदि अनेक प्रकार के अनन्त परिजन एवं परिचारिकाएं आपके चरण-कमलों की परिचर्या करती हैं<sup>३</sup>।”

“अपने संकल्पमात्र से सम्पन्न होने वाले संसार की सृष्टि, पालन और संहार आदि के लिए भगवान ने अपना ऐश्वर्य विष्वक्सैन को समर्पित कर रखा है<sup>४</sup>।” श्रीरामानुजाचार्य ने एक अन्य स्थल पर बैकुण्ठाधिपति श्रीमन्नारायण के स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में उन्हें श्री देवी [लक्ष्मी] भूदेवी के प्रीतम और नायक कहकर स्मरण किया है<sup>५</sup>। इस प्रकार इन तीनों को श्रीमन्नारायण के आत्मपरिकर के रूप में सम्मानित किया है।

१. वर्तमाने परमव्योम शब्दाभिधेये ब्रह्मादीनां वाङ्मनसा गोचरे श्रीमति बैकुण्ठे दिव्य लोके सनक विधि शिवादिभिरप्यचिन्त्य।

— बै. ग., २

२. मध्ये पुष्प सञ्चय विचित्रिते महति दिव्य योग पर्यङ्के अनन्त भोगिनि।.....शील रूप गुण विलासादि-भिरात्मानुरूपयाश्रिया सहासीनम्।।

— बै. ग., १०-११

३. स्वच्छन्दानुवर्ति-स्वरूपस्थिति प्रवृत्ति भेदाशेष शेषतैकरति रूप नित्य निरवद्य निरतिशयज्ञान क्रियैश्वर्याद्यनन्त-गुण गण शेषशेषाशन गरुड़ प्रमुख नाना विधानन्त परिजन परिचारिका परिचरित चरण युगल।

— श. ग., ८

४. स्वसंकल्प भ्रातावक्लृप्त जगज्जन्मस्थिति ध्वंसादिके श्रीमति विष्ववसेने न्यस्त समस्तात्मैश्वर्यम्।

— बै. ग., १६

५. स्वाभिमत नित्य निरवद्यानुरूप-स्वरूप-रूप गुण विभवैश्वर्य शीलाद्यन वर्धिकातिशयासङ्ख्येय कल्याण गुण गण श्री बल्लभ ! एवम्भूत भूमि लीला नायक !

— श. ग., ६ - ७



### ३.२.३. मध्वाचार्य का उपास्य :

यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति सम्प्रदाय के चारों आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्त पृथक-पृथक हैं किन्तु यह भी निर्भ्रान्त सत्य और निरापद तथ्य है कि भक्ति सम्प्रदाय के आचार्य चतुष्टय ने सगुण साकार ब्रह्म को ही परात्पर तत्त्व स्वीकार किया है। साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि इस सगुण साकार ब्रह्म के विग्रहवान रूप बैकुंठाधिपति भगवान विष्णु ही हैं। यहाँ पर अविस्मरणीय यह है कि इस विष्णु रूप की सर्वोपरिता को प्रमाणित करने के लिए सभी आचार्यों ने निगम, आगम, संहिता, महाभारत और पुराणों को ही प्रमाण माना है।

आचार्य मध्व ने परमोपास्य का स्वरूप परिचय देते हुए उसे अनेक स्थलों पर विष्णु, नारायण, श्रीपति तथा हरि आदि नामों से अभिहित किया है। 'तत्त्व विवेक' ग्रन्थ के आधार पर उन्होंने लिखा है कि—परम तत्त्व विष्णु स्वतंत्र, समस्त दोषों से रहित, अखिल गुणों के आकर, एवं नियामक हैं<sup>१</sup>।

आचार्य मध्व ने 'महोपनिषद्' के आधार पर परमोपास्य विष्णु की सर्वोपरिता सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

“ब्रह्मा शिव इन्द्रादि क्षर कहलाते हैं, क्योंकि इनके शरीर नाशवान हैं, अनश्वर शरीर होने के कारण लक्ष्मी अक्षरा है, हरि इन दोनों से परे हैं<sup>२</sup>। ईश्वर [हरि] में स्वतंत्रता, शक्ति विज्ञान, सुख आदि सभी गुणों की असीम मात्रा होने के कारण सर्वदा सभी पदार्थ उनके वश में रहते हैं<sup>३</sup>।

विष्णु को सभी गुणों से परिपूर्ण जानकर, पुरुष संसार [आवागमन] से मुक्त हो जाता है, दुःख से रहित आनन्द का उपभोग करते हुए नित्य रूप से वह [पुरुष] परमात्मा के पास सुख भोग करता है<sup>४</sup>।

मुक्त पुरुषों के आश्रय विष्णु ही हैं, सर्वोच्च स्वामी वे ही हैं। उन्हीं के वश में

१. स्वतंत्र परतंत्र च द्विविध तत्त्वमिष्यते। स्वतंत्रो भगवान विष्णु निर्दोषोऽशेष सदगुणः॥

— स. द. सं., श्लो. ३८

२. ब्रह्मा शिवः सुराद्याश्च शरीर क्षरणात्क्षराः। लक्ष्मी रक्षरदेहत्वाक्षरा तत्परो हरिः॥

—स. द. सं., श्लो. ३६

३. स्वातन्त्र्यशक्ति विज्ञान सुखाद्यैरखिलैर्गुणैः। निः सीमत्वेन ते सर्वे तद्वशाः सर्व दैव च ॥

— स. द. सं., श्लो. ४०

४. विष्णुं सर्व गुणैः पूर्ण ज्ञात्वा संसार वर्जितः। निर्दुःखानन्द मुङ् नित्यं तत्समीपे स मोदते ॥

— स. द. सं., श्लो. ४१

सब सर्वदा रहते हैं। वे ही ईश्वर हैं<sup>१</sup>।

ईश्वर सेवा के नियम वर्णन संदर्भ में आचार्य मध्व ने लिखा है कि “उस सेवा के तीन भेद हैं—[१] अंकन [२] नामकरण तथा [३] भजन। उनमें अंकन वह है जिसमें भगवान् नारायण के रूप में स्मरण के लिए अपेक्षित लक्ष्य [मुक्ति] की सिद्धि के लिये उनके आयुध [शंख, चक्र, गदा, पद्म] आदि का चिन्ह शरीर के किसी भाग पर अंकित कर दिया जाय<sup>२</sup>। इन पंक्तियों से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य मध्व ने विष्णु का शंख चक्रादि आयुध धारी चतुर्भुजी रूप ही स्वीकार किया है।

‘नारायण श्रुति’ के आधार पर मुक्ति प्राप्ति का उपाय निश्चय करते हुए मध्वाचार्य ने लिखा है कि “विष्णु की कृपा बिना मोक्ष नहीं मिलता जैसा कि ‘नारायण उपनिषद्’ में कहा गया है—जिनकी कृपा पाकर परम दुःख रूपी इस संसार से लोग मुक्त हो जाते हैं दूसरे लोग [बिना कृपा पाये] नहीं। इस कर्म के जाल से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को उन परम नारायण का चिन्तन करना चाहिए”<sup>३</sup>।

उक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि मुक्ति विष्णु के चिरन्तन चिन्तन द्वारा ही प्राप्त होती है। एतावता आचार्य मध्व के चिन्तनीय भगवान् विष्णु ही हैं।

‘परम श्रुति’ का आधार लेकर आचार्य मध्व ने मुक्ति का स्वरूप निर्णय करते हुए लिखा है कि—“जैसा कि ‘परम श्रुति’ में कहा गया है—जीव की परम एकता का अर्थ है बुद्धि [ज्ञान] में समरूप हो जाना या एक ही स्थान पर रहना। बैकुण्ठ लोक में जीव और परमात्मा का एक साथ रहना ही जीव की एकता है, किन्तु यह निवास मूल स्थान के व्यंजक [बैकुण्ठ लोक] लोक को ही ध्यान में रखते हुए कहा गया है। [“एक साथ निवास करना” कहने पर बद्ध जीवों के साथ भी परमात्मा का रहना सम्भव है पर ऐसी बात नहीं। मूल स्थान अर्थात् बैकुण्ठ लोक में ही एक स्थान पर रहने का अभिप्राय है, इसीलिए ‘व्यक्ति’ स्थान का उल्लेख किया गया है”<sup>४</sup> ]

१. मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽधिपतिस्तथो। तद्वशा एव ते सर्वे सर्व दैव स ईश्वरः॥ इति च॥

— स. द. सं., श्लो. सं. ४२

२. सा च सेवा अंकन-नामकरण-भजन-भेदात् त्रिविधा। तत्राङ्गन नारायणायुधादीनां तद्रूप स्मरणार्थमपेक्षितार्थ सिध्यर्थं च॥

— स. द. सं., श्लो. सं. ३६

३. “मोक्षश्च विष्णु प्रसाद मन्तरेण न लभ्यते। यस्य प्रसादात्परमार्तिरुपादस्मात्ससारान्मुच्यते नापरेण॥ इति॥ नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्यो मुमुक्षुभिः कर्मपाषादमुष्मात्। इति नारायण श्रुतेः”॥

— स. द. सं., श्लो. सं. २८

४. तथा च परमाश्रुतिः—

जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धि सारूप्यमेव तु। एक स्थान निवेशो वा व्यक्ति स्थानमपेक्ष्य सः॥

— स. द. सं., श्लो. सं. ३२



उक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि आचार्य मध्व बैकुण्ठ धाम को ही विष्णु का स्वधाम मानते हैं और उसकी प्राप्ति करके भगवान विष्णु के साथ रहना ही मुक्ति है।

इस प्रकार मध्वाचार्य की उपास्य संबंधी अवधारणा का अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य मध्व के परमोपास्य बैकुण्ठाधिपति विष्णु हैं नारायण, श्रीपति, हरि आदि नाम भी उन्हीं के परिचायक हैं। शंख चक्रादि आयुध धृत चतुर्भुजी विष्णु समस्त दोषों से रहित, अखिलगुणों के आकर एवं नियामक हैं। इनका निवासस्थान [नित्यधाम] बैकुण्ठ है। आचार्य मध्व ने यद्यपि अपने चिन्तनीय विष्णु की किसी लीला विशेष तथा परिकर विशेष का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है किन्तु फिर भी इनके उपास्य सर्व शक्तिमान ईश्वर विष्णु को देखते हुये यह कहना असंगत न होगा कि सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि कार्य ही उनकी लीलायें हैं और लक्ष्मी [श्रीदेवी] भू देवी, नीलादेवी, गरुड़ आदि ही इनके लीला परिकर हैं।

### ३.२.४. आचार्य विष्णु स्वामी का उपास्य :

आचार्य विष्णु स्वामी के उपास्य का वास्तविक स्वरूप परिचय तो उनके ग्रन्थों के मिलने पर ही जाना जा सकता है किन्तु किंवदन्ती है कि—“विष्णु स्वामी ने कठिन तपस्या द्वारा भगवान वासुदेव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था; उसके बाद वे उसी रूप की मूर्ति बनवाकर उसके माध्यम से श्री कृष्ण की उपासना करते थे”<sup>१</sup>।

पुष्टि सम्प्रदायानुयायी विद्वानों की मान्यता है कि विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के आचार्य विल्वमंगल जी के पश्चात् श्री बल्लभ को विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की आचार्य गद्दी पर समासीन किया गया था;<sup>२</sup> जिनके परमोपास्य का विस्तृत परिचय ‘कृष्णभक्ति शाखा’ नामक शीर्षक से हम आगे के पृष्ठों में लिखेंगे।

### ३.२.५. निम्बार्काचार्य का उपास्य :

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार “निम्बार्क सम्प्रदाय का उद्भव श्री नारायण से है। इन लोगों की मान्यता है कि श्री नारायण के मुख से सनकादि महर्षियों को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हुआ। सनकादिकों ने ब्रह्मा के सन्मुख ब्रह्म ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट की। तभी हंसावतार भगवान नारायण ने प्रकट होकर उन्हें पंचपदी उपासना का रहस्य समझाया..... ‘विष्णुयामल’ ग्रन्थ में इस सम्प्रदाय के मूल गोपाल मंत्र के उद्गम के विषय में उल्लेख है कि भगवान श्री नारायण के मुख-कमल से अष्टदशाक्षर गोपाल मंत्र का प्रादुर्भाव हुआ;

१. स. प्र., पृ. सं. ५६, १०२

२. [क] स. क., पृ. सं. २८

[ख] कौ. का इ., पृ. सं. २८, २६ तथा ४६, ४७



जिसे सनकादिक कुमारों ने नारद को सुनाया और नारद ने इसी मंत्र की दीक्षा स्वशिष्य निम्बार्क को दी।

श्री निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी आधुनिक विद्वान निम्बार्काचार्य द्वारा प्रणीत 'वेदान्त पारिजात सौरभ', 'वेदान्त कामधेनु', 'कृष्णस्तवराज प्रपत्ति चिन्तामणि', 'सदाचार प्रकाश', 'गीतावाक्यार्थ', 'मंत्र रहस्य षोडशी', 'प्रपन्न कल्पवल्ली' और 'राधाष्टक' आदि ग्रन्थ बतलाते हैं, प्रचार और प्रसार भी कर रहे हैं; किन्तु विद्वज्जगत 'वेदान्त पारिजात सौरभ' को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थों को संदेह की दृष्टि से देखता है। निम्नान्त रूप से आचार्य द्वारा विरचित मानने को तैयार नहीं है। सारांशतः निम्बार्काचार्य द्वारा प्रणीत कहे जाने वाले ग्रन्थों की प्रामाणिकता विवादास्पद है।

लेखक को न तो निम्बार्क संप्रदाय की वर्तमान मान्यता से विरोध ही है और न ही मोह। तटस्थ होकर सम्प्रदायाचार्य की मूल मान्यता को प्रकाश में लाना ही उसका एकमात्र अभीष्ट है।

'वेदान्त पारिजात सौरभ' बादरायण व्यास कृत ब्रह्म सूत्र पर भाष्य है। अतः इसे निम्बार्क भाष्य भी कहते हैं। इस भाष्य ग्रन्थ में जीव जगत और ब्रह्म का स्वरूप निर्धारण किया गया है। इसी ग्रन्थ पर आचार्य चरण का 'द्वैताद्वैत' संज्ञक दार्शनिक सिद्धान्त आधारित है।

उपास्य का सर्वाङ्गीण रूप—नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर इन पाँचों अंगों को लेकर ही पूर्ण होता है। निम्बार्काचार्य द्वारा विरचित 'वेदान्त पारिजात सौरभ' में उपास्य के नाम और रूप का तो सांकेतिक उल्लेख है किन्तु लीला, धाम और परिकर का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता।

निम्बार्काचार्य ने इस ग्रंथ में परब्रह्म को रमाकान्त, पुरुषोत्तम और वासुदेव नाम से स्मरण किया है। इसी स्थल पर उनके स्वरूप का भी कथंचित संकेत मात्र किया है<sup>१</sup>। साम्प्रदायिक वैष्णव, सम्प्रदाय के उपास्य स्वरूप के निरूपण का आधारभूत ग्रन्थ 'वेदान्त कामधेनु' को बतलाते हैं। यद्यपि इस लघुकाय रचना को विद्वज्जगत निम्बार्काचार्य द्वारा विरचित नहीं मानता। कोई सम्पूर्ण रचना को ही विक्रम की १६ वीं शताब्दी की या उसके

१. अनन्ताचिन्त्य स्वभाविक स्वरूप गुण शक्त्यादिर्मिबृहन्तमो यो रमाकान्तः पुरुषोत्तमो ब्रह्म शब्दाभि-  
धेयस्तद्विषयिका जिज्ञासा सततं सम्पादनीयेत्युपक्रम वाक्यार्थः ॥१॥

— नि. भा.

तस्मात्सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्य शक्ति विश्व जन्मादि हेतुर्वैदैक प्रमाण गम्यः सर्वाभिन्नाभिन्नो भगवान वासुदेवो  
विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय स्तत्रैव सर्व शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः ॥४॥

— नि. भा.



अनिश्चित काल पश्चात् की रचना मानता है तो कोई इस रचना के चतुर्थ और पंचम श्लोक को ही प्रक्षिप्त मानता है। आचार्य चरण द्वारा विरचित अन्य प्रामाणिक रचना के अभाव में हमें विवशतः इस ग्रन्थ में समुपलब्ध सामग्री पर ही निर्भर होना पड़ रहा है।

निम्बार्कीय वैष्णवों की यह मान्यता है कि हमारे आचार्य ने 'वेदान्त कामधेनु' के चतुर्थ श्लोक में अपने उपास्य का स्वरूप निर्वचन किया है। वह श्लोक निम्नांकित है।

स्वभावतोऽपास्त समस्त दोष मशेष कल्याण गुणैकाराशिम्।

व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यम् ध्यायेम् कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्<sup>१</sup>।।

अर्थात् जो स्वभाव से ही समस्त दोषों से निर्लिप्त हैं, जो निखिल कल्याण-गुणों की एकमात्र राशि हैं, जो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध, चतुर्व्यूह में अंगी हैं जो परब्रह्म सर्वश्रेष्ठ हैं, कमल दल के समान प्रफुल्लित नेत्रों वाले, भक्तों के दुःखों को हरने वाले [ऐसे] श्री कृष्ण का हम ध्यान करते हैं।

श्रीमद्भागवतादिक पुराणों में कृष्ण के अनेक रूपों का वर्णन मिलता है। यथा – गोलोकाधिपति कृष्ण, ब्रजेश कृष्ण, [बाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण, गोपीजन बल्लभ कृष्ण] तथा वासुदेव कृष्ण [मथुरेश और द्वारकेश] आदि

उक्त श्लोक में सुस्पष्ट शब्दों में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूह के ब्यूहाङ्गी वासुदेव कृष्ण को उपास्य बताया गया है।

निम्बार्कीय वैष्णवों की यह भी मान्यता है कि — पुरुषोत्तमाचार्य ने अपने 'वेदान्त रत्न मंजूषा' नामक ग्रन्थ में 'व्यूहाङ्गिन' शब्द का अर्थ करते हुए कहा है कि —

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चतुर्व्यूह हैं इनमें अङ्गी वासुदेव कृष्ण हैं। ब्यूह शब्द अन्य अवतारों का भी उपलक्षण है। —

“तत्र व्यूहोनाम् श्री पुरुषोत्तमं विश्व सृष्ट्याद्यर्थं तथा विद्योपासनार्थं च व्यूहात्मनाऽवस्थितो भवति, वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नाऽनिरुद्धभेदेन चतुःसर्विधः।..... व्यूहशब्दोऽन्यावतार मूर्तिनाम्.....सर्वोपासनाम् त्रैवान्तभविमाह। व्यूहाङ्गिन मिति<sup>२</sup>।”

श्री हरिव्यास देवाचार्य द्वारा विरचित कही जाने वाली 'सिद्धान्त रत्नाञ्जलि' में भी 'व्यूहाङ्गिन' शब्द का यही अर्थ स्वीकार करके वासुदेव कृष्ण को अपना परम इष्ट कहा है —

“वासुदेव प्रद्युम्नानिरुद्ध संकर्षण रूप समुदायोव्यूहः। तस्याङ्गिनं कृष्णं वयं ध्यायामि इत्यर्थः<sup>३</sup>।

१. वे. का., श्लो. ४

२. वे. र. मं., पुरु., पृ. सं. १७३ से १७५

३. सि. र., ह. दे.

इसी प्रकार कोऽपि नंददास निम्बार्कीय द्वारा विरचित टीका में भी —

“व्यूहाङ्गिनं वासुदेव प्रद्युम्नानिरुद्ध संकर्षण रूपो व्यूहः। समुदायः तस्य अङ्गीवासुदेवश्चतुः करणं यस्य तमित्यर्थः<sup>१</sup>।”

निम्बार्क सम्प्रदानुयायियों की मान्यता है कि ‘वेदान्त कामधैनु’ की श्लोक सं ५ में श्रीकृष्ण के साथ वृषभानुजा [राधा] का भी स्वरूप चित्रण किया गया है। साथ ही उपास्य के परिकर का भी संकेत किया गया है। श्लोक इस प्रकार है —

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूप सौभगाम्।  
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवी सकल कामदाम्<sup>२</sup>।

अर्थात् “वामांग में तदनुरूप सुन्दर विग्रहवाली, हजारों सखियों द्वारा परिसेवित, समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली, प्रसन्न मुद्रा में विराजमान देवी वृषभानुजा का सदैव स्मरण करते हैं।”

आज इस श्लोक में ‘वृषभानुजा’ शब्द का उल्लेख दिखाई देता है किन्तु वेदान्त कामधैनु की सर्व प्राचीन कही जाने वाली टीका में टीकाकार पुरुषोत्तमाचार्य ने जो अन्वयार्थ किया है उसमें वृषभानुजा शब्द का अन्वयार्थ नहीं किया है। अपितु ‘लक्ष्मी रुक्मिणी’ शब्द का अन्वय किया है। —

“वय मुक्त लक्षणस्या घट घटना पटुतराचिन्त्यानन्तविचित्र शक्तिमतो भगवतः श्री कृष्णस्य वामाङ्गेनुरूप सौभगां लक्ष्मी-रुक्मिण्याख्यां सदा स्मरेम इत्यन्वयः<sup>३</sup>।”

टीकाकार ने श्लोक का अर्थ विस्तार करते हुए यह भी लिखा है कि जिस समय भगवान अवतार लेते हैं उस समय लक्ष्मी का भी आविर्भाव होता है। भगवान के विग्रह के अनुरूप ये लक्ष्मी; रूप को धारण करती हैं —

“देवत्वं देवदेहेयं मानुषत्वे च मानुषी विष्णोर्देहानुरुपां वै करौ त्वेषाऽऽत्मनस्तनुमिति। राघवत्वे भवेत् सीता, रुक्मिणी कृष्ण जन्मनि<sup>४</sup>।”

अर्थ विस्तार करने में तो टीकाकार स्वतंत्र होता है; किन्तु अन्वय करने में नहीं। अन्वय तो मूल श्लोक में उल्लिखित शब्दों का ही होता है। पुरुषोत्तमाचार्य द्वारा किये गये इस अन्वय को देखकर ही विद्वदगण यह कहने के लिए विवश होते होंगे कि उक्त

१. त. सा. प्र. टी., नं. दा.

२. वे. का., श्लो. ५.

३., ४. वे. र. मं., पुरु., पृ. सं. २४२, २४३



श्लोक में 'अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा' के स्थान पर 'अंगे तु वामे श्री रुक्मिणी मुदा' यह पाठ रहा होगा।

जैसा कि 'वेदान्त कामधेनु' के चतुर्थ श्लोक में आये 'व्यूहांङ्गिनं' शब्द का अर्थ वासुदेव, प्रद्युम्न संकर्षण और अनिरुद्ध ही है तथा इस चतुर्व्यूह में अंगी वासुदेव कृष्ण ही हैं [नन्दनन्दन कृष्ण नहीं] इन वासुदेव कृष्ण के वामांग में रुक्मिणी-सत्यभामादि महिषियों का विराजमान होना ही शास्त्र सम्मत है; वृषभानुजा-राधा का नहीं।

'वेदान्त कामधेनु' के श्लोक सं. ८ में स्वेष्ट के प्रति अपनी अविचल और एकान्त अनन्य निष्ठा व्यक्त करते हुए यह लिखा गया है कि श्री कृष्ण चरणारविन्दों के अतिरिक्त मेरी अन्य कोई गति नहीं है —

नान्या गतिः कृष्ण पदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्म शिवादि वन्दितात्<sup>१</sup>।

बहुत अधिक स्पष्ट है कि 'वेदान्त कामधेनु' रचयिता की एकान्त निष्ठा श्री कृष्ण में ही है; किसी युगल स्वरूप में नहीं।

“वासुदेव श्रीकृष्ण के साथ वृषभानुजा की संप्रतिष्ठा निम्बार्काचार्य ने की है”, यह बात विद्वानों के गले इसलिए भी नहीं उतरती क्योंकि उन्होंने अपने सेव्य [शालिग्राम विग्रह] का नाम 'सर्वेश्वर' रखा है; राधा सर्वेश्वर नहीं। किन्तु अब कुछ दिनों से ही इन्हें राधा सर्वेश्वर कहा जाने लगा है। निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी निम्बार्क शरण देवाचार्य ने भी स्वरचित कृति 'सर्वेश्वर प्रपत्ति' के प्रथम श्लोक में सर्वेश्वर प्रभु को अपने कुल का देव बताया है<sup>२</sup>।

“वासुदेव कृष्ण के साथ वृषभानुजा की संप्रतिष्ठा निम्बार्काचार्य ने की है” यह बात विद्वानों के गले न उतरने का एक कारण यह भी है कि भारतीय चिन्तन धारा के इतिहास में राधा रूप की कोई झलक ही वि. की १२वीं सदी तक दिखाई नहीं देती। इसलिए भारत के सभी विद्वानों ने निम्नान्त रूप से यह स्वीकार किया है कि उपासना के क्षेत्र में श्री कृष्ण के साथ राधा की संप्रतिष्ठा १२वीं सदी के पूर्व नहीं हुई थी। और निम्बार्क सम्प्रदाय की मान्यतानुसार निम्बार्काचार्य उस समय से बहुत पहले ही तिरोहित हो चुके थे।

इस प्रकार निम्बार्काचार्य की उपास्य संबंधी अवधारणा का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निम्बार्काचार्य के परमोपास्य वासुदेव कृष्ण हैं जिनके सर्वेश्वर, पुरुषोत्तम और रमाकान्त नाम भी हैं। ये कमल जैसे नेत्र वाले हैं और अशेष

१. वे. का., श्लो. ८

२. कृष्णं सर्वेश्वरं देवमस्माकं कुलदेवतम्॥ स. प्र., श्लो. सं. १



कल्याण गुणों की राशि हैं। निम्बार्काचार्य ने अपने परमोपास्य की लीला, धाम और परिकर का कोई सांकेतिक उल्लेख भी नहीं किया है।

### ३.२.६. सगुण भक्ति के क्षेत्र में अवतार भक्ति की प्रतिष्ठा :

#### ३.२.६.१. राम भक्ति शाखा :

दार्शनिक सिद्धान्त की भित्ति पर आधारित सम्प्रदाय चतुष्टय के भक्ति मार्गों का प्रभाव यथोचित रूप में पड़ा। उस समय पंडितों के शास्त्रार्थ होते थे। दार्शनिक खंडन-मंडन के ग्रन्थ लिखे जाते थे। ब्रह्म सूत्र, उपनिषद तथा गीता पर भाष्य लिखने की परंपरा विद्वद् मंडली में चल रही थी। साधारण जन समाज में भी विशेष चर्चा वेदान्त की ही थी। सम्प्रदाय चतुष्टय के ये भक्ति मार्ग परम तत्व के ऐसे रूप के ही निकट ले जाने में सक्षम थे जिस रूप से सर्व साधारण का निकट संबंध [भाव संबंध] स्थापित नहीं हो सकता था। उस समय मानव को जगत की निःसारता का ज्ञान हो चला था और वह सगुण साकार ब्रह्म की कृपालुता, दयालुता और भक्त वत्सलतादि गुणों से परिचित भी हो चला था — अतः वह उनकी ओर सन्मुख तो हो गया था किन्तु सर्व साधारण मानव वेदान्त वेद्य और विद्वद् वेद्य ब्रह्म के उस रूप के निकट पहुँचने में अपने को असमर्थ पाता था जो कि अपनी षटैश्वर्य सम्पन्न रूप की सीमा में ही समाबद्ध था। ब्रह्म के इस रूप से संबंधित साहित्य का सृजन एकमात्र संस्कृत भाषा में ही होता था जो कि ब्राह्मण समाज की अधिकृत भाषा मानी जाती थी। फलतः ब्राह्मण समाज के अतिरिक्त सर्वसाधारण जगत उससे लाभान्वित नहीं हो पाता था। केवल दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रसार-प्रचार के परिणाम स्वरूप उस भावमूला भक्ति का सर्वथा अभाव था; जिसका एक छोर मानव मात्र के हृदय में हो तथा दूसरा भगवान के हृदय में हो।

सर्व साधारण मानव को तो ऐसे भगवद् रूप की आवश्यकता थी जिसके पास उसका मन बिना किसी बाधा के ही जा सके। जिसे अपना प्रेमपात्र बनाने में उसे संकोच, भय और असमर्थता आदि जैसी बाधाएं उपस्थित न हों। उसे एक ऐसे रूप की आवश्यकता थी जो कि लोक रंजक हो तथा लोक निकट हो और जिसे देखकर उसे प्रेमपात्र बनाने के लिए वह लालस मानस हो सके। उसे ऐसे रूप की आवश्यकता थी जो कि मानव मन, बुद्धि, इन्द्रिय और हृदय के निकट रहा हो और आज भी रह सकता हो। जिससे वह अपने मन की बात अपनी सहज भाषा में कह सके।

भारतीय जनता का अधिकांश भाग विदेशी आक्रान्ता और धर्मान्ध यवन शासकों की दुर्दम यातनाओं से पीड़ित तो था ही, उस धार्मिक आन्दोलन से शक्ति प्राप्त ब्राह्मणवाद ने जाति-पाँति और छुआछूत जैसी घृणित भावना को और भी सशक्त बना दिया था। इस प्रकार बाह्यान्तर से संत्रस्त जनता भगवान से अपने परित्राण की प्रार्थना मन ही मन में कर रही थी। अशरण शरण भगवान ने उनकी यह प्रार्थना सुन भी ली और तभी



चौदहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित श्री सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही स्वामी रामानंद जी नामक महापुरुष का आविर्भाव हुआ। उन्होंने तत्कालीन जनता की इस संकटापन्न स्थिति से दयाद्र होकर उपासना के क्षेत्र में भगवान के ऐसे रूप की प्रतिष्ठा की जो कि लोक के अति निकट था। मानव की मन और बुद्धि से अदूर था। जो कभी अयोध्या नरेश महाराज दशरथ के घर पुत्र रूप में प्रत्यक्ष हुआ था। जो अपने चारु चरित्रों के द्वारा एक आदर्श महापुरुष और मर्यादा पुरुषोत्तम राम के नाम से अभिसंज्ञात हुआ था। और जिस रूप के साथ मानव का दास्य भाव का सहज संबंध भी स्थापित हो सकता था। इस रूप को पाकर मानव अपनी सहज गति से उस रूप की ओर चल पड़ा और उस रूप के साथ दास्यभाव का सहज संबंध भी स्थापित कर लिया।

### ३.२.६.१.१. प्रतिष्ठापक आचार्य रामानंद का उपास्य :

स्वामी रामानंदजी, रामोपासना के इतिहास में एक युग प्रवर्तक आचार्य थे। उसे एक संगठित तथा स्वतंत्र सम्प्रदाय का रूप देना इन्हीं का कार्य था। स्वामी रामानंद ने श्री सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैत दर्शन और प्रपत्ति सिद्धान्त का आधार लेकर रामावत सम्प्रदाय का संगठन किया। इसमें उन्होंने अनेक नये विचार रखे जो पुराने मत के विरुद्ध पड़ते हुए भी सामयिक परिस्थिति के अनुकूल और लोकोपयोगी थे। स्वामी जी ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार में परम्परागत संस्कृत भाषा के साथ-साथ हिन्दी अथवा जन भाषा को भी अपनाया। आचार्य रामानंद जी द्वारा विरचित कहे जाने वाले 'वैष्णव मताब्ज भास्कर', 'रामार्चन पद्धति', 'रामरक्षा स्तोत्र', 'सिद्धान्त पटल', 'ज्ञान लीला', 'ज्ञान तिलक' और योग चिन्तामणि इन ग्रन्थों में से 'वैष्णव मताब्ज भास्कर' ही असंदिग्ध रूप से विद्वद समाज में रामानंदजी कृत माना जाता है। इस ग्रंथ के 'रामचन्द्र ध्यान स्वरूप' नामक तृतीय प्रकरण में स्वामी रामानंदजी ने लिखा है कि —

जो आपाद लम्बित भुजाओं में धनुष बाण धारण किये हुए हैं, जनकसुता जननी दृग पांग से समीक्षित हैं, जिनका सस्मित मुखांबुज परम मनोहर है, जिनका घनश्यामांग हार और अंगदादि भूषणों से सुशोभित है, जो कृपा के समुद्र, गुणों के आकर और प्रणत जनों पर अनुग्रह करने वाले हैं, जिनका मुख-कमल प्रसन्नता पूर्ण और लावण्यता पूर्ण है, जो नरोत्तम हैं और मनुष्यों के एकमात्र शरण्य स्थान हैं, अनुज सहित और सीता सहित ऐसे श्रीराम का मैं स्मरण करता हूँ —

विकच पद्म दलायत वीक्षणं, विधिमवादि मनोहर सुस्मितम्।

जनकजा दृग पाङ्ग समीक्षितं, प्रणत सत्समनु ग्रह कारिणम्१।।



मुनि मनः समधुव्रत चुम्बित स्फुट लसन्मकरन्द पदाम्बुजम् ।  
 वलवदद्भुत दिव्य धनुःशराऽऽमहित जानु विलम्बि महाभुजम्<sup>१</sup> ।।  
 परार्ध्य हाराङ्ग चारु नूपुरं सुपद्म किंजल्क पिसङ्ग वाससम् ।  
 लसद् घनश्याम तनुं गुणाकरं कृपार्णवंसद् दयाम्बुजासनम्<sup>२</sup> ।।  
 प्रसन्न लावण्य सुमृदु मुखाम्बुजं, नरं शरण्यं नरोत्तमम् ।  
 सहानुजं दशरथिम्महोत्सवं स्मरामि रामं सह सीतया सदा<sup>३</sup> ।।

आचार्य रामानंद जी के उक्त ध्यान वर्णन से स्पष्ट है कि उन्होंने अपने उपास्य का नाम — श्रीराम, श्यामांग, धनुर्धारी रूप, पिता अयोध्या नरेश दशरथ, जनक सुता सीता और सभी अनुजों को उनका परिकर स्वीकार किया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उनके श्री राम प्रणत पालक, गुणाकर और नरोत्तम होते हुए भी जीवमात्र के शरण्य स्थान पूर्ण ऐश्वर्यशाली भगवान हैं।

उक्त श्लोकों से यह भी ध्वनित होता है कि आचार्य रामानंद ने प्रणत पालक श्री राम की उपासना दास्य भाव से करना स्वीकार किया है। उनके इस ग्रन्थ में उपास्य की लीला और धाम का कोई संकेत नहीं मिलता किन्तु 'रामार्चन पद्धति' के प्रारंभिक दो श्लोकों में भगवान श्री राम को साकेतनाथ के नाम से प्रकीर्तित करते हुए साकेत धाम को उनका निवास स्थान बतलाया गया है और अन्य द्वारपालों के साथ सेवक हनुमान जी को परिकर रूप में स्मरण किया गया है —

साकेतं दिव्य लोकं सुरतरुमतुलं पत्र रत्नालि गर्भ ।  
 हेमं सिंहासन तच्छुभरुचिं निचयं भानु कोटि प्रकाशम् ।।  
 पद्मंचानेक पत्रं कपिनिकरपतिं पादुके वात जातम् ।  
 सेनेशान् द्वारपालान् नलगवय मुखान् राम भक्तान् प्रपद्ये<sup>४</sup> ।।  
 वादं पादं प्रसादर्याश्रित कलुषहरं दक्षिणं कुंचयित्वा ।  
 जानुन्याधायदिव्येरिपकुल दमने वाणाचापेद धत्सः ।।  
 रामः पाणिद्वयेन प्रतिभट भयदः पद्म गर्भारुणाक्षो ।  
 देवी भूषादि जुष्टो वितरतु जगतांशर्म साकेतनाथः<sup>५</sup> ।।

कालान्तर में स्वामी अग्रदेव जी, नाभा जी तथा गोस्वामी तुलसीदासादि जैसे प्रतिभा सम्पन्न भक्त कवियों ने अपने भक्ति भावना पूर्ण काव्य की भाषा सर्व सुबोध अवधी और ब्रज को स्वीकार करके इस रामभक्ति धारा को और भी वेगवान, प्रवाहपूर्ण और

१. से ३. वै. म. भा., स्वा. रा., श्लो. ५५, ५६, ५७

४, ५. रा. प., स्वा. रा., श्लो. १, २



प्रशस्त क्षेत्रीय बना दिया। राम भक्ति शाखा के तुलसीदास जी आदि सभी भक्तों ने सुस्पष्ट शब्दों में अपने उपास्य श्रीराम को सगुण साकार रूप में ही प्रकीर्तित किया—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तन श्याम।

मम हिय बसहु निरन्तर सगुण रूप श्री राम<sup>१</sup>॥

### ३.२.६.२. कृष्ण भक्ति शाखा :

मानव हृदय भावों का सुरम्य भवन है। उन अनन्त भावों में दास्य, सख्य, वत्सल और मधुर भाव मुख्य हैं। किसी हृदय में वत्सल्य भाव का तो किसी हृदय में मधुर भाव का प्राबल्य होता है। यह भाव प्राबल्य ही मानव की रुचि विशेष को ऊर्मिल बनाता है। परिणामतः मानव की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यही कारण है कि किसी मानव को मर्यादा में रहकर ही अपनी रुचियों को संतुष्ट करना अच्छा लगता है तो किसी को उन्मुक्त क्षेत्र में रहकर।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ऐसे भी मानव थे जिनके हृदय में सख्या रति, वत्सला रति और मधुरा रति जैसे भावों का प्राबल्य था। इन हृदयों में भाव प्रवणता की मात्रा अधिक थी। जिन हृदयों में सख्या रति का प्राबल्य था वे भावना प्रवण हृदय, भगवान के ऐसे रूप की अपेक्षा रखते थे जो षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान तो हो किन्तु वह सब प्रकार की मर्यादाओं से निर्बंध, समानमना और समान धर्मा होकर उनके साथ खेल भी सके। जिन हृदयों में वत्सला रति प्रगाढ़ रूप में स्थित थी, उन्हें ऐसे रूप की आकांक्षा थी जो मानव के विषयानुरक्त मन को भी आकृष्ट कर सके और जिसे मानवीय जन अपने वत्सल भाव का प्रीति पात्र बना सकें और वह बन भी सके। जिन हृदयों में मधुरा रति की उद्दाम तरंगे कल्लोल करती थीं, उन्हें ऐसे भगवद्रूप की लोल लालसा थी जिसे वे अपनी मधुरारति [ किशोरी-किशोर के हृदय में सहज समुद्भूत रति] का विषय बना सकें और वह इनके रति भाव का समुपयुक्त रूप से सम्पोषण भी कर सके। परात्पर तत्त्व का लोकावतरित नन्दनन्दन श्री कृष्ण रूप इन सभी दृष्टियों से समुपयुक्त और सक्षम था। श्री कृष्ण का वह रूप एक ओर तो षटैश्वर्य सम्पन्न लोक रक्षक तथा लोकपावन था तो दूसरी ओर वह लोक के अति निकट और लोक रंजक भी था। यह रूप मानव मन-बुद्धि से अत्यन्त अदूर था। अतः आचार्य बल्लभ ने विष्णु स्वामी द्वारा प्रवर्तित उपासना की भूमिका में ब्रज लीला नायक भगवान श्रीकृष्ण रूप को उपास्य रूप में प्रतिष्ठित किया और एक ऐसी उपासना विधा को भी प्रवर्तित किया जिस पर प्रत्येक सहृदय मानव सहज गति से चल सके। आचार्य बल्लभ द्वारा

प्रवर्तित श्रीकृष्णोपासना की इस भक्ति धारा ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति कर दी। मानव समाज को तत्कालीन राजनैतिक विधर्मी शासकीय संकटों से ही मुक्ति नहीं मिली प्रत्युत उनकी राग वृत्ति को ऐसा अनुकूल और अभीष्ट पोषण भी प्राप्त हुआ जिससे उनकी आत्मा एक अकल्पित आनन्द से आप्लावित होकर परम पुष्ट हो गई।

आचार्य बल्लभ द्वारा प्रवर्तित भक्ति धारा में निमज्जन करने में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, पठित-अपठित और कुलीन-अकुलीन आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। संस्कृत-हिन्दी आदि किसी भाषा विशेष का भी बन्धन नहीं था। आचार्य बल्लभ ने अपने पुष्टि सिद्धान्त का उद्घोष करते हुए कहा कि यशोदा के स्नेहपात्र ब्रजेन्द्रनन्दन श्री कृष्ण सभी भाव से भजनीय हैं<sup>१</sup>। फिर भी उन्होंने वत्सल भाव को प्रधान रूप से स्वीकार किया।

### ३.२.६.२.१. आचार्य श्री बल्लभ का उपास्य :

नाम -

आचार्य बल्लभ ने परमोपास्य के सिंहासन पर पौराणिक [भागवत के] श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा करके उनके अवतार कालीन नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर को भी स्वीकार किया। उन्होंने अपने परमोपास्य को गोकुलसर्वस्व, गोकुलमंडन, गोकुलजीवन, गोकुलेश, गोकुलपालक, गोकुलराकेश, गोकुल पोषक, गोकुल गोपीश, गोपीजनबल्लभ, गोकुलनाथ, श्रीकृष्ण, ब्रजाधिप, गोकुलाधीश, गोकुलेश्वर, मुरारी, मुकुन्द, गिरधरन, गोवर्धननाथ, श्रीनाथ, गिरिराजधरन, बालकृष्ण, गोपाल, गोपालकृष्ण, पुरुषोत्तम, जसोदानन्दन और नन्दनन्दन आदि नामों से अभिसंज्ञात किया है<sup>२</sup>।

१. सर्वदा सर्व भावेण भजनीयो ब्रजाधिपः।

- चतु. श्लो., आ. ब., श्लो. १

२. श्री मद गोकुल सर्वस्वं श्रीमद् गोकुल मंडनं। श्री मद गोकुल दृक्कारा श्री मद गोकुल जीवनं॥

- गोकु. अ., आ. ब., श्लो. १

श्री मद गोकुल मात्रेश श्रीमद् गोकुल पालकः।

- गोकु. अ., श्लो. २

श्री मद गोकुल राकेश श्रीमद् गोकुल तारकः।

- गोकु. अ., श्लो. ५

श्री मद गोकुल भावात्मा श्रीमद् गोकुल पोषकः।

- गोकु. अ., श्लो. ६

श्री मद गोकुल गोपीशः।

- गोकु. अ., श्लो. ८

- शेष टिप्पणी आगे के पृष्ठ पर



## रूप एवं स्वरूप —

श्री बल्लभाचार्य ने अपने उपास्य गोपीजन बल्लभ के रूप और स्वरूप का परिचय देते हुए लिखा है कि—

जिनका श्रीअंग नवीन जलधर जैसा है, नेत्र उत्फुल्ल कमल जैसे हैं, जिनके वेणु नाद से समस्त गोकुल मोहित होता है ऐसे गोपीजन बल्लभ को मेरा नमस्कार हो<sup>१</sup>। जिनके सिर पर किरीट, भुजाओं में केयूर, गले में मणिमाला, और कर्णों में स्वर्ण-कुंडल सुशोभित हैं<sup>२</sup>। जो दिव्य ब्रजांगनाओं से समावृत हैं, जिनका सस्मित मुख अंबुज की भाँति है और जो त्रिभुवन को मोहित करने वाले हैं<sup>३</sup>। जिनके वक्षस्थल पर श्री वत्स का चिह्न कौस्तुभ

### पिछले पृष्ठ का शेष टिप्पणी भाग —

इमानि श्री गोकुलेश नामानी वदने मम।

— गोकु. अ., श्लो. ६

वैष्णुरसा मोहित गोकुलाय नमोस्तुते गोपीजन बल्लभाय।

गोपी. ब. अ., आ. ब., श्लो. १

सर्वदा सर्वभावेण भजनीयो ब्रजाधिपः।

— चतु. श्लो. आ. ब., श्लो. १

यदि श्री गोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।

— चतु. श्लो. आ. ब., श्लो. ३

अतः सर्वात्मनाशस्वत गोकुलेश्वर पादयोः।

— चतु. श्लो. आ. ब., श्लो. ४

कृष्णानु परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोष विवर्जितम्।

— अं. प्र., आ. ब. श्लो. १

परब्रह्म तु कृष्णोहि सच्चिदानंदकं बृहत्।

— सि. मु., आ. ब. श्लो. ३

ममास्तु तव सन्निधौ तनु नवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुशरिपौ मुकुन्द प्रिये।

— य. अ., आ. ब., श्लो. ७

१. नवांबुदा नीर मनोहराय प्रफुल्ल राजीव विलोचनाय।  
वेणु रसामोहित गोकुलाय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय॥

— गोपी. ब. अ., आ. ब., श्लो. १

२. किरीट केयूर विभूषिताय गलेय माला मणि रंजिताय।  
स्फुरच्चलत्कांचन कुंडलाय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय॥

— गोपी. ब. अ., आ. ब., श्लो. २

३. दिव्यांगना वृन्दपि शोभिताय स्मित प्रमा चारु मुखांबुजाय।  
त्रैलोक्य सम्मोहन सुन्दराय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय॥

— गोपी. ब. अ., आ. ब., श्लो. ३

मणि और रोमावलि सुशोभित हैं<sup>१</sup>। जिनके हस्तांगुलियों में अँगूठियाँ और सिर पर मोर मुकुट सुशोभित है; ऐसे गोपीजनबल्लभ को मेरा नमस्कार है<sup>२</sup>। जिनके अधर मधुर हैं, नैन मधुर हैं, वदन मधुर है, और जिनकी मुसिक्यान मधुर है। जिनका हृदय मधुर है, जिनके चलने की गति मधुर है, ऐसे मधुराधिपति [श्रीकृष्ण] का सब कुछ मधुर है। जिनके वचन मधुर हैं, चरित्र मधुर हैं, वसन मधुर हैं, जिनका वेणु मधुर है, रेणु मधुर है, हस्त मधुर और चरण मधुर हैं। जिनका नृत्य मधुर है, जिनका सख्य मधुर है। जिन गोपी-गोप और गायों से वे समावृत्त हैं, वे गोपियाँ मधुर हैं, वे गोप मधुर हैं और वे गाय मधुर हैं<sup>३</sup>।

श्री बल्लभाचार्य का कथन है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण ही सत् चित् और आनन्द रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वही ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप से जगत की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय आदि समस्त कार्यों को सम्पन्न करते हैं<sup>४</sup>। अपने इष्ट के सगुण स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्हें अनंत दिव्य गुणों का आश्रय बताया है<sup>५</sup>।

आचार्य बल्लभ की रचनाओं में जहाँ एक ओर श्रीकृष्ण का बाल, कौमार और किशोर रूप आराधनीय दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा आविर्भूत सेवा पद्धति को देखते हुए यह भी ज्ञात होता है कि उन्हें श्रीकृष्ण का बाल रूप ही सर्वाधिक प्रिय है। आज भी बल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों और बल्लभकुलीय वैष्णवों के घरों में बालकृष्ण या बालगोपाल स्वरूप ही सेव्य दिखाई देते हैं।

१. श्री वत्स रोमावलि रंजिताय वक्षस्थले कौस्तुभ भूषिताय ।  
सरोज किंजल्किनिमां सुभाय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय ॥

— गोपी. व. अ., आ. ब., श्लो. ४

२. दिव्यांगुलीयां गुलि रंजिताय, मयूर पिच्छा छवि शोभिताय ।  
व्यन्यस्त जालं कृत विग्रहाय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय ॥

— गोपी. व. अ., आ. ब., श्लो. ५

३. अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरं ।  
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरं ॥

— म. अ., आ. ब., श्लो. १

विशेष ज्ञातव्य— रूप और स्वरूप के लिये सम्पूर्ण मधुराष्टक देखें।

४. परब्रह्म तु कृष्णोहि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।

— सि. मु., आ. ब., श्लो. ३

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मा विष्णु शिवास्ततः । देवता रूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्यं हरिर्मतः ॥

— सि. मु., आ. ब., श्लो. १०

५. मुनीन्द्र वृन्दैरभिसंभ्रिताय क्षरत्य गोकुल संकुलाय । धर्माथ कामामृतं साधनाय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय ॥

— गोपी. व. अ., आ. ब., श्लो. ७

येन्येस्तमः सोम दिवाकराय भकलस्य चिंतामणि साधनाय ।

अशेष दुःखा भेषजाय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय ॥

— गोपी. व. अ., आ. ब., श्लो. ८



श्रीकृष्ण का बाल स्वरूप ही सेव्य होने के कारण आज भी बल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के पालने का मनोरथ [श्री कृष्ण को बाल रूप में पलना झुलाने का उत्सव] वर्षान्तर्गत कभी भी किये जाने का संविधान है।

### लीला —

आचार्य बल्लभ ने लीला वर्णनात्मक ऐसे किसी भी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया है, जिसके आधार पर उनके उपास्य स्वरूप के लीला संबंधी विचार जाने जा सकें। हाँ उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' पर 'सुबोधिनी' नामक टीका अवश्य की है। यहाँ पर विशेष अविस्मरणीय यह है कि आचार्य ने भागवत पर टीका मात्र ही नहीं की प्रत्युत उसे अपनी उपासना का प्रमाण ग्रन्थ भी स्वीकार किया है। बल्लभाचार्य के संबंध में एक बात यह भी प्रचलित है, कि उन्होंने सूरदास आदि अपने सभी शिष्यों को श्रीमद्भागवत वर्णित श्रीकृष्ण की समस्त ब्रजलीलाओं के गान करने का उपदेश दिया था। अष्टछापी भक्त कवियों की पदावली इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण हैं।

इस प्रकार निम्नांकित रूप से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि श्री बल्लभ को श्रीमद्भागवत वर्णित उपास्य श्री कृष्ण की सभी लीलाएं [शकटासुर, तृणावर्त, पूतना आदि का वध, यमलार्जुन का उद्धार, अपने मुख में माता यशोदा को ब्रह्मांड का दर्शन कराना, ब्रह्मा मोह निवारण, इन्द्रमान भंग, माखन चोरी, चीरहरण, गोचारण, गोदोहन, पनघट लीला, दान लीला, महारास लीला आदि।] मान्य हैं।

### धाम —

आचार्य बल्लभ के परमोपास्य श्रीमद्भागवत वर्णित षटैश्वर्य सम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं जिन्होंने वसुदेव-देवकी और नन्द-यशोदा को अपना माता-पिता बनाया था तथा गोप जाति में जन्म लेकर ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों प्रकार की लीलाएं की थी। यह कृष्णावतार ब्रज में हुआ था। ब्रज में ही श्रीकृष्ण की बाल, कौमार, पौगंड और किंशोर, वय की लीलाएं सम्पन्न हुई थीं। अतः आचार्य बल्लभ ने अपने उपास्य का लीला धाम ब्रज — [गोकुल,<sup>१</sup> वृन्दावन, कुमुदवन, कामवन, तालवन, चन्द्र सरोवर, गोवर्धन आदि-आदि ब्रज के सभी वन उपवनों] को स्वीकार किया है।

१. [क] श्री मद गोकुल मात्रेशः श्री मद गोकुल पालकः। श्री मद गोकुल लीलाब्धिः श्री मद गोकुल संश्रयः।।

— गोकु. अ., आ. ब., श्लो. २

[ख] वृन्दावने गोकुले वा तथा से मनसित्कचित्।

— नि. ल., आ. ब., श्लो. ३

आचार्य बल्लभ के मत में ब्रज के साथ-साथ गोलोक को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है क्योंकि उनकी मान्यता है कि यह श्री कृष्णावतार द्वापर युग में व्याप्ति बैकुण्ठ [गोलोक] से अवतरित हुआ था। गोलोक में श्रीकृष्ण अपने लीला परिकर के साथ प्रगट लीलानुसारिणी लीला किया करते हैं।

### परिकर —

आचार्य बल्लभ के मत में ब्रज के वे सभी गोपी-गोप [नन्द, यशोदा, सुबल, सुबाहु, मधुमंगल, तोश श्री दामा, राधा, ललिता, विशाखा, चन्द्रावली तथा चंद्रभागा आदि] और गाय श्री कृष्ण के लीला परिकर हैं<sup>१</sup> जिनके साथ उन्होंने बाल कौमार और किशोरवस्था की लीलायें की थीं।

आचार्य बल्लभ द्वारा आविर्भूत भक्ति धारा आगे चलकर 'पुष्टि सम्प्रदाय' के नाम से अभिसंज्ञात हुई। कालान्तर में पुष्टि सम्प्रदाय ने सख्य और मधुर भाव से भी कृष्णा-राधना स्वीकार कर ली। इस राग प्रधान भक्ति धारा ने ही समय पाकर सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास जैसे बहुत से महान भक्त कवियों को जन्म दिया। सोलहवीं शती के इन भक्तों ने अपनी भाव भावनाओं को व्यक्त करने के लिए ब्रजांचल के साधारण जन समाज में बोली जाने वाली ब्रजभाषा को भी स्वीकार करके कृष्ण भक्तों के लिए एक सर्व सुगम मार्ग प्रशस्त कर दिया। ब्रजभाषा भाषी इन भक्त कवियों ने परम तत्त्व को निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपों में स्वीकार करते हुए सगुण स्वरूप में प्रत्यक्ष नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को ही अपना ध्येय, प्रेय और गेय बनाया —

अवगति गति कछु कहत न आवै।

रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालम्ब कित धावै।।....

सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन-लीला-पद गावै<sup>२</sup>।

वेद-उपनिषद् जासु कौ निरगुनहिं बतावै। सोई सगुन है नन्द की दाँवरी बाँधावै।  
उग्रसैन की आपदा सुनि-सुनि बिलखावै। कंस मारि राजा करै आपुहि सिर नावै<sup>३</sup>।।

१. [क] गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरं.....।

— म. अ., आ. ब., श्लो. ७

[ख] गोपा मधुरा गावो मधुरा सृष्टिर्मधुरायष्टिर्मधुरा।

— म. अ., आ. ब., श्लो. ८

[ग] दिव्यांगना वृंदनि शोभिताय यस्मित प्रभा चारु मुखांबुजाय।

त्रैलोक्य संगोहन सुन्दराय नमोस्तु गोपीजनबल्लभाय।।

— गोपी. ब. अ., आ. ब., श्लो. ३



### ३.२.६.२.२. श्रीचैतन्य देव का उपास्य :

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में भारत का पूर्वी अंचल [बंग, बिहार और आसाम] शाक्त और वाम मार्ग से अत्यधिक प्रभावित था। इस प्रदेश की अधिकांश जनता शक्तिवाद के अंचल में पल्लवित और पुष्पित वाम मार्ग के 'पंच मकार' का शिकार हो रही थी। इस अंचल का जन समाज न तो वैदिक कर्म-धर्म में ही रुचि रखता था और न उन्हें करने में वह सक्षम ही था। अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण वह सुखी नहीं था। वह भीतर और बाहर से अत्यन्त आक्रान्त, भ्रान्त और अशान्त था।

दार्शनिक भक्ति पर आधारित आचार्य मध्व द्वारा प्रवर्तित भक्ति सिद्धान्त सर्व साधारण जन समाज को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। 'पंच मकार' ग्रस्त उस प्रान्त के अन्तरंग चतुष्टय को बदलने के लिए किसी बहुत बड़े क्रान्तिकारी विस्फोट की आवश्यकता थी; जो कि आकर्षण पूर्ण अपनी मधुरिमा से बलात् उन 'पंच मकार' ग्रस्त मानव मनो का आमूल चूल परिवर्तन कर सके। उसी समय उसी मानव समाज में निमाई नामक एक महापुरुष का जन्म हुआ। जिसने श्रीकृष्ण भक्ति शाखा के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी मोड़ दिया और शाश्वत शान्ति एवं यथार्थ आनंद पूर्ण एक ऐसे भक्ति मार्ग का प्रवर्तन किया जिसमें निर्बल मन वाला व्यक्ति भी अपनी सहज गति से चल सके। उन्होंने खुले शब्दों में कहा मानवो ! तुम चाहे जिस जाति, जिस कुल और चाहे जिस वर्ग के हो; तुम चाहे जैसा भी कुकर्म या अकर्म करते हो; करते रहो किन्तु सब 'हरि-हरि' बोलो। भगवान् श्रीकृष्ण तुम सबको गले लगायेंगे। इस उद्घोष को सुनते ही संतुष्ट जनता उमड़ पड़ी निमाई के साथ सम्मिलित हरि नाम संकीर्तन करने के लिए। सभी ऊँच-नीच के संकीर्ण क्षेत्र से उठकर नाम संकीर्तन भक्ति के क्षेत्र में उन्मुक्त विचरने लगे। श्री निमाई ने उद्घोष किया कि श्री कृष्ण नाम संकीर्तन जीव के चित्त रूपी दर्पण का मार्जन करता है। जीव के मंगल रूपी कुमुद को ज्योत्सना वितरण करता है। यह विद्या वधू का जीवन है। यह आनंद रूपी सिन्धु का वर्द्धन करता है। इसके प्रत्येक पद में पूर्णामृत का आस्वादन होता है। यह मन आदि समस्त इन्द्रियों का तृप्ति जनक है —

चेतोदर्पण मार्जनं भवमहादावाग्नि निर्वापणं।

श्रेयः कैरव चन्द्रिका वितरणं विद्या वधू जीवनम्।

आनन्दाबुधि वर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृता स्वादनं।

सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्\*।

आचार्य बल्लभ ने उपासना के क्षेत्र में भगवान के लोक निकट रूप [नन्दनन्दन श्रीकृष्ण रूप] की प्रतिष्ठा कर दी थी और उससे सर्व साधारण मानव की वत्सला रति तथा सख्या रति जैसे भाव संबंध स्थापित करने का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया था किन्तु उस रूप से मधुरा रति का संबंध स्थापित करना श्री कृष्ण लीला की अभिन्नांग एकमात्र ब्रजगोपियों के लिए ही संभव माना जाता रहा; सर्वसाधारण मानव के लिए नहीं। श्री चैतन्य देव ने अपने हृदय को ब्रजगोपियों के कान्त भाव से सम्यक्तया अनुभावित किया और लोक जीवन में गोपीभाव को प्रत्यक्ष दिखाकर सर्वथा असंभव को संभव कर दिखाया।

आचरण का प्रभाव अमोघ होता है; सहज और सरल होता है। अतः श्री चैतन्य देव द्वारा ऐसा दुष्कर कार्य सम्पन्न होता देखकर भगवान से मधुरा रति का संबंध स्थापित करने के लिए लोल लिप्सु सहृदय समाज उनके पीछे-पीछे चल पड़ा और फिर बढ़ती गई अनुगतानुगतों की अविरल परम्परा। सगुण स्वरूप श्रीकृष्ण की कान्त भाव से उपासना करने वाले श्री सनातन गो., रूप गो., तथा गोपाल भट्ट आदि भक्तजन इसी परम्परा की अनुपम कड़ी हैं।

श्री चैतन्य देव ने अपने भक्तों को उद्बोधन देते हुए कहा कि वे नन्द तनूज श्री कृष्ण अपनी पद दासी मुझको आलिंगन करें या पीस डालें, चाहे अपने अदर्शन से मुझे मर्माहत करें अथवा वे बहुबल्लभ लंपट जहाँ तहाँ विहार करें तथापि वे ही मेरे प्राणनाथ हैं; दूसरा कोई नहीं :-

आलिष्य वा पादरतां पिनष्टु माम दर्शनान्मार्मदृतां करोतु वा।

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथयस्तु स एव ना परः<sup>१</sup>॥

अपने प्राणनाथ श्री कृष्ण को नन्द तनूज नाम से संबोधित करते हुए उन्होंने उनके ब्रज बिहारी रूप को अपना आराध्य व्यंजित किया है -

अयि नन्दतनूज किंङ्करं पतितं मां विषमे भवान्बुधौ।

कृपया तव पाद पङ्कज स्थित धूली सदृशं विचिन्तय<sup>२</sup>॥

श्री चैतन्य द्वारा प्रणीत 'शिक्षाष्टक' के इन उपर्युक्त श्लोकों में स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके परमोपास्य भगवान श्रीकृष्ण हैं। वे नन्द के पुत्र हैं और अनन्त ब्रज गोप किशोरियों के साथ जहाँ तहाँ विलास करने वाले लम्पट हैं।



‘विद धातु लम्पटो’ से यह भी व्यंजित होता है कि वे नन्द के पुत्र श्री कृष्ण गोप किशोरियों [लीला परिकर] के साथ यह शृंगारी केलि [लीला] उनके आवास स्थल ब्रज [धाम] में किया करते हैं। ‘अयि नन्द तनूज’ शब्द से यह भी व्यंजित होता है कि उनके श्रीकृष्ण लोकावतरित हैं और बाल, कौमार, पौगंड तथा किशोर वय की लीलाएं करने वाले हैं। ‘मत प्राणनाथस्तु’ से यह भी व्यंजित होता है कि श्री चैतन्य ने उपास्य श्री कृष्ण की उपासना गोपी भाव [गोपियों के कान्त भाव] से की थी।

परवर्ती गौड़ीय भक्त आचार्य श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्री चैतन्योक्त उक्त श्लोकों के आधार पर ही उपास्य तत्त्व का स्वरूप निर्वचन करते हुए श्री मद्भागवत को अपना प्रमाण ग्रन्थ घोषित किया है —

आराध्यो भगवान् ब्रजेश तनयस्तद्दामं वृन्दावनं  
रम्या काचिदुपासना ब्रज वधू वर्गेण या कल्पिता  
श्री मद्भागवत प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्  
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो न परः।

## चतुर्थ अध्याय

### ४. रस भक्ति धारा

#### ४.१. रस भक्ति धारा के स्वरूप का कथंचित आलोक :

सर्व साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि हिन्दी भक्ति काव्य-सागर को साहित्यिक सौन्दर्य की सर्वाङ्गीण सुषमा से सम्भृत करने वाली निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा ही हैं किन्तु इस अपार सागर को महा महिम गरिमा और एक अन्यतम मधुरिमा से मंजुल और मनोहारी बनाने वाली एक रस सलिता और भी है जो गंगा-जमुना के साथ किन्तु अदृश्य बहने वाली सलिता-सरस्वती की भाँति ही सर्व साधारण की दृष्टि से सर्वथा असम्पृक्त रही है। सरस्वती तो दिखाई ही नहीं देती किन्तु यह धारा प्रगट रूप में प्रवाहित होने पर भी पृथक तीसरी धारा के रूप में पहिचानी ही न जा सकी। अर्थात् इस पृथक धारा को भी सगुण भक्ति धारान्तर्गत कृष्ण भक्ति शाखा के रूप में ही कहा सुना और लिखा जाता रहा; क्योंकि इसे सन्निकट से देखने



का किसी ने प्रयास ही नहीं किया। हिन्दी भक्ति काव्य की इस धारा का नाम—‘रस भक्ति धारा’ है। इस रस भक्ति धारा का आविर्भाव गो. हित हरिवंश जी<sup>१</sup> ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया। हिन्दी भक्ति काव्य की निर्गुण धारा और सगुण धारा से पार्थक्य आलोकित करने के उद्देश्य से आगामी पृष्ठों में इस रस भक्ति धारा का सम्यक् और सर्वाङ्गीण परिचय देने का प्रयास करेंगे।

## ४.२. रस भक्ति का स्रोत किंवा उद्गम :

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान इन शब्दों से सम्बोध्य परम तत्त्व का स्वरूप विवेचन वेदों का एकमात्र लक्ष्य था। इसीलिए उन्होंने उस परात्पर तत्त्व को निर्गुण-निराकार [निर्विशेष] और सगुण साकार [सविशेष] रूप में, सत् रूप में, चित रूप में और आनन्द आदि रूप में व्याख्यात किया है। इसी स्वरूप विवेचन सन्दर्भ में उसे ‘रस’ रूप में भी संकेतित किया है —

रसोवैसः रसं ह्येवा लब्ध्वानन्दी भवति<sup>२</sup>।

वेद की निर्गुण तथा सगुण प्रतिपादक श्रुतियों के आधार पर उस परम तत्त्व के निर्गुण और सगुण स्वरूप की उपासना प्रकारों का प्रादुर्भाव हुआ। श्रुतियों ने परात्पर तत्त्व—‘रस’ का विशद विवेचन उस प्रकार से नहीं किया था, जिस प्रकार ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप का किया था। यही कारण है कि आगे चलकर परतत्त्व को निर्गुण और सगुण मानने वाले इन दोनों उपासना के आचार्यों ने अपने उपास्य को निर्गुण तथा सगुण बतलाते हुए उसे ही रस रूप में भी प्रकीर्तित कर दिया, जबकि वास्तविकता यह है कि परमतत्त्व ‘रस’ निर्गुण और सगुण इन दोनों रूपों की परिधि में नहीं आता।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान नाम से संबोध्य एकान्त परात्पर तत्त्व के निर्गुण निराकार और सगुण साकार ये दो ही रूप श्रुतियों ने सविस्तर व्याख्यान किये हैं। श्रुतियों के इस व्याख्यान में अविस्मरणीय और दृष्टव्य यह है कि उन्होंने इतना विपुल व्याख्यान करने के पश्चात् ‘इति’ न कहकर ‘नेति-नेति’ कहा है। श्रुति वाक्यों को आधार बनाकर जिन-जिन महदाचार्यों ने निर्गुण निराकार या सगुण साकार ब्रह्म को अपना उपास्य बनाकर अपने-अपने स्वतंत्र दार्शनिक सिद्धान्त या भक्ति सिद्धान्त स्थापित किये थे उन सभी आचार्यों ने श्रुतियों के इस ‘नेति-नेति’ वाक्य पर भी दृष्टिपात किया है और इस वाक्य में अन्तर्निगूढ़ आशय को अपने-अपने शब्दों में प्रकट भी किया है।

१. रस भक्ति आविर्भावक गो. हित हरिवंश जी का ऐहिक जीवनवृत्त प्रस्तुत प्रबंध के सप्तम अध्याय में दृष्टव्य है।

२. तै. उ., ब्रह्म बल्ली

आचार्य शंकर ने इस 'नेति-नेति' वाक्य का अन्तराशय प्रकट करते हुए लिखा है कि "ब्रह्म के दो रूप हैं—एक मूर्त दूसरा अमूर्त । [द्वै वावे ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च] श्रुति ने तत्पश्चात् कहा है—“अथात आदेशो नेति-नेति न ह्येतस्माद् ब्रह्मणोनेत्यन्यत् परमास्ति इति” मूर्तामूर्त रूपों के वर्णन में रूपवान का निजी स्वरूप क्या है ? यही जिज्ञासा प्रवर्तित हुई है। इसके पश्चात् “अथात आदेशो नेति-नेति” यह वाक्य जो उल्लिखित है उसके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय किया गया है — “तत्र कल्पित रूप प्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निणीयते.....तस्मात् प्रपञ्चमेव ब्रह्माणि कल्पितं प्रतिषेधति परिशिनष्टि च ब्रह्मेति निर्णयः”।”

एवञ्च इस कारण से भी यह सिद्धान्त निर्णीत है कि इस 'नेति-नेति' वाक्य के द्वारा जो निषेध युक्त है उसके पश्चात् पुनरपि—‘अन्यतपरमस्ति’—[इसके उपरान्त निषिद्ध रूप से भिन्न परमात्मा है] वाक्य का प्रयोग करके श्रुति ने यह ज्ञापित किया है कि इन दोनों रूपों से भिन्न परमात्मा है —

“इतश्चैष एव निर्णयो यतस्तः प्रतिषेधाद् भूयो ब्रवीति अन्यत् परमस्ति इति । अभाववसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्यरमस्तीति ब्रूयात् । तत्रैषाक्षर योजना नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति । नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः ? न ह्येतस्मात् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीति अतो नेतिनेतीत्युच्यते न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः ।.....”।”

भक्ति सम्प्रदाय के आचार्य चतुष्टय शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत वाद के विरोध में जिस प्रकार से एक मत हैं ठीक उसी प्रकार से “अथात आदेशो नेति-नेति” श्रुति के इस वाक्य के शंकराचार्य द्वारा किये गये अर्थ का अविरोध करने [समर्थन करने] में भी सभी एक मत हैं। अर्थात् सभी आचार्यों ने श्रुति के इस वाक्य का अर्थ कुछ शब्दांतर के साथ उसी प्रकार किया है जिस प्रकार आचार्य शंकर ने किया है। अतः सभी आचार्यों द्वारा विवेच्य श्रुति वाक्यार्थ का उल्लेख अनावश्यक समझकर उदाहरणार्थ निम्बार्काचार्य कृत अर्थ का ही उल्लेख कर रहे हैं —

श्री निम्बार्काचार्य ने इस 'नेति-नेति' वाक्य का अन्तराशय स्पष्ट करते हुए कहा है कि —

“इसके पश्चात् ब्रह्म का अवशिष्ट रूप 'नेति-नेति' वाक्य के द्वारा उपदिष्ट है [अथात आदेशो नेति नेति] इन [पूर्वोक्त मूर्तामूर्त रूपों] से अपर श्रेष्ठ रूप ब्रह्म का नहीं है—ऐसा नहीं है। यही नेति वाक्य का अर्थ है। [न हि एतस्मात् अन्यत् परमस्ति इति न इति] अतः यही सत्य का सत्य नाम धारण करता है। [अथ नाम धेयं सत्यस्य



सत्यम्] प्राण समूह भी सत्य के नाम से वर्णित होता है [प्राणावैसत्यम्] परन्तु यही सबसे अन्त में वर्णित रूप इन सब प्राणों का भी सत्य [सार वस्तु] है। यह सत्यों का सत्य [तेषा मेष सत्यं] है।”-

“अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति न्येत्यन्यत् परमस्त्यश्च नाम धेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राणावै सत्यं तेषामेष सत्यं<sup>१</sup>।”

जिज्ञासा यह है कि ‘नेति-नेति’ [वह यह नहीं है वह यह नहीं है] यह तो श्रुति वाक्य है उसके द्वारा ब्रह्म के जो ‘मूर्त और अमूर्त, द्विविध रूप’ पहले कहे गये हैं क्या वे सम्यक् निषिद्ध हुए हैं? अथवा उनके द्वारा ब्रह्म का स्थूल और सूक्ष्म रूप मात्र ही निषिद्ध हुआ है? [अर्थात् क्या ये कहा गया है कि उनके स्थूल और सूक्ष्म रूप हैं ही नहीं? अथवा यह कहा गया है कि वह केवल इतना ही नहीं है, इससे अतीत भी है।] इस सन्देह को दूर करने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि पूर्वोक्त स्थूल और सूक्ष्म मात्रत्व ही निषिद्ध हुआ है। श्रुति का यह अभिप्राय नहीं कि ये समस्त रूप ही उसके नहीं हैं। वह तन्मात्र ही नहीं उससे अतीत भी है - इसको प्रकाश करना ही पूर्वोक्त ‘नेति नेति’ वाक्य का अभिप्राय है। कारण, उस ‘नेति नेति’ वाक्य को कहकर श्रुति ने पुनः ‘न ह्येतस्मादिति न्येत्यन्यत् परमस्ति’ [ऐसा नहीं है कि इससे भी श्रेष्ठ उसका अपर रूप नहीं है, अर्थात् अपर श्रेष्ठ रूप भी उसका है] वाक्य के द्वारा पूर्वोक्त ‘नेति-नेति’ वाक्य के अर्थ को प्रकाशित किया है -

“ किं नेति नेतीति वाक्यं द्वै वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चामूर्त चे त्यादिना प्रकृतं मूर्तामूर्ता दिरूपं प्रतिषेधत्यथवा प्रकृत रूप योगात् प्राप्तं ब्रह्मणा एतावत्वमिति सन्देहे, रूपं प्रतिषेधतीति प्राप्ते, उच्यते, प्रकृतैतावत्वमेव प्रतिषेधति, ततो भूयो “न ह्येतस्मादिति न्येत्यन्यत्परमस्ती” त्यादि वाक्य शेषो ब्रवीति<sup>१</sup>।

श्रुतियों ने ‘नेति नेति’ वाक्य के द्वारा परम परात्पर तत्त्व के जिस रूप की ओर इंगित किया है, उसका अस्तित्व अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत इत्यादि सिद्धांत प्रतिपादक सभी आचार्यों ने स्वीकार तो किया है किन्तु वे उसे अपना उपास्य न बना सके उपास्य न बना पाने का एक विशिष्ट कारण था और वह यह कि उपास्य अरूप नहीं रूपवान होना चाहिए। साथ ही यह भी परमावश्यक है कि वह संसारी या कल्पित न हो; श्रुति सम्मत होना चाहिए ‘नेति-नेति’ वाक्य द्वारा संकेतित परमतत्त्व ‘रस’ श्रुतियों के दृष्टि गोचर नहीं हुआ था अतः उसका कोऽपि रूप न तो उसका चिन्तनीय ही बन



सका था और नहीं उसकी वाणी का विषय; क्योंकि उसे तो उस रूप के अस्तित्व की अनुभूति मात्र ही होती थी। जो रूप श्रुतियों के लिए ही अलक्ष्य था, अलक्षित होने के कारण श्रुतियाँ ही जिसे देख नहीं सकी थीं और जिसका वर्णन नहीं कर सकी थीं; उस रूप को श्रुतियों के निर्देशन पर चलने वाले [श्रुतियों को प्रमाण मानने वाले] आचार्य [निर्गुण निराकार और सगुण साकार उपासक] अपना उपास्य बना ही कैसे सकते थे ?

आचार्य शंकर ने उस रूप का अस्तित्व स्वीकार करके भी निर्गुण निराकार को ही अपनी मन-वाणी का विषय बनाया। भक्ति सम्प्रदायाचार्यों ने भी सगुण स्वरूपों में से ही किसी रूप विशेष को ही अपना उपास्य बनाया। यहाँ तक कि स्पष्ट शब्दों में निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक् रूप की घोषणा करने वाले महात्मा कबीर ने भी घट-घट वासी निर्गुण राम को ही अपना प्रीतम बनाया; स्पष्ट शब्दों में नन्दनन्दन कृष्ण रूप तथा दशरथ नन्दन राम [सगुण साकार रूप] की कड़ी आलोचना करते हुए। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि श्री शंकराचार्य तथा रामानुजादि भक्ति सम्प्रदायाचार्यों ने श्रुति के 'नेति नेति' वाक्य का कुछ शब्दांतरों के साथ यही अर्थ स्वीकार किया है कि "ब्रह्म के मूर्त [सगुण साकार] और अमूर्त [निर्गुण निराकार] रूप मात्र ही हैं; ऐसा ही नहीं है — इससे अपर रूप भी है।"

श्रुतियों के इस 'नेति नेति' वाक्य पर श्री हिताचार्य की भी दृष्टि पड़ी। इतना ही नहीं उनकी सूक्ष्म और सक्षम दृष्टि श्रुतियों के उस उर अन्तराल तक भी पहुँची जहाँ पर श्रुतियों द्वारा वर्णित सगुण-निर्गुण रूप को उपास्य बनाने वाले पूर्ववर्ती आचार्यों की दृष्टि नहीं पहुँच सकी थी। इन पूर्ववर्ती आचार्यों में से किसी ने भी यह नहीं कहा था कि वह संगुप्ततया श्रुतियों के हृदय में प्रकाशित है। यह उद्घोष सर्वप्रथम श्री हिताचार्य ने ही किया कि जो अत्यन्त गुप्त भाव से उपनिषदों के हृदय में ही विद्यमान है—

“या संगुप्ततया तथोपनिषदां हृद्येव विद्योतते”<sup>१</sup>

अन्तराशय यह कि श्रुतियों को उसके अपर रूप का हृदय में आभास तो होता है किन्तु वह उसे अपनी वाणी का विषय नहीं बना सकी। श्रुतियों को उस परात्पर तत्व का आभास उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार से मृग को उसी की नाभि में स्थित कस्तूरी का सुगन्धि रूप में आभास मात्र ही होता है। वह उसे देख नहीं सकता — प्राप्त नहीं कर सकता और किसी को उसके सम्बन्ध में कुछ बता भी नहीं सकता। यही कारण है कि श्रुतियाँ शाखा चन्द न्याय से इस परात्पर तत्व 'रस' का शाब्दिक संकेत मात्र ही दे सकी हैं —



रसोवैसः रसं ह्येवा लब्ध्वानन्दी भवति<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य ने श्रुतियों के 'नेति-नेति' शब्दों द्वारा व्यंजित और 'रसोवैसः रसं ह्येवा लब्ध्वानन्दी भवति' वाक्य द्वारा संकेतित परात्पर तत्त्व 'रस' को ही अपना उपास्य बनाया<sup>२</sup>। उपास्य बनाया कहने का सुस्पष्ट अन्तराशय यह कि उस रूप को अत्यधिक निकट से देखा और उसका सर्वाङ्गीण परिचय दिया। उन्होंने स्फुट शब्दों में यह उद्घोष भी किया कि जो रूप निखिल निगमों के लिए भी अत्यन्त गोप्य है, उस रूप को मेरे नेत्र देख रहे हैं। उस रूप की जय हो —

....अलक्ष्यं राधाख्यं निखिल निगमैरप्यतितरां।

रसाम्बोधे सारं किमपि सुकुमारं विजयते<sup>३</sup>।

'अतितरां अलक्ष्यं' कहने का आशय यह कि वह रूप श्रुतियों के द्वारा सर्वथा अगोचर है। आचार्य चरण के उपर्युक्त सूत्र वाक्यों में अन्तर्निहित उनका यह अन्तराशय भी सुस्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि "मैंने श्रुति वर्णित निर्गुण निराकार या सगुण साकार को अपना उपास्य नहीं बनाया है।"

आचार्य चरण ने यह भी उद्घोष किया है कि मेरे नेत्र उस रूप को देखकर आनन्दालुलोलित हो रहे हैं जो शिव, शुक, नारदादि भक्तों के ध्यान में भी नहीं आता। मेरे नेत्र उस रूप को देखकर रसानन्द से परिवेष्टित हो जाने के लिए लोल हो रहे हैं जो विशुद्ध 'प्रेमामृत माधुरी रस' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। अन्तर-बाहर से आमूलचूल रस ही है —

यद् वृन्दावन मात्र गोचर महो यन्नश्रुतीकं शिरो ,

प्यारोढुं क्षमते न यच्छिव शुकादीनां तुयद्दयानगम् ।

यत्प्रेमामृत माधुरी रसमयं यन्नित्य कैशोरकं ,

तद् रूपं परवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम<sup>४</sup>॥

श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य को लक्ष्य कराते हुए तथा उसे निरावरण करते हुए सुस्पष्ट शब्दों में बताया कि मेरा परमोपास्य वह 'प्रेम' किंवा 'रस' है जो लक्ष्मी से<sup>५</sup>

१. तै. उ., ब्रह्म बल्ली

२. जो 'रस' नेति-नेति श्रुति माख्यौ।

— हि. चौ., प. सं. १८

३. ४. रा. सु. नि., श्लो. सं. ५१, ७६

५. लक्ष्म्या यश्च न गोचरी भवति यन्नापुः सखायः प्रभो, सम्भाव्योपि विरञ्चि नारद शिव स्वायम्भुवाद्यैर्न यः॥

— रा. सु. नि., श्लो. २३९

ब्रह्मा, रुद्र, शुकदेव, नारद, भीष्मादि द्वादश महाभागवतों से<sup>१</sup>, देवताओं से<sup>२</sup>, मुक्तों से<sup>३</sup> भक्तों से<sup>४</sup> और गोविन्द प्रिय परिकर [नन्द-यशोदा, कीर्ति-वृषभान, सुबल, सुबाहु श्रीदामादि, सखागण और सर्वाभीर किशोर सुन्दर वधू गण] से<sup>५</sup> सर्वथा अलक्षित है। वह केवल ऐसे रस वृन्दावन में ही दृष्टिगोचर है जिसमें इन सबका मन से भी प्रवेश नहीं हो सकता<sup>६</sup>।

### ४.३. रस भक्ति की प्रागट्य भूमिका :

#### ४.३.१. राजनैतिक परिस्थिति :

श्री हिताचार्य ने इस रस-भक्ति संज्ञक - 'रसोपासना' की अवतारणा जिस समय लोक में की थी; वह समय संकटों की संक्रान्ति का काल था। हिन्दू जनता के जीवन का कोई क्षेत्र उसके प्रभाव से अछूता नहीं बचा था। विदेशी शासकों की क्रूरता पूर्ण शासन व्यवस्था, धार्मिक कट्टरतापूर्ण नीति और दुर्धर्ष अत्याचारों से हिन्दू शासक और हिन्दू जनता सभी प्रकार से संत्रस्त थी। दिल्ली के राज सिंहासन पर उस समय [सन् १४८८-१५१७ ई.] सिकंदर लोदी का अधिकार था। वह अपनी धार्मिक कट्टरता के लिए ही इतिहास प्रसिद्ध रहा है। उसके शासन काल में हिन्दू जनता उसके अत्याचार जन्य यातना से पीड़ित जीवन व्यतीत कर रही थी। हिन्दूओं को बलात् मुसलमान बनाया जाता था। उनके शोषण और उत्पीड़न के लिए उन पर जजिया कर लगाया जाता था। हिन्दू जनता अपने धार्मिक समारोह शान्ति पूर्ण सम्पन्न नहीं कर सकती थी। वह पूजा और आराधन करने में भी स्वतंत्र नहीं थी। हिन्दू मन्दिर और मूर्तियों का खंडन

१. [क] यो ब्रह्म रुद्र शुक नारदादि भीष्म मुखैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ॥.....॥  
- रा. सु. नि., श्लो. सं. ३
- [ख] यन्नारदाजेश शुकैरगम्यं वृन्दावने वंजुल मंजु कुञ्जे.....॥  
- रा. सु. नि., श्लो. सं. २३८
२. ३. ४. न देवैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरि भक्तैर्न सुहृदा.....दिभिर्य द्वै राधा मधुपति रहस्यं सुविदितम्.....॥  
- रा. सु. नि., श्लो. सं. १४८
- दूरे स्निग्ध परम्परा विजयतां दूरे सुहृन्मण्डली मृत्याः सन्तु विदूरतो ब्रजपतेरप्यः प्रसंगः कुतः..।  
- रा. सु. नि., श्लो. सं. ७३
- देवानामथ भक्त मुक्त सुहृदामत्यन्त दूरं च यत् प्रेमानंद रसं महा सुखकरं चोच्चारितं प्रेमतः.....॥  
- रा. सु. नि., श्लो. सं. ९६
५. गोविन्द प्रिय वर्ग दुर्गम सखी वृन्दैरनालक्षिता.....॥  
- रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८
६. प्रथम यथामति प्रणलै श्रीवृन्दावन अति रम्य। श्रीराधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य॥  
- हि. चौ., प. सं. ५७



तो एक सामान्य बात थी। सिकंदर लोदी एक क्रूर शासक था अतः राजनैतिक दृष्टि से उत्तर भारत की हिन्दू जनता में शान्ति, संतोष और सुख का सर्वथा अभाव था। तुगलक, सैयद, लोदी तथा मुगल खानदान के अधिकांश शासकों की नीति क्रूरता, धर्मान्धता और पक्षपात पूर्ण थीं।

श्रीबल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थ में मुसलमानों के आक्रमण का संकेत किया है। उन्होंने सम्पूर्ण देश को पीड़ित समझकर भगवान श्रीकृष्ण की चरण शरण को अपनी गति कहा है —

मलेक्षाक्रान्तेषु देशेषु पापैक निलयेषु च । सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥  
गंगादि तीर्थ वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह । गतिरोहिताहि देवेषु कृष्ण एव गतिर्मम<sup>१</sup> ॥

श्री सेवक जी ने भी अपनी वाणी में उस समय के दुःशासकों की क्रूरता पूर्ण नीति से पीड़ित जन समाज की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि —  
उद्बस विश्व भयौ सब देश । धर्म रहित मेदिनी नरेश । मलेच्छ सकल पुहुमी बड़े ॥  
सब जन करहि आधुनिक धर्म । वेद विदित जानें नहिं कर्म । मर्म भक्ति कौ क्यों लहैं ॥  
धर्म रहित जानी सबी दुनी । मलेच्छन भार दुखित मेदनी । धनी और दूजौ नहीं<sup>२</sup> ॥

प्रियादास जी गौड़ीय ने भी भक्त कबीर के चरित्र वर्णन संदर्भ में तत्कालीन शासक सिकन्दर के रोमांचक अत्याचारों का वर्णन करते हुए कहा है कि —

देखिकें प्रभाव फेरि उपज्यौ अभाव द्विज, आयौ पातशाह सो सिकंदर सो नाँव है ।  
विमुख समूह संग मात हू मिलाइ लई, जायकें पुकारे जू दुखायौ सब गाँव है ॥  
ल्यावौ रे पकरि वाकौं देखीं मैं मकर कैसौ, अकर मिटाऊँ गाढ़े जकर तनाव है ।  
आनि ठाढ़े किये काजी कहत सलाम करौ, जानें न सलाम जानें राम गाढ़े पाँव है<sup>३</sup> ॥  
बाँधिकें जंजीर गंगा नीर माँझ बोरि दिये, जिये तीर ठाढ़े कहैं जंत्र मंत्र आवहीं ।  
लकरीन माँझ डारि अगिनि पजारि दई, नई मानों भई देह कंचन लजावहीं ॥  
विफल उपाय भये तरु नहिं आइ नये, तन मतवारौ हाथी आनिकें झुकावहीं ।  
आवत न ढिंंग औ चिंहारि हारि भाजि जाइ, आइ आगे सिंह रूप बैठे शोभा पावहीं<sup>४</sup> ॥

<sup>१</sup> कृ. आ. आ. ब., श्लो. सं. २, ३

<sup>२</sup> से. वा., से. जी., हित जस विलास प्रकरण, छं. सं. ४, ५

<sup>३</sup> ४. म. की. टी., टी.- प्रि. वा., प्रा. ह. लि. प्र. पृ. सं. ६३, ७७, छं. सं. २७२, २७३



इसी प्रकार केशव काश्मीरी के चरित्र वर्णन संदर्भ में भी तत्कालीन यावनीय अत्याचारों का सांकेतिक वर्णन करते हुए लिखा है कि —

आप काश्मीर सुनी बसत विश्रांत तीर, तुरक समूह हार जंत्र इक धारियै।  
सहज सुभाइ कोऊ निकसत आइ ताकों, पकरत धाइ जाकैं सुन्नत निहारियै॥  
संग लै हजार शिष्य भरे भक्ति रंग महा, अरे वाही ठौर बोले नीच पट टारिये।  
क्रोध भरि मारे आप 'सूवा' पै पुकारे वे तो, देखि सबे हारे मारे जल बोरि डारिये'॥

फिरोज तुगलक और शेरशाह सूरी ने अपने राज्यकाल में इस नीति में अवश्य कुछ परिवर्तन किये जिसका हिन्दू जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। धार्मिक दृष्टि से तो ये भी उदार न थे, किन्तु सामाजिक दृष्टि से जन कल्याण के कार्यों के प्रति रुचि होने से हिन्दू जनता भी इनके सार्वजनिक हित के कार्यों से लाभान्वित होती रही थी।

शेरशाह सूरी से पहिले बाबर और हुमायूँ ने राजनैतिक दृष्टि से कोई ऐसा कार्य नहीं किया था जो हिन्दूओं में विश्वास निर्भीकता और सद्भावना उत्पन्न करता अतः इन दोनों मुगल शासकों का राज्य काल भी अधिक शान्ति और सन्तोषप्रद सिद्ध न हुआ<sup>१</sup>।

उक्त वर्णनों से यह तो सुस्पष्ट हो ही जाता है कि वह समय हिन्दू संस्कृति और धर्म के लिये पतन का समय था किन्तु ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में विदेशी शासकों के अत्याचारों से तपःपूत कुछ ऐसी महान विभूतियाँ भी लोक में अवतीर्ण हुईं जिन्होंने पुन्यतोया भक्ति भागीरथी के प्रवाह को पूर से पूर्ण बनाये रखा। इन विभूतियों ने अपने दैवी चमत्कारों से केवल हिन्दू जनता को ही नहीं प्रत्युत मुस्लिम शासकों तक को भी प्रभावित किया। दिल्ली के निकट देववन नामक स्थान में रंगीलाल जी का तथा गोवर्धन में श्री नाथजी का मन्दिर निर्माण होना इन महापुरुषों के अभूतपूर्व आकर्षण का ही प्रभाव था।

### ४.३.२. सामाजिक परिस्थिति :

पठानों के शासन काल में देश में अराजकता और अव्यवस्था फैल गई थी। उसने हिन्दू समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था पर गहरा आघात किया। शासकों के बल प्रयोग द्वारा हिन्दू समाज को धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया जाता था, परिणामतः हिन्दुओं में वर्ण शंकरता फैल गयी थी। एक ओर बल प्रयोग तथा प्रलोभन से हिन्दू जनता अपना धर्म त्याग कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर रही थी तो दूसरी ओर वर्णाश्रम की रुढ़ कट्टरता

१. भ. की. टी., टी.- प्रि. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ३३२

२. हि. ऑ. मे. इ., डॉ. ई. प्र. सि., पृ. सं. ४६६, ४७०



से ऊबकर हिन्दू जनता अपनी संस्कृति और अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बनती जा रही थी। हिन्दू समाज में ही रुढ़ि पालन और रुढ़ि खंडन ये दोनों वाद उस समय जोर पकड़ रहे थे।

### ४.३.३. साहित्यिक परिस्थिति :

साहित्य समाज का प्रतिविम्ब होता है; इस तत्थ्य को इन शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है कि 'साहित्य' अपने संसृष्ट काल की संस्कृति का, धर्म का, राजनीति का तथा भाषा, वेशभूषा और विभिन्न विचार धाराओं का साक्षी होता है; क्योंकि उसका निर्माण ही तत्कालीन सामग्री से हुआ करता है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि गो. हित हरिवंश जी के आविर्भाव काल का साहित्यिक धरातल सोलहवीं शताब्दी में प्रचलित निर्गुण भक्ति धारा तथा सगुण भक्ति धारा से अभिसिंचित था।

सगुण भक्ति की भव्य भूमि में उपास्य के सिंहासन पर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम की तथा लीला पुरुषोत्तम श्री कृष्ण रूप की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। स्वामी श्री रामानन्द जी ने विष्णु के स्थान पर राम रूप की, आचार्यबल्लभ तथा श्री चैतन्यदेव ने भगवान श्री कृष्ण रूप की स्थापना कर दी थी। भक्त गण इन रूपों के नाम, रूप, लीला, तथा महिमा का चिन्तन-मनन और कथन-श्रवण करने लगे थे। नाथपंथी साधुओं का प्रभाव यद्यपि शिथिल हो चला था फिर भी समाज का अपठित वर्ग इनसे प्रभावित ही था। एतावता इसी अपठित वर्ग तक ही इनकी रचनाओं का क्षेत्र सीमित हो चला था। काव्य भाषा का कोई रूप स्थिर नहीं था। अतः देश के किसी भाग में सौरसेनी अप्रभंश से आविर्भूत-नवजात ब्रजभाषा में, किसी भाग में अवधी भाषा में, किसी अंचल में डिंगल-पिंगल भाषा में, फुटकल रचनायें हो रहीं थीं। एक ओर श्री रामानन्द तथा उनके शिष्य गण दाशरथी राम की और राम भक्त हनुमान की महिमा मूलक रचना करके जनता को राम भक्त बना रहे थे तो एक ओर सन्त कबीर निर्गुण राम को 'पिउ' घोषित करके शून्य गगन में बिछी सेज की रहस्यवादी रचनायें करके एक अभिनव प्रकार की आराधना का प्रचार कर रहे थे। संत कबीर की रचनायें हिन्दू जनता तथा मुस्लिम जनता में पाखंड वाद की आलोचना करके उन्हें उद्बोधन विशेष भी दे रहीं थीं। नामदेव जी की रचनाओं में निर्गुण और सगुण दोनों की महिमा के स्वर गुंजित होते थे। इन भक्त कवियों की भाषा अस्थिर रूप वाली हिन्दी थी जिसमें ब्रज, अवधी तथा राजस्थानी भाषा का मिश्रण रहता था। महाभारत, भागवतादि पुराण तथा ज्योतिष और आयुर्वेद के सुसंस्कृत ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी अस्थिर रूपवाली भाषा में हुआ करते थे।



नामदेव, नानक, नरसी, कबीर, रैदास तथा श्रीरामानन्द जी आदि की फुटकर भक्ति परक रचनायें ही उस समय हिन्दी भक्ति काव्य को पल्लवित और पुष्पित कर रही थीं। इसे हिन्दी भक्ति काव्य का उदीयमान काल की संज्ञा दे देना अनुचित न होगा। श्रीकृष्ण के नाम-रूप तथा महिमा का गान भी होता तो था किन्तु प्रायः संस्कृत में ही होता था।

काव्य के क्षेत्र में आचार्य भरत द्वारा जिस रस परिपाटी का उदय विक्रम की आठवीं शताब्दी में हुआ था; उस रस परिपाटी का सोलहवीं शताब्दी के तृतीय चरण तक पूर्ण विकास हो चला था। उस रस परिपाटी के द्वारा द्रुत चेता सहृदय-शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीमत्स, अद्भुत, शान्त इन नव रसों का आनन्द प्राप्त करने लगे थे। संस्कृत भाषा में अनेक काव्य ग्रन्थों [लक्ष्य ग्रन्थों और लक्षण ग्रन्थों] का निर्माण भी हो चला था। इन काव्य ग्रन्थों के पठन-श्रवण से सहृदय को चमत्कार प्राण आनन्द 'रस' की कथंचित अनुभूति तो होती थी किन्तु वह काव्यरस विभावानुभाव सापेक्ष-कृत्रिम था। उसके शृंगार, वीर, हास्य, रौद्र आदि रस एक दूसरे के विरोधी थे। एक काल में उनमें से किसी एक की ही अनुभूति होती थी अतः वे सब अपूर्ण थे। रसरस नाम से अभिसंज्ञात शृंगार रस भी अन्य रस मुखापेक्षी तथा अन्य रस विरोधी होने के कारण अपूर्ण था। परात्पर नित्य तत्त्व 'आद्य रस' का पूर्ण रूप, निज और निरावरण सहज रूप, स्वयं निष्पन्न रूप काव्य रसास्वादकों की दृष्टि से भी असंपृक्त और अदृश्य ही बना हुआ था। इसी साहित्यिक वातावरण में गो. हित हरिवंशोदित रस भक्ति धारा ने परात्पर तत्त्व 'आद्य रस'-पूर्ण रस को निरावरण किया।

### ४.३.४. धार्मिक परिस्थिति [उपासना का धरातल]

मानव जीवन के क्षेत्र में होने वाले अनेकानेक परिवर्तनों के साथ-साथ उपासना के क्षेत्र में भी बहुत परिवर्तन हुए। निर्गुण और सगुण भक्ति का क्रमिक विकास भी अपनी चरम सीमा को पहुँच रहा था। भगवद् भक्त गण नवधा भक्ति के द्वारा भगवान का समा-राधन करके भगवदानन्द में मत्त होने लगे थे। अनेक भक्त नवधा भक्ति के प्राङ्गणों को पार कर दसधा-‘प्रेम लक्षणा’ के माध्यम से भगवान की उपासना करने लगे थे और अनुपम परमानन्द का आस्वाद लेने लगे थे। अन्तराशय यह कि श्रीकृष्ण भक्तगण सख्य, वत्सल और मधुर भाव से उनकी उपासना करने लगे थे। श्री हिताचार्य ने तत्कालीन परिस्थिति का सूक्ष्म शब्दों में संकेत करते हुए लिखा है कि “कोई तो ब्रह्मानन्दवादी हैं तो कोई भगवदानन्द [भगवान की वन्दन आदि नवधा भक्ति से प्राप्त आनन्द] में ही मत्त हैं। अन्य लोग श्री कृष्ण के सख्य आदि [सख्य, वत्सल और मधुर भाव के आनन्द] अनुपम परमानन्द का आस्वादन करते हैं —



ब्रह्मानन्दैक वादाः कतिचन भगवद्वन्द्वनानन्द मत्ताः।

केचिद् गोविन्द सख्याद्यनुपम परमानन्दमन्ये स्वदन्ते<sup>१</sup>।।

सगुण भक्ति के विशालकाय क्षेत्र में कहीं पर बालकृष्ण, कहीं पर गोपीजनबल्लभ कृष्ण की आराधना की जाने लगी थी। कहीं-कहीं पर इन रूपों के अतिरिक्त व्यूहांगी श्रीकृष्ण रूप का प्रचार भी हो चला था। भगवान श्रीकृष्ण के प्रेम को प्रेमोपमर्थो महान स्वीकार कर लिया गया था तथा साथ ही 'प्रेम' किंवा 'रस' को भगवान का एक गुण विशेष किंवा उनकी शक्ति के रूप में भी प्रकीर्तित किया जाने लगा था। अधिकांश भक्त प्रेम को भगवत्प्राप्ति के अनेकानेक साधनों में सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट साधन मानकर उसका गुण गान किया करते थे तथा कोई-कोई 'प्रेम' और भगवान को अभिन्न कहकर भी अपना परमोपास्य भगवान को ही घोषित करते थे; 'प्रेम' किंवा 'रस' को नहीं।

आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण उपासना या निर्गुण भक्ति धारा में स्नात हो होकर मानव परब्रह्म के सत् और चित् रूप की अनुभूति करने लगा था। उसे अपने चिद् रूप का भी अनुभव होने लगा था। इस चिद् रूप का वास्तविक बोध हो जाने के कारण वह 'जल में बूँद हिरानी' जैसी स्थिति को प्राप्त होने लगा था, किन्तु 'आनन्द' रूप से सर्वथा अपरिचित था। निर्गुण भक्ति की भव्य भूमिका पर ही कबीरादि संतो द्वारा घट-घट वासी राम [निर्गुण निराकार राम] को अपना 'पिउ' बनाकर शून्य की शैय्या में की हुई प्रेम चर्चा भी गुंजित होने लगी थी।

सगुण रूप [विष्णु भगवान] के उपासक भगवान विष्णु के धाम में पहुँच कर सत् चित् और आनन्द रूप का सामीप्य तो प्राप्त कर रहे थे किन्तु तदरूप होकर नहीं। आनन्दमय होकर या आनन्द रूप होकर नहीं।

भगवान राम और भगवान श्रीकृष्ण का लोकावतरित रूप लोक निकट होने के कारण मानव-हृदय में स्थित राग का विषय बन जाता था। उस रूप से मानवीय सहज सम्बन्धों को जोड़ने में किसी प्रकार की बाधा भी न थी। अतः उपासक गण भगवान श्रीराम या भगवान श्रीकृष्ण से भाव सम्बन्ध स्थापित करके उनकी स्वारसिकी लीला परमानन्द-का स्वाद लेने लगे थे। किन्तु वह अद्भुत रसानन्द अब भी अप्राप्य और दुष्प्राप्य ही बना हुआ था जिसको प्राप्त करके प्रापक आनन्द स्वरूप ही नहीं 'आनन्दी' हो जाता है<sup>२</sup>। पूर्ण रस स्वरूप हो जाने के कारण वह कामना शून्य हो जाता है, वह दूसरों को सुख देकर सुखी होता है।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. १४७

२. ....रसं ह्येवा लब्ध्वानन्दी भवति।



सगुण ब्रह्म के ऐश्वर्य विग्रह [विष्णु, नारायण, भगवान राम तथा श्रीकृष्ण के सभी रूप] जहाँ पर एक ओर उपासक को इस अनित्य संसार से निकालकर अपने नित्य धाम का सामीप्य प्रदान कर रहे थे वहीं पर दूसरी ओर परात्पर तत्त्व 'रस' के लीला विग्रह रूप का दर्शन करने में अभेद्य आवरण का भी कार्य कर रहे थे —

कोटि ब्रह्म ऐश्वर्यता वैभवता की वार। व्यासदास की स्वामिनी को अब सकें निहार<sup>१</sup>॥  
वैभव सब ऐश्वर्यता ठाढ़ी सेवत दूर। परसन पावत कबहुँ नहिं श्रीवृन्दावन धूर॥  
ब्रह्म ज्योति कौ तेज तहँ जोगेश्वर धरैं ध्यान। ताही कौ आवरन तहँ नहिं पावै कोऊ जान<sup>२</sup>॥  
बिनु रसिकन वृन्दाविपिन को है सकत निहार। ब्रह्म कोटि ऐश्वर्य के वैभव की तहँ वार<sup>३</sup>॥

इन भगवद् स्वरूपों का ऐश्वर्य अपने अमोघ आकर्षण विशेष से भगवद् भक्तों को अपने में ही उलझा लेता था —

शुक शनकादि न जानत भेवा। यद्यपि करत बहुत विधि सेवा॥

वैभवता में सब अरुझाने। नित्य बिहारी नहिं पहिचाने<sup>४</sup>॥

परिणामतः परम तत्त्व 'रस' का लीला विग्रह रूप अदृष्ट ही नहीं अकल्पनीय भी बना हुआ था। ठीक इसी प्रकार षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान श्रीकृष्ण की मधुर भाव की लीलार्थ- 'ब्रज गोपियों के साथ की गई शृंगार केलियाँ'—जहाँ पर एक ओर उपासक को भगवान के मधुर प्रेम में उन्मत्ता गोपी ही बना रही थीं या गोपी भाव से प्राप्तव्य श्री कृष्ण रूप का आलिंगन करने के लिए लालस मानस बना रहीं थीं वहीं पर दूसरी ओर परात्पर तत्त्व 'रस' के लीला विग्रह रूप के निकट दर्शन में एक अनुल्लङ्घनीय प्राचीर का कार्य कर रही थीं। वस्तुतः ब्रजदेवियों का वह प्रेम था ही इतना व्यामोहक, मधुर और आश्चर्य पूर्ण; जिसे देखकर ब्रह्मा, नारद, उद्धव तथा शुकादि भक्तों के मन की गति भी पंगु हो गई थी। उनके मन, बुद्धि और हृदय जके थके रह गये थे परिणामतः परात्पर तत्त्व 'रस' का धुर धाम—नित्य क्रीड़ा धाम—अदृष्ट ही बना हुआ था—

ब्रजदेविन कौ प्रेम है गयौ आड़े जिन उर। श्रोता-वक्ता जके थके पहुँचे न धाम धुर<sup>५</sup>॥

१. व्या. वा., ह. व्या., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ११५

२. व्या. ली., हि. धु. दा., नेह मंजरी लीला, प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. १६८

३. व्या. ली., हि. धु. दा., प्रेमावली लीला, प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. १२४

४. व्या. ली., हि. धु. दा., अनुराग लता लीला, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १६०, छं. सं. ५६, ५७

५. म. प्रा. बे., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ५७



निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा के समग्र साहित्य का समालोचन करने पर यह ज्ञात होता है कि मानव मन की महत् जिज्ञासा ही आगे चलकर "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के रूप में समस्त भारत के चिन्तन का विषय बन गई। इसी महत् [ब्रह्म] जिज्ञासा मूलक चिन्तन के साथ मानव ने उस परम सत्, परम चित् और परम आनन्द की खोज करनी आरम्भ की। 'परम सच्चिदानन्दधन' की खोज इस एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मानव की रुचि विभिन्नता तथा मति विभिन्नता के कारण खोज का पथ निर्धारण करने के प्रश्न पर असामंजस्य होना स्वाभाविक था। फलतः अनेक मार्गों का जन्म हुआ; इसका एक बहुत बड़ा लम्बा इतिहास है। विविध उपनिषदों, अनेक शास्त्रों तथा पुराणों की बहुलता की ओर इंगित करना ही इसके लिए पर्याप्त प्रमाण होगा। यह सब संस्कृत भाषा में प्रणीत हुए। उपर्युक्त साहित्य के निर्माण काल तक भारतीय चिन्तन का क्रमिक विकास तो अवश्य परिलक्षित हुआ; किन्तु उसके साधन प्रणालियों की अनेकता अर्थात् अनेक रूपता का प्रमाण नहीं मिलता; हाँ संस्कृत साहित्य के दर्शन काल में साधन प्रणाली की अनेक रूपता के दर्शन अवश्य होने लगे। इतना ही नहीं मुख्यतः षट् दर्शन [सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा जो कि आगे चलकर समस्त भारतीय अध्यात्मवाद की विविध साधनाओं के मूल उत्स सिद्ध हुए] के निर्माण काल के अन्तिम क्षणों में ही एक ऐसी प्रतिकूल धारा का जन्म हुआ जो कि अन्त तक की समस्त धाराओं के विपरीत पड़ती थी। इस धारा के मूल ग्रन्थों के नाम चार्वाक दर्शन तथा जैन दर्शन या नास्तिक दर्शन है। तत्कालीन जनता पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसका प्राप्त विपुल साहित्य ही इसका पुष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके बाद ही बौद्ध दर्शन का जन्म हुआ। इस धर्म ने कभी न भूलने वाली क्रांति को जन्म दिया जिसका प्रभाव भारत पर ही नहीं प्रत्युत संसार के अन्य राष्ट्रों पर भी अमिट रूप से पड़ा। [यह प्रभाव क्यों और किस प्रकार पड़ा इसकी विशुद्ध विवेचना समय और स्थान सापेक्ष है।] किन्तु भारतीय पूर्व चिन्तन का क्षीण श्रोत अक्षुण्ण रूप से चलता रहा और एक दिन तो हमने यह भी देखा कि इन चार्वाक, जैन और बौद्धों का तूफान; तूफान बन कर ही रह गया। वे जितनी जोर से उठे; उतने ही जोर से जिधर मुख मुड़ा चले गये। क्यों चले गये? क्योंकि इनका सम्बन्ध भारतीय पूर्व चिन्तन की भाँति समाज से न था, समाज के मूल संस्कारों से न था अपितु बिहार मंदिर और मठों तक ही सीमित था। शंकर के अद्वैतवाद के महावेग ने इन मठों के साथ-साथ इस धर्म को भी भारत से उखाड़ फेंका या आत्म विलीन कर लिया इस प्रकार उन्होंने भारतीय पूर्व चिन्तन की क्षीयमाण धारा को पुनः अनुप्राणित किया।



यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि अब तक संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, पाली तथा अपभ्रंश आदि लोक भाषाओं में भी साहित्य सृजन होने लगा था। साथ ही यह कह देना भी अनुचित न होगा कि यह लोक भाषा का साहित्य-शृंगार, वीर, हास्य, इतिहास, नीति तथा हिन्दू और जैन धर्मों की पर्याप्त सामग्रियों से परिपूर्ण समाज और राज्य से समादृत भी था। इसके विशेष ज्ञानार्जन हेतु वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश', धनपाल का 'भविष्यत् कहा' और राजशेखर का 'काव्य मीमांसा' ये ग्रंथ दृष्टव्य हैं।

यह तो हुई प्रसंगागत बात ; कहने तो हम यह जा रहे थे कि शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी के आरंभ काल में बौद्ध धर्म का मूलोच्छेदन कर वेद संस्थापन द्वारा भारतीय पूर्व चिन्तन धारा को पुनः अनुप्राणित किया। दो-तीन शताब्दी तक इस अद्वैतवाद की खूब धूम रही। बारहवीं शताब्दी के आसपास इस अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। तभी दक्षिण में चार नये वादों [दार्शनिक मतों] का जन्म हुआ। श्री रामानुजाचार्य के द्वारा विशिष्टाद्वैत, श्री मध्वाचार्य के द्वारा द्वैत, श्री विष्णु स्वामी के द्वारा शुद्धाद्वैत तथा श्री निम्बार्काचार्य के द्वारा द्वैताद्वैत। इन चारों दार्शनिक मतों में परस्पर भेद था किन्तु एक बात में ये सभी सहमत थे और वह था शंकर के अद्वैतवाद का विरोध। [जिसे कि इन आचार्यों ने मायावाद भी कहा है।] इन सभी आचार्यों ने यह अनुभव किया कि भक्ति के लिए [जो कि उस परम सच्चिदानन्दधन की तत्त्व की उपलब्धि के लिए एक मात्र सरल और सुन्दर साधन है:] जीव और ब्रह्म की एकता उपयुक्त नहीं है। भक्ति के लिए जीव और भगवान इन दोनों की उपस्थिति आवश्यक है। इन आचार्यों ने भक्ति मूलक अपने-अपने दार्शनिक मतों की संस्थापना की; जिन्हें प्राचीन भागवत धर्म स्वीकार करता था, जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साधना के रूप को बदल देने में समर्थ सिद्ध हुए।

इसी समय [ई. ११ से १४वीं तक] के आसपास योग धर्म की एक धारा भी प्रबल वेग से प्रवाहित हुई ; जिससे भारत का उत्तर-पूर्वीय प्रदेश पूर्णतः समाच्छादित हो गया था। जिसमें मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि संत हुए।

यहाँ पर यह कह देना उचित ही होगा कि अब तक हिन्दी साहित्य का आविर्भाव हो गया था। अर्थात् अपभ्रंश [लोकभाषा] के कई विकसित रूपों में वीर, हास्य, शृंगार नीति तथा धार्मिक विषयों पर साहित्य सृजन हो चुका था।

कर्तव्य बुद्धि से जो नियम स्थिर किये जाते हैं उन्हें विधि और स्वाभाविक रुचि से जो वृत्ति उत्तेजित होती है उसे 'राग' कहते हैं। अथवा इष्ट वस्तु के प्रति स्वाभाविक



तन्मयता को 'राग' कहते हैं और 'राग' जिसके प्रति धावित होता है उसे इष्ट कहते हैं।

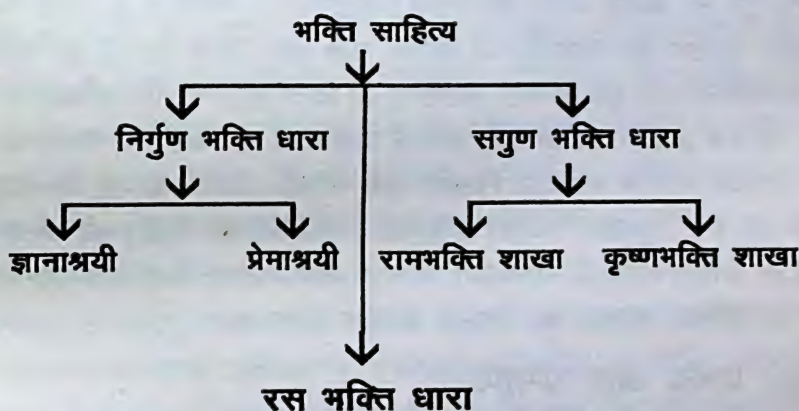
केवल दार्शनिक भित्ति पर अवस्थित उन पूर्व भक्ति धाराओं में 'राग' का अभाव था। श्री रामानन्द, श्री बल्लभ और श्री चैतन्य आदि [पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के] भक्तों ने इसका प्रथम अनुभव किया और उन्होंने अपने-अपने पृथक् भावों की अनुभूति करने के लिए उस परमतत्त्व के अवतार रूप भगवान श्री राम और श्री कृष्ण को इष्ट रूप में वर्णन किया। सगुण धारा की यह नवीन देन थी; जिसने भारतीय समाज को सर्वाधिक प्रभावित और आकर्षित किया। फलतः हिन्दी साहित्य अपने नवीन रत्नों से परिपूर्ण होकर एक अखण्ड ज्योति से जगमगा उठा।

हिन्दी साहित्य के इस नवोदय काल में ही कबीर ने भी अपनी स्वतंत्र साधना— जो कि उत्तर-पूर्व के नाथ पंथ और सहजयान की साधना से, पश्चिम के सूफी मत से और दक्षिण के वेदांत भावित वैष्णव धर्म की साधना से मिश्रित थी; [यद्यपि वे श्री रामानन्द जी के शिष्यों में से ही थे] का प्रसार किया। इस निर्गुण-सगुण की संकरीधारा का खूब प्रभाव रहा; जो कि आगे चलकर हिन्दी साहित्य का एक अंग सिद्ध हुई। इसे आजकल की भाषा में रहस्यवाद कहते हैं।

हाँ यह तो हुआ अवान्तर प्रसंग; प्रस्तुत तो यह है कि सोलहवीं शताब्दी में रागानुगा भक्ति का जन्म हो चुका था और उसकी साधना के लिए अवतार लीला तथा लीला नायक श्री राम-कृष्ण को इष्ट रूप में वर्णन करके शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव से उस तत्त्व के माधुर्य रूप से उस तत्त्व का साक्षात्कार किया जाने लगा था। सगुण भक्तों की इस राम भक्ति तथा कृष्ण भक्ति शाखा ने हिन्दी साहित्य को पूर्ण रूपेण परिपुष्ट किया। राम-भक्तों ने मर्यादापुरुषोत्तम राम के लोकरक्षक रूप की लीलाओं का तथा श्री कृष्ण-भक्तों ने उनके माधुर्यानुरूप वात्सल्य, सख्य, श्रृंगार [विप्रलम्भ तथा संयोग] लीलाओं का गान किया। अब तक सच्चिदानन्दघन तत्त्व के प्रति प्रेम से जगत एक प्रकार से परिचित जैसा हो चला था और "प्रेमापुमर्थो महान" का सिद्धान्त सुस्थिर हो चला था। भगवत प्रेम की प्राप्ति ही उस काल की चरम साधना या सिद्धि थी।

इस प्रकार उपर्युक्त समग्र वक्तव्य का सारांश यह कि "परमसत् परमचित् और परम आनन्द की प्राप्ति" भारत के इस आध्यात्मि चिन्तन का मूल श्रोत वैदिककाल से ही चला आ रहा है। जिसका क्रमिक विकास समयानुकूल संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषा में प्रकट हुआ है; जिसकी साधारण रूप रेखा इस प्रकार स्वीकार की जा सकती है—

| साहित्य                | काल                      | भाषा                         |
|------------------------|--------------------------|------------------------------|
| वैदिक साहित्य          | वैदिक काल                | संस्कृत                      |
| वेदांग साहित्य         | वेदांग काल               | संस्कृत                      |
| पुराण साहित्य          | पुराण काल                | संस्कृत                      |
| धर्म शास्त्र साहित्य   | पुराण काल                | संस्कृत                      |
| दर्शन साहित्य          | दर्शन काल                | संस्कृत                      |
| चार्वाक और जैन साहित्य | सहस्राधिक ई. पूर्व       | संस्कृत, प्राकृत और पाली     |
| बौद्ध साहित्य          | पाँचवीं शताब्दी ई. पूर्व | संस्कृत, प्राकृत और पाली     |
| भक्ति साहित्य          | वि. सं. १३७५ से          | संस्कृत और हिन्दी [ब्रजभाषा] |



हम ऊपर कह चुके हैं कि भारतीय चिन्तन का धारावाहिक क्रमिक विकास अध्यात्मवाद की विस्तृत वसुन्धरा पर अवस्थित भक्ति की भव्य दसवीं मंजिल पर प्रेम लक्षणा भक्ति के रूप में प्रकाशित हो चला था। सच्चिदानंद घन तत्त्व को अति निकट से देखने जैसी अनुभूति श्री कृष्ण के ब्रजलीला माधुर्य के द्वारा होने लगी थी। भगवान के प्रति प्रेम की प्राप्ति [भगवत् प्रेम की प्राप्ति] ही साधना का परम लक्ष्य समझा जाने लगा था, किन्तु परात्पर तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'रस' से परिचय अभी भी दूर ही था। भगवान के प्रति होने वाले भगवत् प्रेम के दर्शन तो होने लगे थे किन्तु 'प्रेम' के परात्पर रूप के नहीं, वह अभी भी अलक्ष्य ही था। जिस परम तत्त्व के रूप का निर्वचन करते हुए श्रुतियों ने सब कुछ कह देने के पश्चात् "रसोवैसः रसं ह्येवालब्ध्वानन्दी भवति" कहकर मैन धारण कर लिया था, उसका प्रत्यक्ष दर्शन अभी भी अकल्पित ही था, क्योंकि भक्त जगत् ने भगवत् प्रेम को ही सर्वोपरि समझ लिया था। परात्पर तत्त्व 'प्रेम' के प्रतिविम्ब



का तो दर्शन होने लगा था किन्तु उसका विम्ब अभी भी अलक्ष्य ही था। न जाने कितनी दूर और कितना निकट। भगवान् श्रीकृष्ण के ब्रजलीला माधुर्य रूप में उसके प्रकाश के दर्शन तो होने लगे थे किन्तु उसका पूर्ण प्रकाशी रूप अभी भी अदृश्य ही था। भगवान् के माधुर्य रूप की उपासना में अनेक रसता, अनेक रूपता तथा नैमित्तिकता का स्थान था; तभी श्रीहिताचार्य ने महीतल पर एक ऐसी अचिन्त्य उपासना की अभिनव धारा को जन्म दिया जिसने अब तक के सम्पूर्ण अभावों की पूर्ति कर दी। जिसके प्रत्येक कण में महारस सिन्धु के दर्शन थे। यह अभिनव धारा ही 'रसभक्ति' नाम से अभिसंज्ञात हुई।

रसभक्ति की यह नवीनतम धारा निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा इन दोनों धाराओं से पृथक् महाविलक्षण थी। श्रुतियों से अगोचर, लक्ष्मी, ब्रह्मा, शिव, शुक और सनकादिकों से अलक्ष्य जो 'रस' नित्य नव किशोर, नित्य नव दम्पति श्री राधा-श्यामसुन्दर रूप अपनी नित्य नव अनन्त सहचरियों से आवेष्टित हो नित्य नव वृन्दावन में विहार परायण बना रहता है; वह परात्पर तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'रस' ही इस अभिनव धारा का परमोपास्य था। इस अभिनव उपासना की काव्य धारा ने उस सच्चिदानन्दघन विग्रह 'रस' का रस प्रवाहित किया था। रूप के वास्तविक रूप का गान किया था। सौन्दर्य के वास्तविक सौन्दर्य का चारु चित्रण किया था और सिंगार का भी वास्तविक सिंगार किया था। इस रस धारा ने अपने कल-कल निनाद से उस असीम को मानव के ससीम हृदय में; ससीम भावों में अभिव्यक्त होने का अमर संदेश दिया था। इस रस धारा ने 'रस' के शाश्वत स्वरूप का रसानन्द प्रवहित किया था।

## ४. ४. प्रमेय और प्रमाण :

'प्रमेय' और 'प्रमाण' ये दोनों शब्द दार्शनिक सिद्धान्त के क्षेत्र में संप्रयुक्त होने वाले विशिष्ट शब्द हैं। दार्शनिक सिद्धान्त सुनिश्चित रूप से जीव-जगत् और ब्रह्म के स्वरूप और उनके पारस्परिक संबंध का उद्बोधक होता है। श्री हिताचार्य ने इस त्रितत्त्व के विवेचन को अनावश्यक ही नहीं प्रत्युत रसोपासना में बाधक समझ कर अपनी वाणी का विषय नहीं बनाया है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में 'प्रमेय' तथा 'प्रमाण' इन दोनों शब्दों का सर्वथा अदर्शन है—यह एक निरापद सत्य है; किन्तु इसके साथ ही यह भी अकाट्य और निर्गन्त सत्य है कि उन्होंने एक ऐसी उपासना विशेष की संस्थापना की जो कि पूर्ववर्ती सभी उपासनाओं से पृथक् सर्वथा मौलिक उपासना थी।

प्रत्येक उपासना का अपना एक उपास्य विशेष होता है। आराध्य, सेव्य तथा इष्ट आदि इसी उपास्य शब्द के पर्याय हैं। जैसे शिवोपासना का उपास्य शिव, शक्ति उपासना का उपास्य शक्ति, भगवदोपासना का उपास्य भगवान् होता है। अन्य क्षेत्रों में जिसे प्रमेय



कहा जाता है; उपासना क्षेत्र में उसी की उपास्य किंवा इष्ट संज्ञा होती है। श्री हिताचार्य का प्रमेय [उपास्य] 'प्रेम' किंवा 'रस' है, जिसके स्वरूप का सर्वाङ्गीण विशद विवेचन हम प्रबंध के पंचम अध्याय में करेंगे।

श्री हिताचार्य ने अपने उपास्य के रूप और स्वरूप का परिचय देते हुए सुस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि मेरा परमोपास्य श्रुतियों से सर्वथा अलक्षित है किन्तु वह उसके हृदय में संगुप्ततया विद्योतित है। अतः श्रुति कथा [श्रुति ने जो कुछ कथन किया है] मेरे लिए वृथा है। उन्होंने यह भी उद्घोष किया है कि उन सुशास्त्रों से, और सुशास्त्रों से समुदित तथा महत्जन मार्गों से मुझे क्या प्रयोजन है? जिनमें मेरी प्रेममूर्ति श्री राधा का महिम्न गान नहीं है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि उन्होंने श्रुति, आगम, संहिता और श्रीमद्भागवतादि पुराणों को प्रमाण ग्रन्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया है — क्योंकि इन ग्रन्थों में उनकी प्रेममूर्ति श्री राधा का वर्णन नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही सामने आता है कि श्री हिताचार्य के उपास्य को कल्पित क्यों न कहा जाय? तथा कल्पित कहे जाने से रोकने वाला प्रमाण ग्रन्थ कौन सा है? प्रश्नकर्ता को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि श्री हिताचार्य ने जहाँ पर अपने परमोपास्य को निखिल निगमों से, श्रुतियों से अलक्षित अत्यन्त गुप्त लिखा है वहीं पर यह भी लिखा है कि वह उपनिषदों के हृदय में अत्यन्त गुप्त रूप से विद्योतित है<sup>१</sup>। श्रुतियों को उस रूप के अस्तित्व की अनुभूति अवश्य ही होती है तभी तो वह परमतत्त्व के निर्गुण-सगुण रूप का सविस्तर वर्णन करके 'इति अलम्' न कहकर 'नेति-नेति' कहती हैं। ऐसी स्थिति में हमें विवशतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि श्री हिताचार्य का परमोपास्य निगमों द्वारा श्रुतियों द्वारा अलक्षित तो अवश्य है किन्तु उनका हृदय यह साक्षी भी देता है कि कोऽपि रूप है अवश्य। इस प्रकार उनका उपास्य कल्पित नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात ये भी है कि श्री हिताचार्य ने जिसे अपना परमोपास्य घोषित किया है वह 'प्रेम' किंवा 'रस' स्वतः प्रमाण सिद्ध तत्त्व है। उसे प्रमाणित करने, उसकी परात्परता सिद्ध करने के लिये अन्य शब्द प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। 'प्रेम' किंवा 'रस' इतना लोक-वेद प्रसिद्ध, इतना महतोमहीयान् और सर्वव्यापक तत्त्व है जिसका स्वरूप गान साधारण मानव से लेकर भक्त और भगवान तक अनादिकाल से करते चले आ रहे हैं। वैष्णव आगमों एवं श्री मद्भागवतादि पुराणों से लेकर कृष्णोपासक एवं रामोपासक संप्रदाय-ग्रन्थों में भी इसका महिम्न गान प्रचुर मात्रा में प्राप्त है।



प्रमाण उसी की वाणी का दिया जाता है जिसने अभीष्ट प्रमेय को निकट से देखा हो, देखकर उसके रूप तथा स्वरूप का वर्णन भी किया हो। श्री हिताचार्य के प्रमेय [परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस'] को देव, दानव, मानव, मुक्तों, शिव, ब्रह्मा, लक्ष्मी और शुकादि भक्तों ने किसी ने नहीं देखा है<sup>१</sup>। श्रुतियों ने भी नहीं देखा है इसीलिये वे उस रूप का वर्णन नहीं कर सकी हैं।

श्रुतियों के 'नेति-नेति' शब्दों द्वारा संकेतित 'प्रेम' किंवा 'रस' को सर्वप्रथम श्री हिताचार्य ने ही अत्यन्त निकट से देखा; मात्र देखा ही नहीं प्रत्युत उसके रूप और स्वरूप के सर्वाङ्गीण परिचय के साथ ही उसकी नित्य क्रीड़ा का वर्णन भी अपनी वाणी में किया। उन्होंने इस अविस्मरणीय बात का उल्लेख अपनी रचनाओं में परमोपास्य 'प्रेम' के स्वरूप परिचय सन्दर्भ में स्वयं ही कर दिया — "जो परम मधुर हैं और गाढ़ स्नेह-रज्जु में ग्रथे जैसे हैं, इस लोक में उन अदभुत प्रेम की मूर्ति द्वय का नाम श्री राधा माधव विख्यात है—उस प्रकाश-युगल को केवल मैं जानता हूँ"—

गाढ़ स्नेहानुबन्ध ग्रथितमिव तयोरदभुत प्रेममूर्त्योः।

श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्वयं धाम जाने<sup>२</sup>॥

एक स्थल पर उन्होंने यह भी लिखा है कि—"प्रेम मूर्ति श्री राधा के चरणानुभाव कथन द्वारा प्रसरित मेरा वाक्य समूह [मेरी वाणी] नित्य नव कुंजों से सुशोभित वृन्दावन में संलग्न है और नित्य क्रीड़ा परायण प्रेम मूर्ति श्री राधा के चरण-नख की ज्योति छटा से संयुक्त है।" वाणीकार का अन्तराशय यह है कि मेरी वाणी उन्हीं प्रेम मूर्ति राधा के चरणानुभाव की उदगाता है —

क्वाहं मूढ मतिः क्वनाम परमानन्दैक सारं रसः।

श्रीराधा चरणानुभाव कथया निस्स्यन्दमाना गिरः॥

लग्नाः कोमल कुंज पुंज विलसद् वृन्दाटवी मण्डले।

क्रीडच्छ्री वृषभाजुजा पद नख ज्योतिश्छटाप्रायशः<sup>३</sup>॥

यहाँ पर एक बात नितान्त अविस्मरणीय ये है कि श्री हिताचार्य ने उपर्युक्त श्लोक में अपने परमोपास्य किंवा प्रमेय 'रस' को उस परमानन्द का सार कहा है। [परमानन्दैक सारं रसः रा. सु. नि., श्लो. सं. २६६] जिसका उल्लेख उन्होंने 'राधासुधानिधि' ग्रन्थ के श्लो. सं. १४७ में ब्रह्मानन्द और भगवदानन्द के साथ किया है। साथ ही अन्य सभी

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ३, ७३, ९६, १२८, १४८, २३८, २३९, प्र. पृ. सं. १०६, १०७

२. ३. रा. सु. नि. श्लो. सं. १७३, २६६

भावुक भक्तों को इन्हीं तीनों आनंदों का आस्वादक भी बतलाया है। आचार्य ने इसी ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर स्फुट शब्दों में यह उद्घोष भी किया है कि “हे बुधजनो ! यदि तुम्हें अद्भुत आनंद [परमानंद का भी सार-रस] का लोभ हो [ब्रह्मानंद, भगवदानंद तथा परमानंद आदि आनंदों का लोभ न हो] तो मेरे इस ‘रससुधानिधि’ नामक स्तव को कर्ण-कलशों द्वारा ग्रहण करके रस सुधा निधि का पान करो”—

**अद्भुतानन्द लोभश्चेन्नाम्ना रससुधानिधिः । स्तवोयं कर्ण कलशैर्गृहीत्वा पीयतां बुधाः<sup>१</sup>**

उपर्युक्त उद्घोष वाक्यों से यह तथ्य निर्व्रान्त रूप से सर्वबोध हो जाता है कि परात्पर तत्व ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ का लीला विग्रह रूप सर्वप्रथम गो. हित हरिवंश जी के दृष्टिगोचर हुआ और उन्होंने ही सर्वप्रथम अपनी वाणी द्वारा उसके लीला परायण रूप का सर्वाङ्गीण परिचय दिया। श्रुतियाँ जिस परात्पर तत्व को ‘रस’ कहकर मौन हो गई; श्री हरिवंश-वाणी ने उसी परात्पर तत्व ‘रस’ को ‘रस के लीला विग्रह रूप को’ रसिकों के लिए प्रत्यक्ष किया। यही कारण है कि रसिक जगत में उनकी वाणी रस के लीला ग्रन्थ होने के साथ-साथ रसोपासना के सूत्र ग्रन्थ, प्रमाण ग्रन्थ और संविधान ग्रन्थ के रूप में समादृत हुई। श्री हरिवंश वाणी को रसोपासना का प्रमाण ग्रन्थ इसलिये भी कहा जाता है क्योंकि उनकी वाणी में ही सर्वप्रथम रस भक्ति के उपास्य, [नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर] उपासक और उपासना का सर्वाङ्गीण रूप और स्वरूप विधान समुपलब्ध होता है। इस तथ्य को श्री हरिवंश वाणी के सर्वप्रथम अध्येता श्री सेवकजी ने इन शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है कि —“श्री हरिवंश चन्द्र की वाणी में जो रसरीति वर्णन की गई है उसी की मेरे चित्त में प्रतीति है। अन्य रस रीतियाँ मुझे अच्छी ही नहीं लगती”—

**श्री हरिवंश गिरा रसरीति सु चित्त प्रतीति न आन सुहाई<sup>२</sup>।**

एक अन्य स्थल पर इसी भावना को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है —

**श्रीहरिवंश जु श्री मुख भाखी। सो वन भूमि चित्त में राखी<sup>३</sup>।।**

अपनी वाणी के ‘इष्टाराधन प्रकरण’ में तो उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मेरे लिए ज्ञान, विश्वास, तथा प्रमाण आदि सब कुछ श्रीहरिवंश ही हैं —

**प्रज्ञा हरिवंश प्रतीति प्रमाणत प्रीतम श्री हरिवंश प्रियं<sup>४</sup>।।**

असीम रस भजन के लिए श्री हरिवंश वाणी को ही परम प्रमाण स्वीकार करते हुए नेही नागरीदास जी ने भी लिखा है कि —

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २७०

२. से ४. से. वा., से. जी., अनन्य टेक सपथ प्रकरण, छं. ६, वाणी प्रकरण छं. २, इष्टाराधन प्रकरण छं. ४



वाणी श्री हरिवंश की हिये अलंकृत हार।  
नग निर्मलक जगमगैं वचन माधुरी चारु॥  
अँखियन अंजन अमल सुख मन हिय उज्ज्वल प्रान।  
रसनिधि निरवधि भजन कौं वर वाणी परमान॥  
याही में परमान है भजन रीति रस ढारु।  
विमल वस्तु बहु भाँति सुख वानी वर ढँग गारु<sup>१</sup>॥

हितघुवदास जी ने भी रसोपासना के सिद्धान्त वर्णन सन्दर्भ में पग-पग पर श्रीहिताचार्य की वाणी को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है —

“श्री प्रिया जी कौ अंग संग छाँड़िकैं और ठौर कौं मन न चलै। प्रीति की रीति ऐसी है। तहाँ श्रीजू की वानी॥ पद॥ प्रीति की रीति रँगिलौई जानैं।... जो बात प्रिया जू कौं भावै सोई पिय कौं भावै। तहाँ श्रीजू की वानी॥ पद॥ जोई जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै भावै मोहि जोई सोई-सोई करै प्यारे।।....जब सब ठौर की चंचलता छूटै तब आशक्ति के रस सौं अटकै॥ तहाँ श्री जू की वानी॥ कहा कहौं इन नैनन की बात। ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात॥....॥<sup>२</sup> इत्यादि।

चाचा वृन्दावनदास जी ने भी श्री हरिवंश वाणी को एकान्त प्रमाण रूप में प्रकीर्तित करते हुए कहा है कि उपास्य श्री हित श्यामा-श्याम के प्रेम चरित्रों का निकट परिचय देने वाली वाणी एकमात्र श्री हरिवंश वाणी ही है—मैंने भी उसी वाणी के प्रकाश में उन चरित्रों को हृदयंगम किया है—

श्रीहरिवंश गिरा करि समुझी दंपति चरित कहानी।

बहुतन सुनी कही पुनि बहुतन अनुरागिन ही जानी<sup>३</sup>॥

जिस प्रकार अन्य भक्ति सम्प्रदायों में अपनी-अपनी उपासना के सिद्धान्तों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए वेद-पुराण तथा तंत्र शास्त्रादिकों को प्रमाण माना गया है उसी प्रकार रस भक्ति धारा में श्री हरिवंश वाणी तथा सेवक वाणी को प्रमाण कोटि में स्वीकार किया गया है। लाड़िलीदास जी ने अपने ‘सुधर्म बोधनी’ ग्रन्थ में इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

वेद आपनौ सुधानिधि चौरासी जु पुरान। सेवकवाणी जहाँ लौं तंत्र शास्त्र सब जान<sup>४</sup>॥

१. ना. दा. की. वा., ने. ना. दा., प्रा. ह. लि. प्र., दो. सं. ४०३, ४१२, ४१३

२. ब्या. ली., सिद्धान्त विचार हि. धु. दा., प्रा. ह. लि. प्र.,

३. यु. स. प., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ३

४. सु. बो., ला. दा., प्रा. ह. लि. प्र., नबम प्रसंग, दो. सं. — ३५

लाङ्गिणीदास जी ने स्व धर्म का बोध कराने के उद्देश्य से स्व निर्मित ग्रन्थ— 'सुधर्म बोधनी' में अपने विचारों को प्रमाण पुष्ट बनाने के लिए किसी स्थल पर श्री हरिवंश वाणी और किसी स्थल पर सेवकवाणी के छन्द भी उद्धृत किये हैं —

श्री मुख गिरा जु सुधानिधि तहाँ कह्यौ यह रूप।  
हित चित्त दै खोजैं जु कोउ पावैं अकह सरूप<sup>१</sup>॥

प्रमाण - राधासुधानिधि—“तन्नः प्रतिक्षण चमत्कृत चारु लीला तथा सत्प्रेम सिंधु मकरंद रसौघधारा”। इत्यादि॥

सकल धाम हित नाम बस वन रस गिरा अधीन।  
दोऊ हमारी गति सदा सेवक निश्चय कीन॥

प्रमाण-सेवकवाणी—“सेवक शरण सदा रहै.....”<sup>२</sup>

हित प्रीतमदास जी ने उपास्य श्यामा-श्याम के केलि परायण रूप का उद्गान किया है तथा उसे नेत्र गोचर करने का संविधान भी प्रदान किया है। अपने इस उद्गान में उन्होंने प्रमाण रूप में श्री हरिवंश वाणी को ही स्वीकार किया है —

श्री मुख वचन रचन प्रमान।  
सोइ हृदय मधि धारि संतत करत निशि-दिन गान॥  
जयति श्री हरिवंश हित प्रभु चन्द्र शीतल भान।  
रसिकजन उर-तिमिर-ध्वंसक हरन हिय अज्ञान॥  
वदत श्री सेवक जु श्री गुरु सकल रसिक महान।  
कर्म कुल जे प्रबल डोरी काटि प्रबल कृपान॥  
रसरीति हित जु अनन्य उर धरि नहिं सुहात जु आन।  
ताहि वच सिर मुकुट 'प्रीतम' धापि कियौ रस पान<sup>३</sup>॥

श्रीराधारससुधानिधि श्री मुख वचन प्रमान। सेवक वाणी मध्य में इही कियौ रस गान।  
श्रीहितवाणी प्राण धन ताहि विचार निहार। चौरासी पद-पद सु प्रति इही केलि रस सार<sup>४</sup>॥

#### ४.५. रस भक्ति प्रागट्य का प्रयोज्य एवं प्रयोजन :

यह सत्य है कि श्रुतियों ने परात्पर तत्व के निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार रूप द्वय का निर्वचन करने के उपरान्त 'नेति-नेति' शब्द के द्वारा उसके कोऽपि

१.२. सु. बो., ला. दा., प्रथम प्रसंग, छं. सं. ५१, ८२

३.४. प्री. दा. जी की वा., प्री. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २७७, १८१



अनिर्वचनीय रूप का संकेत किया है। यह भी सत्य है कि आचार्य शंकर तथा भक्ति सम्प्रदाय के आचार्य चतुष्टय ने भी यह स्वीकार किया है कि श्रुतियों ने 'नेति नेति' शब्द के द्वारा यह व्यंजित किया है कि मेरे द्वारा उद्गीत स्वरूप से अपर भी कोई स्वरूप है। किन्तु ये आचार्य गण उस रूप को उपास्य नहीं बना सके।

श्री हिताचार्य ने उस रूप को ही अपना उपास्य बनाया और घोषणा की कि अखिल निगमागमागोचर परात्पर तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'रस' ही है। श्रुतियों के कथनानुसार जिसे पाकर प्रापक आनन्दी हो जाता है<sup>१</sup>। अनेक स्थलों पर श्रुतियों के ये वाक्य भी मिलते हैं कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान नाम से संबोध्य ब्रह्म की उपलब्धि होने पर प्रापक सच्चिदानन्दमय हो जाता है। इन श्रुति वाक्यों से यह सुस्पष्ट है कि पृथक-पृथक उपास्य के रूपों की भिन्नता के कारण उपलब्धि की भिन्नता प्रकृत सिद्ध है। 'उपलब्धि भिन्नता' इसलिये कही जा रही है क्योंकि 'शब्द भेदात् अर्थ भेदः' के न्याय से अर्थ भिन्नता तो निर्भ्रान्त है ही साथ ही दोनों उपलब्धियों में स्वरूप भिन्नता भी है।

'आनन्दी' संज्ञा उसी की होती है, जो भीतर-बाहर आमूलचूल आनन्द से इस प्रकार पूर्ण संभृत हो जाये कि उसके मन में और हृदय में आनन्द प्राप्त करने की कामना ही शेष न रहे। वह कामना शून्य-निष्काम हो जाये। इतना ही नहीं, प्रत्युत वह दूसरे को आनन्द प्रदान करके उसके आनन्द में आनंदित होता रहे।

सत् और चित् रूप के उपासकों को तो आनन्दमयिता अभीष्ट ही नहीं होती तथा सच्चिदानन्द रूप भगवान [विष्णु, नारायण, राम, कृष्णादि अवतार रूप] के उपासकों को सच्चिदानन्द घन भगवान के सच्चिदानन्दमय लोक में सम्प्रविष्टि और उनका सामीप्य तो प्राप्त हो जाता है किन्तु उपास्य के नित्य सामीप्य स्थिति में भी वे कामना शून्य नहीं होते। उनके हृदय में आनन्द प्राप्ति की कामना निरन्तर बनी ही रहती है। यह ठीक है कि उस स्थिति में उनकी कामनाओं के विषय लौकिक न होकर अलौकिक हो जाते हैं। अर्थात् उनके चित्त में भगवान से मिलने, उनके साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करके स्वयं आनंदित होने की कामना बनी ही रहती है। कामना का स्वरूपान्तर तो अवश्य हो जाता है किन्तु उसका अस्तित्व बना ही रहता है। कामना बने रहने का एक कारण विशेष है। और वह यह कि—

भक्त और भगवान के बीच में भक्ति नाम का अक्षुण्ण सम्बन्ध सूत्र होता है जो

१. रसोवैसः रसं दृष्ट्वा लब्ध्वा नन्दी भवति।



कि इन दोनों [भक्त और भगवान को] एक बनाये रखता है और पृथक भी बनाये रखता है। साथ ही दोनों को अपने-अपने स्वरूप में स्थित भी बनाये रखता है। यह भक्ति भाव महान के प्रति ही उदित होता है; लघु या सम के प्रति नहीं। भगवान 'महतोमहीयान' हैं, पूर्ण हैं, अंशी हैं, दाता हैं और निष्काम हैं। भक्त अपूर्ण है, अंश है और भिखारी है। एतावता वह निष्काम नहीं सकाम ही बना रहता है। भक्त; भगवान को निष्काम पूर्ण और दाता समझता है और मानता है। भक्त मात्र की यह भावना होती है कि भगवान ही आनन्ददायी हैं, मैं नहीं। इसीलिए उसके हृदय में भगवान को सुख देने की चिन्तना और कल्पना उठती ही नहीं प्रत्युत अपने सुख की ही कामना बनी रहती है।

श्रीकृष्ण के लीला परिकर में गोपियों का स्थान सर्व मूर्धन्य है। भगवान श्री कृष्ण के प्रेमी भक्तों में भी ये गोपियाँ सर्वाग्रगण्य तथा आदर्श मानी जाती हैं किन्तु उनके हृदय में भी कामना बनी हुई थी। इस कामना के कारण ही उन गोपियों को श्री कृष्ण-विरह का दुःख सहना पड़ा था—

गोपिन के सम भक्त न आही। शिव-विधि तिनकी पद रज चाही॥

तिन मन कछु सकामता आई। ताते बिच अंतर पस्थौ माई<sup>१</sup>॥

श्री नन्द-यशोदा, कीर्ति-वृषभान आदि स्नेही जन, श्री दामा-सुबल और सुबाहु आदि सखागण तथा राधा-चन्द्रावली आदि गोपियाँ 'गोविन्द प्रिय वर्ग' नाम से प्रकीर्तित हैं। किन्तु इन प्रेमियों के हृदय में भी श्रीकृष्ण सुख चिन्तन की भावना [तत्सुख सुखी भावना] न होकर मत्सुख सुखी-भावना ही बनी रहती है। श्रीकृष्ण यदि राधा के घर चले जाते हैं तो चन्द्रावली दुखी होती है और चन्द्रावली के घर चले जाते हैं तो राधा दुखी होती है। श्री दामा की गेंद जब कालीदह में गिर जाती है; तब वह अपनी गेंद प्राप्ति के लिए श्री कृष्ण को कालीदह में कूदने के लिए विवश कर देता है। माँ यशोदा श्री कृष्ण के माटी खाने पर उन्हें साँटी दिखाती हैं। माखन-चोरी करने पर और माट फोड़ने पर प्रतारणा देती हैं। उन्हें किस बात में सुख प्राप्त होता है; यह न सोचकर उन्हें बलात् स्नान कराती हैं, उनकी इच्छा के विरुद्ध शृंगार करती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नान्त तथ्य यही निकलता है कि गोपियाँ तथा सखादि गोविन्द प्रिय परिकर को अपनी ही रुचि और अपने ही सुख का ध्यान रहता है; श्रीकृष्ण की रुचि या उनके सुख का नहीं। बहुत अधिक स्पष्ट है कि इन सबके हृदय में स्वसुख की कामनाएं विद्यमान रहती हैं।



इस स्वसुख कामना का समूल उन्मूलन गोलोक में भी नहीं देखा जाता। इस स्वसुख कामना के कारण ही श्री राधा को श्रीदामा से शापित होकर इस मानव लोक में आना पड़ा था और एक सौ वर्ष श्री कृष्ण का विरह-दुःख सहन करना पड़ा था। बिरजा को नदी बनना पड़ा था।

भक्तों के हृदय में कामना बने रहने का दूसरा कारण यह भी है कि वे तत्त्वतः तदरूप होने पर भी पूर्ण काम भगवान नहीं बन पाते। भगवान बन भी नहीं सकते। 'भगवान नहीं बन पाते' यह कहने का अर्थ यह है कि उन लीला परिकरस्थ भक्तों में भगवान के वे स्वरूपगत धर्म किंवा स्वरूप भूत गुण उदित नहीं होते और न उदय हो ही सकते जिन धर्मों के कारण वे भगवान कहलाते हैं, जिन गुणों के कारण वे 'कर्तुअकुर्त अन्यथा कुर्त' कहलाते हैं। यथा—पालन-पोषण करना, धर्म तथा मर्यादा की रक्षा करना—नियमन करना, प्रेरणा करना, शरणागत की रक्षा करना आदि-आदि।

उपर्युक्त वर्णना का सारांश यह कि इस कामना का समूल उन्मूलन—पूर्ण रूप में निरस्त होना—एक मात्र आनन्दी स्वरूप होने पर ही सम्भव है और उस रूप की उपलब्धि एक मात्र 'प्रेम' किंवा 'रस' की उपासना द्वारा ही—रस रूप की प्राप्ति होने पर ही सम्भव है। रस रूप का सानिध्य सबको प्राप्त हो सके इस उद्देश की पूर्ति के लिये ही गो. हित हरिवंश जी ने 'रसभक्ति' संज्ञक रसोपासना का अविर्भाव किया था।

#### ४.६. प्रमेय तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'रस' की परात्परता :

सम्पूर्ण निगमागमों और पुराणादि भक्ति शास्त्रों में परात्पर तत्त्व का निर्गुण निराकार और सगुण साकार रूप में व्याख्यान करते हुए उसका 'रस', 'प्रेम' किंवा 'हित' रूप में भी सांकेतिक उल्लेख कर दिया है<sup>१</sup>। किन्तु जिस प्रकार उसके निर्गुण-सगुण रूप का विशद विवेचन किया है उस प्रकार 'प्रेम', 'रस' किंवा 'हित' के स्वरूप पर और उसकी परात्परता पर प्रकाश नहीं डाला गया है। क्योंकि किसी ने 'प्रेम' किंवा 'रस' रूप को उपास्य नहीं बनाया था। 'प्रेम' किंवा 'रस' को परमोपास्य बनाने का श्रेय श्री हिताचार्य को ही है। अतः उन्होंने तथा तदनुगत रसिकों ने ही 'प्रेम' की परात्परता की किरणें विकीर्णित की हैं। आगे हम श्री हिताचार्य के प्रमेय तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'रस' की परात्परता को आलोकित करने की चेष्टा करेंगे।

१ [क] तै. उ., ब्रह्म बल्ली

[ख] त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।

[ग] यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकं। घनीभूतामल प्रेम सच्चिदानन्द विग्रहम्॥

— श्री म. मा., दशम स्कं.



### ४.६.१. निर्गुण-सगुण से पृथक् तथा दोनों का मूलाधिष्ठान :

यह सार्वजनीन मान्यता है—सम्पूर्ण भक्ति शास्त्रों तथा सभी धर्माचार्यों की मान्यता है कि एकान्त और परात्पर तत्त्व एक ही होता है दो या तीन नहीं<sup>१</sup>। अतः यह निर्विवाद है कि श्रुतियों ने निर्गुण निराकार और सगुण साकार स्वरूप द्वय का गान किसी एक परात्पर तत्त्व को लक्ष्य कराने के लिए ही किया है।

### ४.६.१.१. परात्पर तत्त्व के निर्गुण-सगुण रूप : एक आलोक :

निर्गुण निराकार ब्रह्म केवल ज्ञान का ही विषय है। वह जीवमात्र के किंवा भक्तों के हृदयस्थ सहज भावों का विषय नहीं बन पाता। सदंश, चिदंश और आनंदांश जीव की सहज स्वाभाविक आनंद कामना की पूर्ति उसी रूप के द्वारा संभव है जो इन्द्रियातीत होते हुये भी इन्द्रियों का विषय बन सके। जो दयालुता, कृपालुता, औदार्य और भक्त वत्सलता प्रभृति गुणों से सम्पन्न हो। जगत का प्राणीमात्र, सुन्दर रूप देखना चाहता है, सुन्दर वचन सुनना चाहता है, कोमलांगों का स्पर्श करना चाहता है। सच्चिदानंद घन निर्गुण निराकार रूप, गुण रहित और रूप रहित होने के कारण तथा लोक मानस, लोक बुद्धि और मानव इन्द्रियों से सर्वथा असंपृक्त होने के कारण प्राणी मात्र की आनंद कामना संपूर्ति करने में सर्वथा असमर्थ है। भक्तों की कामना पूर्ति करने के लिये उसे साकार बनना ही पड़ता है। एतावता निर्गुण निराकार रूप परात्पर तत्त्व का अपूर्ण या अर्ध रूप है।

श्रुतियों एवं सभी भक्ति शास्त्रों का कथन है कि वह परम तत्त्व जीव और जगत की सृष्टि करने के लिये, पालन करने के लिये, संहार करने के लिये, धर्म की रक्षा करने के लिये, तथा संतुष्ट जीवों और शरणागत भक्तों की रक्षा करने के लिये अनन्त रूप धारण करता है। यह कार्य निर्गुण निराकार रूप से सम्पन्न होना असम्भव है। इन कार्यों को करने के लिये ही वह सगुण साकार रूप धारण करता है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि वह निर्गुण निराकार रूप, सगुण साकार रूप सापेक्ष है। एतावता निर्गुण निराकार रूप परात्पर तत्त्व का अर्ध या अपूर्ण रूप ही है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का विशद विवेचन करते हुये उसके मूर्त और अमूर्त दो रूप बतलाये हैं। इन रूपों में मूर्त रूप को मर्त्य और अमूर्त रूप को अमृत बतलाया है। इसप्रकार श्रुति के शब्दों में सगुण साकार ब्रह्म अनित्य है।

१. ब्रह्म सनातन एक है तामें क्यों द्वै भेद। निराकार—साकार ई विधी वरतना वेद।।



त्रिपाद विभूति 'महानारायणोपनिषद्' में भी सगुण ब्रह्म के स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण इस प्रकार दिये हैं —

“सगुण ब्रह्म सत्-रज और तम गुणों से युक्त-विकार युक्त होता है। वह सावयव होता है। वह ईश्वर रूप में सृष्टि, पालन और संहार किया करता है। बैकुण्ठ और बैकुण्ठाधिपति साकार ब्रह्म है। तुरीय तत्त्व निराकार है। साकार ब्रह्म अनित्य और निराकार नित्य होता है।”

राम भक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा के सभी भक्त कवियों की यह मान्यता है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म ही भक्तों की रक्षा के लिये धर्म की रक्षा करने के लिये और असुरों का संहार करने के लिये सगुण रूप में प्रकट होता है —

लोचन-श्रवण न रसना-नासा। बिनु पद-पानि करै परकाशा॥  
विश्वंभर निज नाम कहावै। घर-घर गोरस खाइ चुरावै॥....  
जरा मरन ते रहित अमाया। मात-पिता सुत-बन्धु न जाया॥  
ज्ञान रूप हृदय में बोलै। सो बछरन के पाछे डोलै॥  
जाकी माया लखै न कोई। निर्गुण सगुण धरै वपु सोई॥  
अगुण अरूप अलख जग जोई। भगत प्रेम बस सगुण सु होई॥  
अगुन अरूप अमान एक रस। राम सगुण भये भगत प्रेम बस॥

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद। सो अज भगत प्रेम बस कौशल्या की गोद॥

श्रुतियों और भक्ति शास्त्रों से समुपलब्ध सामग्री से सार रूप में दो तथ्य सामने आते हैं — [१] परम तत्त्व के निर्गुण निराकार और सगुण साकार ये दो रूप हैं। [२] निर्गुण निराकार नित्य है और सगुण साकार अनित्य है। अनित्य [मर्त्य] कहने का अर्थ यह नहीं कि वह अन्य भौतिक पदार्थों की ही भाँति है प्रत्युत इस शब्द से श्रुतियों का अन्तराशय यह है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म, सगुण साकार ब्रह्म के रूप में किसी कार्य विशेष के लिये प्रगट होता है और कार्य करके अन्तर्हित हो जाता है। या अपने कारण रूप में लीन हो जाता है। निर्गुण निराकार ब्रह्म ही सगुण साकार [बैकुण्ठाधिपति नारायण विष्णु, ब्रह्मा, शिव, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण इत्यादि अवतार स्वरूप] बनकर सृष्टि, पालन

१. सू. सा., बाल कृष्ण माधुरी, सू. दा. जी

२. रा. च. मा., बालकाण्ड, गो. तु. दा. जी

३. रा. च. मा., अयोध्याकाण्ड, गो. तु. दा. जी

४. रा. च. मा., बालकाण्ड, गो. तु. दा. जी



और संहार कार्य करता है। वह निर्गुण निराकार ही भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर मनुज रूप से धर्म की रक्षा, भक्तों की रक्षा और असुरों का संहार किया करता है। सारांश यह है कि सगुण साकार, निर्गुण निराकार ब्रह्म के स्वेच्छित कार्य सम्पादनार्थ एक माध्यम है जो कि देश काल की सीमा में ही आलोकित होता है। एतावता सगुण साकार ब्रह्म भी अपूर्ण किंवा एकान्त परात्पर तत्व का अर्ध रूप ही है।

निर्गुण-सगुण सम्बन्धी समुपलब्ध सामग्री की विवेचना का सारांश यह कि निर्गुण निराकार ब्रह्म अमृत तो है किन्तु वह सगुण साकार ब्रह्म का मुखापेक्षी है। निराकार रहते हुये वह कोई कार्य संपादन नहीं कर सकता। दूसरी ओर सगुण साकार ब्रह्म कार्य संपादन में तो सक्षम है किन्तु वह अमृत नहीं है, नित्य नहीं है। वह तो निर्गुण निराकार ब्रह्म की एक परिणति विशेष है। यहाँ पर यह बात तो नितान्त अविस्मरणीय है कि ये दोनों रूप एक साथ एक स्थान पर नहीं रह सकते।

उपर्युक्त सारांश से यह तथ्य निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म के ये दोनों रूप एक दूसरे पर आधारित हैं। इन दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रय संबंध है। इस तथ्य के अमल आलोक में यह स्वीकार करने में सम्भवतः किसी को कोई आपत्ति भी न होगी कि ब्रह्म के ये दोनों ही रूप किसी अचिन्त्य पूर्ण और परात्पर तत्व के आधे-आधे रूप हैं। पूर्ण परात्पर तत्व तो वह है जो एक साथ निर्गुण-सगुण का मूल अधिष्ठान हो और साथ ही दोनों से पृथक भी हो।

#### ४.६.१.२. परात्पर तत्व का पूर्णतम स्वरूप : 'प्रेम' किंवा 'रस' :

श्रुतियों ने निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार इन दो रूपों का विशद विवेचन किया है। ये दोनों रूप कश्चित् एक ही परात्पर तत्व के दो रूप हैं। अर्थात् वह कश्चित् एक ही निर्विशेष ब्रह्म और सविशेष ब्रह्म के नाम से अभिसंज्ञात है। उस एक ही अचिन्त्य तत्व के निर्गुण और सगुण यह दो पृथक-पृथक रूप हैं। तात्पर्य यह कि वह एक ही निर्गुण-सगुण से पृथक और निर्विशेष ब्रह्म तथा सविशेष ब्रह्म का मूल अधिष्ठान है। श्रुतियों ने यह कहीं नहीं कहा है कि यह नारायण का निराकार और यह नारायण का साकार रूप है। यह महाविष्णु या विष्णु का निर्गुण रूप और यह विष्णु का सगुण रूप है। और न उन्होंने कहीं पर यही कहा है कि यह श्री राम या कृष्ण का निर्विशेष निर्गुण तथा निराकार रूप है और यह सविशेष सगुण और साकार स्वरूप है।

श्रुतियों में इन नामों का ब्रह्म स्थानीय उल्लेख भी सुस्पष्ट रूप से नहीं मिलता। हाँ, ऐसा उल्लेख अवश्य है कि नारायण, विष्णु, महाविष्णु तथा श्री राम-कृष्ण उसी परात्पर



के सक्रिय सशक्तिक आदि साकार स्वरूप हैं। इस विरुद्ध धर्माश्रयत्व का सम्यक् दर्शन एक स्थान में 'रस' रूप में अवश्य प्राप्त होता है जिसे प्राप्त करके प्रापक आनंदी हो जाता है<sup>१</sup> और जिसका संकेत श्रुतियों ने नेति-नेति शब्दों के द्वारा दिया है।

### ४.६.१.३. श्री हिताचार्य के शब्दों में परात्पर तत्त्व :

श्री हिताचार्य ने श्रुतियों के 'नेति नेति' शब्दों द्वारा व्यंजित और 'रसौवैसः' वाक्य द्वारा संकेतित परात्पर तत्त्व 'रस' को ही अपना उपास्य बनाया। उनकी दृष्टि में निर्गुण निराकार और सगुण साकार से पृथक् तथा इन दोनों का मूल अधिष्ठान 'प्रेम' किंवा 'रस' ही है।

श्री हिताचार्य की वाणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतियों से परिलक्षित तथा वर्णित निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार ब्रह्म ये दोनों ही रूप उनके उपास्य नहीं हैं। इन दोनों से पृथक् और दोनों का मूल अधिष्ठान 'प्रेम' किंवा 'रस' ही उनका उपास्य है। क्योंकि उन्होंने अपनी वाणी में ब्रह्मानंदैकनिष्ठ [ निर्गुण निराकार के उपासकों ] भगवदानंदैक निष्ठ [सगुण साकार के विशुद्ध ऐश्वर्यवान लक्ष्मीनारायणादि के उपासकों] और अनुपम परमानंदैक निष्ठ [ सगुण साकार के ऐश्वर्य-माधुर्य विमिश्रित लोकावतरित गोविन्द रूप के उपासकों ] उपासकों से अपने को पृथक् बतलाया है —

ब्रह्मानंदैक वादाः कतिचन भगवद् वन्दनानन्दमत्ताः  
केचिद् गोविन्द सख्याद्यनुपम परमानन्दमन्ये स्वदन्ते  
श्रीराधा किंकरीणां त्वखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा  
तत्पादाम्भोजराजन्नखमणि विलसज्ज्योतिरेकच्छटापि<sup>२</sup>

श्री आचार्य पाद ने उक्त श्लोक में अपने परमोपास्य को 'ब्रह्मानंदैकवादाः' कहकर निर्गुण निराकार ब्रह्म से, 'कतिचन भगवद् वंदनानन्दमत्ताः' कहकर सगुण साकार ब्रह्म के ऐश्वर्य स्वरूप से, और 'केचिद् गोविन्द सख्यादि' कहकर सगुण ब्रह्म के माधुर्य विमिश्रित ऐश्वर्य स्वरूप [सख्य वत्सल और मधुर भाव के आलम्बन रूपों] से भी पृथक् घोषित किया है।

उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थल-स्थल पर यह घोषणा भी की है कि मेरा परमोपास्य वह 'रस' है जो निखिल निगमों को भी अलक्ष्य है<sup>३</sup>। जिसका वैभव श्रुतियों

१. रसौवैसः रसं ह्येवा लब्ध्वानन्दी भवति। तै. उ., ब्रह्म बल्ली

२., रा. सु. नि., श्लो. सं. १४७

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. ५१ और ७६, प्र. की पृ. सं. १०६



तथा भगवान के द्वारा भी विमृग्य है<sup>१</sup> और जिसका वर्णन करने में श्रुति शिरोभाग—उपनिषद् भी सर्वथा असमर्थ हैं किन्तु जो उपनिषदों के हृदय में ही अत्यन्त गुप्त भाव से विद्यमान भी है<sup>२</sup>। बहुत अधिक स्पष्ट है कि श्री हिताचार्य का परमोपास्य श्रुति निरूपित परमब्रह्म के दोनों रूपों से पृथक् है। इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने परब्रह्म के निर्गुण निराकार और सगुण साकार स्वरूप का ही खंडन कर दिया है—अमान्य कर दिया है किंवा विरोध किया है, प्रत्युत आचार्य चरण की उक्त वाणी का गूढ़ अन्तराशय ये है कि श्रुति ने जिन दोनों रूपों को निकट से देखा है और निकट परिचय दिया है वह रूप मेरा उपास्य नहीं है। उन दोनों रूपों—निर्गुण निराकार और सगुण साकार से भिन्न है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि 'श्री हिताचार्य का परमोपास्य 'प्रेम' निर्गुण निराकार और सगुण साकार इन दोनों रूपों से भिन्न है। इस कथन का वास्तविक अर्थ यही है कि वह रूप श्रुतियों—आगमों आरण्यक और श्री मद भागवतादि पुराणों में वर्णित निर्गुण निराकार और सगुण साकार रूपों से भिन्न है। साथ ही इनके आधार पर चलने वाले सभी भक्ति सम्प्रदायाचार्यों के उपास्य रूपों से भी भिन्न है। यही अर्थ सर्व सुधीजन सम्मत वास्तविक अर्थ है, यह कहने के लिये और स्वीकार करने के लिये हमें इसलिये भी विवश होना पड़ रहा है क्योंकि श्री हिताचार्य ने उक्त श्लोक [रा. सु. नि. श्लो. सं. १४७] में न तो निराकार या साकार रूप का निषेध ही किया है और न स्वीकृति ही व्यक्त की है। उन्होंने तो मात्र इतना ही कहा है कि "कोई निर्गुण निराकार ब्रह्मानंद वादी है और कोई सगुण साकार स्वरूपों के उपासनानन्द में मत्त हैं"— इस कथन से उन्होंने यह तो सुस्पष्ट ही व्यंजित कर दिया है कि इन दोनों स्वरूपों में से मैं किसी का उपासक नहीं हूँ।

#### ४.६.१.४. आकृतवान रूप की साकार रूप से भिन्नता :

श्री हिताचार्य की वाणी में तथा परवर्ती सभी रसिक वाणियों में परमोपास्य को नित्य विहार परायण रूप में प्रकीर्तित किया गया है। उनके रूप, रंग, उनके श्री मुख, नयन तथा हस्त पादादिक अंगों का सौन्दर्य, मार्दव, सरसता तथा मधुरता का सुचारु चित्रण किया गया है। उन्हें निर्गुण निराकार—'अरूप' न कहकर सुस्पष्ट शब्दों में 'सान्द्रानन्दकृत'<sup>३</sup>, 'प्रेम घनाकृत'<sup>४</sup>, 'प्रेम मूर्त्योः'<sup>५</sup> और 'पूर्णानुराग रसमूर्ति'<sup>६</sup> एवं नित्य विहार परायण कहा गया है। ऐसी स्थिति में वह निर्गुण निराकार नहीं है; सप्रमाण यह

१. श्री राधे श्रुतिभिर्बुधैर्भगवताप्यामृग्य सदवैभवे।

—रा. सु. नि., गो. हि. ह. जी. श्लो. सं. २६७

२. से ६. रा. सु. नि., गो. हि. ह. जी. श्लो. सं. २०५, १२६, २०४, १७३, ४०



सिद्ध करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि यह तो स्वतः सिद्ध है कि वह आकृतवान् है। किन्तु आकृतवान् सिद्ध होने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आकृतवान् दिखाई देने वाला रूप सगुण साकार से भिन्न कैसे ? इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर अन्वेषण करने से पूर्व हमें यह बात पुनः स्मरण कर लेनी चाहिये कि श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में शब्दतः सगुण साकार का निषेध नहीं किया है प्रत्युत सुस्पष्ट शब्दों में 'रस घन मोहन मूर्ति', 'सान्द्रानन्दा कृत', 'प्रेम घनाकृत' कहा है फिर भी उनका उपास्य विग्रहवान् 'प्रेम' किंवा 'रस' [रा. सु. नि. श्लो. सं. १४७ में घोषित स्वरूप विधान के अनुसार] सगुण साकार की सीमा से पृथक् इसलिये है; क्योंकि—[१] उसके स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण श्रुतियों और भक्ति शास्त्रों में वर्णित तथा भक्ति सम्प्रदायाचार्यों द्वारा सम्मन्य सगुण साकार स्वरूपों के लक्षणों से नहीं मिलते—पृथक् हैं। [२] उपास्य के नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर ये पाँचों अंग भी पृथक् दिखाई देते हैं। जिसका विस्तृत विवेचन प्रबंध पंचम के अध्याय में दृष्टव्य है। [३] सगुण साकार के वे स्वरूप एकाकृत — एक रूप में ही नित्य प्रत्यक्ष रहते हैं, क्षण—क्षण में नये रूप में नहीं। श्री हिताचार्य के उपास्य प्रेम मूर्ति युगल प्रतिक्षण नये-नये रूप में प्रत्यक्ष होते रहते हैं।

श्री हिताचार्य ने उस 'प्रेम' किंवा 'रस' को अपना परमोपास्य बनाया है जो कि लोक और वेद की दृष्टि में निराकार और अरूप ही है। वह केवल दो हृदयों के बीच रहने वाला एक सम्बन्धात्मक तत्त्व है। उपासना निराकार और अरूप की सर्वथा असंभव है। उसके लिये रूप नितान्त अनिवार्य है। यह जानते हुये भी श्री हिताचार्य ने 'प्रेम' किंवा 'रस' को ही अपना उपास्य बनाया। इससे बहुत अधिक स्पष्ट है कि उन्होंने उस 'प्रेम' किंवा 'रस' को अत्यन्त निकट से मूर्त रूप में देखा है तभी तो उन्होंने सुस्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि — "वह रूप निगमागमागोचर और नारदाजेशशुक्लैरगम्य है" — उस रूप को केवल मैं जानता हूँ। वह सदैव दो रूपों में ही प्रकट रहता है<sup>१</sup>। उनमें से एकमूर्ति स्वर्ण चम्पक वर्ण है तथा दूसरी मूर्ति नीलाम्बुद श्याम वर्ण है<sup>२</sup>; इत्यादि।

जिस प्रेम को उन्होंने अपना परमोपास्य बनाया था वह 'प्रेम' लोक और वेद दोनों की दृष्टि में नित्य नूतन माना जाता है। यह नित्य नूतनता उसका स्वरूपभूत लक्षण है।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ५१, २३८, प्र. पृ. सं. १०६, १०७

२. गाढ स्नेहानुबन्ध ग्रथित भिव तयोरदमुत प्रेम मूर्त्योः। श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्वयं धाम जाने।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७३

३. एकं कांचन चम्पकच्छविपरं नीलाम्बुद श्यामलं.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १६९



यही कारण है कि श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य प्रेमी-प्रेमपात्र रूप में नित्य प्रत्यक्ष 'प्रेम' को [प्रिया-प्रियतम को] स्थल-स्थल नित्य नवल रूप कहकर ही प्रकीर्तित किया है। यथा —

आजु निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी<sup>१</sup>।.... झूलत दोऊ नवल किशोर<sup>२</sup>।.... नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै<sup>३</sup>।.... ये दोऊ नवल किशोर रूप निधि विटप तमाल कनक मनौं बेलि<sup>४</sup>।.... नवल नागरि-नवल नागर किशोर मिलि, कुंज कोमल कमल दलन सज्जा रची<sup>५</sup>।.... नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभान किशोरी<sup>६</sup>।.... सुधंग नाचत नवल किशोरी<sup>७</sup>।.... प्रणत सुन्दर सुघर प्राणवल्लभ नवल<sup>८</sup>।....

प्रेम की इन मिथुन मूर्तियों का रूप नित्य नूतन बना रहता है—'सगुण साकार के उपास्य स्वरूपों की भाँति एकाकृत न रहकर नित्य नवाकृत बना रहता है'—यह कहने के मूर्त आधार निम्नांकित हैं—

[१]. इन दोनों में सदा अपरिचयत्व ही बना रहता है<sup>९</sup>। [२]. इस अपरिचयत्व के कारण ही दोनों का प्रत्येक मिलन नव मिलन, नव संगम किंवा प्रथम मिलन होता है<sup>१०</sup>। फलतः दोनों; दोनों के लिये नये ही बने रहते हैं। [३]. नव मिलन किंवा नव संगम होने के कारण ही इनका पारस्परिक नेह 'नव नेह' बना रहता है और उस नेह का रंग रस भी नया ही बना रहता है<sup>११</sup>। [४]. इस नवल संगम के कारण दोनों के हृदय में तन-मन और प्राणों से एक हो जाने की मिलनोत्कंठा नित्य प्रतिक्षण बनी रहती है<sup>१२</sup>।

१. से ८. हि. चौ., गो. हि. ह. जी. प. सं. क्रमशः ७, ३५, ४२, ४९, ५०, ५४, ७८, ८३

९. न आदि न अंत विलास करै दोऊ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।

नई नई भाँति नई छवि कान्ति नई नवला नव लाल बिहारी।।

रहे मुख चाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वसु हारी।

रहै इक पास करै मृदु हास सुनौं ध्रुव प्रेम अकल्य कथा री।।

— ब्या. ली., शृंगार सत तृतीय, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १३

१०., ११. नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभान किशोरी।.....

— हि. चौ., प. सं. ५४

१२. भोर भये सौझ ही कौ घोखौ है दुहुँनि मन सुपनौ सौ चेत कहै कहा बात है भई।

ऐंकि हम मिले नाहि बैठे हैं अबहि आइ ऐंकि निशा आजु कछु बीच ही ते चै गई।।

भूषण बसन छूटे देखे पुनि समुझत कौन एक भ्रम दशा उपजी है सुख मई।

हित ध्रुव यहै जानै मिल्यौ अनमिल्यौ मानै नैननि में रुचि ही की प्रेम बेलि है बई।।

— ब्या. ली., शृंगार सत तृतीय, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ११



[५]. नव संगम के कारण ही इन दोनों में नव संगम काल की लज्जा और मधुर भीति भी बनी रहती है<sup>१</sup>। [६]. सर्वथा नवीन परिचय और नवीन नेह मूलक मिलन के कारण ही तन-मन और प्राणों से एक हो जाने पर भी इन नव नेही हृदयों में रूप रस पान की उत्कट पिपासा प्रतिक्षण बनी रहती है<sup>२</sup>।

श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य रूप की नित्य नवलता का सांगोपांग चित्रण अपनी वाणी में इस प्रकार किया है —

नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभान किशोरी।  
नव पीतांबर नवल चूँनरी नई-नई बूँदन भीजत गोरी॥  
नव वृन्दावन हरित मनोहर नव चात्रक बोलत मोर-मोरी।  
नव मुरली जु मलार नई गति श्रवन सुनत आये घन घोरी॥  
नव भूषन नव मुकुट विराजत नई-नई उरप लेत थोरी-थोरी।  
जै श्री हित हरिवंश अशीश देत मुख चिरजीवौ भूतल यह जोरी<sup>३</sup>॥

प्रेम की इस नैसर्गिक नवलता का एक मूलभूत कारण है 'विवशता'। यह विवशता प्रेम का एक अन्य स्वरूपभूत लक्षण है। अथवा उसका अविभाज्य अंग है। यही कारण है कि प्रेम की एक किरण का स्पर्श पाकर पशु, पक्षी, दानव, मानव, भक्त और भगवान तक विवश होते देखे गये हैं। प्रेम की यह विवशता जब अपनी चरमावस्था पर पहुँचती है तब वह प्रेमी और प्रेमपात्र को दो नहीं रहने देती—वह दोनों को तन-मन और प्राणों से एक कर देती है<sup>४</sup>। विवशता के पश्चात चेतनता स्वाभाविक ही है। सचेतन होने पर

१. [क] मोहन लाल के रस माती। वधू गुपति गोवति कत मोसौं प्रथम नेह संकुचाती॥

— हि. चौ., प. सं. २०

[ख] संकेत कुंज निलये मृदु पल्लवेन क्लृप्ते कदापि नव संग भयत्रपाद्याम्॥

— रा. सु. नि., श्लो. ४२

२. [क] अंशनि पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन विवि ओर। करत पान रस मत्त परस्पर लोचन त्रिषित चकोर॥

— हि. चौ., प. सं. ३१

[ख] तन सौं तन मन सौं जु मन मिले प्रान अरु नैन। तीव्र प्रेम कौ रूप यह तऊ हिये नहिं चैन॥

— म. दा. की वा., म. दा., प्रा. ह. लि. प्र. छं. सं. ३९

३. हि. चौ., प. सं. ५४

४. [क] रहन देत नहिं और रस यहै प्रेम की टेक। याकौ सहज सुभाव यह करत दाय ते एक॥

— ब्या. ली., प्रीति चौवनी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १२

[ख] रस की अवधि इहाँ लौं माई। विवि तन मन एकै हवै जाई॥

— ब्या. ली., रति मंजरी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ५२

प्रेमी तथा प्रेम पात्र [प्रिया-प्रियतम] दोनों को अपनी पूर्वावस्था की स्मृति किंचित भी नहीं रह जाती<sup>१</sup>। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के लिये पूर्ण अपरिचित और सर्वथा नवीन रूप वाले बने रहते हैं।

प्रेम की प्राकृतिक नवलता का एक कारण प्रेमी और प्रेमपात्र की वह पारस्परिक प्रीति भी है जिसकी कि ये दोनों मंजु मधुर मूर्ति ही हैं, जो कि इनके नाम, रूप तथा लीलाओं की स्रष्टा, द्रष्टा, प्रेरिका, विधायिका, संयोजिका और सहायिका होती है। यह प्रीति ही दोनों [प्रिया-प्रीतम] के रूप को नित्य नवल बनाये रखती है। प्रीतम की प्रतिक्षण नवल प्रीति श्री प्रिया के रूप को और प्रिया की प्रतिक्षण नवल प्रीति प्रीतम के रूप को नवल बनाये रखती है। इसी प्रकार प्रिया जी का प्रतिक्षण रूप प्रीतम की प्रीति को और प्रीतम का प्रतिक्षण नवल रूप प्रिया की प्रीति को प्रतिक्षण नवीन बनाये रखता है। इस प्रकार 'प्रीति' रूप की नवलता को और 'रूप', प्रीति की नवलता को अक्षुण्ण बनाये रखता है<sup>२</sup>। यही कारण है कि दोनों प्रतिक्षण नवल श्याम और नवल वृषभान किशोरी बने रहते हैं और इन दोनों का नेह नित्य नवीन बना रहता है।

श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेममूर्ति अद्वय युगल नित्य नवल रूप में नित्य प्रत्यक्ष रहते हैं यह कहने का ठोस आधार यह है कि आचार्य चरण ने उन्हें नित्य नव दम्पति रूप में ही प्रकीर्तित किया है। उन्होंने परमोपास्य तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'रस' को नित्य नव दम्पति रूप में तो लाङ्घित किया ही है साथ ही रस लीला क्षेत्र में एवं उपासना के क्षेत्र

१. [क] प्रेम मदन के सिंधु द्वै बहत रहत दिन हीय। कबहुँ विवस चेतत कबहुँ छिन-छिन प्यारी-पीय।।  
छिन-छिन प्यारी-पीय मधुर रस विलसत ऐसैं। सूक्ष्म प्रेम की बात कहौ कोउ वरनैं कैसैं।।

"प्रेम-मदन के सिंधु द्वै लाङ्गिली-लाल जू के हिये बसत रहत हैं। जब प्रेम रूपी सिंधु के तरंग छावैं तब विवश हौंहिं। जब मदन रूपी सिंधु के तरंग छावैं तब चैतन्य हौंहिं। विलास के रंग में परे ऐसे प्रेम नेम ओत प्रोत हैं। प्रेम की क्रिया विवशता, नेम की क्रिया सावधानता। यातें एक कहियें; स्वाद कौं दोइ। कबहुँ खिलारी खेल बस कबहुँ खिलारी बस खेल। ऐसी भाँति कौ विहार निशि-दिन करत हैं।"

— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. धु. दा

[ख] प्रेम-नेम रति रंग सुख दिनहिं परस्पर होत। पल-पल नव-नव दसा फिरैं सहजहि ओतप्रोत।।  
मदन लहरि के उठत ही बाढ़त सुरत विहार। प्रेम लहरि में परत ही रहत न देह सँभार।।

— ब्या. ली., रंग बिनोद लीला, हि. धु. दा., छं. सं. ३३, ३४

[ग] कबहुँ विवस चेतत कबहुँ करत रूप रस पान। पिछली सुधि तहँ रहत नहिं होत नई पहिचान।।

[घ] नयौ नेह नव रूप रस नई मिलन की रीति। पिछली सुधि तहँ रहत नहिं नई दुहुँन में प्रीति।।

— भ. दा. की बा., भ. दा., प्रा. ह. लि. प्र. छं. सं. ३२

२. नित्य नवल दोउ लाङ्गिले नित्य नवल तहँ प्रेम।।

— ब्या. ली., प्रेमावली लीला, हि. धु. दा., छं. सं. १२२



में नित्य विवाहोत्सव का विधान करके<sup>१</sup> प्रेम की नित्य नवलता सम्बन्धी मान्यता को मुखर मूर्त बना दिया है —

प्रीतिं कामपि नाम मात्र जनित प्रोद्दामरोमोद्गमा  
राधा माधवयोः सदैव भजतो कौमार एवोज्ज्वलाम्  
वृन्दारण्य नव प्रसून निचयानानीय कुंजान्तरे  
गूढं शैशव खेलनैर्वत कदा कार्यो विवाहोत्सवः<sup>२</sup> ।।

खेलत रास दुलहिनी-दुलह<sup>३</sup> ।

परमोपास्य के नित्य नव दाम्पत्य को परिलक्षित कराने के लिये ही आचार्य चरण ने उनके प्रत्येक प्रीति विलासों को 'प्रथम नेह' की संज्ञा दी है —

.....वधू गुपति गोवति कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती<sup>४</sup> ।।

ऐसा उन्होंने इसलिये किया है क्योंकि जिस 'प्रेम' किंवा 'रस' को उन्होंने अपना उपास्य घोषित किया है उस 'प्रेम' किंवा 'रस' का पूर्ण परिपाक और पूर्ण विकास उस नव दम्पति रूप में ही देखा जाता है जिसमें अपरिचयत्व, नवल नेह, प्रथम मिलनोत्कण्ठा, नव संगम की सरस भीति और लज्जा आदि देखी जाती है। सर्व साधारण मानव, काव्य रस रसिक और भगवद् भक्तों की भी यह निरापद मान्यता है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह कि जिस प्रकार धर्म को धर्मी से पृथक नहीं किया जा सकता ठीक उसी प्रकार श्री हिताचार्य के उपास्य प्रेम मूर्ति अद्वय युगल के रूप से उनकी नित्य नवलता को पृथक नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार धर्म से धर्मी की पहिचान होती है उसी प्रकार उनके रूप की नित्य नवलता से उनकी प्रेम रूपता की पहिचान होती है। तात्पर्य यह है कि अद्वय युगल प्रिया-प्रियतम के रूप की नित्य नवलता और प्रेम रूपता ये दो नहीं हैं। यही कारण है कि प्रेम मूर्ति ये युगल सगुण साकार के उपास्य रूपों की भाँति एकाकृत न रहकर नित्य नवाकृत ही बने रहते हैं—प्रतिक्षण नवल रूप वाले ही बने रहते हैं<sup>५</sup>। इन्हीं अर्थों में श्री हिताचार्य का परमोपास्य

१. नित्य विहार विवाह नित दुलहिनि दुलह लाल । नित्य सखी सुख सहज ही लेत रहत सब काल ।।

— ब्या. ली., समामंडल लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १६१

२. रा. सु. नि., गो. हि. ह. जी, श्लो. सं. ५६

३.४. हि. चौ., गो. हि. ह. जी, प. सं. ६२, २०

५. नित्य नवल वृन्दाविपिन नित्य नवल धर हेम । नित्य नवल दोउ लाड़िले नित्य नवल तहँ प्रेम ।।

— ब्या. ली., प्रेमावली लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १२२

‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ सगुण साकार दिखाई देते हुये भी सगुण साकार से भिन्न है। तभी तो आचार्य चरण के परवर्ती सभी रसिकों ने श्री हिताचार्य के उपास्य ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ का स्वरूप विवेचन करते हुये उसे निर्गुण निराकार और सगुण साकार से पृथक लिखा है।

#### ४.६.१.५. हित रसिकवाणियों में निर्गुण सगुण रूप से भिन्न उद्गीत

श्री हरिराम जी व्यास ने परमोपास्य ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ का निकट स्वरूप परिचय देते हुये लिखा है कि वह निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक है। एतावता निगमों से अगोचर है। वह दो रूपों में नित्य अभिव्यक्त ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ तन-मन-प्राणों से एक रहकर नित्य विहार परायण बना रहता है —

निर्गुन सगुन ब्रह्म ते न्यारौ विहरत सदा सँघात।

‘व्यास’ विलास रास रस अद्भुत निगम अगोचर बात’।।

श्री सेवकजी ने भी निर्गुण ब्रह्म एवं अवतार कदम्ब [सगुण ब्रह्म के सम्पूर्ण स्वरूप] के उपासकों से अपने को पृथक ध्वनित करते हुये श्री हित हरिवंश का उपासक लिखा है। यहाँ पर ‘श्री हरिवंश उपासक’ कहने का अर्थ यह नहीं कि सेवक जी ने व्यास मिश्र के पुत्र हित हरिवंश गो. को अपना परमोपास्य बताया है प्रत्युत जिस ‘प्रेम’ ‘रस’ किंवा ‘हित’ का स्वरूप श्री हरिवंश को लिखा है [“श्री हरिवंश प्रेम रस रूपं” और “श्री हरिवंश स्वरूप हित”—सेवकवाणी।] उस ‘प्रेम’ ‘हित’ किंवा ‘रस’ को ही अपना उपास्य घोषित किया है —

कर्म-धर्म कोउ करहु वेद विधि कोउ बहु विधि देवतन उपासी।

कोउ तीरथ तप ज्ञान ध्यान व्रत अरु कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी।।

कोउ यम नेम करत अपनी रुचि कोउ अवतार कदम्ब उपासी।

मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत हम श्री हित हरिवंश उपासी’।।

श्री हित चरणाश्रित प्रबोधानंद सरस्वती ने वृन्दावन का परिचय देते हुये लिखा है कि — एक परब्रह्म ज्योति है — उस परब्रह्म ज्योति से परे लोक समूहों से वन्दित ईश ज्योति है। उस ज्योति से परे महामोहन कृष्ण वर्णाज्योति है। उससे भी बहुत दूर परमोज्ज्वलतम कृष्ण प्रेम रस सम्पति समूह परमानंदमयी ज्योति है। उस ज्योति के भीतर; [किन्तु] उससे परे पूर्ण माधुर्य साम्राज्य स्वरूप वृन्दावन है।

१. व्या. वा., ह. रा. व्या., प्रा. ह. लि. प्र., प. सं. ४०

२. से. वा., हित अनन्य टेक प्रकरण, से. जी. छं. सं. १



उस विलासात्मक वृन्दावन में विलासी श्री राधिका-श्यामसुन्दर विराजमान हैं। इस प्रकार वृन्दावन स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में ही उन्होंने वृन्दावन में नित्य विहार करने वाले अपने परमोपास्य को निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म के सभी उपास्य स्वरूपों से पृथक् प्रकीर्तित किया है —

चैतन्य मात्र-निर्भासं निस्तरङ्गं निराकुलम्। निरस्ताज्ञान-तत्कार्यं परं ब्रह्मेति यद्विदुः<sup>१</sup>॥  
तदन्तः परमाश्चर्यं ज्योतिरैशं विचिन्तय। चर्वणीय-महानन्दा-सान्द्राब्धि मति निर्मलम्<sup>२</sup>॥  
महा सुविस्तीर्णतमं महोज्ज्वलतमं परम्। लोकादिभिर्घनी भावैर्महितं महदद्भुतम्<sup>३</sup>॥  
तदनन्तरे ततोऽप्यत्याश्चर्यं ज्योतिरनुस्मर। काष्ण्यं महा स्वच्छतमं पारावार-विवर्जितम्<sup>४</sup>॥  
महादीप्तं महारम्यं महामोहनमद्भुतम्। महाप्रेमाति सौन्दर्यं महानन्द रसोत्सवम्<sup>५</sup>॥  
ततो दूरान्तरे ज्योतिः सर्वाश्चर्योच्चतावधि। सर्वोज्ज्वलाति-समुहोज्ज्वलं सर्वोत्तमोत्तमम्<sup>६</sup>॥  
महावैमल्य सीमान्तः परानन्द परावधिः। कृष्ण प्रेम रसर्धीनां चरमः परमोदयः<sup>७</sup>॥  
कामान्य रस मात्रे यत् स्पर्श नित्यविवर्जितम्। महा शुद्ध-काम बीज-राजात्मात्युन्मदं रसम्<sup>८</sup>॥  
तदन्तस्तद्धनमाति श्री वृन्दावनं वनम्। पूर्ण माधुर्यं साम्राज्यं पूर्णानन्द चमत्कृति<sup>९</sup>॥  
काम बीज विलासात्म सर्वसार सुखाकरम्। यत्र श्री राधिकाकृष्णौ सर्व सुन्दर सुन्दरौ<sup>१०</sup>॥

श्री लाल स्वामी जी ने अपने परमोपास्य के प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि सगुण ब्रह्म के अवतारादि अनन्त रूप हैं और निर्गुण ब्रह्म इतना महान और इतना अणु है कि उस स्वरूप का विचार करते ही बुद्धि स्वल्प सीमित हो जाती है। नन्द कुमार श्री कृष्ण की रास विलास तथा दान आदि लीलाओं में अनेक रूपता और अनेक रसता है किन्तु मेरा मधुव्रतैक मन तो एकमात्र श्री हित दम्पति की रति केलि के रस का ही लम्पट है। इस प्रकार उन्होंने अपने परमोपास्य दम्पति को निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म की सीमा से पृथक् वर्णन किया है —

औतार अपार विचार सकौं नहिं ब्रह्म विचारत बुद्धि सकेली।  
नन्द कुमार की लीला अपार कथा सत सिंधु सुधा सुख झेली॥  
दान की माँगनि कुंज की डोलनि रास-विलास महा रस केली।  
मो मन लम्पट मोद मधुव्रत मादिक दम्पति की रति-बेली<sup>११</sup>॥

चाचा वृन्दावनदास जी ने वेद विहित निर्गुण निराकार और सगुण साकार ब्रह्म के उपासना प्रकारों का परिगणन करते हुए लिखा है कि हम तो एकमात्र हित स्वरूप

१. से १०. वृ. म., स. श., प्र. स., प्रा. ह. लि. प्र., श्लो. सं. क्रमशः ५८ से ६६ और ८०

११. ला. स्वा. की वा., ला. स्वा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. २०



श्रीराधिकाबल्लभ लाल की ही उपासना करते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने परमोपास्य को निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक प्रकीर्तित किया है —

कोऊ कहै अलख अनंत पुनि कोऊ कहै, कोऊ कहै ब्रह्म कोऊ जोति कौ वखानत है।  
कोऊ कहै गुनातीत सगुन कहत कोऊ, कोऊ-कोऊ अंध धुंध आदि ही ते मानत है॥  
कोऊ कहै शेष कोऊ शेष सिर पौढ़्यौ सो, कोऊ महा तत्त्वनि की गनती उर आनत है।  
वृन्दावन हित रूप कुंजनि में क्रीड़त हम तौ एक राधिकाईबल्लभ कौ जानत हैं<sup>१</sup>॥

गो. चन्द्रलाल जी ने वृन्दावन का स्वरूप प्रकाश करते हुए लिखा है कि —

पहिले मायामय समुद्र पार करो। तत्पश्चात् परब्रह्म [निर्गुण निराकार ब्रह्म] चित् ज्योति समुद्र को पार करो। इसके पश्चात् भगवज्ज्योति के आनन्द समुद्र को पार करो। इसके अनन्तर संप्राप्य प्रेम समुद्र का आनन्द प्राप्त करके उस आनन्द समुद्र के मध्य द्वीप में वृन्दावन विराजमान है। अतः उस आनन्द समुद्र को प्राप्त करके उस अभीष्ट वृन्दावन में अपने प्राणों को भेंट करो —

मायामय अब्धि ताहि तरि करि कोऊ, परब्रह्म चित ज्योति हू के वारिध कौ तरि रे।  
स्वाद स्वाद तातैं अहो तरि भगवत जोति, आनंद कौ सिंधु ताहि तरि हिय धरि रे॥  
प्रेम हूँ कौ सार अति उज्ज्वल विमल रस, अंबुधि कौ पाय कछु तहाँ हू ठहरि रे।  
ताके दिव्य टापू माँझ राजत है वृन्दाटवी, ताकौ 'चंद्र' हित ही सौँ प्रान भेंट करि रे<sup>२</sup>॥

उन्होंने वृन्दावन सम्बन्धी अपनी इसी भावना को अन्य प्रकार से प्रकट करते हुए पुनः लिखा है कि —

अरे मित्र ! स्थूल, सूक्ष्म कारण, तुरीय बैकुण्ठ धाम, श्री कृष्ण पुरी समूह [द्वारिका — मथुरादि] ब्रज लोक एवं सकल अनर्थ और त्रिषयों को त्यागकर भाव-प्रवण दृष्टि से दिखाई पड़ने वाले श्रीवृन्दावन में ही अपनी दृष्टि सन्निहित करो —

स्थूल रूप कृष्ण ही कौ सूक्ष्म हू कृष्ण ही कौ, कारण हू कृष्ण औ तुरीय कृष्ण जानियौ।  
बैकुण्ठ कृष्णपुरी सप्त हैं विराजमान, और ब्रजमंडल हू महा सुखदानियौ॥  
सब ही अनर्थ जात सब अर्थ जा तन कौ, छाँड़ि करि मित्र एक मेरी बात मानियौ।  
वृन्दाविपिन ताहि भाव अग्र दृष्टि ही सौँ, 'चन्द्रहित' देखि-देखि यही उर आनियौ<sup>३</sup>॥

श्री हरिलाल व्यास जी ने अपने परमोपास्य के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा प्रगट करते हुए उसे निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म की स्वरूप सीमा से पृथक बतलाया है—

१. क. प., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. १

२.३. वृ. म. की टी., [पंचम शतक] च. ला. गो., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ८८ और ८९



“कोऊ निर्गुण ब्रह्म की उपासना करहु सर्वत्र चिदाकार एक ब्रह्म दृष्टि देखहु, अरु कोऊ अवतारन के कदम्ब समूह हैं तिनकी उपासना करहु, अपने रंग में निष्ठा में मगन रहहु, हमें कहा प्रयोजन है ? हम तौ श्री हरिवंश उपासी हैं।”

भजनदास जी ने अपने परमोपास्य ‘हित’ का स्वरूप निर्वचन करते हुए लिखा है कि—निर्गुण और सगुण ब्रह्म से पृथक ‘हित’ ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है — उपादान सब सृष्टि का कारण इक हित जान। निर्गुण-सर्गुण ब्रह्म ते न्यारौ सब सुखखान<sup>१</sup>।।

सर्वसुखदास जी ने परमोपास्य ‘हित’ का स्वरूप निर्वचन करते हुए कहा है कि निर्गुण ब्रह्म में विलासों का सर्वथा अभाव है साथ ही उसमें उपासक और उपास्य इस द्वैत का भी अभाव है जो उपासना के लिए अनिवार्य है। और सगुण ब्रह्म विकारात्मक त्रिगुण के अन्तर्गत है जो कि नित्य नहीं है। हमारा परमोपास्य एक ओर तो उपासक के हृदयस्थ भाव भावना का विषय भी बना देखा जाता है और वह वृन्दावन में विलास परायण रूप में नित्य क्रीड़ा भी किया करता है, तो दूसरी ओर वह विकारात्मक त्रिगुण से विरहित और आदि अन्त रहित दिखाई देता है। एतावता वह निर्गुण-सगुण ब्रह्म से सर्वथा पृथक है। इस निर्भ्रान्त तथ्य का उद्घोष पूर्ववर्ती रसिक श्री व्यास जी ने तथा श्री सेवक जी ने भी किया है —

निर्गुण में न उपास विलास न, सर्गुण गुण में आवै।

रस ना रहै कहै जो एकै द्वै न अनन्य कहावै।।

निर्गुण-सगुण ब्रह्म ते न्यारौ अद्भुत व्यास बतावै।

कारन सु हित परम परमाक्षर ‘सब सुख’ सेवक गावै<sup>३</sup>।।

इसी अन्तर्भाव का प्रकाश उन्होंने अपने ‘हित प्रभावली’ नामक ग्रन्थ में भी इस प्रकार किया है —

नेति-नेति निगमागम गायौ। शेष महेश सुरेश न पायौ।

निर्गुण-सगुण ब्रह्म सौं न्यारौ। श्री हित नित्य बिहार अपारौ<sup>४</sup>।।

परमोपास्य सम्बन्धी इसी भावना को एक अन्य रचना में भी उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है —

१. र. मो. ना. से. वा. की टी., ह. व्या., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. ८२

२. म. दा. की वा., म. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ८

३. हि. द., स. सु. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. २

४. हि. प्र., स. सु. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. २-३

है सब कारज अरु कारण आराधन है, सबही ते पर सो काहू परस न लागी है।  
निर्गुण और सर्गुण ते न्यारौ है प्यारौ पर, सर्वोपरि जातैं सो 'सबसुख' बड़भागी है'।।

श्री स्वामिनीशरण जी ने परमोपास्य 'हित' का स्वरूपालोचन करते हुए कहा है कि — हमारे परमोपास्य का रूप इतना अत्यधिक उज्ज्वल और इतना अधिक रमणीय प्रभा-पूर्ण है कि उसकी चकाचौंधी से किसी की दृष्टि उसकी ओर जा ही नहीं पाती अतः कोई तो निर्गुण ब्रह्म की तो कोई सगुण ब्रह्म की उपासना में उलझ रहे हैं जो कि उस 'हित' स्वरूप के चारों ओर परकोटा या आवरण के रूप में स्थित हैं। वास्तव में 'हित' निर्गुण और सगुण इन दोनों से पृथक है जिसे कोई नहीं पहिचानता। 'हित' के स्वरूप को तो वही पहिचान सकता है जिस पर हित गुरु की कृपा होगी —

नैननि लगी चकचौंधि सबकों हित स्वरूप न सूझहीं।

कोउ उपासत सगुण कोऊ अगुण में जू अरुझहीं।

हित हिते हैं अगुन-सर्गुन ताहि कोउ न समुझहीं।

श्रीस्वामिनी हित कृपा गुरु पद होइ तब कछु सूझहीं'।

इसी अन्तर्भाव का प्रकाश अपने अन्य ग्रन्थ 'श्री हरिवंश कृपा कटाक्ष चालीसा' में उन्होंने इस प्रकार किया है —

निर्गुण-सर्गुण-वार आगम-निगम न जानहीं। श्री हित-नित्यबिहार श्री हरिवंश कृपा करौ'।।

प्रीतमदास जी ने 'हित स्वरूप उत्कर्ष यश' नामक ग्रन्थ में अपने परमोपास्य के स्वरूप का उत्कर्ष वर्णन करते हुए लिखा है कि हमारा परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म से परे है। एतावता वह परात्पर तत्त्व है —

निर्गुण-सर्गुण ब्रह्म ते परे परात्पर आहि'।

राधिकाचरणदासजी ने अपने 'हित यश रसामृत सिन्धु' नामक ग्रन्थ में सम्प्रदाय के परमोपास्य तत्त्व का स्वरूप व्याख्यान करते हुए उसे श्रुति वर्णित निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म इन दोनों से पृथक लिखा है —

१. फु. स., स. सु. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ६

२. हि. सु., स्वा. श., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ४

३. ह. कृ. क. चा., स्वा. श., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ७

४. हि. स्व. उ. य., प्री. दा. प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ५०



निर्गुण सो सर्गुण सोई, सर्गुण-निर्गुण दोय। ये दोऊन ते परे पुनि, मर्म लहेंगे कोय॥  
इसी भावना को उन्होंने 'तत्त्व सार चेतावनी' नामक ग्रन्थ में भी इन शब्दों में व्यक्त किया है —

श्री हित बानि सु इहि विधि जानौं। द्वै बिनु ता विलास नहिं मानौं।  
नहिं निर्गुण नहिं सगुण सु यह है। नही दूर नहिं निकट अकह है२।

मदनमोहनदासजी ने परमोपास्य तत्त्व 'हित' का निकटतम स्वरूप परिचय देते हुए लिखा है कि वह 'हित' जो श्री हित दम्पति प्रिया-प्रीतम का भी परम प्रेष्ठ है; निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक है —

ये हित, हित दम्पति कौ प्यारौ। निर्गुण-सगुण ब्रह्म ते न्यारौ३॥

#### ४.६.१.६. निर्गुण-सगुण रूप से भिन्न तथा अभिन्न :

श्री हिताचार्य के परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' के साकारत्व और निराकारत्व पर विचार करते समय यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए और रखनी होगी कि उनका परमोपास्य उस 'प्रेम' की प्रतिमा है जो निर्विवाद रूप से दो हृदयों को एक करने वाला एक संबंधात्मक तत्त्व है। वह उस 'रस' की मूर्ति है जो निर्भ्रांत रूप से अनुभूति का ही विषय है। वह उस आनंद का आकृतवान विग्रह है जो सुनिश्चित रूप से एक इन्द्रियातीत आस्वाद्य ही है। वह 'प्रेम घनाकृत', 'रसघन मूर्ति' और 'सान्द्रानन्दाकृत'; इसी प्रकार एक साथ निराकार और साकार है जिस प्रकार प्रकाश रन्ध्र जालों के माध्यम से आने पर साकार दिखाई देता है; जिस प्रकार जल किसी आकार विशेष में सान्द्र किये जाने पर आकृतवान दिखाई देता है; जबकि परम सत्य यही है कि वह साकार दिखाई देने पर भी किसी आकार विशेष में सीमित नहीं होता। वह जिस क्षण-जिस समय साकार दिखाई देता है उसी समय वह निराकार भी रहता है। जिस समय वह निराकार रहता है उसी क्षण वह साकार भी रहता है। रस भक्ति धारा की अनेक रसिक वाणियों में इस तत्त्व के प्रचुर प्रमाण प्राप्त होते हैं—

जो निर्विवाद रूप से—स्निग्धता, सरसता, नूतनता, चाह, चटपटी प्रभृति नामों से संबोध्य-अतन है४ वही 'प्रेम' किंवा 'रस' पल-पल में नव-नव रूप में अभिव्यक्त होकर

१. हि. य. र. सि., रा. च. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २२

२. त. सा. चे. ली., रा. च. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १०४

३. हि. शा., नाम सुयश प्रथम प्रसंग, म. मो. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. ५

४. प्रेम अतन या जगत में जानै विरला कोइ। व्यास सतन क्यौं परसिहैं पचि हास्यौ जग रोइ॥

— व्या. वा., ह. व्या., प्रा. ह. लि. प्र., साखी सं. ७२



अनेक प्रकार के रसानन्द की सृष्टि किया करता है। वही प्रेम अनन्त रति विलासों तथा मधुर भावों को प्रकट करने वाले, आनन्द देने वाले और आनन्द लेने वाले सभी अंगों का सुख दिया करता है —

पल-पल औरै और विधि उपजत नाना रंग। सब अंगन कौ देत सुख यह कौतुक बिनु अंग<sup>१</sup>॥

वही 'प्रेम' किंवा 'रस'—प्रिया-प्रियतम-सहचरी और वृन्दावन के रूप में साकार होकर रस की अनन्त केलि किया करता है —

प्रेममयी दोऊ लाल प्रेम मई सहचरि जहाँ। सेवत हैं सब काल प्रेम मई वृन्दाविपिन<sup>२</sup>॥

इस प्रकार हित ध्रुवदास जी ने अपने परमोपास्य तत्त्व 'प्रेम' को एक साथ निर्गुण निराकार और सगुण साकार रूप में क्रीड़ा परायण प्रकीर्तित किया है।

श्री लाड़िलीदास जी ने भी परम तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'हित' का स्वरूप निर्वचन करते हुए कहा है कि वह नित्य तत्त्व एक साथ निर्गुण निराकार और सगुण साकार बना रहता है। जिस प्रकार जल की पुत्तलिका एक साथ निराकार और साकार संज्ञक बनी रहती है।

तत्त्व नित्य निर्गुण-सगुण निराकार-साकार। बरफ पूतरी जल विषैं द्रष्टा दृश्य अपार<sup>३</sup>॥

निर्गुण ब्रह्मानन्द वादी तथा सगुण साकार वादियों को लड़ते-झगड़ते देखकर चाचा वृन्दावनदास जी का रस संप्लुत हृदय स्नेह और करुणा से आर्द्र हो उठा और इन शब्दों में मुखरित हो उठा कि तुम लोग निर्गुण और सगुण रूप को लेकर व्यर्थ में ही क्यों झगड़ रहे हो—यदि तुम्हें अशंशय होना है तो इन दोनों की मूल वस्तु 'प्रेम' किंवा 'रस' के रमणीय रूप को देखो जो एक साथ निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार भी है —

ब्रज बसि सब मिटि जाइ परेखौ।

निर्गुण-सर्गुण कौं कत झगरत मूल वस्तु दोउन की देखौ<sup>४</sup>।

श्री रतनदास जी ने अपने परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' का स्वरूप आलोकित करते हुए लिखा है कि —

“निगम की जो मर्यादा है और लोक की जो मर्यादा है; तिनकों भंजिकैं क्रीड़ा करत हैं। निगम की मर्यादा कौन है ? एक तो निर्गुण और एक सर्गुण ये दोऊ मर्याद हैं। सो परस्पर विरोध हैं। जहाँ निर्गुण तहाँ सर्गुण नहीं। और ये तो दोऊ हित की

१. ब्या. ली., आनंद दशा विनोद लीला, हि. ध्रु. दा., दो. सं. ७

२. ब्या. ली., नेह मंजरी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १६६

३. सु. बो., पंचम प्रसंग, ला. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ३५

४. ब्र. प्र. बे., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ५६



मूर्ति हैं। हैं तो निर्गुण पै सर्गुण लीला करें है, फेर हैं तो सर्गुण, पै गुण निर्गुण के हैं। शुद्ध नेहमय निष्काम हैं याते निर्गुण हैं। देखौ इनके एक ही स्वरूप में निर्गुण-सर्गुण दोऊ दरसैं हैं। सो यह विलक्षणता है। यातें निगम की दोऊ, मर्याद खण्डन करि क्रीड़ा करें हैं<sup>१</sup>।”

उक्त पंक्तियों में रतनदास जी का अन्तराशय यह है कि नित्य बिहार परायण हमारा परमोपास्य वेद विहित निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म की स्वरूप सीमा से पृथक है और साथ ही दोनों रूपों का मूल अधिष्ठान भी है।

सर्वसुखदास जी ने भी अपने ‘सिद्धान्त पच्चीसी’ नामक ग्रंथ में परमोपास्य ‘प्रेम’ किंवा ‘हित’ का स्वरूप व्याख्यान करते हुए लिखा है कि महली हित के महल में निर्गुण और सगुण दोनों एक साथ दिखाई देते हैं। वे महली हित स्वरूप प्रिया प्रियतम न तो निर्गुण जैसे दिखाई देते हैं— अर्थात् सगुण रूप में नित्य प्रत्यक्ष रहते हैं और न उनमें सगुण के ही कोई गुण-लक्षण किंवा धर्म दिखाई देते हैं—

हित महली के महल में निर्गुण-सर्गुण संग। निर्गुण से न रहैं, न गुन सगुण ‘सर्वसुख’ रंग<sup>२</sup>॥

इसी भावना को उन्होंने अपनी ‘दोहावली’ नामक रचना में भी इस प्रकार व्यक्त किया है—

निर्गुण-सर्गुण में दुख्यौ न्यारौ सर्वाधार।  
‘सबसुख’ सब श्रुति अंत मत सो हित नित्यबिहार<sup>३</sup>॥

राधिकाचरणदास जी ने भी परात्पर तत्व ‘हित’ किंवा ‘प्रेम’ का स्वरूप विवेचन करते हुए लिखा है कि—वह निर्गुण निराकार और सगुण साकार साथ साथ ही है— साथ-साथ किस प्रकार है, यह सुस्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो ‘प्रेम’ किंवा ‘हित’ चाह, चटपटी, उज्ज्वलता, सिग्धता, स्वच्छन्दता, आधीनता, नूतनता, कोमलता, मधुरता, मादकता आदि-आदि निराकार रूपों में प्रेमी और प्रेमपात्र के हृदय में निवास करता है वही ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ सान्द्र होकर श्यामा, श्याम, सहचरी और वृन्दावन धाम के रूप में नित्य अभिव्यक्त रहता है। इसी तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार ‘प्रकाश’ दीपक की लौ के आकार में दिखाई देने पर भी वह उस स्वरूप विशेष में सीमित नहीं होता एकाकृत या साकार संज्ञक नहीं हो जाता उसी प्रकार

१. हि. प्र. ना. से. वा. की टी., २. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. ४०

२. सि. प., स. सु. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. १७

३. दो. व., स. सु. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. २८



वह 'प्रेम' भी निराकार होते हुए भी साकार तथा साकार होते हुए भी निराकार बना रहता है —

निराकार साकार सु कैसें। सोऊ हेतु कहत सब जैसें॥

निराकार जोहै भनत सोहै व्यापक रूप। जहँ लौं गति जाकी कोऊ सबही भाँति अनूप॥

छं.— चाह ज्यों ही चटपटी त्योंही सु उज्ज्वलता कोऊ।

स्निग्धता स्वच्छन्दता आधीनता सहजहि सोऊ॥

त्योंहि नूतनता हु कोमलता मधुरता मादकहु।

रुचि तरंग अभंग बाढ़त रहत इक रस ही सदहु॥

आस्वाद छिन प्रति जासु में दिन होत रहत नवीन ही।

हिय बसत प्रभु कहत सब सौं प्रेम हृदय स्थान ही॥

निराकार सु प्रेम की ही मूर्ति भूत घनी कोई।

धाम श्री वन सखी श्यामा-श्याम राजत हैं सोई॥

सो याकौ दृष्टान्त यों बूझहि भावक कोय। घनीभूत सु प्रकाश ही दीप सिखा कौ सोय॥

वामें एक प्रकाश तजि अन्य वस्तु कछु नाहि। तेहि अभिन्न होते हु सो भिन्न बतावत आहि॥

उपर्युक्त विशद विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्गुण निराकार और सगुण साकार इन दोनों से पृथक् तथा दोनों का मूलाधार 'प्रेम' किंवा 'रस' तत्त्व ही है। एतावता वही पूर्ण और परात्पर तत्त्व है।

## ४.६.२. अणोरणीयान् और महतोमहीयान् :

'प्रेम' किंवा 'रस' ही ऐसा पूर्ण और परात्पर तत्त्व है जो एक साथ अणोरणीयान् और महतोमहीयान् है। अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महत् से महत्तर है।

लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रेमी अपने प्रेमपात्र पर अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है, एवं लोक से सर्वथा विरत भक्त महानुभावों ने भी भगवान को प्रत्यक्ष कर लेने के पश्चात् यही उद्बोधन दिया है कि भगवान का प्रागट्य प्रेम से ही होता है<sup>१</sup> और भगवान प्रेम के ही वशीभूत हैं। अर्थात् सबसे महान कहा जाने वाला भगवान भी जिससे प्रगट होता है और सर्वथा आधीन बना रहता है वह 'प्रेम' ही वस्तुतः महतोमहीयान् है। भगवान की महामहिम महत्ता के साथ उनकी आश्चर्यमयी मधुर लघुता भी प्रसिद्ध है कि वे सर्वतंत्र

१. र. ह. आ., रा. च. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ७

२. हरि व्यापक सर्वत्र समान। प्रेम ते प्रगट होहि मैं जाना।



स्वतंत्र सर्व नियन्ता षटैश्वर्य सम्पन्न होकर भी भक्त प्रेम के आधीन हो जाते हैं किन्तु 'प्रेम' किंवा 'हित' की लघुता इससे भी कहीं आगे निकल गई है। भगवान तो केवल भक्त के वश होते हैं; अभक्त के नहीं। वह भक्त के सामने लघु हो सकते हैं, सबके आगे लघु होने की क्षमता अभी तक अप्रमाणित ही है। किन्तु अणोरणीयान् यह 'प्रेम' भक्त-अभक्त, चोर-वधिक, ज्ञानी-अज्ञानी और पशु-पक्षी आदि सभी के समक्ष तदाधीन होकर तदाज्ञावर्ती बना रहता है। 'प्रेम' किंवा 'हित' इतना लघु है कि उसे जो भी चाहे जहाँ लगा सकता है। उचित स्थान और अनुचित स्थान पर लगकर भी यह प्रेम बिना किसी ननुनच के उस जीव को आनन्द ही प्रदान करता है। अतएव यह प्रेम ही अणोरणीयान् है। यद्यपि भगवान 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्व समर्थ' हैं। अर्थात् वह सब कुछ कर सकते हैं; किन्तु वह भगवान किसी के द्वारा किये नहीं जा सकते। और 'प्रेम' ?—प्रेम तो सब कुछ करने में समर्थ भी है और साथ ही, सबके द्वारा किया भी जाता है, किया जा सकता है। एतावता यह 'प्रेम' किंवा 'रस' सब प्रकार से पूर्ण है। अतः यही वस्तुतः अणोरणीयान् और महतोमहीयान् है।

### ४.६.३. भगवान का भी जनक, नियामक, प्रेरक और वशकारक :

'प्रेम' किंवा 'रस' ही ऐसा पूर्ण और परात्पर तत्त्व है जिसके समक्ष षटैश्वर्य सम्पन्न सर्व शक्तिमान् और परम स्वतंत्र भगवान भी सब प्रकार से निर्बल और लघु दिखाई देते हैं। भक्ति शास्त्रों में जहाँ पर एक ओर भगवान को सर्वोद्भावक, सर्व नियन्ता, सर्व प्रेरक, सर्वाधीनकर्ता और परम स्वतंत्र कहकर प्रकीर्तित किया गया है वहीं पर एक नहीं अनेकानेक ऐसे भी भगवत्चरित्र प्राप्त होते हैं जिनसे यह तथ्य भी निर्भ्रान्त और निर्विवाद रूप से सुस्पष्ट हो जाता है कि जो भगवान सर्वोद्भावक है, समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है वह 'प्रेम' से ही प्रगट होता है। प्रेम ही उसे प्रगट करता है। इस प्रकार से प्रेम भगवान का भी जनक है—

हरिं व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट हौंहि मैं जाना<sup>१</sup>।।

प्रहलाद, द्रोपदी, ध्रुव, नामदेव आदि भक्तों के प्रेम ने ही सर्वव्यापक भगवान को प्रगट किया था।

जो भगवान सर्व नियामक हैं, सर्व नियन्ता हैं वे भी 'प्रेम' के संविधानानुसार चलते हुए देखे गये हैं। प्रेम के अकाट्य नियमों के आगे उन्हें अपने नियम बदलते देखा गया है। भगवान का नियम है कि वे लोक-वेद की मर्यादा की रक्षा करते हैं; किन्तु शबरी



की कुटी में उन्होंने अपने इस नियम को तोड़कर प्रेम के संविधानानुसार उसके झूठे बेर खाये थे। रजोवती वेश्या के हाथ से मुकुट धारण किया था। विदुरानी के छिलके और करमैती की खिचड़ी खाई थी। कौरव-पाण्डवों के—युद्धारंभ में “मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा” अपने इस प्रणपालन नियम को तोड़कर रथ के पहिये को आयुध बनाकर भीष्म की ओर दौड़ पड़े थे। महारास में ब्रजगोपियों के साथ शृंगार केलि की थी।

जो प्राणी मात्र के प्रेरक रूप में लोक-वेद में समाख्यात हैं वह भगवान ‘प्रेम’ की प्रेरणा से ही माँ यशोदा के समक्ष भयभीत होते हैं। गोपियों के घर के प्रत्येक कार्य करते हैं। उनकी आज्ञानुसार गाय दुहना, गोबर उठाना, नाचना आदि-आदि। जो सुर, नर, मुनि और दानवों को अपने आधीन रखते हैं वे भगवान ब्रज गोपियों के ‘प्रेम’ के समक्ष दीन बने दिखाई देते हैं। जो परम स्वतंत्र रूप में प्रकीर्तित हैं वे भगवान प्रेम के प्रभाव से अपनी स्वतंत्रता को समर्पित कर भक्तों की इच्छानुसार कार्य किया करते हैं। सखाओं को अपने कंधे पर चढ़ाकर दौड़ते हैं। इस प्रकार भगवान की स्वतंत्रता भी ‘प्रेम’ के समक्ष निरस्त हो जाती है और वह परम स्वतंत्र रूप में प्रकीर्तित भगवान भी प्रेमाधीन देखे जाते हैं—प्रेम के संकेतों पर चलते हुये दिखाई देते हैं। अतः ‘प्रेम’ ही सर्वतन्त्र स्वतंत्र परात्पर तत्त्व है।

#### ४.६.४. पूर्ण माधुर्य और पूर्ण ऐश्वर्य का एकाधिष्ठान :

##### ४.६.४.१. माधुर्य और ऐश्वर्य रूप का परिज्ञान :

पूर्ण और परात्पर तत्त्व वह है जो एक साथ संपूर्ण माधुर्य और संपूर्ण ऐश्वर्य का भी मूलाधिष्ठान हो।

उपासना रूप की होती है। क्योंकि रूप ही उपासक के हृदय में स्थित राग वृत्ति किंवा ‘रति भाव’ को उदबुद्ध करता है। उपासना के क्षेत्र में ऐसे दो रूपों का सांगोपांग वर्णन मिलता है। एक रूप वह है जो केवल पूर्ण भगवत्ता [ऐश्वर्य] का ही प्रकाशक है— जिसमें माधुर्य का समिश्रण नहीं है। जैसे बैकुंठाधिपति तथा क्षीरसागरशायी विष्णु अथवा लक्ष्मी नारायणादि। दूसरा रूप वह है जिसमें ऐश्वर्य के साथ-साथ माधुर्य का प्रकाश [प्रेम की किरणों किंवा प्रेम लीलाओं का प्रकाश] भी देखा जाता है। वे रूप हैं लोक में अवतरित राम-कृष्णादि रूप।

परात्पर तत्त्व के सगुण साकार रूप के दर्शन भक्तों को या तो अप्रतिम ऐश्वर्य रश्मियों से रमणीय—अलौकिक रूप में होते हैं या सौन्दर्य सीव लोक लीला ललित—माधुर्य मण्डित रूप में होते हैं। ऐश्वर्य मण्डित रूप के दर्शन भगवान के विशिष्ट धामों में और



माधुर्य मंडित रूप के दर्शन इसी धरा धाम में हुआ करते हैं। ऐश्वर्य रूप का दर्शन विशिष्ट मर्यादाओं के आवरणों से जन्त्रित होता है। अतः उस रूप का दर्शन सर्वसाधारण के लिये शक्य नहीं है किन्तु लोक प्रत्यक्ष-लोक निकट माधुर्य रूप के दर्शन प्रत्येक जीव के लिये सुलभ होते हैं।

माधुर्य रूप में ऐश्वर्य रूप का दर्शनाभाव रहता है। माधुर्य रूप में ऐश्वर्य का दर्शनाभाव कहने का अर्थ यह नहीं कि माखन चोरी करते समय, ग्वालों का झूठा खाते समय वह वास्तव में ईश्वरता शून्य एक अहीर बालक मात्र ही है। सच बात तो यह है कि वह उस समय भी पूर्ण ईश्वर हैं किन्तु उस समय उनकी ईश्वरता प्रत्यक्ष नहीं है। यही कारण है कि ब्रह्मा को व्यामोह उत्पन्न हुआ था।

षटैश्वर्य सम्पन्न भगवद् रूप न तो राग पूर्ण हृदयों के सभी प्रकार के रति भावों का विषय ही बन पाता और न उस रूप के द्वारा मानव के रत्यादि भावों का सम्यक सम्पोषण ही संभव है। वह तो केवल महतोमहीयान् के प्रति प्रधावित होने वाले भक्तिभाव की बेलि को ही पल्लवित-पुष्पित और फलित किया करता है।

लोक लीला ललित-माधुर्य मंडित रूप सर्वसाधारण के भक्ति भाव का विषय ही नहीं बन पाता, क्योंकि उस रूप के लोक चरित्र; दृष्टा को व्यामोह में डाल देते हैं। उदाहरणतः भगवान राम जिस समय रावण द्वारा अपहृत सीता को ढूँढ़ते हुये शोकातुर वन में घूम रहे थे; उस समय जगदम्बा पार्वती को श्री राम की यह लोक लीला देखकर ऐसा दुर्दम व्यामोह उत्पन्न हुआ था कि भगवान शंकर द्वारा निषेध करने पर भी श्री राम की भगवत्ता की परीक्षा करने के उद्देश्य से उन्होंने सीता का रूप धारण किया था। किन्तु बाद में भगवान राम के द्वारा अपना ईश्वर रूप दिखाने पर पार्वती जी के हृदय में एक आत्म ग्लानि के साथ उनके प्रति भक्ति भाव उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार भगवान राम की लोक लीला को देखकर ऋषिराज परशुराम को भी मोह उत्पन्न हुआ था किन्तु जब श्री राम ने उन्हें अपने ईश रूप का परिचय दिया तो उनके हृदय में भी प्रगाढ़ भक्ति भाव उत्पन्न हो गया।

जिस समय भगवान श्री कृष्ण सम वयस्क गोप बालकों के साथ वन में भोजन कर रहे थे। परस्पर एक दूसरे का जूठा खा रहे थे और खिला रहे थे, उस समय उनकी इस लोक लीला को देखकर जगत् पिता ब्रह्माजी तक को अदम्य व्यामोह उत्पन्न हो गया था। इस व्यामोह के कारण ही उन्होंने भगवान श्री कृष्ण के वत्स हरण कर लिये थे। किन्तु बाद में श्री कृष्ण के द्वारा अपना ऐश्वर्य दिखाने पर पुनः भक्ति भाव उत्पन्न



हुआ और उन्होंने प्रणत होकर स्तुति भी की। देवराज इन्द्र को भी श्री कृष्ण की गिरिराज लीला देखकर व्यामोह उत्पन्न हो गया था किन्तु श्री कृष्ण के द्वारा अपने भगवद् स्वरूप का परिचय देने पर देवराज इन्द्र ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए भक्ति भावना से उनकी पूजा की।

श्री कृष्ण ने उद्धव को द्वारिका से ब्रज भेजा था। गोपियों को यह समझाने के लिए कि “श्री कृष्ण परमात्मा हैं, ईश्वर हैं, घट घट वासी हैं — इसी दृष्टि से तुम्हें उनकी आराधना करनी चाहिये।” किन्तु श्री कृष्ण के माधुर्य मण्डित रूप और माधुर्यमयी लीलाओं की मधुरिमा के कारण उनके हृदय में श्री कृष्ण के प्रति भगवद् भाव उत्पन्न न हो सका।

ऐसा कहा जा सकता है कि गोपियों के हृदय में जब भक्तिभाव उत्पन्न ही नहीं हुआ तो फिर उनकी भक्त संज्ञा क्यों ?

ब्रजगोपियों, श्री यशोदा और श्री नन्द-वृषभानादि ब्रज लीला परिकर के सभी गोप गोपिकाओं ने नन्दनन्दन श्री कृष्ण को बोलना सिखाया था। खेलना और खाना भी सिखाया था। उन्होंने उनको माखन चोरी लीला करते तथा यमुना तटवर्ती कुजों में गोपियों के साथ काम क्रीड़ा करते हुए देखा था। अतः उनके हृदय में श्री कृष्ण के प्रति भगवद् भाव किंवा भक्ति भाव उत्पन्न होना सर्वथा ही असम्भव था। इस ऐतिहासिक आलोक की प्रमाण प्रभा में भी उन्हें भक्त ही नहीं अपितु अद्वितीय आदर्श भक्त कहकर स्मरण किया गया है। इतना ही नहीं गोपियों के साथ-साथ राजा शिशुपाल, दन्तवक्र और अत्याचारी कंस को भी भागवत वक्ता श्री शुक मुनि ने भागवत परायण भक्त कहकर प्रकीर्तित किया है। क्योंकि इन सबने रति भाव से न सही विरति भाव—भय, क्रोध और काम भाव से श्री कृष्ण का ही अनुक्षण चिन्तन किया था; तन्मय और तदाकार होकर। भगवान में राग वृत्तियों का सन्निवेश हो जाना ही तो सच्चे मानियों में भक्ति भाव संज्ञक कहा जाता है। इसीलिये ब्रह्म, रुद्र, नारद तथा सनकादि मूर्धन्य भक्तों ने ब्रजगोपियों की चरण-रज को अपना शिरोभूषण बनाया है।

मानव, त्रिगुणात्मक जगत में संसृष्ट एक प्राणी ही होता है। अतः उस लोक लीला ललित रूप को देखकर उसके काम, क्रोध, मात्सर्यादि मनोवृत्तियों का समूल उन्मूलन नहीं होता प्रत्युत संवर्धन ही होता है। इसी प्रकार उसकी अनन्त मनोकामनायें भी सर्वथा निरस्त नहीं होतीं। परिणामतः लीला परिकर तक को तज्जन्य सुख-दुःख भी भोगने पड़ते हैं। उदाहरणतः —

अयोध्याधिपति महाराज दशरथ को उनके स्नेह भाजन श्री राम के वन वास पर



प्राणान्तक दुख सहना पड़ा था। जनकनन्दिनी सीता को लंकाधिपति रावण की अशोक वाटिका में रहकर नितान्त संतुष्ट जीवन व्यतीत करना पड़ा था। इसी प्रकार ब्रज में अवतरित श्री कृष्ण रूप की लोक लीला में भी उनके लीला परिकर को अनेक प्रकार के हार्दिक कष्ट झेलने पड़े थे। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर ब्रज के गोप गोपियों को अपनी लौकिकी ममता वृत्ति के कारण ही विरह वेदना से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा था। महारास लीला में भी ब्रजगोपियों को अपनी काम कामना तथा असूया वृत्ति के कारण परम प्रेयस श्री कृष्ण का विरह दुःख सहना पड़ा था। इन सबका वर्णन सूरदासजी-नन्ददासजी आदि अनेक भक्त कवियों ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है।

नरसी, वित्त्वमंगल, सूर नन्ददास, तुलसीदास आदि समस्त भक्तों ने भगवान राम-कृष्ण के उस माधुर्य मण्डित रूप को उस प्रकार से निकट से नहीं देखा था जिस प्रकार दशरथ, नन्द, जसोदा, ब्रजगोपी आदि लीला परिकर ने निकट से देखा था। इन भक्तों ने जहाँ पर एक ओर भगवान के माधुर्य मण्डित रूप और माधुर्यमयी लीलाओं को मात्र श्रवणेन्द्रिय से देखा था वहीं पर दूसरी ओर भगवान राम-कृष्ण के ईश रूप और ऐश्वर्य लीलाओं को भी पूर्ण रूप से हृदयंगम किया था। इसके प्रभाव ने ही इन भक्तों के हृदय में भगवान राम-कृष्ण के प्रति भक्ति भाव उत्पन्न कर दिया और उन्हें व्यामोह नहीं हुआ।

उपर्युक्त विवेचना का सारांश यह कि ऐश्वर्य रूप न तो रत्यादि भावों का विषय ही बन पाता और न उस रूप के द्वारा उन भावों का सम्यक सम्पोषण ही सम्भव है। रत्यादि भावों का विषय तो केवल माधुर्य मण्डित रूप ही बन सकता है और उसी के द्वारा ही उन भावों का सम्यक सम्पोषण सम्भव है। लोकावतरित माधुर्य मण्डित रूप; ऐन्द्रिक सुख लोलुप मानव को जगत से विरत करके ईश्वरोन्मुख करने में सक्षम सिद्ध नहीं होता। उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह स्वीकार करने में संभवतः किसी को कोई आपत्ति न होगी कि किसी एक दृष्टि से केवल ऐश्वर्य रूप अपूर्ण है तो किसी एक दृष्टि से केवल माधुर्य रूप अपूर्ण है। पूर्ण वह है जहाँ पूर्ण ऐश्वर्य भी हो और पूर्ण माधुर्य भी हो।

#### ४.६.४.२. पूर्ण माधुर्य तथा पूर्ण ऐश्वर्य के एकाधिष्ठान रूप की खोज

पूर्ण ऐश्वर्य तो बैकुण्ठ आदि धामों के साथ-साथ लोकावतरित रूप में भी रहता है; किन्तु पूर्ण माधुर्य न तो लोक में [लोकावतरित रूप में] ही है और न बैकुण्ठ धामस्थ पूर्ण ईश्वर लक्ष्मी-नारायणादि रूप में ही। लोकावतरित रूप में माधुर्य के दर्शन तो होते हैं किन्तु साथ-साथ ही ऐश्वर्य रूप भी परिलक्षित होता ही रहता है। लक्ष्मी-नारायणादि रूपों में माधुर्य का प्रकाशाभास कभी भी नहीं देखा जाता।



मत्स्य, कूर्म और बाराहादि अवतारों में जहाँ पर एक ओर ऐश्वर्य की कलाओं का प्रकाश हुआ है वहीं पर सम्पूर्ण अवतारों में तो नहीं किन्तु श्री नृसिंह, वामन, श्री राम और श्री कृष्णावतार में प्रेम की किरणों—माधुर्य का भी कथंचित प्रकाश हुआ है।

नृसिंहावतार में नृसिंह जी ने भक्त प्रहलाद को गोद में बैठाया था, चाटा था और पुचकारा था, यह प्रेम की सुमधुर मोदकारी किरणें किंवा माधुर्य का प्रकाश है। वामनावतार में प्रेम की ये किरणें कुछ अधिक रूप में दिखाई देती हैं। नृसिंह जी ने तो प्रहलाद को प्यार किया है किन्तु नृसिंह जी को किसी ने नहीं। वामन भगवान को माता अदिति का स्नेह-लाड़ और प्यार प्राप्त हुआ है और वामन भगवान ने भी अपने माता-पिता तथा सहोदर देवताओं को प्यार प्रदान किया है। श्री रामावतार में प्रेम की ये किरणें और बढ़ी दिखाई देती हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को माता पिता और भ्रातृ स्नेह के साथ-साथ जनक-नन्दिनी जानकी जी का मधुर प्रेम भी प्राप्त हुआ है; वे भी उन्हें प्यार करते हैं। उनके वियोग में वे विलाप तक करते देखे गये हैं। वे केवट शबरी गिद्धराज-ऋक्षराज और बानरों तक को प्यार करते हैं और वे सब भी उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय मानते हैं। भगवान श्री कृष्ण की लीला में प्रेम की ये किरणें रामावतार में परिलक्षित किरणों से बहुत अधिक बढ़ी दिखाई देती हैं।

दशरथनन्दन श्री राम की लीलाओं में प्रेम की किरणों का प्रभूत प्रकाश हुआ है और वे उस प्रकाश में एक विशेष रम्यता से रमणीय भी दिखाई देते हैं किन्तु प्रेम की किरणों किंवा माधुर्य का इतना अधिक विस्फूर्जन नहीं हुआ है जिससे मर्यादापुरुषोत्तम राम विवश होकर अपनी स्वरूप मर्यादा का अतिक्रमण कर बैठे हों और लोकादर्श की रक्षा करना ही भूल गये हों।

भगवान श्री कृष्ण की लोक लीला में प्रेम की किरणें इतनी अधिक दिखाई देती हैं कि उनके प्रकाश में भगवत्ता की आँखों में भी चकाचौंधी जैसी आ जाती है। भगवान होते हुए भी श्री कृष्ण कहीं-कहीं और कभी-कभी लोक और वेद की मर्यादाओं का अतिक्रमण करते दिखाई देते हैं। प्रेम की शीतल किरणों की मधुर ऊष्मा से उनकी भगवत्ता को भी पसीना आ जाता है। वह शिथिल हो जाती है। तब भगवान श्रीकृष्ण 'आदर्श' भूलकर ब्रज गोपियों के इशारे पर चलने लगते हैं, चोरी करते हैं। प्रेम की सशक्त किरणों से प्रभावित श्री कृष्ण की इन लीलाओं को देखकर सुरराज ही नहीं ब्रह्मा तक को व्यामोह हो जाता है।



नृसिंहावतार से लेकर श्री कृष्णावतार तक प्रेम की किरणों के क्रमिक विकास से दो बात सुस्पष्ट होती हैं — [१]. प्रेम की किरणों [माधुर्य] का प्रकाश क्रमशः अधिक अधिक बढ़ता गया है। [२]. 'माधुर्य' का यह प्रकाश जिस क्रम से बढ़ता गया है उसी क्रम से अवतार की पूर्णता भी अधिक अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगी है। यही कारण है कि श्री कृष्णावतार को पूर्णावतार माना जाता है<sup>१</sup>।

ऐसा ज्ञात होता है कि माधुर्य की क्रमिक वृद्धि के साथ-साथ ही अवतार की पूर्णता की वृद्धि देखकर ही सभी भक्तों तथा सभी आचार्यों की आत्मा ने यह स्वीकार किया होगा कि पूर्णता का मापदण्ड ऐश्वर्य नहीं अपितु वह माधुर्य ही है। सम्भवतः इसीलिए उपासना के क्षेत्र में नृसिंह, वामन, राम और कृष्ण इन चार अवतार स्वरूपों की ही प्रतिष्ठा हुई; कच्छ, मच्छ तथा वाराह आदि अवतारों की नहीं।

यह माधुर्य नन्दनन्दन श्री कृष्ण की लीला में अन्य तीनों अवतारों की अपेक्षा अधिक था; बहुत अधिक था। यद्यपि वह पूर्ण नहीं था तथापि अमोघ आकर्षण, अप्रतिम सौन्दर्य तथा अद्भुत उन्मादकारी माधुर्य का प्रभाव ही ऐसा विमुग्धकारी था कि सभी भगवद्भक्त श्री कृष्ण को ही माधुर्यशाली मान बैठे। जबकि बात सत्य यह थी कि भगवान श्री कृष्ण में भी 'माधुर्य' पूर्ण नहीं था; हाँ अन्यावतारों की अपेक्षा सर्वाधिक अवश्य था। यदि भगवान श्री कृष्ण में माधुर्य का पूर्ण प्रकाश होता तो उस प्रकाश के सामने उनका ऐश्वर्य प्रकाश पूर्ण रूप से प्रच्छन्न हो जाता, ढक जाता क्योंकि यह प्राकृतिक नियम है तथा लोक और वेद विहित विधान है कि जहाँ पर माधुर्य [प्रेम की किरणों] का जितना [जितने अंश में] प्रकाश होगा वहाँ पर ऐश्वर्य उतने अंश में निश्चित ही ढक जायगा। ईश्वरत्व विलुप्त हो जायेगा।

लोक में भी देखा जाता है कि एक सर्वशक्ति सम्पन्न महाराज राजेश्वर अपने समासदों के बीच राजसिंहासन पर बैठा हो; यदि उस समय उसका स्नेह भाजन शिशु उसकी गोद में आ बैठे और उसकी मूँछें पकड़ ले तो वह सर्वशक्ति सम्पन्न राजा अपना राजत्व भूल जायगा; भूल ही जाता है; उसे दण्डित न करके प्यार ही प्रदान करता है। इसी प्रकार उस राजेश पर यदि माता के प्रेम की किरणें या कान्ता प्रेम की किरणों का प्रकाश [माधुर्य प्रकाश] पड़ता है तो निश्चय ही वह अपना राजत्व भूल जाता है।

रामायण, भक्तमाल और श्रीमद्भागवतादि पुराणों में एक नहीं अनेकानेक ऐसे प्रेम चरित्र वर्णित हैं जहाँ माधुर्य के प्रकाश में भगवान की भगवत्ता किंवा ऐश्वर्य विलुप्त

१. एते चांसकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं



हुआ है। भगवान श्री राम पर जब शबरी के प्रेम की किरणें पड़ी थीं तब वे अपना मर्यादा पुरुषोत्तमत्व सर्वथा भूल गये थे। उन्होंने ऋषि-मुनियों के समक्ष उसके जूटे बेर खाये थे। जब उन पर उनकी प्रिया जानकी जी के मधुर प्रेम की किरणें पड़ीं तब वे अपना ईश्वरत्व भूलकर साधारण मानव की भाँति विलाप भी करने लगे थे।

भगवान श्री कृष्ण पर जब माता यशोदा के स्नेह की किरणें पड़ीं तब वे साधारण बालक की भाँति मचलने-रोने लगे थे तथा अन्य बाल विनोद करने लगे थे। सखाओं की प्रीति का प्रभाव पड़ने पर वे ईश्वरत्व भूलकर उनका जूठा खाने लगे थे, गाय घेरते थे और दाव पड़ने पर उन्हें अपनी पीठ पर भी बैठाया करते थे। गोपियों के प्रेम की किरणों के प्रकाश में तो वे उनके संकेतों पर नाचा करते थे। विदुर पत्नी के हाथ से केला के छिलके भी खाये थे। इत्यादि।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि भगवान श्री कृष्ण अपनी अवतार लीला में पग-पग पर प्रेम के वशीभूत हुए हैं अर्थात् पग-पग पर माधुर्य प्रकाश प्रसरित हुआ है, किन्तु इसके साथ यह भी परम सत्य है कि बीच-बीच में ऐश्वर्य का प्रकाश भी होता ही रहा है। सात दिन की आयु में ही पूतना का वध करना, शैशवावस्था में ही शकटासुर, तृणावर्त वध और यमलार्जुन उद्धार जैसी लीलाओं में उनका ऐश्वर्य ही प्रकाशित हुआ है। खेल खेल में ही बड़े-बड़े राक्षसों का वध करना, सात वर्ष की आयु में सात कोस का गोवर्धन पर्वत नख पर धारण करना, कालीनाग का मान मर्दन करना आदि उनके ईश्वरत्व का ही प्रकाश है। यहाँ तक कि महारास जैसी मधुर लीला में भी अनेक रूप होकर एक साथ अनन्त गोपियों का मनस्तोष करना, अन्तर्धान होकर पुनः प्रकट होना आदि-आदि कार्य भी ऐश्वर्य प्रकाश के ही परिचायक हैं।

माधुर्य प्रकाश के साथ-साथ ऐश्वर्य का प्रकाश यह कहने के लिए विवश करता है कि ब्रज में अवतरित भगवान श्री कृष्ण की लीला में 'माधुर्य' निरावरण और सम्पूर्ण रूप में आलोकित नहीं हुआ है। माधुर्य का वह पूर्ण रूप किंवा प्रेम का वह निरावरण और निज रूप अदृष्ट रहा है जो कि भगवान की सम्पूर्ण भगवत्ता को पूर्ण रूप से ढक लेता है।

उपर्युक्त विवेचन से वैष्णवोपासना क्षेत्र में प्रतिष्ठित दोनों प्रकार के रूप-सम्पूर्ण माधुर्य और सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिष्ठान सिद्ध नहीं होते-दोनों रूपों में किसी न किसी प्रकार का अभाव दिखाई देता है। नारायण तथा महाविष्णु रूप अलौकिकता की सीमा में तथा लोकावतरित रूप लौकिकता की सीमा में समावद्ध है। परिणामतः ऐश्वर्य तथा माधुर्य के एकाधिष्ठानता की कल्पना ही असम्भव है।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि संपूर्ण ऐश्वर्य तथा संपूर्ण



माधुर्य का अधिष्ठान कौन; जो कि लौकिकता और अलौकिकता की जटिल शृंखलाओं को तोड़ने में सक्षम हो ?

पिछले पृष्ठों में आलोचित हो चुका है कि प्रेम की किरणों किंवा माधुर्य के प्रकाश में षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान की भगवत्ता निष्प्रभ हो जाती है। अतः सम्पूर्ण ऐश्वर्य का अधिष्ठान वह 'प्रेम' ही सिद्ध होता है जो कि पूर्ण ईश्वर को भी दीन बना देता है। जिस माधुर्य के प्रकाश में षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान की भगवत्ता किंवा प्रभुता प्रच्छन्न हो जाती है। उस माधुर्य का उदगम स्थल भी एकमात्र 'प्रेम' ही है। अतः संपूर्ण माधुर्य का एकाधिष्ठान भी वह 'प्रेम' ही सिद्ध होता है जो कि अपने माधुर्य संज्ञक प्रकाश से भगवान के संपूर्ण ऐश्वर्य को संपूर्ण रूप से प्रच्छन्न कर लेता है। किन्तु यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि 'प्रेम' का वह निज रूप [सम्पूर्ण माधुर्य और सम्पूर्ण ऐश्वर्य का अधिष्ठान] श्री हिताचार्य के कथनानुसार एकमात्र वृन्दावन में ही गोचर है<sup>१</sup>। जिस रूप के समक्ष ऐश्वर्य की किंचित झलक मात्र भी कभी नहीं दिखाई देती जैसी कि अवतार कालीन श्री कृष्ण-लीला में पग-पग पर प्रत्यक्ष होती रही है। माधुर्य मूलक प्रेम के इसी परात्पर रूप पर प्रकाश डालते हुए श्री हिताचार्य ने कहा है कि वह सृजन पालन तथा संहार आदि सृष्ट्यादि वार्ता से सदा असंपृक्त बना रहता है; भक्तों की तथा धर्म की रक्षा करने के लिए नारदादि भक्तों से भी कभी नहीं मिलता<sup>२</sup>। वह तो ऐश्वर्याभास विरहित अपने अनंग के रंगोत्सव में नित्य निरन्तर निमग्न बना रहता है<sup>३</sup>। श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों का आधार पाकर प्रबोधानंद जी सरस्वती<sup>४</sup> हरिराम व्यास जी<sup>५</sup> सेवक जी तथा हित ध्रुवदास जी<sup>६</sup> आदि रसिकों ने उसे ऐश्वर्य विरहित विशुद्ध, माधुर्य मूर्ति के रूप में ही प्रकीर्तित किया है।

१. यद् वृन्दावन मात्र गोचर महो.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६

२. दूरे सृष्ट्यादि वार्ता न कलयति मनाद् नारदादीन्स्वभक्ता.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २३५

३. वृन्दावण्य निकुंज सीम सु सदा स्वानंग रंगोत्सवै।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८

४. ऐश्वर्य परमञ्च वेत्तिन मनाद् नान्यं च कश्चिद्रसं, न स्थाने परतः कदा त्वनुगतं नो वा कुतोप्यागतम्।  
कैशोरादपरं वयो न हि कदाप्यासादयन्न क्षणं, क्रीडातो विरतं तदेक मिथुनं वृन्दावने नन्दति।

— वृ. म., षष्ठम शतक, प्र. स., श्लो. सं. ६

५. कोटि ब्रह्म ऐश्वर्यता वैभवता की वार। व्यासदास की स्वामिनी को अब सकै निहार।

— व्या. वा., ह. व्या., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ११५

६. वैभव सब ऐश्वर्यता, ठाढ़ी सेवत दूर। परसन पावत कबहुँ नहिं श्री वृन्दावन धूर।

— व्या. ली., नेह मंजरी लीला, छं. सं. १६७



इस भूतलस्थ वृन्दावन में अद्वय युगल नित्य नव किशोर वपु से नित्य विहार परायण बने रहने वाले रूप की स्वरूप महत्ता का निकट परिचय देते हुए आचार्य चरण ने एक स्थल पर कहा है कि जो अवतार समूहों का अनन्यव्रतैक निष्ठ होकर भजन करते हैं; वे भी वन विहार रस [वृन्दावन में होने वाले नित्य विहार का रस] पान करने पर अपनी मर्यादा त्याग देते हैं<sup>१</sup>। व्यंजना यह कि वृन्दावन में नित्य विहार करने वाला तथा रस-रसिक रूप में नित्य प्रत्यक्ष 'प्रेम' किंवा रस ही परात्पर तत्व है। जिसका रसानन्द पान कर लेने पर ऐश्वर्य सम्पन्न तथा माधुर्य मिश्रित ऐश्वर्य सम्पन्न—राम कृष्णादि अवतार का स्वरूपानन्द या लीलानन्द अरुचिकर लगने लगता है। फलतः वह वन विहार रस पान कर्ता सभी अवतार समूहों को त्याग देता है और अपनी भजन मर्यादा को त्यागकर प्रेमोपासक ही बन जाता है।

यहाँ पर एक बात नितान्त अविस्मरणीय यह है कि श्री वृन्दावन के नित्य विहार परायण रूप में पूर्ण माधुर्य के साथ-साथ पूर्ण ऐश्वर्य तो है किन्तु माधुर्य की अतिशयिता के कारण उसका सदा सर्वदा अदर्शन ही बना रहता है। पूर्ण माधुर्याधिष्ठान प्रेम मूर्ति अद्वय युगल में ऐश्वर्य उसी प्रकार से तल्लीन बना रहता है जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में चन्द्र तथा तारागण विलीन रहे आते हैं। इस परम गुह्य रहस्य को व्यंजित करने के लक्ष्य से ही श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य 'प्रेम' को प्रिया-प्रियतम तथा श्यामा-श्याम आदि प्रेम स्वरूपता परिचायक नामों के साथ-साथ 'हरि', 'सकललोक चूड़ामणि', 'राधामाधव' तथा 'प्रभु' आदि नामों से भी प्रकीर्तित किया है<sup>२</sup>।

श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों के आधार पर हित चरणाश्रित हरिराम व्यास जी ने प्रेम धाम वृन्दावन में ही गोचर पूर्ण माधुर्याधिष्ठान 'प्रेम' के ऐश्वर्याधिष्ठान रूप का वर्णन निम्नांकित पद में किया है—

नव नृपति चक्र चूड़ामणि साँवरौ, राधिका तरुनिमणि पट्टरानी।  
शेष गृह आदि बैकुण्ठ पर्यन्त सब लोक थानैत वन राजधानी॥

१. जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये। तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन विहार रस पिये॥

— स्फु. वा., गो. हि. ह., पद सं. २०

२. [क] यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानैं।

— हि. चौ., प. सं. ४९

[ख] आजु सखी वन में जु बने प्रभु नाचत हैं ब्रजमण्डन।

— हि. चौ., प. सं. ६९



मेघ छ्यानवै कोटि बाग सींचत जहाँ, मुक्ति चारों तहाँ भरत पानी।  
सूर-शशि पाहरु पवन जल इन्दिरा, चरन दासी भाट निगम वानी॥  
धर्म कुतवाल शुक सूत नारद चारु, फिरत चर चार सनकादि ज्ञानी।  
सत्त्व गुन पौरिया काल बँधुआ कर्म, डाँडिये काम रति सुख निशानी॥  
कनक मर्कत धरनि कुंज कुसुमित महल, मध्य कमनीय सयनीय ठानी।  
पल न बिछुरत दोऊ जात नहिँ तहाँ कोऊ 'व्यास' महलिनि लिये पीकदानी'॥

“वृन्दावन मात्र गोचर 'प्रेम' का काम केलि परायण रूप सम्पूर्ण माधुर्य और संपूर्ण ऐश्वर्य का एकान्त अधिष्ठान है” इस तथ्य के मूलभूत आधार ये भी हैं कि वह रूप लौकिकता और अलौकिकता इन दोनों सीमाओं से विमुक्त है। वह रूप लोक की मानवीय दृष्टि से ही दूर नहीं प्रत्युत महाविष्णु से, ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी, शुक, नारदादि भक्तों से, मुक्तजनों से तथा समस्त ब्रज लीला परिकर की दृष्टि से भी सदा दुर्गम बना रहता है<sup>२</sup>। उस रूप की यह विलक्षणता उसकी लौकिकता को प्रच्छन्न रखकर उसे अलौकिक बनाये रखती है। उसका वह नित्य किशोर रूप जो जन्मा या अजन्मा न होकर सदैव प्रकटतर रहता है,<sup>३</sup> उस रूप की विशुद्ध माधुर्य प्रकाशक लीलायें, विलक्षण काम केलि [स्वानंग केलि]<sup>४</sup>, उस रूप की नित्य नव विवाह लीला<sup>५</sup> उसकी अलौकिकता और लौकिकता दोनों को निष्प्रभ करते हुए उसकी परात्परता का प्रकाश करती है। वह रूप लोक और वेद की मर्यादाओं को तोड़कर नित्य काम केलि परायण बना रहता है<sup>६</sup>। उस रूप की यह अद्भुत क्षमता उसकी सर्वतन्त्र स्वतंत्रता सम्पन्न ईश्वरेश्वरता का प्रकाश करती है जो कि व्यामोह के स्थान पर सबके हृदय में भक्ति भाव का आविर्भाव करती है।

उपर्युक्त विशद विवेचना के आलोड़न से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संपूर्ण ऐश्वर्य माधुर्य का एकान्त अधिष्ठान वृन्दावन मात्र गोचर 'प्रेम' ही है। एतावता वही पूर्ण परात्पर तत्व है।

१. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ६५

२. रा. सु. नि., श्लो. ३, ७२, ७३, ९६, १२८, १४८, २३५, २३८, २३९, प्र. पृ. सं. १०६, १०७

३. वृन्दाटव्यां सदैव प्रगटतर.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२६

४., ५. रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८, ५६ प्र. पृ. सं. १५०

६. [क] जै श्री हित हरिवंश पिवत सुन्दरवर सीव सुदृढ़ निगमनि की तोरी।

— हि. चौ., प. सं. ८२

[ख] निगम-लोक मर्याद भंजि क्रीडंत रंग रस।

— से. वा., से. जी, हितरसरीति प्रकरण, छं. सं. ९



### ४.६.४.३. संबंधित शंका और समाधान :

वृन्दावनस्थ 'प्रेम' के नित्य विहारी रूप की पूर्ण परात्परता सिद्धि सन्दर्भ में लिखा गया है कि उस रूप में पूर्ण माधुर्य भी है और पूर्ण ऐश्वर्य भी; किन्तु माधुर्य की अतिशयिता के कारण ऐश्वर्य का सर्वथा अदर्शन बना रहता है। ऐश्वर्य के इस दर्शनाभाव से यह स्वाभाविक शंका उत्पन्न हो सकती है कि उसमें [उस रूप में] ऐश्वर्य का सर्वथा अभाव है अतः उसे भी अपूर्ण ही क्यों न कहा जाय ? इस ऐश्वर्य अदर्शन से भक्ति भाव कैसे उदय हो सकता है ? तथा साथ ही लोक के किशोर-किशोरी की काम क्रीड़ा का व्यामोह होना भी तो सम्भव है ?

ऐश्वर्य के अदर्शन से उसे अपूर्ण इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें ऐश्वर्य का अभाव नहीं है अदर्शन है। यह ऐश्वर्य तो उसमें पूर्ण रूपेण विद्यमान है। इसीलिए तो उसकी लीला क्रीड़ा नाद्यन्त है। देश काल की सीमा से अनाबद्ध है। इसीलिए वह लोक-वेद की मर्यादा का अतिक्रमण कर्त्ता के रूप में प्रकीर्तित है। और इसीलिए श्री हिताचार्य ने नित्य क्रीड़ा परायण द्वय युगल रूप में प्रत्यक्ष उस 'प्रेम' को प्रिया-प्रीतम, श्यामा-श्याम आदि नामों के साथ-साथ 'सकल लोक चूड़ामणि', 'नित्य परात्पर पुरुष', 'हरि' और 'प्रभु' आदि नामों से भी अभिसंज्ञात किया है।

ऐश्वर्य के दर्शनाभाव से सर्वसाधारण को व्यामोह इसलिए नहीं होता और भक्ति भाव इसलिए उदय हो जाता है क्योंकि ऐश्वर्य अदर्शन की अमल आभा में ही उसकी लौकिक-अलौकिक परिधियों से पृथक्ता, प्रगट और अप्रगट की सीमा से अनाबद्धता, निर्गुण और सगुण स्वरूप सीमा से विमुक्तता और षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान के लिए भी उसकी स्वरूप विमृग्यता जैसी अनेक अद्भुतता प्रत्यक्ष बनी रहती हैं।

श्री नारायणादि स्वरूप के उपासकों द्वारा भी यह कहा जा सकता है कि हमारे लक्ष्मीनारायण भी वृन्दावनस्थ 'प्रेम' रूप की भाँति ही संपूर्ण ऐश्वर्य और संपूर्ण माधुर्य के अधिष्ठान हैं। उनमें भी माधुर्य का अभाव नहीं अदर्शन है।

ऐश्वर्य के प्रकाश में माधुर्य के अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव है क्योंकि माधुर्य मूलक रति भाव के उद्बुद्ध होने के लिए सजातीयता, सधर्मा, सम रुचि, सम वय और सम पद होना अनिवार्य है। महतोमहीयान् के प्रति श्रद्धा और भक्ति भाव तो उदय हो सकता है किन्तु सख्य वत्सल और मधुर भाव नहीं। लक्ष्मी नारायणादि रूप के अलौकिक ऐश्वर्य की अत्यन्त असह्य ऊष्मा ही महा मृदुल, महामधुर और महा मंजुल माधुर्य मूलक प्रेम को भस्मांगकारी सिद्ध होगी। अन्तर्निर्लीनता की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।



वैसे भी लोक-वेद में प्रेम रश्मि-माधुर्य के सामने ईशत्व झुकता देखा गया है किन्तु ईशत्व के सामने माधुर्य के झुकने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। भगवान राम-कृष्ण की प्रेमाधीनता ही इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है।

#### ४.६.५. अनादि, अनन्त, अपार और सर्वव्यापक :

भक्ति शास्त्रों में परात्पर तत्व को 'ब्रह्म', 'परमात्मा' और 'भगवान' शब्द से सम्बोध्य कहा गया है। साथ ही सांकेतिक भाषा में उसे 'रस' कहकर भी प्रकीर्तित किया है। श्रुतियों ने इस ब्रह्म, परमात्मा किंवा भगवान शब्द से सम्बोध्य तत्व को ही अनादि, अनन्त अपार और सर्वव्यापी कहा है, किन्तु 'प्रेम' किंवा 'रस' का कोई परिचय विशेष नहीं दिया है।

श्री हिताचार्य ने इस 'प्रेम' किंवा 'रस' के निज रूप को श्रुतियों, बुधजनों और भगवान के लिए भी विमृग्य घोषित किया है<sup>१</sup>। साथ ही उस परम ज्योति को भगवान के लिए 'रतिमद् रहस्यं' भी कहा है<sup>२</sup> और घोषणा की है कि 'प्रेम' किंवा 'रस' सदैव प्रगटतर [आदि-अन्त रहित नित्य नव रूप में प्रगट] रूप में<sup>३</sup> नित्य विहार परायण बना रहता है। 'सदैव प्रकटतर' तथा 'भगवान के लिए भी विमृग्य' और 'रतिमद् रहस्यं' कहकर श्री हिताचार्य ने उस प्रेम तत्व की अनादिता, अनन्तता और असीमितता व्यंजित कर दी है।

श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों का अनुवाद जैसा करते हुए नेही नागरीदास तथा हित ध्रुवदास जी आदि ने अपनी वाणियों में भी 'प्रेम' का नाद्यंत रूप इन शब्दों में व्यक्त किया है—

प्रबल प्रेम वर तत्व पायौ।

जाकौ आदि-अन्त-मधि नाहीं, रसिक नृपति जू अदिख दिखायौ॥

दुर्लभ दुर्घट दुर्गम ठाहर जाकौं प्रभु अलि मारग ध्यायौ।

नागरीदास श्री व्याससुवन जू अकह भजन निरवधि पकरायौ<sup>४</sup>॥

१. श्री राघे श्रुतिभिर्बुधैर्भगवताप्यामृग्यसद्वैभवे .....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २६९

२. पूर्णानुराग रस मूर्ति तडिल्लितामं। ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्ग्रहस्यं। .....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ४०

३. ....वृन्दाटव्यां सदैव प्रकटतर रहो बल्लवी भाव भव्या.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२६

विरोध ज्ञातव्य— 'सदैव प्रकटतर' सम्बन्धी विस्तृत विवरण प्रबंध के पंचम अध्याय में दृष्टव्य है।

४. ने. ना. दा. की वा., ने. ना. दा., प. सं. ४६

आदि-अन्त जाकौ नहीं रहत एक रस रूप। रुचि तरंग पल-पल बढ़ै सहजहि सुखद अनूप॥  
आदि-अन्त जाकौ भयौ सो सब प्रेम न रूप। आवत जात न जानिये जैसेँ छाँह अरु धूप॥

जगत, भक्त और भगवान इन तीनों में प्रीति, प्रेम, राग, अनुराग, स्नेह, प्रणय आदि रूप से संव्याप्त आदि-अन्त रहित यह 'प्रेम' ही है जो कि इन सभी के हृदयों में पारस्परिक सम्बन्ध रूप में नित्य स्थित बना रहता है। अतः 'प्रेम' की सर्वव्यापकता भी प्रकृत सिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रेम' अनादि, अनन्त, अपार और सर्वव्यापक आदि विशेषणों से विभूषित भगवान में भी संव्याप्त और उनके लिए भी खोज का विषय बना हुआ है। एतावता 'प्रेम' की परात्परता स्वतः सिद्ध है।

#### ४.६.६. लौकिकता व अलौकिकता की मर्यादा से अनाबद्ध :

श्रुतियों ने परात्पर तत्व के निर्गुण निराकार और सगुण साकार इन दो रूपों का विशद व्याख्यान किया है। 'निर्गुण निराकार रूप' लोक-वेद की तथा लौकिकता-अलौकिकता की सीमा में आबद्ध है या नहीं—यह प्रश्न विचार विमर्श का विषय ही नहीं बनता; क्योंकि वह केवल ज्ञान का विषय है, प्रत्यक्ष रूप नहीं।

'सगुण साकार' के दो रूप हैं। एक रूप वह है जो लोक से अप्रत्यक्ष बैकुण्ठ आदि दिव्य धामों में विष्णु, महाविष्णु, भूमा, तथा नारायण आदि नामों से विख्यात अपने भक्तों के सामने प्रत्यक्ष होता है। इस रूप की समुद्र मंथन, गज ग्राह उद्धारादि समस्त लीलायें अलौकिक लीला नाम से अभिसंज्ञात हैं। दूसरा रूप वह है जो अवतार संज्ञक होकर वामन, राम-कृष्ण आदि नामों से लोक प्रत्यक्ष होता है। वह लौकिक रूप है। इसीलिए उसकी माखन चोरी, गौचारण और असुर वध आदि-आदि लीलाओं को लौकिक लीला कहा जाता है।

निर्गुण निराकार और सगुण साकार से पृथक् परात्पर तत्व 'प्रेम' किंवा 'रस' प्रकृतितः लीला प्रिय है। इस परात्पर तत्व 'प्रेम' की सभी लीलायें ऐश्वर्य शून्य मधुरतम [विशुद्ध माधुर्यमयी] होती हैं। प्रेम का पूर्ण परिपाक और परमोज्ज्वल मधुरतम रूप नव दंपति के नूतन विवाह में ही प्रत्यक्ष होता है। यही कारण है कि वह 'प्रेम' नित्य नव दूलह और नित्य नव दुलहिनी रूप में प्रत्यक्ष होकर नित्य नवीन विवाह के उत्सवानन्द में नित्य निमग्न बना रहता है।



विवाह मानवीय जगत का एक संस्कार विशेष है। अतः परतत्त्व के अलौकिक रूप का विवाह उत्सव तो सर्वथा अकल्प्य ही है। भगवान के लोकावतरित रूपों में केवल श्री राम और श्री कृष्ण का विवाह ही ऐतिहासिक सत्य है। श्री राम का जनक सुता जानकी के साथ विवाह केवल एक ही बार शास्त्र सम्मत है। श्री कृष्ण का श्री राधा के साथ विवाह सर्व सम्मत नहीं है। द्वारिका में श्रीकृष्ण के अनेकानेक विवाह हुए हैं। किन्तु एक वधू के साथ एक ही बार हुआ है—उसी रानी के साथ ही दूसरी-तीसरी बार नहीं। क्योंकि ऐसा कार्य लोक और वेद दोनों की मर्यादा का उल्लंघन था—जो कि न तो किसी मानव को ही स्वीकार था और न भगवान को ही।

हम देखते हैं कि नित्य नव विवाह उत्सव लोक रस तथा काव्य रस के आलंबनों में तो सर्वथा अकल्पित है ही, साथ ही भक्ति रस के आलंबनों में भी असम्भव है क्योंकि उनके ईश्वर स्वरूप में वेद की मर्यादा और माधुर्य स्वरूप में लोक की मर्यादा बाधक बनी रहती है। उनमें यह नित्य विवाह इसलिए भी असम्भव है क्योंकि इस भक्ति रस के आश्रयों के लिए यह अपेक्षित भी नहीं है प्रत्युत एक अनुचित कार्य है।

मानवीय जगत की अनुभूति तथा भक्ति शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि नित्य नूतन विवाह उत्सव करना लोक और वेद मर्यादा के विरुद्ध कार्य है। लोक-वेद मर्यादा का उल्लंघन है। लोक-वेद मर्यादा का उल्लंघन न तो लोक ही कर सकता है और न अलौकिक भगवान। भगवान तो सब प्रकार की मर्यादाओं के निर्णायक, धर्म संस्थापक और संरक्षक है<sup>१</sup>। इसीलिए इस दुष्कर कार्य को करने का प्रमाण लौकिक या अलौकिक संज्ञक प्रदेश में कहीं नहीं मिलता। इसका एकांत प्रमाण तो एकमात्र प्रेम धाम वृन्दावन में ही मिलता है। जहाँ प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम का नित्य नव विवाह उत्सव प्रीति स्वरूपा राधाकिंकिरीगणों द्वारा नित्य प्रति समायोजित होता रहता है<sup>२</sup>। यही कारण है कि श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों ने यह उद्घोष किया है कि वह परात्पर तत्त्व 'प्रेम' लोक और वेद की सुदृढ़ शृंखलाओं को तोड़ कर सदा स्वानन्द रङ्गोत्सव में निमग्न रहता है—

जै जै श्री हित हरिवंश पिवत सुन्दरवर सीव सृदृढ़ निगमन की तोरी<sup>३</sup>।

१. —धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।

— श्री म. भ. गी., अ. ४, श्लो. सं. ८

२. रा. सु. नि., श्लो. ५५, १४०, प्र. पृ. सं. ....

३. हि. चौ., प. सं. ८२



नवल-नवल सुख चैन ऐन आपुने आपु बस।  
 निगम-लोक मर्याद भंजि क्रीडंत रंग रस॥  
 सुरत प्रसंग निशंक करत जोई-जोई भावत मन।  
 ललित अंग चलि भंगि भाइ लज्जित सु कोक गन॥  
 रसिक अनन्य मंडली मंडन प्रानन हूँ ते प्यारे।  
 जुगल किशोर 'व्यास' के ठाकुर लोक-वेद ते न्यारे१॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकमात्र 'प्रेम' ही लोक-वेद की मर्यादा से अनाबद्ध सर्वतन्त्र स्वतंत्र तत्त्व है। एतावता वही पूर्ण परात्पर तत्त्व है।

#### ४.६.७. परम सच्चिदानन्द घन :

'सत्' शब्द का कोषगत अर्थ 'सत्य', 'सत्ता' तथा 'उत्तम' होता है। दर्शन शास्त्र के विद्वज्जनों ने भी इन्हीं अर्थों को स्वीकार करते हुए ब्रह्म को परम सत् या सद्घन कहा है। 'चित्' शब्द का कोषगत अर्थ—'ज्ञान' तथा 'चैतन्य' प्रत्येक वर्गीय विद्वानों को मान्य है। इसी प्रकार 'आनन्द' शब्द का अर्थ 'दुख की निवृत्ति', 'सुख' और 'हर्ष' ही विज्ञ जगत तथा अविज्ञ सभी को स्वीकार है।

श्रुतियों ने जिस एकान्त तत्त्व का स्वरूप निर्वचन करते हुए उसे निर्गुण निराकार सगुण साकार, ब्रह्म, परमात्मा और भगवान नाम से व्याख्यात किया है; उसे ही 'सच्चिदानन्दघन' भी घोषित किया है। परात्पर तत्त्व पूर्ण सच्चिदानन्द घन रूप है, अंशी रूप है तथा जगत का प्रत्येक प्राणी [चर-अचर] सच्चिदानन्दघन का ही अंश है<sup>१</sup>। जो जिसका अंश होता है वह अपने अंशी में मिल जाने के लिए लालायित उत्सुक और सदैव सचेष्ट बना रहता है। उदाहरणतः सूर्य की किरणें सागर से जलाकर्षण करती हैं। वह जल भाप के रूप में परिणत होकर क्रमशः बादल बनकर वर्षा करता है। वर्षा का वह जल सर्वप्रथम पहाड़ों की सर्वोच्च श्रेणियों और आवास गृहों की सर्वोच्च छतों पर गिरता है। पुनः क्रमशः नीचे उतरता हुआ, गलियों तथा राजपथों की नालियों से चलता हुआ नदियों के द्वारा उसी सागर में विलीन हो जाता है जिससे उसका उद्गम हुआ था। जीव की प्रत्येक क्रिया आनन्द प्राप्ति के लिए ही होती है। और उसका यह क्रिया कलाप तब तक चलता रहता है जब तक उसे अंशी स्वरूप आनन्दघन की प्राप्ति नहीं हो जाती।

१. से. वा., हित रसरीति, सप्तम प्रकरण, छं. सं. ९

२. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ३७७

३. मवैवांश जीव लोके .....।



सच्चिदानन्दघन भगवान का सानिध्य लाभ प्राप्त होने पर उपासक में सत् स्वरूप की पूर्णता का अभाव बना रहता है। क्योंकि भक्त प्रभु को अंशी और अपने को उनका अंश मानता है। प्रभु को दाता और स्वयं को भिक्षुक तथा उनका दास मानता है। वह भगवान को कुछ देकर उन्हें सुखी करना; भगवान को अभाव ग्रस्त देखना तथा उनमें दुर्भाव करना मानता है। और इसके लिए वह अपने में क्षमता का अभाव भी अनुभव करता है। अतः वह उन्हें ही अपने योगक्षेम का वहनकारी समझता है। अनन्त भक्तों में सर्वश्रेष्ठ ब्रज-भक्तगण तथा इनमें भी श्रेष्ठतम गोपीजन मानी जाती हैं। ये स्वयं भगवान श्री कृष्ण को अपने भक्ति बल से अपने संकेतों से नाच नचाती हैं किन्तु इनके चित्त में भी कामनायें का निरस्त नहीं हो सकी हैं<sup>१</sup>। यह भी भगवान श्री कृष्ण से यही चाहती हैं कि वे केवल हमारे पास ही रहें। अन्य के पास चले जाने पर इनके चित्त में मात्सर्य, क्षोभ तथा शोक आदि उदय हो आते हैं। यह मत्सुख की कामना के कारण ही उदय होते हैं। इस कामना पूर्ति के कारण ही महारास में इन्हें सौभाग्यमद हुआ था और तत्फल स्वरूप इन्हें अपने परम प्रिय प्राणबल्लभ श्री कृष्ण का विरह दुःख भी सहन करना पड़ा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान के सानिध्य में निष्काम मूलक आनन्द पूर्णता का अभाव बना ही रहता है। विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के पंचम शीर्षक में दृष्टव्य है।

‘प्रेम’ के प्रत्येक अंग [प्रेम-प्रेमपात्र और प्रीति] निष्काम, तत्सुखसुखी और अपने प्रिय के प्रति अनन्य होते हैं। इस परात्पर तत्त्व ‘प्रेम’ का सानिध्य प्राप्त होने पर प्रेमोपासक भी उपास्य प्रेम की भाँति पूर्ण काम, तत्सुखसुखी और अनन्य हो जाता है। अतः ‘प्रेम’ में ही सत् की पूर्णता, चित् की पूर्णता और आनन्द की परम पूर्णता है। तात्पर्य यह कि ‘प्रेम’ ही पूर्ण सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन है। संभवतः इसीलिए श्रुति का कथन है कि वह परात्पर तत्त्व ‘रस’ किंवा ‘प्रेम’ ही है जिसे प्राप्त करके प्रापक आनन्दी [आनन्द देने वाला] हो जाता है—

रसोवैसः रसं ह्येवा लब्ध्वा नन्दी भवति<sup>२</sup>।

१. बिना नेम जहँ प्रेम विराजै। सो निहकाम एक रस गाजै॥  
 राई सम जो नेम मिलाई। कौंजी दूध प्रेम है जाई॥  
 गोपिन के सम भक्त न आही। चढ़व-विधि तिनकी रज चाही॥  
 तिन मन कछु सकामता आई। ताते बिच अन्तर परचौ माई॥  
 दुख कौ मूल सकामता, सुख कौ मूल निहकाम। विरह वियोग न तहँ कछू, रसमय ध्रुव सुख धाम॥

— ब्या. ली., अनुराग लता लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. २१ से २५

२. तै. उ., ब्रह्म बल्ली



भक्ति शास्त्रों में भी 'प्रेम' का स्वरूप निर्वचन करते हुए कहा गया है कि जिसको जान लेने पर अन्य कुछ जानने की इच्छा नहीं रह जाती और जिसको प्राप्त कर लेने पर और कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह जाती। वह कामना रहित होता है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति<sup>१</sup>।

यन्त्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति<sup>२</sup>।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति<sup>३</sup>।

अनिवर्चनीयं प्रेम स्वरूपं<sup>४</sup>।

गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभव रूपं<sup>५</sup>।

लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है और शास्त्रों में भी उल्लेख है कि निर्गुण निराकार उपासक तथा सगुण साकार उपासक सभी भक्तगण और साथ ही सच्चिदानन्दधन भगवान भी परम सत्, परम चित् और परम आनन्दधन 'प्रेम' के प्रभाव-प्रकाश में आकर और 'प्रेम' का प्रभाव-प्रकाश पाकर दोनों ही 'प्रेम-परवश' होकर अपना-अपना स्वरूप भूल जाते हैं। तब वह भक्त और भगवान के स्थान पर परम सच्चिदानन्दधन प्रेम स्वरूप हो जाते हैं।

शबरी-समर्पित जूठे बेर खाना, विदुर पत्नी द्वारा समर्पित केले के छिलके खाना प्रेम के ये चारु चरित्र भगवान की प्रेम परवशता के पुष्ट प्रमाण हैं। श्री शुकदेव जी, नारद जी, ब्रह्मा जी तथा शंकर जी आदि-आदि निर्गुण निराकार स्वरूप के उपासक तथा नन्द-यशोदा, सखागण और ब्रज गोपीगण आदि सगुण साकार स्वरूप के उपासक सभी भक्तगण प्रेम परवश होकर अपना भक्त स्वरूप और भगवान श्री कृष्ण का भगवत् स्वरूप भूलकर उनके साथ प्रेम क्रीड़ा किया करते हैं। 'प्रेम' के इन शास्त्र वर्णित चारु चरित्रों को देखते हुए सम्भवतः यह स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति न होगी कि 'प्रेम' ही परम सत्, परम चित् और परम आनन्दधन है। अतः इस दृष्टि से भी 'प्रेम' ही परात्परतत्त्व है।

#### ४.६.८. पुरुष, नपुंस न नारी :

भक्ति शास्त्रों में जीव को 'आत्मा' और ब्रह्म को 'परम आत्मा' कहकर आत्मा व परमात्मा का अभेदत्व आलोकित किया गया है। श्रुतियों ने आत्मा का स्वरूप निर्वचन



करते हुए कहा है कि वह न नारी है न पुरुष है और न नपुंसक ही है<sup>१</sup>। इस अचित् ब्रह्म स्वरूप जगत में उस आत्मा [जीवात्मा] को नारी-पुरुष और नपुंसक रूप में प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसीलिए शास्त्रों में जीवात्मा को यह उद्बोधन देकर कि—“वह परात्पर तत्त्व न पुरुष है न नारी है और नपुंसक ही है”—सचेत किया गया है; जिससे वह इस जगत को ही पूर्ण पर ब्रह्म न समझ बैठे। यहाँ पर यह बात भी नितान्त अविस्मरणीय है कि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म के सविशेष रूप को मूल पुरुष तथा पुराण पुरुष के रूप में और उसकी प्रकृति को नारी रूप में वर्णन किया गया है। सविशेष ब्रह्म की उपासना नारी रूप में भी किसी ने की हो—ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

‘प्रेम’ पुरुष मूर्ति व नारी मूर्ति दोनों में एक रूप में ही प्रकट होता है। उसकी अपनी कोई निजी संज्ञा नहीं है। वह पुरुषाकार में भी कभी प्रेमी कभी प्रेमपात्र बनकर प्रकट होता है और नारी रूप में भी कभी प्रेमी और कभी प्रेमपात्र बनकर प्रकट होता देखा जाता है। जब वह अपने पूर्ण रूप में प्रगट होता है तब अपने दोनों अंगों [प्रेमी और प्रेमपात्र] को पुंसत्व और नारीत्व ज्ञान से पूर्णतः विस्मृत कर देता है। दोनों को प्रेम स्वरूप ही बना देता है।

निर्विशेष ब्रह्म की उपासना में तो उपासक और उपास्य की पृथक् स्थिति का ही अभाव है और सविशेष ब्रह्म की उपासना या तो पुरुष-हृदय-स्थित दास्य, सख्य और वत्सल भाव से अथवा नारी-हृदय-स्थित कान्त भाव और वत्सल भाव से की जाती है; क्योंकि वहाँ इष्ट को पुरुषाकार ही माना जाता है। किन्तु ‘प्रेम’ की उपासना न तो नारी हृदय से ही सम्भव है और न पुरुष हृदय से ही। यह तो नारी और पुरुष का भाव सर्वथा निरस्त होने पर किंवा प्रेम स्वरूप होने पर ही प्रारम्भ होती है<sup>२</sup>। कारण सुस्पष्ट है कि उपास्य तत्त्व ‘प्रेम’ नारी किंवा पुरुष न होकर—प्रेमी-प्रेमपात्र और प्रीति—इन तीन मूर्तियों में सदैव प्रकटतर रहने वाला कोई परमाद्भुत रूप है।

यह तो हुआ तात्त्विक दृष्टि से विचार; शरीर-विज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर भी ‘प्रेम’ पुंसत्व तथा नारीत्व की सीमा में समावद्ध दिखाई नहीं देता।

यह अकाट्य और प्राकृतिक नियम है कि नारी और पुरुष के अंग-सांस्पर्श से

१. [क] नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीर मादन्ते तेन-तेन सयुज्यते॥

— श्वे. उ., ५, १०

[ख] न स्त्री न पुमान् नापि न नपुंसकं च। न सन्नचासत सदसच्च तन्नः।

— म. भा., शान्ति पर्व, २०१, २७

२. बनिता-पुरुष भाव मिटि जाय। सेवै ललितादिक के भाय॥

— वृ. म. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. १९



काम विकार का उद्दीपन हो जाता है। मानव जगत तो इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है ही भगवान श्री राम-कृष्ण के चरित्रों से भी यह तथ्य परिपुष्ट होता है। सीता-स्वयंम्बर में भगवान श्री राम को देखकर मिथिला की राजकुमारियाँ काम-पीड़िता हो गई थीं<sup>१</sup> और उन्होंने भगवान श्री राम से प्रार्थना की थी कि आप हमें अपनी अर्धाङ्गिनी बना लें। उस समय भगवान श्री राम ने उन राजकुमारियों से कहा था कि इस समय हम मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप से लीला कर रहे हैं अतः इस समय तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं करेंगे, द्वापर युग में लीला पुरुषोत्तम रूप से प्रगट होकर तुम सबका मनोरथ पूर्ण करेंगे। इसी प्रकार कृष्ण-वतार काल में भी पुरुष भूषण भगवान श्री कृष्ण के दर्शन और अंग-सांस्पर्श से भी ब्रज गोपियों के हृदय में कामोद्दीपन हो गया था। तब उन्होंने श्री कृष्ण से कहा था कि—“हे पुरुष भूषण ! आपका सस्मितानन देखकर हम सब तीव्र काम से संतप्त हो रही हैं”।

प्रेम धाम वृन्दावन में ‘प्रेम’-प्रेमी [श्यामसुन्दर] और प्रेमपात्र [श्यामा] रूप में सदैव प्रकटतर रहकर निरन्तर स्वानंग केलि किया करता है। किन्तु इन दोनों में तथा इस स्वानंग केलि की दृष्टा प्रीति स्वरूपा राधाकिंकरी गणों में कभी भी काम का उद्दीपन नहीं होता। क्यों नहीं होता ? क्योंकि ये सब नारी, पुरुष या नपुंसक न होकर अदभुत प्रेम की मूर्ति हैं<sup>२</sup>। इसीलिए रसिकजनों ने सभी को उद्बोधन दिया है कि प्रिया-प्रीतम, वृन्दावन और सखी परिकर के रूप में सदैव प्रत्यक्ष रहने वाला ‘हित’ किंवा ‘प्रेम’ पुरुष, नपुंसक तथा नारी नहीं है—

हित विदेह दो देह सनेही गौर-श्याम पिय-प्यारी।  
विवि निष्काम सकाम सु नामी वाम विहार अहारी॥  
वृन्दावन निर्मूल फलित समतूल सलित जमुना री।  
‘सबसुख’ सखी समाज अमानी पुरुष नपुंस न नारी\*॥

और इसीलिए श्री हिताचार्य ने प्रेममूर्ति श्यामा-श्याम की स्वानंग केलि में लक्ष्मी

१. जिन्ह कैं रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

नारि विलोकहिं हरषि हिउँ निज-निज रूचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार घरि मूरति परम अनूप॥

— रा. च. मा., बालकाण्ड, गो. तु. दा., दो. सं. २४१

२. ....त्वत्सुन्दरस्मित निरीक्षण तीव्रकाम-तप्तात्मनां पुरुष भूषण देहि दास्यम्।

— श्री म. मा., द. स्क., रा. पं., प्रथम अध्याय, श्लो. सं. ३८

३. [क] .....तयोरदभुत प्रेम मूर्त्योः

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १७३

[ख] .....प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन चषक.....।

— हि. चौ., प. सं. ५०

४. हि. द., स. सु. दा., छं. सं. ५



आदि देवी, ब्रह्मा शंकर आदि देवता गण, समस्त भक्तगण, मुक्तगण और श्रीकृष्ण के ब्रज लीला परिकर-गोप-गोपियों का प्रवेश निषिद्ध कहा है<sup>१</sup>। क्योंकि इन सबके हृदय में वह स्वरूपगत नारीत्व किंवा पुरुषत्व भाव स्थायी रूप से बना रहता है। और नारी किंवा पुरुष हृदय में काम केलि देखकर काम विकार की उत्पत्ति अवश्यम्भावी है। प्रेम की उपासना के लिए तो प्रेम स्वरूप होना अनिवार्य है।

**संबंधित शंका व समाधान :**

रसिक-वाणी-साहित्य में सुरत क्रीड़ा [परिरम्भन आलिंगन तथा चुम्बनादि] करने का सुस्पष्ट वर्णन मिलता है जिसे पढ़कर सर्वसाधारण पाठक कहता है कि यह विशुद्ध काम केलि ही है। इतना ही नहीं, रसिकगण भी इसे काम केलि की संज्ञा देते हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि श्यामा-श्याम की नित्यकेलि काम केलि नहीं है? वह काम केलि नहीं है—क्योंकि जहाँ पर भगवान रहते हैं, वहाँ ही काम की पहुँच नहीं होती, तो भगवान को भी वश में करने वाले 'प्रेम' के देश में काम की पहुँच तो सर्वथा ही असम्भव है; अकल्प्य ही है। सच बात तो यह है कि यहाँ पर जिस प्रेम तत्व की चर्चा की जा रही है वह लौकिक तथा अलौकिक प्रेम से भी पृथक् कोई अद्भुत 'प्रेम' की मिथुनमूर्ति श्यामा श्याम हैं। प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम की सम्पूर्ण केलि सम्पत्ति और सम्पूर्ण केलि उपकरण लौकिक तथा अलौकिक दोनों से सर्वथा पृथक् हैं। प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम का अपना ही प्रेम है और अपना ही काम है<sup>२</sup>। उनके अपने ही चन्द्र-सूर्य और अपना ही वृन्दावन धाम है। उनकी अपनी यमुना, अपनी षट्ऋतु अपनी विलास प्रक्रिया तथा अपनी ही कोक कलायें हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में लिखा गया है कि प्रेम देश वृन्दावन में काम की पहुँच नहीं है, प्रत्युत यहाँ एकमात्र अद्भुत 'प्रेम' है, जो कि काम सहित और काम रहित इन दोनों रूपों में प्रतिक्षण प्रत्यक्ष रहता है। प्रेम की दो अवस्थायें होती हैं। एक चेतन अवस्था और दूसरी विवशावस्था। प्रेममूर्ति श्यामा श्याम के हृदयों में ये दोनों अवस्थायें समुद्र की तरह लहराती रहती हैं<sup>३</sup>। विवशावस्था रूपी समुद्र की लहरें ही प्रेम समुद्र की लहरें हैं; जो कि प्रेम क्रीड़ा के नाम से प्रकीर्तित हैं और चेतन अवस्था रूपी समुद्र की लहरें

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ३, ७३, ९६, १२८, १४८, २३८, २३९, प्र. पृ. सं. १०६, १०७

२. वृन्दारण्य सीम सु सदा स्वानङ्ग रङ्गोत्सवैः ....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८

३. [क] शुद्ध प्रेम विलास वैमव निधिः ..... कन्दर्प लीला निधिः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २४४

[ख] प्रेम-मदन के सिन्धु द्वै बहत रहत दिन डीय। कबहुँ विवस चेतत कबहुँ छिन-छिन प्यारी-पीय।।

— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. धु. शा.,



ही काम समुद्र की लहरें हैं। यह काम समुद्र की लहरें ही काम क्रीड़ा के नाम से अभिसंज्ञात हैं<sup>१</sup>। श्री हिताचार्य ने श्यामा-श्याम के इस अद्भुत विलास को 'स्वानङ्ग रङ्गोत्सव' कहकर प्रशंसित किया है<sup>२</sup>। आचार्य चरण के इस सूत्र वाक्य के आधार पर हित ध्रुवदास ने यहाँ, के मैन को 'प्रेम कौ मैन' कहकर प्रकीर्तित किया है<sup>३</sup>।

स्वानङ्ग रङ्गोत्सव संज्ञक इस अद्भुत प्रेम-विलास में प्रत्यक्ष काम क्रीड़ा दिखाई देने पर भी वह काम क्रीड़ा नहीं है। इसीलिये रसिकजनों ने सर्वसाधारण को यह उद्बोधन दिया है कि वह काम न होकर विशुद्ध प्रेम ही है जो कि काम क्रीड़ा के समान ही क्रीड़ा किया करता है<sup>४</sup>।

"श्यामा-श्याम का यह स्वानङ्ग रङ्गोत्सव काम क्रीड़ा नहीं है; प्रेम क्रीड़ा ही है"— ऐसा इसलिये कहा गया है, क्योंकि इस स्वानङ्ग रङ्गोत्सव में वे उपकरण ही नहीं दिखाई देते, जिनके आधार पर काम क्रीड़ा निष्पन्न होती है तथा वे लक्षण भी नहीं दिखाई देते जिन्हें देखकर उसे काम क्रीड़ा कहा जाये। यथा—

| काम क्रीड़ा                                                                                                  | प्रेम क्रीड़ा                                                                                                           |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| १. काम क्रीड़ा पुरुष और नारी संज्ञक दो तन, दो मन, और दो प्राणों पर आधारित है।                                | प्रेम क्रीड़ा प्रेमी और प्रेमपात्र इन मिथुन तन संज्ञक एक तन, एक मन और एक प्राण की क्रीड़ा है।                           |
| २. काम क्रीड़ा का आदि और अन्त होता है।                                                                       | प्रेम क्रीड़ा आदि-अन्त रहित अक्षुण्ण रूप से चलती रहती है।                                                               |
| ३. काम क्रीड़ा के पश्चात् नारी और पुरुष दोनों को उस क्रीड़ा से घृणा और अरुचि हो जाती है, काम विकार निरस्त हो | प्रेम क्रीड़ा से प्रेमी और प्रेमपात्र को कभी अरुचि नहीं होती अपितु प्रतिक्रिया रुचि वर्धमान होती जाती है और उन दोनों के |

१. मदन लहर के उठत ही बाढ़त सुरत विहार। प्रेम लहर में परत ही रहत न देह सँभार॥

— ब्या. ली., रंग हुलास लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ३४

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८, प्र. पृ. सं. १६२

३. रोम-रोम बाढ़ी तृषा जहाँ प्रेम कौ मैन।

— ब्या. ली., प्रेमावली लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ८८

४. सखी मोसौं सुनि लै व्यौरौ प्रेम की परजा सदा सुखारी।

मनभावन कौं वेगि मिलावै देखत ही देखत चाह बढ़ावै भारी॥

प्रगट दिखावै काम की सी क्रीड़ा दिव्य रूप याकी गति न्यारी।

वृन्दावन हित रूप सदेह बसतु जोरी मन परखि न सकत विकारी॥

— स. प्र., एकादश, चा. वृ. दा., प. सं. २४६



- |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                      |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                    |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>जाता है और दोनों ही विरतिपूर्ण हृदय हो जाते हैं</p> <p>४. काम क्रीड़ा एक मात्र एक इन्द्रिय विशेष पर ही आधारित है।</p> <p>५. काम क्रीड़ा के अन्त में आत्मग्लानि होती है। मुख श्री हीन, मन उत्साह हीन और अंग-अंग शिथिल हो जाते हैं।</p> <p>६. काम क्रीड़ा में दोनों ही पराजित होते हैं।</p> <p>७. काम का पराक्रम और उसका कला कौशल एक समय विशेष और स्थान विशेष में ही प्रगट हो सकता है।</p> <p>८. काम क्रीड़ा कर्त्ता दोनों ही स्वसुख-सुखी होते हैं। उन दोनों के हृदय में प्रीति का सर्वथा अभाव होता है।</p> <p>९. काम क्रीड़ा कर्त्ता नायक और नायिका दोनों ही एक दूसरे पर अनन्याशक्त नहीं होते।</p> | <p>हृदयस्थ 'रति' भी बढ़ती जाती है।</p> <p>प्रेम क्रीड़ा पूर्ण रूप से अनैन्द्रिक है। वह इन्द्रिय विशेष पर आधारित नहीं है।</p> <p>प्रेम क्रीड़ा से दोनों के तन, मन, हृदय और प्राण तुष्ट-पुष्ट होते हैं। मुख श्री पूर्ण उत्फुल्ल बना रहता है।</p> <p>प्रेम क्रीड़ा में दोनों ही विजयी बने रहते हैं अतः दोनों के मुख पर विजय की अद्भुत श्री बनी ही रहती है।</p> <p>प्रेम का पराक्रम और उसका कला कौशल प्रत्येक स्थल पर और प्रत्येक समय देखा जाता है। उसके प्रकाश के लिये किसी समय और स्थान का प्रतिबन्ध नहीं है।</p> <p>प्रेम क्रीड़ा परायण प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों ही तत्सुखी होते हैं, क्योंकि उनकी क्रीड़ा की प्रेरक प्रीति काम-विकार मूला रति नहीं होती।</p> <p>प्रेम क्रीड़ा परायण दोनों प्रेमी-प्रेमपात्र एक दूसरे पर अनन्याशक्त होते हैं।</p> |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेम मूर्ति अद्वय युगल की स्वानङ्ग केलि में प्रेम क्रीड़ा के उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण परिलक्षित होते हैं। उनके परमोपास्य अद्वय युगल एक प्रेम प्राण की ही मिथुन मूर्ति हैं। दोनों के तन-मन और प्राण केवल प्रेम ही है<sup>१</sup>। प्रेम क्रीड़ा में भी प्रेमी और प्रेमपात्र संज्ञक दो तनों में एक मन और एक प्राण का होना असम्भव है। किन्तु श्री हिताचार्य के उपास्य अद्वय युगल एक प्रेम प्राण के ही दो तन है इसीलिए इन दोनों की रुचि और स्वभाव एक ही है<sup>२</sup> और यहाँ तक कि इन दो तनों की परछाँही

१. ....तयोरदभुत प्रेम मूर्त्योः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १७३

२. एक रंग रुचि एक वय एकै सहज सनेह। एकै शील सु भाव मृदु रस कै हित द्वै देह॥

— ब्या. ली., रति मंजरी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ५३

भी एक ही है<sup>१</sup>। उनका रास-विलास आदि-अन्त रहित सदा चलता रहता है<sup>२</sup>। उनके हृदय में प्रेम क्रीड़ा करने की रुचि कभी शिशिल नहीं होती; प्रत्युत प्रतिक्षण बढ़ती रहती है<sup>३</sup>। उनकी स्वानङ्ग क्रीड़ा पूर्णतः अनैन्द्रिक है<sup>४</sup>। प्रेम क्रीड़ा में श्यामा-श्याम दोनों ही विजयी होते हैं। इसीलिए उनके श्री मुख विजय श्री से सम्पन्न सदा उत्फुल्ल ही बने रहते हैं<sup>५</sup>। उनकी प्रेम क्रीड़ा प्रत्येक स्थान पर प्रतिक्षण अबाध रूप से चलती रहती है। अन्तः वाटिका में, सभामण्डल में और रासमण्डल में भी वे मदन रंग में, रँगे हुए और सुरत रंग में डूबे हुए नित्य विहार परायण बने रहते हैं<sup>६</sup>। प्रेम मूर्ति श्यामा श्याम का अप्रतिम वैशिष्ट्य यह है कि वे दोनों परस्पर तत्सुखसुखी और अनन्याशक्त हैं<sup>७</sup>।

१. अद्भुत गति या प्रेम की यामें रीति अनेक। दुहुँ तन की काहू सुनी परछाँही है एक॥  
— के. क., हि. मो., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १५
२. [क] .....जै श्री हित हरिवंश विलास रास जुत जोरी अविचल राज।  
— हि. चौ., प. सं. ४८  
[ख] .....वृन्दाटव्यां सदैव प्रगटतर.....।  
— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२६  
[ग] आदि न अन्त विलास करै दोउ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।  
— ब्या. ली., शृंगार सत, तृतीय, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १३
३. करत पान रस मत्त परस्पर लोचन त्रिषित चकोर।  
— हि. चौ., प. सं. ३१
४. [क] प्रेम अतन या जगत में जानत विरला कोय। व्यास सतन क्यों परसहीं पचि हारे मरि रोय॥  
— ब्या. वा., ह. ब्या., साखी सं. ७२  
[ख] पल-पल औरै और विधि उपजत नाना रंग। सब अंगनि कौ देत सुख यह कौतुक बिनु अंग॥  
— ब्या. ली., आनंद दशा विनोद लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ७
५. प्रात समय दोऊ रस लम्पट सुरत जुद्ध जय जुत अति फूल।  
— हि. चौ., प. सं. ३
६. [क] जै श्री हित हरिवंश मदन रँग रँगि रहे नैन बैन कटि शिथिल दुकुल।  
— हि. चौ., प. सं. ३  
[ख] बनी श्री राधा मोहन जू की जोरी।..... जै श्री हित हरिवंश रसिक राधापति सुरत रंग में बोरी॥  
— हि. चौ., प. सं. ९  
[ग] खेलत रास दुलहिनी दूलहु।..... कबहुँ श्याम-श्यामा दसनांचल कच कुच हार छुवत भुज मूलहु॥  
— हि. चौ., प. सं. ६२
७. जोई-जोई प्यारी करै सोई मोहि भावै, भावै मोहि जोई सोई-सोई करै प्यारे।  
मोकों तौ भाँवती ठौर प्यारे के नैनन में, प्यारी भयो चाहै मेरे नैनन के तारे॥  
मेरे तन-मन-प्राण हूँ ते प्रीतम प्रिय, अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसौँ हारे।  
जै श्री हित हरिवंश हंस-हंसिनी सौवल-गौर, कहौ कौन करै जल-तरङ्गनि न्यारे॥  
— हि. चौ., प. सं. १



इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम की स्वानङ्ग केलि में प्रेम क्रीड़ा के उपर्युक्त संपूर्ण लक्षण परिलक्षित होते हैं; लोक-वेद विख्यात काम क्रीड़ा के नहीं। अतः यह तथ्य निरापद है कि श्यामा-श्याम नर-नारी या नपुंसक न होकर अद्भुत प्रेम की दो मूर्ति हैं। भक्ति शास्त्रों में बताया गया है कि परात्पर तत्त्व न नारी है न पुरुष है और न नपुंसक ही है। 'प्रेम' स्वरूप के अनुसन्धानालोक में निर्व्रान्त रूप से यह भी ज्ञात हो चुका है कि 'प्रेम' ही ऐसा तत्त्व है जो न नारी है न पुरुष है और न नपुंसक है। अतः बहुत अधिक स्पष्ट है कि 'प्रेम' ही परात्पर तत्त्व है।

### ४.६.९. द्वैत और अद्वैत मूलक महा विलक्षण :

अद्वैत वादियों के ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में कभी द्वैत के दर्शन नहीं होते। निर्विकल्प समाधि की अवस्था में ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान एक ही हो जाते हैं। और सविशेष ब्रह्म वादियों के द्वैत में कभी अद्वैत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भगवान के अति समीपावस्था में भी भक्त; भक्त ही बना रहता है भगवान नहीं बन जाता और भगवान; भगवान ही बने रहते हैं; वे भक्त नहीं बन जाते। वे दोनों कभी एक नहीं [अद्वय] नहीं हो पाते—क्योंकि भक्त का दासत्व और भगवान की भगवत्ता निरस्त होने पर तो अद्वैतवाद की स्थापना हो जाती है।

प्रत्येक मानव हृदय में 'रति' नामक स्थायी भाव नित्य वर्तमान रहता है। यह रति भाव ही जब अपने से महत् की ओर उन्मुख होता है; तब इसकी भक्ति संज्ञा हो जाती है। जैसे एक पुत्र की अपने पिता के प्रति रति को उसकी पितृभक्ति और माता के प्रति रति को मातृभक्ति कहा जाता है इसी प्रकार एक भक्त की सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता भगवान के प्रति रति को भगवद् भक्ति कहकर सम्बोधित किया जाता है। भक्ति में भक्त की भगवान के प्रति महत् भावना नित्य वर्तमान रहती है। यह महत् भावना ही तो भक्ति की आधारशिला है। यही कारण है कि भगवद् भक्ति में भक्त और भगवान के बीच अणु-महान, अंश-अंशी, मिखारी-दाता आदि का द्वैत अनिवार्य है। भक्ति का सिद्धान्त इस द्वैत पर ही आधारित है कि भगवान महान हैं और जीव अणु, वह अंशी हैं और जीव अंश, वह दाता हैं तथा जीव मिक्षुक आदि। भक्त के हृदय में 'दाता एक राम मिखारी सारी दुनिया' अथवा 'दाता विहारी सब जग है मिखारी'—यह भावना सदैव वर्तमान रहती है। यह द्वैत ही भक्ति का प्रादुर्भावक है। इस द्वैत के अभाव में तो भक्ति का अस्तित्व ही निरस्त हो जाता है। अर्थात् उसकी कल्पना ही असम्भव है। तभी तो रसिकवर हरिराम व्यास जी ने लिखा है कि—

भक्तिभाव बिनु चौहटो जहाँ भक्ति तहँ दोय। 'व्यास' एकता तब लहै जबहि एक चित होय।



एक दार्शनिक की दृष्टि में भक्त और भगवान भले ही एक [अद्वय] देखे जा सकते हों किन्तु भक्त की दृष्टि में नहीं। वस्तुतः भक्त और भगवान किसी भी दृष्टि से किसी भी समय एक [अद्वय] नहीं हो सकते; क्योंकि भगवान में तो भक्त के धर्म उदित होते देखे गये हैं किन्तु भक्त में भगवान के प्रेरणा करना, नियमन करना और पालन करना इत्यादि—धर्म कभी भी उदय नहीं हो सकते।

यह प्रकृति विधान है कि 'रस' दो ही में निष्पन्न और 'प्रेम' दो ही में अभिव्यक्त होता है। 'रस' की निष्पत्ति और 'प्रेम' की अभिव्यक्ति के लिए दो का होना सर्वथा अनिवार्य तो है किन्तु दो के दो बने रहते हुए 'प्रेम' किंवा 'रस' का प्रत्यक्ष [रस रूप में अनुभव] होना ही असम्भव है। 'प्रेम' जिस समय प्रेमी और प्रेमपात्र के रूप में प्रत्यक्ष होता है ठीक उसी समय वह [वे दोनों] एक मन, एक तन, एक हृदय और एक प्राण ही रहता है। प्रेम के सम्पूर्ण धर्म, वृत्ति और सम्पूर्ण लक्षण दोनों में एक साथ समुदित होते हैं। इसीलिए तो प्रेम सम्बन्ध की एकता नितान्त सहज और सत्य होती है। प्रेम में जितने सत्य दो हैं उतना ही सत्य एक भी है<sup>१</sup>। प्रेम में प्रेमी और प्रेमपात्र जिस क्षण पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं उसी क्षण वे एक भी बने रहते हैं। उन दोनों का सम्बन्ध ही उन दोनों को एक किये रहता है। प्रेम दो के अस्तित्व में उदय होकर भी उन दोनों के अस्तित्व को सर्वथा मिटाकर उन दोनों को एक मन, एक प्राण, एक हृदय हो जाने के लिए विवश करता है। इसीलिए श्री हिताचार्य व तदनुगत रसिकों ने 'रस' 'हित' किंवा 'प्रेम' को [प्रेम जनित प्रेमी और प्रेमपात्र की सहज जोरी को] 'वह एक है'—ऐसा न कहकर 'वह दो नहीं है'—ऐसा कहा है<sup>२</sup>। अर्थात् प्रेम की सहज जोरी को 'अद्वय युगल' 'एकात्म जुगल', 'तदेक मिथुन', और 'एक प्राण द्वै देह' जैसे अनेक नामों से प्रकीर्तित किया है।

'प्रेम' की दो अवस्थायें होती हैं—पहली चेतनावस्था और दूसरी विवशावस्था। चेतनावस्था में प्रेम दो में प्रगट होता है तथा विवशावस्था में उन दोनों को एकमेक, एकाकार, एकाकृति हो जाने के लिए विवश कर देता है। चेतनावस्था में प्रेम जिन दो

१. [क] दो हो अक्षर एक ही हो दो अक्षर एक। हित विवेक की टेक सो होत न एक अनेक॥

ज्यों जल मिश्री घोरिये शर्बत होत रसाल। दो न रहैं दोऊ रहैं त्यों हित ललना लाल॥

— सि. प., स. सु. दा., छं. सं. ११, १३

[ख] एक लिखे दो अक्षर ही में दो लिखे अक्षर एकै। दो न एक है एक अनेकी हित विवेक की टेकै॥

— हि. द., स. सु. दा., छं. सं. ३

२. [क] जै श्री हित हरिवंश हंस-हंसिनी सौवल गौर, कहौ कौन करै जल तरंगनि प्यारे।

— हि. चौ., प. सं. १

[ख] .....क्रीड़ातो विरतं तदेकमिथुनं वृन्दावने नन्दति।

— वृ. म., प्र. सं. षष्ठम शतक, श्लो. सं. ९



रूपों में आविर्भूत होता है, विवशावस्था में वह तन-मन से एक हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम का अद्वय पंथ दो के द्वारा प्रकाशित होता है। प्रेम की रचना इन दो और इन दोनों के अद्वय प्रेम सम्बन्ध द्वारा हुई है। प्रेम में जितने सत्य दो हैं उतना ही एक भी। प्रेम की उत्पत्ति एवं प्रकाश के लिए 'दो' एवं 'एक'—दोनों ही आवश्यक हैं। यह स्थिति ही 'प्रेम' के पूर्णतम रूप का प्रकाश कही जाती है<sup>१</sup>। यही इसका प्राकृतिक किंवा सहज धर्म है।

'प्रेम' अपने निज निवासालय नित्य केलि धाम वृन्दावन में ही प्रेमी [श्यामसुन्दर] प्रेमपात्र [श्री राधा] और प्रीति [सहचरि और वृन्दावन] इन रूपों में नित्य प्रगट क्रीड़ा परायण बना रहता है। प्रेम के इन निज रूपों में प्रेम के तत्सुख सुखिता, तदाधीनता और अनन्यता ये तीनों धर्म पूर्ण रूप से दिखाई देते हैं। प्रेम स्वरूप होने का अर्थ ही है—प्रेम के निजधर्मों—तत्सुखसुखिता, अनन्यता और तदाधीनता इन तीनों का नित्य प्रत्यक्ष होना। रस देश में उपास्य प्रेम की अद्वय युगल मूर्ति श्री राधा-श्यामसुन्दर में प्रेम के इन तीनों धर्मों का पूर्ण प्रकाश निरन्तर परिलक्षित होता रहता है। इसीलिए तो श्री हिताचार्य ने इन्हें 'पूर्ण प्रेम', 'अमन्द प्रेम', 'विशुद्ध प्रेम', 'अद्भुत प्रेम' आदि नामों से अभिसंज्ञात किया है। किन्तु इन दोनों में प्रेम की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होने के कारण एक की प्रेमी तथा दूसरे की प्रेमास्पद संज्ञा है। इसी प्रकार पूर्ण प्रेम स्वरूप होते हुए भी श्री राधाकिंकिरीगण ललिता-विशाखादि अनन्तानन्त सहचरियों की प्रेम की अभिव्यक्ति भिन्न प्रकार की दिखाई देती है। इस अभिव्यक्ति भिन्नता के कारण ही तो ये प्रेमी-प्रेमपात्र न होकर, प्रेमी और प्रेमपात्र के उर अन्तराल में निवास करने वाली प्रीति की साकार मूर्ति हैं। इसी प्रकार प्रीति मूर्ति वृन्दावन भी। इस प्रकार से 'प्रेम' एक रूप में तथा दो-तीन-चार और अनेक रूपों में प्रगट रहकर द्वय-अद्वय, एक और अनेक रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

'प्रेम' ही आस्वाद्य स्थिति में 'रस' संज्ञक होता है। अर्थात् 'प्रेम' की आस्वाद्य परिणति है—'रस'। यही कारण है कि प्रेमोपासना और रसोपासना दो नहीं प्रत्युत एक दूसरे के पर्याय हैं। 'प्रेम' किंवा 'रस' की उपासना प्रेम स्वरूप किंवा रस स्वरूप होकर ही की जाती है<sup>२</sup>। इसीलिए प्रेम का उपासक प्रेम ही होता है। प्रेम ही प्रेम की उपासना

१. हितअनूप अद्वैत में रस नहीं निरधार। द्वैत विषै एकत्व कौ नहि पूरन सुख सार।।

इहाँ द्वैत अद्वैत हैं सदा प्रेम रस मौहि। भोगी-भोग बने रहैं अंतराइ पै नाहि।।

— मा. प्र., हि. अ., छं. सं. २५, २६, पृ. सं. ३

२. श्री हरिवंश उपासक—इष्टं।

— से. वा., इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. १



करता है। प्रेम की उपासना में भगवत भक्ति के द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रश्न उठता है कि जब उपासक स्वयं ही प्रेम बन जायेगा तो वह प्रेम की उपासना किस प्रकार करेगा ? उपास्य और उपासक के मध्य यह स्थिति तो अद्वैत की हो गई क्योंकि अद्वैत की स्थिति में आचार्य शंकर के शब्दों में जीव [उपासक] 'सोऽहं ब्रह्म' होता है। अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ—ऐसी स्थिति होती है। ऐसी स्थिति में तो उपास्य और उपासक इन दोनों के पृथक्-पृथक् स्वरूप का ही अभाव रहता है। अतः वहाँ तो उपासक का उपास्य से पृथक् कोई स्वरूप ही नहीं है क्योंकि उपासक स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। फलतः उपासना का प्रश्न ही सर्वथा निरस्त हो जाता है।

वस्तुतः उपासक स्वयं प्रेम स्वरूप होकर प्रेम की उपासना किस प्रकार करेगा ? यह तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उपासक और उपास्य ये दो रूप तो प्रत्यक्ष दिखाई ही देते हैं, जो कि उपासना के लिए अनिवार्य होते हैं। प्रत्युत प्रश्न यह उठता है कि उपास्य और उपासक ये दो रूप प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी दोनों में एक रूपता कैसे ? अर्थात् उपासक और उपास्य दोनों ही प्रेम स्वरूप कैसे ? वह इस तरह कि प्रेमोपासक में भी उपास्य 'प्रेम' की भाँति ही प्रेम के उपर्युक्त संपूर्ण धर्म प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। प्रेम देश का उपासक प्रणयमय रसिक ललितादिकों का भावानुगमन करता है। उसका नित्य सिद्ध वपु राधाकिंकरी वपु ही है। जिस प्रकार राधाकिंकरीगण प्रेम स्वरूप श्यामा-श्याम की परिचारिका रूप में प्रत्यक्ष रहते हुए भी श्यामा-श्याम की भाँति प्रेम स्वरूप भी हैं। इसी प्रकार प्रेम देश का उपासक भी किंकरी भावापन्न होकर अपने उपास्य प्रेम मूर्ति अद्वय युगल के सुख में सुखी, उनके सर्वदा अधीन एवं उनका अनन्य व्रतैक निष्ठ होता है। उपासक में प्रेम के ये धर्म क्यों दिखाई देते हैं ? क्योंकि 'प्रेम' की उपासना प्रेमी और प्रेमपात्र की उपासना है जो कि प्रेम स्वरूप होकर ही की जाती है। अपने रस स्वरूप किंवा प्रेम स्वरूप में स्थित होकर अर्थात् राधाकिंकरीभाव में प्रविष्ट होकर वह रस रूप अद्वय युगल की नव नवायमान रसमयी केलि का अनवरत रस पान करता है। रस पानक को रस शास्त्र में 'रसिक' संज्ञा से विभूषित किया गया है। यही कारण है कि रस देश के उपासक को 'रसिक' कहकर सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार से उपासक और उपास्य दोनों में एक रूपता निसर्गतः बनी रहती है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि 'रस' किंवा 'प्रेम' का उपासक—रसिक आत्म-अनात्म के द्वन्द्व से सर्वथा ऊपर उठा हुआ लोक स्थितोऽपि अलौकिक प्राणी होता है। वह तो 'शिवोऽहं' और 'दासोऽहं' को भी सर्वथा पीछे छोड़कर जाने वाला—अर्थात् तदभिन्न रहकर भी रस-पानक और रस-पानक होकर भी तदभिन्न—'रस' किंवा 'प्रेम'—ही बना रहता है। वह अपने प्रथम उन्मेषण काल में ही अपने सम्पूर्ण अहं को नष्ट कर



देता है तथा आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर आत्म संगोपन करने वाला होता है। इस तरह वह 'रस' से अभिन्न स्थिति वाला हो जाता है। उसके रस देश का विधान ही कुछ ऐसा है।

'प्रेम' के उपास्य और उपासक संबंधी इस उपर्युक्त विवेचन से भी यही निर्व्रान्त तथ्य प्राप्त होता है कि द्वय और अद्वय के सामंजस्य का महा वैलक्षण्य केवल वृन्दावन मात्र गोचर 'प्रेम' में ही पूर्ण रूपेण प्रत्यक्ष होता है। एतावता यह 'प्रेम' ही परात्पर तत्त्व है।

### ४.६.१०. साधन और साध्य :

सभी धर्माचार्यों ने अपनी इष्ट वस्तु की उपलब्धि के लिए कुछ न कुछ साधन अवश्य ही स्वीकार किये हैं। किसी ने वैदिक कर्म-धर्मों को, किसी ने ज्ञान को और किसी ने भगवान की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार किया है। किन्हीं-किन्हीं धर्माचार्यों ने भगवद् भक्ति को उपेय और उपाय किंवा साधन और साध्य दोनों ही कहकर भक्ति का उत्कर्ष व्याख्यान किया है।

श्री हिताचार्य ने भगवान को इष्ट न बनाकर भगवान को स्ववश में करने वाले 'प्रेम' को ही परमतत्त्व और परमाराध्य घोषित किया है<sup>१</sup>। संभवतः इसीलिए उन्होंने एकान्त ईश्वर भक्ति को भी शिरसा नमस्कार करके उसका सम्मान तो किया है<sup>२</sup>; किन्तु साध्य या साधन किसी रूप में स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने सभी प्रकार के साधनों को अग्राह्य घोषित किया है<sup>३</sup>। उनका परम इष्ट परमाराध्य 'प्रेम' था—प्रेमोदय करने तथा प्रेमोपलब्धि करने का कोई साधन नहीं होता वह तो कृपा करके स्वयं सहज ही उदय होता है। प्रेम अकारण होता है<sup>४</sup>। ऐसे प्रेमोदय के लिए और ऐसे 'प्रेम' की प्राप्ति के लिए किसी साधन की कल्पना करना निराशा मूलक ही है। कहना अत्युक्ति न होगा कि श्री हिताचार्य की दृष्टि में प्रेम ही साध्य और प्रेम ही साधन है। 'प्रेम' का एक साथ साध्य और साधन रूप में प्रमाणित होना भी उसकी तात्त्विक परात्परता को ही इंगित करता है।

### निष्कर्ष -

पूर्व पृष्ठों में विचारणीय सभी दृष्टियों से विचार करने पर यह तथ्य निर्व्रान्त रूप से सुस्पष्ट हो जाता है कि 'प्रेम' किंवा 'रस' ही एक ऐसा तत्त्व है जो निर्गुण निराकार

१.२. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६, १७३ और ७७

३. [क] .....सर्वेषु साधन वरेषु चिरं निराशः....

[ख] .....कुर्वाणाखिल साध्य-साधन कथां दत्त्वा स्वदास्योत्सवम्।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ३२, ६१

४. जु. प्री. प्र. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १६, प्र. पृ. सं. ....



और सगुण साकार ब्रह्म दोनों से पृथक् है। वही एक ऐसा तत्व है जो निर्गुण निराकार और सगुण साकार दोनों का मूलाधिष्ठान है। वही एक ऐसा तत्व है जो एक ही समय में निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार के रूप में प्रत्यक्ष रहता है। वही एक ऐसा तत्व है जो अणोरणीयान् और महतोमहीयान् है। वही एक ऐसा तत्व है जो सबको अपने आधीन बना लेता है और सबके आधीन हो जाता है। वही एक ऐसा तत्व है जो भगवान का भी आविर्भावक, नियामक, प्रेरक और वशकारक है। उन्हें अपने वश में करके अपने इंगितों पर चलाता है। वही एक ऐसा तत्व है जो एक साथ संपूर्ण माधुर्य और संपूर्ण ऐश्वर्य का एकाधिष्ठान है॥ वही एक ऐसा तत्व है जो श्रुतियों, बुधजनों और भगवान के लिए भी विमृग्य है तथा अत्यन्त रहस्य है। वही एक ऐसा तत्व है जो जन्मा-अजन्मा की परिसरावधि से पृथक्, आदि-अन्त रहित 'सदैव प्रकटतर' है। वही एक ऐसा तत्व है जो जगत, भगत और भगवान इन सभी में प्रेम, सग, अनुराग, स्नेह, प्रणय आदि रूप से संव्याप्त है। वही एक ऐसा तत्व है जो लोक-वैद की मर्यादा से अनाबद्ध सर्वतन्त्र स्वतंत्र है। वही एक ऐसा तत्व है जो पूर्ण परम सच्चिदानन्दघन है और जिसे प्राप्त करके प्रापक 'आनन्दी' [आनन्द देने वाला] हो जाता है। वही एक ऐसा तत्व है जो पुंस, नपुंस और नारी नाम से अनभिसंज्ञात है। वह साधन भी है तो परम साध्य और परमाराध्य भी। वही एक ऐसा तत्व है जो द्वैत और अद्वैत मूलक महा वैलक्षण्य से परिपूर्ण है। एतावता श्री हिताचार्य का परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम परात्पर तत्व है। उसकी परात्परता स्वतः सिद्ध है। यही 'प्रेम' श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत रसोपासना में 'रस' और 'हित' नाम से भी प्रकीर्तित हुआ है।

#### ४.७. 'रस', 'प्रेम' और 'हित' की एक रूपता :

पिछले पृष्ठों में विवेचित प्रमेय तत्व को गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना में 'प्रेम' 'रस' और 'हित' नाम से अभिसंज्ञात किया गया है। लोक व्यवहार, शब्द शास्त्र, और साहित्य में ये तीनों शब्द एकार्थ बोधक रूप में तो स्वीकृत हैं ही<sup>१</sup>; रस शास्त्रों में भी

१ [क] सबसौं हित निष्काम मति वृन्दावन विश्राम॥

— स्फु. वा., गो. हि. ह. जी. अंतिम दोहों से

[ख] हित तौ कीजै कमलनैन सौं जा हित आगे और हित लागै फीके॥

— सि. के प., स्वा. ह. दा. जी. प. सं. ७

[ग] जाहि तुमसौं हित तासौं तुम हित करौ सब सुख कारिनि॥

— सि. के प., स्वा. ह. दा. जी. प. सं. २

[घ] जो हित सौं हित नाहिं लग्यौ॥

— ला. स्वा. की वा., ला. स्वा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १५



ऐसी मान्यता है कि 'प्रेम' ही आस्वाद्य स्थिति में 'रस' संज्ञक और प्रेरक रूप में 'हित' संज्ञक होता है। इसीलिये यहाँ प्रमेय तत्त्व [उपास्य तत्त्व] को कहीं पर 'प्रेम' कहीं 'रस' और कहीं 'हित' नाम से स्मरण किया गया है और इसकी उपासना को कहीं पर 'रसोपासना' कहीं पर 'प्रेमोपासना' और कहीं पर 'हितोपासना' नाम से अभिसंज्ञात किया गया है। यही कारण है कि उपास्य की नित्य केलि को भी कहीं पर 'प्रेम केलि' कहीं 'रस केलि' और कहीं 'हित केलि' की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार नित्य विहार के चारों अंगों प्रिया-प्रीतम-सहचरि और वृन्दावन को भी कहीं पर 'प्रेम मूर्ति' कहीं पर 'रस मूर्ति' और कहीं पर 'हित मूर्ति' कहकर प्रकीर्तित किया गया है।

उपास्य के स्थान पर 'प्रेम' किंवा 'रस' के प्रतिष्ठापक श्री हिताचार्य ने अपने उपास्य अद्वय युगल का परिचय 'यत्प्रेमामृत माधुरी रसमयं', 'पूर्णानुराग रस मूर्ति' 'अद्भुत प्रेम मूर्त्योः', 'प्रीति रिव मूर्ति', 'रसघन मोहन मूर्ति' इत्यादि शब्दों के द्वारा दिया है<sup>१</sup>। तदनुवर्ती सभी रसिकों ने भी नित्य विहारी जुगल, उनकी नित्य केलि, सहचरि और वृन्दावन को रस रूप, प्रेम रूप और हित रूप में उद्गीत किया है।

श्री सेवक जी ने परमोपास्य के केलि परायण रूप का परिचय देते हुये केलि परायण दम्पति को, केलि कुंजों को और उनकी केलि को रस रूप कहा है —

रसिक रवनी रसद रस रासि रस सीवाँ रस नागरी, रस निकुंज रस पुंज वरषत।  
रस निधि सुविधि रसज्ञ रस रेख रीति रस प्रीति हरषत॥  
रस मूरति सूरति सरस रस विलसन रस रंग।  
रस प्रवाह सरिता सरस रति रस लहर तरंग<sup>२</sup>॥

हित ध्रुवदास जी ने परमोपास्य लाड़िली-लाल को रस की रमणीयता से सुरम्य चित्रित करते हुये उन्हें रस की मूर्ति कहकर प्रकीर्तित किया है —

रस ही की मूरति दोऊ रसिक लाड़िलीलाल।  
रस ही सौँ चितवत रहैं रस भरे नैन विशाल<sup>३</sup>॥

ध्रुवदास जी ने एक स्थल पर श्री राधा, श्यामसुन्दर, सहचरि और वृन्दावन इन चारों को प्रेम रूप में प्रकीर्तित किया है —

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६, ४०, १७३, १९९, २००

२. से. वा., से. जी, हित रस रीति प्रकरण, छं. सं. ४

३. ब्या. ली., आनंद दशा विनोद लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ५२

प्रेममयी दोउ लाल प्रेम मई सहचरि जहाँ। सेवत हैं सब काल प्रेम मई वृन्दाविपिन<sup>१</sup>॥

एक अन्य स्थल पर उन्होंने उपास्य के लीला परायण रूप का चित्रण करते हुये लीला के सभी उपकरणों को प्रेम स्वरूप कहा है —

प्रेम के खिलौना दोउ खेलत हैं प्रेम खेल, प्रेम फूल फूलन सौं प्रेम सेज रची है।  
प्रेम ही की चितवनि मुसिकनि प्रेम ही की, प्रेम रँगी बातें करें प्रेम केलि मची है॥  
प्रेम के तरंगनि में प्रीतम परे हैं दोऊ, प्रेम प्यार भार प्यारी पिय हिय लची है।  
'हित ध्रुव' प्रेम भरी प्यारी सखी देखें खरी, हित चितवन छवि आनि उर सची है<sup>२</sup>॥

पूर्व रसिकों की भाँति ब्रजजीवनदास जी ने भी अपने परमोपास्य को, उनकी लीला को, लीला परिकर को और लीला धाम को तो रस रूप तो कहा ही है, साथ ही उनके प्रत्येक क्रिया कलाप, लखन, चखन, रस, रिस, रोष, तोष इन सबको भी रसमय बताया है —

रस मूरति श्री राधिका रस मूरति श्री श्याम।  
रस मूरति हितसहचरी सेवत आठों याम॥  
रसमय वृन्दाविपिन में करत रसमयी केलि।  
'ब्रजजीवन' पीवत चखनि हरिसहचरी सहेलि॥  
रस ही कह्यौ उपास्य निजु रस वपु श्रीहरिवंश।  
याते 'रस आन्हिक' कह्यौ लै हित वाणी अंश॥  
रसहि लखत रस ही चखत रस ही रसहि बतात।  
देत जु रस लेतौ जु रस रस में रस रहि जात॥  
रस गावैं रस ही सुनैं रस भावै रस रोष।  
रस चावैं लावैं रसहि रसना ही रस-तोष॥  
रस बरसैं रस ही भरैं रस सरसैं रस खान।  
रस दरसैं परसैं जु रस हरषैं रस रस थान॥  
बैठन रस रस ही उठन रसमय आवन जान।  
रस डोलन खोलन दृगन रस ही रस झपकान॥  
समुझत समुझावत रसहि रस वानी जु लखानि।  
'ब्रजजीवन' रस बिनु न कछु रसिकन की यह बानि॥  
गोवत रस टोवत जु रस बिछुरन नीरस जान।  
छानत रस मानत जु रस रसिकन रसहि प्रमान<sup>३</sup>॥

१. ब्या. ली., नेह मंजरी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १६६.

२. ब्या. ली., शृंगार सत लीला तृतीय, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ४०

३. र. आ. स., ब्र. जी दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ९-१०



लाड़िलीदास जी ने भी दम्पति, सहचरि और श्री वन इन चारों को 'रस' के ही रमणीय वपु के रूप में चित्रित किया है —

चार्यौ मिलि रस के तन चार। दम्पति, अलि, वन नित्यविहार<sup>१</sup>॥

भगवत मुदित जी ने 'हित' और 'प्रेम' को एकार्थक व्यंजित करते हुए श्री राधा को 'हित मूर्ति' कहकर उनका स्तवन किया है —

सखी सनेह समाज सौं सम्पति लियें गाढ़ी। हित मूरति ये लाड़िली दम्पति रँग काढ़ी<sup>२</sup>॥

एक अन्य स्थल पर उन्होंने श्यामा-श्याम के बिहार को 'हित-बिहार' कहकर प्रशंसित किया है —

उन्मत्त दशा झूलत उदार। फूलन मन ही मन हित-बिहार<sup>३</sup>॥

इसी प्रकार भजनदास जी ने भी 'प्रेम' और 'हित' को समानार्थक स्वीकार करते हुए अद्भुत प्रेम मूर्ति के रूप में विख्यात नित्य विहारी जुगल को, उनके नित्य विहार को, तथा उनके समस्त रस वैभव को हित का ही वैभव बतलाया है —

जो है नित्य बिहार रस वैभव हित अभिलाष। सोई खिलारी खेल सो आपुहि करत विलास<sup>४</sup>॥

हित ध्रुवदास जी ने श्रीहिताचार्य द्वारा आविर्भूत उपासना को कहीं पर रसोपासना नाम से और कहीं पर प्रेमोपासना नाम से अभिसंज्ञात किया है —

“यहाँ श्रीजू जु रस प्रगट कर्यौ ता 'रस उपासना' में कछु न मिलै।”...“सार कौ सार प्रेम सुख यह अद्भुत रस 'प्रेम की उपासना' श्रीजू प्रगट करि दर्ई हैं।”....

रसिक जगत में यह रसोपासना किंवा प्रेमोपासना, 'हितोपासना' नाम से भी सुविख्यात है —

हित की यहाँ उपासना हित के हैं हम दास।

हित विशेष राखत रहैं चित नित हित की आश<sup>५</sup>॥

उपर्युक्त विवेचना, का सारांश यह कि गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना में 'रस' 'प्रेम' और 'हित' इन तीनों शब्दों को समानार्थक भावना से ही प्रमेय तत्व [उपास्य तत्व] के लिए प्रयुक्त किया गया है।

१. सु. बो., ला. दा., तृतीय प्रसंग, पृ. सं. २६

२.३. भ. मु. के प., भ. मु. प्रा. ह. लि. प्र., पं. सं. क्रमशः १७, १८२

४. भ. दा. की वा., भ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ५३

५. व्या. ली. सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ३५

६. दोहा. सं., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २१२

## ४.८. शास्त्रीय दृष्टि में रसभक्ति :

### ४.८.१. शब्द व्युत्पत्ति :

रस भक्ति यह एक यौगिक शब्द है जो कि रस और भक्ति इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है—“रसस्य भक्तिः” अर्थात् रस की भक्ति। जैसा कि सर्वमान्य शास्त्रीय विधान है कि निर्गुण ब्रह्म की भक्ति निर्गुण भक्ति, सगुण ब्रह्म की भक्ति सगुण भक्ति, उपास्य राम रूप की भक्ति राम भक्ति और उपास्य कृष्ण की भक्ति कृष्ण भक्ति कहलाती है, ठीक उसी प्रकार निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक् ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ की भक्ति “रस भक्ति” संज्ञक है।

### ४.८.२. क्या रस भक्ति संभव है ? :

भक्ति के लिए ऐसे साकार आलम्बन का होना अनिवार्य है जो मानव हृदयस्थ रति भाव को उद्बुद्ध कर सके। श्री हिताचार्य का परमोपास्य ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ है। प्रेम दो हृदयों को मिलाकर एक बनाने वाला अतन और सम्बन्धात्मक तत्त्व है। ‘रस’ इन्द्रियातीत और अनुभूति का विषय है। ऐसी स्थिति में क्या ‘प्रेम’ या ‘रस’ को भक्ति का आलम्बन — भजनीय या उपास्य बनाया जा सकता है? पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है, कि जो ‘रस’ केवल अनुभूति के विषय-रूप में लोक और वेद में व्याख्यात और विख्यात है, श्री हिताचार्य ने उसे अत्यन्त निकट से आकृतवान और नित्य नूतन रूप से बिहार परायण देखा है। जो ‘प्रेम’ दो व्यक्तियों को मिलाने वाले एक सम्बन्धात्मक तत्त्व के रूप में ही जाना जाता है; जिस ‘प्रेम’ को सर्वसाधारण तथा भगवद् भक्त गण सर्ववशकारी, सर्व मनोहारी किन्तु अतन रूप में ही प्रकीर्तित करते हैं; श्री हिताचार्य ने उसी ‘प्रेम’ को अद्वय युगल रूप से वृन्दावन में नित्य बिहरणशील रूप में नित्य प्रकट देखा है। इतना ही नहीं प्रत्युत उसे अपना उपास्य बनाकर उपासक जगत को निर्भ्रान्त रूप से आश्वस्त भी कर दिया है कि ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ को उपास्य बनाया जा सकता है।

भक्ति के लिए साकार आलम्बन का होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है भजनीय और भजनी का द्वैत। अंशी तथा अंश का शरण्य और शरण सम्बन्ध। श्री हरिवंशोदित रसोपासना सुनिश्चित रूप से राधाकिंकरी भावानुभावित हृदय होकर ही की जा सकती है।<sup>१</sup> अर्थात् उपासक को उन ललितादिक राधाकिंकरीगणों के भाव को अपना भाव बनाना पड़ता है — उनके हृदय से हृदय तादात्म्य करना पड़ता है जो उपास्य

१. यद्राधापद किंकरीकृत हृदां सम्यग् भवेद्गोचरं।



की भाँति ही रस रूपा किंवा प्रेम स्वस्वरूपा हैं<sup>१</sup>। अन्तराशय यह है कि रसोपासना का उपासक भी उपास्य की भाँति ही रस स्वरूप विधेय है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि यहाँ उपासक और उपास्य में उस द्वैत सम्बन्ध का अदर्शन देखा जाता है जो भक्ति के लिए अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में दोनों के मध्य भजनीय और भजनी का सम्बन्ध स्थापन किस प्रकार हो सकता है ? और रसभक्ति किस प्रकार सम्भव है ?

इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह उपास्य और उपासक रूप तथा यह रसभक्ति मानव जगत में प्रगट उपासना क्षेत्र में ही दृष्टव्य है उपास्य के लीला क्षेत्र में नहीं। अर्थात् राधाकिंकरीगण उपासक नहीं हैं। उपासक तो यह जीव है जो कि अपने नित्य रूप राधाकिंकरी वपु को प्राप्त करने के उद्देश्य से उपासना करता है। उसे जब तक उपासना के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती तब तक वह जीव ही बना रहता है। 'वह जीव ही बना रहता है' यह कहने का वास्तविक अर्थ यह है कि वह जीवत्व की सीमा से बाहर नहीं हुआ है। उसे जीव होने की विस्मृति नहीं हुई है। जीवत्व की विस्मृति होने पर तो वह इस जीवन में ही सखी स्वरूप होने का अनुभव करता है, उपास्य की लीला देखता है। और मानसी सेवा भी किया करता है। हित ध्रुवदासजी ने उपासक की इसी स्थिति को लक्ष्य कराते हुए लिखा है कि —

इनहीं नैनन सब सुख देखै। जीवन जनम सुफल करि लेखै<sup>२</sup>।

जब तक उपासक को जीवत्व की पूर्ण रूपेण विस्मृति नहीं हो जाती तब तक उपास्य—रस रूप किंवा प्रेम स्वरूप अद्वय युगल हमारे शरण्य हैं और मैं उनकी शरण हूँ—यह भाव स्मरण रखना ही पड़ता है। उपास्य के प्रति यह भाव ही तो भक्ति भाव है। यहाँ पर यह विधान भी नितान्त अविस्मरणीय है कि यह भक्ति भाव उसके जीवत्व के कारण ही है, उपासना सिद्धान्त की दृष्टि से तो उसका उपास्य उस समय भी ईश्वर न होकर 'प्रेम' किंवा 'रस' ही है और उसका [जीव का] निज स्वरूप—रस स्वरूपा किंवा प्रेम स्वरूपा—'राधाकिंकरी वपु' ही है। यही कारण है कि श्री हिताचार्य ने परेश भजन या ईश्वर भक्ति को तो दूर से प्रणाम मात्र किया है<sup>३</sup> और अपनी उपासना को 'रस

१. प्रणयमय रसिक ललितादिक लोचन चषक, पिवत मकरंद सुख-रासि अंतर सची।

— हि. चौ., पं. सं. ५०

२. ब्या. ली., रसानन्द लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १२४

३. [क] परेश भजोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८३

[ख] सैकान्तेश्वर भक्तियोग पदवी त्वारोपिता मूर्द्धनि।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७७



भक्ति' नाम से अभिसंज्ञात किया है<sup>१</sup> इस प्रकार भक्ति सिद्धान्त के आलोक में रसभक्ति के उपास्य रूप एवं उपासक रूप पर विवेचनात्मक शैली से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रस भक्ति सभी दृष्टियों से संभव है।

### ४.८.३. रस भक्ति और रसोपासना :

रस भक्ति का सर्वाङ्गीण परिचय देने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'भक्ति' शब्द सुनिश्चित रूप से भजनीय भगवान और भक्ति कर्ता—भक्त का उद्बोधक है। किन्तु श्री हिताचार्य ने सुस्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि मेरा परमोपास्य भगवान नहीं, 'प्रेम' किंवा 'रस' है जो भगवत् भक्तों से सर्वथा अलक्षित है<sup>२</sup>। भक्तों के दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों से अपरिभाव्य है। इसीलिए उन्होंने ईश्वर भक्ति का शिरसा समादर तो किया है किन्तु उसे अपना अभीष्ट स्वीकार नहीं किया है। ईश्वर भक्ति के प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि परम पुरुष भगवान के भजन में श्री शुकादिक मत्त हैं तो हमें उनसे क्या प्रयोजन ? हमारा मन तो श्री राधा के पद रस में ही डूबा रहे। —

परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः, परन्तु मम राधिका पद रसे मनो मज्जतु<sup>३</sup>

ईश्वर की उस एकान्त भक्ति योग पदवी को भी वे सिर पर चढ़ाते हुए कहते हैं कि हमारे चित्त को तो वृन्दावन की सीमा में ही विराजमान कोई अत्यन्त आश्चर्य रूप किशोरी मणि के रसामृत के अतिरिक्त अन्य कुछ भी रुचिकर नहीं लगता —

सैकान्तेश्वर भक्ति योग पदवी त्वारोपिता मूर्धनि<sup>४</sup>।

उपर्युक्त दोनों घोषणाओं को पढ़कर सर्व साधारण के मन मस्तिष्क में ऐसी शंका उत्पन्न हो सकती है कि श्री हिताचार्य ने पारस्परिक विरोधी भावनाओं को अपनी वाणी का विषय कैसे बनाया ?

शंका का उदय होना अप्राकृत नहीं है किन्तु अध्ययन करने पर वह निरस्त भी हो जाती है। श्री हिताचार्य ने जिन-जिन स्थलों पर भक्ति के प्रति अपनी भावना व्यक्त की है उन-उन स्थलों पर भक्ति के द्वारा भावित [भजनीय] को एकान्त ईश्वर या परेश कहकर ही प्रकीर्तित किया है। ईश्वर के प्रति समुदित भक्ति भाव मूल में मानव-हृदय-स्थित राग, अनुराग प्रीति, प्रेम किंवा रति भाव है जो अपने से महान के प्रति उन्मुख

१. स्वान्तानां समुदेति कापि सरसा भक्तिश्चमत्कारिणी।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २०४

२. से ४. रा. सु. नि., श्लो. १६, ८३, ७७



होने के कारण—सम्बन्धित होने के कारण भक्ति संज्ञक होता है। यह भक्ति भाव निश्चित रूप से भक्त को भगवान के निकट रखकर भी अंशी और अंश, भक्त और भगवान, पालित और पालक रूप में नित्य अनिकट भी बनाये रखता है।

श्री हरिवंशोदित रसोपासना का परमोपास्य श्रुति वर्णित निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक् 'प्रेम' किंवा 'रस' है — परेश भगवान नहीं। फिर भी 'प्रेम' किंवा 'रस' की परात्परता या महानता में किसी को सन्देह नहीं है। अतः परात्पर 'प्रेम' किंवा 'रस' की ओर उन्मुख होने वाला मानवीय रति भाव भक्ति संज्ञक भी कहा जा सकता है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' की ओर उन्मुख होने वाले मानवीय रति भाव को 'रसभक्ति' नाम से अभिसंज्ञात किया है —

स्वान्तानां समुदेति कापि सरसभक्तिश्चमत्कारिणी<sup>१</sup>

श्री हिताचार्य के इसी सूत्र वाक्य के आधार पर चाचा वृन्दावनदास जी ने श्री हिताचार्य को रस भक्ति का अभूतपूर्व दान दायक बतलाया है—

चिरुजियौ व्यासकुमार रसिकनि के मनोरथ पुजवनों।

वृन्दावन हित रूप बलि रसभक्ति-दान दियौ घनों<sup>२</sup>।।

यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि 'प्रेम' किंवा 'रस' को उपास्य बनाने पर उपास्य और उपासक का वह अंशी-अंश सम्बन्ध ही सर्वथा समाप्त हो जाता है जो उपासक को उपास्य से पृथक् और दूर बनाये रखता है।

उपासक भी प्रेम स्वरूप किंवा रस स्वरूप ही हो जाता है—उसमें प्रेम के सम्पूर्ण धर्म उदित हो जाते हैं। [इस संबंध में आगे उपासक के स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में विस्तार से प्रकाश डालेंगे] सम्भवतः इसीलिए श्री हिताचार्य ने प्रेमोपासक को भक्त न कहकर 'रसिक', भगवद् भजन के स्थान पर 'रस भजन' और रस भक्ति के स्थान पर 'रसोपासना' नाम विधेय बनाया है। रसोपासना करने का अर्थ होता है—रस मूर्ति श्यामा-श्याम का निरन्तर सामीप्य प्राप्त करना, निकट रहकर उनकी सभी सेवायें करना। इसीलिए उन्होंने रस भक्ति शब्द को रसोपासना शब्द में परिणत करके लिखा है कि जिनके आराधन करने से उन्हें सर्वाश्चर्य पूर्ण रसमयी गति प्राप्त होती है —

यत्सिद्धिः परमापदैक रसवत्याराधनात्ते नु सा<sup>३</sup>

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २०४

२. हि. जू की ज. ब., चा. वृ. दा., प. सं. १०७

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. ६७

एक अन्य स्थल पर लिखा है कि जिस रास में नृत्य के समय [दोनों के] वस्त्र फरहरा रहे हैं। प्रेम सीमा के विकास, मधुर-मधुर हास और दिव्य आभूषणों के विलास से युक्त [श्रीराधा] प्रीतम के रोमांचित अंशों पर बाहु रखे हुए उनके बाहुपाश से सम्बलित हों; ऐसे अति सुन्दर ललित रास में अपनी नित्य आराधनीया श्री राधा की उपासना कब करूँगी —

प्रसमर पट बासे प्रेम सीमा विकासे। मधुर-मधुर हासे दिव्य भूषा विलासे।  
पुलकित दयितांसे संवलद् बाहु पाशे। तदति ललित रासे कहिँ राधामुपासे<sup>१</sup>॥

श्री हिताचार्य के इसी अन्तराशय को प्रबोधानंद सरस्वती तथा सेवक जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है —

यत्रैवति रसोन्मदं विहरते मत्प्रेष्ठ वस्तुद्वयम्  
भक्ति कापि महा रसोत्सवमयी यत्रैव निरस्यन्दते<sup>२</sup>।  
उद्दाम प्रमदोज्ज्वलैक रसया भक्तया विधूतावृत्ते  
व्यक्तं कस्यचिदेव चित्त मुकुरे तत् दिगा भोगवत्<sup>३</sup>।

पाई रसभक्ति गूढ़ जुग-जुग जग दुर्लभ भव इन्द्रादि विधिम्।  
आगम अरु निगम-पुरान अगोचर सहज माधुरी रूप निधिम्।  
अनभय आनंदकंद निजु सम्पति गुप्त सु रीति प्रगट करनं।  
जय जग उद्योत व्यास कुल दीपक श्री हरिवंश चरन शरनं।...  
निज महल टहल नव कुंज में नित सेवक सेवा करनं।  
निशि-दिन समीप संतत रहै सु श्री हरिवंश चरन शरनं<sup>४</sup>।

सेवक जी की उपर्युक्त पंक्तियों का सूक्ष्म अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इन पंक्तियों के माध्यम से उन्होंने अपना यही अन्तराशय व्यक्त किया है कि रसभक्ति प्राप्त होने पर रसभक्ति प्राप्त उपासक महल की टहल-युगलवर की नित्य सेवा प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। युगल का नित्य सामीप्य प्राप्त कर लेता है। श्री हिताचार्य तथा प्रबोधानंद जी के उपर्युक्त छन्दों में यही तो उपासना की चरम सिद्धि कही गई है। कहना अत्युक्ति न होगा कि सम्प्रदायाचार्य तथा तदनुगत रसिकों ने भी 'रस भक्ति' का अर्थ रस की भक्ति या रसोपासना स्वीकार कर लिया है। इस सम्प्रदाय में भजनीय,

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. १५९

२.३. वृ. म., प्र. स., सप्तदश शतकम्, श्लो. ९९, १३

४. से. वा., हित ध्यान प्रकरण, छं. सं. ३, ५



भक्त और भक्ति के स्थान पर उपास्य, उपासक और उपासना शब्द का प्रयोग भी बहुल मिलता है। प्रयोग बहुल ही नहीं प्रत्युत संरुढ़ जैसा दिखाई देता है। एतावता रसभक्ति के सर्वाङ्गीण परिचय प्रकरण में हम उपास्य, उपासक और उपासना आदि शब्दों का ही प्रयोग करेंगे।

#### ४.८.४. रस का क्रमिक विकास और रसोपासना :

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का आलेख्य विषय है — “अभिनव रसभक्ति धारा”। यह ‘रस भक्ति’ एक अभिनव भक्ति किंवा एक अभिनव उपासना है; यह कहना सुधीजन सम्मत तभी होगा जब कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का इस दृष्टि से संप्रेक्षण कर लिया जाय कि रसोपासना का कोई भी रूप श्री हिताचार्य से पूर्व था या नहीं।

#### ४.८.४.१. वेदों में रस और रसोपासना :

ब्रह्म, परमात्मा और मगवान, इन शब्दों से संबोध्य परम तत्त्व का स्वरूप विवेचन वेदों का एकमात्र लक्ष्य था। इसीलिए उन्होंने उस परात्पर तत्त्व को निर्गुण निराकार [निर्विशेष] रूप में तथा सगुण साकार [सविशेष] रूप में व्याख्यान किया है। परतत्त्व के इसी स्वरूप विवेचन संदर्भ में उसे ‘रस’ रूप में भी उद्घोषित कर दिया है<sup>१</sup>। वेद की निर्गुण प्रतिपादक तथा सगुण प्रतिपादक श्रुतियों के आधार पर उस परम तत्त्व के निर्गुण और सगुण स्वरूप की उपासना-प्रकारों का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु श्रुतियों ने परात्पर तत्त्व के ‘रस’ रूप का विशद विवेचन-उस प्रकार से नहीं किया जिस प्रकार से ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप का किया है। श्रुतियों को परम तत्त्व के उस रस रूप का अनुभव उसी प्रकार हुआ था जिस प्रकार मृग को उसी की नाभि में स्थित कस्तूरी का हुआ करता है। यही कारण है कि वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों और अरण्यकों में न तो रस रूप का विशद विवेचन ही मिलता है और न उसकी उपासना करने का कोई विधान ही मिलता। निष्कर्ष यह कि उस युग [वैदिक काल] तक ‘रस’ उपासना का विषय नहीं बन सका था। यद्यपि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद की ऋचाओं में काव्य का विस्तृत वैभव मिलता है और वह इस बात का स्वतः प्रमाण है कि उस युग में भारतीय चेतना काव्य की विभूतियों से पूर्णतः परिचित हो चुकी थी, किन्तु जैसा कि यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि वैदिक साहित्य का वर्ण्य विषय परमतत्त्व का ‘रस’ रूप न होकर निर्गुण या सगुण रूप ही था — इसे देखते हुए उपर्युक्त निष्कर्ष के न मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता।

१. रसो वैसः रसं ह्येवा लब्ध्वानन्दी भवति।

## ४.८.४.२. काव्य ग्रन्थों में रस और रसोपासना :

रस तत्त्व की सत्ता का उदय भारतीय काव्य के अभ्युदय के साथ ही हुआ था। महाकाव्यों की सृष्टि आदि कवि महर्षि बाल्मीकि के 'बाल्मीकि रामायण' ग्रन्थ को लेकर हुई। इन महा काव्यों में भी रस का कोई संविधान नहीं मिलता। रामायण के बालकाण्ड में नव रसों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, पर उसको प्रायः आज प्रक्षिप्त ही माना जाता है। हाँ आदि कवि के मुख से निकले हुए प्रथम छन्द "निशम्य गीतं क्रौञ्चीमिदं" पर श्रीयुत आनन्दवर्धन और श्रीयुत शंकरन आदि आचार्यों की सैद्धांतिक आलोचनाएं अवश्य मिलती हैं। इस आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस काल में रस स्वरूप सम्बन्धी ऊहापोह की किरणें मात्र दिखाई देती हैं।

रस गान का विधान बनाने और उसे सहृदय सम्वेद्य बनाने का श्रेय आचार्य भरत मुनि को ही है। आचार्य भरत के परवर्ती अनेक काव्य मनीषियों ने अनेक काव्य शास्त्र और काव्य रीति ग्रन्थों का निर्माण किया। इन ग्रन्थों में रस सम्बन्धी अनेक बातों में वैमत्य होते हुए भी एक बात पर सभी सहमत हैं कि — 'चमत्कार प्राण आनन्द ही रस है और वह ब्रह्मानन्द सहोदर है'।

आचार्य के नाट्य शास्त्र के आधार पर कवि जगत में रस साधना के एक प्रकार विशेष का प्रारम्भ हुआ और आगे चलकर 'रस' के अनेक लक्षण ग्रन्थ, अनेक श्रव्य काव्य तथा अनेक दृश्य काव्य प्रणीत हुए। इन काव्य ग्रन्थों में यह बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि कवि जगत ने न तो 'रस' को अपना इष्ट ही वरण किया था और न उसके पूर्ण रूप के अन्वेषण को अपना लक्ष्य ही बनाया था जो कि रसरज सहित सब रसों का मूल और आद्य रस था। तात्पर्य यह कि आचार्य भरत के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों में से किसी ने भी 'रस' को परात्पर तत्त्व किंवा परमात्म तत्त्व की दृष्टि से नहीं देखा। उनकी दृष्टि में तो वह एक नाट्य निष्ठ, काव्य निष्ठ, अनुकार्य निष्ठ, अथवा सामाजिक निष्ठ काव्यानन्द मात्र ही था। जो कि लोक के पार्थिव-विभावादि सामग्रियों पर ही आधारित था। वह ऐसा पूर्ण नित्य तत्त्व नहीं था जिसका जीव मात्र से स्वरूपगत सम्बन्ध रहा है। वस्तुतः उनकी साधना का उद्देश्य या प्रयोजन ब्रह्म साक्षात्कार नहीं प्रत्युत उनका लक्ष्य तो केवल धन और यशादि प्राप्ति करना ही था<sup>१</sup>। वे कविगण लौकिक [पार्थिव]

१. काव्यं यशसेऽर्थं कृतं व्यवहार विदे शिवेतर रक्षतये।

सद्यः परनिर्वृतये कान्ता . सम्मिततयोपदेशयुजे।।

— का., प्र., आ. म., प्रथम उल्लास, श्लो. सं. २



आलम्बनों के आधार से काव्यानंद का अनुभव करते या कराते थे। दूसरे शब्दों में 'काव्य रस' का अनुभव करते और कराते थे। इस प्रकार वह काव्य रस कल्पित और कृत्तिम होने के कारण अध्यात्म चेतना का चिंतनीय नहीं बन सका—उपासना का विषय नहीं बन सका था।

### ४.८.४.३. भक्ति दर्शन ग्रन्थों में रस और रसोपासना :

काव्य ग्रन्थों के प्रणयन काल में ही दूसरी ओर कतिपय महान विभूतियाँ सर्व साधारण को इस दृश्य प्रपंच के त्रिताप से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से सच्चिदानंद ब्रह्म की ओर उन्मुख करने का प्रयास कर रही थीं। इस प्रयास का शुभारम्भ आचार्य शंकर ने ज्ञान मूला अद्वैत सिद्धान्त द्वारा किया और इनके कुछ समय पश्चात् ही श्री रामानुज तथा मध्वादि आचार्य चतुष्टय ने भक्ति प्राण द्वैत सिद्धान्त की स्थापना की। इन महान विभूतियों ने अपने-अपने सिद्धांतों के प्रचार प्रसार के लिए ऐसे ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें जीव-जगत-ब्रह्म का स्वरूप विवेचन और जीव तथा ब्रह्म के सम्बन्ध का विशद विवेचन किया गया था। इन आचार्यों तथा इनके अनुगत अन्यान्य भक्तों ने ऐसे ग्रन्थों की विपुल सृष्टि की है। अतः इस क्षेत्र में भी यह अन्वेषणीय है कि यहाँ पर 'रस' की अवतारणा हुई है या नहीं और 'रस' को उपास्य बनाया गया या नहीं।

यह सत्य है कि अद्वैतवादी और द्वैतवादी सम्प्रदायाचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में मतभेद है किन्तु यह भी परम सत्य है कि उन सभी आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना का आधार एक स्वर से श्रुतियों को ही स्वीकार किया है। प्रमेय तत्त्व—निर्गुण निराकार किंवा सगुण साकार ब्रह्म को और प्रमाण श्रुतियों को स्वीकार किया है।

श्रुतियों ने उस परब्रह्म को सत् ज्ञान, विज्ञान, अनन्त, आनन्द रूप कहने के साथ—साथ 'रस' रूप में भी संकेतित किया है। निर्गुण निराकार वादी आचार्य शंकर ने भी श्रुति वाक्यों की पुनरावृत्ति जैसे करते हुए उसे [उस 'परब्रह्म' को] सत्, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञान घन, निर्मल, आदि-अन्त-रहित, अक्रिय और निरन्तर आनन्द रस स्वरूप कहा है<sup>१</sup>।

इसी प्रकार श्री रामानुजाचार्य ने भी अपने 'वेदार्थ संग्रह' नामक ग्रन्थ में ब्रह्म को सुख रूप, ज्ञान रूप और आनन्द रूप सिद्ध किया है और कहा है कि इसीलिए

१. अतः परब्रह्म सदाद्वितीयं विशुद्ध ज्ञान घनं निरञ्जनम्।  
प्रशान्त आद्यन्त विहीनमक्रियं निरन्तरानन्द रस स्वरूपम्॥

श्रुतियों ने उसे [परब्रह्म] को रसोवैसः कहकर प्रकीर्तित किया है<sup>१</sup> इस प्रकार स्पष्ट ही है कि आचार्य ने ज्ञान, आनन्द, सुख और रस को एक ही अर्थ में संप्रयुक्त किया है। एक अन्य स्थल पर आचार्य रामानुज ने ज्ञान और आनन्द को परब्रह्म का स्वरूप निरूपक धर्म भी लिखा है<sup>२</sup>। जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों से सुस्पष्ट हो चुका है कि आचार्य की दृष्टि में ज्ञान आनन्द सुख और रस ये शब्द समानार्थक ही हैं। इस आधार से बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने 'रस' को अपने प्रमेय तत्त्व सगुण ब्रह्म का स्वरूप निरूपक धर्म माना है।

मध्वाचार्य ने 'रसोवैसः' इस श्रुति वाक्य में 'रस' शब्द को परब्रह्म के विशेषण रूप में स्वीकार किया है। सः विशेष्य है और 'रस' विशेषण<sup>३</sup>। इसी प्रकार ज्ञान और आनन्द को भी उन्होंने परब्रह्म विष्णु का गुण ही माना है स्वरूप नहीं। ज्ञान और आनन्द दोनों ही परब्रह्म विष्णु के गुण रूप में स्वीकार किये गए हैं<sup>४</sup>।

द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक श्री निम्बाकाचार्य के भाष्य में उनके प्रमेय-सगुण ब्रह्म के श्रुति निरूपित रूप का विवेचन प्राप्त होता है, उस रस रूप का नहीं जिसे श्रुतियों ने शाखा चंद्र न्याय से नेति-नेति शब्दों द्वारा संकेत मात्र किया है। उन्होंने अपने भाष्य में 'रसोवैसः' इस श्रुति वाक्य का उल्लेख दो स्थलों में किया है किन्तु वह मात्र जीव और ब्रह्म के भेद-सिद्धि के लिए ही किया है —

“रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति” इति वाक्येन लब्धलब्धव्ययोर्भेद व्यपदेशाज्जीवो-  
नानन्दमयः<sup>५</sup>। “.....तद्योगमानन्दयोगं शस्ति श्रुतिः “रसोवैसः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी  
भवति” इति जीवस्य यल्लाभादानन्द योगः स तस्मादन्य इति सिद्धम्<sup>६</sup>।।

विद्वद् समाज की ऐसी सर्व सम्मति है कि आचार्य विष्णु स्वामी का कोई भाष्य नहीं है। आचार्य बल्लभ इन्हीं विष्णु स्वामी के प्रतिनिधि रूप में स्मरण किये जाते हैं।

१. आनन्दो ब्रह्म इत्युच्यते। विषयायत्तत्वात् ज्ञानस्य, सुखरूपतया ब्रह्मैव सुखम् तदिदमाह रसोवैसः, रसं ह्येवा लब्ध्वाऽनन्दी भवति इति।

— वे. सं., पृ. सं. ४४

२. ज्ञानानन्द मात्रवादि च.....ब्रह्मण स्वरूप निरूपक धर्मः।

— वे. सं., पृ. सं. २१

३. रसोवैसः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति इति रस शब्देन विशेषणात्।

— भाष्य १, १, १६

४. ज्ञानानन्दादिभिः सर्वे गुणैः पूर्णाय विष्णवे।

— भाष्य ४, ४, २३

५. ६. वे. पा. सौ. १, १, १८ और १, १, २०



उन्होंने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना आचार्य शंकर के मायावाद के विरुद्ध की थी। जहाँ पर श्री रामानुज और मध्वादि भाष्यकारों ने परब्रह्म को नारायण तथा विष्णु रूप में प्रकीर्तित किया है वहाँ पर श्री वल्लभ ने षटैश्वर्य सम्पन्न लोकावतरित भगवान् श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है<sup>१</sup>। और कहा है कि परब्रह्म के पूर्ण रूप की अभिव्यक्ति लीला विशिष्ट रूप में ही होती है<sup>२</sup>। इसी संदर्भ में उन्होंने यह भी कहा है कि 'रसोवैसः' इस श्रुति वाक्य के द्वारा जिस रूप का संकेत मिला है वह भी परब्रह्म के लीला रूप में ही पूर्ण रूपेण परिलक्षित होता है<sup>३</sup>।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह कि अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादक आचार्य शंकर ने तथा द्वैत प्रतिपादक श्री रामानुजादि आचार्य चतुष्टय ने जीव जगत और ब्रह्म स्वरूप निर्देशक दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना, प्रचार और प्रसार को ही अपनी वर्णना का विषय बनाया है 'रस' को नहीं। हाँ यह सत्य है कि उनके दार्शनिक सिद्धान्त पूर्णरूपेण श्रुति वाक्यों पर ही आधारित थे। अतः उनके व्याख्यानों [प्रस्थानत्रयी संज्ञक ग्रन्थों] में भी श्रुति वाक्यों की भाँति ही ब्रह्म के स्वरूप निर्देशक रूप में ज्ञान और आनंद आदि शब्दों के साथ 'रस' शब्द का भी आनुसंगिक उल्लेख मिल जाता है किन्तु 'रस' न तो उनके भक्ति भाव का ही विषय था और नहीं वर्णना का विषय।

यद्यपि "रसोवैसः....." इस श्रुति के आधार पर भक्ति के आचार्यों ने अपने प्रमेय निर्गुण ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्म को रस पूर्ण भी कह दिया है तथापि उनकी यह भी मान्यता है कि 'रस' परम तत्त्व का एक गुण विशेष है, विशेष्य तो निर्गुण ब्रह्म किंवा सगुण भगवान् ही हैं।

निर्गुण ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्म के रस पूर्ण होने के एक गुण विशेष के आधार पर उनकी उपासना को रसोपासना कहना एक भ्रान्ति ही है क्योंकि उपासना तो गुणी विशेष्य किंवा धर्मी की ही होती है, उसके किसी गुण, विशेषण किंवा धर्म विशेष की नहीं। अतः जब तक रस को गुणी विशेष्य अथवा धर्मी के स्थान पर प्रतिष्ठित न करके, उसे परमतत्त्व—निर्गुण-सगुण ब्रह्म का एक गुण विशेष या धर्म विशेष माना जाता है,

१. परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानंदकं बृहत्।

२. लीला विशिष्टमेव शुद्धं परं ब्रह्म, न कदाचितद्रहितमित्यर्थ।

३. एतेन रसोवैसः रति श्रुति लीला विशिष्ट एव प्रमुन्तथेति तादृश एव फल मिति ज्ञापितं भवति।

— सि. मु., श्लो. सं. ३

— अ. भा., ४, ४, ३, १४

— अ. भा., ४, ४, ५, १९



‘रस’ को अपना प्रमेय तत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता है; तब तक उस उपासना को रसोपासना नहीं कहा जा सकता। वह तो वस्तुतः निर्गुण निराकार ब्रह्म अथवा सगुण साकार भगवान की ही उपासना है।

जिस प्रकार विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति आदि को गुणी धर्मी किंवा विशेष्य मानकर की गई उपासनाओं को वैष्णवोपासना, नारायणोपासना, रामोपासना, कृष्णोपासना, शिवोपासना, शक्ति उपासना और भगवदुपासनादि नामों से अभिहित किया जाता है ठीक इसी प्रकार ‘रस’ को गुणी, धर्मी, विशेष्य और प्रमेय तत्त्व मानकर की गई उपासना को ही रसोपासना कहा जाना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति के इस दर्शन काल में भी ‘रस’ इन आचार्यों का उपास्य नहीं बन सका है।

#### ४.८.४.४. भक्ति काव्य ग्रन्थों में रस और रसोपासना :

आचार्य बल्लभ के सुदूरपूर्व जिस समय भक्ति के अन्य आचार्यगण वेद के उस परमतत्त्व को जो ऋषियों मुनियों और योगियों के मन-बुद्धि से असम्पृक्त था—सर्व साधारण के इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के समीप लाने का प्रयत्न कर रहे थे; ब्रह्म के सगुण रूप को ब्रह्म वादियों तथा सर्व साधारण के निकट लाने की चेष्टा कर रहे थे, उसके पतित पावन और सौन्दर्य मूर्ति की ओर उन्मुख करने के लिए प्रयत्न शील थे; उसी समय श्री जयदेव जी ने काल कवलित जगत की शृंगार चेष्टाओं में परिलक्षित; प्रेम और तज्जन्य रस से उन्मत्त सौन्दर्योपासक जगत को; निखिल रसामृत रूप शृंगार सर्वस्व श्रीकृष्ण के शृंगार लीला गान द्वारा उनके मधुर रूप की ओर उन्मुख करने के उद्देश्य से ‘गीत गोविन्द’ नामक सरस ग्रन्थ की रचना की।

ग्रन्थकर्ता ने अपने पूर्ववर्ती उमापति, गोवर्धन, शरण तथा घोषी आदि कवियों का परिचय देते हुए उनके काव्यों की सूक्ष्मतम आलोचना भी की है<sup>१</sup>। उन परिचयों से ज्ञात होता है कि उस समय तक शृंगार रस वर्णन का प्रचार बाहुल्य तो था किन्तु वे शृंगारी कवि जगत के नश्वर रूपों को ही अपने शृंगार काव्य का आलंबन बनाकर आनंद की सृष्टि किया करते थे। फल यही होता था कि सरस हृदयों को रसानुभूति [काव्यानंद की अनुभूति] तो अवश्य होती थी किन्तु उसकी उन्मत्तता उन्हें अन्धकार की ओर उन्मुख करती थी। रस के नित्य [सहज] शुद्ध और अमृत रूप की झलक न दिखाकर

१. वाचः पल्लवयत्युमापति धरः संदर्भं शुहिं गिरां। जानीते जयदेव एव शरणः श्लोघ्योदुरुहद्रुतेः।  
शृङ्गारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्धन। स्पष्टी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो घोषी कविः उमापति।



रस के अनृत रूप की ओर दौड़ने की प्रेरणा देती थी। इस प्रकार से यह शृंगार काव्य अमरत्व का कारण न बनकर मृतत्व का कारण बना हुआ था। ब्रह्मानन्द सहोदर के उज्ज्वल रूप का ऐसा दुरुपयोग और ऐसी दुदर्शा देखकर भक्त कवि जयदेव जी का कोमल हृदय सिहर उठा। अतः सच्चिदानन्दमय रस का उद्धार करने के लिए उन्होंने शृंगार रस सर्वस्व श्रीकृष्ण को अपने काव्य का वर्ण्य विषय [रस का आलम्बन] बनाया। दूसरी ओर भगवान के सगुण स्वरूप को सामने रखकर जीव-जगत और ब्रह्म के विचारक भक्तगण आनन्द की खोज में तत्पर करने वाली वासनाओं तथा क्रोध, शोक, राग और रति आदि भावों का समूल उन्मूलन अपने भक्ति मार्ग में अनिवार्य समझते थे। ये भक्तगण शृंगार काव्य का कथन-श्रवण करना हेय तो समझते ही थे, भगवान श्री कृष्ण की शृंगार लीला का कथन-श्रवण तो उनकी दृष्टि में एक महत् पाप था। इस प्रकार शृंगाररस की प्रलय भूमिका ही यहाँ तैयार हो रही थी।

श्री जयदेव जी ने इन दोनों वर्गों का मनस्तोष करके उनका वास्तविक कल्याण करने तथा शृंगार रस काव्य की सृष्टि को अमर बनाने के लिए 'गीत गोविन्द' जैसे गीत काव्य की भक्ति पूर्ण रचना की। ग्रन्थकार ने अपनी यह भावना ग्रन्थ के कई प्रबन्धान्तों में व्यक्त की है। इस प्रकार से उन्होंने कई शताब्दियों से चली आ रही परम्परा में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया।

### गीत गोविन्द :

आगम-निगम तथा पुराणों में षटैश्वर्य सम्पन्न विभु के जिस वैभव का वर्णन विशद

१.[क] शृंगारी काव्य रस-रसिकों के सम्बन्ध में:-

श्री जयदेव कवेरिदमनुपद निदगित मधुरि प्रमोदं।

जनयतु रसिक जनेषु मनोरम रति रस-भाव विनोदं।

— गी. गो., म. ज., द्वादश सर्ग , श्लो. सं. ८

[ख] भक्तों के सम्बन्ध में :-

श्री जयदेव वचसि शुभदे हृदयं सदयं कुरु मण्डने।

हरि चरण स्मरणामृत निर्मित कलि कलुषज्वर खण्डने॥

— गी. गो., म. ज., द्वादश सर्ग , श्लो. सं. ८

[ग] एक साथ दोनों वर्गों के सम्बन्ध में :-

यदि गान्धर्व कला सु कौशल मनु ध्यायं च यद् वैष्णवं।

यच्छृङ्गार विवेक तत्त्व रचना काव्येषु लीलायितुम्॥

तत्सर्वं जयदेव पण्डित कवे कृष्णैक तानात्मनः।

सानन्दा परिशोधयन्तु सुविधः श्री गीत गोविन्दतः॥

— गी. गो., म. ज., द्वादश सर्ग , श्लो. सं. ३

२. व्यास वेद ब्रज वैभव जानत नाहिन करत बखान॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ९१

रूप में प्राप्त होता है और जिसे बारहवीं शताब्दी के आचार्यों ने विष्णु, नारायण, और श्री हरि आदि नामों से अभिहित करके अपना गेय बनाया था, उस विभु के रसमय वैभव का सर्वप्रथम वर्णन श्री जयदेव के 'गीत गोविन्द' काव्य में प्राप्त होता है।

भक्तमाल आदि ग्रंथों से प्राप्त जयदेव जी के जीवन इतिवृत्त से ज्ञात होता है कि भक्त होने के साथ-साथ ये अपने समय के कवि चक्र चूड़ामणि भी थे। कवि हृदय प्रकृतितः भावुक होता है और भावुक हृदय स्वभावतः रस लोलुप होता है। कवि हृदय की रस लोलुपता ने इन्हें आलवार सन्तों के मधुर भक्ति साहित्य की ओर आकृष्ट कर दिया। इन सन्तों की मधुर भक्ति की छाप इन पर अमिट रूप से पड़ी; जिसने इन्हें राधाकृष्ण की मधुर केलि का गान करने के लिए विवश कर दिया। लक्ष्मी नारायण के उपासक होते हुए भी इन्होंने राधाकृष्ण को ही अपने शृंगार काव्य का आलंबन बनाया; इसका एक कारण यह भी था कि श्रीराम-कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतार स्वरूपों में मधुर लीलाओं के अभाव के कारण उनमें रसमयिता सर्वथा ही असम्भव थी। श्रीकृष्ण का ब्रजबिहारी रूप ऐश्वर्य के साथ-साथ माधुर्य का प्रकाश देने-वैभव को भी रसमय बनाने में संक्षम था।

'गीत गोविन्द' के सम्यक आलोड़न से ज्ञात होता है कि इन्होंने विभु का रसमय वैभव-भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर लीला का गान करके भी 'रस' को अपना उपास्य नहीं बनाया था। सच बात तो यह है कि इन्होंने कृष्ण या राधाकृष्ण को ही अपना परमोपास्य नहीं बनाया था। इन्होंने इस ग्रंथ में स्पष्ट रूप से लक्ष्मीनारायण को ही परमतत्त्व और अपना इष्ट तथा श्रीकृष्ण एवं अन्य अवतारों को उनका अवतार माना है। इनकी दृष्टि में यह कृष्ण किंवा राधाकृष्ण भी उस परम विभु के वैभव ही हैं, जैसे कि नृसिंह, वामन, कच्छप तथा मत्स्यावतार आदि। अपनी इस भावना को व्यक्त करने के लिए इन्होंने ग्रन्थ का आरम्भ ही अवतार गान के साथ किया है<sup>१</sup>; साथ ही ग्रन्थ का उपसंहार भी नारायण स्वरूप की वन्दना<sup>२</sup> के साथ किया है। अपनी इस भावना को और भी अधिक

१. श्री जयदेव से रसिक न कोई जिन लीला रस गायौ।  
वृन्दावन कौ रसमय वैभव जिन पहिलैं सबनि सुनायौ॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ६

२. प्रलय पयोधिजले धृत वानसि वेद.....।

— गी. गो., म. ज., प्रथम सर्ग, श्लो. सं. १

३. पर्यकीकृत नाग नायक फणा श्रेणी मणीनां गणे।  
संक्रान्त प्रतिविम्ब संकलनया विभ्रद्वपुर्विक्रियाम्।  
पादाम्भोरुह धारि वारिधि सुतामक्ष्णां दिदक्षुः शतैः।  
कायव्यूह विचार यन्नुपचिता कुतो हरिः पातुवः॥

— गी. गो., म. ज., द्वादश सर्ग, श्लो. सं. २



सुस्पष्ट करने के लिए ग्रन्थ के कई स्थलों में सखी के द्वारा श्रीराधा को कृष्ण से मिलने की प्रेरणा दिलाते हुए श्रीकृष्ण को नारायण<sup>१</sup> कहलाया है। एक अन्य स्थल पर राधा का मान मोचन कराते हुए श्रीकृष्ण के मुख से राधा को लक्ष्मी<sup>२</sup> कहलाया है। तथा अन्य कई स्थलों में भी श्री राधा को पद्मा, कमला और भुवनेश्वरी कहकर स्मरण किया है<sup>३</sup>।

श्री जयदेवजी ने अपने इस ग्रन्थ में राधा-कृष्ण के पौराणिक रूप का कुछ परिस्कार करके उन्हें एक अभिनव रूप में प्रतिष्ठित किया। इन्होंने श्रीकृष्ण को सर्वगुण सम्पन्न धीर ललित नायक के रूप में और श्रीराधा को परकीया नायिका के रूप में उपस्थित करते हुए उनके मधुरतम रूप की अभिव्यक्ति की है। श्रीराधा को कृष्ण के साथ इस रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं को है। विद्वानों का मत है कि १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी के श्रीकृष्ण प्रेमी भक्तों ने राधा के जिस रूप के साथ अनुभावन करके श्री कृष्ण प्रेम का आस्वाद लिया है उस के सूत्रपात कर्ता श्री जयदेव जी ही हैं। यहाँ पर एक बात विशेष रूप से अविस्मरणीय है कि ग्रन्थकार के इस काव्य से यह संकेत नहीं मिलते कि भक्त ने स्वयं किसका अनुभावन [किसके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित] करके रसानुभव किया है? अर्थात् कवि ने भोक्ता की स्थिति में साधारणीकरण किसका किया है। रसानुभूति के लिए भरतमुनि की पद्धति स्वीकार की है या नहीं? यदि स्वीकार की है तो सम्पूर्ण या अधूरी? इत्यादि।

गीत गोविन्द के गहन अध्ययन से हमें निम्नांकित तथ्य प्राप्त होते हैं —

[१] यह ग्रन्थ भक्ति परक एक सरस काव्य है। [२] जयदेव जी ने इस ग्रन्थ का प्रणयन कवि रूप में ही किया है। [३] ग्रन्थ प्रणेता कवि ने इस भक्ति काव्य ग्रन्थ में रस का आलंबन यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण को बनाया है किन्तु उन्हें अपने इष्ट रूप में

१. किरलय शयनतले कुरु कामिनि चरण नलिन निविवेशम्  
तव पद पल्लव वैरि परामव मिदमनु भवतु सुवेषम्  
क्षणम धृना नारायणमनुगत तमनुसर मां राधिके।

— गी. गो., म. ज., द्वादश सर्ग, श्लो. सं. १

२. त्वाम प्राप्यमयि स्वयम्बर परां क्षीरोदतीरोदरे।  
शंके सुन्दरि काल कूट मपि बन्मूढो मृडानी पतिः॥

— गी. गो., म. ज., द्वादश सर्ग, श्लो. सं. ५

३. [क] श्रित कमला कुच मण्डल धृत कुण्डल ये....।

— गी. गो., म. ज., द्वितीय सर्ग, श्लो. सं. १

[ख] पद्मा पयोधर तटी परिरम्भ मग्न....।

— गी. गो., म. ज., तृतीय सर्ग, श्लो. सं. १

वरण नहीं किया है। आचार्य रामानुज की भाँति उनके आराध्य देव तो शेषशायी भगवान नारायण हैं। भगवान नृसिंह, राम, कृष्ण आदि अवतारी नारायण के अवतार रूप हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्तकवि ने न तो 'रस' को उपास्य के स्थान पर ही प्रतिष्ठित किया और न रसोपासना की अपनी कोई विधा विशेष ही व्यक्त की है। श्री जयदेवजी ने जिस प्रकार के सरस भक्ति काव्य के सृजन का शुभारंभ किया था वह कार्य अबाधगति से चलता रहा किन्तु विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक उपासना के क्षेत्र में 'रस' की अवतारणा न हो सकी। तात्पर्य यह कि इस समय तक भी किसी ने 'रस' को अपना उपास्य नहीं बनाया।

इस प्रकार समस्त भारतीय वाङ्मय का गहन व सूक्ष्म आलोड़न करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक 'रस भक्ति' किंवा 'रसोपासना' का उद्भव नहीं हुआ था। यही कारण है कि इस समय तक 'रस भक्ति' किंवा 'रसोपासना' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता जबकि अनेक उपासनाओं के नाम देखने को मिल जाते हैं। यथा—ओंकारोपासना, उद्गीथ उपासना, पणवोपासना, सूर्योपासना, अग्नि उपासना, शिवोपासना, शक्ति उपासना, विष्णु उपासना, रामोपासना, कृष्णोपासना आदि।

#### ४.८.४.५. एक प्रासंगिक शंका और उसका निराकरण :

यहाँ पर ऐसी शंका उठाई जा सकती है कि श्रुतियों, आचार्यों और सभी भक्तों की निर्विवाद मान्यता है कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान नाम से संबोध्य ब्रह्म रस स्वरूप हैं। भक्ति संप्रदाय के सभी आचार्यों ने उसी भगवान की ही उपासना की है जो रस स्वरूप हैं फिर उनकी उपासनाओं को रसोपासना क्यों न कहा जाये ?

#### ४.८.४.५.१. उपास्य रूप की दृष्टि से विचार :

इस शंका का समाधान भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रणीत उन ग्रन्थों से ही हो जाता है, जिन ग्रन्थों में उन्होंने अपने-अपने प्रमेय किंवा उपास्य का सर्वाङ्गीण परिचय दिया है। उन ग्रन्थों में एक स्वर से भगवान नारायण, विष्णु या भगवान राम या श्रीकृष्ण को ही प्रमेय तत्त्व परब्रह्म और परमोपास्य [आराध्य या भजनीय] कहा है। 'प्रेम' किंवा 'रस' को नहीं और न कहीं अपनी उपासनाओं को रसोपासना किंवा प्रेमोपासना कहा है।

इस स्वतः प्रमाण के अतिरिक्त परतः प्रमाण रूप में अन्य किसी ने भी इन भक्ति संप्रदायाचार्यों को रसोपासक और इनकी भक्ति सम्प्रदाय को रसोपासना नहीं लिखा है अपितु विष्णूपासना, रामोपासना, कृष्णोपासना आदि ही लिखा है।



यदि भगवान् विष्णु, नारायण, श्रीराम और कृष्णादि की रस रूपता के आधार पर इनकी उपासनाओं को रसोपासना व इनके उपासकों को रसोपासक या रसिक कहा जाय और यदि कहा गया होता तो शिव, ब्रह्मा, नारद, सनकादिक, हनुमानजी, अम्बरीष, ध्रुव, जनक, भीष्म, प्रह्लाद, द्रोपदी, अर्जुन, कुन्ती, उद्धव, ब्रजगोपीगण, शुकदेव, परीक्षित, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्व, निम्बादित्य विष्णु स्वामी, श्रीबल्लभ, श्री चैतन्यदेव, रामानन्द, कबीर, सूरदास, तुलसीदास, प्रभृति सभी भक्त; रसोपासक या रसिक कहे जाने चाहिए थे; और कहे गए होते। किन्तु प्रारंभ काल से अब तक के सम्पूर्ण भक्ति साहित्य में इन भक्तों को रसिक रूप में स्मरण नहीं किया गया है।

जहाँ तक भगवान् की रस रूपता का प्रश्न है भक्तों की यह मान्यता समुचित ही है। रस की परात्परता और सर्व व्यापकता की दृष्टि से तो भगवान् विष्णु, नारायण और राम-कृष्ण ही क्या कच्छप मत्स्य, वाराह, नृसिंह आदि सभी भगवदावतार रस स्वरूप हैं और यहाँ तक कि प्रत्येक भक्त और जीव भी रस स्वरूप है किन्तु यहाँ पर अन्वेषणीय यह है कि किसी आचार्य या भक्त ने उन्हें रस रूप में उपासित किया भी है या नहीं? और वे उन भक्तों के समक्ष रस रूप में प्रगट हुए भी हैं या नहीं? क्योंकि स्वर्ण तथा पापद की भी रस किंवा रसायन संज्ञा है किन्तु रसायन सिद्धि की प्रक्रिया विशेष से रस बनाकर उसका सेवन करने से ही इनके रस रूप का लाभ उठाया जा सकता है; प्रक्रिया सिद्धि के अभाव में नहीं। ठीक इसी प्रकार भगवान् के रस स्वरूप की अनुभूति के लिए 'सहज माधुरी रूप निधिम् रस' को ही इष्ट बनाना अनिवार्य है; साथ ही रस उपासना की एक विधि विशेष भी अनिवार्य है।

#### ४.८.४.५.२. रस रूप के प्रत्यक्ष होने में बाधक कारण :

भाव भावना की बात तो अलग है किन्तु यदि एक शुद्ध विचारक की दृष्टि से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि सभी भक्तों को परतत्त्व के विशुद्ध माधुर्य मूर्ति रस रूप की अनुभूति न होकर उसके ईश रूप की ही अनुभूति हो सकी है। इन्हें उस रस रूप की अनुभूति नहीं हो सकी है जो निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक् प्रेम विग्रह है। इसके कई कारण हैं। उदाहरणतः —

#### ४.८.४.५.२.१. ऐश्वर्य रूपावरण के कारण :

पांचरात्र और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों पर आधारित भागवत धर्म के अनुयायी सभी भक्तों का उपास्य भगवान् का षटैश्वर्य सम्पन्न ईश्वर रूप ही है। इस ईश्वर स्वरूप के द्वारा उसके रस स्वरूप की अनुभूति सर्वथा असम्भव है। क्योंकि रस की अनुभूति



का आधार ऐश्वर्य नहीं माधुर्य ही होता है। इस माधुर्य का लक्षण रस के सूक्ष्म विवेचकों ने इस प्रकार किया है — “जहाँ पर ईश्वरता प्रकाशक किसी रूप या लीला का आभास न हो केवल लोकवत लीला हो उसे ही माधुर्य का विलास कहा जाता है।” माधुर्य का यह स्वरूप लक्षण; अनुभव और सैद्धान्तिक इन दोनों दृष्टियों से ही समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि रत्यादि स्थायी भाव ही अनुकूल परिस्थिति में उद्बुद्ध होकर सदाशय को मधुर आदि रस रूपों में अनुभूत होते हैं। इन स्थायी भावों के उद्बुद्ध होने का अवसर सम्बन्ध की भूमिका में ही प्राप्त होता है। यह सम्बन्ध जितना अधिक शुद्ध और सहज होगा, भाव उतने ही शीघ्र उद्बुद्ध होंगे और उतने ही अधिक तरल होंगे। चित्त का विस्तार और उसकी द्रुति उतनी ही अधिक तीव्र होगी साथ ही रसानुभूति भी ही अधिक मधुर होगी।

यह लोक सम्बन्धों का ही अभिव्यक्त और मूल रूप है। इसमें स्वामी और सेवक का संबंध गुरु और शिष्य का संबंध तथा मानव-मानव का सम्बन्ध आदि-आदि कई संबंध परिव्याप्त हैं। किन्तु हम देखते हैं कि एक सुन्दर और सुकुमार राज-शिशु को देखकर उसकी माता के अतिरिक्त किसी और की आश्रयभूता एक अन्य नारी का वत्सलभाव पूर्ण रूप से उद्बुद्ध नहीं होता, उचित में द्रुति आदि का व्यापार नहीं देखा जाता क्योंकि वहाँ पर सम्बन्ध की भूमिका मर्यादित एवं संकुचित [सीमित] होने के कारण उस साधारण नारी को उस राजशिशु के आलिंगन और चुम्बन करने का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। अर्थात् जिन अनुभावों के योग से रस निष्पन्न होता है उन अनुभावों के समुदय के लिए भी स्थान संकोच है। यदि कदाचित् इनके उदय का अवसर भी प्राप्त हो जाये तो भी उस नारी के हृदय में उस आनन्द का अनुभव या उस रस की पूर्ण अनुभूति नहीं होती जिसे वह अपने बालक के सांस्पर्श से अनुभव करती है। कारण स्पष्ट है कि यहाँ पर मर्यादा, भीति और संकोच के कारण माता और शिशु का प्राकृतिक सम्बन्ध अपने पूर्ण और सहज रूप में प्रकाशित नहीं हो पाता। यही बात अन्य सभी भावों में भी लागू होती है, यदि उनके सम्बन्ध की भूमिका, संबंध का घरातल, संकुचित और मर्यादित है।

अनुकूल परिस्थिति में भावों [सदाशय के चित्त में स्थित रहने वाले स्थाई भावों] के उद्बुद्ध होने का काव्य रस सिद्धान्त भी इसी लोक अनुभव पर आधारित ही दिखाई देता है।



मधुर रस के आलंबन के लिए भगवान श्री राम की मर्यादा पुरुषोत्तमता ही श्री जयदेवादि भक्तों के चित्त में भीति और संकोच का कारण सिद्ध हुई। यही कारण है कि उन्हें मधुर रस के आलंबन रूप में सर्वसम्मत स्वीकार न करके लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया गया है। यहाँ पर विशेष रूप से दृष्टव्य और अविस्मरणीय है कि कृष्ण का भी वही रूप स्वीकार किया गया है, जिसमें ऐश्वर्य के साथ माधुर्य का भी विकास है। अर्थात् लोक के अति निकट है। चाचा वृन्दावनदास जी ने भी इसी सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए कहा है कि —

ब्रह्मज्ञान जो खोजिये रूप न रेखा अंग। सुख ऐश्वर्य न पाइये जहँ डर तहँ चित भंग॥  
कृष्ण कथा माधुर्य बिनु नीरस जाती सृष्टि। कहा रसिकजन गौवते बिनु हरि लीला मिष्ट<sup>१</sup>॥

अर्थात् ब्रह्म ज्ञान की उपासना में तो रूप रेखा का ही अभाव है और सगुण उपासना ऐश्वर्य पर ही आधारित है। अतः उसमें भी रसिकों का अपना सुख नहीं है। क्योंकि जहाँ प्रीति में भीति है वहाँ चित्त की एक रसता का अभाव और रस के शाश्वत स्फुरण का अभाव बना रहता है। अतः चित्त क्षण-क्षण में भंग होता है। इसीलिए भगवान के अनन्त रूपों में से श्रीकृष्ण का मधुर रूप और उनकी मधुर कथा ही रसिकों को रसानुभूति कराने वाली सिद्ध हुई है।

जहाँ पर आलम्बन में उसके ऐश्वर्य [अहमत्व के विविध उपकरणों] का जितना अधिक अभाव और माधुर्य का जितना अधिक प्रकाश हुआ है, वहाँ पर रस रूपता और रस मधुरता उतने ही अधिक रूप में अभिव्यक्त होती देखी गई है<sup>२</sup>।

हम देखते हैं कि ईश्वर के अनन्त रूपों में से श्रीराम और श्रीकृष्ण को ही रसालम्बन रूप में स्वीकार किया गया है। कारण बहुत स्पष्ट है कि इन स्वरूपों में ऐश्वर्य के साथ साथ माधुर्य का भी कथंचित प्रकाश हुआ है। भक्तों के लिए ऐसे ही रूप की आवश्यकता भी थी, क्योंकि ईश्वरता अप्रकाशक रूप में उनकी भक्ति ही उदबुद्ध नहीं होती, उन्हें लौकिकता की भ्रान्ति हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि माधुर्य ही रसामिव्यक्ति का आधार है और ऐश्वर्य आवरण है<sup>३</sup> इस सिद्धान्त से भगवान का ऐश्वर्य; [भगवान को वह भगवत्ता जो कि भक्त की भक्ति का एकमात्र आधार है।] माधुर्य पर आधारित उनके पूर्ण रस स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं होने देता।

१. कृ. गि. पू. बे., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ३२५-३२४

२. देखें—प्र. पू. सं. १४३-१५४

३. ऐश्वर्यता, ज्ञान, महात्म विषय या रस माधुरी के आकर्षण हैं; और सब रस या माधुर्य रस के आवरण हैं।  
— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. धु. दा.



### ४.८.४.५.२.२. स्वयं प्रेमी बन जाने के कारण :

यह प्रकृति विधान है कि 'रस' दो ही में निष्पन्न और 'प्रेम' दो ही में अभिव्यक्त होता है। 'रस' की निष्पत्ति और 'प्रेम' की अभिव्यक्ति के लिए दो का होना सर्वथा अनिवार्य तो है किन्तु इन दो के दो बने रहते हुए 'प्रेम' किंवा 'रस' का प्रत्यक्ष [रस रूप में अनुभव] होना ही असम्भव है। तात्पर्य यह कि यह 'प्रेम' किंवा 'रस' एक रुचि, एक मन, एक हृदय और एक प्राण के दो तनों में ही प्रत्यक्ष होता है। प्रेम में दो का होना जितना आवश्यक है उतना ही एक होना भी आवश्यक है। प्रेम में प्रेमी और प्रेमपात्र जिस क्षण पृथक् दिखाई देते हैं; उसी क्षण वे एक भी बने रहते हैं। उन दोनों का सम्बन्ध ही उन दोनों को एक किये रहता है। इस प्रकार के प्रेमी और प्रेमपात्र के प्रीति-विलासों में ही पूर्ण प्रेम की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति और रस की निष्पत्ति सम्भव है।

परमोपास्य तत्त्व को 'रस' रूप में प्रत्यक्ष करने के लिए [रस रूप में उपासना करने के लिए] उसे विशुद्ध माधुर्य मूर्ति प्रेम स्वरूप [प्रेमी और प्रेमपात्र रूप] में वरण करना अनिवार्य है। अर्थात् स्वयं प्रेमी या प्रेमपात्र न बनकर इन दोनों से पृथक् प्रेम का उपासक बने रहना ही प्रेमोपासना किंवा रसोपासना है। रस के लक्षण ग्रन्थों में ही प्रेमोपासक किंवा रसोपासक का स्वरूप लक्षण बताते हुए कहा गया है कि रसिक वही है जिसके हृदय में लाड़िलीलाल-प्रेमी और प्रेमपात्र की प्रीति झलकती रहती है<sup>१</sup>।

संपूर्ण भक्ति काव्य में स्पष्ट देखा जाता है कि भक्तों ने अपने उपास्य को लीला के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण सीताराम तथा राधाकृष्ण रूप में उपस्थित तो अवश्य किया है किन्तु उपासना के क्षेत्र में भगवान नारायण, राम या कृष्ण को ही इष्ट स्वीकार किया है। नारायण, राम या कृष्ण को ही अंतिम तत्त्व मानते हुए उनके श्री चरणों से ही अपना हार्दिक रति भाव सम्बन्धित किया है। अर्थात् श्रीराम रति या कृष्ण चरण रति ही रस का स्थाई भाव स्वीकार किया है<sup>२</sup>। साथ ही लीला के क्षेत्र में संदृष्ट आश्रय स्थानीय श्रीराधा या अन्य गोपियों, यशोदा, अर्जुनादि सखाओं अथवा हनुमानादि का भावतः स्थान ग्रहण [भावानुगमन] करने से एक ओर तो भक्त प्रेमोपासक रूप न रहकर भगवदोपासक प्रेमी भक्त स्वरूप बना रह जाता है और दूसरी ओर भक्तों के इष्ट भगवान्, भगवान्

१. रसिक तबहि पहिचानिये जिनके यह रस रीति। छिन-छिन हिय में झलकि रहै लाल-लाड़िली प्रीति।।

— ब्या. ली., आनंदाष्टक लीला, हि. धु. दा., छं. सं. ६

२. .....एषा कृष्ण रतिः स्थायी भावो भक्ति रसोभवेत्।

— म. र. सि., रु. गो., दक्षिण विभाग, लहरी १, श्लो. सं. ५



रूप में ही बने रहते हैं। इस प्रकार से भक्तों की राम रति, श्रीकृष्ण रति के कारण भगवान का प्रेमस्वरूप ही प्रच्छन्न बना रहता है। और प्रेम स्वरूप की प्रच्छन्नता के कारण उनका पूर्ण रस रूप सावरण बना रहता है।

पूर्ण प्रेम में प्रेमी-प्रेमपात्र और प्रीति इन तीनों के ही प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। साथ ही इन तीनों विग्रहों में प्रेम के सम्पूर्ण धर्म<sup>१</sup> और सम्पूर्ण लक्षण<sup>२</sup> भी पूर्ण रूप से विद्यमान होते हैं। पूर्ण 'प्रेम'-लोक और वेद की मर्यादाओं से सर्वथा मुक्त परम स्वतंत्र होता है। भक्तों के उपास्य भगवान की भगवत्ता प्रेम के उपर्युक्त धर्मों के प्रकाशन में बाधक बनी रहती है और प्रेम के इन गुणों के प्रकाश में भगवान की भगवत्ता ही अप्रत्यक्ष हो जाती है जो कि एक भक्त को कभी भी अभिप्रेत नहीं होती। भगवान की भगवत्ता के प्रकाश में 'प्रेम' के उपर्युक्त धर्मों का भी प्रकाश नहीं हो पाता। इस प्रकार से भी भगवान 'प्रेम' किंवा 'रस' रूप में उपासित नहीं हो पाते।

#### ४.८.४.५.२.३. नारीत्व या पुंसत्वाभिमान के कारण :

लोक में अपनी रति ही अपने प्रिय और रति संबंध के योग से रस रूप में अनुभूत मानी जाती है। रस स्वरूप भगवान भी रति पूरित हृदय में रस रूप में अनुभूत हो सकते हैं। उन्हें रस रूप में अनुभव करने के लिए काव्य रस की विधा आवश्यक नहीं प्रत्युत विरोधी सिद्ध होती है, किन्तु यह रति दोनों ओर से लोक की भाँति विशुद्ध माधुर्य पर ही आधारित होनी चाहिए। ईश भावना मूलक या मिश्रित नहीं होनी चाहिए। यह रति भगवद् भक्तों के हृदय में भी विद्यमान रहती हैं, किन्तु अपने प्रिय [रस के आलंबन] में ईश भावना रखने के कारण उसकी साधारण रति संज्ञा न होकर भक्ति संज्ञा हो जाती है, जो कि भक्त और भगवान के बीच लोक का वह निकटतम मधुर सम्बन्ध स्थापित करने में बाधक बनी रहती है।

यह साधारण रति तो वास्तव में किन्हीं दो सजातीय और समान धर्मा में ही उदय होती है। यह सकाम व सकारण होने पर नश्वर तथा निष्काम और अकारण होने पर शाश्वत बनी रहती है। यह 'रति' लघुता और महत्ता से जितनी दूर होती जायेगी, वह अपने साधारण रूप के उतने ही अधिक निकट पहुँचती जायेगी। रति का साधारण रूप के निकट पहुँचने का अर्थ ही है प्रेमी और प्रेमपात्र का निकटतम होना। यह प्रेमी और

१. प्रेम के धर्म-अनन्यता, सहज दैन्य और तत्सुखसुखित्व।

२. प्रेम के लक्षण-नित्य नूतनता, प्रतिक्षण बार्धक्य, आधीनता, उज्ज्वलता, चाह, घटपटी आदि।

— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.



प्रेमपात्र जितने अधिक निकट पहुँचते जायेंगे, 'रस' भी उतना ही अधिक परिष्कृत और परिपक्व होता जायेगा। इसकी अन्तिम परिणति [अन्तरशून्य स्थिति] का नाम ही रस का चरम परिपाक और सहज हो जाना है<sup>१</sup>।

भक्तों की रति उनके स्वभावानुसार शान्त रस की शान्ता रति और मधुर रस की कान्ता रति आदि होती है। रति में स्वभाव का मिश्रण हो जाने के कारण वह मानवीय प्रकृति से उन्मुक्त नहीं हो पाती। भावक के हृदय में भावानुसार पुंसत्व किंवा नारीत्व का अभिमान बना रहता है। जो कि उनकी रति को नित्य चैतन्य बनाये रखता है। इस प्रकार से वह रति साधारण रति का रूप का प्राप्त न करके नारी किंवा पुरुष की अपनी रति बनी रहती है, जो कि भक्त को तदाकार भिन्न स्थिति तक नहीं पहुँचने देती।

कोई भी भाव स्वरूपतः नारी किंवा पुरुष के भाव न होकर वे शुद्ध और स्वतंत्र ही होते हैं। अर्थात् वे नारी किंवा पुरुष के हृदय में एक ही रूप से विद्यमान रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति में उद्बुद्ध होकर आनंद और रस रूप में अनुभूत होते हैं। किन्तु जब इन भावों में नारीत्व किंवा पुंसत्वाभिमान की छाया पड़ती है तभी वे दास्य, सख्य और कान्त [मधुर] भाव के रूप में परिणत हो जाते हैं। अर्थात् पुंसत्व और नारीत्व का अभिमान ही साधारण रति की विविध परिणतियों का मूल कारण है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि यह साधारण रति के द्वारा अनुभूत होने वाले 'रस' का आवरण है। ब्रज गोपियों का भावानुगमन [अपने में गोपियों का अभिमान] करने वाले भक्तों में नारीत्व का और श्रीकृष्ण सखाओं तथा श्री हनुमानादि आश्रयों का भावानुगमन करने वाले भक्तों में पुंसत्व का अभिमान बना रहता है। तभी उनकी रति, दास्य रति किंवा कान्ता रति के रूप में प्रकाशित होती है। इन रतियों के द्वारा भगवान को तो प्रत्यक्ष किया जा सकता है किन्तु 'प्रेम' किंवा 'रस' को नहीं। प्रेम किंवा रस को प्रत्यक्ष करने के लिए पुंसत्व और नारीत्व इन दोनों भावों का सर्वथा निरस्त होना अनिवार्य है<sup>२</sup>। निष्कर्ष यह कि प्रत्येक भक्त के हृदय में नारीत्व किंवा पुंसत्व का अभिमान प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहने के कारण उनकी 'रति' अपने साधारण रूप को ग्रहण नहीं कर पाती जो कि भगवान के पूर्ण रस रूप के प्रत्यक्षीकरण के लिए अनिवार्य है।

१. रस की अवधि इहाँ लौं माई। विवि तन मन एकै है जाई॥

— ब्या. ली., रति मंजरी लीला, हि. धु. दा., छं. सं. ५२

२. बनिता-पुरुष भाव मिटि जाय। सेवै ललितादिक के भाय॥

— वृ. म. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. १९



### ४.८.४.५.२.४. भक्त और भगवान के मध्य द्वैत भाव के कारण :

‘रस’ शब्द के दो अर्थ होते हैं-रस्यते [आस्वादते] एवं रसयति [आस्वादयति] इति रसः। जो आस्वादन किया जाता है वह रस है और जो आस्वादन करता है वह रस है। आस्वाद वैचित्री तथा आस्वादन वैचित्री जिसमें एक साथ चमत्कृत हों वहीं वस्तुतः पूर्ण ‘रस’ है। इस अर्थ को देखते हुए रस स्वरूप की पूर्णता रसिक स्वरूप की भी अपेक्षा रखती है।

ब्रजभाषा के श्रीकृष्ण-भक्ति काव्य में भगवान श्रीकृष्ण को ‘रसिक’ और ‘रसिक शिरोमणि’ नाम से स्मरण किया जाता है किन्तु भगवान किस प्रकार से रस का आस्वादन करते हैं, भक्ति के सम्पूर्ण साहित्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता। काव्य रस की विधा से वे आलंबन मात्र ही बने रहते हैं; क्योंकि काव्य रस अनुकार्य निष्ठ न होकर सामाजिक निष्ठ होता है। भक्ति रस का स्थाई भाव श्रीराम रति या कृष्ण चरण रति संज्ञक भगवद् भक्ति है, जिसकी स्थिति रस के आलंबन स्वरूप भगवान के हृदय में सर्वथा असम्भव है। वह तो एकमात्र भक्त हृदय की ही वस्तु है। ‘रति’ किंवा ‘प्रेम’ ही आस्वादित होकर रस बनता है। इसके अभाव में रसास्वादन करने की कल्पना ही अस्वाभाविक है।

भगवान रस स्वरूप हैं और रसिकता उनकी स्वरूपगत वस्तु है, उनकी रसिक रूपता को प्रमाणित करने के लिए किसी विधा विशेष की आवश्यकता नहीं है— ऐसा कहा जा सकता है; किन्तु यहाँ पर आलोच्य यह नहीं है। यहाँ पर प्रश्न यह नहीं है कि भगवान रस स्वरूप किस प्रकार से हैं ? प्रश्न तो यह है कि वे भक्ति काव्य में रसिक रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं या नहीं ?

यह तो एक सर्वमान्य और अकाट्य सिद्धान्त है कि रस का आविर्भाव सत्त्व की प्रधानता में होता है। वह स्वाकारवद भिन्न तथा अखण्ड होता है। अर्थात् उसमें खण्ड चेतना नहीं होती। इसे ही रसिकों ने अपनी भाषा में इस प्रकार स्वीकार किया है कि - जब जीव [अंश] और प्रभु [अंशी]—ये दोनों मिलकर एक हो जायँ। अपना-अपना नाम और अपना-अपना रूप सभी खो बैठें। अर्थात् जीव को अपना जीवत्व और भगवान को अपनी भगवत्ता का पूर्ण विस्मरण हो जाय। जैसे-मिश्री और जल दोनों मिलकर शर्बत बन जाते हैं [न मिश्री, मिश्री रह जाती है और न जल, जल रह जाता है] तभी उन्हें पूर्ण रूप में रस और रसिक कहा जा सकता है—

जीवऽरु प्रभु ऐसे मिलें जैसे मिश्री-तोव।

रस अरु रसिक तबै भलें नाम-रूप सब खोय<sup>१</sup>।।

किन्तु भगवदोपासना में जीव और ईश दोनों ही अपने नाम रूप और गुण का परित्याग नहीं करते। भक्त अपनी स्वरूप मर्यादा से और भगवान अपनी स्वरूप मर्यादा से उन्मुक्त नहीं होना चाहते।

भक्त; भगवान में सम्पूर्ण ऐश्वर्य और सम्पूर्ण सौन्दर्य देखकर उनसे प्रेम करता है, साथ ही आत्म कल्याण आदि की भावना से उनकी भक्ति करता है। इसीलिए उसमें कामनाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश बने रहते हैं। जिनकी पूर्ति होने पर कभी-कभी उसमें गर्व का उदय भी देखा जाता है। महारास में ब्रजगोपियों जैसी आदर्श भक्तों के हृदय में गर्वोदय का होना ही हमारी धारणा का सशक्त आधार है।

भक्त; सदा भगवान का कृपाभिलाषी बना रहता है। वह अपने में अभावों और भगवान में पूर्णता तथा दातृत्व की भावना रखता है। भगवान के हृदय में अपनी यथार्थ पूर्णता, भगवत्ता और भक्त के अभावों का ज्ञान बना रहता है। वे अपनी अहेतुकी कृपा द्वारा भक्त का पालन-पोषण किया करते हैं। भगवान तो भक्त बन भी जाते हैं किन्तु भक्त न तो कभी भगवान बनने की इच्छा ही करता है और न बन ही सकता है। ऐसी अनेकों असमानताएं हैं जो कि भक्त को भक्त और भगवान को भगवान ही बनाये रखती हैं। वे दोनों कभी भी समान धर्मा और सजातीय होकर प्रेम स्वरूप नहीं बन पाते। "भगवान अंशी हैं और जीव अंश है" भक्ति का यह द्वैत सिद्धान्त ही इस असमानता पर आधारित है।

भगवान की ऐश्वर्य लीलाओं में उनके प्रेमस्वरूप की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती किन्तु मधुर लीलाओं में भी उनकी भगवत्ता उनके प्रेम स्वरूप और रसिक स्वरूप के प्रकाशन में बाधक बनी दिखाई देती है। श्रीकृष्ण की सख्य, वत्सल और शृंगार लीलाओं में भी असुरवध, काली-दमन, गिरिराजधरण, माता यशोदा को अपने मुख में तीनों लोकों के दर्शन कराना, महारास में अनेक रूप धारण करना, अन्तर्धान होना और पुनः प्रकट होना; आदि-आदि कार्य उनकी भगवत्ता के ही प्रकाश हैं जो कि उनके प्रेम स्वरूप के प्रकाश में बाधक सिद्ध हुए हैं।

श्री हिताचार्य के परवर्ती सूरदास एवं नन्ददास जैसे भक्तों ने कई ऐसी मधुर लीलाओं की उद्भावना की हैं जिनमें भगवान को प्रेमी या रसिक रूप में अभिव्यक्त किया



गया है; किन्तु इन लीलाओं में भी श्रीराधा और श्रीकृष्ण के द्वारा एक दूसरे के तात्त्विक स्वरूप के कथन से उनके प्रेमी और रसिक स्वरूप पर एक पृथुल आवरण आ गया है।

सच बात तो यह है कि भक्त स्वयं ही भगवान की उन्हीं मधुर लीलाओं को देखना चाहता है जिनमें भगवान की भगवत्ता भी प्रकाशित हो। इसके अभाव में तो उसे लोक लीला का व्यामोह होने का डर बना रहता है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि भक्त और भगवान के मध्य में स्थापित सम्बन्ध—भक्ति में, उनकी ऐश्वर्य लीला में तथा मधुर लीला में भी उनकी भगवत्ता का प्रत्यक्ष प्रकाश है जो कि उनके प्रेम स्वरूप, प्रेमी स्वरूप और रसिक रूप के प्रकाश में आवरण बनी हुई है।

परमतत्त्व के रस रूप के प्रत्यक्ष होने में आने वाली उपर्युक्त बाधाओं पर सबसे प्रथम दृष्टि श्री हिताचार्य की पड़ी। अतः उन्होंने भगवान के उद्भावक, भगवान को भी अपने वश में रखकर अपने संकेतों पर चलाने वाले, लोक तथा वेद की मर्यादा से विमुक्त और निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक् 'प्रेम' किंवा 'रस' को ही परमाराध्य और परम साध्य स्वीकार किया। इस प्रकार से उन्होंने आद्य और पूर्ण रस की अभिनव उपासना का आविर्भाव किया जो कि उपासना जगत में 'रसोपासना' किंवा 'वृन्दावन रसोपासना' नाम से अभिसंज्ञात हुई।

१. [क] ब्रजहि बसि आपुनपौ बिसरायौ।

प्रकृति पुरुष एकहि करि जानौ या तन भेद करायौ।  
जल-थल जहाँ रहौ तुम बिनु नहिं वेद उपनिषद गायौ।  
द्वै तन जीव एक हम दोऊ सुख कारन उपजायौ।  
ब्रह्म रूप दुतिया नहिं कोऊ तव मन तिया जनायौ।  
सूर श्याम मुख देखि अलप हैसि आनँद पुंज बढ़ायौ।।

— सू. सा., सू. दा., प. सं. २३०६

[ख] सुनहु श्याम मेरी इक विनती।

तुम हरता तुम करता प्रभु जू मातु-पिता कौन गिनती।  
गजवर भेंटि चढ़ावत रासम प्रभुता भेटि करत दिनती।  
अब ली करी लोक मरजादा मानौ थोरे ही दिनती।  
बहुरि-बहुरि ब्रज जनम लेत हौ यह लीला जानी किनती।  
सूर श्याम चरनन ते मोकौं राखत रहे कहा भिनती।।

— सू. सा., सू. दा., प. सं. २३०७

## पंचम अध्याय

### ५. रसोपासना का सर्वाङ्गीण परिचय

‘उपासना’- उपास्य, उपासक, उपासना विधा, सहायक तत्व और बाधक तत्व, इन पाँचों अंगों को लेकर पूर्ण होती है। इन पाँचों अंगों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने पर ही कोई भी उपासना पूर्ण रूपेण हृदयंगम की जा सकती है, अन्यथा नहीं। उपासना के इन पाँचों अंगों में उपास्य तत्व सभी दृष्टियों से प्राण स्थानीय होता है; क्योंकि उपासना विधा तथा उपासक आदि अन्य चारों अंग उपास्य रूप पर ही पूर्ण रूप से आधारित होते हैं। ये चारों अंग उपास्य की स्पन्दन गति से ही स्पन्दित तथा उसकी रूप रश्मियों से ही विनिर्मित होते हैं। अतः हम सर्वप्रथम रसोपासना के उपास्य स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।



## ५.१. उपास्य :

साधारणतया ऐसा लिखने और कहने की बहु प्रचलित प्रथा है कि वह भक्त भगवान राम का उपासक है और वह भक्त श्रीकृष्ण का आराधक है; किन्तु जब एक कृष्णोपासक भक्त से यह कहा जाता है कि क्या आप उन्हीं भगवान श्री कृष्ण के उपासक हैं जो द्वारिकानाथ हैं और जिन्होंने भीष्मपितामह के वध के लिये चक्राकृत रथ का पहिया लेकर अर्जुन की रक्षा की थी ? तब वह भक्त कह उठता है कि नहीं-नहीं, मैं तो उन श्री कृष्ण का उपासक हूँ जिन्होंने ब्रजरानी यशोदा के प्राङ्गण में माँ यशोदा की गोद में बाल क्रीड़ा की थी। इसी प्रकार जब किसी अन्य कृष्णोपासक से यह कहा जाता है कि क्या आप बालकृष्ण भगवान के उपासक हैं ? तब वह अपने इष्ट के स्वरूपोन्माद में झूमता जैसा कह उठता है— नहीं नहीं, मेरे परमाराध्य तो वे श्री कृष्ण हैं जो ब्रज की कुंज-निकुंजों में कलिन्दजा के कलित कछारों में गोप-किशोरियों के साथ प्रेम की रंगीन केलियाँ किया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से बहुत अधिक स्पष्ट है कि 'उपास्य' का परिचय केवल नाम—कथन मात्र से ही प्राप्त नहीं होता, उसका सर्वाङ्गीण परिचय तो उसके— लीला, रूप, नाम, धाम, और परिकर इन पाँचों अंगों पर निर्भर है। इन पाँचों अंगों में 'लीला' प्रधान अंग है क्योंकि लीला से ही रूप की निष्पत्ति होती है। रूप का ही नामकरण होता है तथा धाम और परिकर लीला के पूरक हैं।

### ५.१.१. लीला :

प्रेमोपासना के क्षेत्र में यह लीला—क्रीड़ा, [ विनोद या विहार ] अपने स्वरूपगत महत्व के कारण सर्वोच्च प्रतिष्ठित दिखाई देती है। हम देखते हैं कि किसी अपरिचित प्रेमी—प्रेमपात्र के अन्तराल में विराजमान प्रेम का स्वरूप परिचय उन दोनों की लीला क्रीड़ाओं—विविध विनोदों अंग चेष्टाओं, वाक् विलासों, व्यवहार और व्यापार से ही प्राप्त होता है। उन दोनों के क्रिया कलापों से ही हमें यह ज्ञात होता है कि इन दोनों में 'वात्सल्य प्रेम' है; या भाई-बहिन का प्रेम है; कान्त-कान्ता या प्रणयी-प्रणयिनी का प्रेम है। इस लोकानुभूति के प्रत्यक्ष आधार पर ही प्रेम देशीय यह प्रेम विधान सर्वमान्य है कि लीला से ही रूप की निष्पत्ति होती है।

रसोपासना के वाणी साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्रेमापासक रसिकों ने प्रेम स्वरूप श्यामाश्याम की प्रेम लीला, प्रेम क्रीड़ा, प्रेम केलि और प्रेम विहार को रसिक युगल की भाँति ही परम प्रिय परमेश्वर के रूप में लाड़ लड़ाया है और सदा

सनातन उसे बने रहने का शुभाशीर्वाद भी दिया है।

लीला से ही नाम-रूपादि अंग स्पन्दित होते हैं। कहना अत्युक्ति न होगा कि 'लीला' उपास्य के पाँचों अंगों में प्राण स्थानीय है। अतः हम उपास्य के सर्वाङ्गीण परिचय का शुभारम्भ उसके लीलाङ्ग परिचय से ही कर रहे हैं।

### ५.१.१.१. शाब्दिक अर्थ :

'लीला' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है— 'लय करना' जो लय को प्राप्त करा दे; लीन करले या लीन करा दे। यह अर्थ शास्त्रीय है अतः इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है किन्तु इस अर्थ में अति व्याप्ति है। इस अति व्याप्ति के कारण विवेच्य लीला शब्द का अर्थ पूर्ण रूपेण निरावृत नहीं हो पाता, अनुसन्धेय ही बना रहता है। अतः लीला शब्द का भक्ति के क्षेत्र में तथा रसोपासना के क्षेत्र में क्या अर्थ है? इसका स्वतंत्र रूप में अनुसन्धान करना समुचित ही है।

सर्व साधारण मानव समाज में लीला शब्द का अर्थ खेल, विनोद, विहार, विलास, क्रीड़ा, केलि तथा चरित्र आदि-आदि लिये जाने का प्रचलन देखा जाता है। विद्वद् समाज में लीला शब्द का अर्थ कोई विचित्र कार्य तथा भगवद् अवतारों के चरित्र कहकर भी प्रगट किया जाता है। साहित्यिक जगत में नायिका के एक हाव विशेष की भी लीला संज्ञा दी जाती है<sup>१</sup>।

भक्त जगत में भी लीला शब्द को क्रीड़ा शब्द का पर्यायवाची शब्द स्वीकार करते हुए उसे खेल अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है किन्तु भगवान् की क्रीड़ा, भगवान् के चरित्र और भगवान् के विनोद होने के कारण ये सबके सब प्रायः लीला नाम से ही संरूढ हैं। श्री शुकदेव जी ने भगवान् श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओं को क्रीड़ा और खेल संज्ञा दी है,

१. [क] जै श्री हित हरिवंश करौ दिन दोऊ अचल विहार।

— हि. चौ. प. सं. ५७

[ख] महा सुख कौ ध्रुव सार बिहार है श्री हरिवंश जु केलि लड़ाई।

— ब्या. ली., रस हीरावली लीला, हि. ध्रु.दा., छं. सं. १३५

[ग] दुलरावत सहचरिसुख कुंज महल की केलि।.....

सुखसखी देत असीस अचल विहार कुंज कुटीर।

— पदा., स. सु., प. सं. १५, ४०

[घ] नित्य बिहार सौं करि प्रीति।

— हि. रू. वा., गो. रू. ला. जी, प. सं. २०

२. पिय की तिय तिय की प्रिया लीला बदलत भाव। विरह मगन संयोग सुख है सो लीला हाव।।

— र. नि., स. सु., प्रा. ह. लि. प्र. छं. सं. ३२



साथ ही कहीं पर चरित्र, कहीं विनोद और कहीं लीला शब्द का भी प्रयोग किया है।

### ५.१.१.२. लीला और चरित्र :

सामान्यतः चरित्र शब्द को भी लीला अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। जैसे भगवल्लीला—भगवच्चरित्र, रामलीला—रामचरित्र, कृष्ण लीला—कृष्ण चरित्र। किन्तु 'लीला' और 'चरित्र' में स्वरूपतः बहुत बड़ा अन्तर भी है।

'चरित्र' सहेतुक और सोद्देश्य होता है। वह सत्चरित्र—असत् चरित्र, साधारण चरित्र—असाधारण चरित्र तथा आदर्श चरित्र के रूप में भी विख्यात है। किन्तु लीला, खेल किंवा क्रीड़ा सर्वथा निर्हेतुक और निरुद्देश्य होती है।

'लीला' लीला के लिए—'खेल' खेल के लिए ही होता है। जैसे—आँख मिचौनी तथा गेंद क्रीड़ा आदि।

### ५.१.१.३. लीला और नित्यविहार :

सुधीजन तथा भक्त समाज में किसी विस्मय जनक घटना, अभूतपूर्व घटना और आकस्मिक-असम्भव घटना को भगवान की लीला कहा जाता है; किन्तु 'प्रेम' की लीला किंवा क्रीड़ा कोई एक कालीन आकस्मिक व सोद्देश्य घटना न होकर नित्य निरन्तर चलने वाली सहज व स्वाभाविक लीला होती है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने परात्पर तत्त्व 'प्रेम' की इस नित्य लीला को अचल विहार-'नित्य विहार'-कहकर प्रकीर्तित किया है।

#### १. लीला शब्द का प्रयोग

हेमेस भगवांस्तानिरात्माशमोऽपि लीलया

— श्री मद भा., १०/३३/२

यद्यङ्गना दर्शनीय कुमार लीला, वन्तैवजै तदवलाप गृहीत पुच्छैः।

— श्री मद भा. १०/८/२४

लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिका

— श्री मद भा., १०/३०/१४

क्रीड़ा शब्द का प्रयोग-

क्रीड़ा परावतिचलौ स्वसुतौ निषदधुम्। सहरामो ब्रज स्त्रीणां चि क्रीडे जनयनमुदं।

— श्री मद भा., १०/८/२७

तत्रारमत गोविन्दो रास क्रीड़ा मनुव्रतै।

— श्री मद भा., १०/३३/२

भजतो तादृशी क्रीड़ा या श्रुत्वा तत्परोमवेत्

— श्री मद भा., १०/३३/३७

चरित शब्द का प्रयोग-

प्रत्यर्घ्य कृष्ण चरितं कलि कल्मषघ्नं।

— श्री मद भा., १०/१/१४

#### २. जै श्री हित हरिवंश करहु दिन दोऊ अचल विहार।

— हि. चौ., प. सं. ५७

सर्व साधारण मानव समाज में 'बिहार' शब्द केवल मानवीय काम क्रीड़ा अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, किन्तु सुधीजन समाद्रित काव्यशास्त्रों एवं भक्ति ग्रन्थों में 'बिहार' शब्द का अर्थ क्रीड़ा, लीला, केलि, खेल और विनोद आदि अर्थों में भी सम्प्रयुक्त मिलता है। किन्तु यहाँ विचार विमर्श का विषय 'बिहार' नहीं अपितु 'नित्यबिहार' है।

'नित्यबिहार' शब्द विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से पूर्व न तो किसी काव्य ग्रन्थ में ही मिलता है और न किसी भक्ति ग्रन्थ में ही। इसी शताब्दी में आविर्भूत गो. हित हरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना के रस साहित्य में यह 'नित्यबिहार' शब्द अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ लोक प्रत्यक्ष हुआ है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि श्री हिताचार्य से पूर्व के भक्ति साहित्य में यह 'नित्यबिहार' शब्द क्यों नहीं मिलता; जबकि 'नित्यबिहार' शब्द का अर्थ होता है-परात्पर नित्य तत्त्व का बिहार; और भगवान नित्य हैं ? प्रश्न समीचीन है और इस प्रश्न का उत्तर भी भक्ति शास्त्रानुमोदित तथा भक्त मात्र के लिये निरापद है; और वह यह कि 'नित्यबिहार' का अर्थ नित्य तत्त्व का बिहार तो है ही साथ ही उसका दूसरा अर्थ नित्य तत्त्व का नित्य निरन्तर चलने वाला बिहार भी है। इस प्रकार का निरन्तर बिहार उसी के द्वारा सम्भव है—जो सर्वतन्त्र स्वतंत्र हो। जिसे इस बिहार के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य प्रिय न हों। सृष्टि करने, पालन करने, संहार करने, भक्तों की रक्षा करने, धर्म की रक्षा करने जैसे अन्य किसी कार्य करने का उत्तरदायित्व न हो। जो लोक-वेद की मर्यादा और देशकाल की मर्यादा से सर्वथा विमुक्त हो। जिसके न माता-पिता हों न बेटी-बेटा हों और न सखा ही हों।

सम्पूर्ण भक्त और सम्पूर्ण भक्ति शास्त्र मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि—भगवान प्रेम के वशीभूत हैं। भगवान सृष्टि-पालन और संहार करते हैं। भगवान धर्म की रक्षा करने के लिए अवतरित होते हैं और भक्तों की रक्षा भी करते हैं। भगवान को प्रेम लीला के साथ-साथ अन्य कार्य भी प्रिय हैं। यथा-सागर मन्थन, महाभारत, रावण, शिशुपाल, हिरण्य कश्यप, कंस आदि राक्षसों का वध। भगवान लोक-वेद की मर्यादा के पूर्ण रक्षक हैं। भगवान के माता-पिता हैं, बेटी-बेटा हैं, सखा हैं, तथा अनन्त प्रिया हैं। यही कारण है कि भगवान [ गोलोकाधिपति, बैकुण्ठाधिपति, शेषशायी, रघुवंशमणि तथा ब्रजाधिपति, द्वारिकाधीश आदि-आदि स्वरूप ] समय-समय पर धर्म की रक्षा तथा भक्तों की रक्षा के लिए धरा धाम पर प्रगट हुए और उन्हें गोपीजनों के संग बिहार करने के साथ-साथ यमलार्जुन उद्धार, गोवर्धन धारण, इन्द्र मान भंग, ब्रह्मा मोह निवारण, चीरहरण और असुर संहार जैसी अनेक लीलायें भी करनी पड़ी थीं। सारांश ये कि वे 'नित्यबिहार' नहीं करते। इसीलिए भक्ति साहित्य में 'नित्यबिहार' शब्द नहीं मिलता।



जैसा कि लिखा जा चुका है कि यह 'नित्यबिहार' शब्द गो. हित हरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना के रस साहित्य में ही अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रत्यक्ष हुआ है। ऐसा इसलिये कहा गया है क्योंकि इस प्रेमोपासना किंवा रसोपासना का परमोपास्य वह 'प्रेम' किंवा 'रस' है, जो कि-भगवान और भक्त को वश में करने वाला सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। लोक तथा वेद की मर्यादाओं से सर्वथा विमुक्त है। सृष्टि आदि वार्ता से दूर रहता है, नारदादि भक्तों का ध्यान नहीं रखता<sup>१</sup> जिसे 'नित्यबिहार' करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य प्रिय नहीं हैं जो अहर्निशि बिहार ही किया करता है<sup>२</sup>। जिसके न तो माता-पिता हैं न बेटा-बेटी ही। जो अकारण ही सहज प्रगट होता है।

श्री हिताचार्य मुखोक्त वाणियों के अनुसार यह नित्यविहारी 'प्रेम' अपने आधारभूत चतुरांग स्वरूप में सदैव प्रकटतर रहकर नित्यविहार परायण बना रहता है। नित्य विहार के आधारभूत चार अंग हैं-नित्यविहारी-प्रेम मूर्ति अद्वय युगल श्यामा-श्याम, नित्यविहार-स्थल-वृन्दावनधाम और नित्यविहार-परिकर-राधाकिंकरीगण। इन सबका विस्तृत स्वरूप परिचय प्रस्तुत प्रबंध में यथा स्थान दिया गया है। श्री हिताचार्य ने एक स्थल पर नित्य विहारी 'प्रेम' [ श्यामा-श्याम ] की समस्त अष्टयामी क्रीड़ा को अचल विहार- 'नित्यविहार' संज्ञा दी है और अष्टयामीचर्या वर्णन व्याज से नित्यविहार का रूप विधान जैसा बना दिया है। संभवत इसीलिए आचार्य चरण ने नित्यविहारी 'प्रेम' की प्रत्येक केलि और प्रत्येक खेल को 'विहार' संज्ञा ही प्रदान की है। कहीं पर शैया विहार को विहार<sup>३</sup>, कहीं पर वन भ्रमण को विहार<sup>४</sup>, कहीं पर रास केलि को विहार<sup>५</sup>, कहीं बसन्त विलास को विहार और कहीं

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २३५

२. क्षणं मधुर गानतः क्षणं मन्द हिन्दोलतः। क्षणं कुसुम वायुतः सुरतकेलि शिल्पे क्षणम्॥

अहो मधुरसद्र सप्रणय केलि वृन्दावने। विदग्ध वर नागरी रसिक शेखरौ खेलतः॥

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १६६

पूर्ण प्रेमामृत रस समुल्लास सौभाग्य सारं। कुञ्जे-कुञ्जे नव रति कला कौतुके नात्तकेलि॥

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १८६

[ तथैव-रा. सु. नि., श्लो. सं. २२०, २२१, २३४, २३५ ]

३. [क] मुखर नूपुरनि सुभाव किंकिनी विचित्र राव, विरमि-विरमि नाथ वदत वर विहार री।

— हि. चौ., प. सं. ७६

[ख] जै श्री हित हरिवंश आजु तृण दूटत हौं बलि विशद विहार।

— हि. चौ., प. सं. ३२

४. ....जै श्री हित हरिवंश जुगल करनी गज विहरत वन पिय-प्यारी।

— हि. चौ., प. सं. ४५

५. ....श्याम-सुन्दरी-विहार बाँसुरी मृदंग तार, मधुर घोष नूपुरादि किंकिणी चुरी।.....

— हि. चौ., प. सं. १०

पर फाग के विविध विनोदों को विहार कहा है<sup>१</sup>।

राधाकिकरीगण जिस रसासव का पान करके प्राणवान बनी रहती हैं; उस रसासव का पान वे नेत्र द्वारा ही किया करती हैं<sup>२</sup>। व्यंजना यह कि नेत्रों के द्वारा पेय वह 'रस' श्यामा-श्याम का नित्यविहार ही है। संभवतः इसीलिए श्री हिताचार्य ने उस रस को 'वन विहार रस' नाम से ही अभिसंज्ञात कर दिया है<sup>३</sup>। सारांशतः सहज लीलामय प्रेम की शाश्वत स्वाभाविक लीला ही नित्य विहार है। श्री हिताचार्य ने अपने अनुगतों को उसका निकट परिचय देते हुए कहा है कि प्रेम मूर्ति श्री राधामाधव का कोई अनिवर्चनीय सहज स्वाभाविक प्रेमोत्सव तुम सबकी रक्षा करे<sup>४</sup>। तात्पर्य यह कि युगलवर का नित्यविहार तुम सबके नयन गोचर होता रहे।

श्री हिताचार्य के शिष्य प्रशिष्यों ने भी आचार्य-कृपा द्वारा प्राप्त नित्यविहार का लाड़-प्यार और समुद्गान किया है। सेवक जी ने नित्यविहार के दर्शन से अपनी प्रेमोन्माद दशा का वर्णन करते हुए उसे श्री हरिवंश कृपा-प्रदत्त ही माना है—

निरखत नित्यविहार, पुलकित तन रोमावली।

आनंद नयन सुधार, यह जु कृपा हरिवंश की<sup>५</sup>।।

इसी प्रकार श्री हित चरणाश्रित प्रबोधानन्द जी सरस्वती ने भी स्वेष्ट 'प्रेम' को वृन्दावन धाम में नित्य विहार परायण लिखा है—

तत्त्वं नित्यविहार मन्दिर मिदं श्री राधिका कृष्णयो<sup>६</sup>।

नित्यं विहरतो दिव्य सखी मण्डल लालितौ<sup>७</sup>।

श्री मद वृन्दाटवी कुञ्जे-पुञ्जे नित्य विहारिणौ<sup>८</sup>।

#### ५.१.१.४. लीलाओं के प्रकार :

लीला दो प्रकार की होती हैं। ऐश्वर्य लीला और माधुर्य लीला। षटैश्वर्य पूर्ण स्वरूप को पूर्ण भगवान या ईश्वर एवं उनका प्रकाश [ प्रभाव—प्रताप ] ऐश्वर्य कहलाता है। जिन लीलाओं में भगवान की भगवत्ता या ऐश्वर्य का प्रकाश होता है वे लीलायें ऐश्वर्य लीलायें कहलाती हैं। जैसे—गिरिराज धरन, कालीमर्दन तथा रावण—कंसादि असुर वध लीलायें।

१२. हि. चौ., प. सं. ५७ और ७६

३. ....तेऊ ऊमगि तजति मरजादा वन विहार रस पियैं।.....

— स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०

४. ....नो किंचित्कृत मेव न नुतिर्नागो न वा सम्भ्रमा।

राधामाधव योः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातुवः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १०२

५. से. वा., कृपा-अकृपा प्रकरण, छं. सं. ५

६. से. वृ. म., प्र. सा., षष्ठम शतक-श्लो. सं. ५, सप्तम शतक-श्लो. सं. ८८, पंचम शतक-श्लोक सं. ४८



सम्पूर्ण ऐश्वर्य [ भगवत्ता ] को अपने आधीन और आत्मलीन करने में पूर्ण सक्षम 'प्रेम' के सुमधुर प्रकाश [ किरण समूह ] की माधुर्य संज्ञा है। जिन लीलाओं में विशुद्ध 'प्रेम' किंवा 'रस' का ही प्रकाश परिलक्षित होता है वे माधुर्य लीला कहलाती हैं और जिन लीलाओं में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों का दर्शन होता है वे ऐश्वर्य-माधुर्य मिश्रित लीलायें कहलाती हैं। जैसे—महारास, माटी खान आदि ब्रज की अवतार कालीन लीलायें।

रस की अनुभूति का आधार ऐश्वर्य नहीं, माधुर्य ही होता है। रस के सूक्ष्म विवेचक रसोपासकों ने इस माधुर्य का लक्षण बताते हुए लिखा है कि जहाँ पर ईश्वरता प्रकाशक किसी रूप या लीला का आभास न हो, केवल लोकवत् लीला हो, उसे ही माधुर्य स्वरूप या माधुर्य प्रकाश कहते हैं —

ईश्वरता के रूप कौ जहाँ न कोऊ भास।

केवल लीला लोकवत् सो माधुर्य प्रकाश<sup>१</sup>।

चाचा वृन्दावनदास जी ने इसी परिभाषा को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

ब्रह्म ज्ञान जो खोजिये रूप न रेखा अंग।

सुख ऐश्वर्य न पाइये जहँ डर तहँ चित भंग।

कृष्ण कथा माधुर्य बिनु नीरस जाती सृष्टि।

कहा रसिकजन गाँवते बिनु हरि लीला मिष्ट<sup>२</sup>।

विशुद्ध माधुर्य लीलाओं में ऐश्वर्य का किंचिदाभास भी नहीं होता। यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि इस माधुर्य में उसकी अतिशयिता के कारण सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसी प्रकार समाहित रहता है जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में गगन मण्डलस्थ चन्द्रमा और तारागण छिपे रहते हैं। यह एक प्रकृत विधान है कि प्रेम की किरण रूप-माधुर्य के प्रकाश में ऐश्वर्य छिप जाता है। जहाँ पर माधुर्य जितने अंश में प्रकाशित होगा वहाँ पर ऐश्वर्य उतने अंश में छिप ही जायगा<sup>३</sup>। यही कारण है कि 'प्रेम' के निज धाम वृन्दावन में पूर्ण माधुर्य का प्रकाश और ऐश्वर्य का पूर्ण अनाभास ही बना रहता है।

ये विशुद्धतम माधुर्य लीलायें भूतलस्थ वृन्दावन की कुंज निकुंजों में होती हैं। अतः ये 'निकुंज लीला' नाम से अभिसंज्ञात हैं और द्वापरान्त में अवतरित स्वरूप की महारास आदि ऐश्वर्य-माधुर्य मिश्रित और असुर वधादि विशुद्ध ऐश्वर्य की लीलायें 'ब्रज लीला' नाम से सुविख्यात हैं।

श्री हिताचार्य का परमोपास्य 'प्रेम' है। अतः प्रेम के लीला क्षेत्र में ऐश्वर्य लीलाओं

१. मा.प्र., हि.अ., प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ११, पृ. २

२. कृ. गि. पू. बे., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि.प्र., छं सं. ३२४, ३२५

३. इस तथ्य का विस्तृत विवरण चतुर्थ अध्याय में देखें।

का किंचिदाभास भी नहीं होता। प्रेम का पूर्ण परिपाक किशोरावस्था में ही होता है। नित्य नव दूलह और नित्य नव वधू रूप में ही होता है। यही कारण है कि उसके लीला क्षेत्र में किशोरावस्था के विपरीत न तो बाल, कौमार तथा पौगंड आदि कोई वय ही देखी जाती<sup>१</sup> और न किशोर वय विरोधी किसी अन्य वय की लीलायें ही देखी जातीं।

### ५.१.१.५. निकुंज लीला किंवा रस लीलायें :

अपने परमोपास्य के अनन्त प्रीति विलासों किंवा रस विनोदों को ही श्री हिताचार्य ने 'नित्यविहार' या 'अचल विहार'<sup>२</sup> की संज्ञा दी है, केलि, क्रीड़ा और लीला आदि कहकर प्रकीर्तित किया है। यहाँ पर एक विशेष बात कथनीय यह है कि साधारणतया 'लीला' शब्द का प्रयोग केलि, क्रीड़ा और खेल आदि अर्थ में ही किया है<sup>३</sup> किन्तु कुछ स्थलों पर इसका प्रयोग ऐसी विलक्षण विधा से किया है जिससे किसी ऐसे चमत्कार पूर्ण अर्थ—गूढार्थ विशेष की व्यंजना होती है जो कि शब्दों में प्रगट नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः —

सेयं लीला गति न विस्मर्यते राधिकायाः<sup>४</sup>।

लीला पांग तरंगितै रुद भवन्नेकैकशः कोरिशः<sup>५</sup>।

लीला खेलन चातुरी वरतनो तादृक वचश्चातुरी<sup>६</sup>।

नाना भंगिरनंगरंग विलसल्लीला तरंगावली<sup>७</sup>।

श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य की अष्टयामी लीला किंवा क्रीड़ा का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रेम मूर्ति श्यामा श्याम प्रातः काल उठकर वन विहार करने जाते हैं<sup>८</sup>।

१. [क] ....यन्नित्य कैशोरकं।

— रा.सु.नि., श्लो.७६

[ख] ऐश्वर्य परमञ्च वेत्ति मनाङ् नान्यञ्च कश्चिद्रसं।...कैशोरादपरं वयो न हि कदाप्योसादयन्न क्षणं।

—वृ.म.,प्र.स.,षष्ठम शतक, श्लो. सं. ६

२. हि. चौ., प. सं. ५७

३. [क] राधापादाब्ज लीला भुवि जयति सदा मन्द मन्दार कोटिः।

— रा.सु. नि., श्लो. १४३

[ख] प्रेयोंके रति कौतुकानि कुरुते कन्दर्प लीला निधिः

— रा.सु. नि., श्लो. २४३

[ग] वन की लीला लालहि भावै....।

— हि. चौ.,प.सं. ४७

४. से ७. रा. सु. नि., श्लो. सं., क्रमशः ८४, ७१, ६३, २२६

८. आज अति राजत दम्पति भोर। सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवल किशोर।।

पग डगमगत चलत वन बिहरत रुचिर कुंज घन खोर। जै श्री हित हरिवंश.....।।

— हि. चौ., प. सं. ३१, एवमपि—प. सं. ३३.३४



इस वन भ्रमण काल में वे कभी रास क्रीड़ा<sup>१</sup> कभी गेंद क्रीड़ा<sup>२</sup> कभी सुरत क्रीड़ा<sup>३</sup> और कभी जल क्रीड़ा<sup>४</sup> करते हैं। कहीं पर मधुऋतु की बासन्ती क्रीड़ा<sup>५</sup> कहीं पर फाग<sup>६</sup> हिण्डोल<sup>७</sup> और कहीं पर पावस ऋतु के झूला<sup>८</sup> जैसे विनोद किया करते हैं। वे कभी रविजा की रम्य पुलिन स्थली में मयूर-मयूरी हंस-हंसिनी आदि पक्षियों का और कहीं लतालिंगित विटपों का

१. प्रातः-रास -

रसिक रास जहँ खेलत श्यामा श्यामा किशोर। उभय बाहु परिरंजित उठे उनींदे भोर।।

— हि. चौ., प. सं. ५७

मध्याह्न-रास -

आजु वन नीकौ रास बनायौ।..... जुवतिन मण्डल मध्य श्याम घन सारँग राग जमायौ।

— हि. चौ., प. सं. ३६

रजनी-रास -

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान, रास रच्यौ श्याम तट कलिंद नन्दिनी।

जाती ईषद विकास कानन अतिशय सुवास, राका निशि शरद मास विमल चन्दिनी।।

— हि. चौ., प. सं. १२, एवमपि—हि. चौ., प. सं. १६, २४, २६, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६८, ६९, ७१, ७८, ७९,

२. अन्योन्यक्षेपण निचन प्राप्त संगोपनाद्यैः। क्रीड़ाज्जीयाद्रसिक मिथुनं क्लृप्त केली कदम्बम्।।

— रा. सु. नि., श्लो. १०७

३. वन की कुंजनि-कुंजनि डोलनि। प्रातकाल रजनी सब जागे सूचत सुख दृग लोलनि।।

रति विपरित चुंबन परिरम्भन चिवुक चारु टकटोलनि। कबहुँ श्रमित किशलय सज्जा पर मुख.....।।

— हि. चौ., प. सं. ३७

४. जल क्रीड़ा वेशादगलितमतुलं प्रेम रसदम्। इयं सा कालिन्दी विकसित नवेन्दीवर रुचि..।।

— रा. सु. नि., श्लो. २६३

५. मधुरितु वृन्दावन आनंद न थोर। राजत नागरी नव कुशल किशोर।।

मृगमद मलयज कुमकुम अबीर। वन्दन अगरसत सुरंगित चीर।।

गावत सुन्दरि हरि सरस घमारि। पुलकित खग मृग बहत न वारि।।

— हि. चौ., प. सं. २७

६. दोऊ मिलि चौंचरि गावत गौरी राग अलाप। मानस मृग बल बेघत भृकुटि धुनष दृग चाप।।

दोऊ कर तारिनु पटकत लटकत इत उत जात। हो हो होरी बोलत अति आनंद कुलकात।।

रसिकलाल पर मेलत कामिनि वंदन धूरि। पिय पिचकारिनु छिरकत तकि-तकि कुमकुम पूरि।।

— हि. चौ., प. सं. ५७

७. कबहुँ-कबहुँ चंदन तरु निर्मित तरल हिंडोल। चढ़ि दोऊजन झूलत फूलत करत कलोल।।

वर हिंडोर झकोरनि कामिनि अधिक डरात। पुलकि-पुलकि वेपथ अँग प्रीतम उर लपटात।।

— हि. चौ. प. सं. ५७

८. झूलत दोऊ नवल किशोर। रजनी जनित रंग सुख सूचत अंग-अंग उठि भोर।।

— हि. चौ., प. सं. ३५

अनुकरण करके प्रसन्न होते हैं<sup>१</sup>। इसी प्रकार किसी निविड़ निकुंज में किसी भी समय स्वानंग रंगोत्सव<sup>२</sup> या प्रेमोत्सव<sup>३</sup> संज्ञक शैया विहार<sup>४</sup> किया करते हैं तो कहीं रस दान लीला का अद्भुतानंद लिया करते हैं।

### ५.१.१.६. रस दान लीला और ब्रज-दान लीला का पार्थक्य :

श्री हिताचार्य के उपास्य दान क्रीड़ा का आनन्द तो लेते हैं किन्तु उस रस संपत्ति की दान क्रीड़ा का आनंद लेते हैं जो कि रसाकृति नवल किशोरी के प्रत्यंग में नित्य वर्तमान रहती है<sup>५</sup>। उनके रसिक प्रीतम उस प्रकार की दान क्रीड़ा नहीं करते जो कि अवतार काल

१. चलल्लीला गत्या क्वचिदनु चलद्वंश मिथुनम्। क्वचित्केकिन्यग्रे कृत नटन चन्द्रक्यनुकृति॥  
लताशिलष्टं शाखि प्रवरमनु कुर्यत क्वचिदहो। विदग्ध द्वन्द्वं तद्रमत इह वृन्दावन भुवि॥

— रा. सु. नि., श्लो. २१६

२. वृन्दारण्य निकुंज सीमसु सदा स्वानंग रंगोत्सवैर्मत्यदमुत माधवाधर सुधा माध्वीक संस्वादनैः॥

— रा.सु.नि., श्लो. १२८

३. सा लावण्य चमत्कृतिर्नववयो रूपं च तन्मोहनं। तत्तत्केलि कला विलास लहरी चातुर्यमाश्चर्य भूः॥  
नो किंचित्कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो न वा सन्ममो। राधा माधवयोः स कोपि सहजः प्रेमोत्सवः पातुवः॥

— रा.सु.नि., श्लो. १०२

#### ४. [क] रात्रि कालीन शैया विहार —

आजु वन क्रीडत श्यामा-श्यामा। सुमग बनी निशि शरद चौंदनी रुचिर कुंज अभिराम॥  
खण्डन अधर करत परिरंभन ऐंचत जघन दुकूल। उर नख पात तिरीछी चितवनि दम्पति रस समूल॥  
वे भुज पीन पयोधर परसत वाम दृशा पिय हार। वसननि पीक अलक आकर्षत समर श्रमित सत मार॥  
पल-पल प्रबल चौप रस लम्पट अति सुन्दर सुकुमार। हित हरिवंश आजु तून दूटत हौं बलि विशद विहार॥

— हि.चौ., प. सं. ३२

#### [ख] प्रातः कालीन वन विहार में शैया विहार —

वन की कुंजनि-कुंजनि डोलनि। निकसत निपट साँकरी वीथिनु परसत नाहिं निचोलनि॥  
प्रातकाल रजनी सब जागे सूघत सुख दृग लोलनि। रति विपरित चुम्बन परिरंभन ध्रुवुक चारु टकटोलनि॥  
कबहुँ श्रमित किशलय सज्जा पर मुख अंचल झकझोलनि। दिन हरिवंश दासि हिय सींचत.....॥

— हि. चौ., प. सं. ३४

#### [ग] मध्याह्न कालीन शैया विहार -

विहरत दोऊ प्रीतम कुंज। अनुपम गौर श्याम तन शोभा वन वरषत सुख पुंज॥  
अद्भुत खेत महा मनमथ कौ दुन्दुभि भूषन राव।।.....  
लालन मिस आतुर पिय परसत उरु नाभि उरजात। अद्भुत छटा विलोकि अवनि पर विथकित वेपथ गात॥  
हित हरिवंश भुजनि आकर्षै लै राखे उर मौझ। मिथुन मिलत जु कधुक सुख उपज्यौ त्रुटि लव भिव भई सौझ॥

— हि. चौ., प. सं. ६६

५. दान दै री नवल किशोरी। माँगत लाल लाड़िलौ नागर प्रगट भई दिन-दिन की चोरी॥  
नव नारंग कनक हीरावलि विद्रुम सरस जलज मषि गोरी। पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कदलि खंजन की जेरी॥  
तोपै सकल सैज दामनि की कत सतरात कुटिल दृग भोरी। नुर रव किंकिनी पिसुन घर हित हरिवंश कहत नहिं बोरी॥

— हि. चौ., प. सं. ५१



में हुई थी; जिस दान क्रीड़ा में ब्रज गोपों की बहू बेटियाँ श्री राधा के साथ रात विरात दूध दही बेचने जाती थीं। तब श्रीकृष्ण उनसे दान लेने का उपक्रम करते हुए कहते थे कि अरे सखाओ ! इन्होंने हमारा दान मार लिया है। तुम इन्हें इस प्रकार से घेरो कि ये जाने न पायें और गोपियाँ हरि की इस बुरी प्रकृति की 'छिया-छिया' [ छि: -छि: ] कहकर भर्त्सना किया करती थीं<sup>१</sup>।

### ५.१.१.७. नित्य रासलीला एवं अवतार कालीन रासलीला का पार्थक्य:

उपर्युक्त वर्णित अष्टयामी लीलाओं में रासलीला श्यामा-श्याम को सर्वाधिक प्रिय लीला ज्ञात होती है। सम्भवतः इसीलिए रसिकशेखर श्यामसुन्दर सभी समय नटवर वेष और वंशी विभूषित बने रहते हैं और इसीलिए प्रत्येक ऋतु में प्रातः मध्याह्न, सन्ध्या और मध्य रात्रि सभी समय रास क्रीड़ा करते दिखाई देते हैं। यह रासलीला एक ऐसी लीला है जो कि नित्य वृन्दावन की कुंज निकुंजों में नित्य ही श्यामा-श्याम और सखियों की स्वेच्छानुसार किसी भी समय में होती रहती है। एक बार-द्वापरान्त में अर्द्ध रात्रि के समय अवतरित श्रीकृष्ण रूप के द्वारा ब्रज में भी हुई थी। नित्य वृन्दावन में होने वाली रास लीला 'नित्यरास' या 'नित्यरासलीला' नाम से और अवतार काल में हुई रास लीला 'महारास' या 'महारासलीला' के नाम से अभिसंज्ञात है। नामतः एक ही ज्ञात होने पर भी दोनों लीलाओं में पर्याप्त पार्थक्य हैं। इन पार्थक्यों के सम्यक् ज्ञानाभाव में दोनों को एक समझने की अनर्थकारी भूल हो सकती है। अतः इन पार्थक्यों से सर्वसाधारण को अवगत कराने के उद्देश्य से आगे के पृष्ठों में उनका विस्तार पूर्वक उल्लेख करेंगे।

रासलीला के उपकरण —

श्री राधा, श्री कृष्ण, श्री वंशी, श्री लालंतादिक सखियाँ, संगीत, समय और स्थल ये सात ही रासलीला के आधारभूत उपकरण हैं जो कि रास की दोनों भूमिकाओं [ नित्य रास तथा महारास ] में एक जैसे ही दिखाई देते हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनकी भिन्नता सुस्पष्ट दिखाई देने लगती है। आगे की पंक्तियों में हम क्रमशः सातों उपकरणों के पार्थक्य पर पृथक-पृथक प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

### ५.१.१.७.१. अवतार कालीन महारास में श्री कृष्ण :

महारास में श्रीकृष्ण अन्तर्हित होते हैं<sup>२</sup>, पुनः प्रकट होते हैं<sup>३</sup> और अनन्त रूप धारण

१. हमारी दान माखौ इनि।

रातिनि बेचि-बेचि जात, घेरी सखा, जान ज्यों न पावैं छियो जिनि॥

देखौ हरि के ऊज उठाइवे की बात, रात विराति बहू-बेटी काहू की निकसति है पुनि।

श्री हरिदास के स्वामी श्याम की प्रकृति न फिरी, छिया छाँड़ौं किनि॥

— स्वा. ह. दा. की वा., ह. दा. जी., प. सं. ६२

२. प्रशमाय प्रसादायतवैवान्तरधीयत् ।

— श्री मद् भा., द. स्क., रा. पं.

३. तासां आविर्भूच्छौरिः स्मयमान मुखान्जुः ।

— श्री मद् भा., द. स्क., रा. पं.

करते हैं<sup>१</sup>। सुस्पष्ट ही यह उनके ईशत्व का दर्शन है अतः वे भगवान हैं<sup>२</sup> वे धर्म रक्षक हैं<sup>३</sup> योगेश्वर हैं<sup>४</sup> और गर्व प्रहारी हैं<sup>५</sup> वे साक्षात् मन्मथ मनमथ हैं<sup>६</sup> ब्रज गोपियों के काम ताप को दूर करने वाले और ब्रज गोपियों के आराध्य तथा परम प्रेमास्पद हैं<sup>७</sup>।

## ५.१.१.७.२. नित्य रास की भूमिका में श्री कृष्ण :

नित्य रास के श्री कृष्ण अनन्य प्रेमी हैं। अतः वे अपने लोक चूड़ामणित्व को भुलाकर सदा दीन ही बने रहते हैं<sup>८</sup> इस तथ्य को यों भी कहा जा सकता है कि उनमें कभी ईश्वरता का आभास नहीं देखा जाता। वे श्री राधा परवश श्री राधा मुख-कमल के अनन्य भ्रमर हैं<sup>९</sup> और श्री राधा-सुख-सुखी अनन्य भक्त हैं<sup>१०</sup> वे ऐसी मदन घन की पीर से पीड़ित हैं जो कि एकमात्र श्री राधा के द्वारा ही दूर होती है<sup>११</sup>। वे योगेश्वरेवर नहीं अपितु विटकुल नृपति विहार परायण नित्य नव दूलह और परम रसिक हैं<sup>१२</sup>।

१. रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मण्डितः। योगेश्वरेन कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥  
— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.
२. भगवान पिता रात्रीः शरदोत्फुल्ल मल्लिकां।  
— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.
३. भर्तुः सुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यभायया।  
— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.
४. इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वर।  
— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.
५. तासां तत्सौभग मदं वीक्ष्यमानं च केशव। प्रशमाय प्रसादाय तवैवान्तर धीयत्।  
— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.
६. पीताम्बरधरं श्रग्वी साक्षात् मन्मथ मन्मथ।  
— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.
७. त्वत्सुन्दर स्मित निरीक्षण तीव्र काम तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यं।
८. प्रीति की रीति रंगिलौई जानैं। यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानैं॥  
— हि. चौ., प. सं. ४१
९. ये अलि प्रिया-वदन-अम्बुज रस अटके अनत न जात।  
— हि. चौ., प. सं. ६०
१०. जै श्री हित हरिवंश प्रभु राधिका रमन मोकों मावै माई जगत भगत भजनी।  
— हि. चौ. प. सं. ६५
११. [क] जै श्री हित हरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी। — हि. चौ., प. सं. २४
- [ख] तो बिनु कुँवरि काम की वेदनि मेटव कवन। — हि. चौ., प. सं. ३६
- [ग] दरसन मदनगुपाल मनोहर मनसिज ताप निवारै। — हि. चौ., प. सं. ६३
१२. खेलत रास दुलहिनी दूलहु। सुनहुँ न सखी सहित ललितादिक निरखि-निरखि नैननि किन फूलहु।  
कबहुँ श्याम-श्यामा दसनांचल कच-कुच-हार छुवत भुज मूलहु। अति लावण्य रूप अभिनय.....।  
— हि. चौ. प. सं. ६२



### ५.१.१.७.३. महारास की श्री राधा :

महारास की श्री राधा भगवान श्री कृष्ण की आराधिका अनन्त गोपिकाओं में से ही एक अन्यतम गोपी हैं किन्तु वे हरि का सबसे अधिक आराधन करने के कारण सर्वश्रेष्ठ अन्यतम आराधिका हैं<sup>१</sup>। सुस्पष्ट ही है कि वह श्री कृष्ण की प्रेमास्पदा नहीं उनकी प्रेमिका हैं। वह श्री राधा अन्य काम-तप्ता गोपियों की भाँति ही श्री कृष्ण से दास्य दान करने की प्रार्थना करती हैं। सौभग मद होने पर वे भी श्रीकृष्ण द्वारा परित्यक्ता होती हैं और विरह विदग्धा भी होती हैं।<sup>२</sup> वे श्री राधा ललितादिकों से संसेविता नहीं प्रत्युत उन जैसी ही कृष्ण बल्लभा हैं, इसी कारण श्री कृष्ण-चरण-चिन्ह के साथ इनके चरण-चिन्ह देखकर गोपियों के चित्त में क्षोभ हुआ था। वह श्री राधा महारास पूर्ण होने के पश्चात् अन्य गोपियों की भाँति अपने घर चली जाती हैं।

### ५.१.१.७.४. नित्य रास की श्री राधा :

नित्य रास में श्री राधा, श्रीकृष्ण की परमाराध्या, प्रेमास्दा हैं<sup>३</sup>। वे रस की वर्षा करके<sup>४</sup> श्रीकृष्ण को भी तुष्ट करने वाली है। सकल उदार नृपति चूड़ामणि हैं<sup>५</sup> वे भृकुटि से काम को नचाने वाली हैं<sup>६</sup> और श्री कृष्ण के काम संताप को हरण करने वाली हैं<sup>७</sup>। ललित बिशाखादि समस्त दासियों की स्वामिनी हैं<sup>८</sup>।

१. अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः

— श्रीमद् भा., द. स्क., रा. पं.

२. एवमुक्तवा प्रियामाह स्कन्ध आरुह्य तामिति। ततश्चान्तर्दधे कृष्ण सावधूरन्यपत्यत।  
हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि-क्वासि महामुजः।.....

— श्रीमद् भा., द. स्क., रा. पं.

३. चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान, रास रच्यौ श्याम तट कलिंदनन्दिनी।

— हि. चौ., प. सं. १२

४. कंकन किंकिनि धुनि मुखर नूपरनि सुनि, जै श्री हित हरिवंश रस वरषे नव तरुनि।

— हि. चौ., प. सं. ३६

५. सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख वारिध वरषायौ।

— हि. चौ., प. सं. ३६

६. अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनंग नचायौ।

— हि. चौ., प. सं. ३६

७. जै श्री हित हरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी।

— हि. चौ., प. सं. २४

८. जै श्री हित हरिवंश निकट दासीजन लोचन चषक रसासव गटकति।

— हि. चौ., प. सं. ७६

## ५.१.१.७.५. महारास में वंशी तथा संगीत :

महारास के वंशी नाद का प्रभाव गोपियों के मन में काम वर्धन करता है<sup>१</sup>। महारास की वंशी श्रीकृष्ण के नाम-रूप और गुणों का गान करके गोपियों को उनके प्रति आकृष्ट करती है। इसके अतिरिक्त महारास के संगीत में उसका कोई योगदान नहीं दिखाई देता।  
वाद्य :- महारास में नृत्य करते समय एकमात्र गोपियों के श्री अंगों में सुशोभित वलय, कंकण, किंकणी और नूपुरादि ही बजते थे<sup>२</sup> डफ वीणा और मृदंगादि बाजों का वहाँ सर्वथा अभाव ही ज्ञात होता है।

नृत्य :- अवतार कालीन महारास में होने वाले नृत्य का नाम कथन यद्यपि शुकदेव जी ने सुस्पष्ट रूप से नहीं किया है किन्तु जिस शैली का रास-नृत्य-वर्णन किया है<sup>३</sup> वह भरत मुनि तथा वात्सायन मुनि आदि पूर्वाचार्यों के लक्षण वर्णनानुसार हल्लीसक नृत्य ही ज्ञात होता है और पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है। यथा—

मण्डलेन च यत्स्त्रीणां नृत्य हल्लीसकं तु तत्। नेता तत्र भवदेको गोप स्त्रीणां यथो हरिः<sup>४</sup>।

एवमपि—

मण्डलेन तु यन्नाट्यं हल्लीसकमिति स्मृतम्<sup>५</sup>।

इसी प्रकार 'हरिवंश पुराण' में 'हल्लीसक क्रीडनम्' नामक अध्याय में श्री कृष्ण की रासलीला का वर्णन किया गया है—

कृष्णस्तु यो वनं दृष्ट्वा निशिचन्दमसोवनम्। शारदीं च निशा रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति<sup>६</sup>॥

भास के 'बाल चरित' नामक नाटक में हल्लीसक नृत्य के लिए श्री कृष्ण का वृन्दावन जाना कहा गया है।

## ५.१.१.७.६. नित्य रास-में वंशी तथा संगीत :

नित्य रास में वंशी नाद तो अनिवार्यतः होता है किन्तु उसका प्रभाव अनंग वर्धक

१. निशम्य गीतं तदनंग वर्धनम् ।.....

— श्रीमद् भा., द. स्क., रा. पं.

२. वलयानां नूपुराणां किंकिणीणां च योषिताम् । स प्रियाणां मूच्छन्दस्तुमुलो रासमण्डले ।  
नृत्यन्ती गायन्ती काचित् कूजन्नूपुर मेखला ।.....

— श्रीमद् भा., द. स्क., रा. पं.

३. रासोत्सव सम्प्रवृत्तो गोपी मण्डल मण्डितः । योगेश्वरेण कृष्णेण तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो ।।

— श्रीमद् भा., द., स्क., रा. पं.

४. वा. का. सू., टीका, टीका.- श्री यशो.

५. ना. शा., म. मु., टीका, टीका.- अभि. गु.

६. ह. पु., हल्लीसक क्रीडनम् अध्याय



नहीं अपितु रतिराज के ताप का नाशक है।<sup>१</sup> इस रास का वंशीनाद महारास के वंशी नाद की भाँति श्री राधा तथा ललितादिक सहचरियों को रास में तत्क्षण चल देने के लिए विवश नहीं करता। यही कारण है कि स्वामिनी श्री राधा को बुलाने के लिए श्रीकृष्ण विवशतः सखियों को भेजते हैं और वह सखी आकर श्री राधा से कहती है— क्या आपने वंशी नाद नहीं सुना? आप आलस्य क्यों कर रही हो? इस रास का वंशी नाद श्री राधा के नाम—रूप और गुण गुञ्जन से समस्त श्री वन को मुखरित किया करता है, श्री कृष्ण गुण गान से नहीं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इस रास में हरिवंशी श्री राधा नाम—रूप—गुण की अनन्य गायिका है<sup>२</sup> यह वंशी रास में श्री राधा का आह्वान मात्र ही नहीं करती अपितु रास के संगीत में योगदान भी देती है<sup>३</sup>। यह वंशी ही रस की मूलाधार है<sup>४</sup>।

वाद्य :- नित्य रास में नृत्य करते समय नूपुर किंकिणी और कंकण आदि भूषण ध्वनि के साथ डफ-वीना और मृदंगादि बाजे भी बजते हैं<sup>५</sup>।

नृत्य :- नित्यरास में सुधंग और लास्य नृत्य का ही नर्तन होता है; हल्लीसक या अन्य किसी नृत्य का नहीं। इस तथ्य को यों भी कहा जा सकता है कि नित्य रास में श्री राधा, श्री कृष्ण, और ललिता विशाखादि सखियाँ ये सभी सुधंग और लास्य नृत्य का ही नर्तन करती हैं<sup>६</sup>।

१. मोहनी मदनगोपाल की बाँसुरी।

माधुरी श्रवन पुट सुनत सुनि राधिके, करत रतिराज के ताप कौ नासु री।।

— हि. चौ., प. सं. २६

२. [क] बाजत मृदु मृदंग नाचत सबै सुधंग तैं न श्रवन सुन्यौ वेणु बजनी

— हि. चौ., प. सं. ६५

[ख] वेणु धुनि नन्दलाल बोली सुनिव क्यों अरसात।

— हि. चौ., प. सं. २८

३. मत्त मुरलि अन्तर तव गावत

— हि. चौ., प. सं. ७४

४. राग रागिनि जमी विपिन वरषत अमी, अघर विवनि रमी मुरलि अभिरामिनी।।

— हि. चौ., प. सं. ६८

५. बाजत रस मूल मुरलिका अनंदिनी।

— हि. चौ., प. सं. ६८

६. श्याम सुन्दरी विहार बाँसुरी मृदंग तार, मधुर घोष नूपुरादि किंकिनी चुरी।।

— हि. चौ., प. सं. १०

७. [क] बाजत मृदु मृदंग नाचत सबै सुधंग तैं न श्रवन सुन्यौ वैणु बजनी

— हि. चौ., प. सं. ६५

[ख] ताल वीना मृदंग सरस नाचत सुधंग, एक ते एक संगीत की स्वामिनी।

— हि. चौ., प. सं. ६८

[ग] मोहनि मोहन रंगे प्रेम सुरंगे मत्त मुदित कल नाचत सुधंगे।

— हि. चौ. प. सं. ६६

### ५.१.१.७.७. महारास में ललिता-विशाखादि गोपियाँ :

महारास की ललिता विशाखादि समस्त गोपियाँ श्री राधा की भाँति ही श्री कृष्ण की प्रेमोन्मत्ता हैं। वे सब श्री राधा से समानता का भाव किंवा स्वपक्षा, विपक्षा और तटस्था सापत्न भाव रखती हैं। यही कारण है कि श्री कृष्ण-चरण-चिन्ह के साथ श्री राधा-चरण-चिन्ह देखकर वे सब क्षुभित हुई थीं<sup>१</sup>। वे सब कामना पूर्ण हृदय थीं इसीलिए कामना पूर्ण होने पर उनमें सौभग मद का उदय हुआ था और परिणामतः उन सबको श्री कृष्ण का विरह दुःख सहना पड़ा था। वे सब मत्सुख सुखी थीं इसीलिए सब अलक्षितोद्यमा होकर महारास में गई थीं<sup>२</sup>। और इसीलिए श्री कृष्ण को अनेक रूप धारण करने पड़े थे। उन सब गोपियों ने काम भाव<sup>३</sup> से श्री कृष्ण का आराधन किया था, हाँ यह परम सत्य है कि श्री कृष्ण के दर्शन सांस्पर्श से वह काम निष्काम हो गया था<sup>४</sup>। वे गोपियाँ अपने-अपने घरों और पति-पुत्रों को छोड़कर श्री कृष्ण के पास पहुँची थीं ओर पूर्ण मनोरथ होने पर अपने-अपने घर चली गई थीं।<sup>५</sup>

### ५.१.१.७.८. नित्य रास में ललिता-विशाखादि :

नित्य रास की ललिता-विशाखादि सखियाँ, गोविन्द-प्रिय परिकर नहीं श्री राधा-प्रिय परिकर हैं। ये सखियाँ श्री कृष्ण को अपना कान्त नहीं मानतीं प्रत्युत श्री राधा-कृष्ण युगल को ही अपना प्रियतम मानते हुए<sup>६</sup> श्री राधा-पक्षपातिनी हैं और श्री राधा की अनन्य निष्ठ किंकरी हैं<sup>७</sup>। ये सब श्री राधा की अनुधावती किशोरी हैं<sup>८</sup>। ये कामसंतप्ता नहीं प्रत्युत

१. तस्या अमूनिनं क्षोभं कुर्वन्नुच्चैपदानियत्। यैकापहत्य गोपीनां रहो भुक्तोऽच्युतोऽघरं।

— श्री मद भा., द. स्क. रा. पं.

२. आजगुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः

— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.

३. गोप्यः कामाद् भयाद् कंसो द्वेषाच्चेद्यादयो नृपाः

— श्री मद भा., द. स्क., रा. पं.

४. निशम्य गीतं तदनंग वर्धनम्। भर्जितो क्वथिता धाना प्राया बीज नेष्यते।।

— श्री मद. भाग, द. स्क., रा. पं.

५. ब्रह्म रात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिता। अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वं गृहान् भगवत् प्रियाः।

— श्री मद. भा., द. स्क., रा. पं.

६. बिहरत दोऊ प्रीतम कुंज। अनुपम गौर श्याम तन शोभा वन वरषत सुख पुंज।।

— हि. चौ., प. सं. ६६

७. परं निज रासेश्वरी चरण लक्ष्म वीक्षामहे।

— रा.सु. नि., श्लो. सं. ११३

८. श्री राधामनुधावतीं ब्रज किशोरीणां घटां भावये।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८६



श्री युगल प्रीतम के केलि दर्शन से अपना हृदय शीतल करने वाली हैं<sup>१</sup>। ये सब श्री कृष्ण-वंशीनाद से विमोहित होकर रास में नहीं पहुँचतीं प्रत्युत स्वयं रास की तैयारी किया करती हैं तथा रास में समयोचित सेवा भी किया करती हैं<sup>२</sup>।

### ५.१.१.७.६. महारास का समय :

अवतार काल का महारास शरद ऋतु की रात्रि में केवल एक बार ही हुआ था<sup>३</sup>। न तो उससे पूर्व ही कभी हुआ था और न उसके पश्चात् ही कभी हुआ था। स्पष्ट ही है कि यह रास नित्य नहीं होता। इसीलिए इसे 'नैमित्तिक रास' के नाम से भी जाना जाता है।

### ५.१.१.७.१०. नित्य रास का समय :

नित्य रास शरद ऋतु की एक रात्रि विशेष में आवद्ध न होकर प्रत्येक ऋतु में— प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या तथा रात्रि में किसी भी समय श्री युगल की अथवा सहचरियों की इच्छानुसार हुआ करता है। यथा—

प्रातः कालीन रास -

रसिक रास जहँ खेलत श्यामा-श्याम किशोर। उभय बाहु परिरंजित उठे उर्नीदे भोर।।<sup>४</sup>

स्नान-श्रंगार-पश्चात् रास -

बनी वृषभानु नन्दिनी आजु। भूषन वसन विविध पहिरे तन पिय मोहन हित साजु।।

नव निकुंज अक्षिराम श्याम सँग नीकौ बन्यौ समाज, हितहरिवंश विलास रास जुत जोरी अविचल राज<sup>५</sup>।।

मध्याह्न कालीन रास -

आजु वन नीकौ रास बनायौ। पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट मोहन वेणु बजायौ।।

जुवतिन मण्डल मध्य श्याम घन सारँग राग जमायौ। जै श्री हित हरिवंश....<sup>६</sup>।।

रात्रि कालीन रास -

मोहनी मोहन रंगे प्रेम सुरंगे मत्त मुदित कल नाचत सुधंगे।

सकल कला प्रवीन कल्याण रागिनी लीन कहत न बनै माधुरी अंग-अंगे<sup>७</sup>।

१. देखत हरिवंश आलि निर्तनी सुधंग चालि, वारि फेरि देत प्रान देह सौं दुरी। — हि. चौ., प. सं. १०

२. कदा रासे प्रेमोन्मद रस विलासेदभुतमये.... निषेवे नृत्यन्ती व्यजन नव ताम्बूल शकलैः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १५८

३. भगवान् पिता रात्रीः शरदोत्फुल्ल मल्लिका।

४. हि. चौ., प. सं. ५७, ४२

६. सारंग राग मध्याह्न काल में ही गाया जाता है।

७. कल्याण राग रात्रि काल में ही गाया जाता है।

— हि. चौ., प. सं. ३६

— हि. चौ., प. सं. ६६

शैया का रास -

आजु नागरी किशोर भाँवती विचित्र जोरि, कहा कहीं अंग-अंग परम माधुरी।  
करत केलि कण्ठ मेलि बाहु दण्ड गण्ड-गण्ड, परस सरस रास लास मण्डली जुरी<sup>१</sup>।  
विहरत दोऊ ललना-लाल। कुंज महल महुँ हेज सेज पर चम्पक बकुल गुलाल।  
अंग सुधंग रंग रस वरषत हरषति सहचरि जाल। वृन्दाविपिन राधिका मोहन व्यास<sup>२</sup>।

बसन्त ऋतु का रास -

वैनु माई बाजै वंशीवट। सदा बसंत रहत वृन्दावन पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट।  
दास अनन्य भजन रस कारन जै श्री हित हरिवंश प्रगट लीला नट<sup>३</sup>।

मंजु जुवति रस गान लुंज इव खग तहँ विथकिनु। भुंजत रास विलास कुंज नव सचि बसन्त ऋतु<sup>४</sup>।

मणि मण्डल कौतिक बढ्यौ रंग। दोउ निरत वसन बसंती अंग॥  
गति लेत न अँग शोभा समाति। मनु तड़ित कौंधिवौ सिखै जाति॥  
तत थेई-थेई हो हो कहत बैन। भृकुटीन अग्र नचै निकर मैन॥  
लेहिं सुलप भेद की गति अनंत। अनुराग-राग मूरति जु वंत॥  
खेलत सु रास भामिनी कंत। सुखदायक आई रितु बसंत<sup>५</sup>॥

ग्रीष्म ऋतु का रास -

रास में रसिक मोहन बने भामिनी।...

त्रिविध रोचक पवन ताप दिनमणि दवन, तहाँ ठाढे रवन संग सत कामिनी॥  
ताल वीना मृदंग सरस नाचत सुधंग, एक ते एक संगीत की स्वामिनी<sup>६</sup>॥

यमुना पुलिन किरन विधु फैली देखि जुगल रुचि रास भई है।  
सखियन मृदुल सुमन कल बान्यौ मण्डल अनुपम छटा छई है।  
चहुँदिशि जल जंत्रन की वरषन ग्रीष्म रितु सुख सीर बई है।  
नृत्य सुधंगोचित कल बाजे मंजुल धुनि वन पूरि गई है।  
निरत नवल नागरी नागर मण्डल मधि गति लेत नई है।  
पौछत श्रमकन मुदित परस्पर को जानै कहा लवधि लई है।

१. हि. चौ., प. सं. १०

२. व्या. वा., प. सं. २०

३. हि. चौ., प. सं. ६४

४. से. वा., भक्त भजन प्रकरण, छ. सं. २०

५. पदा बसंत चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., प. सं. १५

६. हि. चौ., प. सं. ६८



तन-मन गुँथे विपथ अँग-अंगनि औरहि रंगनि मति भिँजई है।  
दासि मदनमोहन हित आली करि वयार वारने गई है<sup>१</sup>।

पावस ऋतु का रास -

नव मुरली जु मलार नई गति श्रवन सुनत आये घन घोरी।  
नव भूषन नव मुकुट विराजत नई-नई उरप लेत थोरी-थोरी<sup>२</sup>।  
राजत मण्डल मणि दोऊ नई-नई गति उपजावत।  
होड़ी होड़ा निर्त परस्पर हस्तक भेद दिखावत।  
तैसीय पावस रितु वन कमनी तैसेई झुकि-झुकि बदरा आवत।  
वृन्दावन हित रूप महा झर लग्यौ सुख सिन्धु बढावत<sup>३</sup>।

शरद ऋतु का रास -

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान, रास रच्यौ श्याम तट कलिंदनन्दिनी।  
जाती ईषद विकास कानन अतिशय सुवास, राका निशि शरद मास विमल चन्दिनी<sup>४</sup>।  
आजु गुपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।  
शरद विमल नभ चन्द्र विराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी<sup>५</sup>।

शीत कालीन रास -

शीत सौ मीत न प्यारी मेरौ.....।  
रास रमत श्रम होइ न रंचक निर्त करौ बहुतेरौ।  
वृन्दावन हित रूप सैन के मन्दिर भावै डेरौ<sup>६</sup>।

५.१.१.७.११. महारास का स्थान :

अवतार कालीन महारास का स्थान वृन्दावनस्थ यमुना पुलिनस्थली ही निश्चित है<sup>७</sup>।

१. हि. शा., म. मो. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. १७५

२. हि. चौ., प. सं. ५४

३. पदा. [मलार] चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. ८०

४. हि. चौ., प. सं. १२, २५

५. पदा. [हिमरितु] चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. १५

७. एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावन लता तरुन। व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः।।

— श्री म. भा., द. स्क. रा. पं., द्वि. अ., श्लो. २४

— एवमपि—प्र. अ., श्लो. ३, २१, ४५

## ५.१.१.७.१२. नित्य रास का स्थान :

नित्य रास का स्थान कोई एक ही निश्चित नहीं है। वह वृन्दावन में युगलवर अथवा उनकी सहचरियों की इच्छानुसार कभी यमुना पुलिन पर तो कभी रासमण्डल पर, कभी निकुंज भवन में तो कभी कलित कमलों पर कभी वंशीवट पर तो कभी मानसरोवर पर होता रहता है।

यमुना पुलिन का रास -

अद्भुत ताल मृदंग मनोहर किंकिनि शब्द कराहीं।

यमुना पुलिन रसिक रस सागर रास रच्यौ वन माँहीं<sup>१</sup>।

रासमण्डल पर रास -

श्याम सँग राधिका रासमण्डल बनी। .....

निर्त रस पहिरि पट नील प्रगटित छवी, वदन जनु जलद में मकर की चाँदनी<sup>२</sup>।

निकुंज भवन का रास -

नव निकुंज अभिराम श्याम सँग नीकौ बन्यौ है समाज।

जै श्री हित हरिवंश विलास रास जुत जोरी अविचल राजु<sup>३</sup>।

यमुनातट वंशीवट-निकट-रास -

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान, रास रच्यौ श्याम तट कलिंदनन्दिनी।

वंशीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ, सकल सुखद मलय बहै वायु मन्दिनी<sup>४</sup>।

कमल-मण्डल पर रास -

परम प्रवीन मुकटमणि प्यारी। निर्त कला गुन की विस्तारी॥

तिरप बाँधि कमलनि पर चली। निरखत चकित रहीं है अली॥

अद्भुत कमल मध्य सर माँहीं। ताके सिर पर निर्त कराहीं<sup>५</sup>॥

मानसरोवर पर रास -

खेलैं मानसरोवर गौर श्याम। एकांत परम अभिराम धाम।.....

मणि मण्डल भये ठाढ़े किशोर। सौभगता सीवाँ दुहूँ ओर।

करैं निर्त गान बढ्यौ सुख न थोर। सबके चित चोरत नैन कोर।

रोचक मारुत सरवर जु पास। मोहन धुनि थेई-थेई प्रकाश।

कहा वरनों जो सब हिय हुलास। आनंद वृष्टि मधुरितु के रास<sup>६</sup>।

१. हि. चौ., प. सं. ६३ एवमपि— प. सं. २४, ३६

२. से ४. हि. चौ., प. सं. क्रमशः ७१, ४८, १३

५. ब्या. ली. [निर्त विलास लीला] हि. ध्रु. दा., छं. सं. ११ से १३

६. पदा., [बसंत] चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. २०



शैया पर रास -

रैन उजारी देखि बिहारी। रच्यौ रास अति ही सुखकारी॥  
 सेज मंडल मणि दीप विराजैं। अंगनि भूषन बाजे बाजैं॥  
 पलक तार भौहैं भई गाइन। निरत पुतरी सहज सुभाइन॥  
 शोभित अंजन रेख उपंगा। मनु कटाक्ष तहँ मधुर मृदंगा॥  
 चितवन सुलप चलन अँग-अंगा। कोक कलनि के उठत तरंगा॥  
 हाव-भाव बहु विधि दिखरावत। चुंबनदान रीझ तहँ पावत॥  
 रति विहार कौ रास दोउ खेलत परम प्रवीन।  
 कोक कला घातैं सहज छिन-छिन उठत नवीन<sup>१</sup>।

### ५.१.१.७.१३. महारास के अन्य अविस्मरणीय तथ्य :

महारास में दो-दो गोपियों के बीच में एक श्रीकृष्ण सुशोभित हुए थे।<sup>१</sup> इसी क्रम से एक बृहद् मण्डलाकार होकर सभी ने नृत्य और गान किया था। उन व्रज सुन्दरियों के बीच में श्री कृष्ण स्वर्ण मणियों के मध्य मरकत मणि के समान सुशोभित हुए थे।<sup>२</sup>

महारास में विरह,<sup>३</sup> काम-कामना,<sup>४</sup> गर्व,<sup>५</sup> मत्सुख अमर्ष<sup>६</sup> बहुबल्लभता<sup>७</sup> और ईश्वरता<sup>८</sup>

१. व्या. ली. [रस हीरावली लीला] हि. ध्रु. दा., छं. सं. १२८ से १३४

२. रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपी मण्डल मण्डितः। योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।  
 प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्व निकटं स्त्रियः।.....

— श्री म. भा., द. स्क., पं. अ., श्लो. ३

३. तत्राति शुशुभे तामिर्मगवान्देवकी सुतः। मध्ये मणीनां हेमानां महा मरकतो यथा।

— श्री म. भा., द. स्क., पं. अ., श्लो. ७

४. हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि-क्वासि महाभुज। दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्।।  
 अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः। ददृशुः प्रिय विश्लेष मोहितां दुःखितां सखीम्।।

— श्री म. भा., द. स्क., द्वि. अ., श्लो. ३६, ४०

५. [क] सिञ्चाद् नस्त्वदधरामृत पूरकेण हासावलोक कल गीत जह्छयाग्निम्।  
 नो चेद्वयं विरह जाग्न्युपयुक्त देहा ध्यानेन याम पदयोः पदवी सखेते।।

— श्री म. भा., द. स्क., प्र. अ., श्लो. ३५

[ख] ...त्वत्सुन्दर स्मित निरीक्षण तीव्र काम। तप्तात्मनां पुरुष भूषण देहि दास्यं।

— श्री म. भा., द. स्क., प्र. अ., श्लो. ३८

६. ततो गत्वा वनोद्देशं दृष्ट्वा केशव मन्त्रवीत्। न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः।।  
 एव मुक्तः प्रिया माह स्कन्ध आरुह्यतामिति। ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत।।

— श्री म. भा., द. स्क., द्वि. अ., श्लो. ३७, ३८

७. तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्। यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽध्युताधरम्।।

— श्री म. भा., द. स्क., द्वि. अ., श्लो. ३०

८. श्री म. भा., द. स्क., पं. अ., श्लो. ३

९. गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडने नेह देहभाक्।।  
 अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमा स्थितः। भजते तादृशी क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।।

— श्री. म. भा., द. स्क., रा. पं., पं. अ., श्लो. ३६, ३७

के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। यह महारास देवतागण और गन्धर्व आदि के द्वारा भी परिलक्षित है<sup>१</sup>। यह महारास उस वरदान की पूर्ति के उद्देश्य से किया गया था जो कि चीर हरण काल में गोपियों को दिया गया था।<sup>२</sup> काम भाव से प्रभु का आराधन करने पर भी प्रभु की प्राप्ति हो सकती है, इस सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करना इसका दूसरा उद्देश्य था<sup>३</sup> और अजेय काम को पराजित करना इसका तीसरा उद्देश्य था जिसका संकेत शुकदेव जी ने भगवान श्री कृष्ण को 'योगेश्वरेश्वर' तथा 'अवरुद्ध सौरत' लिखकर दिया है<sup>४</sup>।

### ५.१.१.७.१४. नित्यरास के परिचायक अन्य अविस्मरणीय तथ्य :

नित्यरास में ईश्वरत्व दर्शन, बहु बल्लभता, मान-विरह काम-कामना, गर्व, मत्सुख और अमर्ष आदि का सर्वथा अदर्शन है। इस रास में श्री राधाकिंकरीगणों के अतिरिक्त अन्य किसी का भी प्रवेश नहीं होता। इस रास का आयोजन स्वामिनी श्री राधा के लिए होता है। ललितादिकों के लिए नहीं, वह तो श्री कृष्ण के साथ रास की तैयारी करने में संलग्न रहती हैं। यह रास श्री युगलवर की निर्हेतुक सहज क्रीड़ा है। इस रास में समस्त सखियों के एक वृहद् मण्डल के मध्य में श्री राधा श्यामसुन्दर नृत्य करते हैं। ये गौर श्याम दंपति गौर-श्यामाङ्गी सखियों के बीच ऐसे सुशोभित होते हैं जैसे- घन और तड़ित मण्डल के मध्य स्वर्णमणि और मर्कत मणि सुशोभित हों। श्री हिताचार्य तथा उनके परवर्ती रसिकों द्वारा वर्णित नित्यरास वर्णनात्मक समस्त साहित्य ही हमारे उपर्युक्त तथ्यों का मुखर प्रमाण है।

अवतार कालीन रास [महारास] और नित्य रास के शोध पूर्ण अध्ययन और दोनों रास लीलाओं के उपकरणों के निकट दर्शन से संप्राप्त उपर्युक्त तथ्य ही उनके पारस्परिक पृथक्करण के सूत्र तथा स्वरूप निर्णय की प्रामाणिक कसौटी हैं।

१. यं मन्ये रन्नभस्तावद्धिमान शत सङ्कुलम् । दिवौकसां सदा राणा मौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः । जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्री कास्तद्यशोऽमलम् ॥

— श्री म. भा., द. स्क., रा. पं., श्लो. ४.५

२. यातावला ब्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः । यदुदिश्य व्रत मिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥

— श्री म. भा., द. स्क., अ. २२, श्लो. २७

३. [क] कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

— श्री म. भा., द. स्क., प्र. अ. श्लो. १५

[ख] गोप्यः कामाद् भयाद् कंसो द्वेषाच्चेद्यादयो नृपाः

— श्री म. भा., द. स्क., रा. पं.

४. [क] इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः

— श्री म. भा., द. स्क., रा. पं.

[ख] ...सिषेवे आत्मन्यवरुद्ध सौरत ।.....

— श्री म. भा., द. स्क., रा. पं.



### ५.१.१.८. निर्णायक कसौटी और हित वाणी :

ऊपर कथित नित्य रास लीला और अवतार कालीन महारास लीला के सूक्ष्म पार्थक्य को न समझ सकने के कारण कुछ भोले भावकों को श्री हिताचार्य की वाणी में महारास लीला गान का भ्रम होता है। अतः हम ऐसे पदों को भी रास की उपर्युक्त कसौटी पर कसने की चेष्टा करेंगे—

आजु गुपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।  
शरद विमल नभ चन्द्र विराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी।  
चंपक बकुल मालती मुकुलित, मत्त मुदित पिक कीर री सजनी।  
देशी सुधंग राग रँग नीकौ ब्रज जुवतिन की भीर री सजनी।  
मघवा मुदित निशान बजायौ व्रत छाँड्यौ मुनि धीर री सजनी।  
जै श्री हित हरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी<sup>१</sup>।

उपर्युक्त पद में 'गोपाल' नाम, 'ब्रज युवतिन की भीर' और 'मघवा मुदित निशान बजायौ व्रत छाँड्यौ मुनि धीर' ये पंक्तियाँ एक बार महारास का भ्रम उत्पन्न करती हैं किन्तु 'जै श्री हित हरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी' पद की यह पंक्ति इस पद को नित्य रास वर्णनात्मक कहने के लिये विवश कर देती है, क्योंकि महारास में न तो श्रीकृष्ण मदन घन से पीड़ित ही होते हैं और न श्री राधा उनकी पीड़ा को हरण ही करती हैं प्रत्युत इसके ठीक विपरीत श्री राधा समेत समस्त गोपियाँ काम ताप से संतप्त और श्री कृष्ण उनके काम ताप को हरण करने वाले 'साक्षात् मन्मथ-मन्मथ' तथा 'अवरुद्ध सौरत' देखे जाते हैं। इसी प्रकार 'देशी सुधंग राँग रँग नीकौ' यह पंक्ति भी भ्रम को नित्य रास वर्णनात्मक कहने के लिए विवश कर देती है क्योंकि महारास में सुधंग नृत्य न होकर हल्लीसक नृत्य हुआ था।

नित्य रास वर्णनात्मक कहने को इसलिए भी विवश होना पड़ता है क्योंकि श्री हिताचार्य ने वन विहार रस की मधुरिमा वर्णन करते हुए अवतार समूहों की लीला माधुरी को निस्वाद व्यंजित किया है<sup>२</sup>। श्री शुकदेव आदि के आनंदोन्माद पूर्ण परेश भजन-भागवत लीला गान के प्रति तटस्थ भाव-अप्रयोजन प्रगट किया है<sup>३</sup>। अपने को मनसा-वाचा-कर्मणा श्री राधानन्य कहते हुए<sup>४</sup> श्री कृष्ण रसामृत सार को<sup>५</sup> तथा वृन्दावन में ही परिलक्षित श्री राधाचरण प्रधान रास विलास को अपनी वाणी का वर्ण्य विषय बताया है<sup>६</sup>। परवर्ती सभी

१. हि. चौ., प. सं. २४

२. स्फु. वा., गो. हि. ह. जी, प. सं. २०

३. रा. सु. नि. श्लो. ८३, २४०

४. हि. चौ., प. सं. ३०

५. रा. सु. नि., श्लो. २६८



रसिक-भक्तों ने भी उन्हें उत्कट अनन्य व्रत धारी<sup>१</sup> और नित्य रास केलि गायक के रूप में प्रकीर्तित किया है<sup>२</sup>। ऐसे उत्कट अनन्य व्रतैक निष्ठ आचार्य के द्वारा एक ही पद में अवतार कालीन महारास और नित्य रास का एक साथ गान करना कैसे सम्भव है ? ऐसी स्थिति में 'गोपाल', 'ब्रज युवतिन की भीर', 'मधवा मुदित निशानबजायौ'.... इन पंक्तियों में ही वह अन्तर्गर्भित अर्थ जो कि श्री हिताचार्य का अभिप्रेत है, बताने के लिए इन शब्दों और इन पंक्तियों का निकटार्थ न लेकर कोषगत दूरार्थ किंवा लक्ष्यार्थ लेने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

'गोपाल' शब्द का वैयाकरणीय अर्थ होता है गाय-पालक, किन्तु गाय-पालक का नित्य रास से कोई सम्बन्ध नहीं होता अतः यहाँ 'गो' का कोषगत अर्थ वाणी लिया गया है। श्री हिताचार्य के रास विहारी श्री राधा के आज्ञा पालक प्रसिद्ध हैं<sup>३</sup> उन्हीं आज्ञावर्ती राधा के अनन्य प्रेम पुजारी श्री श्याम का संकेत करने के लिए 'गोपाल' शब्द का प्रयोग किया है। 'गोपाल' शब्द के प्रयोग के लिए इसी प्रबन्ध के पृ. २४६-२५० का विवेचन भी दृष्टव्य है।

'मधवा' का शाब्दिक अर्थ इन्द्र होता है। किन्तु श्री हिताचार्य के शब्दों में मधवा आदि देवताओं का प्रवेश निकुंज में सर्वथा वर्ज्य है<sup>४</sup>। अतः यहाँ पर 'मधवा' शब्द का लक्षणा शब्द शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ-दुंदुभिवादक मात्र लिया गया है। जैसा कि 'पंजाब का शेर' इस वाक्य में संप्रयुक्त 'शेर' शब्द का अभिधार्थ व्याघ्र न लेकर शेर की भाँति का शौर्य मात्र लिया गया है जो लक्षणा शब्द शक्ति द्वारा ही प्रकट होता है।

तात्पर्य यह कि अभी एक क्षण पहले जो सखियाँ युगल के रास रंग को देखकर आनंद मग्न स्तब्ध जैसी हो गई थीं वे सब एक साथ अपने वाद्यन्त्र बजा उठी हैं। मानों इन्द्र ने मुदित होकर अपना निशान बजाया हो।

'मधवा' ही नहीं खग-मृग सूर्य-चन्द्र तथा अनंग आदि वृन्दावन की संपूर्ण केलि सम्पत्ति श्यामा-श्याम की अपनी किंवा प्रेम की अपनी निजी सम्पत्ति है। श्री हिताचार्य ने 'राधासुधा निधि' के श्लोक सं. १२८ में श्यामा-श्याम को अपने अनंग के रंग में रंजित प्रकीर्तित किया है। यहाँ पर 'अनंग' शब्द का अर्थ 'काम' ही लिया गया है। किसी शब्द शक्ति का आश्रय लेकर 'अनंग' शब्द का कोई दूसरा अर्थ परिवर्तन नहीं किया गया है। किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से दृष्टव्य यह है कि श्री हिताचार्य ने 'अनंग' शब्द के साथ 'स्व' शब्द का संयोजन करके उस अनंग को लोक-वेद परिचित अनंग से सर्वथा पृथक् अपना ही अनंग बताया

१. भ. मा., ना. दा. जी, छ. सं. ६०

२. से. वा., वाणी प्रकरण तथा, अनन्य टेक प्रकरण

३. गो वानी सौ कहत हैं ताके पालक नाम। जो वच प्यारी मुख सुनत प्रतिपालत सोइ श्याम।।

— हि. चौ. स., टी.-गो. र. ला. जी., प. सं. २४

४. रा. सु. नि., श्लो. सं. ६६, १४८, २३६



है। ठीक इसी प्रकार 'हित चौरासी' के पदों में मधवा, [प. सं. २४], सुरयोषा [प. सं. १६] इन्द्र [प.सं. ३६] सुर सुन्दरि, [प. सं ६३] आदि-आदि रासलीला के उपकरण श्यामा-श्याम के अपने ही हैं। 'प्रेम' की ही विविध परिणतियाँ हैं।

'ब्रज जुवतिन की भीर' इस पंक्ति को पढ़कर भी भ्रान्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि श्री हिताचार्य के उपास्य ब्रज प्रदेशान्तर्गत ही वृन्दावन वासी हैं, अन्य किसी बावरे गाँव के निवासी नहीं। इसका विस्तृत विवेचन इसी प्रबन्ध के पृष्ठ २४६ से २५३ में दृष्टव्य है।

'मुनि' शब्द का अर्थ है मौन होकर मनन करने वाला महात्मा। जैसे—नारद मुनि, अगस्त्य मुनि, शुक मुनि, वेद व्यास मुनि आदि। किन्तु श्री हिताचार्य के शब्दों में नारदादि मुनियों का प्रवेश नित्य निकुंज लीला में वर्जित है।<sup>१</sup> अतः यहाँ पर भी [मुनियों ने अपना व्रत छोड़ दिया है]- इस वाक्य का अभिधार्थ न लेकर लक्षणा शब्द शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ- 'मौन व्रत छोड़कर मुखर हो जाना' लिया गया है। तात्पर्य यह कि श्यामा श्याम के राग रंग को देखकर जो कपोती, कोकिला, कीर आदि पक्षी स्तब्ध हो गये थे वे अपना मौन व्रत छोड़कर चहचह करने लगे हैं। जैसा कि श्री हिताचार्य ने स्वयं ही एक अन्य स्थल पर पक्षियों को मुनि व्रत धारी कहकर प्रकीर्तित किया है—

तरनि तनया तीर त्रिविध सखी समीर, मानों मुनि व्रत धर्यौ कपोती कोकिला कीर<sup>२</sup>।

आज वन नीकौ रास बनायौ।

पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन वेनु बजायौ।

कल कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग-मृग सचु पायौ।

जुवतिनु मंडल मध्य श्याम घन सारँग राग जमायौ।

ताल, मृदंग, उपङ्ग, मुरज डफ मिलि रस-सिंधु बढ़ायौ।

विविध विशद वृषभानुनन्दिनी अङ्ग सुधङ्ग दिखायौ।

अभिनय-निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनङ्ग नचायौ।

तत्ताथेई तत्तथेई धरत नौतन गति, पति ब्रजराज रिझायौ।

सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख-वारिध बरसायौ।

परिरंभन, चुम्बन, आलिंगन उचित जुवति जन पायौ।

बरसत कुसुम मुदित नभ नायक इन्द्र निशान बजायौ।

जै श्री हित हरिवंश रसिक राधापति जस वितान जग छायौ<sup>३</sup>।

उपर्युक्त पद में रास बिहारी और रास विहारिणी को 'ब्रजराज' और 'वृषभान नन्दिनी' नाम से स्मरण करना नभ नायक के द्वारा कुसुम वर्षा करना और इन्द्र के द्वारा निशान

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ६६ १४८, २३६,

२. ३. हि. चौ., प. सं. ६६, ३६



बजाया जाना, यह सामग्री मिलती है जो कि इस पद को महारास वर्णनात्मक कहने का भ्रम उत्पन्न करती है किन्तु श्याम घन द्वारा रास में सारंग राग जमाना और वृषभाननंदिनी श्री राधा द्वारा सुधंग नृत्य दिखाना, मृकुटि द्वारा अपने संकेतों पर अनंग नचाना, सुख वर्षा करना, अपने प्रीतम ब्रजराज को रिझाना, तथा परिरंभन चुम्बनादि देकर सबकी अभिलाषा पूर्ण करना आदि उल्लेख आलोच्य पद को नित्य रास वर्णनात्मक कहने के लिए विवश कर देते हैं क्योंकि महारास में श्री कृष्ण केवल राधापति ही नहीं प्रत्युत महारास में पहुँचने वाली सभी गोपियों के पति किंवा प्रेमास्पद थे। महारास की श्री राधा सुख की वर्षा करने वाली नहीं, मृकुटि से अनंग को नचाने वाली नहीं प्रत्युत काम संतप्ता और विरह व्यथिता थीं। महारास मध्याह्न में नहीं हुआ था अपितु अर्धरात्रि में हुआ था जबकि सारंग राग नहीं गाया जाता। महारास में सुधंग नृत्य न होकर हल्लीसक नृत्य हुआ था।

भागवत वर्णित महारास द्वापरान्त की शरद रात्रि में केवल एक बार ही हुआ था, न उससे पहिले और न उसके बाद ही कभी हुआ; किन्तु आलोच्य पद में 'आज' शब्द का उल्लेख यह मानने के लिए विवश करता है सारंग राग में निबद्ध यह 'रास' पद प्रणेतों के जीवन काल में उनके सामने ही हुआ है।

ब्रजराज-वृषभान नदिनी नाम, नभ नायक द्वारा कुसुम वर्षा और इन्द्र द्वारा निशान वादन आदि उल्लेखों में भी महारास वर्णन की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि श्री हिताचार्य के उपास्य वे ब्रजराज और वृषभाननंदिनी हैं जिन्हें ब्रजवासीगण नहीं देख पाते। [विशद विवेचन प्रबंध की पृष्ठ सं. २४६-२५३ पर] नित्य रास के इन्द्रादि सभी लीला-उपकरण भी त्रिपाद विभूति के न होकर श्यामा-श्याम के अपने निजी हैं। [विस्तृत विवेचन प्रबंध की पृ. सं. २२६-२२८ पर]

मोहिनी मदन गोपाल की बाँसुरी।

माधुरी श्रवन पुट सुनत सुनि राधिके, करत रतिराज के ताप कौ नासु री।  
सरद राका रजनि विपिन वृन्दा सजनि, अनिल अति मंद शीतल सहित वासु री।  
परम पावन पुलिन, भृङ्ग-सेवत नलिन, कल्पतरु तीर बलवीर कृत रासु री।  
सकल मंडल भलीं तुम जु हरि सौं मिलीं, बनीं वर बनित उपमा कहौं कासु री।  
तुम जु कंचन तनी, लाल मर्कत मनी, उभै कल हंस हरिवंश बलि दासु री।

उपर्युक्त पद में 'बलवीर' नाम एक बार महारास का भ्रम उत्पन्न करता है किन्तु 'बाँसुरी द्वारा रतिराज के ताप का नाश' होने का उल्लेख पद को नित्य रास वर्णनात्मक मानने के लिए विवश कर देता है। क्योंकि महारास का वंशीनाद रतिराज के ताप का नाशक नहीं



प्रत्युत उसकी वृद्धि करता है। महारास की गोपियाँ श्री राधा से प्रार्थना करती हुई नहीं देखी जातीं प्रत्युत सब अलक्षितोद्यमा देखी जाती हैं। 'बलवीर' नाम उल्लेख होते हुए भी आलोच्य पद में नित्य रास का ही वर्णन है ऐसा कहने के लिए इसलिए भी विवश होना पड़ता है क्योंकि हिताचार्य के परमोपास्य वे नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी हैं जिन्हें नन्द वृषभान तथा बलवीर आदि स्नेहीजन नहीं देख पाते। [विशद विवेचन प्रबंध की पृ. सं. २४६ से २५३ पर]

खेलत रास रसिक ब्रजमंडन। जुवतिनु अंस दियें भुज दंडन॥  
शरद विमल नभ चन्द्र विराजै। मधुर-मधुर मुरली कल बाजै॥  
अति राजत घनश्याम तमाला। कंचन-बेलि बनी ब्रजबाला॥  
बाजत ताल मृदङ्ग उपङ्गा। गान मथत मन कोटि अनङ्गा॥  
भूषन बहुत विविध रँग सारी। अङ्ग सुधङ्ग दिखावति नारी॥  
बरसत कुसुम मुदित सुरयोषा। सुनियत दिवि दुंदुभि कल घोषा॥  
जै श्री हित हरिवंश मगन मन श्यामा। राधा रवन सकल सुख-धामा<sup>१</sup>॥

उपर्युक्त पद में 'मधुर-मधुर मुरली कल बाजै' तथा 'अंग सुधंग दिखावति नारी' ये पंक्तियाँ पद को निर्मान्त रूप से नित्य रास वर्णनात्मक कहने के लिए बाध्य करती हैं क्योंकि महारास में वंशी बजती हुई नहीं देखी जाती वह तो केवल गोपियों को बुलाकर मौन और अलक्षित हो जाती है। महारास में सुधंग नृत्य न होकर हल्लीसक नृत्य हुआ था। नित्य रास का वर्णन करते हुए भी 'ब्रज मंडन' नाम और 'सुरजोषा' शब्द का उल्लेख क्यों किया है—इसका विशद विवेचन प्रबंध की पृ. सं. २२६-२२८, २४६-२५३ पर देखिये।

श्याम सँग राधिका रास मण्डल बनी।

बीच नँदलाल ब्रजबाल चम्पक वरन, ज्योंऽव घन तड़ित बिच कनक मर्कत मनी<sup>२</sup>॥

उपर्युक्त पद में महारास का वर्णन है ऐसा कहने के लिये कोई आधार नहीं है क्योंकि बीच में नन्दलाल और चम्पक वरनी ब्रजवाल श्री राधा स्थित हैं। वे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं जैसे घन और बिजली के बीच में कनक और श्याममणि सुशोभित हों; पद में उल्लिखित ये पंक्तियाँ महारास के विपरीत नित्य रास की प्रतीक हैं क्योंकि शुकदेव जी ने महारास वर्णन सन्दर्भ में सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है कि - "दो-दो गोपियों के बीच में एक-एक श्याम सुन्दर सुशोभित हैं।" आलोच्य पद में इसका सर्वथा अनुल्लेख है। अर्थात् श्री शुक मुखोक्त महारास वर्णना की भाँति 'बीच-बीच में' शब्द का उल्लेख नहीं है। एक ही बार 'बीच' शब्द का उल्लेख सखी मण्डल के मध्य में स्थित गौर-श्याम जोरी के लिए ही है। इस आधार से निर्ग्रन्ततः बहुत अधिक स्पष्ट है कि- 'ज्योंऽव घन तड़ित बिच' इस वाक्य में



संकेतित गौर-साँवरी राधाकिंकरीगण ही हैं। श्री हिताचार्य ने 'घन-तड़ित' शब्द के द्वारा गौर-साँवरी राधाकिंकरीगणों का ही संकेत किया है— ऐसा कहने के लिए हम इसलिए भी विवश हैं क्योंकि भगवान श्री कृष्ण ने महारास सुनिश्चित रूप से गोपियों की मनोकामना पूर्ण करने के उद्देश्य से किया था। अतः उन्हें प्रत्येक गोपी के पार्श्व में श्री कृष्ण रूप बनना पड़ा था। किन्तु हिताचार्य द्वारा वर्णित नित्य रास [जिसमें श्री राधा मदन-मद दूर किया करती हैं- 'दूरि कृत मदन मद मत्त गज गामिनी'] तो उनके उपास्य की निर्हेतुक नित्य क्रीड़ा है जिसमें सब सखियाँ तत्सुखसुखी हैं— ऐसी स्थिति में गोपियों के पार्श्व में अनन्त श्री कृष्ण की कल्पना सर्वथा असंभव है। अब केवल यही बात रह जाती है कि श्रीहिताचार्य ने श्याम और राधिका को नंदलाल और ब्रजवाल नाम से स्मरण क्यों किया है ? इसका विशद विवेचन प्रबंध की पृष्ठ सं. २४६-२५३ पर देखिये।

मोहन मदन त्रिभंगी । मोहन मुनि मन रंगी ।  
मोहन मुनि सघन प्रगट परमानंद गुन गंभीर गुपाला ।  
सीस किरीट श्रवण मणि कुण्डल उर मंडित वनमाला ।  
पीताम्बर तन-धातु विचित्रित कल किंकिनि कटि चंगी ।  
नख-मनि तरनि चरन सरसीरुह मोहन मदन त्रिभंगी ।  
मोहन वेनु बजावै । इहि रव नारि बुलावै ।  
आई ब्रजनारि सुनत वंशी-रव ग्रहपतिबंधु बिसारे ।  
दरसन मदनगुपाल मनोहर मनसिज ताप निवारे ।  
हरषित वदन, बंक अवलोकनि, सरस मधुर धुनि गावै ।  
मधुमय श्याम स मान अधर धरि मोहन वेनु बजावै ।  
रास रच्यौ वन माँहीं । विमल कल्पतरु छाँहीं ।  
विमल कल्पतरु तीर सुपेशल सरद रैन वर चन्दा ।  
शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन बहै तहँ खेलत नँदनन्दा ।  
अद्भुत ताल मृदङ्ग मनोहर किंकिनि शब्द करार्हीं ।  
यमुना पुलिन रसिक रस-सागर रास रच्यौ वन माँहीं ।  
देखत मधुकर-केली । मोहे खग-मृग बेली ।  
मोहे मृगधेनु सहित सुर सुन्दरि प्रेम मगन पट छूटे ।  
उड़गन चकित थकित शशि मण्डल कोटि मदन मन लूटे ।  
अधर पान परिरम्भन अति रस, आनंद मगन सहेली ।  
जै श्री हित हरिवंश रसिक, सचु पावत देखत मधुकर केली ।



उपर्युक्त पद में उल्लिखित 'मुनि मन रंगी', 'गुपाला', 'आई ब्रजनारि सुनत वंशी रव ग्रहपति बन्धु बिसारे', 'नैदनंदा', 'मृग धेनु', 'सुर सुन्दरि', आदि शब्द और शब्द समूह देखकर ऐसी भ्रान्ति होना सम्भव है कि यह पद महारास का है किन्तु पद में उल्लिखित 'देखत मधुकर केली', 'आनंद मगन सहेली', इन पंक्ति द्वय पर विचार करते ही यह भ्रान्ति सर्वथा निरस्त हो जाती है, क्योंकि शुकदेव जी के वर्णनानुसार महारास में जाने वाली गोपियाँ श्री राधा की सहेलियाँ या दासियाँ न थीं, वे तो सबकी सब श्री राधा के प्रति प्रतिस्पर्धा रखने वाली श्री कृष्ण की प्रेमिका थीं—तभी तो उनके साथ न जाकर उनसे अलक्षित होकर श्री कृष्ण के निकट पहुँची थीं।

वे स्वयं श्री कृष्ण के साथ केलि करके आनंद मग्न होने वाली थीं— श्री राधा श्याम सुन्दर की मधुकर केलि को देखकर सचु पाने वाली नहीं—प्रत्युत शोक मग्न होने वाली थीं। मधुकर केलि को देखकर सचु पाने वाली रसिक रूप में गोपियों के दर्शन महारास में नहीं होते— ऐसी रसिक सहेलियों के दर्शन नित्य रास में ही प्रत्यक्ष होते हैं<sup>१</sup>। इसीलिए आलोच्य पद में सहेलियों को केलि देखकर आनंद मग्न होना लिखा गया है और साथ ही उन्हें रसिक कहकर प्रकीर्तित भी किया है। श्री मद्भागवत वर्णित महारास में इन दोनों तथ्यों का अनुल्लेख है।

इस विवेचना के आलोक में महारास बोधक वाक्यों का वाच्यार्थ न लेकर इन शब्दों में ही अन्तर्गर्भित विशिष्ट अर्थ लेना ही पद प्रेणता के भावानुकूल होगा और विद्वद्जन सम्मन्य भी होगा क्योंकि वह कोषगत शब्दार्थ पर ही आधारित है।

'मोहन मुनि मन रंगी' इस चरण में प्रयुक्त 'मुनि' शब्द का कोष गत अर्थ है — मौन होकर मनन करने वाला। नित्य रास में नारदादि मुनि न होकर ऐसी अनेक सखियाँ हैं जो मौन होकर एकाग्र चित्त होकर सेवा में संलग्न थीं। [श्री राधा भी किसी अभिनव कमल की शोभा देखकर मौन थीं] मोहनलाल ऐसे मुनि मनो को रास रंग में रंजित करने वाले हैं।

'गुपाला' 'ब्रजनारि', 'नैदनंदा', और 'सुर सुन्दरि' शब्द के लिए प्रबंध की पृष्ठ सं. २२६-२२८, २४६-२५३ का विवेचन देखें।

'ग्रहपतिबन्धु बिसारे' इस शब्द समूह में प्रयुक्त 'ग्रह' शब्द का अर्थ 'घर', 'पति' शब्द का अर्थ स्वामी या भरतार [वह पुरुष जिससे किसी स्त्री का वैदिक रीति से विवाह हुआ हो] और 'बन्धु' का अर्थ भाई होता है। आलोच्य पद में प्रयुक्त 'पति बिसारे'— इस वाक्य

१. [क] जै श्री हित हरिवंश निकट दासीजन लोचन चषक रसासव गटकति।

[ख] जै श्री हित हरिवंश रसिक ललितादिक लता भवन रंघन अवलोकति।



से साधारणतया यह व्यंजित होता है कि रास में जाने वाली सभी गोपियाँ विवाहिता थीं; किन्तु भागवत वर्णित महारास में जाने वाली सभी गोपियाँ [जिनमें श्री राधा भी थीं] केवल विवाहिता ही नहीं थीं— कुमारिका भी थीं।

श्री राधा कुमारिका थीं या विवाहिता यह विषय आज भी विवादास्पद बना हुआ है। यदि श्री राधा को विवाहिता ही माना जाय तो भी सुधीजनों और सन्तजनों के मत बाहुल्य से उनका विवाह श्री कृष्ण के साथ ही हुआ था। किन्तु आलोच्य पद में मोहन वंशी वादन करके ब्रजनारि श्री राधा को बुला रहे हैं। प्रश्न होता है कि तब श्री राधा किस पति को छोड़कर आई? ऐसी स्थिति में यहाँ 'पति' शब्द का अर्थ भरतार या दूलह न लिया जाकर 'पति' शब्द को 'ग्रह' शब्द के साथ संयुक्त करके ग्रहों का स्वामी—सूर्य अर्थ लिया जाना ही शास्त्र सम्मत होगा। 'बन्धु' शब्द का अर्थ भाई होता है। भागवत के अनुसार महारास में जाने वाली गोपियाँ अपने भाइयों को छोड़कर आई थीं— ऐसा उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में 'बन्धु' शब्द को भी 'ग्रहपति' शब्द के साथ संयुक्त करके सूर्य बन्धु—कमल—अर्थ लेना ही समीचीन और शास्त्रानुमोदित होगा।

'मृगधेनु' शब्द का कोषगत अर्थ होता है मृगी और 'सुर' शब्द का अर्थ होता है स्वर। इस कोषगत अर्थ की रक्षा करते हुए अर्थ करने पर 'सुर-सुन्दरी' शब्द का अर्थ होगा सुर देने वाली सुन्दरियाँ। इस प्रकार 'मृग धेनु.... छूटे' इस पूरे वाक्य का यही अर्थ स्वीकार करना होगा कि रास के स्वर माधुर्य को सुनकर मृगियों सहित मृग मोहित हो गये तथा स्वरदात्री सखियाँ इस प्रकार आनन्द मग्न हो गई कि उनके पट इतस्ततः हो गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त पदों में रास के उपकरणों का जो रूप प्रत्यक्ष हुआ है, वह महारास का परिचायक नहीं प्रत्युत नित्य रास का ही परिचायक है। आलोच्य पदों में मान, विरह, श्री कृष्ण का ईशत्व दर्शन, बहु बल्लमता, कृष्ण चरण प्राधान्य, ललितादिकों का श्री कृष्ण से कान्त सम्बन्ध आदि—आदि का सर्वथा अभाव है, साथ ही महारास के उद्देश्यों का भी कोई आभास तक नहीं दिखाई देता। इन सब बातों को देखते हुए साधुजन तथा सुधीजन इन आलोच्य पदों को निर्भ्रान्त रूप से नित्य रास वर्णनात्मक ही स्वीकार करेंगे।

उपर्युक्त निर्णायक कसौटी और हित वाणी के पदों की विवेचनात्मक व्याख्या को पढ़कर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि श्री हिताचार्य ने ऐसे पदों की रचना ही क्यों की जिनसे निकुंज परक अर्थ के साथ—साथ अवतार कालीन महारास परक अर्थ भी लिए जा सकें? इस प्रश्न की विशद विवेचना हम प्रबंध में आगे— 'लीला गान संबंधी एक शंका और उसका निराकरण' इस शीर्षक में करेंगे। उस विवेचना को मनन करने के पश्चात्



भी यदि किसी को श्री हिताचार्य की वाणी में ब्रज का रास ही दिखाई दे तो वह ऐतिहासिक तथ्य नहीं उनकी अपनी व्यक्तिगत भावना का ही प्रकाशन होगा। यथार्थ यह है कि श्री हिताचार्य ने विशुद्ध निकुंज परक अर्थ प्रदायक पदों की ही रचना की है और इसीलिए प्रायः सभी प्राचीन टीकाकारों ने भी पदों के निकुंज परक अर्थ किये हैं।

हित वाणी के सर्व प्रथम आलोचक सेवक जी ने प्रेमी अनन्यों [हित धर्मियों] के भजनीय तत्त्व और उपासनीय रूप पर प्रकाश डालते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि प्रेमी अनन्यों का भजनीय तत्त्व न तो निर्गुण निराकार अन्तर्यामी रूप है, न यशोदानन्दन रूप है और न महारास लीला में प्रत्यक्ष रासविहारी रूप ही है [क्योंकि उस रास लीला में ईश्वरता, मत्सुख, काम, कामना, मान, विरह, गर्व आदि की मिलौनी है] उनका भजनीय तत्त्व तो नित्यरास—जिस रास में कोई मिलौनी नहीं है—में प्रत्यक्ष रूप है—

प्रेमी अनन्य भजन्न न होय जु अन्तर्यामी भजै मन में।

जो भजि देख्यौ यशोदा कौ नन्दन तौ विश्व दिखाई सबै तन में।

श्री हरिवंश सुनाद विमोहीं ते शुद्ध समीप मिली छिन में।

अब यामें मिलौनी मिलै न कछू जब खेलत रास सदा वन में<sup>१</sup>।

#### ५.१.१.६. लीला गान सम्बन्धी शंका और निराकरण :

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि श्री हिताचार्य ने विशुद्ध निकुंज लीला का ही गान किया है, ऐश्वर्य लीला या ब्रज लीला का नहीं। किन्तु उनकी रचनाओं में कुछ ऐसे नाम और रूप का सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसे पढ़कर सर्व साधारण पाठक, ब्रजलीला उपासक और अन्य सम्प्रदाय निष्ठ सज्जनों को यह भ्रम होना सम्भव है कि श्री हिताचार्य ने निकुंज लीला की भाँति ही ब्रजलीला को भी अपना गेय बनाया है। इस लीला गान को देखते हुए कठिन समस्या यह उपस्थित होती है कि—

यदि यह माना जाय कि श्री हिताचार्य ने निकुंज लीला के साथ ब्रज लीला का भी गान किया है तो सुधी समाज, सन्त समाज और रसिक समाज में विख्यात उनका अद्वितीय उत्कट अनन्य व्रत परिलाञ्छित होता है और साथ ही श्री हिताचार्य को 'अनन्य उत्कट व्रत धारी' कहकर स्वरूप परिचय देने वाले रामभक्त श्री नाभाजी, भगवत मुदित जी तथा प्रियादास जी [गौड़ीय] वंशी अलीजी, किशोरी अलीजी, रूप सखी जी, भगवत रसिक जी और व्यास जी, सेवक जी, नागरीदास जी तथा हित ध्रुवदास जी आदि अनेकानेक रसिकों और भक्तों पर असत्य संभाषण करने का लाञ्छन भी लगता है। इन महानुभावों ने श्री हिताचार्य को 'अनन्य उत्कट व्रत धारी' तथा विशुद्ध निकुंज रस का प्रागट्य करने



वाला और गान करने वाला क्यों लिखा ? जबकि मिलौनी के साथ दोनों लीलाओं [नित्य निकुंज लीला और अवतार कालीन ब्रज लीला] का गान करने पर तो इन्हें अनन्य ही नहीं कहना चाहिए था, 'अनन्य उत्कट व्रतधारी' कहना तो बहुत दूर की बात है।

यदि यह कहा जाय कि श्री हिताचार्य ने ब्रज लीला का गान नहीं किया है; वे तो निकुंज लीला के अनन्य उपासक थे। अतः उनके द्वारा ब्रज लीला गान करने की कल्पना ही असम्भव है। ऐसी स्थिति में प्रश्न ये उठते हैं कि— जिन रचनाओं में ब्रज लीला परक नाम और रूप का उल्लेख है वे भ्रमोत्पादक पद और श्लोक क्या श्री हिताचार्य द्वारा विरचित नहीं हैं ? और ये पद आचार्य चरण की रचना में कब; क्यों और किस प्रकार सम्मिलित कर लिये गये ? यह भी देखा जाता है कि ये पद और श्लोक हित रसिकों द्वारा उसी प्रकार समादित हैं जिस प्रकार श्री हिताचार्य कृत अन्य पद समादित किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि उपासना के विपरीत दिखाई देने वाले इन पदों या श्लोकों की रचना करने का कोई उद्देश्य विशेष या कारण विशेष क्या था ? आगे के पृष्ठों में हम इन्हीं समस्या मूलक प्रश्नों पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे और भ्रम मूलक 'शंका' का सर्वमान्य समाधान निकालने की चेष्टा करेंगे।

यह एक निरापद और भक्ति शास्त्रानुमोदित तथ्य है कि संसारी व्यक्ति हो या भगवान का प्रेमी भक्त हो वह अपने इष्ट— अपने प्रेमपात्र [प्रीति के विषय] के ही नाम-रूप और लीलाओं का गान करता है। अवतार कालीन लीला— ब्रज लीला के मूलभूत उद्गाता श्री मद्भागवतादि पुराण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के गहन आलोड़न से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वत्सल भाव क्षेत्रीय, सख्य भाव क्षेत्रीय और मधुर भाव क्षेत्रीय इन तीनों लीलाओं के लीला नायक भगवान श्री कृष्ण हैं। सुबल-सुबाहु आदि सखा परिकर, नन्द-यशोदा कीर्ति-वृषभानादि सनेही परिकर और श्री राधा, चन्द्रावली, ललितादिक प्रेयसी परिकर की प्रीति के विषय प्रेमपात्र भगवान श्री कृष्ण ही हैं।

ब्रज लीला के उपासक किंवा ब्रज लीला गायक गण सुनिश्चित रूप से सखा भाव वात्सल्य भाव और गोपियों के मधुर—भाव से भावित हृदय होकर [सखा, माँ यशोदा या गोपी बनकर] ही भगवान श्री कृष्ण की ब्रज लीला का आनन्दानुभव किया करते हैं।

रीति कालीन कवि गणों ने भी गोपीजन बल्लभ श्री कृष्ण की शृंगार रस केलि — 'गोपियों के संग की गई मधुर केलि को अपनी रचनाओं का वर्ण्य विषय बनाया है, किन्तु इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनके हृदय में भगवान श्री कृष्ण के प्रति सख्य, वत्सल और मधुर भाव इन तीनों में कोई भी भाव सम्बन्ध नहीं था। सेनापति, आलम, बोधा आदि रीतिकालीन कवियों की भगवान श्री कृष्ण के प्रति श्रद्धा भक्ति या प्रीति नहीं थी। इसीलिए न तो उन कवियों की 'प्रेमी भक्त' संज्ञा ही हुई और न उनकी रचनाओं की 'श्री कृष्णभक्ति-काव्य' संज्ञा।



सूरदासादि श्री कृष्ण भक्तों ने भी कृष्ण लीला के साथ भगवान श्री राम की लीलाओं का गान किया है तथा अन्य सभी अवतारों का चरित्र गान किया है<sup>१</sup>। इसी प्रकार गो. तुलसीदास, अग्रदास और मानदासादि राम भक्तों ने भी रामलीला गान के साथ ही श्री कृष्ण लीलाओं का गान किया है<sup>२</sup>। किन्तु रामलीला-गान करने से न तो सूरदास की रामलीला गायक राम भक्त संज्ञा हुई और न श्री कृष्ण लीला गान करने से तुलसीदास की कृष्ण लीला गायक कृष्णभक्त संज्ञा ही हुई क्योंकि सूरदास के प्रेमपात्र राम नहीं श्री कृष्ण ही थे और तुलसीदास के इष्ट भगवान श्री राम ही थे श्री कृष्ण नहीं। हाँ यह सत्य है और इस सत्य को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता कि सूरदासादि कृष्ण भक्तों ने रामलीला का और तुलसीदासादि राम भक्तों ने कृष्ण लीला का गान किया है। क्यों किया है ? क्योंकि ये सभी भक्त अनन्त रूप और अनन्त लीला करने वाले भगवान राम किंवा भगवान श्रीकृष्ण के उपासक थे। इन भक्तों का यह कार्य भगवद् भक्ति-विधान के अनुकूल ही था। क्योंकि सगुण साकार भगवान के उपासक को सभी अवतारों के प्रति समान भक्ति भाव रखना अनिवार्य होता है। यह तथ्य भक्ति शास्त्र सम्मत और भक्ति सम्प्रदायाचार्यों द्वारा स्वीकृत भी है।

निर्गुण निराकार भक्ति के संस्थापक रूप में व्याख्यात श्री शंकराचार्य ने भी 'पाण्डुरंगाष्टक', 'भगवन्मानस पूजन स्तोत्र' तथा 'कृष्णाष्टक' आदि स्तव ग्रन्थों की रचना की है किन्तु उनका यह गान वैध है या अवैध इस सम्बन्ध में आज तक किसी ने कोई विचार नहीं किया है।

रसोपासक बिहारिनिदास जी ने भी अनेक पदों में ब्रज लीला के संयोग-वियोगात्मक प्रेम का स्वरूप चित्रण किया है। उन्होंने कहीं पर श्री कृष्ण-विरह में गोपियों द्वारा महारास की शरद रात्रि का स्मरण<sup>३</sup>, कहीं विरहिणी गोपी द्वारा श्याम से पुनः मिलने की आकांक्षा<sup>४</sup>

१. दे.- सू. सा., सू. दा. श्री मद्भागवत के नवम स्कंध का पद्यानुवाद।

२. दे.- कृ. गी., गो. तु. दा.

३. रैंगीली क्यों बिसरति बतियाँ। रतिपति रस बस भये परस्पर लिखी सुहृथ छतियाँ॥  
उनही अंकनि प्रान रहत पै करत काम खतियाँ। वर विषु घोरि पिवायौ होतो अनहित कत हतियाँ॥  
श्याम सनेह बिसारि सखी सुनि कागद की पतियाँ। बिहारीदास प्रभु बहुरि सुमिरि हैं सुखद शरद की रतियाँ॥

४. हरि बिनु क्यों राखौ ए प्रान। लागत नैन निमेष जिते सखि बीतत कलप समान॥  
हौं बल हीन भई समझावति मानत सपत न आन। जानति हौं छुटि जैहैं तन तुव सुमिरत वैनु वखान॥  
रटई रहत कहत कब मिलिहैं अवधि बीच नियरान। बिहारीदास प्रभु विरहिन कौ दुख भेटौ श्याम सुजान॥

— बि. दा. जी की वा., बि. दा., प. सं. १३४, १३५



कहीं कृष्ण रूप वर्णन के माध्यम से कृष्ण रूपाशक्ति<sup>१</sup> और अपने पुत्र-पति आदि का त्याग करके महारास में जाने वाली गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ रमण-आदि का वर्णन करके सच्चे प्रेम की गुरु गोपियों को ही स्वीकार किया है<sup>२</sup>।

हम कहें या न कहें किन्तु सर्वसाधारणजन और भक्तजन बिहारिनिदास जी के इन पदों को पढ़कर उन्हें गोपी भाव का ही उपासक मानते हैं। उनका कहना है कि बिहारिनिदास जी की दृष्टि में गोपियों का प्रेम ही सच्चा प्रेम था; साथ ही कतिपय निकुंज रस के उपासकों की निर्विरोध स्वीकृति किंवा मौन; सर्व साधारण की इस मान्यता को और भी अधिकाधिक सम्पुष्ट बनाता है। आज के आलोचनात्मक जगत में यह प्रश्न बन भी सकता है कि एक बिहारिनिदास जी जैसे रसोपासक द्वारा इस प्रकार की ब्रजलीला का गान क्यों ?

श्री हिताचार्य अनन्त लीला वाले, अनन्त रूप वाले, धर्म तथा लोक-वेद की मर्यादा की रक्षा करने वाले षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान श्री कृष्ण के उपासक नहीं थे। वे उस परम रहस्य और परमाद्भुत 'प्रेम' किंवा 'रस' के उपासक थे जो अनन्यधर्मा और अनन्य प्रकृति है। अर्थात् वह एक निष्ठ होता है। श्री हिताचार्य उस 'प्रेम' के अपने निज धर्म, 'प्रेम धर्म', किंवा अनन्य धर्म के आविर्भावक ही थे। इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि श्री नामा जी, प्रियादास जी, भगवत मुदित जी तथा सेवक जी आदि-आदि ने अपने-अपने ग्रन्थों में की है।

यह भी निरापद सत्य है कि श्री हिताचार्य की परम इष्ट श्री राधा ही हैं। इसीलिए वे अपने को श्री राधा के चरणों में ही मन-क्रम-वचन से सर्वात्मना समर्पित कहते हैं। उनका उद्घोष है कि —

“हे रसदायिनी श्री राधे ! तुम्हारे ही उच्छिष्टामृत का भोजन करती हुई, तुम्हारे ही चरित्रों को सुनती हुई, तुम्हारे ही चरण-कमल-रज का स्मरण करती हुई, तुम्हारे ही कुंजालयों में विचरण करती हुई, तुम्हारे ही दिव्य गुणों का गान करती हुई एवं तुम्हारी ही मूर्ति को देखती हुई मैं शुद्ध तन-मन और वाणी से केवल तुम्हारी ही आश्रिता हूँ<sup>३</sup>।”

१. बिहारी बानिक की बलि जाउँ। निशि-दिन रूप मनोहर नैननि अवलोकत न अघौँ॥ लिये रहौँ रुख निकट एकटक भूलिन अब अलसौँ॥ छिन छिन गनौँ कृपन के धन लौँ घरौँ द्वंद करि ठौँ॥ अबहूँ कबहूँ काहू लाले परसत हूँ न पत्याउँ। बहुस्थौ वचन वियोग जिन कहौ यह भै डरनि डराउँ॥ तुमसौँ जोरि तोरि सबसौँ मन नैकु न सकुच लजौँ॥ बिहारिनिदासि भई दुलराऊँ गुन गाऊँ लै लै नाँ॥

२. सौँचे प्रेम की गुरु गोपी। सबै निशंक चली हरि सनमुख लै अपने उर ओपी॥ सुत-पति परिहरि मन न कछू धरि व्रजत क्रोध न कोपी। मँटि मिली मरजाद लाज जे लोक वेद आरोपी॥ मगन भई सुन्दर सरूप सुख सब वासना अलोपी। बिहारीदास रस रमी श्याम सँग सब बाधिकन दै घोपी॥

— बि. दा. जी की वा., बि. दा., प. सं. १३६, १३७

३. उच्छिष्टामृत भुक्तावैव चरितं शृण्वंस्तवैवस्मर —। न्यादाम्भोज रजस्तवैव विचरन्कुञ्जांस्तवैवालयान्। गायन्दिव्य गुणां स्तवैव रसदे पश्यं स्तवैवाकृतिं। श्री राधे तनुवाडमनोभिरमलैः सोहं तवैवाश्रितः।

— रा. सु. नि., श्लो. २४०



“जागते सोते और स्वप्न में श्री राधा-चरण-कमलों की छटा ही मेरे मन में प्रकाशित होती रहे। बैकुण्ठ अथवा नरक में भी श्री राधा के अतिरिक्त मेरे लिए अन्य कोई गति न हो। श्री राधा की केलि कथा रूप अमृत समुद्र की महा तरंगों से आन्दोलित मेरा मन यमुना तटस्थ कुंज मन्दिर के आँगन में आनन्द पाता रहे<sup>१</sup>।

एक अन्य स्थल पर आश्चर्य जनक उत्कट अनन्यता की पराकाष्ठा व्यक्त करते हुए कहा है कि मैं हरे तृण को छूकर शपथ करता हूँ कि मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा ही हैं। जो अवतार समूहों के भजन करने वाले उपासकगण हैं वे भी श्री राधा चरण प्राधान्य प्राण वन विहार रस का पान करके अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर बैठते हैं। इस कथन के द्वारा श्री हिताचार्य ने राम-कृष्ण आदि सम्पूर्ण अवतार समूहों के प्रति अपनी विरति व्यंजित कर दी है —

रहौ कोऊ काहू मनहिं दियें।

मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा शपथ करों तृण छियें।

जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हियें।

तेऊ उमगि तजत मर्यादा, वन विहार रस पियें।

खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज अस जियें।

जै श्री हित हरिवंश अनत सचु नाही बिनु या रजहिं लियें<sup>२</sup>।

श्री हिताचार्य ने अपने कथन को सशक्त शब्दों में सम्पुष्ट करते हुए यह भी घोषणा की है कि यदि मैं श्री राधा नाम छोड़कर अन्य कोई नाम रटूँ, तो मेरी जिह्वा कट जाय, यदि अन्य रूप को देखूँ तो मेरी आँखें फूट जाँय और यदि श्री राधा यश के अतिरिक्त अन्य किसी का यश सुनूँ तो मेरे श्रवण फूट जाँय—

रसना कटौ जु अनरटों निरखि अनफुटौ नैन।

श्रवन फुटौ जो अनसुनों बिनु राधा जस बैन<sup>३</sup>।

अपनी परमेष्ठ श्री राधा का स्वरूप—परिचय देते हुए श्री हिताचार्य ने यह भी सुस्पष्ट कर दिया है कि जो गोविन्द प्रिय वर्ग से सर्वथा दुर्गम और वृन्दावन की सीमा में ही गोचर है; उन श्री राधा कैकर्य रसामृत के अतिरिक्त मेरे चित्त को अन्य कुछ भी नहीं रुचता—  
घर्माघर्ष चतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथा वार्तया। सैकान्तेश्वर भक्ति योग पदवी त्वारोपिता मूर्धनि।  
यो वृन्दावन सीम्निकश्चन घनाश्चर्याः किशोरी मणिः। स्तत्कैकर्य रसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते<sup>४</sup>।

१. जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति सु स्फुरतु मे राधा पदाब्जच्छटा। बैकुण्ठे नरकेथवा मम गतिर्नान्यस्तु राधां विना।

राधा केलि कथा सुधाभुधि महा बीचीभिरान्दोलितं। कालिन्दी तट कुंज मन्दिर वरालिन्दे मनोविन्दतु॥

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १६४

२. स्फु. वा. गो. हि. ड. जी., प. सं. २०, २७

४. रा. सु. नि., श्लो. ७७



परमेश्वर श्री राधा के प्रति अपना प्रगाढ़ अनुराग व्यक्त करते हुए श्री हिताचार्य ने यह भी कह दिया है कि—जिनमें प्रेम विग्रह श्री राधा की महिमा का गान नहीं है— “श्री राधा चरण की प्रधानता नहीं है”— उन शास्त्रों से, उन शास्त्रोदित सदगृहीत मार्गों से भी हमारा क्या प्रयोजन है?

उपर्युक्त विवेचना का सारांश यह कि जो सभी साधुजनों और सुधीजनों द्वारा अनन्य उत्कट व्रतधारी रूप में प्रकीर्तित हो, जिसने अपनी स्वामिनी श्री राधा के प्रति उत्कट अनन्य व्रतैक निष्ठा का शपथ पूर्वक उद्घोष किया हो, जिसने श्री राधा-महिमा विहीन सभी परमेश्वर भजन मार्ग, सभी अवतार लीला, और भगवान श्री कृष्ण चरण प्रधान ब्रज लीला से विरति का उद्घोष किया हो—उस महान विभूति ने अपनी उद्घोषित प्रतिज्ञा के विपरीत उस ब्रज लीला का भी गान किया है—जिसमें श्री कृष्ण का प्राधान्य है जिसके कथन-श्रवण से कृष्ण पद रति ही प्राप्त और परिपुष्ट होती है—ऐसी क्लिष्ट कल्पना कम से कम साधुजन और सुधीजन तो नहीं कर सकते। ऐसी कल्पना इसलिए भी सम्भव नहीं है क्योंकि श्री हिताचार्य ने स्वयं ही यह बात भी कह दी है कि—मैं श्री कृष्ण रसामृत का सार वर्णन कर रहा हूँ—जिसके श्रवण करने से श्री राधा-रति [श्री राधा-चरण-कमलों में प्रीति] प्राप्त होती है। व्यंजना बहुत स्पष्ट है कि मैं कृष्ण रसामृत ‘ब्रज लीला’ का वर्णन नहीं कर रहा हूँ—

जै श्री हित हरिवंश यथामति वरनत कृष्ण रसामृत सार।

श्रवन सुनत प्रापक रति राधा-पद-अम्बुज सुकुमार<sup>१</sup>।

यह बात भी सर्व विदित है और सभी को स्वीकार है कि यह श्री राधा-चरण-कमलों की रति श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में वर्णित भगवान श्री कृष्ण की ब्रज लीला के कथन-श्रवण और गायन से प्राप्त नहीं होती।

विचारणीय विषय से सम्बन्धित प्राप्त सामग्री के गहन आलोड़न के परिणाम स्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री हिताचार्य ने ब्रज लीला का गान नहीं किया है—विशुद्ध निकुंज लीला का ही गान किया है। किन्तु ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि भ्रमोत्पादक ये पद किंवा श्लोक क्या श्री हिताचार्य कृत नहीं हैं? हम देखते हैं कि चिर प्राचीन काल से ही हित रसिकों द्वारा आलोच्य पदों किंवा श्लोकों का भी आदर उसी प्रकार होता रहा है जिस प्रकार अन्य पदों का हुआ है और हो रहा है। अर्थात् इन पदों या श्लोकों

१. किंवा नस्तैः सु शास्त्रैः किमथ तददुतैर्वर्त्मभिः सदगृहीतैः। यत्रास्ति प्रेम मूर्तेर्नहि महिम सुधा नापि भावस्तदीयः।  
किंवा बैकुण्ठ लक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा। किंवाशाप्यस्तु वृन्दावन भुवि भगुरा कोटि जन्मान्तरेपि।

— रा. सु. नि., श्लो. २१६



को प्रमाण वाक्य माना है, गायन और नित्य पाठ भी किया जाता रहा है और किया जाता है। विक्रम की सत्रहवीं शती में लिखित हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं। अतः यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि ये पद श्री हिताचार्य कृत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में एक जटिल प्रश्न यह उपस्थित होता है कि श्री हिताचार्य ने इनकी रचना क्यों और किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए की थी ?

ऐसी कल्पना की जा सकती है कि श्री हिताचार्य ने सूरदास और तुलसीदासादि भक्तों की भाँति ही ब्रज लीला नायक श्री कृष्ण और वृन्दावनस्थ निकुंज विहारी श्री कृष्ण में समान भाव रखकर ब्रजलीला का गान किया होगा। किन्तु उनकी उपासना के आलोक में विचार करने पर यह कल्पना अनौचित्य पूर्ण ही सिद्ध होती है। श्री हिताचार्य ने उस अनन्य प्रकृत 'प्रेम' उस अनन्य धर्मा 'प्रेम' और अनन्यता प्राण 'प्रेम' की उपासना आविर्भूत की है जो कि ममतात्मक है समतात्मक नहीं। समत्व के लिए तो उसमें कोई स्थान ही नहीं है<sup>१</sup>। शास्त्रों का कथन और लोक का सहज अनुभव भी है कि वह 'प्रेम' स्वरूपतः एकत्व विधायक-‘दो को एक करने वाला’ है। वह और उसी की भाँति उसका उपासक एक को ही देखता है, एक को ही सुनता है एक का ही चिन्तन करता है और एक का ही गान करता है। अर्थात् वह सभी प्रकार से सर्वात्मना एक निष्ठ होता है। श्री हिताचार्य की राधाचरणैक निष्ठा, श्री राधा-चरण-कमलों के प्रति अनन्य प्रेम सर्वविदित है और रसिक वाणी ग्रन्थों में वर्णित है। अतः उनके सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करना सभी की दृष्टि में अनौचित्य पूर्ण कार्य होगा।

श्री हरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना में सन्निष्ठ श्री हरिराम व्यास तथा हित ध्रुवदासादि रसिकों ने अनन्यता का स्वरूप लक्षण व्याख्यान करते हुए लिखा है कि अपने उपास्य के ही नाम-रूप और गुणों का गान करना अनन्यता है—

जाकी है उपासना ताही की वासना ताही कौ नाम-रूप-गुण गाइये।

यहै अनन्य धर्म परिपाटी वृन्दावन बसि अनत न जाइये।

सोई व्यभिचारी जो आन कहै आन करै ताकौ मुख देखे ते दारुन दुख पाइये<sup>२</sup>।

“अनन्यता याकों कहिये कि छाँड़ि अपनों इष्ट और न जानैं, न मन चलै। जो चलै तो अनन्यता नाही<sup>३</sup>।”

१. समता सब संसार में ममता नित्य विहार।

२. व्या. वा., ह. रा. व्या. प. सं. २५

३. व्या ली. सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.

‘अनन्यता’ के इस स्वरूपालोक में विचार करने पर ऐसी कल्पना करना अनुचित ही नहीं सम्भवतः महद् अपराध भी कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में विचारणीय प्रश्न यह शेष रह जाता है कि इन पदों और श्लोकों की रचना श्री हिताचार्य ने किस उद्देश्य-पूर्ति के लिए की थी ? श्री हित-वाणी साहित्य का गम्भीर गवेषणात्मक पूर्ण अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि इन पदों और श्लोकों का प्रणयन तथा ब्रज लीला परक नामों का उल्लेख वस्तुतः सकारण और उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए ही किया गया है। वे कारण और उद्देश्य इस प्रकार हैं—

### ५.१.१.६.१. पूर्व पक्ष और स्वपक्ष निर्धारण :

सभी सम्प्रदायों के इतिहास ग्रन्थों में यह विधान प्राप्त होता है कि प्रत्येक सम्प्रदायाचार्य को अपनी अभिनव उपासना की स्थापना के लिए पूर्व पक्ष में पूर्ववर्ती सम्प्रदायों के सिद्धान्त और सम्प्रदाय का स्वरूप परिचय [उपास्य के नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर के साथ उपासक और उपासना का परिचय] देना अनिवार्य रहा है। श्री हिताचार्य ने भी सर्वथा नवीन उपासना की संस्थापना की थी। अतः उन्हें भी पूर्ववर्ती सम्प्रदायों की उपासनाओं का स्वरूप परिचय देना अनिवार्य था। इसीलिए उन्हें भी स्वनिर्मित ग्रन्थों में कहीं पर निर्गुण निराकार और सगुण साकार ब्रह्म के स्वरूपानन्द पर और कहीं भगवान् श्री कृष्ण की ब्रजलीला से निष्पन्न रूप का सूक्ष्म परिचय देना पड़ा है।

श्री हिताचार्य ने निर्गुण निराकार और सगुण साकार ब्रह्म के स्वरूपानन्द को पूर्व पक्ष में इंगित करते हुए अपने परमोपास्य के स्वरूप को उन सबसे पृथक् कहा है—

कोई तो ब्रह्मानन्दवादी हैं, तो कोई भगवदानन्द [भगवान की वन्दन आदि नवधा भक्ति से प्राप्त आनन्द] में ही मत्त हैं। अन्य लोग श्री कृष्ण के सख्य आदि [सख्य, वत्सल और मधुर भाव के आनन्द] अनुपम परमानन्द का आस्वादन करते हैं किन्तु श्री राधा दासियों के लिए तो उन श्री राधा के चरण-कमलों की प्रकाशमान ज्योति की एक किरण मात्र ही आनन्द के चमत्कार सार [रस] की एकमात्र सीमा है—

ब्रह्मानन्दैकवादाः कतिचन भगवद् वन्दनानन्दमत्ताः।

केचिद् गोविन्द सख्याद्यनुपम परमानन्द मन्ये स्वदन्ते।

श्री राधाकिंकिरीणां त्वखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा।

तत्पादाम्भोज राजन्नखमणि विलसज्ज्योतिरेकच्छटापि१।

श्री हिताचार्य ने सर्व साधारण मानव को अपने परमोपास्य अनाख्यात अद्वय युगल



रूप की ओर उन्मुख करने के लिए लोक विख्यात नंदनंदन-वृषभाननंदिनी आदि नामों को माध्यम तो बनाया किन्तु इस नाम स्वीकृति को देखकर उपासक दोनों रूपों को एक न मान ले अर्थात् उसी पौराणिक रूप को ही अपना उपास्य न समझ ले इसी उद्देश्य से उन्होंने पूर्व पक्ष में भगवान श्री कृष्ण की ब्रज लीला से निष्पन्न रूप का सूक्ष्म परिचय भी इस प्रकार दिया है— किन्हीं दो युवक-युवती की किञ्चित् लज्जा युक्त नटकला [रति भाव-प्रदर्शन] को देखकर चकित होकर जिन्होंने अपने संचित महारत्न रूप कुचों वाले वक्षस्थल को अंचल से ढक लिया है। इस प्रकार से जिन्होंने अपने नेत्रों को इस नटकला से दीक्षित किया है। संसार को विमोहन करने वाले रूप और लावण्य का सञ्चय करती हुई अनिर्वचनीय मुग्धामौलि स्वरूपा अपनी सखियों के साथ श्री वृषभान-भवन में खेल रही हैं—

यूनोर्वीक्ष्यदरत्रपा नटकलामादीक्षयन्ती दृशो।

वृण्वाना चकितेन संचित महा रत्न स्तनं चाप्युरः।

सा काचिद् वृषभान वेश्मनि सखी माला सुबालावली।

मौलिः खेलति विश्व मोहन महा सारूपमाचिन्वती<sup>१</sup>।

बड़ा आश्चर्य है कि [अज्ञात यौवना बाला के] के वक्षस्थल पर शोभित मण्डलाकार ये दो ज्योति पुंज [अभी ही] हृदय को उन्मत्त कर रहे हैं तो फिर आगे क्या फल देंगे। [अर्थात् आगे क्या करेंगे] यह कटाक्षों के अमोघ बाणों का संयोग प्राप्त किये बिना ही भौंह-धनुष प्राणों का हनन करते हैं तो [संयोग प्राप्त होने पर अर्थात् भृकुटि विलास युक्त होने पर] इससे अधिक क्या होगा, यह मैं नहीं जानता—

ज्योतिः पुञ्जद्वयमिदमहो मण्डलाकारमस्या, वक्षस्युन्मादयति हृदयं किं फलव्यन्यदग्रे।  
भू कोदण्डं न कृत घटनं सत्कटाक्षौघ बाणैः, प्राणाह्न्यात्किमु परमतो भावभूयो न जाने<sup>२</sup>।

आचार्य चरण ने उपर्युक्त श्लोकों में बताया है कि वृषभान गृह में क्रीड़ा करने वाला श्री राधा रूप 'लोकप्रत्यक्ष-रूप' है। उस रूप में नित्य कैशोर्य न होकर बाल-कौमार और पौगण्डादि अवस्था भी देखी जाती है। लोक-वेद की मर्यादा है। इसीलिये रसिक प्रीतम से उनका नित्य संगम नहीं हो पाता जो कि प्रेम और रस की पूर्णाभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार से यह लोक प्रत्यक्ष रूप उनके सहज रूप से सर्वथा भिन्न है।

[श्री कृष्ण ने कहा] हे श्री दाम, सुबल, वृषभ स्तोत्र कृष्ण और अर्जुनादि सखाओ! क्या तुम सबने देखा है? मेरी चकित दृष्टि तो कुञ्ज में प्रवेश ही नहीं कर पाई। क्या तुम सबों ने भी देखा? अपने लावण्य प्रवाह से सम्पूर्ण भुवनों को डुबाने वाली किसी अनिर्वचनीय देवी ने दूर से ही तुम्हारे प्रिय मित्र [मुझ श्री कृष्ण] की सम्पूर्ण वस्तुओं का अपहरण कर लिया है—



भो श्रीदामन्सुबल वृषभ स्तोक कृष्णार्जुनाद्याः । किं वो दृष्टं मम नु चकिता दृग्गता नैव कुञ्जे ।  
काचिद्देवी सकल भुवनाप्लाविलावण्य पूरा । दूरा देवाखिलमहरत प्रेयसो वस्तु सख्युः<sup>१</sup> ।

[सखाओं ने कहा] हे श्याम ! गायेँ दूर निकल गई हैं, दिन भी चतुर्थांश शेष रह गया है । हम लोग भी आपको छोड़कर नहीं जा सकते । तुम्हारी माता तुम्हारे आने का मार्ग देख रही हैं । इधर अचानक तुम्हारे चुप हो जाने, सजल नयन और दीन वदन होकर भूमि में लोटने के कारण निश्चय ही हम लोग भी प्राण धारण करना नहीं चाहते—

गता दूरे गावो दिनमपि तुरीयांशमभज । द्वयं दातुक्षांतास्तव च जननी वर्त्मनयना ।  
अकस्मात् तूष्णीके सजल नयने दीन वदने । लुठत्यस्यां भूमौ त्वयि न हि वयं प्राणिनिशवः<sup>२</sup> ।

जिस प्रकार [रा. सु. नि. श्लो. सं. २२५, २२६] में श्री हिताचार्य ने प्रेम की दूसरी भूमिका पर क्रीड़ा करने वाले श्री राधा रूप पर प्रकाश डाला है उसी प्रकार उपर्युक्त श्लोकों में श्यामसुन्दर के उस रूप पर प्रकाश डाला है जो रूप नन्द—वृषभान कीर्ति और यशोदा जी का लाड़ भाजन है । उस रूप का वर्णन करते हुए श्री आचार्य चरण ने कहा है कि वह रूप श्री राधा से पृथक होकर वन में गो और गोपालों के साथ प्रभात से सन्ध्या तक क्रीड़ा किया करता है । उसमें कभी—कभी प्रेम के उपर्युक्त प्रकार का विस्फूर्जन भी देखा जाता है । तात्पर्य यह है कि परात्पर तत्त्व 'प्रेम' अपनी प्रथम लीला भूमिका में प्रेम के निज धाम वृन्दावन में प्रकाशी रूप से केवल रस क्रीड़ा किया करता है जिसमें विशुद्ध माधुर्य विलासी प्रेम के पूर्ण रूप<sup>३</sup> का निरावरण दर्शन होता है । और दूसरी भूमिका में वह प्रेम ब्रज में प्रकाश रूप से क्रीड़ा किया करता है जहाँ पर प्रेम के एकांगी और अपूर्ण रूप का [जिसमें संयोग—वियोग, सुख—दुख, ऐश्वर्य—माधुर्य, अनेक भाव, अनेक रुचि, मत्सुख, लोक-वेद और काल की मर्यादा के आवरण से युक्त रूप का] दर्शन होता है ।

वे सहसा किसी [गोपी] के नवीन वस्त्र को खींचते हैं तो दूसरी के केशों को मुरली से स्पर्श करते हैं । किसी के हाथ को ही पकड़ लेते हैं और कभी [प्रेम की दूसरी भूमिका में क्रीड़ा करने वाली] श्री राधा के पद-कमल मूल में बार-बार गिरते हैं । इस प्रकार ब्रजपुर की गली—गली में वे महा लम्पट मणि भ्रमण करते रहते हैं—

अकस्मात् कस्याश्चिन्नव वसन माकर्षति परां । मुरत्या घमिल्ले स्पृशति कुरुतेन्याकर धृतिम्  
पतन्नित्यं राधा पद कमल मूले ब्रजपुरे । तदित्थं वीथीषु भ्रमति स महा लम्पट मणिः<sup>४</sup> ।

१, २. रा. सु. नि. श्लो. २२७, २२८

३. प्रेम की प्रथम भूमिका में क्रीड़ा करने वाला एकात्म युगल रूप 'पूर्ण प्रेम' है । इस तथ्य को आलोकित करने के लिए ही आचार्य चरण ने उसे पूर्ण प्रेम, पूर्णानुराग, शुद्ध प्रेम, प्रवृद्ध प्रेम, सत् प्रेम, अमन्द प्रेम, नव-नव प्रेम, उज्ज्वल प्रेम, और सान्द्र प्रेम आदि-आदि कहकर स्मरण किया है ।

दे-रा. सु. नि., श्लो. सं.—१०, २१, २४, ४०, ५०, ५१, ७६, ७८, १२७, १३१, १७३, १८६, २४४

४. रा. सु. नि., श्लो. २३२



वह किसी एक ब्रज गोपी का रतिचोर है। किसी अन्य के स्तन पर चकित होकर हाथ रखकर किसी सुन्दर युवती की वेणी में लगी मल्ली माला को वेणु से खींचता है। किसी की पुलकित भुजलता को अपने ऊपर रख लेता है। और किसी अन्य को अपने साथ कुंज में प्रवेश करने का संकेत करता है। वह श्री राधा के चरणों में भी लोटता है, मैं ऐसे उस महा लम्पट को अच्छी तरह से जानता हूँ —

एकस्या रति चौर एव चकितं चान्यास्तनान्ते करं।

कृत्या कर्षति वैष्णुनान्य सदृशो धम्मिल्ल मल्लीसुजम।

धत्तेन्या भुज बल्लिमुत्पुलकितां संकेत च त्यन्यया।

राधायाः पदयोर्लुठत्यलममुं जाने महा लम्पटम्।

श्री हिताचार्य द्वारा प्रणीत उपर्युक्त श्लोकों [रा. सु. नि., श्लो. २२५, २२६, २२७, २२८, २३२, २३३] में एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य यह है कि इन श्लोकों में नन्दनन्दन और वृषभाननंदिनी के 'ब्रज क्रीड़क' रूप का वर्णन तो अवश्य है किन्तु वर्ण्य रूप के प्रति कोई सम्बन्ध या भावना भी है, यह व्यंजित नहीं होता। इन श्लोकों में इंगित रूपों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है जैसे कोई तटस्थ व्यक्ति किसी व्यक्ति का परिचय देता है। 'जाने महा लम्पट' शब्द से आचार्य चरण का ब्रज क्रीड़क रूप के प्रति असम्बन्ध भाव ही व्यंजित होता है

श्री हिताचार्य ने उपर्युक्त श्लोक [रा. सु. नि. श्लो. २२५ से २२८ तथा २३२, २३३] पूर्व पक्ष स्थापन के उद्देश्य से ही विरचित किये हैं यह बात उन्हीं के द्वारा स्वपक्ष स्थापन के उद्देश्य से विनिर्मित श्लोकों से और भी अच्छी तरह से स्पष्ट तथा संपुष्ट हो जाती है; जिन श्लोकों में उन्होंने दोनों रूपों का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए अनाख्यात अद्वय युगल रूप को स्वेष्ट रूप में स्वीकृत और लोकावतरित रूप को अस्वीकृत बतलाया है—

स्वेष्ट रूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि जो श्री राधा—हृदय रूप अगाध सरोवर के हंस हैं। अर्थात् जो एकमात्र श्री राधा हृदय में ही क्रीड़ा करते हुए जीवन धारण करते हैं। जिनके हाथों में मुरली सुशोभित है। पद-पद पर रोम-रोम तथा प्रत्येक इन्द्रियों को अमृत जैसे प्रिय लगने वाले प्रिया-गुणों से आसक्त, जिनके सिर पर चञ्चल मोर चन्द्रिका, कानों में सखियों द्वारा सुरचित कर्ण भूषण और गले में प्रकाशमान गुञ्जाओं की माला सुशोभित हो रही है। वे ही रसिक शिरोमणि श्यामसुन्दर मुझे मिलें—

रसागाधे राधे हृदि सरस हंसः करतले। लसद् वंशस्रोतस्यमृत गुण संगः प्रतिपदम्  
चलत्पिच्छोत्तंसः सुरचितऽप्यतंशः प्रमदया। स्फुरद् गुञ्जा गुच्छः सहि रसिक मौलिर्मिलनुमाम्



उपर्युक्त श्लोक में सम्प्रयुक्त 'स हि' शब्द अन्य सब स्वरूपों का निषेध और स्वपक्ष रूप में कथित तथा इस श्लोक में ही प्रदर्शित स्वरूप की स्वीकृति का बोधक है।

श्लोक में वर्णित श्री राधा का अनन्य प्रेमाराधक श्याम रूप ही श्री हिताचार्य का उपास्य है क्योंकि 'प्रेम' स्वरूपतः अनन्य धर्मा है। जिस रूप में अनन्यता [अनन्य धर्म] पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो वही रूप प्रेम का विशुद्ध रूप है और जिस रूप में इस प्रेम धर्म का पूर्ण दर्शन न हो वह प्रेम का असम्पूर्ण किंवा प्रकाश रूप है। प्रेम की दूसरी भूमिका [अवतार कालीन लीला] में प्रकाशित होने वाले रूप में प्रेम का यह अनन्य धर्म- 'अनन्यता' पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष नहीं है।

स्वेष्ट स्वरूप कथन सन्दर्भ में ही श्री हिताचार्य ने 'राधासुधानिधि' के "किंवा नस्तैः सुशास्त्रै...।" श्लोक सं. २१६ में "यत्र मे नास्ति राधा" लिखकर इस तथ्य को निम्नान्त बना दिया है कि मेरी राधा वस्तुतः सबसे अलक्ष्य और अचिन्त्य ही हैं। अर्थात् श्री राधा का वह रूप मेरा उपास्य है जिनका वर्णन सुशास्त्रों और शास्त्रोदित सदगृहीत मार्गों में नहीं है। अपनी उपास्या इन्हीं श्री राधा के रूप पर विशेष रूप से प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि—

ब्रह्म पुराण, आदि पुराण पद्म पुराणादि पुराणों, तन्त्रों तथा अनेक भक्ति ग्रन्थों में कहा गया है कि कोई पराशक्ति तथा स्वतन्त्रा शक्ति है वही श्री राधा हैं, शची शिवा भी श्री राधा हैं। षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान की पूज्या और अनिर्वचनीय शासनकर्त्री भी श्री राधा हैं। [अवश्य होंगी ही] परन्तु जो परम प्रेम, आद्य और पूर्ण रस की प्राण स्वरूपा शृंगार लीला कला वैचित्री की अन्तिम सीमा हैं और जो श्री वृन्दावन नाथ की पट्टमहिषी [हृदय सिंहासनारूढ़ हृदयेश्वरी हृदय की रानी] हैं वह श्री राधा ही मेरी सेव्या स्वामिनी हैं—

प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं शृंगार लीला कला  
वैचित्री परमावधिर्भगवता पूज्यैव कापीशता  
ईशानी च शची महासुख तनुः शक्तिः स्वतन्त्रापरा  
श्री वृन्दावन नाथ पट्ट महिषी राधैव सेव्यामम<sup>१</sup>

'एव' शब्द का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ पर पूर्व कथित का निषेध करना होता है। [दे. रा. सु. नि. श्लोक सं. ३६, ५५, १८१, २३५] यहाँ पर भी श्री राधा के ऐश्वर्य और माधुर्य इन दोनों रूपों को लक्ष्य कराकर "श्री वृन्दावन नाथ पट्ट महिषी राधैव मम सेव्या" कहा है। अतः बहुत अधिक स्पष्ट है कि 'एव' शब्द द्वारा पूर्व कथित ऐश्वर्य रूपों का निषेध किया गया है<sup>२</sup>। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता और श्लोक में वर्णित सभी

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २३१

२. इसी प्रबंध के 'प्रेमोपासना और शक्तिवाद' शीर्षक में विस्तृत विवेचन दृष्टव्य है।



रूपों को सेव्य कहा गया है ऐसा अर्थ किया जाता है तो 'एव' शब्द का उल्लेख ही व्यर्थ हो जाता है। सारांश यह है कि 'सदा मधुर वाक् पटुः' श्री हिताचार्य ने अपने स्वरूप और प्रकृति के अनुसार उपर्युक्त श्लोक में गोविन्द पट्टेश्वरी श्री राधा की महा मधुर मूर्ति नित्य नव दुलहिनी को ही अपनी सेव्या बतलाया है।

श्री हिताचार्य ने एक अन्य श्लोक में अपने उपास्य के स्वरूप परिचय सन्दर्भ में ही लोकावतरित रूप को अस्वीकृत व्यंजित करते हुए लिखा है कि सबसे एकान्त स्थल में क्रीड़ा करने वाले वे मधुपति श्यामसुन्दर पालन और संहारादि शृष्टि वार्ता से सर्वथा दूर हैं। वे नारदादि निज भक्तों का भी किंचित ध्यान नहीं करते। वे श्रीदामादि मित्रों से भी कभी नहीं मिलते और माता-पिता से भी कभी स्नेह नहीं करते। किन्तु मधुर रस सुधासिन्धु की सारभूता अगाध प्रेम की एकमात्र सीमा श्री राधा को ही जानते हुए अहर्निश कुंज वीथी की ही उपासना किया करते हैं। श्री राधा की क्रीड़ा कुंजों और वीथियों के समीप ही नित्य बने रहते हैं। [कभी भी वहाँ से बाहर नहीं होते]—

दूरे सृष्ट्यादि वार्ता न कलयति मनाङ्ग नारदादीन्स्वभक्ता  
न्रीदामाद्यैः सुहृदभिर्नमिलति स्नेह वृद्धिं स्वपित्रोः  
किन्तु प्रेमैक सीमां मधुर रस सुधा सिन्धु सारैरगाधां  
श्री राधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुंज वीथीमुपासते<sup>१</sup>।

एक अन्य स्थल पर भी अपने उपास्य को गोविन्द प्रिय वर्ग से दुर्गम घोषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जो सदा सर्वदा श्री वृन्दावन की सीमा में ही अपने अनंग के रंगोत्सव द्वारा प्रीतम के अति अद्भुत अधर सुधासव का आस्वादन करके उन्मत्त हो रही हैं, जो गोविन्द-प्रिय वर्ग [श्री कृष्ण के मातापितादि स्नेही वर्ग सखागण तथा कान्तागण] से भी दुर्गम हैं तथा सखी समूह द्वारा भी अलक्षित हैं—

वृन्दारण्य निकुंज सीमसु सदा स्वानंग रंगोत्सवै  
मद्यत्यद्भुत माधवाधर सुधा माध्वीक संस्वादनैः  
गोविन्द प्रिय वर्ग दुर्गम सखी वृन्दैरनालक्षिता.....<sup>२</sup>

'गोविन्द प्रिय' इस पद में बहुव्रीहि और तत्पुरुष ये दोनों समास कहे जा सकते हैं और दोनों से ही गोविन्द के जननी-जनक, सखागण और कान्ताओं का बोध होता है। 'वर्ग' शब्द गोविन्द के प्रेमी जनों के रूप भेदों की ओर संकेत करता है। क्योंकि सुबल, सुबाहु आदि सखाओं, अनन्त ब्रज वधूटियों और माता-पिता इन सभी को गोविन्द प्रिय कहकर भक्ति शास्त्रों में स्मरण किया गया है। यहाँ भी यह 'वर्ग' शब्द इन सभी प्रकार के गोविन्द प्रियजनों के अर्थ बोध के लिए ही प्रयुक्त है। इस प्रकार श्री हिताचार्य ने स्वपक्ष



[नाद्यन्त नित्य विहारी रूप] का संस्थापन और पूर्व पक्ष [अवतार कालीन लीला से निष्पन्न रूप] का निषेध एक साथ ही उपर्युक्त श्लोक में कर दिया है।

इसी सन्दर्भ में उन्होंने अपने उपास्य श्री राधा श्यामसुन्दर के रस रहस्य को ब्रह्मा आदि देवताओं, सम्पूर्ण हरि भक्तों और श्री कृष्ण के समस्त सुहृदादिकों [श्रीकृष्ण के माता-पिता, बन्धु, सखागण तथा कान्ताओं] तक को अविदित बतलाकर स्वपक्ष की स्वीकृति और पूर्व पक्ष की अस्वीकृति व्यंजित की है—

न देवैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरि भक्तैर्न सुहृदा । दिभिर्यद्वै राधामधुपति रहस्यं सुविदितम्.....<sup>१</sup>

श्री हिताचार्य के सूत्र वाक्यों के आधार पर ही तस्य तनूज गो. कृष्णदास जी ने भी श्री हिताचार्य की उपास्य रस मूर्ति श्री राधा को और उनकी दास्य पदवी को पिता, माता, सुहृद, बन्धु, मुक्तों और समस्त भक्तों से अगोचर बतलाया है—

पितृ-मातृ-सुहृदबन्धुः मुक्तानामथ गोचरम् ।

कदा ते प्रियमाश्चर्यं रस मूर्तिं विलोकये<sup>२</sup> ।

राधे त्वद्दास्य पदवी सर्व भक्तैश्च दुर्गमा<sup>३</sup> ।.....

श्री हिताचार्य ने एक अन्य स्थल पर भी यह कहकर कि 'वन विहार रस का पान करके अवतार समूहों के उपासक गण भी अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर देते हैं'—अपने उपास्य स्वरूप को सम्पूर्ण अवतार स्वरूपों से पृथक घोषित कर दिया है और इस प्रकार से पूर्व पक्ष की स्थापना करके उसकी अस्वीकृति और स्वपक्ष की स्थापना करके उसकी स्वीकृति व्यंजित कर दी है—

जे अवतार कदम्ब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हिये ।

तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन विहार रस पियैं<sup>४</sup> ।

## ५.१.१.६.२. अनधिकारियों से सुरक्षा और असहृदयजनों से संगोपन :

श्री हिताचार्य द्वारा प्रदत्त वस्तु लौकिक-अलौकिक से दूर सबसे पृथक और रहस्यमय थी। सार्वजनिक सर्वोपभोग्य नहीं थी। अतः अनधिकारीजनों से उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से भी कहीं-कहीं उन्होंने ब्रजलीला बोधक शब्दों का प्रयोग किया है।

हित चौरासी के सर्वाधिक प्राचीन टीकाकार गो. रसिकलालजी ने इस रहस्य का उद्घाटन इन शब्दों में करते हुए लिखा है कि— श्री हिताचार्य की गुरु और इष्ट श्री राधा

१. रा. सु. नि., श्लो. १४८

२.३. रा. उ. सु. नि., गो. कृ. दा., श्लो. सं. ५२, ६६

४. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०



ने उन्हें स्वयं आज्ञा दी थी कि मैंने अपने हृदय की ऐसी बहुत सी रहस्यपूर्ण बातें तुझसे कही हैं— बहुत सी ऐसी रस केलि भी हैं जो सबके सामने कहने की नहीं हैं। अतः तू उन्हें अपने तक ही सीमित रखना—

हे सखि ! हों तोसों कहों, अपने मन की प्रीति।

अपने ही चित राखियौ, मो जिय तो परतीति<sup>१</sup>।

गुरुवर की इसी आज्ञा पालनार्थ श्री हिताचार्य ने उन रस केलियों का वर्णन ऐसे शब्दों में किया है जिनका वाच्यार्थ उनके वास्तविक अर्थ का स्थूल आवरण बनकर रह गया है। जिससे शुष्क शब्दार्थवादी विचारकों की दृष्टि उससे टकराकर बाहर ही रह जाय।

इसी सन्दर्भ में उन्होंने उपास्य 'रस' वस्तु को प्रच्छन्नाप्रच्छन्न रखने के लिए दृष्टिकूट शैली को भी यत्र तत्र अपनाया है। प्रत्येक रचनाकार पर सम सामयिक काव्य शैली, भाषा, सामाजिक रीति रिवाज और वेषभूषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। श्री हिताचार्य के आविर्भाव के पूर्व तथा उनके विद्यमान काल में भी कवि समाज तथा भक्त कवि समाज में दृष्टिकूट काव्य लिखने की प्रथा प्रचलित थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में भी कतिपय स्थलों पर इस दृष्टिकूट शैली का प्रभाव देखा जाता है। उनकी दृष्टिकूट प्रियता प्रकृति से अपरिचित होने के कारण भी कभी-कभी किसी को ब्रज लीला गान की भ्रान्ति होने लगती है। उनकी रचनाओं में प्राप्त निम्नांकित पद पंक्तियाँ उसी दृष्टिकूट शैली के प्रभाव की द्योतक हैं—

कंचुकि सुरँग विविध रँग सारी नख जुग ऊन बने तेरे तन<sup>२</sup>

उपर्युक्त पंक्ति में नख का अर्थ नाखून न लेकर बीस [२०] की संख्या ली गई है। जुग का अर्थ दो [२] संख्या न लेकर जुग [सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग] की प्रतीक चार [४] संख्या ली गई है। बीस में से चार संख्या 'ऊन'— कम कर देने पर सोलह [१६] शेषफल प्राप्त होता है। इस प्रकार श्री हिताचार्य ने दृष्टिकूट शैली द्वारा यहाँ इस गूढार्थ की व्यंजना की है कि श्री राधा सोलह शृंगार से सुसज्जिता हैं।

रवि शशि शंक भजन किय अपु बस अद्भुत रंगनि कुसुम बनाऊँ<sup>३</sup>।

यहाँ पर 'रवि' शब्द का अर्थ सूर्य न लेकर ताप मूलक 'विरह' और 'शशि' का अर्थ चन्द्रमा न लेकर शैत्य और अमृतत्व का प्रतीक 'संयोग' लिया गया है। यहाँ पर भी दृष्टिकूट शैली के माध्यम से रसिक प्रीतम की मनःस्थिति का सांकेतिक चित्रण किया है।

आई ब्रजनारि सुनत वंशी रव ग्रहपतिबन्धु बिसारे<sup>४</sup>।

१ हि. चौ. टी., टी.— र. ला. गो.

२ से ४. हि. चौ., प. सं. ४४, १४, ६३

यहाँ पर 'ग्रह' का अर्थ घर, 'पति' का अर्थ स्वामी, और 'बन्धु' का अर्थ भाई न लेकर 'ग्रहपति' का अर्थ सूर्य और सूर्य बन्धु का अर्थ कमल लिया गया है। इस प्रकार दृष्टिकूट शैली के माध्यम से यह व्यंजित किया गया है कि प्रीतम के वंशीनाद को सुनकर श्री राधा ने कमलों को विस्मृत कर दिया। श्री हिताचार्य की इस दृष्टिकूट प्रियता प्रकृति का ज्ञान न होने के कारण यही भ्रान्ति होती रहेगी कि उन्होंने ब्रज लीला का गान किया है।

### ५.१.१.६.३. भक्ति भावना के उदयन और संरक्षणार्थ :

ब्रज लीला सूचक नामों तथा रूप को अपनी रचनाओं में स्थान देने का एक कारण यह भी था कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेम मूर्ति अद्वय युगल श्यामा श्याम एक साथ पूर्ण माधुर्य और पूर्ण ऐश्वर्य के अधिष्ठान हैं; इसीलिए तो वे पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम हैं। एतावता भजनीय और उपासनीय हैं किन्तु माधुर्य की अतिशयिता के कारण उनमें [उनकी क्रीड़ा में] ऐश्वर्य का सर्वथा अदर्शन बना रहता है। माधुर्य मूर्ति अद्वय युगल में ऐश्वर्य उसी प्रकार विलय रहा आता है जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में चन्द्र और तारामण्डल विलय रहा आता है। ऐश्वर्य के अदर्शन से सर्व साधारण को उनमें ईश्वरत्व का अभाव ही ज्ञात होगा जबकि वास्तव में उनमें ईश्वरता का अभाव नहीं अदर्शन है ईश्वरता का अभाव मान लेने पर तो वे अपूर्ण ही नहीं प्रत्युत लोक के साधारण लड़का-लड़की ही माने जायेंगे।

अतः अपने परमोपास्य की ईश्वरता व्यंजित करने के लिए तथा उन्हें सबके भजनीय और उपासनीय प्रमाणित करने के उद्देश्य से ही श्री हिताचार्य ने तथा उनके परवर्ती सभी रसिकों ने उन्हें हरि,<sup>१</sup> सकल लोक चूड़ामणि,<sup>२</sup> प्रभु, किंवा पूर्ण प्रभु,<sup>३</sup> स्वामी,<sup>४</sup> ठाकुर-ठकुराइन,<sup>५</sup> राधा,<sup>६</sup> अवतारी अवतारौ,<sup>७</sup> कृष्ण,<sup>८</sup> गोपाल,<sup>९</sup> नंदलाल,<sup>१०</sup> वृषभान सुता,<sup>११</sup> ब्रजमण्डन,<sup>१२</sup> ब्रज कौ सिरताज,<sup>१३</sup> ब्रज सुन्दरी,<sup>१४</sup> मुरारी,<sup>१५</sup> वृषभान दुलारी,<sup>१६</sup> ब्रजभूप,<sup>१७</sup> ब्रजपति,<sup>१८</sup> ब्रजनाथ, ब्रजभूषण

१. काहे ते आजु अटपटे हो हरि।.....

— स्वा. ह. जी की वा., प. सं. ३८

२. ....यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानैं।....

— हि. चौ., प. सं. ४१

३. [क] आजु सखी वन में जु बने प्रभु.....

— हि. चौ., प. सं. ६१

[ख] श्री कुंजबिहारी सर्वसु सार।..... जनम करम पूरन प्रभु के सब आस पास परिवार।।

— बि. दा. की वा., प. सं. १४६

४. श्री हरिदास के स्वामी श्यामा।

— स्वामी हरिदास जी के प्रायः संपूर्ण पदों में

५. ठाकुर नन्द किशोर हमारे ठकुराइन राधा सी।

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १०१

शेष टिप्पणी आगे के पृष्ठ पर देखें -



आदि-आदि नामों से भी प्रकीर्तित किया है।

पिछले पृष्ठ का शेष टिप्पणी भाग.

६. [क] को सर करै हमारी राधा।

बि. दा. जी की वा. प. सं. १५२

[ख] राधा-कृष्ण सर्व कौ मूल। तिनकी और कौन समतूल।

— र. सा., र. दे. जी

७. [क] राधाबल्लभ मेरी प्यारौ।

सर्वोपरि सबही कौ ठाकुर सब सुखदानि हमारौ।

अवतारी सब अवतारनि कौ महतारी महतारौ।

— व्या. वा., ह. व्या. प. सं. ७६

[ख] अंश कला सब अवतारनि कौ अवतारी भरतार।

— बि. दा. जी की वा., प. सं. १४६

८. मरगजे अमरन वदन छिपावति छिपै न छिपाये मानौ कृष्ण बोली।

— स्वा. ह. जी की वा. प. सं. ६७

९. श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी नीकौ आजु गुपाल नच्यौ।

— स्वा. ह. जी की वा., प्रा. ह. लि. प्र. प. सं. ५२

१०. प्यारी नैकु निरखौ नँदलालै।

— बी. वि. जी के प. सं. १७, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. १५

११. दाव पर्यौ वृषभानुसुता कौ मोहन रौंटी ठानी।

— बी. वि. जी के प., पृ. सं. ३५

१२. खेलत रास रसिक ब्रजमण्डन।

— हि. चौ., प. सं. १६

१३. जाके अधीन सदाँई साँवरौ या ब्रज कौ सिरताज।

— बी. वि. जी के प., पृ. सं. २२

१४. कर करुवा गर गूदरी। खइये माँगि मधूकरी।।

सेइये नित ब्रजसुन्दरी। रहिये पूता दुरा दुरी।

— बि. दा. जी की वा., पृ. सं. ३८

१५. कैसैं करत प्रीति मुरारि।

— बि. दा. जी की वा. पृ. १४२

१६. चारु चरन रज किशोरीदास सिर धारी

वृषभान की दुलारी तिन पर करै तन-मन बलिहारी।

— किशोरदास जी [स्वामी हरिदास जी के शिष्य] कृत पद।

यह पद नागरीदास जी [कृष्ण गढ नरेश] कृत 'पदप्रसंग माला' में भी उद्धृत है।

१७. [क] को मेटि है दुख, सुख कौ दाता श्री कुंजबिहारी बिना ब्रजभूषे

[ख] कृपा मैं जानी अब ब्रजभूष

— बि. दा. जी की वा., पृ. १०६, १७८

१८. मेरे गति ब्रजपति कै ब्रजवासी।

जिनके प्राण जीवन धन राधा वृन्दाविपिन विलासी

— बि. दा. जी की वा., प. सं. १४४

### ५.१.१.६.४. प्रेमोपासना के लिए यथेष्ट रूप प्रकाशनार्थ :

श्री हिताचार्य तथा उनके परवर्ती रसिकों द्वारा अपने उपास्य श्यामा श्याम और उनकी सहचरियों को 'ब्रजमण्डन', 'ब्रजपति' 'ब्रज जुवति', 'ब्रजनारि', 'ब्रज सुन्दरी', ब्रज कौ सिरताज आदि नामों से प्रकीर्तित करने का एक कारण यह भी है कि वृन्दावन विहारी श्यामाश्याम तथा उनकी दासियाँ पहिले भूतलस्थ ब्रजवासी हैं बाद में वृन्दावन वासी ।

श्री हिताचार्य की निजी मान्यता है कि यह जोरी भूतलस्थ वृन्दावन में ही नित्य रास विलास किया करती रहती है ।<sup>१</sup> ऐसी स्थिति में विवशतः स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह वृन्दावन भूतलस्थ मथुरामण्डलान्तर्गत बसे हुए ब्रज का ही एक वन विशेष है । किन्तु यहाँ पर यह भी स्मरण रखना ही होगा कि यह वृन्दावन भूतलस्थ होने पर भी केवल श्री राधा कृपापात्र रसिकों को ही परिलक्षित होता है ।<sup>२</sup> अर्थात् श्रीवन की केलि सम्पत्ति—सूर्य, चन्द्र, काम, तथा मधवादि शब्दों से श्री राधा कृपापात्र रसिक हृदयों को प्रेम के ही सूर्य, चन्द्र, काम तथा मधवादि का बोध होता है । भूतलस्थ होने पर भी वह वृन्दावन, श्री वन की सौंज सम्पत्ति, सपरिकर वृन्दावन विहारी युगल; देवता—भक्त—मुक्त तथा ब्रज परिकर की दृष्टि से अलक्षित हैं । क्योंकि इन्हें श्री राधा—कृपा प्राप्त नहीं है । प्रेममूर्ति श्यामा श्याम, उनका धाम और परिकर त्रिपाद विभूति की सीमान्तर्गत न होकर प्रेम स्वरूप किंवा रस स्वरूप ही हैं । प्रेम की अपनी सृष्टि है— चन्द्र, सूर्य, मधवा, जमुना, लता—द्रुम, फूल, काम, ललितादि परिकर भी प्रेम किंवा रस की विभिन्न परिणतियाँ हैं; जिस प्रकार कि श्यामा श्याम 'प्रेम किंवा 'रस' की मूर्ति हैं । इसीलिए श्री हिताचार्य ने उस वृन्दावन को 'श्रीराधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य', श्यामा श्याम की काम केलि को 'स्वानंग केलि' और ललितादिकों को 'रहो बल्लवी' कहकर प्रकीर्तित किया है । उपर्युक्त नामों के कथन श्रवण से वृन्दावन रस रसिक को नित्य बिहारी तथा नित्य बिहारिणी रूप का स्फुरण उसी प्रकार से हो जाता है जिस प्रकार कलिन्दनन्दिनी, रवितनया, रविजा या तरनिनन्दिनी कहने से

१. देशी सुधंग राग रँग नीकौ ब्रजजुवतिन की भीर री सजनी ।

— हि. चौ., प. सं. २४

२. झूलत कमल नैन सुकुमारि ।

गावत गीत पुनीत मनोहर आस पास ब्रजनारि..... ।

श्री हरिदास के स्वामी श्याम काम बस मुख चंद निहारि ।

— स्वा. ह. जी के पद, वि. सं. १७६७ की प्रति, पृ. सं. २६७

३. ....जै श्री हित हरिवंश विपिन भूतल पर संतत अविचल जोरी ।

— हि. चौ., प. सं. ७०

४. प्रथम यथामति प्रणऊँ श्री वृन्दावन अति रम्य । श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य ।।.....

— हि. चौ., प. सं. ५७



सूर्य की पुत्री, कालिन्दी या श्री कृष्ण की पटरानी का रूप स्फुरण न होकर नित्य निकुंज निवासिनी श्री यमुना जी का ही स्फुरण होता है। ललिता नाम से ललित भान की पुत्री का बोध न होकर श्री राधाकिंकरी ललिता का ही बोध होता है।

हम देखते हैं कि रसिकों की वाणी में राधा-कृष्ण, ललिता-विशाखादि, वृन्दावन तथा यमुना आदि-आदि नामों का उल्लेख भी अनिवार्यतः स्वीकार किया गया है और ये सभी नाम निश्चित रूप से पौराणिक ही हैं, इसे किसी भी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन नामों से भी गोप किशोर-किशोरियों का रूप स्फुरण न होकर नित्य लीला के सब स्वरूपों [श्रीराधा-श्यामसुन्दर तथा ललितादि-विशाखादि सखीगणों] और नित्य वृन्दावन का रूप ही स्फुरित होता है। इस आधार से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री हिताचार्य ने उपर्युक्त नामों का उल्लेख स्वेष्ट के नाम स्मरण की दृष्टि से नहीं किया है। प्रेमोपासना के लिए यथेष्ट रूप प्रकाशनार्थ ही किया है।

#### ५.१.१.६.५. परिचित द्वारा अपरिचित का परिचय प्रदानार्थ :

ब्रजलीला से निष्पन्न रूप का सूक्ष्म परिचय देने का एक कारण यह भी है कि श्री हिताचार्य ने सर्वथा अनाख्यात, अचिन्त्य और अश्रुत सबसे अलक्षित रूप की उपासना प्रकट की थी। ऐसे अचिन्त्य रूप को सर्व साधारण मानव के मन-बुद्धि के निकट लाने के लिए उन्हें ऐसे माध्यम की आवश्यकता थी जिससे जन साधारण परिचित हो, जो इस रूप से निकटतम सम्बन्ध और साम्य भी रखता हो। जैसे सुमेरु पर्वत का परिचय देने के लिए स्वर्ण राशि का माध्यम अनिवार्य होता है। ब्रज में अवतरित नन्दनन्दन और वृषभान नन्दिनी रूप उनके परमोपास्य से बहुत कुछ साम्य रखता था। इसीलिए श्री हिताचार्य ने नन्दनन्दन वृषभान नन्दिनी नाम और रूप को माध्यम बनाकर सर्वसाधारण को अपने परमोपास्य रूप से परिचित कराया है। इन नामों के साथ ब्रज लीला से निष्पन्न रूप का सांकेतिक परिचय देकर आचार्य ने यह रहस्योद्घाटन भी कर दिया है कि 'ब्रज विहारी रूप' प्रकाश और नैमित्तिक रूप है और वृन्दावनस्थ प्रेम विलास-परायण अद्वय युगल रूप नित्य और प्रकाशी रूप है—यह रूप ही हमारा उपास्य है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने 'आनन्द आजु नंद के द्वार' इस पद में यह लाल ही नन्दराय के यहाँ मनोहर ग्वार के रूप में प्रकट हुए हैं तथा 'चलौ वृषभान गोप के द्वार' इस पद में यह श्री श्यामा ही वृषभान गोप के यहाँ कृपा वपु से प्रकट हुई हैं—यह बतलाकर उपर्युक्त तथ्य की स्वीकृति स्वरूप प्रमाण गिरा भी प्रदान कर दी, जोकि परवर्ती रसिकों द्वारा यह मानने और कथन करने का पुष्ट प्रमाण बनी कि नन्दनन्दन और वृषभान नन्दिनी के जन्म-कर्म का गान करना शिष्टाचार है<sup>१</sup>। साथ ही नित्य और

१. जन्म कर्म वृषभानसुता-नन्दनन्दन शिष्टाचारौ।



नैमित्तिक रूप की वह सन्धि भी सुस्पष्ट कर दी, जिसका स्पष्ट करना अभिनव उपासना के अविर्भावक होने की दृष्टि से उन्हें अनिवार्य था। जिस सन्धि के अभाव में रस में विरस किंवा अर्थ में अनर्थ होने की पूर्ण सम्भावना थी— सम्भावना ही नहीं प्रत्युत हुआ भी ऐसा ही। तभी तो परवर्ती रसिकों ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा भी है कि इस नित्य और निमित्त की सन्धि को समझे बिना आस्वादकों [रसास्वादक रसिकों] ने आस्वाद्य [रस] का रूप ही बिगाड़ दिया है<sup>१</sup>। इस सन्धि को अच्छी तरह समझ लेने पर नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी नाम का न तो ग्रहण करना ही अनिवार्य रह जाता है और न अग्रहण ही। अर्थात् ग्रहण करने से न तो रस विपर्यय ही होता है और न ग्रहण करने से कोई विकृति ही आती है

#### ५.१.१.६.६. भावी हानियों से संरक्षणार्थ :

श्री हिताचार्य ने श्यामा-श्याम को उपर्युक्त नामों से भी क्यों प्रकीर्तित किया है, मात्र इतना जान लेना ही आवश्यक नहीं है; विशेष ज्ञातव्य और अविस्मरणीय यह है कि यदि श्री हिताचार्य अपने परमोपास्य को प्रिया-प्रियतम गौरश्याम और दम्पति आदि नामों के साथ-साथ उपर्युक्त नामों से भी प्रकीर्तित न करते तो निम्नांकित हानियाँ अवश्यम्भावी थीं—

१. ये पूर्ण माधुर्य मूर्ति के साथ ही पूर्ण ईश्वरेश्वर, अवतारों के अवतारी भी हैं, अतः भजनीय तत्त्व हैं, यह कहना एक अप्रामाणिक और निजी मान्यता ही होती।

२. उस द्विभुज, मोर मुकटधारी, मुरलीधर नित्य किशोर और नित्य किशोरी श्री राधा का प्रकृत रूप स्फुरण न होता जिसे इस भूतलस्थ वृन्दावन में अविचल जोरी कहकर अनिवार्यतः स्वीकार किया जाता है। जो कि प्यारौ-प्यारी और प्रिया-प्रियतम आदि नामों के माध्यम से असम्भव नहीं तो असरल तो अवश्य ही था।

३. केवल युगल किशोर, दम्पति, श्यामा-कुंजबिहारी आदि नामों के कथन से सीताराम, लक्ष्मीनारायणादि जोरियों का ही यह केलि गान है, यह कहने की भी गुंजाइश हो जाती।

४. लौकिक नायक-नायिका पर आधारित विशुद्ध शृंगारी काव्य से इस रसिक वाणी साहित्य के प्रतिपाद्य की भिन्नता दिखाना असम्भव हो जाता।

५. कबीर के रहस्यवाद से भी भिन्नता दिखाना अत्यन्त कठिन हो जाता। इत्यादि।

#### ५.१.१.६.७. जन्म बधाई जैसे पद द्वय गान का उद्देश्य :

श्री हिताचार्य की वाणी में यत्र तत्र नन्दनन्दन और वृषभाननन्दिनी नामों के प्रयोग

१. ....नित्य-निमित्त सन्धि समुझे बिनु स्वादिनु स्वाद बिगार्यौ।



के साथ-साथ 'आनंद आजु नन्द के द्वार'..... तथा 'चलौ वृषभान गोप के द्वार.....' इन पद द्वय को देखकर वाणी के अन्तर्गर्भित रहस्य को न जानने वाले व्यक्तियों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि श्री हिताचार्य ने ब्रज में अवतरित नन्दनन्दन और वृषभाननन्दिनी रूप को ही अपना उपास्य बनाया है और इन दोनों के जन्मोत्सव स्वयं मनाकर इन दोनों पदों में उनकी जन्म बधाई का गान किया है। आगे के पृष्ठों में हम इन प्रश्नों पर विचार करेंगे कि क्या श्री हिताचार्य ने ब्रज में अवतरित रूप को ही अपना उपास्य बनाया है ? क्या नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी के जन्मोत्सव मनाये हैं और उनकी जन्म बधाई गान की है ?

### ५.१.१.६.७.१. वर्ण्य और वर्णना की दृष्टि से :

प्रत्येक उपासना प्रवर्तक तथा सभी उपासक अपने परमोपास्य का नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर, इन अंगों से पूर्ण परिचय और यशोगान किया करता है। उपासना प्रवर्तक और उपासकों के इस गान से ही उसके उपास्य का सर्वाङ्गीण स्वरूप परिचय प्राप्त हो जाता है।

पूर्व पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि लीला से ही रूप की निष्पत्ति होती है। रूप से नामकरण होता है। गोवर्धन धारण करने से ही गोवर्धनधारी रूप प्रत्यक्ष हुआ है। गोपियों के साथ मधुर केलि करने के कारण ही गोपीजनबल्लभ रूप और नाम ख्यात हुआ है। श्री हिताचार्य ने भी अपने उपास्य की विविध लीलाओं और लीलामय रूप का विशद गान किया है जिनसे उनके उपास्य का रूप प्रत्यक्ष हुआ है।

श्री हिताचार्य की एक रचना चौरासी पदों का संकलन-'हित चौरासी' है-इस वाणी में ब्रजावतरित नन्दनन्दन की पूतना वध, तृणावर्त वध, शकटासुर वध, ऊखल बन्धन, माखन चोरी, दूध-दधि दान, चीरहरण, ब्रह्मामोह, काली मर्दन, गोचारण, गोवर्धन धारण तथा महारास आदि लीलाओं में से एक लीला का भी वर्णन नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'राधा सुधानिधि' नामक वाणी ग्रन्थ में भी इन सब लीलाओं का सर्वथा अभाव है। अतः अनुसन्धान दृष्टि से देखने पर प्रत्येक सुबुध व्यक्ति को यह कहने में किसी प्रकार का संकोच न होगा कि-श्री हिताचार्य ने ब्रज लीला का गान नहीं किया है-उनका उपास्य ब्रजावतरित रूप नहीं है।

श्री हिताचार्य की वाणी में वृन्दावन में ही गोचर होने वाले नित्य किशोर किशोरी श्यामा-श्याम की केवल नित्य रास और विलास लीलाओं का ही गान है। इस लीला गान को देखकर भी प्रत्येक साक्षर व्यक्ति यही कहेगा कि श्री हिताचार्य ने ब्रजावतरित रूप को अपना उपास्य नहीं बनाया है।

उपर्युक्त तथ्य हमारी व्यक्तिगत धारणा नहीं है प्रत्युत श्री हिताचार्य, उनके समसामयिक रसिकों तथा अन्य सम्प्रदायानुयायी भक्तों द्वारा भी सुस्पष्ट शब्दों में उद्धोषित है कि श्री हिताचार्य ने अवतार लीला का गान नहीं किया है उनका उपास्य तो राधाचरण प्रधान अद्वय युगल रूप में नित्य प्रत्यक्ष 'प्रेम' है जो नित्य नव किशोर रूप से केवल रास-विलास ही किया करता है।

श्री हिताचार्य ने लिखा है कि मेरे उपास्य सदा सर्वदा नित्य किशोर वृन्दावन में ही गोचर<sup>१</sup> सदैव प्रकटतर हैं<sup>२</sup>। वे गोविन्द प्रिय वर्ग से सर्वथा अदृष्ट<sup>३</sup> किसी अद्भुत प्रेम की मिथुन मूर्ति हैं<sup>४</sup>। एक अन्य स्थल पर आचार्य चरण ने अवतार समूहों का भजन करने वाले उपासक गणों से स्वयं को स्पष्ट रूप से पृथक भी व्यंजित किया है<sup>५</sup>।

श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में क्या-क्या गान किया है? इसका स्पष्ट उल्लेख सेवक जी के शब्दों में—

सुरत अन्त छवि वरनी न जाई। छिन-छिन प्रति हरिवंश जु गाई।  
रास रंग रति वरनी न जाई। नित-नित श्री हरिवंश जु गाई॥  
करत पान रस मत्त सदाई। श्री हरिवंश प्रेम रति गाई॥  
श्री हरिवंश प्रेम रस गाना। रसिक विमोहित परम सुजाना<sup>६</sup>॥

श्री हरिवंश वाणी के सम्बन्ध में अपने उद्गार प्रगट करते हुए हरिराम व्यास जी ने लिखा है कि उनकी वाणी में वृन्दावन की सहज माधुरी किंवा कुंज महल रस का उद्गान है—

वृन्दावन की सहज माधुरी कहिहै कौन उदार.....<sup>७</sup>।  
नमो-नमो जय श्री हरिवंश.....।  
जयति वृन्दावन सहज माधुरी रास-विलास प्रशंश<sup>८</sup>।  
अति अगाध रस-सिन्धु माधुरी वेई पै कहि जानै।  
व्यास आस पुजवै को मन की श्री हरिवंश समानै<sup>९</sup>।  
श्री हरिवंश प्रगट कियौ कुंज महल रस भेव<sup>१०</sup>।

स्वामी चतुर्भुजदास जी ने श्री हरिवंश वाणी के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उसमें सभी से संगुप्त श्यामा-श्याम के निकुंज महल की रस क्रीड़ा का वर्णन है—

१ से ४. रा. सु. नि., श्लो. ७६, १२६, १२८, १७३

५. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०

६. से. वा., वाणी प्रकरण

७ से १०. व्या. वा., ह. व्या., प. सं० १६, ८, २० एवं साखी सं. २२



अति अगाध गुप्त ते गुप्त सो सुर-नर-मुनि मरम न जानत-हरि जू।

ता जु महल की बात सार सुख श्री हरिवंश वखानत हरि जू<sup>१</sup>।

नेही नागरीदास जी ने हिताचार्य के गेय विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि हित वाणी में एकमात्र नित्य विहार का ही गान है—

सब सुख मुदा हाथ पर्यौ।

नित्यविहार अभूत अखण्डित श्री मुख प्रगट कर्यौ।

नागरीदास बसौ हित वाणी और रहौ सहजहि धर्यौ<sup>२</sup>।

श्री हरिवंश वाणी के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए हित ध्रुवदास जी ने कहा है—

“श्री हित जू जो रस प्रगट कर्यौ ता रस उपासना में कछु न मिलै.....श्री गुसाँई हरिवंश चन्द्र जू प्रगट भये जुगल केलि रस माधुरी प्रगट करिवे कौं, और सबनि मिश्रित गाई, प्रेम की आसक्तता श्री गुसाँई जू ने गाई<sup>३</sup>।....”

नाभाजी ने श्री हिताचार्य के उपास्य रूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उन्होंने हृदय की अत्यन्त सुदृढ़ता—उत्कट अनन्यता के साथ श्री राधा चरण प्रधान दंपति की उपासना की है। अर्थात् श्री राधा चरण प्रधान दंपति ही श्री हिताचार्य के उपास्य थे—

श्री राधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।

कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी।

सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।

विधि निषेध नहीं दाम अनन्य उत्कट व्रतधारी।

श्री व्याससुवन पथ अनुसरै सोई भलैं पहिचानिहै।

श्री हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत् कोउ जानिहै<sup>४</sup>।

श्री हिताचार्य ने क्या-क्या प्रगट किया है, इस पर प्रकाश डालते हुए प्रियादास जी गौड़ीय ने लिखा है कि उन्होंने श्री राधिकाबल्लभलाल जी की आज्ञा से उनकी अष्टयामी सेवा का, उनके निकुंज विलास का और उनके धाम [पंचकोसी वृन्दान] का प्रकाश किया है — श्री राधिकाबल्लभलाल आज्ञा सु रसाल दई, सेवा मो प्रकाश औ विलास कुंज धाम कौ। सोई विस्तार सुख सार दृग रूप पियौ, दियौ रसिकन जिन पक्ष लियौ वाम कौ<sup>५</sup>।

१. द्वा. य., स्वा. च. दा., मंगल सार जस

२. ना. दा. की वा., ने. ना. दा., प. सं. ८३

३. व्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.

४. म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

५. म. मा. टी. टी.-प्रि. दा., छं. ३६२

भगवत रसिक जी ने भी हिताचार्य के उपास्य स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उन्होंने दिन दंपति [नित्य नव दूलह और नित्य नव दुलहिनी] को ही दुलराया है—

व्यासदास हरिवंश गुसाँई दिन दुलराये दंपति<sup>१</sup>।.....

रूप सखी जी ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि रूप सनातन जी ने ब्रज [ब्रज की लीलाओं] का गान किया है और श्री हरिवंश जी ने तो वृन्दावन [वृन्दावन में होने वाले नित्य विहार] का ही गान किया है—

रूप-सनातन ब्रज कह्यौ वृन्दावन हरिवंश<sup>२</sup>।.....

इस प्रकार श्री हिताचार्य की वाणी तथा अन्य प्राचीन रसिक-भक्तों की सम्मतियों के आधार से विचार करने पर यही अकाट्य तथ्य प्राप्त होता है कि श्री हिताचार्य ने ब्रजावतरित नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी रूप को उपास्य नहीं बनाया है, प्रत्युत वृन्दावन की सीमा में ही नित्य विहार करने वाले राधा चरण प्रधान नित्य नव दम्पति रूप को ही अपना उपास्य बनाया है। ऐसी स्थिति में सुबुधजनों के समक्ष यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हिताचार्य ने ब्रजावतरित रूप के जन्मोत्सव मनाये थे या नहीं ? और उनकी जन्म बधाई गाई या नहीं ? किन्तु सर्वसाधारण व्यक्तियों को भी पूर्ण रूप से आश्वस्त करने के लिए हम इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार करेंगे।

### ५.१.१.६.७.२. ऐतिहासिक दृष्टि से :

सर्व साधारण मानव जगत तथा धार्मिक जगत में देखा जाता है कि शिष्य, साधक या उपासक अपने गुरुवर तथा आचार्य का और पुत्र अपने पिता का ही अनुगमन—अनुसरण किया करता है। श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य की अष्टयामी सेवा का मूर्त संविधान किया था। गो. वनमालीदास कृष्णदासादि पुत्रों तथा व्यास जी, बीठलदास और हरीदास जी आदि शिष्य—प्रशिष्यों ने उनके द्वारा संचालित सेवा पद्धति का अनुसरण किया था।

श्री हिताचार्य ने उन नैमित्तिक उत्सवों को अपनी इष्ट सेवा पद्धति में स्थान नहीं दिया था जो कि साधारण जन समाज में चिर परम्परा से प्रचलित थे। पुत्र और पुत्री का जन्मोत्सव मनाना सुनिश्चित रूप से लोक प्रचलित प्रथा ही है। श्री हिताचार्य के उपास्य लोकावतरित नन्दनन्दन और वृषभान नन्दिनी नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने ये दोनों उत्सव कभी भी नहीं मनाये और न जन्म बधाई ही गाई।

यदि श्री हिताचार्य अन्य ऋतु उत्सवों के साथ नन्दनन्दन और वृषभाननन्दिनी का जन्मोत्सव मनाते और जन्म बधाई गान करते तो उनके पुत्र और शिष्य गो. वनमालीदास

१. भ. र. की वा., भ. र., उत्तरार्धखंड, भक्त नामावली

२. रू. स. की वा., रू. स., साखी



गो. कृष्णदास, गो. गोपीनाथ, गो. मोहनदास जी भी अपने-अपने सेव्य स्वरूपों के मन्दिरों में ये दोनों उत्सव अवश्य ही मनाते और जन्म बधाई के पद गान अवश्य ही करते। इन चारों की वाणियाँ प्राप्त हैं। जिनमें नित्योत्सवों के पद तो मिलते हैं किन्तु नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी की जन्म बधाई के पद नहीं मिलते। इसी प्रकार श्री हिताचार्य के शिष्यों में सेवकजी, प्रबोधानन्दजी, सेवा जी, अलिमोहन जी तथा नवलदास जी आदि वाणीकार रसिकों ने नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी के जन्म बधाई विषयक पदों का प्रणयन नहीं किया है। हित शिष्यों में केवल हरिराम व्यास जी और खेमदास जी की वाणी में दोनों की जन्म बधाई के पद प्राप्त होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि जब गो. वनमालीदास जी के शिष्य नेही नागरीदास जी ने बरसाने में श्री राधा की आज्ञा से उनका जन्मोत्सव मनाने का शुभारंभ कर दिया तभी वृन्दावन से बुलाये गये रसिक समाज में वयोवृद्ध हरिराम व्यास जी ने जन्मोत्सव में गाने के लिए नन्दनन्दन और वृषभाननन्दिनी के जन्म बधाई विषयक पदों का निर्माण किया होगा।

श्री हिताचार्य ने व उनके चारों पुत्रों और शिष्यों ने अपने-अपने सेव्य मन्दिरों में ये जन्मोत्सव कभी नहीं मनाये थे इसका अकाट्य प्रमाण है—श्री राधा की आज्ञा से नागरीदास जी द्वारा बरसाने में उनके जन्मोत्सव का शुभारंभ करना तथा उनके आमंत्रण पर श्री राधावल्लभ मन्दिर के तत्कालीन प्रधान सेवाधिकारी, हितात्मज गो. वनमालीदास जी आदि का भी बरसाने में जाकर उत्सव मनाना।

भगवत मुदित जी गौड़ीय ने 'रसिक अनन्य माल' नामक रचना में गो. वनमालीदास जी के शिष्य नेही नागरीदास जी का चरित्र वर्णन करते हुए लिखा है कि—प्रिया जी ने बरसाने में नागरीदास जी को आज्ञा दी कि तुम इस बरसाने में मेरा मन्दिर बनवाओ और मेरी वर्षगाँठ का उत्सव करो। नागरीदास जी ने श्रीराधा की आज्ञानुसार वहाँ पर वि. सं. १६४० के लगभग एक मन्दिर का निर्माण कराया तथा वृन्दावन से अपने गुरुकुल और रसिकजनों को बुलाकर श्री राधा का जन्मोत्सव किया—

बरसाने में अस्थल करौ। मेरी बरषगाँठ उर धरौ॥  
 यों कहि नवल किशोरी गोरी। उतरी जितहि साँकरी खोरी॥  
 यह सुनि नागरीदास सिहाई। भागमती कौं कथा सुनाई॥  
 सुनि मन दै स्थल करवायौ। वन ते रसिक समाज बुलायौ॥  
 गुरुकुल नर-नारी गन आये। बाजे बजे बधाये गाये॥

उपर्युक्त छन्दों में वर्णित घटना श्री नागरीदास जी के गुरुदेव गो. वनचन्द जी के

जीवन काल में हुई थी। श्री हिताचार्य के अन्तर्धान [वि. सं. १६०६] के पश्चात् यही गोस्वामी जी श्री राधाबल्लभलालजी के मन्दिर के सेवाधिकारी थे; यदि श्री हिताचार्य श्रीराधाबल्लभ जी के मन्दिर में होली, हिंडोल, झूला, पावस, शरद, एवं बसन्त आदि उत्सवों की भाँति ये दोनों उत्सव भी मनाते होते तो गो. वनचन्द जी श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर में ये उत्सव बन्द करके प्रतिवर्ष वरसाने में उत्सव मनाने कभी भी न जाते। इतिहास इस बात की भी साक्षी देता है कि केवल गो. वनचन्द्र जी ही नहीं अपितु उनके बाद मंदिर में होने वाले सभी सेवाधिकारीगण [गो. सुन्दरवरजी, गो. दामोदरवर जी, गो. विलासदास जी आदि भी] गो. वनचन्द जी द्वारा संस्थापित इस पूर्व परम्परा का निर्वाह करते हुए वरसाने जाकर ही श्री राधा जन्मोत्सव मनाया करते थे, श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर वृन्दावन में नहीं-

प्रथम नागरीदास कुँवरि-मुख आज्ञा पाई।

वरषगाँठ वृषभानुलली की सजी बधाई।

दामोदर गोस्वामि निवाही पुनि ता पाछें।

श्री विलास विस्तार रच्यौ वरसाने आछें।

वितु खरचन-अति भूरि मति हिय हिलगन आवै न कहन।

श्री दामोदर नन्दन बली नित भक्ति भार कौं निर्वहन<sup>१</sup>।

चाचा वृन्दावनदास जी ने एक अन्य स्थल पर भी उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख इन शब्दों में किया है -

जै जै श्री दामोदर-सुवन विलास जू।

बरसगाँठ श्री राधा हिये हुलास जू।

खरचत बहु वित जाइ कुँवरि जहँ औतरी।

भादों सुदि अष्टमी बाँट लीला परी।

परी लीला बाँट राधा नाम नाते लरजहीं।

जाइ श्री वृषभान पुर सजि भूर मंगल गरजहीं।

वृन्दावन हित रूप कुंज विनोद अति रुचि रास जू।

जै जै श्री दामोदर सुवन विलास जू<sup>२</sup>।

चाचा वृन्दावनदास जी के उक्त कथन की परिपुष्टि गो. कुंजलाल जी के शिष्य जयकृष्णदास द्वारा प्रणीत 'हित कुल शाखा' [रचना काल वि. सं. १७६०] से भी होती है। गो. विलासदास जी के परिचय वर्णन सन्दर्भ में जयकृष्णजी ने लिखा है कि गो. विलासदास

१. र. अ. प., चा. वृ. दा., छं. सं. ६२

२. हि. कु. की ज. ब., चा. वृ. दा., गो. विलासदासजी कौ मंगल



और रासदास [श्री राधाबल्लभ मन्दिर के सेवाधिकारी] बड़े ठाटबाट से वरसाने में श्री राधा जन्मोत्सव साज समाज के साथ करते हैं -

अब विलासदास जस गाऊँ। जनम द्यौस गुन वरनि सुनाऊँ॥  
सुदि असाढ़ तेरस सुखदाई। श्री विलास वर जनम बधाई॥  
सदा प्रसन्न वदन रस श्रवैँ। फूल्यौ कमल घन मनु द्रवैँ॥  
मधुप जूथ सुहृदी सचु पावै। श्री वृषभान सुता पद ध्यावैँ॥  
श्री प्रिया जनम दिन प्रेम समाज। ठाट विलास गिरि गहवर रास॥  
वरसाने सरसाने चित्त। सम्पत्ति रास प्रकाशक नित्त<sup>१</sup>॥

श्री राधाबल्लभ मन्दिर के सेवाधिकारी गो. दामोदर वर जी [विद्यमानकाल-वि. सं. १६३४ से १७१४] के शिष्य श्री प्राणनाथ ने गो. दामोदरवरजी के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने वाले कुछ संस्मरणों का संकलन किया है। यह संकलन 'प्रश्नोत्तरी' नाम से अभिसंज्ञात है। इस प्रश्नोत्तरी के एक संस्मरण से भी यही बात निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट होती है कि उस समय [वि. सं. १७१४ तक] श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर में ये दोनों उत्सव नहीं मनाये जाते थे। यदि मनाये जाते तो मन्दिर के तत्कालीन अधिकारी आचार्य गद्दी पर विराजमान गो. दामोदरवर जी से ऐसे प्रश्न कदापि न पूछे जाते कि आप दोनों जन्माष्टमी [श्री कृष्ण जन्माष्टमी और श्री राधा जन्माष्टमी] का उत्सव क्यों नहीं मनाते ? प्रश्नोत्तर निम्नांकित हैं—

.....मानि लई उन विप्र और इक प्रश्न करी तब।

जन्माष्टमी व्रत जन्म रैन अभिषेक इष्ट कौ। यह तौ प्रभु सम्बन्ध सदा आचरन शिष्ट कौ।  
तासौं बोले आप सत्य तुम नीकी भाखी। वैधी भक्तन ऊपर यह मर्यादा राखी।  
ये अनुरागी मधुर उपासक सबतें न्यारे। विरले कोटिक माँझ इन्हिंह पहिचाननहारे।  
जे जन जुगलकिशोर उपासक नित्य एकरस। समय-समय सेवा प्रकार में रहत कहत जस।  
जे रस वैस विरोधी उत्सव कबहुँक आवैं। पहिलैं कही मन एक बहुत रस कित-कित लावैं।  
नित्य भावना इष्ट जामें लगि रहे निरन्तर। ते वात्सल्य रस मनहिं दियें इनते परै अन्तर।  
इक रस भाव भावना महल टहल की साधैं। ह्याँ ते मन कौं काढ़ि और रस क्यों मन बाँधैं।  
शान्त भक्त जे आहिं तिनहिं विधिवत सब करने। जे रस वैस उपासक निष्ठा ते नहिं टरने।  
तब द्विज कौ सन्देह गयौ सब जानी मानी।.....

श्रीदामोदरवर चरित जिहि-जिहि कौं उपदेश। 'प्राणनाथ' कछु लिखि लियौ.....<sup>२</sup>।

राधाबल्लभीय वाणी साहित्य में प्राप्त उपर्युक्त उल्लेखों के आलोक में यह तथ्य

१. हि. कु. शा., ज. कु. दा., छं. सं. ६८ से ७१

२. प्र., प्रा ना., छं. सं. २६५ से ३०३



सुस्पष्ट हो चुका है कि गो. रासदास और गो. विलासदास जी के सेवाधिकार काल [वि. सं. १७१४ से वि. सं. १७२२तक] श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर में ये दोनों जन्मोत्सव नहीं मनाये जाते थे। गो. रासदास जी के पश्चात् उनके पुत्र गो. कमलनैन जी श्री राधाबल्लभ मन्दिर के सेवाधिकारी हुए। इनका सेवाधिकार काल वि. सं. १७२२ से १७५४ तक है। उस समय [वि. सं. १७२७ से १७५४ तक] श्री राधाबल्लभलाल जी कामवन में विराजमान थे। यद्यपि तत्कालीन वाणी ग्रन्थों में ऐसी कोई प्रमाण पंक्ति नहीं मिलती कि गो. कमलनैन जी प्रतिवर्ष बरसाने जाकर राधाष्टमी का उत्सव मनाया करते थे और न ऐसा ही कोई प्रमाण प्राप्त होता है कि गो. कमलनैन जी वृन्दावनस्थ अथवा कामवनस्थ श्री राधाबल्लभजी के मन्दिर में ये दोनों उत्सव मनाया करते थे। किन्तु इन्हीं गो. कमलनैन जी के ही शिष्य अतिबल्लभदास जी की वाणी में ऐसी पंक्तियाँ अवश्य मिलती हैं जिनमें इन दोनों उत्सवों को करने में सैद्धांतिक विरोध प्रकट किया गया है। वे पंक्तियाँ निम्नांकित हैं-

अर्द्ध निशा प्रीतम जनम यह जानत सब कोइ। अभिषेकादिक ग्रन्थ मत करत सयाने लोइ।  
हित जू मत यह रीति नहिं ताकौ यहै विचार। भाव-भावना सौं मिलै नित्य कृत्य अनुसार।  
अष्टप्रहर षट्तिन जुत जुगल-रूप कौ ध्यान। अविच्छिन्न सिंगार रस बसत सदा सब थान।  
जुगल रूप की भावना बाल भाव क्यों होइ? रस विरुद्ध उपजत तहाँ हीन भावना सोइ।  
बाल भावना कौं करै जुगल भावना छाँड़ि। तहाँ अपुन मे भाव कौं कहौ रसिक मोहि ताड़ि।  
भाव-भावना नहिं छुटै नित्य कृत्य समतूल। हित पद्धति उत्सव सकल उज्ज्वल रस अनुकूल।  
अर्ध निशा क्यों करि बनै भाव भावना नित्त? प्रीतम-प्रिये समान दोऊ लपटि रहे मिलि चित्त।  
जन्मोत्सव हू नित्य बाल भाव के भावकहि। ते सेवहु दै चित्त निज गुरु पद्धति रीति सौं<sup>१</sup>।

गो. कमलनैन जी के दत्तक पुत्र गो. ब्रजलाल जी के सेवाधिकार काल [वि. सं. १७५४ से....] में भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि राधाबल्लभीय रसिकजन वरसाने जाकर ही राधाष्टमी का उत्सव मनाते थे। गो. कुंजलाल जी के शिष्य जयकृष्णदास जी एवं जुगलदास जी ये दोनों ही सुहृद सजातीजनों के साथ वरसाने जाकर बड़े धूमधाम से ये जन्मोत्सव करते थे। जयकृष्णदास जी ने तो स्वयं ही [वि. सं. १७६० में प्रणीत हित कुलशाखा में] बाद ग्राम में हितोत्सव मनाने की भाँति वरसाने जाकर श्री राधा जन्मोत्सव मनाने का उल्लेख किया है—

अब भूमि आपुनी प्रगटे जहाँ। मेरौ मन कछु अटक्यौ तहाँ॥  
महा महोत्सव वरनि सुनाऊँ। श्री गुरु जनम बधाई गाऊँ॥  
नाम कहौं फल लहौं प्रसादहि। जनम-जनम गाऊँ श्री बादहि॥



नाचूँ-गाऊँ कृपा मनाऊँ। सम्पति अधिकहि अधिक लुटाऊँ॥  
 अरु नहिं मानौं सर्वसु जानौं। मिश्र व्यास कौ सुजश वखानौं॥  
 अरु पुनि जुगल अष्टमी भादौं। सुख सम्पति दम्पति दधिकौंदौं॥  
 श्री वरसाने की भूमि सुहाई। श्री प्रिया जनम दिन बजत बधाई॥  
 है प्रसन्न धन खरचौं हित सौं। सुहृद सजाती संगहि शुचि सौं<sup>१</sup>॥

गो. कुंजलाल जी के शिष्य जुगलदास जी के जीवन वृत्त से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि वि. सं. १७६७ तक राधाबल्लभीय रसिकगण श्री राधाजन्मोत्सव वरसाने जाकर ही मनाया करते थे-

नवल नागरीदास कौं कह्यौ कुँवरि मुख आप।  
 बरष-बरष मम जनम दिन उत्सव विधि सौं थापि।  
 सो आज्ञा पालन करी विधि सौं रच्यौ बनाइ।  
 पुनि अभिलाषा मन भई उत्सव वर्धन चाइ।  
 गान सन्त सनमान कौ कियौ बहुत विस्तार।  
 पद्धति भानुजा कुँवरि की दीनी ओप अपार।  
 जुगल-नागरीदास कौ दरसत एकत भाउ।  
 कीरतिजा हित नाम रति याते परत लखाउ।  
 ब्रजवासी बल्लभ जिनहिं अन्तर-गाढी प्रीति।  
 परिकर गनि पूजत मिलत यह पूरव परतीति।  
 लावत दर्वि उपाइ कुँवरि जनम मंगल सु हित।  
 चलत समाज बनाइ प्रेम सहित खरचत सु वित।  
 वरसाने नर-नारि आगम सुनि हरषत सबै।  
 भेंटत भुजा पसारि भानु-पौरि पहुँचत जबै।

मन्दिर जाइ कुँवरि-पद परसैं। देखत ब्रज-जन सब हिय सरसैं।  
 गावत बधाई भान लली की। देखत आवनि गली-गली की।  
 आये वृषभान गोप के द्वार। यौं कहि विवश होत रिझवार।  
 आजु बधाई है वरसाने। गावत याहि प्रेम सरसाने।  
 हौं आयौ रानी माँगनौं। भुजा पसारि देत सुख घनौं।  
 ओढ़ि ओढ़िनी भीजत भाइ। लोचन आनंद-वारि चुचाइ।  
 सो धुनि मिलि परवत गुंजरै। तब कौ सुख कछु कहत न परै।

संत-महंत जाहिं जु जहाँ। अति सनमान सबनि कौ तहाँ।

श्री राधा के जनम दिन प्रमुदित नाना भाइ।

जुगलदास अति प्रीति सौं उत्सव करत बनाइ<sup>१</sup>।

‘सुधर्म बोधनी’ [रचनाकाल -वि. सं. १८४२] प्रणेता लाड़िलीदास जी ने भी अपने समय में श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर में होने वाले उत्सवों का वर्णन करते हुए फाग, झूला, और शरद आदि दस उत्सवों का ही नामोल्लेख किया है किन्तु आलोच्य दोनों नैमित्तिक उत्सवों का नामोल्लेख नहीं किया है—

फागु-डोल चन्दन वसन तीज हिंडोरे झूल। शरद पाट उत्सव तहाँ गुरुपूजा रस मूल। दीपमालिका प्रतिपदा वन विहार चित चाह। खिचरी और बसन्त ये अपने दस उत्साह। कहे जु ये उत्साह दस रस माधुर्य प्रधान। हित मन्दिर में देखियत रसिकन गिरा प्रमान<sup>२</sup>।

उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में यह बात बहुत अधिक स्पष्ट हो जाती है कि श्री हिताचार्य ने नन्दनन्दन और वृषभाननन्दिनी इन दोनों के जन्मोत्सवों की परम्परा नहीं डाली थी। श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर, वृन्दावन में वि. सं. १८४२ तक न तो राधाजन्मोत्सव ही मनाया जाता था और न कृष्ण जन्मोत्सव ही। किन्तु श्री राधा की आज्ञा से राधा जन्मोत्सव वरसाने में मनाया जाने लगा था। जिसका प्रारम्भ नेही नागरीदास जी ने श्री हिताचार्य के निकुंज गमन के अनेक वर्षों पश्चात् वि. सं. १६४० के आसपास किया। नागरीदास जी के गुरुवर्य गो. वनचन्द्र जी के समय से सभी राधाबल्लभीय रसिक—समाज [सन्त—महन्त और गोस्वामी गण] वरसाने जाकर ही इस उत्सव को मनाता था—वृन्दावन में नहीं। श्री राधाबल्लभ मन्दिर वृन्दावन में इन उत्सवों को मनाने का क्रम कब से प्रारंभ हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

“श्री हिताचार्य ने न तो ब्रजावतरित रूप को अपना उपास्य ही बनाया है और न कभी उनके जन्मोत्सव ही मनाये हैं” उपर्युक्त पंक्तियों में यह तथ्य निर्विनाशितः स्पष्ट हो जाने पर यह प्रश्न सहज ही उठता है कि फिर उन्होंने “आनन्द आजु नन्द के द्वार” तथा “चलौ वृषभान गोप के द्वार” इन दो पदों की रचना किस उद्देश्य से की है? प्रश्न समीचीन है, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर भी श्री हिताचार्य ने इन्हीं पदों में स्वयं ही स्फुट शब्दों में उल्लिखित कर दिया है।

### ५.१.१.६.७.३. अवतारी और परात्पर रूप की सिद्धि हेतु :

श्री कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों की उपासनाओं का आधार ग्रन्थ किंवा प्रमाण ग्रन्थ श्री

१. गु. कृ. च. वे. [रचना काल-वि. सं. १८०७] चा. वृ. दा., छ. सं. २३ से २७ तथा २६ से ३४

२. सु. बो., ला. दा.



मद्भागवत है; ऐसी सार्वजनीन मान्यता है। श्री हिताचार्य के आविर्भाव से पूर्व सभी आचार्यों की मान्यता थी कि श्री मद्भागवत वर्णित श्री कृष्ण; क्षीरसागरशायी उन नारायण के अवतार हैं जो कि चतुर्भुजी हैं, जिनके हस्तकमल में शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं। सिर पर किरीट और कानों में कुण्डल सुशोभित हैं। देवकी के उदर से प्रगट होते समय उन्होंने इसी रूप में दर्शन भी दिये थे। नारायण ने दुष्टों का वध करने के उद्देश्य से अवतार लिया था। वह कार्य श्री कृष्ण रूप में पूरा भी हुआ।

श्री मद्भागवत में जहाँ पर नन्दनन्दन श्री कृष्ण के द्वारा असुरवध, दावानलपान, कालीदमन तथा गोवर्धन धारण जैसी अद्भुत और अलौकिक लीलायें करने का वर्णन है वहीं पर ब्रजगोपियों के साथ कालिन्दी कूल की कलित कुंजों में महामधुर शृंगार-केलि तथा महारास लीला का भी स्फुट वर्णन है जो कि सुनिश्चित रूप से श्री राधा, वंशी और मोरमुकुटधारी वंशीधर स्वरूप पर ही आधारित है। श्री कृष्ण के द्वारा की गई गोवर्धनधारण और असुरवध जैसी लीलायें उनके मूलभूतस्वरूप नारायण रूप की ओर तो संकेत कर देती हैं; किन्तु वंशी पर आधारित महारासादि लीलायें किस रहस्य रूप ने की हैं-इसका उद्घाटन किसी ने नहीं किया है।

श्री मन्नारायण के पास न तो श्री राधा ही हैं, न ही अनन्त गोपियाँ हैं, न मोरमुकुट ही है और न वंशी ही है। उनके अवतार का हेतु भी रास करना नहीं प्रत्युत-दुष्टों का नाश करना मात्र था और वह पूरा भी हुआ। अतः यह प्रश्न प्रकृतितः बन जाता है कि वंशी पर आधारित महारासादि लीलायें किस गुप्त स्वरूप ने कीं? श्री हिताचार्य के आविर्भाव से पूर्व न तो किसी ने यह प्रश्न ही उठाया है और न इस प्रश्न का उत्तर ही दिया है। ब्रजगोपियों के साथ हुई श्री कृष्ण की मधुर केलियों में श्री राधा का प्रमुख स्थान है। इस राधा के मूलभूत रूप के सम्बन्ध में भी किसी आचार्य ने अथवा किसी भक्त ने कोई प्रश्न और कोई उत्तर नहीं दिया है। भगवान् नारायण के साथ तो श्री लक्ष्मी जी विराजमान रहती हैं, तो क्या वृषभान-गृह में आविर्भूत श्री राधा, लक्ष्मी जी का ही अवतार स्वरूप है। यह प्रश्न भी किसी के मस्तिष्क में नहीं उठा।

आचार्य बल्लभ के 'सिद्धान्त मुक्तावली' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "परब्रह्म श्री कृष्ण ही सच्चित और आनन्द रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं<sup>१</sup>। इसी प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने भी घोषणा की है कि कृष्ण के अतिरिक्त मैं कोई दूसरा तत्त्व नहीं जानता<sup>२</sup>। यद्यपि आचार्य बल्लभ तथा मधुसूदन सरस्वती की यह मान्यता उनके प्रमाण ग्रन्थ श्री मद्भागवत द्वारा

१. सि. मु. आ. ब., श्लो. सं. ३

२. वंशी विमूषित करान्वव नीरदाभात्। पीताम्बरादरुण विम्बफलाधरोष्ठात्।  
पूर्णन्दु सुन्दर मुखादरविन्द नेत्रात्। कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहम् न जाने।

समर्थित नहीं है-व्यक्तिगत ही है, फिर भी दोनों आचार्यों ने उनके अवतार पूर्व रूप के संबंध में कोई विचार व्यक्त नहीं किये हैं।

सूरदास जी, परमानंददास जी तथा नन्ददास जी आदि भक्तों ने भी ब्रजावतरित श्री राधा-कृष्ण की जन्म बधाइयाँ गाई हैं। इस बधाई गान में श्री राधा के अवतार पूर्व रूप का तो कोई स्वरूप परिचय नहीं है किन्तु कृष्ण को नारायण का अवतार अवश्य उल्लिखित किया गया है<sup>१</sup>।

श्री, ब्रह्मा, रुद्र, शुक और नारदादिक भक्तों से अलक्षित, गोविन्द प्रिय वर्ग से दुर्गम, वृन्दावन की सीमा में ही गोचर और नित्य किशोरी-किशोर रूप श्यामा-श्याम के नित्यविहार परायण रूप को श्री हिताचार्य ने ही अपना उपास्य बनाया था। इस रूप को उन्होंने निकट से देखा था और इससे वे पूर्ण परिचित भी थे। उन्होंने देखा कि लोकावतरित जुगल [नन्दनन्दन-वृषभान नन्दिनी] रूप उस नित्य विहार परायण श्यामा-श्याम किंवा लाल-ललना रूप से बहुत कुछ साम्य रखता है। श्री मदभागवत वर्णित ब्रज लीला नायक श्री कृष्ण का वंशी वादन तत्पर त्रिभंगी श्याम स्वरूप, नित्य किशोर रसिकवर लाल से मिलता जुलता है। इसी प्रकार वृषभान नन्दिनी श्री राधा का नीलाम्बर विभूषिता गौरांगी वपु, रस मूर्ति स्वामिनी श्री राधा से मिलता जुलता है। अतः श्री हिताचार्य ने सर्वप्रथम यह घोषणा कर दी कि नन्दालय में अनन्य दासों के रस भजन हेतु रसिकवर लाल जी ही प्रकट हुए हैं<sup>२</sup> और श्री वृषभान गोप के भवन में मोहनलाल के हित नित्य किशोरी श्यामा ही कृपा वपु से अवतरित हुई हैं<sup>३</sup>। 'राधासुधानिधि' में भी उन्होंने कहा है कि जो वृषभान के गृह में कृपा करके किंवा कृपा वपु से अवतरित हुई हैं; उन पूर्णानुराग रस मूर्ति श्री श्यामा की मैं किंकरी होने की वाञ्छा करता हूँ—

१. [क] देखौ अद्भुत अवगति की गति कैसी वेष धर्यौ है।.....

जाके नाल भयौ ब्रह्मादिक सकल विश्व बल साथै हो।  
ताकौ नाल छेदि ब्रज युवती बाँटि तगा सौँ बाँधै हो।  
ते अब सूर प्रगट या ब्रज में गोकुल गोप विहारी हो।

—सू. सा., सू. दा., श्री कृष्ण जन्म बधाई

[ख] गोकुल में बाजत कहा बधाई।

ध्रुव-अम्बरीष-प्रह्लाद-विभीषण नित्य महातम गाई।  
सो हरि परमानंद कौ ठाकुर ब्रज जन केलि कराई।

—परमानन्ददास जी के पद, श्री कृष्ण जन्म बधाई

२. आनंद आजु नन्द के द्वार। दास अनन्य भजन रस कारन प्रगटे लाल मनोहर ग्वार।

—स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. ११

३. चलौ वृषभान गोप के द्वार। जनम लियौ मोहन हित श्यामा आनंद-निधि सुकुमार।

—स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. १६



पूर्णनुराग रस मूर्ति तडिल्लताभां ज्योतिः परम भगवतो रतिमद्वरहस्यम् ।  
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे स्यात् किंकरी भवितुमेव ममाभिलाषः<sup>१</sup> ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजावतरित नन्दनन्दन तथा वृषभाननन्दिनी रूप के अवतार पूर्व रूप का ऐसे स्फुट शब्दों में परिचय देने का श्रेय श्री हिताचार्य को ही है। उन्होंने सभी आचार्यों, सभी भक्तों और सर्व साधारणजनों को यह उद्बोधन देने के लिए किंवा इस गुप्त रहस्य का उद्घाटन करने के लिए ही इन दोनों पदों की रचना की है, जन्मोत्सव वर्णन तो एक मधुर माध्यम मात्र था ।

आलोच्य पद द्वय के द्वारा श्री हिताचार्य ने यह भी उद्बोधन दिया कि नन्द-वृषभान भवन में प्रकट जुगल स्वरूप पूर्ण प्रेम किंवा रस रूप नहीं है। वह अवतारी नहीं अवतार स्वरूप है इस लोकावतरित जुगल का 'सहज रूप' 'पूर्ण रूप' 'सदैव प्रगटतर रूप' और 'रस-रसिक रूप' रसिकवर लाल तथा नित्य किशोरी श्यामा ही हैं। ये दोनों ही नन्द-वृषभान-भवन में कृपा वपु से प्रकट हुए हैं ।

हितानुगत प्रबोधानन्द सरस्वती, सेवक जी तथा अन्यान्य रसिकों ने श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों का भाष्य जैसा करते हुए कहा है कि ब्रजावतरित वृषभाननन्दिनी रूप अपूर्ण है। परिपूर्ण माधुर्यखान श्री राधा तो वृन्दावन में ही सम्यक् रूप से प्रकाशित रहती हैं<sup>२</sup>। सेवक जी ने भी वृषभान नन्दिनी श्री राधा का 'सहज रूप' ही श्री हिताचार्य की रसरीति में उपास्य बतलाया है<sup>३</sup>। हित ध्रुवदास जी ने ब्रजावतरित नन्दलाल-वृषभान किशोरी की शृंगार केलि को 'प्रेम' की पहिली सीढ़ी घोषित की है<sup>४</sup>। इस घोषणा से इन्होंने भी ब्रज परिकर से दुर्लक्ष्य रूप को ही नित्य, पूर्ण, अवतारी किंवा प्रकाशी रूप सिद्ध किया है।

१ रा. सु. नि., श्लो. सं. ४०

२ राधा वृन्दावनाख्ये वने इति परमोभाति घोषः पुराणे । तेनास्या न ब्रजेऽपि प्रकटमति महाश्चर्य्यं पूर्ण स्वरूपम् ।  
..... सा वृन्दावन एव सम्य गुदिता पूर्णैक माधुर्य्यं भू ।

—वृ. म., प्र. स. [षष्ठम शतक] श्लो. ४१, ४२

३ सुभग सुन्दरी सहज सिंगार सहज शोभा सर्वांग प्रति । सहज रूप वृषभाननन्दिनी ।

सहजानन्द कादम्बिनी सहज विपिन वर उदित चन्दिनी ।.....

—से. वा., हित रस रीति प्रकरण छं. सं. ६

४.[क] एक समय विहरत वन माँहीं । कियौ मतौ विवि द्रुम की छाँहीं ।

यह निज रस कीजै विस्तारा । रसिकजनन कौं अति ही प्यारा ।

नन्दलाल वृषभान किशोरी । रसिकन हित प्रगटी यह जोरी ।

— ब्या. ली., ब्रज लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १ से ३

[ख] पहिली पैरी प्रेम की कीनी ब्रज विस्तार । भक्तनि हित लीला धरी करुनानिधि सुकुमार ।

— ब्या. ली., बृहद बावन पुराण की भाषा, हि. ध्रु. दा., छं. सं. २४

५. गोप-गोपिन आदि दुर्लभ तिहि सुखहि दिन प्रति लहैं ।.....

— पदा., हि. ध्रु. दा. प. सं. ८१



### ५.१.१.६.७.४. नित्य और नैमित्तिक रूप के उद्बोधन हेतु :

श्री हिताचार्य ने आलोच्य दोनों पदों की रचना नित्य और नैमित्तिक की सन्धि समझाने के उद्देश्य से भी की है। जिसका समझाना सम्प्रदायाचार्य होने के नाते उन्हें नितान्त अनिवार्य था। उन्होंने इन पद द्वय के द्वारा यह बतलाया है कि मेरी उपासनीय जोरी नित्य, प्रकाशी, सहज और अवतारी रूप है, जिसे ललना-लाल किंवा श्यामा-श्याम नाम से संबोधित किया जाता है और नन्द-वृषभान गृह में प्रगट नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी किंवा राधा-माधव नाम से जगत में आख्यात जोरी मेरी उपासनीय जोरी का नैमित्तिक रूप है। प्रकाश रूप है और अवतार रूप है। इसीलिए तो वे कहते हैं- “प्रगटे लाल मनोहर ग्वार” अर्थात् लाल जी ही मनोहर ग्वार के रूप में नन्दालय में प्रगट हुए हैं। इसी प्रकार “जनम लियौ मोहन हित श्यामा” इस पंक्ति के द्वारा उन्होंने बतलाया है कि वृषभान गृह में मेरी नित्य किशोरी श्यामा ही मोहन के हित कृपा वपु से अवतरित हुई हैं। ‘राधासुधानिधि’ में भी उन्होंने कहा है कि ‘प्रेम’ की द्वय युगलमूर्ति श्री श्यामा-श्याम ही जगत में राधा-माधव नाम से विख्यात हैं<sup>१</sup>। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री हिताचार्य की उपास्य जोरी नित्य रूप वाली है तथा ब्रज में नन्दालय तथा वृषभानालय में प्रगट जोरी उस नित्य जोरी का नैमित्तिक रूप है।

श्री हिताचार्य के उपर्युक्त सूत्रों ने परवर्ती सभी रसिकों को यह कहने का बल, आश्रय और साहस प्रदान किया कि कुंज में विहार करने वाली जोरी नित्य है, अवतारी है; वृषभान सुता और नन्दनन्दन उनका नैमित्तिक रूप किंवा अवतार स्वरूप है<sup>२</sup>। वे अपनी इच्छा से ही इच्छा वपु धारण करके ये सब लीलायें किया करते हैं<sup>३</sup>। कभी नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी

१. गाढ़ स्नेहानुबन्ध ग्रथित मिव तयोरदभुत प्रेम मूर्त्योः। श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्वयं धाम जाने।  
— रा. सु. नि., श्लो. १७३

२. श्री कुंज विहारी सर्वसु सार। जनम करम पूरन प्रभु के सब आस पास परिवार।  
अंश कला सब अवतारनि कौ अवतारी भरतार।.....

— बि. दा. की वा., प. सं. १४६

३. [क] सहज सदा वपु रहत निरन्तर कारन प्रगट रसिकजन हेत।  
जै श्री दामोदर हित श्री वृन्दावन सदा बसत वृन्दावन खेत।

— पदा., गो. दा. व., प. सं. १

[ख] बाँके विरदनि विदित विहारी। इच्छा विग्रह धरि लीला वपु सब अवतारनि पर अवतारी।

— बि. दा. की वा., बि. दा., प. सं. २८

[ग] अवतारी सब अवतारनि यह नित्य विहारी। श्री राधाबल्लभलाल प्रगट लीला विस्तारी।

— वृ. र. स. त. सा., गो. रू. ला., पृ. सं. ५

[घ] इच्छा वपु लीला सब करई। इच्छावान आपु थिर रहई।

निर्गुण-सर्गुण इच्छा जान। इच्छावान परे उनमान।

चन्द-सूर कौ नहि आमास। इच्छावान करै जहाँ वास।

— ल. कि. की. वा., चौबोला सं. ४८८, ४८९



आदि अवतार स्वरूप से तो कभी विभिन्न आचार्य रूप से । नित्य और नैमित्तिक जोरी की यह सन्धि समझना नितान्त आवश्यक है । इस सन्धि-ज्ञान के अभाव में रस में विरस किंवा अर्थ में अनर्थ और बहुत बड़ी हानि हो सकती है<sup>१</sup> ।

‘नित्य’ [नित्य विहारी जुगल] से ‘नैमित्तिक’ [समस्त ऐश्वर्य स्वरूप और अवतार स्वरूप] का सर्वथा असंबंध कहने पर श्री श्यामा-कुंज बिहारी का नित्यविहार ही कपोल कल्पना मात्र बनकर रह जायगा । श्यामा-कुंजविहारी को परात्पर तत्त्व, सर्व व्यापक, सबका मूल, अवतारी और पूरन प्रभु कहने का कोई औचित्य ही नहीं रह जायेगा ।

लीला गान संबंधी उपर्युक्त विशद विवेचना का सारांश यह कि श्री हिताचार्य की रचनाओं में संप्राप्त ब्रज लीला से निष्पन्न रूप और ब्रजलीला सम्बन्धी नामों का उल्लेख तथा जन्म बघाई जैसे पद द्वय गान का उल्लेख उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है जिन पर पिछले पृष्ठों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है । निर्भ्रान्त तथ्य यह है कि श्री हिताचार्य ने उन्हीं लीलाओं का गान किया है जिन लीलाओं में उनके परमोपास्य ‘प्रेम’ ‘रस’ किंवा ‘हित’ का नित्य प्रकाशी निरावरण और निज रूप प्रत्यक्ष हुआ है ।

## ५.१.१.१०. लीला और रसरीति :

### ५.१.१.१०.१. शब्द व्युत्पत्ति और शाब्दिक अर्थ :

‘रसरीति’ शब्द रस और रीति इन दो शब्दों के योग से बना है । जिसका अर्थ होता है-रस की रीति । इस अर्थ के आलोक में कुछ ऐसे प्रश्न भी परिलक्षित होते हैं जो इस अर्थ को भी मूल शब्द के रूप में ही बनाये रखते हैं । वे प्रश्न हैं-रस की कौन सी रीति ? रस निष्पन्न करने की रीति या रसपान करने की रीति ? ‘यदि रस पान करने की रीति’-यह अर्थ ही व्याकरण सम्मत मान लिया जाय तो फिर प्रश्न यह उठता है कि अनुकार्य द्वारा रस पान करने की रीति या उपासक [सामाजिक सुमनसि] द्वारा रस पान करने की रीति ? इत्यादि ।

रसरीति, रस परिपाटी, या रस संविधान शब्द वस्तुतः रसोपासना क्षेत्र के अपने शब्द हैं । विक्रम की सोलहवीं शताब्दी तक रसोपासना का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था । अतः आचार्य भरत, अभिनव गुप्त, आचार्य वामन, आचार्य रुद्रट, आचार्य लोल्लट, आचार्य मम्मट तथा आचार्य जगन्नाथादि द्वारा निर्मित रस शास्त्रों में ‘रसरीति’ शब्द का उल्लेख नहीं मिलता । रस के निष्पत्ति विधान के साथ-साथ ‘रस-निष्पत्ति’ शब्द अवश्य मिलता है ।

१. प्रगट भई ललित प्रियै रँग मीनी । कुंजबिहारिनि आपु वपु धार्यौ छिन-छिन प्रीति नवीनी ।

— ल. कि. की वा., स्वामी हरिदास जू की बघाई, प. सं. ६

२. नित्त-निमित्त सन्धि समुझे बिनु स्वादिनु स्वाद बिगार्यौ ।

— बि. दा. की वा., प. सं. १५०



आचार्य भरत ने काव्य रस की निष्पत्ति का विधानोद्बोधन कराते हुए लिखा है कि भाव ही विभाव अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस रूप में निष्पन्न होता है<sup>१</sup>। इस विधान उल्लेख के साथ ही आचार्य ने रस सम्बन्धी कुछ प्रश्नोत्तर भी उल्लिखित किये हैं। जैसे रस क्या है ? रस कैसे बनता है ? रस का आस्वादक कौन है ? और वह कैसे आस्वादित होता है ? इत्यादि<sup>२</sup>।

जो श्रुतियों के द्वारा भी अलक्षित था, जिसका रूप इन्द्रियातीत था, जो नारद, अज ईश तथा भक्तों के लिए भी परम रहस्य था— वह 'रस' किंवा उस रस का रूप काव्याचार्यों के इन्द्रिय गोचर हो ही कैसे सकता था। उन महामनीषियों के समक्ष तो ब्रह्मानन्द सहोदर काव्य रस का रूप और स्वरूप भी प्रत्यक्ष नहीं था यही कारण था कि रस सम्बन्धी ऊहापोह का शुभारंभ करने वाले समादरणीय आचार्य भरत को भी उक्त प्रश्न करने पड़े थे।

आचार्य भरत द्वारा विनिर्मित वह रस निष्पत्ति विधा सुधी जगत और सुमनस् जगत के लिए एक दुर्लभ किन्तु अन्तरंग चतुष्टय संपोषिणी वाञ्छनीय वस्तु सिद्ध हुई और वह सर्व समाद्रित परंपरा के रूप में चल पड़ी किन्तु उस विधा से रस का नित्य, निज और अकृत्तिम रूप निरावृत न हो सका।

भगवान के भक्तों ने रस को इस कृत्तिमता-कर्म से उन्मुक्त करने की स्तुत्य चेष्टा की। श्री रूप गोस्वामी पाद ने 'भक्ति रस' का आविष्कार किया और उसे रस शास्त्र मनीषी विद्वानों द्वारा सम्मान्य बनाने के उद्देश्य से 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रन्थ की रचना भी की। गोस्वामी पाद अपने इस महान कार्य में कहाँ तक सफल हुए हैं यह निर्णय देना विद्वदजनों का कार्य है किन्तु यह बात सर्व साधारण की दृष्टि से दूर न रहेगी कि गोस्वामी पाद ने भी आचार्य भरत की भाँति ही रस निष्पत्ति का विधान स्वीकार किया है<sup>३</sup> और 'रसरीति' शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

१. विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति।

— ना. शा., आ. भ. मु.

२. को दृष्टान्तः अत्राह यथाहि नाना व्यंजनौषधि द्रव्य संयोगाद्रस निष्पत्तिः तथा नाना पगमाद् रस निष्पत्तिः यथाहि गुड़ादीभद्रव्यै व्यंजनैरौषधिमिश्रः षाड्वादयो रसानिर्वर्त्यन्ते। तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावो रसत्वं प्राप्नुवन्तीति। अत्राह 'रस' इति कः पदार्थ उच्यते आस्वद्यत्वात् कथमास्वाद्यते रसः ? यथाहि नाना व्यंजनः संस्कृतमन्नं मुंजानां रसान्ना स्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हरषादीश्चधि गच्छन्ति तथा नाना भावान्मिनय व्यंजितान् वागंग सत्वोपेतान् स्थायी भावानां स्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकः हर्षादीश्चाधि गच्छन्ति तस्मान्नादय रसा इत्यभिख्याताः।

— ना. शा., आ. भ. मु.

३. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभः। स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः। कृष्णश्च कृष्ण भक्तताश्च बुधैरालम्बन मताः। रत्यादि विषयत्वेन तदाधार तथापि च। एषा कृष्ण रतिः स्थायी भावो भक्ति रसोभवेत्।.....

— भ. र. सि., रु. गो.



‘रसरीति’ शब्द का प्रयोग बहुल हमें गो. श्रीहित हरिवंशोदित रसोपासना के रसिक वाणी साहित्य में समुपलब्ध होता है। हरिराम व्यास जी ने श्री हिताचार्य के निकुंज गमन [वि. सं. १६०६] पर अपना हार्दिक दुख प्रगट करते हुए लिखा था कि श्री हरिवंश के बिना रस रीति का भार [निर्वहन] कौन वहन कर सकता है—

हुतौ रस रसिकन को आधार।  
बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार।  
को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चारु।  
वृन्दावन की सहज माधुरी कहिहै कौन उदार।  
पद रचना अब कापै है निरस भयौ संसार।  
बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ उठिगौ ठाठ सिंगार।  
जिन बिन दिन छिन सतयुग बीतत सहज रूप आगार।  
व्यास एक कुल कुमुद बन्धु बिनु उड़गन झूठौ थार<sup>१</sup>।

इस पद के रचनाकाल में स्वामी श्री हरिदास जी, स्वयं व्यास जी, प्रबोधानंद सरस्वती, श्री रूप-सनातन जी और बीठलविपुल जी जैसे शीर्षस्थ रसिक महानुभाव विराजमान थे किन्तु व्यास जी की दृष्टि में वृन्दावन रस रीति का भार वहन करने में श्री हरिवंश ही समर्थ थे। तत्कालीन विद्यमान रसिकों में से कोई भी रसिक समर्थ नहीं था। ऐसा कहने के लिए व्यास जी को संभवतः इसलिए भी विवश होना पड़ा होगा क्योंकि उनकी दृष्टि में इस रसरीति के आविर्भावक गो. हित हरिवंश जी ही थे। व्यास जी ने एक स्थल पर सुस्पष्ट रूप से यह उल्लेख भी किया है कि कुंज महल रस का भेव हित हरिवंश जी ने प्रकट किया है<sup>२</sup>। यदि व्यास जी की दृष्टि में इस रस रीति के प्रादुर्भावक कोई अन्य महानुभाव होते तो व्यास जी ऐसा कभी न लिखते—

बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार<sup>३</sup>।

व्यास जी की उपर्युक्त पंक्तियों में श्री हिताचार्य के द्वारा प्रकटित उपासना की जिस विशिष्ट रसरीति का संकेत मिलता है उसका प्रादुर्भाव करना उनके [श्री हिताचार्य के] लिए अनिवार्य भी था क्योंकि प्रत्येक भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों तथा तदनुगत भक्तों की यह सर्व स्वीकृत मान्यता रही है कि अपने नवीन भक्ति सिद्धान्त की मौलिकता प्रमाणित

१. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १६

२. श्री राधाबल्लभ व्यास के इष्ट मित्र गुरुदेव। श्री हरिवंश प्रगट कियौ कुंज महल रस भेव।।

— व्या. वा., ह. व्या., सारवी

३. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १६

करने तथा अन्य आचार्यों के सिद्धान्तों से पार्थक्य परिलक्षित कराने के उद्देश्य से प्रत्येक अभिनव सिद्धान्त प्रतिष्ठापक महानुभाव अपना सिद्धान्त ग्रन्थ-सूत्र ग्रन्थ या भाष्य ग्रन्थ अवश्य लिखते थे। शांकर भाष्य, श्री भाष्य, तथा अणु भाष्य इसी ऐतिहासिक तथ्य के मुखर मूर्त प्रमाण हैं।

गो. हित हरिवंश जी ने भी प्रेमोपासना किंवा रसोपासना नामक अभिनव उपासना मार्ग का प्रवर्तन किया था और अपने अभिनव रसोपासना सिद्धान्त पर प्रकाश भी डाला था, जिसका उल्लेख सेवक जी की "सब अवतार भक्ति विस्तरी। पुनि रसरीति जगत उद्धरी।। कस्थौ धर्म अपनों प्रगट"<sup>१</sup>। इस पंक्ति में मिलता है किन्तु इस अभिनव उपासना का सिद्धान्त ग्रन्थ कौन सा है? उसका क्या नाम है? आज भी स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा जा सकता-यह अभी शोध के गर्भ में ही सुरक्षित है। 'शोध के गर्भ में ही सुरक्षित है'-यह कहने का एक कारण तो ये है कि अनेक रसिकों, तथा भक्तों ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा है कि श्री हरिवंश जी ने अभिनव 'भजन रीति' अभिनव उपासना प्रकट की है और उसका अभिनव सिद्धान्त- 'रसरीति' का भी कथन किया है किन्तु वह गूढ़ है। यथा-

श्री हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत् कोउ जानि है<sup>२</sup>।.....

हित जू की रीति कोउ लाखन में एक जानै<sup>३</sup>।.....

जु धरम्मी धरम्म स्वरूप कह्यौ बिसरौ जिन श्री हरिवंश कह्यौ<sup>४</sup>।.....

पुनि रसरीति जगत उद्धरी। कस्थौ धर्म अपनों प्रगट<sup>५</sup>।.....

"श्रीजू जो रस प्रगट कस्थौ ता रस उपासना में कछू न मिलै"<sup>६</sup>।.....

"जो कोऊ कहै कि मान-विरह महापुरुषन गायौ सो सदाचार के लिए औरनि के समुझाइवे कौं कह्यौ"<sup>७</sup>।.....

मूल कारण या दूसरा कारण यह है कि श्री हिताचार्य ने जिस अभिनव रसोपासना का प्रवर्तन किया है उसकी मूल संस्थापिका उन्होंने अपनी गुरुदेव श्री राधा को घोषित किया है- अतः उन्होंने स्व प्रवर्तित रसोपासना के रस सिद्धान्तों का उल्लेख तो किया है- उपास्य, उपासक उपासनादि के स्वरूप का उद्गान तो किया है किन्तु किसी पृथक ग्रन्थ

१. से. वा., जस विलास-प्रथम प्रकरण, छं. सं. ५

२. म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

३. म. मा. स., टी.प्रि. दा., छं. सं. ३६२

४,५. से. वा., पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. ६ तथा जस विलास प्रकरण, छं. सं. ५

६,७. ब्या. ली. सिद्धान्त विचार, हि. धु. दा.

८. तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौं होतु है।.....



के रूप में विरचित नहीं किया है। “श्री राधाचरणानुभाव गीतिका स्वरूप केलि वर्णना अपनी वाणी”<sup>१</sup> में ही रस सूत्रों के रूप में ही —धर्मी [उपासक] का तथा धर्म [उपासना संबंधी सभी तत्वों] का स्वरूपोद्गान सूत्र रूप में कर दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति सम्प्रदाय के आचार्य गणों ने जिस प्रकार अपनी उपासना के सिद्धान्तों को भक्ति सिद्धान्त की संज्ञा दी है उसी प्रकार श्री हिताचार्य के अनुयायी रसिकों ने और नाभाजी प्रियादास जी आदि भक्तों ने श्री हिताचार्य द्वारा लिखित रसोपासना के सूत्रों को ‘रसरिति’ कहकर प्रकीर्तित किया है। सेवक जी ने भी उसी समय [वि. सं. १६१० के लगभग] ‘सेवकवाणी नामक वाणी का प्रणयन किया था। इस ग्रन्थ में उन्होंने अनेक स्थलों पर सुस्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि श्री हरिवंश जी ने अपनी वाणी में रसोपासना की जो विशिष्ट ‘रसरिति’ प्रदर्शित की है वही रसरिति मुझे अच्छी लगती है, वही प्रिय लगती है, उसी पर मेरा पूर्ण विश्वास है। मुझे और कुछ नहीं सुहाता—

श्री हरिवंश गिरा रसरिति सु चित्त प्रतीति न आन सुहाई<sup>२</sup>।

पाके धर्मी के स्वरूप चित्रण सन्दर्भ में श्री हित धर्म के पूर्ण विज्ञाता तथा श्री हरिवंश वाणी में वर्णित ‘रसरिति’ पर ही पूर्ण आस्था रखने वाले धर्मियों का यशोगान करते हुए भी सेवक जी ने यही अन्तर्भावना प्रकट की है कि— श्री हरिवंश जी ने अपनी वाणी में स्व प्रगटित रसोपासना की विशिष्ट रसरिति भी आलोकित की है—

हरिवंश गिरा रसरिति प्रसिद्ध प्रतीति प्रगट्ट प्रमानत हैं।

बलि जाउँ अपने धरमिन की जे धरम्मी धरम्महिं जानत हैं<sup>३</sup>।

एक स्थल पर उन्होंने सुस्पष्ट शब्दों में यह भी लिखा है कि श्री हरिवंश जी ने अपनी वाणी में जिस रसरिति का दिग्दर्शन कराया है उसी रसरिति को कर्मठजन सुनते हैं—

कर्मठ कठिन सशल्य नित सोचत शीस धुनन्त।

श्री हरिवंश जु उद्धरी सोई रसरिति सुनन्त<sup>४</sup>।

श्री हरिवंश वाणी के स्वरूपोद्गान सन्दर्भ में उन्होंने कई स्थलों पर यह भी संकेत किया है कि रसिकजन श्री हरिवंश वाणी को रटते-रटते तथा कहते-सुनते श्री हरिवंशी रसरिति का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं —

१. राधा केलि निकुंज वीथिषु....।

— रा. सु. नि. श्लो. सं. १३८

२. से. वा., अनन्य टेक प्रकरण, छं. सं. ६

३. से. वा., पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. ६

४. से. वा. भक्त भजन प्रकरण, छं. सं. १०

सो जु वानी रसिक नित्य निशि-दिन रटत, कहत अरु सुनत रसरीति जानी<sup>१</sup>।  
रसिक जो सद्य चाहत जु रसरीति फल, तौ कहौ अरु सुनौ हरिवंश वानी<sup>२</sup>।  
जौरु तुम रसिक रसरीति के चाड़िले, तौरु मन देहु हरिवंश वानी<sup>३</sup>।

सेवकवाणी के छन्दों से भी यह ध्वनित होता है कि वह रसरीति श्री हरिवंश वाणी की केलि वर्णना में ही अन्तर्गर्भित है -

सेवक जी ने एक स्थल पर लिखा है कि कुछ भक्त गण नाइक निपुण श्री कृष्ण की श्रृंगारी केलि वर्णन करके रसिक बनने का दावा करते हैं किन्तु उनकी रचनायें श्री हरिवंशी रसरीति के विरुद्ध गैर टकसाली घोषित कर दी जाती हैं और उन्हें रसिक नहीं कहा जाता तब वे बुरा मानते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें समझाते हुए यह कहा जाता है कि यदि तुम श्री हरिवंशी रसरीति की टकसाल में खरे उतरे हुए रसिक बनना चाहते हो तो तुम भी श्री हरिवंश वाणी में मन लगाओ जिसमें उन्होंने श्यामा-श्याम की केलि वर्णन की है -

यहै नित केलि येई जु नाइक निपुन, यहै वन भूमि नित-नित वखानी।  
बहुत रचना करत राग रागिनि धरत, तान बंधान सब ठान आनी।  
ज्यों मूँद नहीं मिलत टकसाल ते बाहरी, लाख में गैर मुहरी जु जानी।  
यों जु रसरीति वरनत न ठाँई मिलत, जो न उच्चरत हरिवंश वानी<sup>४</sup>।  
रसिक बिनु कहे सबही जु मानत बुरौ, रसिकई कहौ कैसें जु जानी।  
आपनी-आपनी तौर जैही तहाँ, आपनी बुद्धि के होत मानी।  
निपट करि रसिक जो होहु तैसी कहौ, अब जु यह सुनों मेरी कहानी।  
जौरु तुम रसिक रसरीति के चाड़िले, तौरु मन देहु हरिवंश वानी<sup>५</sup>।

श्री हरिवंश वाणी में प्रत्यक्ष उस रसरीति का सूक्ष्म स्वरूप परिचय देते हुए सेवक जी ने कहा है कि श्यामा श्याम एक ही प्राण के दो तन हैं, वे दोनों सदा सनातन तन और मन से एक बने रहते हैं। वे निरन्तर एक दूसरे का रूप रस पान करते हुए भी रूप-रस पिपासु बने रहते हैं। मिलने के लिए सत्पुष्प बने रहते हैं। उन दोनों में प्रेमी श्यामसुन्दर श्री राधा के समाराधन में तत्पर बने रहते हैं और श्री राधा उनकी आराध्या-प्रेमास्पद रूप में नित्य रमणीय बनी रहती हैं। वे अद्वय युगल श्री राधा श्याम सुन्दर परस्पर अंशों में भुजा डाले हुए एक दूसरे को अपलक दृष्टि से देखते रहते हैं। इस प्रकार से अनवरत रूप रस पान करते हुए भी वे रूप रस पान के लिए तृप्ति ही बने रहते हैं -



श्री हरिवंश सु रीति सुनाऊँ। श्यामा-श्याम एक सँग गाऊँ॥  
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई। प्राण सु एक देह हैं दोई॥  
राधा संग बिना नहीं श्याम। श्याम बिना नहीं राधा नाम॥  
छिन-छिन प्रति आराधत रहहीं। राधा नाम श्याम तब कहहीं॥  
अंशनि पर भुज दिवैं विलोकत। त्रिपित न सुन्दर मुख अवलोकत॥  
इन्दु वदन दीषत विवि ओरा। चारु सु लोचन त्रिषित चकोरा<sup>१</sup>॥

श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में 'रस निष्पत्ति' या 'रसरीति' शब्द का उल्लेख नहीं किया है; क्योंकि उनके सामने यह प्रश्न ही नहीं थे कि रस क्या है ? रस कैसे बनता है। उनके समक्ष तो 'प्रेम' किंवा 'रस' का आकृतवान् सलील रूप ही प्रत्यक्ष था। श्री हिताचार्य ने जिस रसोपासना की विशिष्ट रीति प्रगट की थी उन्होंने उस 'रस' के घनाकृत रूप को, सान्द्रानन्दाकृत रूप को और प्रेम घनाकृत रूप को उपास्य ही नहीं बनाया था, अपितु अत्यन्त निकट से देखा भी था। 'अत्यन्त निकट से देखा था' यह कहने का आभ्यन्तरीयाशय यह है कि उन्होंने अद्भुत युग्म मूर्ति में ही नित्य प्रत्यक्ष प्रकृतितः क्रीड़ा प्रिय 'प्रेम' की नित्य प्रेम केलि और उस प्रेम केलि में पूर्ण पटु रूप को निकट से देखा था—इसीलिए उन्होंने अपनी वाणी में उसे 'प्रणय परिपाट्यां परतर'<sup>२</sup> कहकर प्रकीर्तित भी किया है। 'प्रेम' की उसी केलि वर्णन में उस रसरीति का रम्य रूप भी आलोकित हुआ है, जिस रसरीति की रोचक रश्मियों में श्यामा-श्याम का प्रणय परिपाटी में परतर रूप प्रत्यक्ष हुआ है और जिस रसरीति का संकेत सेवकजी तथा व्यास जी ने किया है। उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हम देखते हैं कि 'रसरीति' रस-विलासों की वह विशिष्ट विधा है जिसके प्रकाश में प्रेमोपासना के उपास्य का स्वरूप, प्रेम विलासों का प्रारूप और प्रेमोपासना का स्वस्वरूप प्रकट होता है।

श्री हिताचार्योदित प्रेमोपासना की विशिष्ट रसरीति के प्रकाश में उनके उपास्य रस और रसिक युगल के नित्य विलास का वह रूप प्रकट हुआ है जो श्री राधाचरण प्रधान है, अर्थात् जिसमें प्रेमास्पदा किंवा रस की आत्मा श्री राधा का प्राधान्य है; यह इसकी प्रथम विशेषता है। पूर्ण संयोग में ही वियोग की भी अनुभूति, अर्थात् अनवरत रस पान की स्थिति में ही रस की अनवरत तृषा भी परिलक्षित होती है—मान विरह में नहीं; यह रसरीति की द्वितीय विशेषता है और तृतीय विशेषता है—'खाय और तृप्त होय और' - अर्थात् रस विलास तो करते हैं श्यामा-श्याम जिन्हें रसानुभूति होना तो स्वाभाविक ही है क्योंकि वह रस रूप भी हैं और रसिक रूप भी; आश्चर्यजनक बात तो यह है कि रस विलास द्रष्टा

१. से. वा., वाणी प्रकरण, छं. सं. ६, ७

२. रा. सु. नि., श्लो. १६५



राधाकिंकरीगण भी उस रस का निरन्तर पान किया करती हैं। आगे हम श्री हिताचार्य द्वारा प्रवर्तित महाविलक्षण रसरीति की इन्हीं रम्य रश्मियों का अनुसन्धान करने की चेष्टा करेंगे।

### ५.१.१.१०.२. राधा चरण प्राधान्य :

### ५.१.१.१०.२.१. प्रेमास्पदा श्री राधा और राधा चरण प्राधान्य :

प्रेम क्रीड़ा का प्राङ्गण चाहे लौकिक हो या अलौकिक दोनों ही क्रीड़ा क्षेत्रों में प्रेमास्पद की प्रधानता प्रकृतितः परिलक्षित होती है। जिसे प्यार किया जाता है; जो प्रीति का विषय होता है उसे प्रेमास्पद कहा जाता है और जो प्यार करता है वह प्रेमी नाम से अभिसंज्ञात होता है। लोक में माता-पिता अपने स्नेहपात्र शिशु को प्यार करते हैं। अतः वे उसी की प्रत्येक इच्छा पूर्ति करने, उसी की बात रखने, उसी की मान्यता, उसी का मान और उसी की महत्ता की रक्षा करने का निरन्तर ध्यान रखते हैं। यदि कोई कान्ता 'कान्त' पर आशक्त होती है तो वह उस परमकान्त प्रेमास्पद के मान-सम्मान और उसके मानसिक मोद का निरन्तर ध्यान रखती है और यदि कोई पुरुष किसी नायिका पर आशक्त होता है तो वह उस प्रेमास्पदा का क्रीत दास बनकर उसे सब प्रकार से सन्तुष्ट करने के लिए सचेष्ट बना रहता है। अलौकिक प्रेम के प्राङ्गण में किंवा भगवद् भक्ति के क्षेत्र में तथा अवतार कालीन कृष्ण लीला के क्षेत्र में भगवान् भक्त मात्र के प्रेमास्पद होते हैं। अतः वहाँ पर भगवान् की प्रधानता प्रत्यक्ष देखी जाती है।

प्रेम धाम वृन्दावन में 'प्रेम' दो मूर्तियों में प्रत्यक्ष क्रीड़ा किया करता है। एक ही प्रेम की दो मूर्तियाँ होने के कारण श्री हिताचार्य ने इन्हें 'दम्पति रस समतूल' कहकर प्रकीर्तित किया है<sup>१</sup>; किन्तु लीला के क्षेत्र में प्रेमास्पद किंवा प्रीति की विषय श्री राधा हैं और प्रेमी श्यामसुन्दर। अतः श्री हरिवंश वर्णित श्यामा-श्याम की केलियों में श्री राधा का प्राधान्य देखा जाता है। श्री हिताचार्य की वाणी में रसिक युगल कृत रसकेलि-बेलि की प्रत्येक पर्णी और प्रत्येक पुष्प-पंखुड़ी से राधाचरण प्राधान्य की सुपेशल प्रभा और प्राण पोषक परिमल प्रसरित दिखाई देती है। उनकी वाणी में यह राधा चरण प्राधान्य केलि वर्णन के वर्ण-वर्ण में ऐसा मूर्तिमान हुआ है जिसे देखकर यह कहना अत्युक्ति न होगा कि यह केलि वर्णन और राधाचरण प्राधान्य का प्राणवान् चित्रण दो नहीं है। शैया निकुंज की एक केलि वर्णन में राधा चरण की मंजुमुखी प्रधानता प्रेक्षणीय है; जिस वर्णन में श्यामसुन्दर श्री राधा के समक्ष पूर्ण प्रणत दिखाई दे रहे हैं —

१. उर नख पात तिरीछी चितवनि दम्पति रस समतूल। ----



विहरत दोऊ प्रीतम कुंज।.....

लालन मिस आतुर पिय परसत उरु नाभि उरजात।

अदभुत छटा विलोकि अवनि पर विथकित वेपथ गात।

नागरि निरखि मदन विष व्यापत दियौ सुधाधर धीर।

सत्वर उठे महा मधु पीवत मिलत मीन मिव नीर।

अबही मैं मुख मध्य विलोके विम्बाधर सु रसाल।

जाग्रत ज्यों भ्रम भयौ पर्यौ मन सत मनसिज कुल जाल।

सकृदपि मयि अधरामृत मुपनय सुन्दरि सहज सनेह।

तव पद पंकज कौ निज मन्दिर पालय सखि मम देह<sup>१</sup>।.....

एक अन्य स्थल पर श्यामसुन्दर की मुखोक्ति के माध्यम से ही उनके प्रेमी रूप चित्रण में श्री राधा का प्रेमास्पद रूप प्रत्यक्ष हुआ है, जिसकी अमल आभा में श्री राधाचरण प्राधान्य मंजु मुखर जैसा दिखाई देता है—

कहा कहौं इन नैनन की बात।

ये अलि प्रिया वदन-अम्बुज रस अटके अनत न जात॥

जब-जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात।

लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात॥

श्रुति पर कंज दृगंजन कुच बिच मृगमद है न समात।

जै श्री हित हरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात<sup>२</sup>॥

### ५.१.१.१०.२.२. रस की आत्मा श्री राधा और राधा चरण प्राधान्य :

श्री हिताचार्य का परमोपास्य क्रीड़ा प्रिय प्रकृत 'प्रेम' है। अतः वह श्री राधा-श्यामसुन्दर, राधाकिंकरीगण और वृन्दावन के रूप में नित्य प्रगट रहकर प्रतिक्षण क्रीडारत-विहार परायण-बना रहता है; क्रीड़ा से विरत कभी नहीं होता। लीला से रूप की निष्पत्ति होती है। हम देखते हैं कि श्री हरिवंश वर्णित क्रीड़ा में इस नित्यविहार के आधारभूत चारों उपकरण चार रूप में नित्य प्रत्यक्ष रहते हैं। श्री राधा आत्मा रूप में, रसिक श्यामसुन्दर मन रूप में, श्री राधाकिंकरीगण इन्द्रियों के रूप में और वृन्दावन तन के रूप में नित्य स्थित रहता है।

'आत्मा' पूर्ण काम निष्काम तथा गम्भीर होता है। इस मधुर गाम्भीर्य के कारण वह नत नयन और शील संकोचवान् होता है। वह तन-मन और हस्त-मुखादि इन्द्रियों द्वारा तुष्ट-पुष्ट होता है। इसी प्रकार आत्मा की तुष्टि-पुष्टि द्वारा तन-मन और इन्द्रियाँ हृष्ट

पुष्ट होती हैं। आत्मा की दुःखानुभूति से तन-मन और प्राण दुखी तथा निर्बल हो जाते हैं। तन-मन और इन्द्रियाँ आत्मा को ही सुखी बनाये रखने के लिए सदा सचेष्ट दिखाई देती हैं। इसी प्रकार तन-मन और इन्द्रियों को हृष्ट पुष्ट देखकर आत्मा आनन्द की अनुभूति करता है। आत्मा पूर्ण काम होने के कारण प्रकृतितः उदार होता है। औदार्य गुण की अमल यशामा से उदार आत्मा का मुख विशिष्ट सौन्दर्य और विशिष्ट माधुर्य से पूर्ण होता है। एतावता वह परमोज्ज्वल गौर कान्ति से युक्त होता है।

हम देखते हैं कि प्रेमस्वरूप श्यामा-श्याम की प्रेम क्रीड़ाओं में आत्मा स्थानीय श्री राधा; मन स्थानीय रसिक शेखर श्यामसुन्दर, तन स्थानीय वृन्दावन और इन्द्रिय स्वरूपा दासीगणों द्वारा उपासित, आराधित, लाङ्घित और परिसेवित रूप में प्रत्यक्ष हुई हैं। रास क्रीड़ा श्री राधा को अत्यन्त प्रिय है। श्री श्यामसुन्दर, श्री राधा की आत्मिक तुष्टि पुष्टि के लिए रास क्रीड़ा की पूरी तैयारी करते हैं और सखियों द्वारा रास में पधारने की प्रार्थना करते हैं चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान, रास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नन्दिनी। विलसहु भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख सिन्धु झेलि, नव निकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी<sup>१</sup>। तेरे हित लैन आई वन ते श्याम पठाई, हरति कामिनी घन कदन काम कौ। मोहन लाल छवीलौ अपनेई रंग रँगीलौ, मोहत विहंग पशु मधुर मुरली रौ। वे तौऽव गनत तन जीवन जोवन तब, जै श्री हित हरिवंश हरि भजहि भामिनी जौ<sup>२</sup>।

श्री राधा-मन, स्वरूप प्रीतम श्यामसुन्दर की मधुर कामना पूर्ण करने के उद्देश्य से उनके पास त्वरित गति से पहुँचती हैं और उन्हें सब प्रकार से तुष्ट-पुष्ट करती हैं—

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।

तो बिनु कुँवरि कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर।

जै श्री हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।

सुनि भयभीत बज कौ पंजर सुरत सूर रण वीर<sup>३</sup>॥

.....तू सखि काम केलि मनमोहन मदन दवन।

वृथा गहर कत करत कृशोदरि कारन कवन॥

चपल चली तन की सुधि बिसरी सुनत श्रवन।

जै श्री हित हरिवंश मिले रस लम्पट राधिका रवन<sup>४</sup>॥

कभी-कभी श्याम सुन्दर अपनी हृदयाराध्या श्री राधा के लिए सुमन-शैया का निर्माण करते हैं और उस शैया में उन्हें विराजमान करके विशिष्ट सुख से समृद्धिमान होते दिखाई देते हैं—



नवल नागरि नवल नागर किशोर मिलि, कुंज कोमल कमल दलनि सज्जा रची।  
गौर-श्यामल अंग रुचिर तापर मिले, सरस मणि नील मनौ मृदुल कंचन खची<sup>१</sup>।

देखत नव निकुंज सुनि सजनी लागत है अति चारु।  
माधविका केतुकी लता लै रच्यौ मदन आगारु।।  
बहु विधि रंग मृदुल किशलय दल निर्मित पिय सखि सेज।  
भाजन कनक विविध मधु पूरित धरे धरनि पर हेज<sup>२</sup>।।

रसिक शेखर प्रीतम अपनी प्रियतमा श्री राधा की दासी बनकर उनकी मन रुचती  
सेवायें करने के लिए सदा सचेष्ट बने रहते हैं—

लालहि और न कछू सुहाई।  
निरख्यौ चाहत वदन प्रिया कौ सुन्दर मुख सुखदाई।  
जे पट भूषन कुँवरि उतारति तेई पहिरैं भावत।  
बीरी खंड देत जब नागरि तबही पै सचु पावत।  
परिमल उवटि अंग जो बाचत सोई आपु लगावत।  
जेहि मग चलति लाड़िली राधे लोचन अवनि बनावत।  
इहि रस मगन रहत सुनि सजनी और न मन उर आनत।  
हितध्रुव विकट बात अति प्रेम की बिनु मोहन को जानत<sup>३</sup>।

तथैव—

लाल के यह मन ललक रहै।  
कबहूँ प्रिया प्रसन्न वदन है मो तन नेक चहैं।  
अरु जुग चरन चारु जावक के चित्र सुरंग बनाऊँ।  
पुनि अनुराग कमल मुख ते जब बीरी खंडित पाऊँ।  
अपने ही कर ते नख-शिख लौं भूषन सब पहिराऊँ।  
हित ध्रुव अहर्निशि यहै विचारत कैसँहु प्रियहि रिझाऊँ<sup>४</sup>।

रास-संगीत में श्री राधा एक विशिष्ट औदार्य के साथ श्यामसुन्दर को तथा सभी  
दासियों तक को यथोचित सम्मान प्रदान करके सकल उदार नृपति चूड़ामणि की कीर्ति  
चन्द्रिका से चारु दिखाई दे रही हैं—

१.२. हि. चौ., प. सं. ५०, ५३

३.४. पदा., हि. ध्रु. दा., प. सं. २६, २७

आजु वन नीकौ रास बनायौ।.....

विविध विशद वृषभानुनन्दिनी अंग सुधंग दिखायौ।

सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख वारिध वरषायौ।

परिरम्भन चुम्बन आलिंगन उचित जुवति जन पायौ।.....

जै श्री हित हरिवंश रसिक राधापति जस वितान जग छायौ।”

५.१.१.१०.३. पूर्ण संयोग में ही वियोगानुभूति का अद्भुत दर्शन

५.१.१.१०.३.१ प्रेम के दो दल : संयोग और वियोग :

‘प्रेम’ ही आस्वाद्य स्थिति में ‘रस’ सञ्ज्ञक होता है; और ‘रसराज’ रूपायित होने पर मधुर रस उज्ज्वल रस और शृंगार रस संज्ञक भी होता है। यह शृंगार रस, संयोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार नामक दो अवयवों पर आधारित है। काव्य रस शास्त्र मनीषियों ने रस के इन्हीं दोनों अवयवों को आधार बनाकर ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ का समास्वादन करने-कराने की सुचारु चेष्टा की है। कोई काव्य रसाचार्य ‘रस’ को संयोग निष्ठ मानते थे और कोई वियोग निष्ठ। रस निष्ठता के संबंध में इन दोनों वर्गों में वैमत्य भले ही रहा हो किन्तु यह बात दोनों वर्ग को पूर्ण रूप से स्वीकार थी कि ‘प्रेम’ द्विदलात्मक है। श्री हिताचार्य के आविर्भाव से पूर्व ‘प्रेम’ सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा कवि जगत तथा भक्त जगत दोनों को ही विधान के रूप में स्वीकार थी।

आचार्य भरत तथा तदनुवर्ती कवि समाज न तो ‘रस’ का ही उपासक था और न भगवान का ही। वे तो ‘नाट्य शास्त्र’ की रस परिपाटी द्वारा ब्रह्मानन्द सहोदर ‘रस’ की अनुभूति मात्र ही किया करते थे। भगवत भक्तगण भी ‘रस’ के उपासक नहीं थे; प्रत्युत षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान विष्णु-नारायण या भगवान राम-कृष्णादि रूपों के उपासक थे। यहाँ पर एक बात पुनः स्मरण कराना आवश्यक है; और वह यह कि ये भक्तगण भी संयोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार को ही आधार बनाकर रस की अनुभूति किया करते थे।

श्री हिताचार्य ने ब्रह्म, ब्रह्मानन्द सहोदर, या षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान को अपना उपास्य न बनाकर ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ को ही उपास्य बनाया। उन्होंने जिस रसोपासना की संस्थापना की वह उपासना वृन्दावन रसोपासना नाम से अभिसंज्ञात है। यह ‘वृन्दावन रस’; काव्य रस, भगवद् रस या भक्ति रस इन सभी रसों से भिन्न; आद्य, पूर्ण और स्वयं निष्पन्न रस है। अतः न तो यह संयोग शृंगार की प्रतीक स्वकीया नायिका के नित्य संयोग द्वारा ही आस्वाद्य है और न विप्रलम्भ शृंगार की प्रतीक परकीया नायिका द्वारा ही आस्वादित



होता है। तात्पर्य यह कि इस रस की निष्पत्ति, पूर्णता और नित्य वर्द्धनशीलता न तो विरह पर ही निर्भर है और न संयोग पर ही आधारित है। अबिनाभाव सम्बन्ध की एकात्म युगल मूर्तियों की यह रस विलास प्रक्रिया किंवा 'रसरीति'; इन दोनों धाराओं से पृथक, सर्वथा नवीन, अद्भुत और मौलिक है।

### ५.१.१.१०.३.२. स्वकीया-परकीया नायिका का स्वरूप परिचय :

रस शास्त्र के निर्माताओं ने स्वकीया और परकीया नायिका द्वारा प्रेम के जिस स्वरूप को प्रत्यक्ष करने की सुचारु चेष्टा की है; रस के जिस स्वरूप को अनुभव करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है; 'प्रेम' का वह रूप और 'रस' का वह स्वरूप अभिनव दम्पति रूप में ही प्रत्यक्ष होता है; जिसका विशद विवेचन इसी अध्याय में उपास्य के 'रूप' वर्णन प्रकरण में दृष्टव्य है।

स्वकीया नायिका भी परिणीता वधू है; किन्तु उसका यह सम्बन्ध वैधी होने के कारण लोक तथा वेद की मर्यादाओं से नियन्त्रित है। अतः उसका नव वधू रूप चिर स्थायी [नित्य] नहीं रहता। वह एक बार नव परणीता बनने के बाद पुनः नव वधू नहीं बनती।

परकीया नायिका का नायक से कभी परिणय होने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती; इस प्रकार से उसके नव वधू बनने की कल्पना ही असम्भव है।

'स्वकीया नायिका' नायक की परिणीता वधू है। लोक और वेद की मर्यादाओं में आबद्ध होने के कारण उसमें पूर्ण रूप से रस पुष्ट ही नहीं हो पाता। वह तो अपने पति के चरणों की दासी है<sup>१</sup>। पति उसके लिए भगवान रूप है। पति की सेवा करना उसका धर्म है। वह पति की स्वाधिकृत भोग्य वस्तु है। इस प्रकार से वह विवाहित दम्पति "देव और दासी" पहिले हैं; प्रणयी तथा प्रणायिनी पीछे। अतः ये दोनों अपने-अपने स्वरूप में स्थित रहकर ही अपनी-अपनी प्रीति का प्रकाश कर सकते हैं।

परकीया नायिका की वेगमती रति में लोक की दुर्द्धर्ष मर्यादाओं का अतिक्रमण करने की क्षमता है। उसमें दुर्लघ और सुदृढ़ शृंखलाओं को तोड़ने की शक्ति है और उसे अपनी प्रीति को प्रकट करने में कोई बाधा भी नहीं है किन्तु इस रति के उद्भव का हेतु ही मत्सुख होने के कारण यह स्वरूपतः मलिन है। परकीया नायिका अपने पति को सब प्रकार से स्वानुकूल न पाकर ही उससे विरत होकर स्वानुकूल पर नायक से रति सम्बन्ध स्थापित करती है।

१. स्वकीया विधि किंकिरी सदा, रस नहीं पावत पोष। विषय आश्रित रति मलिन, परकीया यह दोष॥  
कन्या गन लघु चतुरई, गुन स्वरूप रति चाह। पुष्टि न पावै मधुर रस, समुझि गहौ मन मौहि॥

स्वकीया नायिका का नायक से नित्य संयोग रहता है। अतः उसमें नवीन अनुराग, प्रेम के प्रथमोन्मेष काल की मिलन उत्कण्ठा, नव परिचयत्व और नव संगम की लज्जा तथा भय आदि का क्रमशः शैथिल्य ही देखा जाता है और परकीया नायिका में लज्जा, भय तथा नव परिचयत्व का सर्वथा अभाव ही रहता है। तात्पर्य यह कि स्वकीया और परकीया दोनों प्रकार की नायिकाओं में नव दाम्पत्य काल की उज्ज्वलता, उद्दाम अभिनव प्रीति, नव परिचयत्व और नव संगम कालीन लज्जा व भय की नित्यता का अभाव रहता है। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि परकीया नायिका निष्ठ विप्रलम्भ शृंगार एवं स्वकीया नायिका निष्ठ संयोग शृंगार इन दोनों क्षेत्र के नायक-नायिकाओं में यह नित्य नव दाम्पत्य सर्वथा असम्भव है। श्री हिताचार्य के परमाराध्य श्री राधा-श्यामसुन्दर में नित्य नवल रूप और नित्य नयी प्रीति बनी ही रहती है; तभी तो वे परस्पर एक दूसरे के लिए तथा सखियों के लिए भी प्रतिक्षण नित्य नवीन ही प्रतीत होते हैं<sup>१</sup>। नित्य नये से दिखाई देते रहने के कारण ही उन दोनों का परिचय नित्य नवीन ही बना रहता है<sup>२</sup>। नवीन परिचय के कारण उनका प्रत्येक संगम नव संगम अनुभव होता है और संगम में नवीनता अनुभव होने के कारण प्रत्येक संगम में वही नवीन लज्जा और भय आदि देखा जाता है; जोकि एक अभिनव दम्पति के नव संगम किंवा प्रथम नेह काल में देखा जाता है<sup>३</sup>। श्री हिताचार्य द्वारा अपने परमोपास्य श्यामा-श्याम का नित्य नव विवाह रचाकर नित्य नव दम्पति रूप में उनका लाड़-दुलार और प्यार करना इसी अभिनव रसरीति का देदीप्यमान दर्शन है<sup>४</sup>।

इस प्रकार से पूर्णानुराग रस की मूर्ति नित्य नव दुलहिनी श्री राधा में स्वकीया और परकीया इन दोनों रूपों में से किसी भी रूप की कल्पना श्री हिताचार्य की दृष्टि में उनके स्वरूप के सर्वथा विपरीत और असंगत दिखाई देती थी। श्री राधा के इस [नित्य नव वधू] स्वरूप से अनभिज्ञानों में से कोई तो उन्हें स्वकीया, कोई परकीया और श्रीकृष्ण प्रेम में बाबली वृषभानगोप तनया, रायण गोप की पत्नी तक कहते थे। कोई उन्हें प्रकृति, कोई शक्ति और कोई कृष्ण भक्तों की सिरमौर भी कहा करते थे। तात्पर्य यह कि ये लोग उन्हें साधारण लोक नायिका के रूप में कोई कुछ तो कोई कुछ कहा करते थे। श्री हिताचार्य को इससे एक असह्य हार्दिक ठेस लगी। तभी उन्होंने काल देवता को नमस्कार करते

१. नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभान किशोरी।.....

— हि. चौ., प. सं. ५४

२. न आदि न अन्त विहार करें पै लाल-प्रिया में भई न चिन्हारी।.....

— ब्या. ली., शृंगार सप्त तृतीय, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १३

३.४. रा. सु. नि., श्लो. सं. ४०, ५६



हुए ये उद्गार प्रगट किये—“प्रेम सुधा रस सागर की निधि श्री राधा भी काल गति क्रम से साधारण [लौकिक नायिका जैसी] हो गई हैं। हे देव ! तुझे नमस्कार हो”—

.....सापि प्रेम सुधा रसाम्बुधिनिधी राधापि साधारणी-  
भूता काल गति क्रमेण बलिना हे देव तुभ्यं नमः<sup>१</sup>।

### ५.१.१.१०.३.३. रसास्वादन में संयोग और वियोग का स्थान :

संयोग और वियोग एक ही प्रेम पादप के दो पल्लव हैं। इन दोनों दलों के एकत्व [ एक साथ प्रकाश] में ही ‘प्रेम’ की पूर्णता और पृथक-पृथक प्रकाश में दोनों की अपूर्णता का मौलिक सिद्धान्त स्थापित करके श्री हिताचार्य ने अपनी रसोपासना की विशिष्ट ‘रसरीति’ का प्रकाश किया है।

मधुर से मधुर पदार्थ की उपस्थिति में उसके लिए उत्कट पिपासा, अत्यधिक क्षुधा और हार्दिक रुचि हुए बिना उस पदार्थ की मधुरता का आनन्द नहीं मिलता। इसी प्रकार उत्कट पिपासा, अत्यन्त क्षुधा तथा हार्दिक रुचि के समय उस पदार्थ का अभाव होने से भी उसका आनन्द प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है।

नित्य संयोग में चाह, चटपटी और रुचि की तीव्रता के स्थान पर सैथिल्य आ जाता है और असंयोग किंवा वियोग की स्थिति में केवल चाह, चटपटी और रुचि की वृद्धि मात्र ही होती है; आनन्द और रस की अनुभूति नहीं, क्योंकि वह तो संयोग सापेक्ष ही रहती है। तात्पर्य यह कि नित्य संयोग में प्रेम की अद्भुत चाह-चटपटी की मधुर वेदना का अभाव तथा वियोग में संयोग काल की आनन्द अजस्रता का अभाव बना रहता है। उस समय तो इष्ट वस्तु का ही अदर्शन रहता है। अतएव प्रीति की न्यूनता ही गोचर होती है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने चकई तथा सारस के रूपक द्वय द्वारा इन दोनों रस विधाओं की भारी भर्त्सना की है। —

सारस की उक्ति -

चकई प्राण जु घट रहैं पिय बिछुरन्त निकज्ज।  
सर अन्तर अरु काल निशि तरफि तेज घन गज्ज।  
तरफि तेज घन गज्ज लज्ज तव वदन न आवै।  
जल विहून करि नैन भोर किहि भाय दिखावै।

जै श्री हित हरिवंश विचारि कौन अस वाद जु वकई।  
सारस यह सन्देह प्रान घट रहैं जु चकई<sup>१</sup>।

सारस का कहना है कि अरी चकवी ! काल जैसी रात्रि, बिजली की दमक और मेघ के गर्जन काल में अपने और प्रीतम के मध्य इतने बड़े सरोवर का अन्तर सहन करके भी तू प्रातःकाल अश्रु-विहीन नेत्रों से अपने प्रीतम से मिल लेती है ? तुझे लज्जा नहीं आती ? तू मर नहीं जाती ? और इतने पर भी तू प्रेमिका बनने का दावा करती है।

इसी प्रकार चकवी की उक्ति -

सारस सर बिछुरन्त कौ जो पल सहै शरीर।  
अग्नि अनंग जु तिय भखै तौ जानैं पर पीर।  
तौ जानै पर पीर धीर धरि सकै बज्र तन।  
मरत सारसहि फूटि पुनि न परचौ जु लहत मन।  
जै श्री हित हरिवंश विचार प्रेम विरहा बिनु वा रस।  
निकट कन्त नित रहत मरम कहा जानै सारस<sup>२</sup>।

चकवी का कहना है कि अरी लक्ष्मणा ! तू तो अपने पति से बिछुड़ते ही मर जाती है। वियोगावस्था में होने वाली मिलने की उत्कण्ठा का सुख तथा विरह के पश्चात् पुनः प्रेष्ठ के संयोग जन्य आनन्द का तो तुझे परिचय ही नहीं है। बिना विरह के भी कोई प्रेम के उस रसानन्द का अनुभव कर सकता है ? परन्तु निरन्तर पास रहने वाली सारस इस मर्म को जान ही कैसे सकती है ?

इस प्रकार से श्री हिताचार्य ने सारस की मुखोक्ति द्वारा वियोग निष्ठ प्रेम की और चकवी की मुखोक्ति द्वारा संयोग की आलोचना करके आलोच्य दोनों विधाओं से निष्पन्न होने वाले रस और प्रेम-स्वरूप को अपूर्ण सिद्ध कर दिया है; साथ ही नित्य संयोग में ही नित्य असंयोग किंवा वियोग की भी अनुभूति कराने वाली महा विलक्षण 'रसरीति' का मौलिक विधान किया है।

### ५.१.१.१०.३.४. अद्भुत प्रेमास्वाद की मौलिक और अद्भुत विधा :

“अनवरत रूप रस पान करते समय ही रसपान की चिर पिपासा का बना रहना ही रस का चरमोत्कृष्ट स्वरूप है।”—यह अभूतपूर्व रस सिद्धान्त स्थापित किया है। श्री हिताचार्य ने इस रस सिद्धान्त को उन्होंने श्यामा-श्याम की रस विलास प्रक्रिया में अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि —



अंशनि पर भुज दियैं विलोकत इन्दु वदन विवि ओर।

करत पान रस-मत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर<sup>१</sup>।

उपर्युक्त पद पंक्ति में श्री हिताचार्य ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा है कि रसिकवर श्यामा-श्याम दोनों ही परस्पर एक दूसरे का चन्द्रानन अपलक दृष्टि से देखते हुए रसमत्त हो रहे हैं। इस प्रकार अनवरत रूप से दोनों; दोनों का रूप रस पान करके रसमत्त हो रहे हैं; किन्तु ऐसी स्थिति [पूर्ण संयोग में अजस्र रस पान की स्थिति] में भी दोनों के नेत्र-चकोर तृषित ही बने हुए हैं। अर्थात् दोनों को पूर्ण संयोग की स्थिति में भी वियोग की अनुभूति हो रही है - होती रहती है। तभी तो उन दोनों के नेत्र रूप रस पान करते हुए भी त्रिषित बने हुए हैं और बने रहते हैं।

‘हित चौरासी’ के एक अन्य पद में भी इसी महा विलक्षण रस सिद्धान्त का रम्य रूप निम्नांकित शब्दों में परिलक्षित कराया है—

बिहरत दोऊ प्रीतम कुंज।.....

पिय के अंक निशंक तंक तन आलसजुत कृत सैन।

लालन मिस आतुर पिय परसत उरु नाभि उरजात।

अद्भुत छटा विलोकि अवनि पर विथकित वेपथ गात।

नागरि निरखि मदन विष व्यापत दियौ सुधाधर धीर।

सत्वर उठे महा मधु पीवत मिलत मीन मिव नीर।....

सकृदपि मयि अधरामृतमुपनय सुन्दरि! सहज सनेह।....

मति कातर विरहज दुख व्याप्यौ बहुतर स्वाँस समीर।

जै श्री हित हरिवंश भुजन आकरषे लै राखे उर माँझ<sup>२</sup>।....

उपर्युक्त पंक्तियों में भी स्पष्ट ही है कि दोनों प्रीतम [श्यामा-श्याम] एक शैया पर विहार परायण है। अबला श्री राधा, प्रीतम के अंक में शयन कर रही हैं। रसिकवर उनके अंगों की अद्भुत छटा, देखकर विथकित हो रहे हैं। नागरी श्री प्रिया उनकी यह स्थिति देखकर उन्हें अपने अधरामृत का पान कराती हैं और वे सचेत हो जाते हैं। किन्तु रसिक प्रीतम को उस समय में भी [पूर्ण संयोग की स्थिति में भी] विरह दुख ही व्याप्त हो रहा है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी —

कहा कहीं इन नैनन की बात।

ये अलि प्रिया वदन-अम्बुज-रस अटके अनत न जात।

जब-जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात।  
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात।  
श्रुति पर कंज दृगंजन कुच बिच मृगमद है न समात।  
जै श्री हित हरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात<sup>१</sup>।

उपर्युक्त पद पंक्तियों के वर्णनानुसार पर्य्यक्स्थ रसिक युगल आवद्ध वक्ष होकर परस्पर रूप रस का पान कर रहे हैं किन्तु उन्हें ऐसी संयोगस्थिति में भी वियोगानुभूति हो रही है और तभी रसिकवर लाल के श्रीमुख से यह उद्गार निकल पड़ते हैं — “हे प्रिया ! मेरे नेत्र-भ्रमर आपके वदन-कमल पर ऐसे अटक रहे हैं कि वे कभी अन्यत्र जाते ही नहीं । पलक पतनान्तर का अल्पकाल भी उन्हें शत-शत कल्पों के समान ज्ञात होता है । वे ऐसी भावना करते हैं कि अच्छा होता कि श्रवणों में कमल, आँखों में अंजन और कुचों में कस्तूरी पंक की भाँति हम भी आपसे एकमेक हो जाते । श्री हिताचार्य ने उपर्युक्त पद में भी रसिकवर श्यामसुन्दर की श्री मुखोक्ति के माध्यम से ‘पूर्ण संयोग में वियोग की अनुभूति’ वाले अपने अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का प्रकाश किया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी के उपर्युक्त पदों में अद्वय युगल की रस विलास प्रक्रिया में ‘पूर्ण संयोग में ही वियोगानुभूति वाले अपने रस सिद्धान्त का सुस्पष्ट चित्रण किया है । श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र रूप पदों के आधार पर सेवक जी, प्रबोधानन्द जी और हित ध्रुवदास जी आदि परवर्ती वाणीकार रसिकों ने भी इस अद्भुत प्रेम सिद्धान्त पर विशद विश्लेषण किया है ।

सरस्वती पाद ने श्री हिताचार्य के इस रस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नित्य अद्भुततम रसोत्सवों से पूर्ण, नित्य संयोग में ही नित्य विरह दशा युक्त, नित्य नवीन, नित्य किशोर एवं मोहिनी शोभा युक्त कोई अनिवर्चनीय गौर नील युगल किशोर श्री वृन्दावन में मुझे लुभायमान कर रहे हैं—

नित्याद्भुताद्भुत रसोत्सव नित्य सङ्ग।  
नित्यार्त्त नित्य नव नित्य किशोर युग्मम्।  
तत् गौर-नील मति मोहन रूप शोभं।  
वृन्दावने किमपि लोभयते मनो मे<sup>२</sup>।

१. हि. चौ., प. सं. ६०

२. वृ. म., प्र. सं., नवम शतक, श्लो. सं. ४६



श्री हरिवंश की इस रसरीति पर प्रकाश डालते हुए सेवक जी ने भी [वि. सं. १६१० में विरचित सेवक वाणी में] 'पूर्ण संयोग में ही वियोगानुभूति'—इस प्रेम सिद्धान्त को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

श्री हरिवंश सु रीति सुनाऊँ। श्यामा-श्याम एक सँग गाऊँ।  
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई। प्राण सु एक देह हैं दोई।  
अंशनि पर भुज दियें विलोकत। तृपित न, सुन्दर मुख अवलोकत।  
इन्दु वदन दीसत विवि ओरा। चारु सु लोचन त्रिषित चकोरा।  
करत पान रस मत्त सदाई। श्री हरिवंश प्रेम रति गाई<sup>१</sup>।

हित ध्रुवदास जी ने—'पूर्ण संयोग में ही वियोगानुभूति' वाले श्री हिताचार्य के अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का विश्लेषणात्मक विवेचन करते हुए लिखा है कि इस सूक्ष्म विरह की बात बड़ी अटपटी ही है—अत्यन्त अद्भुत ही है; जो कि नित्य संयोग में ही बना रहता है। युगपत् अनुभूति के इस विलक्षण सिद्धान्त का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने लिखा है कि—जब श्यामा-श्याम तन से तन मिलाकर एक हो जाते हैं तब उनके नेत्र रूप दर्शनाभाव में अपने को विरही समझने लगते हैं अर्थात् उन्हें विरहानुभूति होने लगती है और जब वे दोनों परस्पर एक दूसरे की शोभा अपलक दृष्टि से देखने लगते हैं तब उनके प्रत्यंग में विरह संचरित होने लगता है। अन्तराशय यह कि श्यामा-श्याम को पूर्ण संयोग की स्थिति में ही वियोग की अनुभूति भी होती रहती है। यह रसद रहस्यमयी अद्भुत रसरीति श्री हरिवंश जी ने प्रकट की है—

सूक्ष्म प्रेम विरह सुखदाई। दिन संजोग में रहत है माई॥  
देखत ही अनदेखी मानैं। तिनकी प्रीतिहि कहा वखानै॥  
जबही उर सौं घुरि लपटाहीं। तब नैना विरही है जाही॥  
छुटैं जबहि छवि देख्यौ करैं। विरह आनि अंगनि संचरैं॥  
भाँति अटपटी सौं चित हस्यौ। जात नहीं उर धीरज टस्यौ॥  
विरह-संजोग छिनहि-छिन माँहीं। जहपि ग्रीवनि मेले बाँहीं॥  
अटपटी भाँति कौ विरह सुनि, भूलि रह्यौ सब कोइ॥  
जल पीवत है प्यास कौं, प्यास भयौ जल सोइ॥  
श्री हरिवंश प्रेगट करि दई। जाकौ भाग तिनहि ध्रुव लई<sup>२</sup>॥

१. से. वा., से. जी, श्री हरिवंश वाणी, चतुर्थ प्रकरण, छं. सं. ६, ७

२. ब्या. ली., रहस्य मंजरी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. २९, ३०, ३७ से ३९, ४२, ६३, १०१

### ५.१.१.१०.३.५. प्रेम वैचित्र्य व प्रेम वैचित्य :

श्री हिताचार्य की श्री राधा वस्तुतः कोऽपि असाधारणी ही हैं। वे उस अदभुत प्रेम की मूर्ति हैं जिस 'प्रेम' किंवा 'रस' की लीलायें- 'महा मधुर शृंगार रस की लीलायें'-अनन्तानन्त वैचित्र्य पूर्ण होती हैं। उनकी श्री राधा उन शृंगार रस लीला की वैचित्र्य की परमावधि स्वरूपा हैं<sup>१</sup>। प्रेम की इन वैचित्र्यों का स्वरूप सर्वसाधारण प्रेम स्वरूप ज्ञाताओं के लिए दुर्बोध ही है। श्री हिताचार्य ने 'राधासुधानिधि' के एक स्थल पर प्रेम की एक विचित्र दशा का वर्णन किया है। अनुराग मद से विह्वल अंगों वाली श्री राधा, प्रीतम की गोद में विराजमान होते हुए भी 'हा मोहन !' ऐसा प्रलाप कर रही हैं —

अंक स्थितेपि दयिते किमपि प्रलापं, हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्।

श्यामानुराग मद विह्वल मोहनाङ्गी, श्यामा मणिर्जयति कापि निकुंज सीम्नि<sup>२</sup>।

उपर्युक्त श्लोक को देखकर अधुनातन साहित्य शास्त्र मनीषियों को यह भ्रम हो जाता है कि इस श्लोक में वही प्रेम वैचित्य श्री है, जो रूप गो. कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा अन्यान्य साहित्यिक ग्रन्थों में ही वर्णित है। किन्तु उनकी यह धारणा सत्य तथ्य न होकर एक भ्रान्ति मात्र ही है। वास्तविक और सत्य तथ्य तो यह है कि आलोच्य श्लोक में प्रेम की अनन्तानन्त विचित्र दशाओं में से प्रेम की एक विचित्र दशा का ही वर्णन है; प्रेम वैचित्य का नहीं। वस्तुतः प्रेम वैचित्य और प्रेम वैचित्र्य तीन और छः की भाँति परस्पर एक दूसरे से पृथक हैं।

श्री रूप गो. ने 'प्रेम वैचित्य' का रूप बतलाते हुए लिखा है कि—प्रेमोत्कर्ष-वश स्वभावतः प्रिय के निकट रहने पर भी विश्लेषण भय से जो आर्ति होती है वह प्रेम वैचित्य कही जाती है—

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्ष स्वभावतः, या विश्लेषाधियार्ति स्तत्प्रेमवैचित्य मुच्यते<sup>३</sup>।

इस प्रेम वैचित्य का एक उदाहरण देते हुए उन्होंने यह भी लिखा है कि—“वृन्दा पूर्णमासी से कहने लगी कि हे देवि ! सुनो श्री कृष्ण सम्मुख विराजमान हैं किन्तु श्री राधा अनुराग उत्थित विच्छेद-ज्वर-रूप-संताप के द्वारा विवश बुद्धि होकर अत्यन्त घूर्णीयमान हो गई हैं। “हे सखी ! प्राणबल्लभ कहाँ हैं ? दर्शन कराओ।”—इस प्रकार कहकर दन्तों

१. प्रेम्ण : सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं शृंगार लीला कला वैचित्र्य परमावधिर्भवता.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७८

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. ४६

३. उ. नी. म., रु. गो., प्रेम वैचित्य प्रकरण, श्लो. सं. १



से तृण धारण कर श्री कृष्ण के साथ मिलने की चेष्टा करती हैं; जिससे श्री कृष्ण भी विस्मृत हो जाते हैं—

आभीरेन्द्र सुते स्फुरत्यपि पुरस्तीवानुरागोत्थया  
विश्लेष ज्वर संपदा विवश धीरत्यन्त मुद घूर्णिता  
कान्तं मे सखि दर्शयेति दशनै रुदणंशस्यांकुरा  
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यतः कृष्णोऽप्य भद्वि स्मितः<sup>१</sup>।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रेम वैचित्य' निरन्तर प्रत्यक्ष न रहकर यदा कदा ही प्रत्यक्ष होने वाली प्रेम की एक तरंग विशेष है। इस स्थिति में प्रेमोत्कर्ष के कारण संयोगानुभव ही सम्पूर्ण रूप से लुप्त हो जाता है; जबकि श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत रसरीति में 'युगपत् अनुभूति'-निरन्तर प्रत्यक्ष रहने वाली प्रेम की अदभुतता किंवा विचित्रिता है। [प्रेम वैचित्य नहीं] इस स्थिति में तो संयोग और वियोग की अनुभूति एक साथ ही होती रहती है। अर्थात् अनवरत रूप रस पान की स्थिति में ही रूप रस पान की तृषा भी बनी रहती है।

गौड़ीय भक्त श्री रूप गो. पाद विरचित उपर्युक्त श्लोक के वाच्यार्थ से ही स्पष्ट है कि श्री राधा श्रीकृष्ण से संश्लिष्टांग नहीं हैं। वे विच्छेद ज्वर से संतप्त हैं। तभी तो— "श्री कृष्ण कहाँ हैं ? दर्शन कराओ"—यह कहते हुए श्री कृष्ण से मिलने की चेष्टा करती हैं। स्पष्ट ही है कि 'प्रेम वैचित्य'-पूर्ण संयोग में ही विरहानुभूति नहीं अपितु श्री कृष्ण असंयोग काल की प्रेमोन्माद दशा है।

श्री हिताचार्य कृत "अंक स्थितेऽपि....." इस श्लोक में श्री राधा का प्रीतम श्याम से असंयोग नहीं है प्रत्युत वे अपने प्रीतम के अंक में ही विराजमान हैं। उन्हें विच्छेद ज्वर का ताप भी नहीं है। वे पूर्ण संयोग में ही श्यामसुन्दर के अनुरागमद जन्य उन्माद दशा में—'हा मोहन'-ऐसा प्रलाप कर रही हैं; विलाप नहीं। जिस प्रकार किसी नशीली वस्तु के प्रभाव से व्यक्ति [सत्य-असत्य कुछ भी] प्रलाप करने लगता है। श्री हिताचार्य प्रणीत श्लोक में श्री राधा; प्रीतम के अंकस्थित हैं; जबकि प्रेम वैचित्य के उदाहरण स्वरूप लिखे गये उपर्युक्त श्लोक में श्री राधा नांकस्थित हैं। उपर्युक्त विवेचन से प्रेम वैचित्री व प्रेम वैचित्य का अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है।

#### ५.१.१.१०.४. रसकेलि से ही रसबेलि-वृद्धि, मान-विरह से नहीं:

काव्य रस और उसकी रस निष्पत्ति पर आधारित अन्य रसों में रस परिपाक, रस पुष्टि और रस वृद्धि का आधार मान और विरह को स्वीकार किया गया है। किन्तु गो.हरिवंशोदित रसोपासना में उसे रसाभास किंवा अन्तर डालने वाला रस का बाधक माना गया है।

रसिक वाणी साहित्य के गहनतम आलोड़न से ज्ञात होता है कि यहाँ मान को सम्मान प्राप्त नहीं हुआ है। प्रत्युत यह कहा गया है कि— श्यामा श्याम के प्रेम विलास के देश में मान कैसे सम्भव है<sup>१</sup>? वहाँ पर तो भ्रम का मान कहने में भी डर लगता है<sup>२</sup>। मान के मूल में अपराध होता है। अपराध के बिना मान सर्वथा असम्भव है। श्री हिताचार्य ने सुस्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि श्यामा-श्याम के प्रेमोत्सव में न तो किंचित कृतिमता है, न स्तुति न अपराध और न संभ्रम—

नो किंचित् कृत मेव यत्र न नुतिर्नागो न वा सम्भ्रमो।

राधा माधव योः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातुवः<sup>३</sup>।

जहाँ पर एक ओर मान निषेध की ये वैधानिक पंक्तियाँ मिलती हैं वहीं पर दूसरी ओर मान के अनेक पद भी प्राप्त होते हैं। जैसे—

छाँड़िदै मानिनी मान मन धरिवौ<sup>४</sup>।.....

काहे कौं मान बढावति है बालक मृग लोचनि<sup>५</sup>।.....

हाँ जु कहति इक बात सखी सुनि काहे कौं डारति<sup>६</sup>।.....

सम्प्रदायाचार्य की वाणी में ही परस्पर विरोधी पंक्तियों का उल्लेख देखकर इसका आन्तरिक रहस्य जानने की जिज्ञासा प्रायः सभी के हृदय में उठती है जो कि स्वभाविक भी है और आवश्यक भी किन्तु इसका समाधान भी; श्री हिताचार्य की वाणी में ही समुपलब्ध हो जाता है। उन्होंने अपने उपास्य रस मूर्ति युगल को प्रेम की युगल मूर्ति कहकर प्रकीर्तित किया है। उन मूर्ति द्वय में से एक मूर्ति बाहर से प्रतिकूल और मान की अनेक भंगियों से पूर्ण है तो दूसरी रसमय वचनों से चाटुकारी कर रही है—

गाढा स्नेहानुबन्ध ग्रथित मिव तयोरदभुत प्रेम मूर्त्योः।

राधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्वयं धाम जाने<sup>७</sup>।

कन्दर्पोत्तरलं तथैक मपरं नैवानुकूलं बहिः।

किंचैकं बहु मान भंगि रस बच्चाटूनि वृन्दाटवी<sup>८</sup>।

१. तहाँ मान कैसे बने अदभुत जहाँ यह प्रेम।.....

— ब्या. ली., हित सिंगार लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ५६

२. भ्रम हूँ कौ मान तहाँ कहत में डर आवै।.....

— ब्या. ली., हित सिंगार लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ६५

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. १०२

४. से ६. हि. चौ., प. सं. ८३, ७४, ७५

७., ८. रा. सु. नि., श्लो. सं. १७३, १६९



उपर्युक्त श्लोकों में श्री हिताचार्य ने इस 'मान' को प्रेम प्रदेश किंवा रस देश में ही संदृष्ट प्रेम मूर्ति श्यामा श्याम की नित्योदित स्वरूपभूत चारु चन्द्रिका बताकर इसका विशिष्ट सम्मान किया है। सम्प्रदायाचार्य के इस सशक्त आधार का अबलम्बन पाकर तदनुगत रसिकों ने भी 'मान' के विशिष्ट स्वरूप सम्मान के साथ उसका गुण गान भी किया है।

श्री हिताचार्य की वाणी में उद्गीत और हित कृपापात्र रसिकों द्वारा गृहीत प्रेम प्रदेशीय मान का निकटतम स्वरूप ज्ञान प्राप्त करने के लिए लोक प्रचलित मान का स्वरूप ज्ञात कर लेना भी अत्यावश्यक है। सर्व साधारण मानव जगत, कवि जगत और भक्त जगत में 'मान' का साधारण अर्थ रिस, रोष और कोप आदि लिया जाता है। यह रोष-कोपादि भी क्षेत्रीय भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जैसे शिशु की मन चाही बात पूरी न होने पर माता पर कोप, मानवीय व्यौहार व्यापारादि में स्वार्थ की हानि होने पर कोपोदय, किसी दम्पति या प्रेमी-प्रेमिका में पत्नी या प्रेमिका की स्वार्थ हानि में रोष और कोप। किन्तु इस कोप की 'मान' संज्ञा केवल शृंगारी प्रेम के प्राङ्गण में ही देखी और सुनी जाती है। चाहे वह प्रेम लौकिक हो या अलौकिक हो। यहाँ पर यह नितान्त अविस्मरणीय है कि लौकिक और अलौकिक प्रेम के क्षेत्र में परिलक्षित 'मान' के उद्गम का कारण नायक-नायिका के दो मन, दो तन और दो प्राण हैं जिन मनों में नित्य निवसित होता है मत्सुख। मत्सुख मूलक यह मान दोनों को दुखद होता है।

प्रेम देश का मान अकारण सहज और आनन्द मूलक होता है। प्रेम देश का मान मत्सुख जन्य नहीं होता वह तत्सुख जन्य ही होता है। प्रेम देश का मान तो अत्यधिक लाड़ प्यार से प्रादुर्भूत होने वाली गौरव से गर्वान्वित आनन्द ऊर्मियाँ हैं जो कि स्वाभाविक होती हैं। इन ऊर्मियों के प्रभाव का वर्णन करते हुए ध्रुवदास जी ने लिखा है कि—

“श्री प्रिया जू कौ सहज स्वभाव प्रेम रस रूप जोवन रस की गरुरता देखि लाल जू व्याकुल है जात हैं। यह अवस्था देखि लाड़िली जू अपनों सुभाव भूलि जात हैं महा प्यार सौं अंक भरि लेंय। जो कबहूँ प्रिया जू अपने रस में लाल जी तन न चितवैं नैंक हूँ न बोलैं तौ उनकी गति मीन-जल की सी होय है। तहाँ मान सहज कौ यह है।”

तथैव —

प्रेम के तरंगनि में प्यारी जू कौ मन परचौ, कछुक रुखाई छवि औरै भाँति भई है<sup>१</sup>।

१ व्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.

२ व्या. ली., शृंगार सत तृतीय, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ३२

सेवक जी ने इस प्रकार के मान का चित्रण करते हुए उसे 'अबोलनौ' संज्ञा दी है और आनन्द का मूल कहा है —

श्रीहरिवंश जु क्रीड़हीं दम्पति रस समतूल । सहज समीप अबोलनौ करत जु आनंदमूल<sup>१</sup> ।।

मान-विरह सम्बन्धी इन छन्दों को पढ़कर प्रेम देशीय मान-विरह का स्वरूप हृदयंगम तो हो जाता है किन्तु रसिक-वाणियों में मान और विरह बोधक पदों को देखकर प्रश्न उठता है कि यदि यह मान नहीं है तो इस प्रकार के पदों का वर्णन क्यों ? यथा—

“प्यारे बोली भामिनी....मोहन रसिकराइ री माई तासौं जु मान करै ऐसी कौन कामिनी<sup>२</sup>

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर ।

तो बिनु कुँवरि कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर ।

गदगद सुर पुलकित विरहाकुल श्रवत विलोचन नीर ।

क्वासि-क्वासि वृषभाननन्दिनी विलपत विपिन अधीर ।

वंशी विषिख व्याल मालावलि पंचानन पिक कीर ।

मलयज गरल हुतासन मारुत शाखा मृग रिपु चीर ।

जै श्री हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर ।

सुनि भयभीत बज्र कौ पंजर सुरत सूर रण वीर<sup>३</sup> ।

उपर्युक्त पदों को पढ़ने से साधारणतया यही ज्ञात होता है कि पदों में श्यामा-श्याम की वियोग कालीन दयनीय दशा का चित्रण है; किन्तु पदों में उल्लिखित निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि पदों में दोनों की पारस्परिक प्रगाढ़ प्रीति का सुचारु चित्रण है। दोनों के हृदयों में स्थित तत्सुखसुखी भाव का सुभव्य दर्शन है। वास्तविकता यह है कि रसिक शेखर श्यामसुन्दर श्री प्रिया जी की सुख कामना से उनकी प्रसन्नता प्राप्ति के उद्देश्य से ही उनके लिए नित्य निवास स्थली वृन्दावन की ही एक कुंज में रास की तैयारी करने के लिए गये हैं या एकान्तिक क्रीड़ा के लिए किसी कुंज विशेष का निर्माण करने के लिए गये हैं। तैयारी हो जाने पर प्रियतमा श्री राधा को शीघ्रातिशीघ्र बुलाने के उद्देश्य से सखी को भेजकर अपनी मिलनोत्कंठा, आतुरता और व्याकुलता बोधक स्थिति का संदेश भेजा है।

१. से. वा. अबोलनौ प्रकरण, छं. सं. ४

२. हि. चौ., प. सं. २

३. हि. चौ., प. सं. ३७ — एवमपि पद सं. ७, ३८, ३९, ४०, ४४, ५८, ७४, ७५, ८३



श्री हिताचार्य की वाणी के अन्तरालोड़न से यह बात सुस्पष्ट ज्ञात हो जाती है कि वृन्दावन रस के विलासों में किंवा नित्य विहार में पलकान्तर का भी विरह असंभव है। अविनाभाव संबंध [प्रेम किंवा रस] की अद्वय युगल मूर्ति में विच्छेद के लिए स्थान ही कहाँ है ? वहाँ तो विच्छेद का आभास मात्र होने से ही रसिक युगल के बाहर-भीतर महा प्रलय की कल्पाग्नि का दाह अनुभव होने लगता है<sup>१</sup>। ऐसी स्थिति में वनान्तर एवं कुंजान्तर की कल्पना ही असंभव है। गो. हित हरिवंशोदित रस वाणी साहित्य में परिदृष्ट वियोग-विरह या तो स्नान, शृंगार, श्री प्रिया जी की आज्ञा से पुष्प-चयन, आँख मिचौनी तथा रास-रचना, शैया-रचना आदि लीलाओं के पूरक रूप में ही दिखाई दिया है<sup>२</sup> या सूक्ष्म प्रेम में सूक्ष्म विरह के अस्तित्व रूप में ही उद्गीत हुआ है।

मान और विरह यह दोनों उन नायक-नायिकाओं में ही सम्भव है जो दो मन, दो रुचि, दो तन और दो प्राण वाले होते हैं। वृन्दावन रस क्षेत्र में उपास्य श्यामा-श्याम रस के आलंबन-नायक-नायिका नहीं प्रत्युत स्वयं रस और स्वयं रसिक ही हैं। ये रसिक युगल प्रेमी और प्रेमपात्र रूप में नित्य प्रत्यक्ष दिखाई देते रहने पर भी दोनों एक मन, एक प्राण और एक रुचिवान बने रहते हैं। क्योंकि ये स्वरूपतः एक ही रस की युग्म मूर्ति हैं। एक प्रेम प्राण की दो मूर्ति होने के कारण दोनों का मन भी एक ही होता है। एक मन होने के कारण दोनों की रुचि भी सदा एक ही बनी रहती है। एक मन, एक प्राण और एक रुचि होने के कारण दोनों एक दूसरे के सुख में सुखी बने रहते हैं। एक दूसरे को सुखी करने के लक्ष्य से परस्पर एक दूसरे का मुख, रुख और सुख देखा करते हैं। ऐसी स्थिति में मान-विरह की कल्पना ही असम्भव हो जाती है।

इन दोनों की पारस्परिक आशक्ति इतनी अधिक प्रबल और अपरिमित है कि एक दूसरे को निर्निमेष देखते हुए भी प्रतिक्षण रूप पिपासु ही बने रहते हैं। अनवरत रूप रस पान के क्षणों में रस पान की अमान तरल तृषा रस केलि की निरन्तरता को अक्षुण्ण बनाये रखती है। रस पान की यह तरल तृषा रस की वृद्धि के साथ-साथ रस की पूर्ण पुष्टि किया करती है और यह रस-वृद्धि-पूर्ण-केलि, रस की बेलि को वर्द्धनशील बनाये रखती है—

प्रेम तृषा की बेलि कौ केलि अदन रस आहि<sup>३</sup>।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. १७३

२. हि. चौ., प. सं., २६, ३६, ३९, ४० और रा. सु. नि., श्लो. सं. ४८, १८०, २१७

३. ब्या. ली., भजन कुण्डलियाँ, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ४

प्रेम किंवा रस का प्राकृतिक धर्म है कि वह प्रेमी-प्रेमपात्र युगल को एक कर देता है। ऐसे एकत्व विधायक 'प्रेम' के युगल वपु के सम्बन्ध में श्री हिताचार्य की घोषणा है कि उन्हें कोई किसी भी प्रकार से अलग नहीं कर सकता—

जै श्री हित हरिवंश हंस-हंसिनी साँवल गौर, कहौ कौन करि सकै जल तरंगनि न्यारे<sup>१</sup>।

ऐसी स्थिति में मान और विरह की कल्पना करना असम्भव को सम्भव करने जैसा विफल चिन्तन मात्र है।

### ५.१.१.१०.५. खाय और तृप्त होय और :

काव्य रस के विधानानुसार रसानुभूति केवल सामाजिक को ही होती है; रस के आलंबनों को नहीं। काव्य रस की विधा पर आधारित भक्तों के भक्ति रस में सामाजिक का स्थान ही नहीं है तथा भक्त स्वयं ही रसालम्बन [रस के आश्रयालम्बन] का स्थान ग्रहण कर लेता है। अतः रसानुभूति किसे होती है ? कैसी होती है ? यह प्रश्न ही नहीं उठते।

श्री हरिवंशोदित रसोपासना में उपास्य स्थानीय रस; काव्य रस की भाँति कृत्तिम नहीं; स्वयं निष्पन्न रस है। अर्थात् रसिक युगल श्यामा-श्याम रस के आलंबन नहीं स्वयं रस और रसिक रूप हैं। अतः उन्हें तो रस की अनुभूति होना सहज स्वाभाविक है ही; श्री हरिवंशोदित रसरीति की विशेषता तो यह है कि रस विलासों की संद्रष्टा रसिक सखियों को भी रसानुभूति हुआ करती है।

श्री हिताचार्य ने वन विहार का वर्णन करते हुए उनकी रसानुभूति का विचित्र चित्राकन किया है—

...पग डगमगत चलत वन विहरत रुचिर कुंज घन खोर।

जै श्री हित हरिवंश लाल ललना मिलि हियौ सिरावत मोर<sup>२</sup>।

...दिन हरिवंश दासि हिय सींचत वारिध केलि कलोलनि<sup>३</sup>।

श्री हिताचार्य द्वारा वर्णित श्यामा-श्याम की केलि वर्णनों में इस विशिष्ट रसरीति के संकेत अनेक स्थलों में प्राप्त होते हैं। यथा—

एक निभृत निकुंज में दोनों नव नागरों ने कमलों के कोमल दलों की सुन्दर शैया निर्मित की है। वे दोनों सुरत क्रीड़ा करके सौरत रसानन्द में निमग्न हो रहे हैं। प्रीति स्वरूपा सखियाँ उनकी सुरत क्रीड़ा को देखकर उसी रसानन्द का पान कर रही हैं—



नवल नागरी नवल नागर किशोर मिलि, कुंज कोमल कमल दलनि सज्जा रची।  
गौर-श्यामल अंग रुचिर तापर मिले, सरस मणि नील मनौ मृदुल कंचन खची।  
प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन चषक, पिवत मकरंद सुख रासि अन्तर सची।

श्यामा-श्याम की रास क्रीड़ा में भी सखीगण केलि देखकर रस निमग्न हो रही हैं।  
वर्णन इस प्रकार है— श्यामा-श्याम रासक्रीड़ा कर रहे हैं। सोल्लास सुधंग नृत्य करते-करते  
वे सुरत विलास में निमग्न हो जाते हैं। नित्य निकटवर्तिनी सखीगण परम प्रेष्ठ युगल  
के इस रास विलास को देख-देखकर रस का गटागट पान कर रही हैं—

....जै श्री हित हरिवंश निकट दासीजन लोचन-चषक-रसासव गटकति<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य की वाणी में संप्राप्त सूत्र वाक्यों के आधार पर हित रस रीति की रहस्यता  
का संकेत ध्रुवदासादि परवर्ती रसिकों ने इस प्रकार किया है—

.....“या प्रेम की सूक्ष्म गति है- खाइ और तृपित होय और। तहाँ श्रीजू की  
वानी—जै श्री हित हरिवंश लाल ललना मिलि हियौ सिरावत मोर<sup>३</sup>।”

## ५.१.१.११. लीला : प्रेम केलि या काम केलि :

श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की वाणी में प्रेम स्वरूप श्यामा-श्याम की लीला  
किंवा केलि को काम केलि कहकर भी प्रकीर्तित किया गया है। केलि वर्णना को पढ़कर  
भी सर्व साधारण व्यक्ति निश्चित रूप से उसे काम केलि ही कहेगा। ऐसी स्थिति में यह  
प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या यह केलि वस्तुतः लोक परिचित काम केलि ही है ?  
नहीं—नहीं; यह काम केलि नहीं विशुद्ध प्रेम केलि ही है क्योंकि श्री हिताचार्य के परमोपास्य  
विशुद्ध प्रेम मूर्ति हैं। प्रेम में काम का सर्वथा अभाव होता है। यह एक लोकानुभूत और  
शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है।

लोक में देखा जाता है कि जब किसी समय निःस्वार्थ और सहज प्रेम का कोई  
एक भी विस्फूर्जन हो जाता है तो उस समय नायक-नायिकाओं तक में भी काम का सर्वथा  
अभाव हो जाता है। यह भी निर्भान्त सत्य है कि भक्त के चित्त में भगवत् प्रेम के उदय  
होने पर काम भाव सर्वथा निरस्त हो जाता है इसीलिए यह सार्वजनीन मान्यता है कि—  
“जहाँ काम तहाँ राम नहीं जहाँ राम नहीं काम।” भगवान् तो साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हैं  
ही। जब भगवान् और भगवत प्रेम के प्रकाश में ही काम का अस्तित्व नहीं देखा जाता

१ से २. हि. चौ., प. सं. ५०, ७९

३. ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.

तो फिर भगवान को भी प्रंगट करने वाले, स्ववश करने वाले और उन्हें अपने इंगित पर चलाने वाले साक्षात् प्रेम और उसकी लीला में काम की कल्पना कैसे की जा सकती है।

यद्यपि यह सत्य है कि काम क्रीड़ा और प्रेम क्रीड़ा के प्रत्यक्ष रूप में बहुत कुछ साम्य होता है<sup>१</sup> फिर भी प्रेम और काम में स्वरूपतः आकाश और पाताल जैसा अन्त है। दिन और रात जैसा अन्तर है सम्भवतः इसीलिए श्री हिताचार्य ने इस रस की प्राणभूता आत्मा स्वरूपा श्री राधा को एक साथ “शुद्ध प्रेम विलास वैभव निधि” और “कन्दर्प लीला निधि” कहकर स्मरण किया है<sup>२</sup>। हित ध्रुवदास जी ने आचार्य चरण की इसी भावना को सुस्पष्ट करते हुए लिखा है कि रसिक युगल के हृदय में प्रेम और काम इन दोनों के सागर लहराते रहते हैं। मदन-सिन्धु की लहर उठते ही रसिक युगल सुरत विहार में प्रवृत्त हो जाते हैं और प्रेम-सिन्धु की लहर उठते ही वे वेसुध हो जाते हैं<sup>३</sup>।

काम क्रीड़ा और प्रेम क्रीड़ा के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोच्य प्रेम क्रीड़ा निश्चित रूप से ही उस काम वृत्ति के परिपक्व रूप का खेल नहीं है जो कि मानव मन की एक मूल प्रवृत्ति है। “प्रेम भाव मनुष्य की सहज काम वृत्ति पर आधारित है, मानसिक तत्वों के योग से काम वृत्ति का एक विशेष प्रकार का परिपाक ही प्रेम है।”—प्रेम की यह परिभाषा उन्हीं मनोवैज्ञानिकों को स्वीकार हो सकती है, जिनकी दृष्टि लौकिक प्रेम से आगे जा ही नहीं सकती। प्रेम की इन परिभाषाओं का आधार एकमात्र मानवीय मन, उसका काम भाव, और प्रेम भाव ही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ‘काम’ मानव मन की ही मूल प्रवृत्ति है— भगवान या प्रेम की नहीं। इस तथ्य को अस्वीकार करने में सम्भवतः आज के शुद्ध मनोवैज्ञानिक को भी संकोच होगा। अतएव यह परिभाषा श्री हिताचार्य के परमोपास्य तत्त्व ‘प्रेम’ को पहिचानने में सहायक सिद्ध न होकर बाधक ही सिद्ध होगी। वस्तुतः ‘प्रेम’ और ‘काम’ में स्वरूपतः आकाश और पाताल जैसा अन्तर है। दिन और रात जैसा पार्थक्य है; और यह पार्थक्य समझ लेने पर प्रेम की इस मधुरतम केलि में काम की कल्पना ही नहीं होती। काम और प्रेम के कुछ मौलिक भेद इस प्रकार हैं—

१. ....प्रगट दिखावै यह काम की सी क्रीड़ा, दिव्य स्वरूप याकी गति न्यारी।...  
— स. प्र., एकादश, चा. वृ. दा., प. सं. २४६
२. शुद्ध प्रेम विलास वैभव निधि: केशोर शोमा निधि:।.....कन्दर्प लीला निधि:।  
— रा. सु. नि., श्लो. सं. २४४
३. प्रेम-मदन के सिन्धु द्वै बहत रहत दिन हीय। विवस कबहुँ चेतत कबहुँ छिन-छिन प्यारी-पीय।।  
— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.



## काम

१. काम का उदय सकारण और सहेतुक होता है। काम की मूलभूत प्रेरक रति ही सहेतुक होती है। अतः उसकी क्रीड़ा का आदि भी है अन्त भी है। इसकी रति पतनोन्मुखी और चंचल होती है। तथा इसका पर्यवसान मृत्यु में होता है।

२. इसके आविर्भाव के लिए दो प्रेमियों में कुछ दूरी होना अत्यन्त अनिवार्य है। अर्थात् नारी और पुरुष के आकृतवान् सौन्दर्य—‘रूप’ का अन्तर, काम के उद्भावक दो मनो का अन्तर और दो तनों तथा दो मनो के आधारभूत दो प्राणों का अन्तर, आवश्यक है। यह माता और पुत्र, भाई और बहिन जैसे निकटतम सम्बन्ध के प्रभाव प्रकाश [सम्बन्ध की निकटता] में जागृत नहीं होता।

३. काम क्रीड़ा के पश्चात् ‘काम’ शिथिल और निरस्त हो जाता है। उस समय क्रीड़ा करने वालों की उसी क्रीड़ा से अत्यधिक घृणा हो जाती है और दोनों के हृदय में रति के स्थान पर विरति का साम्राज्य हो जाता है।

## प्रेम

प्रेम का उदय सहज और निर्हेतुक होता है। यह निमित्त रहित, नित्य अखण्डित एक रस रहता है। इसकी मूलभूत प्रेरक रति निर्हेतुक होती है। अतः यह और इसकी क्रीड़ा भी अनादि और अनन्त होती है। इसकी रति परमोज्ज्वल होती है। अतः यह लोक-वेद की मर्यादाओं से विमुक्त निर्भीक और स्वतंत्र होती है। यह क्षण-क्षण में नवीन वर्द्धमान किन्तु उच्छृङ्खलता शून्य गम्भीर होती है। इस रति का एक-एक कण अजरत्व और अमरत्व दायक है।

इसका आविर्भाव सजातीय, सधर्मा, समवयस्, समरूप जैसी अत्यन्त सामीप्य स्थिति में ही संभव है। यह किसी भी प्रकार के द्वैत का व्यवधान रहते हुए उदय नहीं होता। यह दो प्रेमियों के अस्तित्व में उदय होते हुए भी उन्हें एक तन, एक मन और एक प्राण हो जाने के लिए विवश किया करता है। यह स्थिति ही प्रेम के पूर्णतम रूप का प्रकाश कही जाती है। यही इसका प्राकृतिक धर्म है।

‘प्रेम’ क्रीड़ा से ही तुष्ट और पुष्ट होता है। अतः क्रीड़ा करने वालों की क्रीड़ा से कभी अरुचि नहीं होती; प्रत्युत क्षण-क्षण में बढ़ती जाती है। यह प्रत्येक अवस्था में प्रतिक्षण नूतन और क्रीड़ा प्रिय बना रहता है। प्रेम की क्रीड़ा में दोनों प्रेमियों की रति नई-नई चमत्कृतियों के साथ प्रत्यक्ष होती रहती है।

- |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>४. काम का प्रादुर्भाव और उसकी क्रीड़ा एकमात्र इन्द्रियों पर ही निर्भर है। अतः शुद्ध ऐन्द्रिक है।</p> <p>५. काम क्रीड़ा के पश्चात् आत्मग्लानि होती है। मुख श्री हीन, मन उत्साह हीन और अंग शक्ति हीन हो जाते हैं।</p> <p>६. काम क्रीड़ा में दोनों ही पराजित होते हैं। अतः दोनों ही रोदन मुख मुद्रा में हो जाते हैं।</p> <p>७. काम का पराक्रम और उसका कला कौशल, स्थल विशेष और समय विशेष में ही देखा जाता है।</p> <p>८. यह दूसरे के द्वारा अपनी तृप्ति चाहता है अर्थात् दोनों ही मत्सुख सुखी होते हैं।</p> | <p>प्रेम का प्रादुर्भाव और उसकी क्रीड़ा एकमात्र विशुद्ध हृदयों पर ही निर्भर है। इन्द्रियों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।</p> <p>प्रेम क्रीड़ा के पश्चात् दोनों प्रेमियों की आत्मा तुष्ट और पुष्ट होती है। उनके तन और मन नवीन उत्साह से भर जाते हैं। अतः दोनों के मुख श्री पूर्ण बने रहते हैं।</p> <p>प्रेम क्रीड़ा में दोनों ही प्रेमी आत्म विसर्जन की होड़ में विजयी होते हैं। अतः उनके मुख सदा उत्फुल्ल बने रहते हैं।</p> <p>प्रेम का पराक्रम और उसका कला कौशल प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर देखा जाता है।</p> <p>यह अपने द्वारा प्रेमपात्र की तृप्ति चाहता है अर्थात् दोनों ही तत्सुख सुखी होते हैं।</p> |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

श्री हिताचार्य के ललना और लाल एक 'प्रेम' प्राण की दो मूर्ति हैं। अतः दोनों सजातीय हैं। इन दोनों में प्रेम के सम्पूर्ण धर्म समान रूप से प्रत्यक्ष रहते हैं। अतएव दोनों ही समान धर्मा हैं। दोनों ही नित्य किशोर हैं। अतः समवयस् सम रूप हैं। ये दोनों एक दूसरे के इतने अधिक निकट हैं कि इन्हें कोई अलग कर ही नहीं सकता<sup>१</sup> फिर भी इनकी तथाकथित काम केलि अबाध रूप से चलती रहती है। अर्थात् ये प्रतिक्षण कामोन्मत्त ही बने रहते हैं। ये दोनों सुरतान्त समय में भी विजय श्री से उत्फुल्ल वदन और मदन रंग में रँगे हुए दिखाई देते हैं<sup>२</sup>। सभामण्डल पर विराजमान रहते हुए भी सुरत के रंग में डूबे हुए दिखाई देते हैं<sup>३</sup> इसीलिए तो इन्हें श्री हिताचार्य स्वरूपतः सुरतसूर और केलि प्रिय कहते हैं<sup>४</sup>। यही कारण है कि इनमें काम का सर्वथा अभाव है। काम और प्रेम के पार्थक्य प्रकाशक स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षणों के प्रकाश में एकात्म युगल की तथाकथित काम केलि को देखने पर यह तथ्य बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है कि यह केलि लोक परिचित काम केलि नहीं है।



जिस प्रकार श्री हिताचार्य के उपास्य तत्व के नाम, रूप, लीला धाम और परिकर ये सभी अनिवर्चनीय कोई परम रहस्य हैं। वृन्दावन के दिन-रात प्रभात-सन्ध्या और सूर्य-चन्द्र-इन्द्रादि 'प्रेम' के अपने निजी हैं। ठीक उसी प्रकार यह 'काम' भी एक विलक्षण रूप वाला अपना निजी ही है। श्यामा-श्याम की काम केलि भी परम रहस्य है। लोक वेद में विख्यात काम और प्रेम धामस्थ काम में आकाश-पाताल का अन्तर है। जैसे—

### लोक वेद में विख्यात काम

१. यह काम मन से उत्पन्न होता है।
२. यह केवल पंच बाण ही धारण करता है।
३. यह काम एक ही रूप वाला है अर्थात् एक ही है।
४. इस काम का दर्प नाश हो चुका है।
५. यह काम प्रेम का नाशक है यह जिस पर आक्रमण करता है उसे प्रेम प्रदेश की सीमा से सर्वथा बाहर कर देता है और इसका प्रभाव शान्त होने पर प्रभावित व्यक्ति अपने प्रेमी से ही घृणा करने लगता है।

### प्रेम धामस्थ काम

- यह प्रिया जी के नेत्रों से उत्पन्न होता है।  
यह अनन्त सर धारण करता है।  
यह अनन्त रूप वाला है।  
यह दर्प पूर्ण है।  
यह प्रेम का सम्बर्धक है। यह अपने दोनों रसिकों को प्रेम राज्य के सर्वोच्च सिंहासन [प्रेम की प्रौढ़तम अवस्था जिसमें दोनों प्रेमी अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाते हैं; जिसका संकेत करते हुए हित ध्रुवदास जी ने कहा है—“रस की अवधि इहाँ लौं माई। विवि तन मन एकै है जाई।।”] में ही बैठाकर उनसे समाद्रित भी होता रहता है।

स्वयं श्री हिताचार्य ने श्री वन के इस काम रूप पर प्रकाश डालने की कृपा की है। [दे. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७१, २११] तात्पर्य यह है कि वृन्दावन का यह महा रहस्य रूप काम, प्रेम का ही एक लीलामय रूप है। यह काम और काम कला प्रेम राज्य की वह अनिवर्चनीय कला विशेष है जो कि ललना, लाल, सखीगण और वृन्दावन के रूप में नित्य प्रकट प्रेम के प्रत्येक अंग में स्वरूपभूत गुण किंवा धर्म के रूप में विद्यमान

१. वृन्दारण्य सीमसु सदा स्वानंग रंगोत्सवैः।.....

— रा. सु. नि. श्लो. सं. १२८

२. लीला पांग तरङ्गितैरुदमवन्नेकैकशः कोटिशः। कन्दर्पाः पुरदर्प टंकृत महा कोदण्ड विस्फारिणः।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७१

रहती है और प्रत्येक अंग के स्वरूपानुरूप कार्य करके लीला का विस्तार किया करती है। इस काम की इन अद्भुतताओं के कारण ही श्री हिताचार्य ने इसे महा मनमथ<sup>१</sup> अद्भुत मदन<sup>२</sup>, अपना अनंग<sup>३</sup> और इस काम केलि को निज केलि<sup>४</sup> कहा है।

## ५.१.२. रूप :

### ५.१.२.१. परिभाषा और प्रकार :

उपास्य रूप को आलोकित करने वाला उसका दूसरा अंग 'रूप' है। भक्ति शास्त्रों तथा काव्यशास्त्रों में रूप की अनेक परिभाषायें मिलती हैं। यथा —

क्षण-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः<sup>५</sup>।

भवेत्सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम्<sup>६</sup>।

आज का विद्वद् वर्ग आकृतवान सौन्दर्य को ही 'रूप' कहता है। सर्व साधारण जन समाज में असुन्दर को कुरूप और सुन्दर को सुन्दर रूप कहने की बहु प्रचलित प्रथा भी देखी जाती है। यदि जन समाज की इस प्रथा की उपेक्षा करने की अनधिकार चेष्टा न की जाय तो यह स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति न होगी कि 'रूप' को नपे तुले शब्दों के घेरे में सीमित नहीं किया जा सकता; हाँ यह कहा जा सकता है कि 'रूप' ईश्वर प्रदत्त मानवाकृति का ही अभिन्न तत्त्व है; वह सौन्दर्य सापेक्ष ही नहीं होता। सुन्दर और असुन्दर तो उसके विशेषण हैं।

'प्रेम' के महामहिम रूप के निकट दृष्टा श्री हिताचार्य ने अपनी सेव्या श्री राधा-रूप का परिचय देते हुए कहा है कि—“मेरी राधा बिना भूषण के ही सुभूषिता बनी रहती हैं; ऐसा है उनका रुचिर रूप”—

.....रूप रुचिर अँग-अँग माधुरी बिनु भूषण भूषित ब्रज गोरी<sup>७</sup>।.....

१. ....अद्भुत खेत महामनमथ कौ दुन्दुभि भूषण राव।.....

— हि. चौ., प. सं. ६६

२. ....अद्भुत कोटि मदन सिर नावत।.....

— हि. चौ., प. सं. ७२

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८, प्र. पृ. सं. २९८

४. ....परिरंभन विपरित रति वितरत सरस सुरत निजु केलि।.....

— हि. चौ., प. सं. ३०

५. कोऽपि प्राचीन महदाचार्य कृत

६. म. र. सि., रू. गो., दक्षिण विभाग—प्रथम लहरी

७. हि. चौ., प. सं. ८२



वस्तुतः 'रूप' वही है जो बिना भूषण के ही भूषित दिखाई दे; नेत्रों को आकर्षित करे। यह तो हुई अंग सौष्टव पर आधारित रूप की विचारणा; कुछ रूप ऐसे भी होते हैं जो गुण, कला, प्रकृति और रुचि पर आधारित होते हैं। जैसे—कवि रूप, भक्त रूप, भक्त कवि रूप, रसिक रूप, संगीतज्ञ [गायक वादक और नट] रूप, अभिनेता रूप, आशक्त रूप, विनोदी रूप, विवादी रूप आदि-आदि।

### ५.१.२.२. उपास्य का स्वरूप :

श्री हिताचार्य के उपास्य का वास्तविक और पूर्ण परिचय उसके 'स्वरूप' और 'रूप' इन दो प्रकारों के परिचय प्रकाश में ही हृदयंगम होना संभव है। अतः आगे के पृष्ठों में हम उसके दोनों रूपों—'स्वरूप' और 'रूप'—पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

### ५.१.२.२.१. निर्गुण-सगुण तथा अवतार स्वरूपों से पृथक :

श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य का स्वरूप परिचय देते हुए कहा है कि मेरा उपास्य श्रुतियों से सर्वथा अलक्षित वह 'प्रेम' किंवा 'रस' है जो उसकी वाणी का विषय नहीं है<sup>१</sup>। श्रुतियाँ परात्पर तत्त्व के निर्गुण निराकार और सगुण साकार रूप को ही अपना विषय बना सकी हैं— उन्होंने उन्हीं दो रूपों का परिचय दिया है।

सभी उपासना ग्रंथों तथा सम्पूर्ण भक्ति शास्त्रों के गहनतम अध्ययन से ज्ञात होता है कि निर्गुण निराकार उपासी तथा सगुण साकार उपासी सभी आचार्यों की एक स्वर से यह घोषणा रही है कि हमारा उपास्य श्रुति व्याख्यात निर्गुण निराकार ब्रह्म या सगुण साकार ब्रह्म है। सुस्पष्ट ही है कि सभी आचार्यों ने अपने उपास्य को प्रमाण पुष्ट सिद्ध करने के लिये श्रुतियों को ही साक्षी रूप में स्वीकार किया है। साक्षी उसी की सत्य स्वीकार की जाती है जो उस वस्तु का निकट दृष्टा होता है। किसी भी आचार्य ने यह उद्घोष नहीं किया है कि है हमारा उपास्य श्रुतियों से अलक्षित है; श्रुतियों में अवर्णित है। अतः हमारी उपासना वेदों पर आधारित नहीं है। श्री हिताचार्य ने अनेक स्थलों पर यह घोषणा की है कि हमारा उपास्य श्रुतियों से अलक्षित है व उसकी वाणी का विषय नहीं है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि उनका परमोपास्य श्रुति तथा पुराणों में वर्णित निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार इन दोनों से पृथक है।

१. अलक्ष्यं राधाख्यं निखिल निगमैरप्यतितरां। रसाम्मोघेः सारं किमपि सुकुमारं विजयते।.....  
यद् वृन्दावन मात्र गोचरमहो यन्न श्रुतीकं शिरोप्यारोढुं क्षमते न यच्छिव शुकादीनां तु यद्दधानगम।  
यत्प्रेमामृत माधुरी रसमयं यन्नित्य कैशोरकं। तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम॥

श्रीहिताचार्य ने एक दूसरे प्रकार से भी अपने उपास्य रूप के पार्थक्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—कोई तो ब्रह्मानन्दवादी हैं, तो कोई भगवदानन्द [भगवान की वन्दन आदि नवधा भक्ति से प्राप्त आनन्द] में ही मत्त हैं। अन्य लोग श्री कृष्ण के सख्य आदि [सख्य वत्सल और मधुर भाव के आनन्द] अनुपम परमानन्द का आस्वादन करते हैं। किन्तु श्री राधादासियों के लिये तो उन श्री राधा के चरण-कमलों की प्रकाशमान ज्योति की एक किरण मात्र ही आनन्द के चमत्कार सार [रस] की एकमात्र सीमा है—

ब्रह्मानन्दैकवादाः कतिचन भगवद् वन्दनानन्दमत्ताः  
केचिद् गोविन्द सख्याद्यनुपम परमानन्दमन्ये स्वदन्ते।  
श्रीराधा किंकरीणां त्वखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा  
तत्पादाम्भोज राजन्नखमणि विलसज्ज्योतिरेकच्छटापि॥

आचार्य चरण ने “ब्रह्मानन्दैक वादाः” कहकर निर्गुण निराकार ब्रह्म से, “कतिचन भगवद्वन्दनानन्दमत्ताः” कहकर सगुण ब्रह्म के ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप से तथा “केचिद् गोविन्द सख्यादि” कहकर सगुण ब्रह्म के ऐश्वर्य-माधुर्य मिश्रित स्वरूपों [सख्य, वत्सल और मधुर भाव के आलंबन स्वरूपों] से भी पृथक् अपना परमोपास्य घोषित किया है। “श्री राधा किंकरीणां त्वखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा” इस वाक्य के द्वारा यह भी व्यंजित कर दिया है कि उक्त सभी स्वरूपों से पृथक् मेरा परमोपास्य श्री राधाकिंकरीगणों के ही हृदयगम्य है।

श्री हिताचार्य के मुखोक्त इन सूत्र वाक्यों से निर्व्रान्त रूप से सुस्पष्ट हो जाता है कि उनका परमोपास्य श्रुति वर्णित निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार रूप से और श्री मदभागवतादि पुराणों में ख्यात श्री राधा-कृष्ण स्वरूप से सर्वथा पृथक् है। श्री हिताचार्य के अनुगत श्री हरिराम व्यास जी, सेवक जी, प्रबोधानन्द जी सरस्वती, लाल स्वामी, तथा चाचा वृन्दावनदास जी आदि अनेक रसिकों ने इन सूत्र वाक्यों का ही अन्तराशय भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है<sup>१</sup>।

### ५.१.२.२.२. सदैव प्रकटतर ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ रूप :

जिस प्रेम के सम्बन्ध में श्री हिताचार्य से पूर्ववर्ती सभी भक्तों की यह मान्यता थी और है कि प्रेम दो हृदयों को मिलाने वाला एक सम्बन्धात्मक तत्त्व है, तथा भगवान को प्राप्त कराने वाले सम्पूर्ण साधनों में सर्वोत्कृष्ट है। श्री हिताचार्य ने उसी ‘प्रेम’ को परात्पर तत्त्व घोषित करते हुए अपना परमोपास्य बनाया है।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. १४७

२. प्रस्तुत प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में दृष्टव्य है।



उपासना के लिए ऐसे आकृतवान और कृतवान रूप की अनिवार्यतः आवश्यकता होती है जो कि उपासक की रति का विषय बन सके। जिसके नाम-गुण श्रवण से और रूप के प्रत्यक्ष दर्शन, स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन और श्रवण दर्शन से उसका रति भाव उदबुद्ध हो सके।

श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत प्रेमोपासना किंवा रसोपासना के लिये ऐसे प्रकट रूप की आवश्यकता थी जो कि निर्गुण निराकार और सगुण साकार इन दोनों रूपों से पृथक् हो। जो कि न तो लौकिक [प्रगट घटना पर आधारित] रूप और न अलौकिक [मानव की इन्द्रियों के सहज व्यवहार-व्यापार से सुदूर-अप्रत्यक्ष] रूप से हो, क्योंकि मानव की सहज भाव भावना से सर्वथा असंपृक्त, लोक असन्निकट निर्गुण निराकार रूप तो रस का आलंबन ही नहीं बन सकता—रति भाव को उद्दीप्त ही नहीं कर सकता और सगुण साकार रूप में माधुर्याभास के साथ-साथ ऐश्वर्य का अत्यधिक प्रकाश तथा अनेक रूपता के साथ-साथ अनेक रसता का विपुल विलास भी दिखाई देता है जो प्रेमोपासना के क्षेत्र में एक अवाञ्छनीय तत्व के रूप में आलोचित है<sup>१</sup>।

रस शास्त्र विज्ञाता सभी आचार्यों की सर्व सम्मत मान्यता है कि “रस न तो ज्ञाप्य है, न कार्य है न साक्षात् अनुभव है और न परोक्ष।” एतावता अनिवर्चनीय है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि रसोपासना न तो प्रत्यक्ष सगुण स्वरूप को ही ‘रति’ का आलम्बन बनाकर की जा सकती है न परोक्ष अनुभव [अप्रत्यक्ष रूप] को। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि रसोपासना के लिए प्रत्यक्ष का जितना निषेध स्वीकार है उतना ही विधेय भी। क्योंकि पूर्वोक्त रस-परिभाषा में परोक्ष का भी तो स्पष्ट निषेध है।

लोक प्रत्यक्ष लीला [अवतार लीला] में प्रत्यक्ष सीताराम या नन्दनन्दन वृषभाननंदिनी आदि रूपों से की गई उपासना सगुण स्वरूपोपासना की सीमान्तर्गत और आकार प्रकार रूप, रंग, नाम तथा धाम से सर्वथा शून्य रूप की उपासना निर्गुण निराकार-परोक्ष रूपों की सीमान्तर्गत आती हैं; रसोपासना की सीमा में नहीं। वस्तुतः रसोपासना के लिए तो ऐसे सन्धि रूप की आवश्यकता थी जिसे न तो प्रकट ही कहा जा सके और न अप्रकट ही। सम्भवतः इसीलिए रसोपासना आविर्भावक श्री हिताचार्य ने रसोपासना के आलम्बन किंवा प्रेमोपासना के परमोपास्य रूप को जन्मा या अजन्मा, प्रकट या अप्रकट न कहकर ‘सदैव प्रगटतर’ कहा है<sup>२</sup>। इस प्रकार से उन्होंने अपने

१. गोकुलनाथ महा ब्रज वैभव लीला अनेक न चित्त खटाई।

— से. वा., अनन्य टेक प्रकरण, छं. सं. ११

२. वृन्दाटव्यां सदैव प्रगटतर.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२६।

परमोपास्य को जन्मा और अजन्मा [प्रगट और अप्रगट] इन दोनों परिधियों से सर्वथा विमुक्त घोषित किया है।

‘सदैव प्रगटतर’ शब्द से साधारणतया यही अर्थ बोध होता है कि श्री हिताचार्य का परमोपास्य सदा ही प्रगट रहने वाला कोई स्वरूप है किन्तु इसका मात्र यही अर्थ नहीं है, इसके साथ ही इस शब्द समूह में उसका गूढ़ अन्तराशय बोधक अर्थ भी सन्निहित है।

उपासना के लिए रूप का आधार सभी उपासक जगत को अनिवार्यतः स्वीकार है। अतः श्री हिताचार्य के लिए भी आधारभूत प्रगट रूप अभीष्ट अवश्य है; किन्तु वह रूप है ‘रस का ही रूप’ किंवा प्रेम का ही सर्वाङ्गीण रूप।

“सदैव प्रकटतर” शब्द के द्वारा श्री हिताचार्य ने जहाँ पर एक ओर अपने अभीष्ट रूप ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ के लीलामय रूप का संकेत किया है वहीं पर दूसरी ओर प्रगट, और प्रगटतर रूप के प्रति अपनी तटस्थता भी प्रगट कर दी है। “सदैव प्रगटतर” शब्द में ‘प्रगट’, ‘प्रगटतर’ और ‘सदैव प्रकटतर’ इन तीन शब्दों का समुच्चय है और ये तीनों ही शब्द अपने-अपने विशिष्ट अर्थ के साथ ही विशिष्ट रूप के भी संकेतक हैं।

‘प्रगट’ शब्द उस अरूप-रूप, रंग और आकार रहित [निर्गुण निराकार] का निषेध तो ध्वनित करता ही है साथ ही उस रूप का भी सांकेतिक निषेध ध्वनित करता है जो कि प्रगट तो है किन्तु लोक प्रत्यक्ष नहीं है। उस रूप के न माता-पिता हैं, न सखा, हैं न परणीता वधू है, न जन्मतिथि है, न अन्तर्धान तिथि है, न जाति है और न जन्मस्थली है। अर्थात् जो अजन्मा, अलौकिक और अप्रत्यक्ष है<sup>१</sup>। ये अलौकिक अप्रत्यक्ष प्रगट रूप हैं— नारायण, विष्णु आदि।

अलौकिकता की इस सुदृढ़ सीमा में समावद्ध होने के कारण उस स्वरूप में प्रेम रूपता किंवा रस रूपता के दर्शन सर्वथा असम्भव हैं। अतः ‘प्रगट’ शब्द के द्वारा श्री हिताचार्य ने सर्वथा अरूप अनप्रत्यक्ष [निर्गुण निराकार] के प्रति निषेध ध्वनित तो किया ही है साथ ही विष्णु-नारायण आदि अप्रत्यक्ष प्रगट रूपों के प्रति अपनी तटस्थता भी व्यंजित कर दी है।

‘प्रकटतर’ शब्द ऐसे रूप की ओर संकेत करता है जो कि लोक के अति सन्निकट है। उस रूप के जननी, जनक, जाति, जन्मतिथि, जन्मस्थली, जन्मकाल आदि के साथ-साथ मित्र हैं, भाई हैं और वधूटियाँ भी हैं<sup>२</sup>। उस रूप की ‘प्रगटतरता’ यह है कि वह अपने विराजमान काल में सभी समय, सभी प्रकार से सभी के लिये निकट है। ये लोकावतरित-राम कृष्णादि रूप हैं। यह रूप लोक-वेद की सुदृढ़ शृंखलाओं में आबद्ध

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ८३, ७७, १७५, २१६

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८, १४७, २३२, २३३



हैं। यह रूप केवल एक बार ही प्रगट हुआ था और फिर अन्तर्धान हो गया था। नित्य प्रति नये-नये रूप में प्रकट नहीं हुआ था और न हो ही सकता था।

इस रूप में लोक-वेद की मर्यादाओं में आबद्धता के कारण 'प्रेम' किंवा 'रस' का दर्शन होना सर्वथा असम्भव था। अतः श्री हिताचार्य ने इस 'प्रकटतर' रूप के प्रति भी अपनी तटस्थता व्यंजित की है।

यह शास्त्रोक्त और साधु सुधीजनों की निर्विरोध मान्यता है कि नृसिंह, वामन, श्रीराम और श्रीकृष्णादि अवतार संज्ञक रूप सदा सनातन प्रगट नहीं रहा करते। केवल एक युग विशेष में ही प्रगट होते हैं और एक समयावधि में ही अपनी लीला करके अन्तर्हित हो जाते हैं। इनका प्रागट्य भी नित्य नहीं हुआ करता। केवल एक युग विशेष के निश्चित मास की निश्चित तिथि में केवल एक बार ही हुआ था।

नृसिंह भगवान् का अवतरण सतयुग की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को, वामन भगवान् का अवतरण सतयुग के भाद्रमास की शुक्ला द्वादशी को, भगवान् श्रीराम का अवतरण त्रेतायुग की चैत्र शुक्ला नवमी को और नन्दात्मज भगवान् श्री कृष्ण का अवतरण द्वापर की भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को हुआ था। साधु-वैष्णव समाज में आज भी इन अवतार स्वरूपों के जन्मोत्सव इन्हीं तिथियों में मनाये जाते हैं<sup>१</sup>।

'सदैव प्रकटतर' यह शब्द भी प्रगट और प्रगटतर शब्द की भाँति अप्रगट का विलोमार्थ प्रकट करता है। किन्तु इसके साथ ही श्री हिताचार्य के इस गूढ़ अन्तराशय को भी ध्वनित करता है कि वह प्रकट और प्रकटतर से भी कहीं अधिक प्रकट है।

'प्रगट' रूप [नारायण-विष्णु आदि] प्रगट होते हुए भी लोक में प्रकट नहीं हैं, अजन्मा हैं और उनमें नित्य नवल रूप के दर्शन भी कभी नहीं देखे गये। 'प्रगटतर' का प्रागट्य तो प्रसिद्ध है किन्तु वह एक बार ही प्रकट हुआ था—प्रतिक्षण नवल रूप में प्रकट नहीं; साथ ही जन्मादि से संयुक्त होने के कारण अनित्यता से भी अदूर है। लोक-वेद की मर्यादाओं से जन्त्रित है। अतः यहाँ भी 'प्रेम' किंवा 'रस' के नित्य नवल रूप में प्रत्यक्ष-निज रूप का दर्शन सर्वथा अकल्पित है।

'सदैव प्रकटतर' शब्द 'प्रकटतर' रूप से भी कहीं अधिक प्रकटतरता धारण करने वाले रूप का व्यंजक है। वह रूप अजन्मा और जन्मा की परिधि से विमुक्त है। वह रूप प्रतिक्षण नव-नव रूप में प्रकट होता रहता है। यह 'प्रेम' किंवा 'रस' ही है जो कि लोक-वेद की मर्यादा को तोड़कर सदा क्रीड़ा परायण ही बना रहता है।

यह 'सदैव प्रकटतर' रूप वह रूप है जो आद्यन्त रहित [भूत, भविष्य और वर्तमान

१. भगवान् श्री राम का जन्मोत्सव अयोध्या में और भगवान् श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव गोकुल, मथुरा, नन्दग्राम, तथा वृन्दावनस्थ श्री बाँकेबिहारी जी के मन्दिर में विशेष धूमधाम से मनाया जाता है।

काल में भी सदा प्रकट] अनादि काल से प्रकट भी है और जिसका प्रागट्य भी क्षण-क्षण में नित्य नूतन रूप में हुआ करता है। उस स्वदृष्ट रूप का निकटतम परिचय देते हुए श्री हिताचार्य ने बताया है कि वह 'प्रेम' किंवा 'रस' ही है जो दो रूपों में ही नित्य अभिव्यक्त रहता है<sup>१</sup>। उन युग्म मूर्तियों में एक मूर्ति स्वर्ण चम्पकाङ्गी है, वह मान भङ्गियों से पूर्ण हृदय से अनुकूल होते हुए भी बांहर से प्रतिकूल रहने वाली है। दूसरी मूर्ति नीले बादल के समान श्यामाङ्ग है, वह काम से अति चंचल और रसमय वचनों द्वारा चाटुकारी करने वाली है। इस लोक में अद्भुत प्रेम की उन मूर्ति द्वय का नाम श्री राधा माधव विख्यात है। जो परम मधुर हैं और गाढ़ स्नेह-रज्जु में ग्रथित हैं। उस प्रकाश युगल को केवल मैं जानता हूँ<sup>२</sup>।

परात्पर तत्व — 'प्रेम' के ऐसे रूप के निकट दृष्टा श्री हिताचार्य ने उसका निकटतम स्वरूप परिचय देते हुए कहा है कि वह नित्य नव किशोराकृत है और श्री वृन्दावन में नित्य गोचर होता है। उसके स्वरूपभूत गुण पर प्रकाश डालते हुए श्री हिताचार्य ने यह भी कहा कि वह प्रतिक्षण नित्य नवल रूप में प्रकट होता रहता है। इस कथन का अन्तराशय यह है कि वह 'प्रेम' जिन प्रेमी [श्यामसुन्दर] और प्रेमपात्र [वृषभान किशोरी श्री राधा] के रूप में नित्य क्रीड़ा परायण बना रहता है, वे दोनों नित्य नवल ही बने रहते हैं। इतना ही नहीं अपितु इन दोनों का प्रेम भी नित्य नवल, दोनों के प्रेम विलास और प्रेम विलास की रंगभूमि श्री वृन्दावन भी नित्य नवल ही बना रहता है। यही कारण है कि इनके प्रेम विलासों से समुद्भूत रस रंग भी नित्य नवल ही बना रहता है<sup>३</sup>। इसीलिए

१. एकं कांचन चम्पकच्छवि परं नीलाम्बुद श्यामलम्। कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं वहिः।  
किंचैकं बहु मान भंगि रस वच्चादूनि कुर्वत्परं। वीक्षे क्रीडति कुंज सीम्नि तदहो द्वन्द्व महामोहनम्।  
— रा. सु. नि., श्लो. सं. १६९
२. गाढ़ स्नेहानुबंध ग्रथित मिव तयोरद्भुत प्रेम मूर्त्योः। श्री राधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्वयं धाम जाने।।  
— रा. सु. नि., श्लो. सं. १७३
३. नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभान किशोरी।  
नव पीतांबर नवल चूँनरी नई-नई बूँदन भीजत गोरी।।  
नव वृन्दावन हरित मनोहर नव चात्रक बोलत मोर-मोरी।  
नव मुरली जु मलार नई गति श्रवन सुनत आये घन-घोरी।।  
नव भूषन नव मुकुट विराजत नई-नई उरप लेत थोरी-थोरी।  
जै श्री हित हरिवंश असीस देत मुख चिरजीवौ भूतल यह जोरी।। — हि. चौ., प. सं. ५४

तथैव —

आज निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।..... सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवल किशोर।..... झूलत दोउ नवल किशोर।..... ये दोउ नवल किशोर रूप निधि विटप तमाल कनक मनु बेलि।..... नवल नागरी नवल नागर किशोर मिलि।..... दान दै री नवल किशोरी।..... नगारी नव किशोर मिथुन मनसि चोर।.....  
— हि. चौ., प. सं. ७, ३९, ३५, ४९, ५०, ५१, ६९



श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य 'प्रेम' को 'सदैव प्रकटतर' कहकर प्रकीर्तित किया है। उपर्युक्त विवेचना का सारांश यह कि श्री हिताचार्य का परमोपास्य निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक्, सदैव प्रकटतर—नित्य नवीन रूप में नित्य अभिव्यक्त—'प्रेम' किंवा 'रस' है।

'प्रेम' नित्य नूतन तत्त्व है। नित्य नूतन का अर्थ है—नित्य नूतन आरम्भ होना। यह 'प्रेम' क्षण-क्षण में नूतन रूप में प्रकट होता रहता है। इसीलिए इसको प्रेम-प्रवाह कहा गया है। प्रवाह में जैसे नवीन जल आकर धारा को अविच्छिन्न बनाये रखता है उसी प्रकार प्रेम का स्वरूप नित्य नवीन प्रागट्यो के द्वारा बनता है। 'प्रेम' का यह प्रवाह नित्य नव लीला का प्रवाह है। नित्य नवीन प्रगट होने वाले 'प्रेम' की लीला इस नवीन अर्थ में ही अनादि कही जाती है; क्योंकि प्रत्येक नवीन प्रागट्य के साथ नवीन लीला का आदि होता है। और यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। यही कारण है कि 'प्रेम' की लीला को अनादि और अनन्त बताया है<sup>१</sup>। प्रेम की अनादि-अनन्त लीला का नाम ही नित्यविहार है। लीला से रूप की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि नित्य नव लीलाओं से नित्य नव रूप का निर्माण होता है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य प्रेम की जोरी को "सदैव प्रगटतर" कहा है। आचार्य चरण के इसी गूढाशय को सरल भाषा में स्पष्ट करते हुए स्वामी हरिदास जी ने भी कहा है कि वह प्रगट तो है किन्तु ऐसी प्रगट जोरी नहीं जो किसी काल विशेष में प्रगट हुई हो, इससे पूर्व न रही हो। वह "सदैव प्रकटतर" जोरी तो "पहिलें हूँ हुती"—अर्थात् चिर अनादि काल से थी; "अबहूँ"— अर्थात् अब भी नित्य नव प्रगट है और "आगे हू रहि है"—अर्थात् भविष्य में भी रस क्रीड़ा परायण बनी रहकर नित्य नवीन रूप में प्रकट होती रहेगी—

एरी माई सहज जोरी प्रगट भई रंग की जु गौर श्याम घन दामिनि जैसें।

पहिलेंहूँ हुती, अबहूँ, आगे हूँ रहिहै, न टरिहै तैसें<sup>२</sup>।।

प्रबोधानंद सरस्वती ने भी वृन्दावन स्वरूप वर्णन संदर्भ में 'वृन्दाटव्यां सदैव प्रगटतर' रूप का स्वरूप इन शब्दों में चित्रित किया है—

आयातं न कुतश्चन वचन नो गन्तु स्मरैकाम्बुधौ।

पारावार विवर्जित विषमेऽनाद्यन्तकालं लुटत।

गौर-श्यामल दिव्य कान्ति सहजाव्याश्चर्य-कैशोरकम्।

यत्रास्ते मिथुनं मिथोऽङ्ग मिल्नानाज्जीवनन्तु मस्तदृनम्<sup>३</sup>।

१. गौरश्याम किशोरद्वय मति मधुरानन्तरङ्गेण दिव्यं। यत्रानाद्यन्त कालं नयति शरणदा साऽस्तु वृन्दाटवी मे।

— वृ. म., सप्तम शतक, प्र. सं., श्लो. सं. ३९

२. स्वा. ह. जी के प., स्वा. ह. जी, प. सं. १

३. वृ. म., प्र. सं., नवम शतक, श्लो. सं. ६८

‘प्रेम’ का प्रेमी और प्रेमपात्र की सहज जोरी के रूप में नित्य नवीन प्रागट्य विस्मय जनक है; क्योंकि नवीनता में सहज आकर्षण होता है किन्तु इस सहज जोरी का नित्य नव रूपीय प्रागट्य उस सहज आकर्षण में एक चमत्कृति विशेष उत्पन्न कर देता है। यह सहज जोरी रसिकों के हृदय में तभी प्रगट होती है; जब उनके तन-मन और प्राण ‘रस’ से अभिन्न हो जाते हैं। जब अत्यन्त आश्चर्य रूप इस जोरी पर रसिकों की प्रेम दृष्टि, प्रीति दृष्टि किंवा रस दृष्टि पड़ती है तो यह जोरी उन्हें प्रतिक्षण नई छबि, नई कान्ति और नवीन सौन्दर्य संयुक्त प्रतीत होती है।

यद्यपि यह जोरी नित्य नव प्रगट है। अभी-अभी प्रगट होने वाले में क्रीड़ा-कला-कुशलता और पूर्ण सुधरता का अभाव जैसा होता है; किन्तु यह जोरी नित्य नव रूप में प्रगट होने पर भी रस क्रीड़ाओं की संपूर्ण कलाओं में पूर्णतः कोविद, पूर्णतः दक्ष और पूर्णतः सुधर है। अतः सभी दृष्टियों से समान रूप से सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम है। यहाँ पर यह बात अविस्मरणीय है कि इस सहज जोरी का प्रागट्य नित्य तो होता है किन्तु बाल, कौमार अथवा पौगण्ड रूप में नहीं, प्रत्युत दोनों ही नित्य नव किशोर रूप में ही ‘सदैव प्रगटतर’ रहते हैं—

.....कैशोरादपरं वयो न हि कदाप्यासादयन्न क्षणं  
क्रीडातो विरतं तदेकमिथुनं वृन्दावने नन्दति<sup>१</sup>।

### ५.१.२.३. उपास्य का रूप :

पिछले पृष्ठों में ‘रूप’ शब्द की परिभाषा और श्री हिताचार्य के उपास्य रूप की स्वरूप संबंधी विवेचना की जा चुकी है किन्तु यहाँ पर हमें बताना तो यह है कि श्री हिताचार्य द्वारा उद्गीत ‘प्रेम’ की लीलाओं में उनका उपास्य—‘प्रेम’ किन-किन रूपों में प्रत्यक्ष हुआ है। इसी बात को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि श्री हिताचार्य ने अपने उपास्य का किन-किन रूपों में लाड़ लड़ाया है। उनकी वाणी के गहन आलोड़न से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने परमोपास्य प्रेम मूर्ति श्यामा श्याम को ‘नित्य नव किशोराकृत नित्य नव दम्पति रूप’, ‘रस और रसिक रूप’ ‘प्रेमी और प्रेमपात्र रूप’ और ‘प्रतिक्षण नवल रूप’ में लाड़ लड़ाया है। आगे के पृष्ठों में हम इन सभी रूपों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

### ५.१.२.३.१. नित्य नव किशोराकृत नित्य नव दम्पति रूप :

‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ के पूर्णतम रूप [रस के पूर्ण विकसित और प्रेम के पूर्ण परिपक्व रूप] की अभिव्यक्ति और उसके परिपक्व रूप के निरावरण दर्शन दाम्पत्य प्रेम में ही



होते हैं। यह दाम्पत्य प्रेम नव किशोरावस्था में ही सम्भव है। रस शास्त्र मनीषियों ने भी सम्भवतः इसी प्रत्यक्ष अनुभव के आधारपर मधुररति और नायक-नायिका के योग से निष्पन्न होने वाले शृंगार रस को रसराय पद से विभूषित करते हुए इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति 'कामोद्रेक वय'—किशोरावस्था को ही स्वीकार किया है —

शृंगोहि मन्मथोभेदस्तदागमन हेतुकः। उत्तम प्रकृत प्रायो रस शृंगार उच्यते<sup>१</sup>॥

रस शास्त्र सन्वेत्ताओं और प्रेम संविधान विज्ञाता रसिकों ने प्रेम के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि —

“प्रेम कौ निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एक रस रुचि तरंग बढत रहैं, सहज स्वच्छन्द मधुरता, मादिकता जाकौ आदि अन्त न होय; छिन-छिन नूतनता स्वाद<sup>२</sup>।”

प्रेमास्पद के रमणीय रूप में प्रतिक्षण नवलता के दर्शन, चाह चटपटी, आधीनता और आतुरता आदि के चमत्कार पूर्ण निरन्तर दर्शन; प्रथम मिलन का अनिर्वचनीय और महामधुर आनन्द, पारस्परिक मिलन की असीम उत्कण्ठा, रूप सुधा पान की अत्यन्त अद्भुत पिपासा, दोनों के आन्तरिक अनुराग की प्रतिक्षण वर्द्धन शीलता और रस पान की अतृप्तिता आदि के दर्शन प्रेम के उज्ज्वलतम रूप में ही हुआ करते हैं। प्रेम के ऐसे रमणीय रूप का साक्षात्कार अभिनव दम्पति के हृदयों में नित्यान्दोलित अनुराग में ही सम्भव है और यह नव दाम्पत्य-प्रेम भी नव किशोरावस्था में ही हो सकता है; अन्य में नहीं।

रस शास्त्र निर्माताओं ने स्वकीया और परकीया नायिका द्वारा जिस रूप को प्रत्यक्ष करने की सुचारु चेष्टा की है। रस के जिस रूप को अनुभव करने का प्रशंशनीय प्रयत्न मात्र किया है; प्रेम का वह रूप और रस का वह स्वरूप दर्शन वस्तुतः नित्य नव दंपति रूप में ही—‘नित्य नव किशोराकृत नित्य नव दंपति’ रूप में ही संभव है और यह नव दाम्पत्य नित्य नव किशोरावस्था में ही संभव है।

नव दम्पति या नव दाम्पत्य के कुछ लक्षण विशेष होते हैं जिनके आधार पर निर्णीत होता है कि यह दम्पति अभिनव दम्पति हैं या नहीं? वे लक्षण इस प्रकार हैं—

तन और मन से एक हो जाने के लिए वे दोनों उत्कंठित और आतुर बने रहते हैं। दोनों में अपरिचय या सर्वथा नवीन परिचय होता है। नव वधू के मन में लज्जा होती है। संगम हो जाने पर भी मिलने की वही लोल लालसा जो संगम के पूर्व थी; बनी रहती है।

१. का. प्र., आ. म.

२. ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.

श्री हिताचार्य के परमोपास्य रस मूर्ति श्यामा-श्याम दोनों प्रतिक्षण नूतन बने रहते हैं। इसीलिए उन दोनों में नित्य नई प्रीति बनी रहती है। नित्य नये दिखाई देने के कारण ही उन दोनों का नित्य नवीन परिचय हुआ करता है। इस नवीन परिचय के कारण उनका प्रत्येक संगम, नव संगम अनुभूत होता है। और संगम में नवीनता होने के कारण ही प्रत्येक संगम में वही प्रथम समागम की लज्जा और भय देखा जाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे दोनों अनवरत रूप रस पान करते रहने पर भी रूप-पिपासु ही बने रहते हैं। इसीलिए श्री हिताचार्य ने उन्हें नित्य नव किशोराकृत नित्य नव दंपति कहकर प्रकीर्तित किया है<sup>१</sup>।

यह दाम्पत्य सम्बन्ध लोक में साधारणतया एक ही बार होता है। अतः लोक प्रत्यक्ष किसी दम्पति को नित्य नव दम्पति नहीं कहा जा सकता। लक्ष्मी-नारायणादि ईश्वर स्वरूप अलौकिक हैं। अतः उनका लौकिक विधि विधान से परिणय होना ही अकल्प्य है। लोकावतरित श्री राम-कृष्ण रूप लौकिक और आदर्श रूप होने के कारण लोक-वेद की मर्यादा में समाबद्ध हैं। अतः उनके सम्पूर्ण लीला काल में श्री सीता-राम, श्री राधा-कृष्ण या रुक्मिणी-कृष्ण का परिणयोत्सव एक ही बार हुआ था—ऐसा भक्ति ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

श्री हिताचार्य के उपास्य श्यामा-श्याम प्रेम स्वरूप हैं—लौकिक और अलौकिक दोनों सीमाओं से विमुक्त रस स्वरूप हैं। नित्य नूतनता इनका स्वरूपभूत गुण है। इसीलिए ये, इनका रूप, इनकी प्रीति, इनकी लीला, इनका धाम, और परिकर सभी कुछ नवीन ही बना रहता है। और इस तरह —

प्रीतम का प्रतिक्षण नवल प्रेम श्री राधा के रूप को और श्री राधा का नित्य नवल प्रेम प्रियतम श्याम के रूप को प्रतिक्षण नवल बनाये रखता है। श्री राधा का प्रतिक्षण नवल रूप प्रीतम के प्रेम को और प्रीतम का प्रतिक्षण नवल रूप श्री राधा के प्रेम को प्रतिक्षण नवता प्रदान किया करता है। प्रेम; रूप की नवलता को और रूप; प्रेम की नवलता को अक्षुण्ण बनाये रखता है। इसीलिए ये दोनों प्रिया-प्रीतम प्रतिक्षण नवल श्याम और नवल वृषभान किशोरी बने रहते हैं। इन दोनों का प्रेम नित्य नवल बना रहता है। श्यामा श्याम की यह रूप-नूतनता तथा प्रीति की नवलता दोनों को नव दाम्पत्य सम्बन्ध के मधुर बन्धन में आबद्ध हो जाने के लिए विवश करती है। हितचिन्तिका दासीगण इनकी रुचि देखकर इनके नव विवाह का आयोजन कर बैठती हैं। यही है उनके नव

१. ....यत्प्रेमामृत माधुरी रसमयं यन्नित्यं कैशोरकं।



विवाहोत्सव का मधुर कारण; और यही है उनके नित्य नव दम्पति रूप में बने रहने का मधुर रहस्य।

प्रेम की दो अवस्थायें सर्वमान्य हैं। एक चेतन अवस्था और दूसरी विवशावस्था। इन दोनों अवस्थाओं का आगमन-प्रत्यागमन निरन्तर होता रहता है। यहाँ पर नितान्त अविस्मरणीय है कि उसकी सहज स्वाभाविक क्रीड़ा निरन्तर चलती ही रहती है। वृन्दावन रस रसिकों ने चेतन अवस्था की क्रीड़ा को मदन सिन्धु की तरंगें—काम केलि—और विवशावस्था की क्रीड़ा को प्रेम सिन्धु की तरंगें—प्रेम केलि—कहा है<sup>१</sup> जब प्रेम रूपी सिन्धु की तरंगें आती हैं, तब दोनों विवस हो जाते हैं और जब मदन सिन्धु की तरंगें आती हैं तब दोनों चेतन्य हो जाते हैं। इसी तथ्य को इन शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है कि जब दोनों चेतन्य हो जाते हैं तब मदन क्रीड़ा करते हैं और जब विवश होते हैं तब प्रेम क्रीड़ा—अन्तरंग विहार या मनन विहार किया करते हैं<sup>२</sup>।

एक बात अत्यधिक महत्वपूर्ण और अविस्मरणीय यह है कि रस की निमग्नावस्था से उन्मग्न होने पर उन्हें अपनी सभी बातें विस्मृत हो जाती हैं। वे स्वयं अपने को भी नहीं पहिचानते और एक दूसरे को भी नहीं पहिचानते। उन दोनों का सर्वथा नवीन परिचय होता है<sup>३</sup>। इस प्रकार वे दोनों [दोनों की दृष्टि में] नवीन ही होते हैं। उसी समय उन दोनों में नवीन प्रेम उत्पन्न होता है तब दोनों दाम्पत्य के महामधुर प्रणय बन्धन में बँध जाने के लिए लालायित हो उठते हैं। इन रसिक युगल के सुख में सुखी रहने वाली हित चिन्तका दासियाँ उनकी रुचि पहिचानकर दोनों को नव दम्पति के शृंगार से सुसज्जित करके उनका विवाह करा देती हैं। इस प्रकार श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेममूर्ति श्यामा-श्याम का विवाहोत्सव नित्य हुआ करता है।

श्री हिताचार्य ने सखी भावाविष्ट अवस्था में सखियों की उपर्युक्त हित चिन्तना मूलक नित्य विवाहोत्सव करने की मधुर भावना को अपनी भावना बनाकर उसे इन शब्दों में व्यक्त किया है—

१. "प्रेम-मदन के सिन्धु द्वै लाड़िलीलाल जू के हिये में बहत रहत हैं। जब प्रेम रूपी सिन्धु के तरंग छावैं तब विवस होंहि। जब मदन रूपी सिन्धु के तरंग छावैं तब चैतन्य होंहि। प्रेम-मदन के सिन्धु द्वै बहत रहत दिन हीय। कबहुँ विवस चेतत कबहुँ छिन-छिन प्यारी-पीय।। छिन-छिन प्यारी-पीय प्रेम रस विलसत ऐसैं।.....

— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. धु. दा.,

२. मदन लहर के उठत ही बाढ़त सुरत बिहार। प्रेम लहर में परत ही रहत न देह सँभार।।

— ब्या. ली., रंग विनोद लीला, हि. धु. दा., छं. सं. ३४

३. नयौ नेह नव रूप रस नई मिलन की रीति। पिछली सुधि तहँ रहत नहि नई दुहुँनि में प्रीति।।

— म. दा. जी बा., म. दा. जी., छं. सं. ३२

किशोरावस्था के कौमार काल-नवोदय काल-में ही जिनमें ऐसी अनिवर्चनीय प्रीति का प्रकाश परिलक्षित हो रहा है कि परस्पर नाम लेने मात्र से ही दोनों के सम्पूर्ण अंगों में अतिशय रोमांच हो उठता है। ऐसे राधामाधव का, वृन्दावन के नये फूलों से विनिर्मित रहस्य कुंज के भीतर गूढ़ शैशव-खेलों की तरह मेरे द्वारा हर्ष के साथ विवाहोत्सव कब होगा—

प्रीतिं कामपि नाम मात्र जनित प्रोद्दाम रोमोदगमां।  
राधामाधव योः सदैव भजतोः कौमार एवोज्ज्वलाम्।  
वृन्दारण्य नव प्रसून निचयानानीय कुंजान्तरे।  
गूढं शैशव खेलनैर्वत कदा कार्यो विवाहोत्सवः<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य की इस सु भावना का विस्तार विशेष रूप से हित ध्रुवदास जी द्वारा वर्णित 'व्याहृले' में दृष्टव्य है<sup>२</sup>। इनके पश्चात् तो प्रायः सभी हित रसिकों ने श्री हित दंपति के नित्य नव विवाहोत्सव का वर्णन अपनी-अपनी वाणियों में किया है।

हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य ने श्यामा-श्याम को नित्य नव दंपति रूप में<sup>३</sup> लाड़ित तो किया ही है साथ ही रस लीला क्षेत्र में और प्रेम के उपासना क्षेत्र में नित्य विवाहोत्सव का विधान करके उपास्य-रूप सम्बन्धी इस मान्यता को मुखर मूर्त बना दिया है। परमोपास्य के नित्य नव-दाम्पत्य को परिलक्षित कराने के उद्देश्य से ही आचार्य चरण ने उनके प्रत्येक प्रीति विलास को प्रथम नेह<sup>४</sup> और प्रत्येक संगम को नव संगम<sup>५</sup> कहकर अपनी श्री राधा को अभिनव लज्जा और सरस मधुर भीति से भव्य नव वधू रूप में<sup>६</sup> चित्रित किया है।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ५६

२. पदा., हि. ध्रु. दा., प. सं. ८०, ८१

३. आजु अति राजत दम्पति भोर ।..... दम्पति अति अनुराग मुदित कल गान करत मन हरत परस्पर ।  
दम्पति रस समतूल ।..... खेलत रास दुलहिनी दूलहु ।.....

— हि. चौ., प. सं. ३१, ५, ३२, ६२

४. ....वधू गुपति गोवति कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती ।

—हि. चौ., प. सं. २०

५. [क] संकेत कुञ्ज निलये मृदु पल्लवेन । क्लृप्ते कदापि नव संगमयत्रपाढ्याम.....

[ख] श्री राधे नव संगमाय तरले पादांगुली पंक्तिषु ।.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ४२ और २२२

६. ....वधू कपट हठ कोप कहत कल नेति-नेति मधु बोल ।..... रुचिर राजत वधू कानन किशोरी ।  
..... खेलत रास दुलहिनी-दुलहु ।.....

— हि. चौ., प. सं. ३०, ६७, ६२



परमोपास्य की क्रीड़ा कुंजों में तो सखियों के मनोरथानुसार यह विवाहोत्सव होता ही रहता है, उपासना के क्षेत्र में भी अद्यापि श्री राधाबल्लभलाल जी के मन्दिर में तथा राधाबल्लभीय अन्यान्य मन्दिरों में उपासक के मनोरथानुसार किसी भी समय यह विवाहोत्सव मनाया जाता है।

### ५.१.२.३.२. प्रेमी और प्रेमास्पद रूप :

श्री हिताचार्य का परमोपास्य 'प्रेम' है। लोक में वह केवल सम्बन्धात्मक तत्त्व के रूप में विख्यात है। अर्थात् अतन स्वरूप में ही माना जाता है। उस प्रेम के रमणीय रूप का निकट निरावण दर्शन या दर्शनाभास एकमात्र प्रेमी और प्रेमास्पद रूप में ही सुनिश्चित है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य श्यामा-श्याम को प्रेमी और प्रेमास्पद रूप में प्रकीर्तित किया है।

### ५.१.२.३.२.१. प्रेम के धर्म और प्रेमी प्रीतम :

जैसा कि सर्व साधारण मानव जगत, सुधीजन, साधुजन और रसिकजनों को भी निम्नान्त और निरापद रूप में स्वीकार है कि प्रेमी अपने प्रेमास्पद-किंवा 'आसज्ज' का अनन्या-सक्त होता है। आसक्त हृदय रसाभिलाषी होता है। अपनी अनन्त अभिलाषाओं के कारण वह अभिलाषा पूरक अपने प्रेमास्पद के सुख में ही सुखी हुआ करता है। उसकी अनन्त अभिलाषायें स्वसुख स्पृहा न होकर केवल प्रेमास्पद को सुख पहुँचाने की अभिलाषायें होती हैं।

श्री हिताचार्य ने अपने नीलांबुद श्याम में ये सम्पूर्ण लक्षण देखकर ही उन्हें अद्वितीय किंवा आदर्श प्रेमी घोषित किया है। उनकी अनन्य प्रीति पर प्रकाश डालते हुए श्री हिताचार्य ने कहा है कि—

रङ्गीले श्यामसुन्दर का प्रेम अनेक पंकजों का पराग पान करने वाले मधुकर की भाँति नश्वर नहीं है। उनकी प्रीति निर्हेतुक निर्व्याज और सहज है, साधारण रूपाशक्ति नहीं हैं। वे श्री राधा मुख-कमल के अनन्य मधुकर हैं। इसीलिए नित्य नूतन रूप से रम्या अनन्त रमणी कुल के निकट होते हुए भी वे श्री राधा-रूप पर ही मड़राते रहते हैं। इसीलिए श्री हिताचार्य ने प्रीति-रीति का एकमात्र विज्ञाता रङ्गीले श्याम को ही बतलाया है—

प्रीति की रीति रङ्गीलौई जाने।

यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै॥

यमुना पुलिन निकुंज भवन में मान मानिनी ठानै।

निकट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहि न आनै॥

नश्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन आन सों बानै।

जै श्री हित हरिवंश चतुर सोई लालहि छाँड़ि मेड़ पहिचानै<sup>१</sup>॥

श्री हिताचार्य ने श्यामसुन्दर की अनन्यता, आधीनता और तत्सुखसुखिता पर अनेक लीला प्रसंगों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकाश डालकर उनके प्रेमी रूप को आलोकित किया है। ऐसी ही एक लीला विशेष में श्यामसुन्दर अपनी प्रियतमा श्री राधा-दर्शन प्राप्ति के उद्देश्य से सखियों से प्रार्थना करते हैं। उस प्रार्थना में वे स्वयं अपनी अनन्यता और अधीनता व्यक्त करते हैं। इस प्रेमी रूप प्रदर्शक प्रार्थना का सुमधुरगान श्री हिताचार्य ने इन शब्दों में किया है—

कहा कहीं इन नैननि की बात।

ये अलि प्रिया वदन-अम्बुज रस अटके अनत न जात।

जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात।

लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत सात।

श्रुति पर कंज दृगंजन कुच बिच मृगमद है न समात।

जै श्री हित हरिवंश नाभि-सर-जलचर<sup>२</sup> जाँचत साँवल गात<sup>३</sup>।

प्रेमी हृदय सहज अभिलाषामय होता है। रस की अनन्त पिपासा ही उसके रसिक रूप की प्रतीक है। प्रेमी श्यामसुन्दर की यह अनन्त अभिलाषायें तथा अतृप्त रस-पिपासा उन्हें प्रेमपात्र के समक्ष सर्वदा सर्वथा अधीन और दीन बनाये रखती है।

‘प्रेमी’ प्रेमपात्र के रूप पर आसक्त भी होता है और प्रेमपात्र का रूप उसका जीवन भी होता है। संभवतः इसीलिए लोक में मीन और भ्रमर को प्रेमी जगत का आदर्श माना गया है। मीन का जीवन जल होता है, वह उसके बिना जीवित नहीं रह सकती है, किन्तु उसकी उसमें आसक्ति नहीं होती है। भ्रमर कमल पर आसक्त होता है और इस आसक्ति से विवश होकर वह अपने प्राण भी उत्सर्ग कर देता है किन्तु कमल-गन्ध उसका जीवन नहीं होता। रसिक शेखर श्यामसुन्दर में यह दोनों ही बातें एक साथ सघन रूप में देखी जाती हैं। प्रेमपात्र श्री राधा का रूप उनका जीवन भी है और वे उस पर आसक्त भी हैं। संभवतः इसीलिए प्रेमोपासना-प्रवर्तक श्री हित प्रभु ने इन्हें एक साथ अलि और मीन कहकर प्रशंसित किया है।

१. हि. चौ., प. सं. ४१

२. यहाँ ‘जलचर’ से मीन का अर्थ ग्रहण किया गया है।

३. हि. चौ., प. सं. ६०



भ्रमर एक कमल का अनन्य नहीं होता है। वह भिन्न-भिन्न कमलों तथा अन्य कुसुमों का रस भी ग्रहण करता है। संभवतः इसीलिए इस रस और प्रेम रूप के सूक्ष्म दृष्टा श्री हिताचार्य ने श्यामसुन्दर के नेत्रों पर भ्रमर का आरोप करते हुए भी भ्रमर की इस लोलुप वृत्ति के फलस्वरूप उसके प्रेम को तो नश्वर बताया है,<sup>१</sup> किन्तु प्रीतम के नेत्र-भ्रमरों को एकमात्र प्रिया-वदन-कमल पर अनन्यासक्त, अन्यत्र कहीं न जाने वाला भ्रमर, कहकर उनके शाश्वत एवं चिरन्तन प्रेम तथा उनकी अनन्यता निर्दिष्ट की है। प्रेमी की यह अनन्यता ही उसे प्रेमपात्र के समक्ष सर्वथा आधीन बनाये रखती है और उसकी यह आधीनता ही उसे प्रेमपात्र के प्रति सर्वभावेन अनन्य। यही है प्रीति की रीति और इसके पूर्ण जानकार हैं प्रेमी प्रीतम।

प्रीतम की इस अनन्यता का चारु चित्रण करते हुए श्री हिताचार्य ने एक अन्य स्थल पर लिखा है कि हे श्री राधे ! परम प्रेमी श्याम सुन्दर तुम्हारे प्रेम में प्रमत्त होकर अपनी वंशी में तुम्हारे ही नाम का नित्य स्मरण करते रहते हैं और जागृति-सुषुप्ति और स्वप्नावस्था में भी एकमात्र तुम्हारे स्वरूप का ही ध्यान करते हैं। मुझे ससंकोच यह कहते हुए भय लगता है कि कहीं वे कीट-मृङ्ग की भाँति तुम्हारी आकृति ही न बन जाँय —

काहे कौं मान बढ़ावत है बालक मृग लोचनि।

हौंउव डरनि कछु कहि न सकत इक बात सँकोचनि।

मत्त मुरलि अन्तर तब गावत जाग्रत सैन तवाकृति सोचनि<sup>२</sup>।

एक अन्य स्थल पर श्री हिताचार्य ने श्री राधा और उनकी अन्तरंगा सखी के मध्य हुई वार्ता के माध्यम से श्यामसुन्दर की अद्भुत और आदर्श अनन्यासाक्त का वर्णन इस प्रकार किया है—

हे श्री राधे ! उन रसिक भ्रमर के नयन तुम्हारे मुख-चन्द्र विम्ब पर चकोर, श्री चरण-कमल पर मधुकर, जघन पुलिन में श्रेष्ठ खंजन, तुम्हारी रस सरसी में मीन, और आप के श्रीवपु जैसे सुख-अरण्य में हिरण होकर विचरते रहते हैं। अन्तराशय यह कि उनके नेत्र एकमात्र आप पर ही केन्द्रित रहते हैं—

चकोरस्ते वक्त्रामृत किरण विम्बे मधुकरस्तव श्री पादाब्जे जघन पुलिने खंजनवरः।  
स्फुरन्मीनो जातस्त्वयि रस सरस्यां मधुपतेः सुखाख्यां राधे त्वयि च हरिणस्तस्य नयनम्<sup>३</sup>।

१. प्रीति की रीति रैंगीलौई जानै।.... नश्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन आन सौं बानै।  
जय श्री हित हरिवंश चतुर सोइ लालहि छाँड़ि मेढ़ पहिचानै।

— हि. चौ., प. सं. ४१

२. हि. चौ., प. सं. ७४

३. रा. सु. नि., श्लो. २५१

एक अन्य स्थल पर उनकी परमोत्कृष्ट अनन्यता पर प्रकाश डालते हुए श्री हिताचार्य ने कहा है कि प्रेमी श्यामसुन्दर श्री राधा पर अपना सर्वस्व समर्पण करके सभी प्रकार से उनके आधीन बने रहते हैं, उन्हीं का नाम जपते हैं और उन्हीं का ध्यान करते हैं —

छाँडिदै मानिनी मान मन धरिवौ।

प्रणत सुन्दर सुघर प्राणबल्लभ नवल, वचन आधीन सौं इतौ कत करिवौ॥  
जपत हरि विवस तव नाम प्रतिपद विमल, मनसि तव ध्यान ते निमिष नहिं टरिवौ<sup>१</sup>॥

इतना ही नहीं प्रियतमा श्री राधा की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए वे उनकी दासियों के समक्ष भी काकुवाणी वद विनयावनत बने रहते हैं—

यस्यास्तेवत किंकिरीषु बहुशः चादूनि वृन्दाटवी

कन्दर्पः कुरुते तवैव किमपि प्रेम्सुः प्रसादोत्सवम्<sup>२</sup>॥

प्रेमी की यह अनन्यता इतना व्यापक रूप धारण कर लेती है कि वह अपने प्रेमपात्र के नाम और रूप तक ही सीमित नहीं रहती; उसे तो प्रेमपात्र द्वारा स्पर्शगत और दृष्टिगत सभी वस्तुयें भी अत्यन्त प्रिय व सुखद प्रतीत होने लगती हैं। ऐसी अनन्यता के आश्चर्यजनक चरम रूप का उद्गान श्री हिताचार्य की वाणी में ही सर्वप्रथम हुआ है। उन्होंने बताया है कि श्री राधा के वसनाञ्चल से प्रवाहित पवन भी प्रेमी प्रीतम को परम सुखद अनुभूत होता है और वे उस स्पर्श से अपने को कृतार्थ मानते हैं —

यस्याः कदापि वसनाञ्चल खेलनोत्थ, धन्याति धन्य पवनेन कृतार्थमानी।

योगीन्द्र दुर्गम गतिर्मधुसूदनोपि, तस्या नमोस्तु वृषभानु भुवोदिशेऽपि<sup>३</sup>॥

श्री हिताचार्य द्वारा प्रदत्त इन्हीं सूत्रों के आधार पर परम प्रेमी के इसी रमणीय रूप को ध्रुवदास जी ने “प्यारी जू की सारी अति प्यारी लागै प्रीतम कौं” कहकर दर्शाया है। अनन्य प्रेमी के इसी रूप का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं कि—जहाँ पर अलबेली नागरी अपने चरण-विन्यास करती हैं, श्यामसुन्दर उस कुंज में अपनी पलकों से बुहारी देते हैं। जिस स्थान पर उनकी परम प्रिया चरण रखती हैं, उस स्थान को एकटक देखते हुए वे विचारने लगते हैं कि हाय ! हाय ! इस स्थान पर मेरे प्राणों की भूमि क्यों न बन गई—

१. हि. चौ., प. सं. ८३

२. ३. रा. सु. नि. ९३, १

४. ब्या. ली., शृंगार सत तृतीय, हि. ध्रु.दा., छं. सं. १९



अलबेली नागरि जहाँ, धरत चरन छबि पुंज।  
 पलकनि की करि सोहनी, देत कुँवर तेहि कुंज॥  
 धरति भाँवती पग जहाँ, रहत देखि तिहि ठौर।  
 को समुझै यह सुख सखी, बिना रसिक सिरमौर॥  
 भरि आये दोउ नैन जहँ, रहे नेह बस झूमि।  
 तेहि-तेहि ठाँ काहे न भई, इन प्रानन की भूमि<sup>१</sup>॥

प्रेम की दीनता, अधीनता और अनन्यता इन तीनों के मूल में अनन्त रस पिपासा सन्निहित रहती है, जो उसकी अनन्यता आदि को नव-नव रूप प्रदान कर उन्हें क्षण-क्षण में चमत्कृत करती रहती है<sup>२</sup>। परम प्रेमी प्रियतम के नेत्रों का एकमात्र सहज आहार प्रियतमा का अनुपम रूप है और उस आहार में भाव-भेदों के अनेक व्यंजन है जो कि नेह-धृत से बनाये गये हैं। ऐसे अनन्त व्यंजनों का निरन्तर उपभोग करते हुए भी उनके नेत्रों की रसना कभी भी तृप्त नहीं होती, प्रत्युत उनकी रुचि बढ़ती हुई अपरिमित होती जाती है<sup>३</sup>। विशेष दृष्टव्य तो यह है कि वे अपनी रूप पिपासा को दो नेत्रों से देखकर भी जब संतुष्ट नहीं कर पाते, तब उनका प्रत्येक रोम-रोम ही नेत्र का रूप धारण कर लेता है<sup>४</sup>। इतना सब कुछ होने पर भी, प्रियतम के मन में यह संकल्प-विकल्प बना ही रहता है कि ऐसा रूप कभी जी भरकर क्यों नहीं देख पाया<sup>५</sup>। प्रीतम की इस लोलुपता को देखकर लालच भी अपने मन में लज्जित होती है<sup>६</sup>। हित ध्रुवदास जी इसका कारण अनुसंधान करते हुए अनुमान लगाते हैं—

ज्यों-ज्यों लाल देखे मुख, नैननि कौं तृषा होत ,  
 प्यारी जू कौ रूप, मानों प्यास ही कौ रूप है<sup>७</sup>।...

१. ब्या. ली., प्रेमावली लीला, हि. घु. दा., छं. सं. ६ से ८

२. सकृदपि मयि अधरामृत मुपनय सुन्दरि सहज सनेह।  
 तव पद पंकज कौ निज मन्दिर पालय सखि ममदेह॥

— हि. चौ., प. सं. ३३

३. नवल नवेली अलबेली सुकुमारी जू कौ, रूप पिय प्रानन कौ सहज अहार री।

— ब्या. ली., शृंगार सत, प्रथम, हि. घु. दा., छं. सं. ५०

४. प्रानन ते प्यारी सुकुमारी जू कौ देखत, बिहारी जू के रोम-रोम लोचन है जात हैं।

ज्यों-ज्यों रूप पान करै निमिष न चैन धरै, त्यों-त्यों प्यास बाढ़े अति क्यों हूँ न अघात हैं॥

— ब्या. ली., शृंगार सत, प्रथम, हि. घु. दा., छं. सं. ५१

५. हित ध्रुव पिय मन यहै सोच रहै दिन, ऐसी सुकुमारी क्यों हूँ देखी न अघाइकैं।

— ब्या. ली., शृंगार सत, तृतीय, हि. घु. दा., छं. सं. २६

६. देखि लाल के लालचहि लालच हू ललचाहि। नवल कटाक्ष तरंग रस पीवत हू न अघाहि॥

— ब्या. ली., आनन्दाष्टक, हि. घु. दा., छं. सं. ३

७. ब्या. ली., शृंगारसत, द्वितीय, हि. घु. दा., छं. सं. ४२

प्रेमी के रमणीय रूप को अभिव्यक्त करने में उसकी अतृप्त रस-पिपासा, उसकी दीनता, अधीनता [परवशता] और अनन्यता मूलभूत कारण तो हैं ही, किन्तु इन सब कारणों का भी मूल कारण उसकी आत्म-समर्पिति है। वस्तुतः उसका यह आत्म समर्पण ही उसे प्रेमपात्र के प्रति अनन्य दीन और अधीन बनाये रखता है। आत्म-समर्पण प्रेमी के तन-मन और प्राणों तक ही सीमित नहीं रहता, प्रत्युत वह तो अपने समर्पण को अर्पण करके प्रेमपात्र के समक्ष स्वयं को तथा अपने समर्पण को तुच्छ मानता है। फिर भी, इतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता। वह तो दृष्टा, दृश्य और दृष्टि का भी भेद मिटाकर अपने प्रेमपात्र में तन-मन प्राणों से घुल-मिल जाना चाहता है। प्रेम के इस महामहिम रूप के दृष्टा श्री हिताचार्य ने एक स्थल पर प्रेमपात्र की मुखोक्ति द्वारा ही प्रेमी के इस रमणीय रूप पर प्रकाश डाला है—

जोई-जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै, भावै मोहि जोई सोई-सोई करै प्यारे।  
मोकौं तौ भाँवती ठौर प्यारे के नैननि में प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे।।  
मेरे तन-मन प्राण हूँ तैं प्रीतम प्रिय अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसौं हारे<sup>१</sup>।.....

प्रेमी-हृदय में जहाँ एक ओर अभिलाषाओं की अनन्त ऊर्मियाँ होती हैं वहीं दूसरी ओर आत्म समर्पण भी सघन रूप में विद्यमान रहता है। सर्व साधारण की दृष्टि में यह दोनों एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रेम की तत्सुखसुखित्व प्रकृति इन दोनों को एक दूसरे के निकट और एक दूसरे का प्रकाशक बनाये रखती है। यह तत्सुख सुखित्व प्रकृति एक ओर उन्हीं अभिलाषाओं को जन्म देती है जिनसे प्रेमपात्र को सुख मिले, तो दूसरी ओर आत्म समर्पण के रूप को निखार देती है। वस्तुतः यह प्रकृति जितनी उद्दाम होगी, प्रेमी का आत्म समर्पण उतनी ही अधिकता से आलोकित होगा। कहना अनुचित न होगा कि यह तत्सुखसुखित्व ही श्यामसुन्दर में पूर्णरूप से विद्यमान है और यही उन्हें सर्वोत्कृष्ट प्रेमी के आसन पर आसीन किए हुए है। प्रेमपात्र प्रिया का रूप यदि प्यास का रूप है तो परम प्रेमी लाल का रूप रस तृष्णा का सघन स्वरूप है, किन्तु तत्सुखसुखित्व प्रकृति उन्हें इस रूप का विस्मरण करा देती है और वह केलि की चरमावस्था में प्रेमपात्र को श्रमित जानकर कह उठते हैं कि रुको, रुको, विश्राम करो, विश्राम करो—‘विरमि-विरमि नाथ वदति वर विहार री’<sup>२</sup> ध्रुवदास जी ने इसी सूत्र को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि प्रेमी श्यामसुन्दर की रूप-पिपासा अनन्त नेत्रों से प्रिया के रूप को देखने के लिए लालायित होती है, किन्तु प्रेमपात्र श्री प्रियाजी के कोमलांग मेरी दृष्टि के भार में कहीं दब न जाँय, इस भय से वे इच्छा रखते हुए भी अपनी प्रिया का रूप नेत्र भरकर नहीं देखते—



‘डीठि हू कौ भार जानि, देखत न डीठ भरि, ऐसी सुकुमारी नैन प्रान हू ते प्यारी है’<sup>१</sup>।

इनके इस तत्सुखसुखित्व का मधुर प्रभाव इतने तक ही सीमित नहीं रहता, प्रत्युत वह प्रेमी हृदय पर एक छाया [भूत] की तरह छा जाता है। तब प्रेमी हृदय आत्म-विस्मृत होकर प्रेमपात्र को सँभालने में निरत हो जाता है—

‘जेहि ओर पट अंग भूषन खिसत पिय, तेहि ओर मुरि-मुरि प्रान ज्यों सम्हारहीं।  
हितध्रुव प्रीतम के नाहिँ और दूजी गति, छिन-छिन तिनहीं के सुखहि सँभारहीं’<sup>२</sup>।

### ५.१.२.३.२.२. प्रेम के धर्म और प्रेमास्पद प्रिया :

यह परम सत्य है कि प्रेमी और प्रेमास्पद एक ही ‘प्रेम’ की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। दो रूप किंवा दो तन हैं। इसी प्रकार यह भी नितान्त सत्य है कि इन दोनों—प्रेमी और प्रेमपात्र—के हृदय में प्रीति का प्रकाश भिन्न-भिन्न रूप में होता है। प्रीति के इस प्रकाश-प्रकार की भिन्नता के कारण प्रीति रूप में भी भिन्नता दिखाई देती है।

‘प्रेमास्पद’ पूर्ण काम होता है। इस पूर्ण कामता के कारण वह निष्काम होता है तथा साथ ही परम औदार्य पूर्ण प्रकृति होता है। इन प्राकृतिक गुणों के कारण वह सदा गम्भीर होता है। प्रेमास्पद की दातव्यता प्रेमी के अभिलाषोदधि को निरन्तर तरंगायित किया करती है। श्री हरिवंशोदित प्रेमोपासना के क्षेत्र में प्रेमास्पदा श्री राधा हैं। प्रियतम के प्रति हृदयस्थ सहज अनुराग को गोप्य रखने के लिए वे सदा सचेष्ट बनी रहती हैं। उनका यह प्रीति संगोपन और स्वाभाविक लज्जा उन्हें प्रीतम के प्रति प्रतिकूल बनाये रखती है<sup>३</sup>। किन्तु उनकी उदारता और दान शीलता का स्वभाव-समीर उनके प्रेमोदधि को आन्दोलित कर देता है, तब वह विवशतः अपना स्वभाव भूल जाती हैं। परिणामतः प्रीतम के पूर्णानुकूल हो जाती हैं और उन्हें अपना सर्वस्व दे देती हैं। श्री हिताचार्य ने प्रेमास्पदा श्री राधा के प्रीति विवश रूप का चित्रण एक लीला प्रसंग में इस प्रकार किया है —

सुरतांत शोभा से समलंकृत श्री राधा अपनी अन्तरंगा सखी से कुछ मधुरालाप कर रही हैं। ‘सखी उन्हें सुरतांत चिह्नों से समलंकृत देखकर उनके अप्रतिम औदार्य और दातव्यता गुण गान के ब्याज से कह उठती है—

१., २. ब्या. ली., शृंगारसत प्रथम, हि. ध्रु. दा.,

३. [क] कामिनि कुटिल भृकुटि अवलोकत दिन प्रति पद प्रतिकूल।.....

[ख] किशलय दल रचित सैन बोलत पिय चाटु बैन, मान सहित प्रतिपल प्रतिकूल कामिनी।...

— हि. चौ., प. सं. ३०, ११

आजु तौ युवति तेरौ वदन आनन्द भस्चौ, पिय के संगम के सूचत सुख चैन।.....  
करुना करि उदार राखत कछु न सार, दसनवसन लागत जब दैन।।...

जो याचना करने पर देता है उसे उदार कहते हैं, किन्तु जो बिना याचना करने पर ही दानपात्र को बिना किसी यश कामना के अपना सर्वस्व दे डालता है, उसे अति उदार या महा उदार की संज्ञा दी जाती है। प्रेमपात्र श्री राधा में यह महा औदार्य प्रीति के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है।

प्रेमास्पदा श्री राधा की इस अद्भुत उदारता से सदा सतृष्ण प्रेमी श्यामसुन्दर तो रसतुष्ट, रसपुष्ट और रस तुन्दिल बनते ही हैं; प्रत्येक किंकरी, अनुचरी और सहचरियों के प्राण भी परम पोष पाते हैं। इसीलिए श्री हिताचार्य ने एक रासलीला प्रसंग में प्रेमास्पदा श्री राधा को 'सकल उदार नृपति चूड़ामणि' कहकर प्रशंशित किया है—

आजु वन नीकौ रास बनायौ।....

विविध विशद वृषभाननन्दिनी अंग सुधंग दिखायौ।

अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनंग नचायौ।

सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख वारिध बरसायौ।

परिरंभन-चुंबन-आलिंगन उचित जुवति जन पायौ१।

इसी महान उदारता और दानशीलता के परिणाम स्वरूप ही सकल लोक चूड़ामणि रसिक श्यामसुन्दर उनके क्रीत बने रहते हैं। सुरतांत की छबि का वर्णन करते हुए उनकी अंतरंगा सखी ने उनके इस रूप का उद्घाटन इस प्रकार किया है—

राधा प्यारी तेरे नैन सलोल।

तैं निजु भजन कनक तन जोवन लियौ मनोहर मोल।

अधर निरंग, अलक लट छूटी, रंजित पीक कपोल।

तू रस मगन भई नहिं जानत, ऊपर पीत निचोल।

कुच युग पर नख-रेख प्रगट मनीं शंकर सिर शशि टोल।

जै श्री हित हरिवंश कहत कछु भामिनि अति आलस सौं बोल१।

जैसा कि प्रेमी तथा रसिक जगत विदित प्रेमदेशीय विधान है कि प्रीति की अभिव्यक्ति प्रेमी में भिन्न प्रकार की और प्रेमास्पद में भिन्न प्रकार की होती है। प्रेमी श्यामसुन्दर अपनी अनुराग-ऊर्मियों को संयमित करने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं, क्योंकि इनकी प्रीति, वर्षा कालीन उच्छलित तरल तरंगिणी की भाँति वेगवती है। उनकी प्रीति-



सरिता में प्रबल वेग है तथा कोलाहल है। वह अपने अमोघ अजेय वेग से लोक-वेद की मर्यादा रूपी अपने तटस्थ पादप-पर्वतों को ध्वस्त करती चलती है। प्रेमास्पदा श्री राधा का 'प्रियतम प्रेम' गंभीर सागर के समान, असमान गम्भीर और गहरा है। उनके प्रीति-पयोधि में सरिताओं की तरंगों से कहीं अधिक सशक्त उत्तुंग ऊर्मियाँ उठती हैं, किन्तु प्रेमास्पदा श्री राधा की स्वरूपभूत गंभीरता और लज्जा उन्हें आत्मसात् कर लेती है। कभी-कभी इनके प्रेमार्णव में ज्वार उठता भी दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में श्री राधा अपनी अन्तरंगा सखी से एकान्त में अपने प्रीतम की प्रीति-महत्ता गान के साथ अपनी 'प्रीति' का भी प्रकाश कर बैठती हैं। श्री हिताचार्य ने उनकी मुखोक्ति को इन शब्दों में रमणीय बनाया है—

जोई जोई प्यारे करै सोई मोहि भावै, भावै मोहि जोई सोई-सोई करै प्यारे।  
मोकोँ तो भाँवती ठौर प्यारे के नैननि में, प्यारौ भयौ चाहे मेरे नैननि के तारे।  
मेरे तन-मन-प्राण हू ते प्रीतम प्रिय अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसौँ हारे<sup>१</sup>।

प्रेमास्पदा श्री राधा अपनी हृदयस्थ प्रीति को गोप्य रखने के लिए सदा सचेष्ट रहती हैं। उनकी यह चेष्टा कभी सफल भी होती है और कभी असफल भी। अर्थात् कभी वह अपनी प्रीति का संगोपन कर पाती हैं, कभी नहीं। प्रीति-संगोपन के असफल होने का एक कारण है, वह यह कि प्रेम का स्वरूपगत धर्म है— 'अपने प्रियतम के सुख में ही सुखी होना।' प्रेम धर्म का यह प्रबल प्रभाव श्री राधा को 'वामा' से दक्षिणा, अरवीली से सकुचीली और प्रतिकूल से अनुकूल बना देता है। ऐसी स्थिति में श्री राधा अपना देहानुसन्धान तक भूल जाती हैं और त्वरित गति से प्रीतम को अंकस्थ कर लेती हैं। श्री हिताचार्य की वाणी प्रेमास्पदा श्री राधा के ऐसे अनेकानेक सुचारु चित्रों से संभृत है; जिनमें से कतिपय चित्र निम्नांकित हैं —

चलि सुन्दरि बोली वृन्दावन।

कामिनि कण्ठ लागि किन राजहि तू दामिनि मोहन नूतन घन॥....

अतिशय प्रीति हुती अन्तरगति जै श्री हित हरिवंश चली मुकलित मन।

निविड़ निकुंज मिले रस सागर जीते सत रतिराज सुरत रन<sup>२</sup>॥

आजु मेरे कहँ चलौ मृगनैनी॥.....

जै श्री हित हरिवंश चली अति आतुर राधा रवन सुरत सुख दैनी।

रहसि रभसि आलिंगन चुम्बन मदन कोटि कुल भई कुचैनी<sup>३</sup>॥

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।

तो बिनु कुँवर कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर।  
जै श्री हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर<sup>१</sup>॥

वेगि चलहि उठि गहर करत कत निकुंज बुलावत लाल।  
हा राधा राधिका ! पुकारत निरखि मदन गज ढाल॥  
जै श्री हित हरिवंश चली अति आतुर श्रवन सुनत तिहि काल।  
लै राखे गिरि कुच बिच सुन्दर सुरत सूर ब्रजवाल<sup>२</sup>॥

बैठे लाल निकुंज भवन।.....

वृथा गहर कत करति कृशोदरि कारन कवन॥  
चपल चली तन की सुधि बिसरी सुनत श्रवन।  
जै श्री हित हरिवंश मिले रस लम्पट राधिका रवन<sup>३</sup>॥

प्रेम एक ओर अत्यन्त सीधा [सरल] होता है तो दूसरी ओर वक्र गति होता है इसीलिए प्रेम में कुटिलता और करुणा दोनों एक साथ परिलक्षित होती हैं और प्रेमपात्र में इन दोनों के दर्शन हुआ करते हैं। कुटिलता प्रेमपात्र को प्रतिपद प्रतिकूल बनने के लिये बाध्य करती है; तो करुणा उसे सर्वथा अनुकूल बनने के लिये कुटिलता और करुणा दोनों भाव प्रेम की तत्सुखसुखित्व प्रकृति के इङ्कित पर समयानुकूल आविर्भूत होते हैं। यही कारण है कि प्रेमपात्र श्री राधा में “मैं अपने प्रियतम को कभी सुखी नहीं कर पाती” यह भाव स्थाई रूप से देखा जाता है। वह प्रतिक्षण इसी संकल्प-विकल्प में [प्रीतम के ही हित-चिन्तन में] निमग्न रहती हैं— कि जब मैं प्रीतम के अनुकूल होती हूँ तो वे क्षणिक देर में ही रस तुन्दिल होकर रसोन्माद से अत्यधिक रस विवश हो जाते हैं। और जब प्रतिकूल होती हूँ तो वे रस तृषा की ताप से संदग्ध हृदय, अत्यन्त कातर हो जाते हैं। इसी संकल्प-विकल्प के फलस्वरूप अथवा अपनी तत्सुखसुखित्व प्रकृति की प्रेरणा से वे कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल दिखाई देती हैं। मेरी अनिर्वचनीय छबि-माधुरी को देखकर प्रीतम विवश हो जावेंगे इस चिन्ता से चिन्तित होकर वे [राधा] अपने अङ्गों को विविध वस्त्रामूषणों से आच्छादित कर उन्हें रस-विवश होने से बचाने का प्रयास करती हैं, किन्तु फिर भी वे असफल ही रहती हैं। तत्सुखसुखिता का यह भाव उनके प्रेमपात्र रूप को और भी अधिक निखार देता है। एतत् संबंधी ध्रुवदास जी की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —



अदभुत छबि की माधुरी, चितै विवश है जाहिं।

यहै सोच प्रिय प्रेम कौ, रहत प्रिया मन माँहिं॥

छबि के छिपाइवे कौं रस के बढ़ाइवे कौं, अंग-अंग भूषन बनाये हैं बनाइकैं।  
देखे नासापुट वेह प्रीतम भये विदेह, याही हेत बेसर बनाइ धरी चाइ कै॥

तथा —

परी है कठिन अति नवल किशोरी जू कौं, छिन-छिन नई छबि कहाँ लों छिपावहीं।  
जोई अंग प्रीतम की दीठि सों परस होत, नीरज से नैना नीर भरि-भरि आवहीं।  
हित ध्रुव अधिक विवश भये जातपिय, ताही हेत सुकुमारी जतन बनावहीं।  
और अंग राखे पट भूषननि में दुराइ, लोचन चपल चल कहे में न आवहीं॥

जब श्री राधा के चंचल नेत्र उनके कहने में नहीं आते और वे उनकी शोभा को छिपाने में अपने को असमर्थ पाती हैं, तक किंकर्तव्यविमूढ हो जाती हैं तथा उनके विशाल नेत्र प्रेम-जल से पूरित हो जाते हैं—

प्रीतम की प्रेम-गति देखैं भूली तन गति, बड़े-बड़े नैना दोऊ आये प्रेम जल भरि।  
प्रिया लाल-लाल ! कहि लये लाइ उरजन, चूमि-चूमि नैना रही अधर दशन धरि॥

श्री राधा का श्री अंग जितना कोमल है, उनका हृदय उससे भी कहीं अधिक मृदुल है, क्योंकि तत्सुखसुखिता की प्रकृति वाली प्रीति का महा मृदुल रूप यहीं पर तो छिपा रहता है। हृदय के इस निरतिशय मार्दव के कारण उन्हें प्रत्येक क्षण अपने प्रियतम के सुख का विशेष चिन्तन बना रहता है और इसीलिए वे उन्हें फूल और पान की भाँति क्षण-क्षण सम्हाले रहती हैं —

फूल पान ज्यों राखहीं ढाँपि प्यार के चीर।

छिन-छिन तिनकौं छिरकहीं नेह कटाक्षनि नीर॥

श्री राधा अपनी अनियारी आँखों में रुचिर अंजन लगाकर मुकर में उसे देखती हैं। उनकी दृष्टि जैसे ही कज्जलरेख की अनी पर पड़ती है वैसे ही उन्हें अपने प्रियतम की मानसिक मृदुलता का स्मरण हो आता है और वे सोचने लगती हैं कि मेरी आँखों की कज्जल रेख की इस अनी की चोट—प्रीतम का कोमल हृदय कैसे सहन कर सकेगा—

मुकर पानि लिये लाड़िली, बैठी सहज सुभाइ।  
अनियारी अँखियन दियौ, अंजन रुचिर बनाइ॥  
सोचि रही तिहि छिन कछू, इत उत चितवत नाँहि।  
प्रीतम मन की मृदुलता गड़ी आइ मन माँहि<sup>१</sup>॥

प्रेमपात्र की गंभीरता का अन्य कारण उसकी प्रीति संगोपन प्रकृति है, जो उसे निरन्तर सलज्ज बनाए रखती है। यह सहज सलज्जता उसकी प्रीति संगोपन प्रवृत्ति को और प्रीति संगोपन प्रवृत्ति उसकी सहज प्रकृति को आलोकित किये रहती है और दोनों मिलकर प्रेमपात्र श्री राधा को [प्रकट में] प्रतिपद प्रतिकूल बनाये रखती हैं।

श्री हिताचार्य ने प्रेम के इन दोनों अंगों— “प्रेमी और प्रेमपात्र” का स्वरूप चित्रण करते हुए “राधासुधानिधि नामक ग्रन्थ में लिखा है कि उनमें से एक स्वर्णचंपक छवि वाला है, तो दूसरा नीलाम्बुद श्यामांग है। एक बाहर से अनुकूल नहीं ही है अर्थात् प्रतिकूल है, तो दूसरा कंदर्प से तरल है। एक मान की भङ्गियों से विभूषित है, तो दूसरा “काकु चाटु वाणी वद विनयावनत” है। ऐसे महामोहन युगल निकुञ्ज की सीमान्तर्गत क्रीड़ा में रत हैं [रा. सु. नि. श्लो. १६६]। एक अन्य स्थल पर प्रतिकूलता का चित्र उपस्थित करते हुये प्रेमपात्र के रमणीय रूप का दर्शन इस प्रकार कराया है—

कामिनि कुटिल भृकुटि अवलोकत दिन प्रतिपद प्रतिकूल।

आतुर अति अनुराग विवश हरि धाइ धरत भुज मूल<sup>२</sup>॥

तथैव -

किसलय दल रचित सैन बोलत पिय चाटु बैन, मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी<sup>३</sup>

प्रेमी हृदय कभी तृप्त नहीं होता। उसकी यह अतृप्ति प्रेमपात्र को [बाहर से] दिन प्रतिदिन, प्रतिपद, प्रतिकूल बने रहने के लिए विवश करती है। इसीलिये वह प्रेमी के प्रत्येक प्रस्ताव का निषेध कर देता है। यह निषेध ही तो रसिक-चित्त को रसप्लावित करता है, क्योंकि प्रेम राज्य में यह “ना” “ना” ही “हाँ” “हाँ” है। यह नकारात्मकता ही स्वीकृति की वाचक है—

नागर नीवी बंधन मोचत ऐंचत नील निचोल।

बधू कपट हठि कोप कहत कल नेति-नेति मधु बोल<sup>४</sup>।

नेति-नेति वचनामृत सुनि-सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी<sup>५</sup>।

१. ब्या. ली., प्रेमावली लीला, हि. घु. दा., छं. सं. ३१-३२

२. से ५ हि. चौ., प. सं. ३०, ११, ३०, ७



श्रीहिताचार्य की वाणी का अवलम्ब लेकर अन्य हितानुगतों ने भी श्रीराधा की प्रतिपद-प्रतिकूल प्रकृति को अपने-अपने ढंग से उद्घाटित किया है। व्यासजी कहते हैं कि—

नागर नीवी बन्धन मोचत, चरण गहि करत निहोर।

नागरि नेति-नेति वच कहि कर पेलत गहि डोर<sup>१</sup>।।

सूक्ष्म दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो सौन्दर्य और माधुर्य वस्तुगत न होकर दृष्टा अथवा भोक्ता की चाह और रुचि के अनुकूल होता है और उसकी इस रुचि और चाह का मूलाधार उसकी ही रति होती है। रति का विषय जब परोक्ष रहता है अथवा अनुकूल नहीं रहता है तब रति वेग तीव्र हो जाता है, जो प्रेमी की चाह और चटपटी के रूप में प्रत्यक्ष होता है और संयोग या अनुकूल के क्षणों में उसमें [रति में] शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। इस आधार पर यह कहना अत्युक्ति न होगा कि प्रेमपात्र [रति के विषय] की प्रतिकूलता ही प्रेमी की चाह, चटपटी और रति की बर्द्धनशीलता का कारण है।

प्रेमी श्यामसुन्दर प्रेमपात्र श्री राधा की दिन-प्रतिपद-प्रतिकूल प्रकृति से संपूर्णतः परिचित हैं। अतः वह ऐसे अवसर खोजते हैं कि अन्य किसी कारण से ही राधा के अङ्ग सांस्पर्श का सुख मिल जावे। अकस्मात् श्री राधा की बेसर उनकी अलक से उलझ जाती है। बस, प्रीतम इस शुभ अवसर से कब चूकने वाले थे। उन्होंने उसे सुलझाने के बहाने और अधिक उलझा दिया। इस प्रकार बहुत देर तक अङ्ग-स्पर्श से सुख लेने का कारण बना लिया। नागरी किशोरी उनकी इस प्रवीणता को समझ गई और तब उनके हाथ को झटक कर दूर कर दिया तथा प्रीतम की ओर से इतनी सचेत [सतर्क] हो गई कि प्रीतम उनके जिस अङ्ग को नेत्र द्वारा भी स्पर्श करना चाहते हैं, वे उस अंग को वसनों से आच्छादित कर लेती हैं। रसिकवर हित ध्रुवदास जी का यह वर्णन उस छबि का निकट दर्शन है—

बेसर अरुझी अलक सौं, शोभा बढी सुभाइ।

पिय निरवारन व्याज कै, दर्द अधिक उरझाइ।।

सुन्दर रूप निधान, परम चतुर नागरि प्रिया।

लयौ झटकि पिय पानि जानि चतुरई लाल की।।

जो अँग चाहत रसिक पिय, इन नैनन सौं छावै।

सो ठाँ सुन्दरि पहिलही, राखत वसन दुराइ<sup>२</sup>।।

१. व्या. वा., ह. व्या., उत्तरार्ध, प. सं. २८२

२. व्या. ली., हित शृंगार लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ३८ से ४०

प्रेमपात्र श्री राधा अपनी प्रीति का संगोपन करने में इतनी अधिक पटु हैं कि वह अपनी अन्तरङ्गा सखी के सामने भी अपनी प्रीति को प्रकाश में नहीं आने देती। तब अन्तरंगा सखी उनसे मधुर परिहास करते हुये कह ही बैठती है—

अपनी बात मोसौं कहि री भामिनी, औंगी मौंगी रहति गरव की माती।  
हौं तोसौं कहति हारी सुनि री राधिका प्यारी, निशि कौ रंग क्यों न कहति लजाती<sup>१</sup>।।  
तथैव —

मोहनलाल के रस माती। वधू गुपति गोवति कत मौसौं प्रथम नेह सकुचाती<sup>२</sup>।।

रति-संगोपन में कुशल श्री राधा की प्रीति प्रकाश करने की बात तो दूर रही, वे तो कुञ्जबिहारी से मिलना भी स्वीकार नहीं करती। तब वह अन्तरंगा सखी कहती है कि— हे राधे ! तुम स्वीकार करो या न करो, तुम्हारे नेत्र स्वयं कहते हैं कि तुम्हें कुञ्जबिहारी अवश्य मिले हैं अर्थात् तुमने रसिक श्यामसुन्दर के साथ कुंज में विहार अवश्य किया है—

तेरे नैन करत दोउ चारी। अति कुलकात समात नहीं कहूँ, मिले हैं कुञ्जबिहारी<sup>३</sup>।।

‘प्रीति’ वस्तु ही ऐसी है जो छिपाई नहीं जा सकती और वह भी ऐसी प्रीति जो समुद्र की भाँति उच्छलित हो रही है उसे छिपाना तो नितान्त असम्भव है। इसीलिये वह श्री राधा के द्वारा शब्दतः स्वीकार न करने पर भी क्रिया द्वारा फूट ही निकलती है। शरदरात्रि में निभृतकुञ्ज में विलास करने के लिये श्यामसुन्दर, श्री राधा को वेणुवादन द्वारा बुला रहे हैं और वह जाना भी चाहती हैं, किन्तु “स्वयमेव चलने से प्रीति का प्रकाश होगा” ऐसा सोचकर बैठी ही रह जाती हैं। अन्तरंगा सखी उनकी हार्दिक प्रीति को जानती है और साथ ही यह भी जानती है कि वे प्रीति का प्रकाश नहीं करना चाहती। अतः तत्सुखसुखी सखी कह उठती है कि अच्छा, आज तुम मेरे कहने से ही चलो; लेकिन चलो—

आज मेरे कहैं चलौ मृगनैनी। गावत सरस युवति मंडल में पिय सौं मिलैं भलैं पिकबैनी<sup>४</sup>।

प्रेमी और प्रेमास्पद ये दोनों एक ही ‘प्रेम’ की दो मूर्तियाँ हैं और प्रेम के सम्पूर्ण धर्म दोनों मूर्तियों में समान रूप से प्रत्यक्ष रहते हैं। जिस प्रकार प्रेमी श्यामसुन्दर, श्री राधा के प्रति सर्वात्मना समर्पित के साथ अनन्य बने रहते हैं उसी प्रकार प्रेमास्पदा श्री राधा भी अपने प्रीतम के प्रति पूर्ण समर्पित के साथ अनन्य हैं। यद्यपि वह प्रीतम को रस वैवश्य से सुरक्षित रखने की दृष्टि से बाहर से प्रतिकूल ही बनी रहती हैं किन्तु



प्रीतम के प्रति उनकी अनन्य प्रीति उन्हें सदा सर्वदा अन्तर से अनुकूल ही बनाये रखती है। तभी तो प्रीतम की प्रत्येक क्रिया उन्हें प्रिय, प्रियतर और प्रियतम लगती हैं और प्रीतम की प्रीति का उत्कर्ष गान करने के लिए वे विवश हो जाती हैं—

जोई-जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै, भावै मोहि जोई सोई-सोई करै प्यारे<sup>१</sup>।

नन्द के लाल हस्थौ मन मोर।

हौं अपने मोतिनु लर पोवति काँकरि डारि गयौ सखि भोर<sup>२</sup>।

इतना ही नहीं, अपनी प्रीति संगोपन में कुशल, गम्भीर प्रकृति श्री राधा अपना स्वभाव भूलकर अपने स्वरूप के विपरीत मुखर हो उठती हैं और अनन्य प्रीति के शब्दों के माध्यम से इस प्रकार प्रकट कर देती हैं—

प्रीतम मेरे प्राणन हूँ ते प्यारौ

निशि-दिन उर लगाये रहौं हित सौं नैंक न करिहौं न्यारौ॥

देखत जाहि परम सुख उपजत रूप रंग गुण गारौ।

जै श्री कमलनयन हित सुनि प्रिय बैनन तन-मन-धन सब वारौ<sup>३</sup>।

श्री राधा की प्रीतम के प्रति इसी अनन्यता को चाचाजी ने निम्नांकित पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है —

प्रीतम तुम मेरे दृगन बसत हो।

कहा भोरे है पूछत हो कै चतुराई करि जु हँसत हो।

लीजिये परखि स्वरूप आपनौ पुतरिन में प्यारे तुमहि लसत हो<sup>४</sup>।

प्रीतम के प्रति उनकी ऐसी अनन्यता क्यों न हो, उनके लिये भी तो वे प्राणों से प्यारी हैं, क्योंकि वे मृदुता, दयालुता, कृपालुता आदि की सहज एवं साकार मूर्ति हैं। क्रोध जिनके मानस-पटल को भूलकर भी स्पर्श नहीं कर पाता। जिनका हृदय सदैव प्रसन्नता से परिप्लावित एवं उत्फुल्ल रहता है तथा जिनके मधुर ओष्ठपुट सदा हास्यानुरंजित रहते हैं। ध्रुवदास जी ने श्री राधा में निहित प्रेमपात्र की इन विशेषताओं को एक ही पद्य-सूत्र में संजोने का सुष्ठु एवं सफल प्रयास किया है—

सहज सुभाव परचौ नवल किशोरी जू कौ, मृदुता, दयालुता, कृपालुता, की रासि हैं।  
नेक हू न रिस कहूँ भूलि हू न होत सखि, रहत प्रसन्न सदा हिये मुख हाँसि है॥

१. से २. हि. चौ., प. सं. १, १३

३. क. नै. जी गो. की वा., क. नै. जी गो., प. सं. ३०

४. स. प्र., एकादश, चा. वृ. दा., प. सं. १९७

ऐसी सुकुमारी प्यारे लाल जू की प्रान प्यारी, धन्य धन्य धन्य तेई जिनके उपासि हैं।  
हित ध्रुव और सुख देखियत जहँ लगि, सुनियत तहँ लगि सबै दुख पासि हैं<sup>१</sup>।

### ५.१.२.३.३. रस और रसिक रूप :

श्री हिताचार्य का परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' है। रस-स्वरूप की परिचायक परिभाषा रस शास्त्रों में इस प्रकार दी गई है—रस्यते [आस्वादते] एवं रसयति [आस्वादयति] इति रसः। सुस्पष्टार्थ यह कि जो आस्वाद किया जाता है, वह [आस्वाद्य] रस है और जो आस्वादन करता है वह [आस्वादक] रस है। इस अर्थ के प्रकाश में रस को देखने पर यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि रसस्वरूप की पूर्णता रसिक रूप की भी अपेक्षा रखती है। इस अकाट्य तथ्य को इन शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है कि रस और रसिक रूप की एक साथ अभिव्यक्ति ही रस की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

रस और रसिक स्वरूप में अभिव्यक्त 'रस' की उपासना ही रसोपासना है। अथवा आस्वाद्य और आस्वादक रूप में नित्य अभिव्यक्त 'रस' की उपासना ही रसोपासना है। स्वेष्ट को 'रस' कहकर और स्वयं उसका आस्वादक भक्त बनकर भगवान की उपासना करना रसोपासना नहीं वह तो भगवदुपासना है।

रसिकवर श्याम, रस मूर्ति श्यामा की नखशिख माधुरी, उनकी प्रीति माधुरी और उनके औदार्य आदि गुणों की माधुरी का आस्वाद लिया करते हैं। इसी प्रकार रसिकनी श्यामा, प्रीतम श्याम की अंग माधुरी भावपूर्ण लाड़-माधुरी और अनन्याशक्ति पूर्ण प्रीति-वशता-माधुरी का आस्वादन किया करती हैं। इस प्रकार दोनों ही रस और दोनों ही रसिक रूप में नित्य प्रत्यक्ष रस-क्रीड़ा किया करते हैं। इसीलिए श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य को 'रस' और 'रसिक' रूप में लाड़ित और प्रकीर्तित किया है। उन्होंने रस लीलाओं में प्रत्यक्ष लीला-ललित रूप श्यामा-श्याम को कहीं दोनों को एक साथ रस और रसिक रूप में तथा किसी स्थल पर पृथक-पृथक रस तथा रसिक रूप में प्रकीर्तित किया है। यथा—

दोनों रसिक रूप -

क्षणं मधुर गानतः क्षणममन्द हिन्दोलतः। क्षणं कुसुम वायुतः सुरत केलि शिल्पैः क्षणम्।  
अहो मधुर सद्रस प्रणय केलि वृन्दावने। विदग्ध वर नागरी रसिक शेखरौ खेलतः<sup>२</sup>।  
करे कमलमद्भुतं भ्रमयतोर्मिथोसार्पित स्फुरत्पुलक दोलता युगलयोः स्मरोन्मत्तयोः।  
सहासरसपेशलं मद करीन्द्र भङ्ग शतैर्गतिं रसिकयोर्द्वयो स्मरत चारु वृन्दावने<sup>३</sup>।

१. ब्या. ली., शृंगारसत तृतीय, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ४५

२. से ३. रा. सु. नि., श्लो. सं. १६६, १७१



दोनों रस रूप -

सान्द्रानन्दोन्मद रस घन प्रेम पीयूष मूर्तेः श्री राधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुंज तल्पे<sup>१</sup>।

श्री राधा-रस रूप -

काचिद् वृन्दावन नव लता मन्दिरे नन्दसूनोर्दृप्यदोष्कंदल दृढ परीरम्भनिष्पंद गात्री।  
दिव्यानंताद्भुत रसकलाः कल्पयन्त्याविरास्ते सान्द्रानन्दामृत रसघन प्रेममूर्तिः किशोरी<sup>२</sup>।

[ एवमपि—रा. सु. नि., श्लो. १९८, १९९, २०३, २०४ ]

श्री श्याम का एक साथ रस और रसिक रूप -

रस घन मोहन मूर्ति विचित्र केलि महोत्सवोल्लसितम्  
राधा चरण विलोडित रुचिर शिखण्डं हरिं वन्दे<sup>३</sup>।

जमुना पुलिन रसिक-रससागर रास रच्यौ वन माँहीं<sup>४</sup>।

स्वामिनी श्री राधा का एक साथ रस और रसिक रूप -

जै श्री हित हरिवंश रसिक रस जुवती तू लै मिलि सखि प्रान अँकोर<sup>५</sup>।

५.१.२.३.४. प्रतिक्षण नवल रूप :

५.१.२.३.४.१. लोक जीवन में प्रेम :

‘प्रेम’ ऐसे दो हृदयों में ही उत्पन्न होता है जो सधर्मा, सम जाति, सम वर्ण, सम पद, सम रुचि और समान वय हों। लोक में अलि, पतंग, गज, मीन, मृग, चात्रक, चकई और चकोर इन आठों को आदर्श प्रेमी और इनके प्रेम को आदर्श प्रेम कहकर स्मरण किया जाता है। किन्तु ये आठों ही प्रेम स्वरूप से पूर्ण परिचित महानुभावों की दृष्टि में प्रेमी न होकर ऐन्द्रिक विषयों के रज्जु में बँधे हुये विषयाशक्त मात्र हैं<sup>६</sup>। क्योंकि इन सबका प्रेम सकारण है, ये सभी असजाती भी हैं और इन सबका प्रेम एकांगी है। चकोर चन्द्रमा को प्यार करता है किन्तु चन्द्रमा चकोर को नहीं, भ्रमर कमल को प्यार करता है किन्तु कमल भ्रमर को नहीं। इसी प्रकार मीन तो जल से प्यार करता है किन्तु जल मीन को नहीं। इस प्रकार लौकिक सभी प्रकार के प्रेम और सभी प्रकार के प्रेमी प्रेम स्वरूप की कसौटी में पूरे या खरे नहीं उतरते। अतएव इनके प्रेम को ‘प्रेम’ का कोई कण या प्रेम का कोई अंशाभास तो कहा जा सकता है, परिपूर्ण या निर्विशेष प्रेम का अपना सहज रूप नहीं।

१. से ३. रा. सु. नि., श्लो. सं. २१२, १४५, २००,

४. ५. हि. चौ., प. सं. ६३, १३

६. गज पतंग अलि मीन मृग चातक चकई चकोर। ये सब झूठे नेह में बँधे विषय की डोर।।

— ब्या.ली., प्रीति चौवनी, हि. छ. दा., छं. सं. १६

लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक वृद्ध ब्राह्मण अपने कुमार बालक को लेकर किसी ऐसे स्थान पर पहुँचता है जहाँ पर वैश्य, चमार तथा क्षत्रियों के कुमार बालक खेल रहे थे। ब्राह्मण बालक अपने पिता का हाथ छुड़ाकर उन बालकों के साथ खेलना चाहता था किन्तु वृद्ध ब्राह्मण उसे अपनी ओर खींच रहा था। बालक उन बालकों के पास क्यों जाना चाहता था ? वृद्ध ब्राह्मण पिता उसे क्यों रोक रहा था बात बहुत स्पष्ट है कि उस बालक और क्रीड़ास्थल में खेल रहे बालकों की वय, रुचि और खेलना धर्म मिल गया था; अतः उन बाल हृदयों में प्रेमोदय हो गया था। वृद्ध ब्राह्मण की रुचि, वय और धर्म उन सबके विपरीत था। अतः वह स्वयं और अपने बालक को उनसे दूर रखना चाहता था।

किसी ऐसे जन संकुल बृहद मेले में पहुँचने पर बालक; बाल मण्डली को, तरुण; तरुण मण्डल को, साधु; साधु को, नशे बाज; नशे बाज को, दुश्चरित्र; दुश्चरित्र व्यक्ति को ढूँढता है। विपरीत रुचि, विपरीत वय या विपरीत धर्म वाले को नहीं। लोक के इस सहज अनुभव के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'प्रेम' समान धर्मा, सम वय, सम रुचि, सम गुण, सम पद और समान जाति में ही उत्पन्न होता है।

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक राजा किसी साधारण व्यक्ति से प्यार करता है किन्तु उनका प्रेम सकारण होने के कारण ससीम कालिक होता है। किसी समय वही राजा उस पर कुपित होता है और उसे दण्डित कर देता है। क्यों? बात बहुत स्पष्ट है कि राजा का उस व्यक्ति से प्यार था ही नहीं; उस पर तो राजा की विशेष कृपा दृष्टि थी और छोटे व्यक्ति की राजा पर अपार श्रद्धा।

### ५.१.२.३.४.२. भक्ति साहित्य में प्रेम :

उपासना के क्षेत्र में अलौकिक और लौकिक इन दो रूपों की सम्प्रतिष्ठा सर्वमान्य है। अलौकिक रूप वह है जो लोक-जन मानस की दृष्टि से अलक्ष्य किन्तु रूप, रंग, नाम धाम और एक परिकर विशेष के साथ एक-एक धाम में विराजमान रहता है। जैसे—बैकुण्ठाधिपति, क्षीरशायी विष्णु, नारायण तथा गोलोकाधिपति। 'अलौकिक प्रेम' के नाम से प्रकीर्तित भगवान् प्रेम भी मूलतः भक्ति संज्ञक ही कथनीय है। क्योंकि भक्त और भगवान् भी न तो सधर्मा हैं, न सजाति, न समरुचि हैं, न समवय, न समपद हैं और न सम शक्तिवान्।

भगवान् निश्चित रूप से पूर्ण निष्काम, अंशी, धर्म रक्षक, सृष्टिकर्ता, पालक, संहारक और कृपासिन्धु हैं। किन्तु भक्त सुनिश्चित रूप से अपूर्ण, अंश, सकाम, पालित, कृपाकांक्षी, अशक्त और जीव संज्ञक हैं। इस प्रकार समी प्रकार से असाम्य होने के कारण



उन दोनों के बीच सहज प्रेम का आविर्भाव सर्वथा असम्भव है। यही कारण है कि भक्त आज भी यही अनुभव करता है कि—

यह अभिमान जाहु जिन मोरे। मैं सेवक रघुपति प्रिय मोरे<sup>१</sup>।।

उपासना क्षेत्रीय लौकिक रूप वह रूप है जो त्रेता, द्वापरादि में इस मानव जगत में राम-कृष्ण आदि नाम से अवतरित हुआ था और जिसने साधारण मानव के मध्य रहकर सहज मानवीय चरित्र किये थे।

भक्ति शास्त्रों में इन दोनों प्रकार के 'उपास्य' रूपों के अनेक नाम, अनेक अद्भुत और मन मोहक चरित्र, अद्भुत महिमा और मनोभिरामिनी लीला क्रीड़ाओं के वर्णन प्राप्त होते हैं। उन रूपों की वय के अनुसार या लीला विशेष के अनुसार कुछ रूप भेद भी पाये जाते हैं। यथा—बालकृष्ण रूप, गोवर्धन धारी रूप, गोपीजनबल्लभ रूप, मुरलीधर रासविहारी रूप। किन्तु सूक्ष्म विचारक की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि ये भिन्न-भिन्न नामाभिषिक्त रूप श्री कृष्ण के रूप की नवीनता या रूप के आकार प्रकार की भिन्नता प्रकट नहीं करते, प्रत्युत एक ही रूप से हुई अनेक लीलाओं को प्रकट करते हैं। भगवान् स्वयं अनन्त रूप से प्रकीर्तित हैं ऐसा कहा जा सकता है किन्तु उनके रूप की यह अनन्तता केवल उनके रूप की अनेकता ही प्रमाणित करती है; किसी रूप विशेष की नित्य नूतनता नहीं।

उपासनीय सगुण स्वरूपों में इस नित्य नूतनता के सर्वथा अदर्शन होने का कारण है—लोक-वेद की मर्यादा किंवा लौकिकता और अलौकिकता का अदम्य आलोक। यह नित्य नूतनता धर्म, निर्गुण-सगुण सीमा से सर्वथा अछूता, लोक-वेद की सीमाओं को तोड़कर सर्वतंत्र स्वतंत्र क्रीड़क, लौकिकता और अलौकिकता से सदा असंपृक्त 'प्रेम' किंवा 'रस' का धर्म है—भगवान् का धर्म नहीं। यही कारण है कि उनके नाम, रूप, गुण चरित्र या लीला प्रकाशक किसी ग्रन्थ में किसी भी उद्गाता ने यह उल्लेख नहीं किया है कि श्री विष्णु-नारायणादि भगवान् उस समय में उस व्यक्ति के द्वारा नये-नये रूप में देखे गये थे। या अमुक धाम में अमुक स्वरूप अपने परिकर के सामने नये-नये रूपों में प्रत्यक्ष होता रहता है।

इसी प्रकार बाल्मीकि रामायण, महाभारत, श्री मदभागवत आदि पुराणों में तथा सम्प्रदाय चतुष्टयाचार्य के ग्रन्थों में, श्री बल्लभ, चैतन्य, विल्वमंगल, जयदेव, सूर-तुलसी और मीरा आदि भक्तों के द्वारा वर्णित श्री राम चरित्र या श्री कृष्ण लीलाओं में ऐसा

एक भी वर्णन नहीं मिलता कि माता कौशल्या को, माता जानकी को, लक्ष्मण या हनुमान जी को श्री राम नित्य नये रूप में दिखाई देते थे; या माता जसोदा, नन्द सुबल आदि सखाओं तथा ब्रजगोपियों को, किसी राधा नामक विशेष गोपी को, श्री कृष्ण का रूप प्रतिक्षण नये रूप में दिखाई देता था।

वस्तुतः नित्य नवल रूप होना उस 'प्रेम' का ही धर्म है जो कि प्रेमी और प्रेमास्पद रूप में ही नित्य प्रत्यक्ष रहा करता है। इस युग्म रूप में नित्य प्रकट रहने वाले 'प्रेम' में ही इस नित्य नवलता धर्म को धारण करने की शक्ति है। 'प्रेम' में ही इस धर्म के प्रत्यक्ष होने का एक कारण भी है, और वह यह कि प्रेमी और प्रेमपात्र रूप की विधात्री वह प्रीति है; जो दोनों के रूप को नित्य नवल बनाती रहती है या बनाये रखती है। हम यहाँ जिस प्रीति का स्वरूप विवेचन करने जा रहे हैं उस प्रीति के स्वरूप का निकट परिचय प्राप्त करने के लिए प्रेम के विविध स्वरूपों का स्वरूप ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।

### ५.१.२.३.४.३. प्रेम के विविध रूप :

मूलतः प्रेम के दो रूप ही अति ख्यात हैं। 'सविकारी' और 'अविकारी प्रेम'। सविकारी प्रेम विधाता की सृष्टि में और अविकारी प्रेम [निर्विशेष प्रेम] केवल वृन्दावन में श्यामा-श्याम स्वरूप से केलि परायण बना रहता है<sup>१</sup>।

'प्रेम' यद्यपि दो तनों के मध्य रहने वाला एक अतन तत्व है, फिर भी वह प्रेमी और प्रेमपात्रों के माध्यम से अनेक नाम रूपों में प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। जैसे—लौकिक प्रेम, अलौकिक प्रेम, दास्य प्रेम, सख्य प्रेम वात्सल्य प्रेम, दाम्पत्य प्रेम या मधुर प्रेम, भ्रातृ प्रेम आदि-आदि। संभवतः इन्हीं भिन्न-भिन्न नाम रूपों को देखकर ही ध्रुवदास जी ने लिखा है कि—

प्रेम की छटा बहु विधि आही। समुझि लई जैसी जिन चाही<sup>२</sup>॥

हित ध्रुवदास जी ने लोकानुभव तथा भक्तों द्वारा वर्णित भगवत चरित्रों से प्राप्त प्रेम के उत्तरोत्तर विकसित रूप का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

ज्ञान शान्त रस ते अधिक अद्भुत पदवी दास।

सख्य भाव तिनते अधिक जामें प्रीति प्रकाश॥

१. प्यारी याके उभय रूप हैं सुमति कहति यौ सविकारी अविकारी।

वह विचरत है विधि की सृष्टि में नाम यही पै यह कानन अधिकारी॥

— प्रे. प्र. षो., चा. वृ. दा., छं. सं. १२

२. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., नेह मंजरी लीला, छं. सं. १४६



अद्भुत बाल चरित्र कौ जो जसुदा सुख लेत।  
ताते अधिक किशोर रस ब्रज बनितनि के हेत॥  
सर्वोपर है मधुर रस जुगल किशोर विलास।  
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास<sup>१</sup>॥

दास्य प्रेम—[स्वामी और सेवक के बीच संस्थापित सम्बन्ध] से अधिक सखा भाव पर आधारित 'सख्य प्रेम', सख्य प्रेम से अधिक यशोदा का श्री कृष्ण के प्रति वात्सल्य प्रेम और वात्सल्य प्रेम से अधिक ब्रजगोपियों का मधुर प्रेम उत्कृष्ट है। और इन सबसे उत्कृष्ट सर्वोपरि प्रेम वह है जो वृन्दावनस्थ राधाकिंकरीगणों को प्राप्त है।

दास्य प्रेम में स्वामी और सेवक की अपनी-अपनी कुछ स्वरूप मर्यादायें हैं जो प्रेम के पूर्णतम रूप को स्पर्श करने में बाधक बनी रहती हैं। सख्य प्रेम में ये मर्यादायें तो नष्ट हुई दिखाई देती हैं किन्तु उसके स्थान पर समत्व और स्वातंत्र्य जन्य मत्सुख का व्यवधान बना रहता है जो कि उस पूर्णतम प्रेम को प्रकाशित नहीं होने देता। वात्सल्य प्रेम में प्रीति का पर्याप्त प्रकाश तो दिखाई देता है किन्तु वह भीति और नीति के अभेद्य आवरण से प्रच्छन्न ही बना रहता है। इसी प्रकार मधुर प्रेम में भी संयोग-वियोग तथा मत्सुख का मिश्रण बना रहता है अतः यहाँ भी प्रेम के उस परिपूर्णतम रूप के दर्शन नहीं होते। उपर्युक्त विशद विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साधारण मानव जगत तथा भक्त जगत में भी उस अभीष्ट प्रेम के दर्शन नहीं होते। प्रेम के ये विविध रूप उसी एक प्रेम की विविध परिणतियाँ हैं उसी प्रेम सिन्धु के बुदबुद या तरंग हैं जो यहाँ पर व्याख्येय है। वह प्रेम सबसे अलक्षित वृन्दावनधाम में ही अपने पूर्ण स्वरूप वैभव के साथ सलील विराजमान रहता है<sup>२</sup>।

#### ५.१.२.३.४.४. प्रेम का वास्तविक रूप :

प्रेम के वास्तविक स्वरूप का परिचय देते हुए उसके निकट दृष्टा रसिकों ने बताया है कि वह प्रेम दो में ही उत्पन्न होता है किन्तु उस द्वितन स्थिति में भी उन दोनों को एक तन, एक मन और एक प्राण बनाये रखता है। वह कामना रहित होता है और अभिमान रहित सदा विनयावनत रहता है। वह प्रेम कारण रहित दोनों ओर से सहज होता है तथा प्रतिक्षण वर्द्धमान नया-नया होता है। यह 'प्रेम' सदेह वृन्दावन

१. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., भजनाष्टक, छं. सं. १ से ३

२. यद वृन्दावन मात्र गोचर महो.....

में ही अपने सर्वांग पूर्ण रूप से विलास परायण बना रहता है<sup>१</sup>।

### ५.१.२.३.४.५. हितवाणी में प्रेम का नित्य नवल रूप :

हम देखते हैं कि प्रेम का वह सहज रूप प्रतिक्षण नित्य नवलता से रमणीय बना रहता है उसकी स्वाभाविक और स्वरूपभूत नवलता को आलोकित करने के उद्देश्य से ही श्री हिताचार्य ने प्रेम-क्रीड़ा वर्णनात्मक प्रत्येक पद का शुभारंभ 'आज' शब्द से किया है। 'आज' शब्द वर्तमानकाल का सूचक है। और प्रेम में—प्रेम के देश में—नेह, नेही और नेह-विलास ये सभी कुछ वर्तमान और नया ही बना रहता है भूतकालिक पुराना नहीं —

आज वन राजत जुगल किशोर।.....आजु वन नीकौ रास बनायौ।.....

आजु वन क्रीड़त श्यामा-श्याम।.....आजु नीकी बनी श्री राधिका<sup>२</sup>.....

### ५.१.२.३.४.६. प्रतिक्षण नवलता प्रेम में ही क्यों ? :

प्रेम में विवशता और चेतनता ये दो अवस्थाएँ होती हैं जो कि प्रेम स्वरूप श्यामा-श्याम की प्रेम केलियों तथा केलि कलित श्यामा-श्याम के रूपों में प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। रसिकजनों ने उन विवशावस्था और चेतन अवस्था को ही प्रेम तरंग तथा काम तरंग कहकर प्रकीर्तित किया है। हित ध्रुवदास जी ने इन दोनों अवस्थाओं का परिचय विशेष इस प्रकार दिया है—

“प्रेम-मदन के सिन्धु द्वै लाड़िली लाल जू के हिये में बहत रहत हैं, जब प्रेम रूपी सिन्धु की तरंग छावें तब विवस होंय जब मदन रूपी सिन्धु की तरंग छावें तब चैतन्य होंय। प्रेम की क्रिया विवसता, नेम की क्रिया सावधानता।

प्रेम मदन के सिन्धु द्वै बहत रहत दिन हीय।

कबहुँ विवस चेतत कबहुँ छिन छिन प्यारी पीय।।

मदन लहर के उठत ही बाढ़त सुरत विहार।

प्रेम लहर में परत ही रहत न देह सँभार<sup>३</sup>।।

१. प्रेम केतौ गहर थाह क्यों पाइये।

द्वै बिना होय याकी न उतपति कहूँ मये द्वै मन जहाँ एक क्यों गाइये।

कामना रहित अरु रहित अभिमान उर होहि दुहुँ ओर अस हरषि जु मिलाइये।

दुहुँ बिच नेह उपजै जु कारन बिना बढ़ै दिन-दिन जु चित वृत्ति उरझाइये।

वृन्दावन हित रूप अहो नागर नवल महा गंभीर तुम उर जु दरसाइये।।

— यु. प्री. प्र. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १६

२. हि. चौ., प. सं. ३३, ३६, ३२, २५, एवमपि हि. चौ., प. सं. ४, ५, ७, १०, १६, २४, ३१, ५५, ६१, ७०, ८४

३. ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.



विवसावस्था से उन्मग्न होने पर जब दोनों प्रेमी और प्रेमास्पद पुनः सावधान होते हैं—चेतन अवस्था में आते हैं तो उन दोनों को अपने पूर्व रूप की पूर्ण विस्मृति हो जाती है। उन दोनों को दोनों सर्वथा नये दिखाई देते हैं—

पिछली सुधि तहँ रहत नहिं नई दुहुँनि में प्रीति<sup>१</sup>।

प्रेम की यह प्रेम क्रीड़ा अनादि काल से चली आ रही है किन्तु उन दोनों प्रेमी और प्रेमास्पद—प्रिया और लाल में पूर्ण रूप से जान-पहिचान भी नहीं हो पाई है<sup>२</sup>। इस प्रकार की अपरिचय मूलक नवीन पहिचान, नवीन रूप दर्शन दोनों हृदय में नवीन नेह उत्पन्न कर देता है और यह नवीन नेह दोनों को नवल रूप प्रदान करता रहता है। प्रतिक्षण नित्य नवल रूप से रम्य नवल नेही श्यामा-श्याम नेह के नव नव विलासों से निष्पन्न नये रंग और नये रसानन्द में निमग्न बने रहते हैं<sup>३</sup>।

### ५.१.२.३.४.७. नवलता का मूल कारण - 'रति' :

लोकानुभव के आधार पर यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कोई व्यक्ति या कोई पदार्थ स्वयमेव न सुन्दर ही होता है और न महामधुर। किसी वस्तु विशेष या पदार्थ पर जब दृष्टा की प्रीति दृष्टि पड़ती है तभी वह व्यक्ति या पदार्थ उसकी दृष्टि में अत्यन्त मधुर दृष्टि गोचर होता है। एक कीड़ा विशेष है जिसकी प्रीति विष से ही है; उसे विष ही अमृत जैसा सुस्वादु लगता है और वह वही खाता है—

विष कौ क्रीड़ा विष ही खाय। मिश्री सँघत ही मरि जाय।

पार्वती जी को भस्म-भूषित नागालंकृत शंकर जी ही सुन्दर लगे थे; विष्णु नहीं। रावण को त्रिभुवन सुन्दर राम और कंस को मदन मोहन श्री कृष्ण भी असुन्दर ही प्रतीत होते थे। इस विवेचना का सारांश यह कि सौन्दर्य और माधुर्य की संस्रष्टा प्रीति ही है।

प्रेमावस्था से उन्मग्न श्री श्याम की प्रीति दृष्टि श्यामा के रूप पर पड़ती है जो कि श्यामा के रूप को अद्भुत सौन्दर्य पूर्ण नवल रूप प्रदान करती है— और श्यामा का यह नवल रूप श्याम की प्रीति को नूतन बनाता रहता है। इस प्रकार दोनों के नवल रूप दोनों की प्रीति को और दोनों की नित्य नूतन प्रीति दोनों के रूप को प्रतिक्षण नवल बनाये रखती है।

१. भ. दा. की वा., भ. दा., छं. सं. ३२

२. न आदि न अन्त विहार करै पै लाल प्रिया में मई न चिन्हारी

— ब्या. ली., सिंगार सत तृतीय, हि. ध्रु. दा. छं. सं. १३

३. नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषमान किशोरी।।

— हि. चौ., प. सं. ५४

### ५.१.३. नाम :

#### ५.१.३.१ नाम और आकृति :

नाम किसी आकृतवान वस्तु या रूप का ही होता है। श्री हिताचार्य का उपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' है। 'प्रेम' अतन, अदृश्य किंवा अनुभूति का विषय है। ऐसी स्थिति में उसका नामानुसन्धान कैसा ? यह एक प्रश्न है जो कि वर्तमान विचारशील मानव के मस्तिष्क में सहज ही उठता है और उठना स्वाभाविक भी है।

#### ५.१.३.२. उपास्य 'प्रेम' की आकृति और नाम :

'प्रेम' किंवा 'रस' जगत और भक्तों की दृष्टि में वस्तुतः अतन या अरूप ही है और रहेगा भी किन्तु श्री हिताचार्य ने उसे अपना उपास्य बनाया है अर्थात् निकट से देखा है। 'उन्होंने उसे निकट से देखा है'— इसीलिए यह घोषणा सर्वप्रथम उन्होंने ही की कि वह एकमात्र वृन्दावन में ही गोचर है<sup>१</sup>, वह सान्द्रानन्दाकृत है, प्रेम घनाकृत है रस घन मोहन मूर्ति है, वह अद्भुत 'प्रेम' दो रूपों में नित्य अभिव्यक्त रहता है उसे मैं जानता हूँ<sup>२</sup>। उस 'अतन सतन प्रेम' या 'रूपवान अतन प्रेम' की एक नितान्त अविस्मरणीय विशेषता है कि उसका रूप प्रतिक्षण नित्य नूतन होता रहता है और उसके नित्य नूतन रूप की निष्पत्ति उसकी नित्य नूतन लीलाओं में होती है। उसकी ये लीलायें केवल माधुर्य लीलायें ही होती हैं, अतः निसर्गतः सिद्ध है कि उन लीलाओं से निष्पन्न रूप महामधुर 'प्रेम' किंवा 'रस' रूप के ही परिचायक होंगे और उन रूपों के नाम भी विशुद्ध 'प्रेम' या 'रस' रूप के ही उद्बोधक होंगे।

पूर्व पृष्ठों में उल्लिखित लीला प्रकरण में लीला से निष्पन्न नित्य नव किशोराकृत नित्य नव दंपति रूप, प्रेमी प्रेमास्पद रूप, प्रतिक्षण नवल रूप तथा रस और रसिक रूप निर्दिष्ट किये गये हैं। अतः इन रूपों के नाम भी मधुर लीलाओं तथा मधुर रूपों के ही परिचायक हैं। यथा—

श्री राधाबल्लभलाल, दुलहिनी-दूलह, मोहिनी-मोहन, जुगल, पिय-प्यारी, नवल किशोर-नवीन किशोरी, गौर-श्याम, श्यामा-श्याम, नवल नागरी-नवल नागर, ललना-लाल, लाड़िली-लाड़िलौ, किशोर-किशोरी, साँवल-गौर, राधिका रवन, कुंजविहारी, राधा-

१. यद् वृन्दावन मात्र गोचर महो... यत्प्रेमामृत माधुरी रसमयं।

—रा. सु. नि. श्लो. सं. ७६

२. सान्द्रानन्दाकृतिर्नः स्फुरतु...। यस्यां प्रेम घनाकृतेः पद नख...। रस घन मोहन मूर्ति विचित्र केलि...। विच्छेदामास.....अद्भुत प्रेम मूर्त्योः।

—रा. सु. नि. श्लो. सं. १२६, २०४, २००, १७३



मोहन राधापति, रसिकराय, रसिकनी, रँगीलौ, सुन्दरी, प्राणबल्लभ, गोरी, वधू, भामिनी, प्यारौ, राधा, राधिका, घनश्याम प्रिया, भोरी, प्रीतम, राधा, पिय, रससागर, रस लंपट, दम्पति इत्यादि<sup>१</sup>।

### ५.१.३.३. हित वाणी में अन्य नामों का उल्लेख :

श्री हिताचार्य की वाणी में प्रेम-स्वरूपता-परिचायक इन उपर्युक्त नामों के साथ-साथ कतिपय स्थलों पर ईश्वरता बोधक और ब्रज लीला बोधक नामांकित भी मिलते हैं। यथा—नन्दनन्दन-वृषभानुनन्दिनी, ब्रजमण्डन, बलवीर, मदनगुपाल, गोपाल, हरि, गोविन्द, मधुसूदन, माधव आदि<sup>२</sup>। रसोपासना आविर्भावक श्री हिताचार्य ने ऐसे नामों का उल्लेख क्यों किया है ? इस सम्बन्ध में इसी अध्याय के 'लीला' प्रकरण के अन्त में

१. श्री राधाबल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ।...श्री राधाबल्लभ मुख कमल निरखि नैन हरिवंश ।

— स्फु. वा., गो. हि. ह., अन्तिम दोहों से

खेलत रास दुलहिनी दूलहु ।...मोहनि-मोहन रंगे प्रेम सुरंगे ।...जै श्री हित हरिवंश जुगल करनी गज विहरत वन पिय-प्यारी ।...आजु निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी ।...गौर-श्याम अभिराम रंग भरि लटकि लटकि पग धरत अवनि पर ।...रसिक रास जहाँ खेलत श्यामा-श्याम किशोर ।  
..... नवल नागरी नवल नागर किशोर मिलि कुंज कोमल कमल दलनि सज्जा रची ।..... जै श्री हित हरिवंश लाल-ललना मिलि हियौ सिरावत मोर ।... लाड़िली किशोर राज हंस हंसिनी समाज ।... मोंगत लाल लाड़िलौ नागर ।...तापर कुशल किशोर-किशोरी करत हास परिहास ।...जै श्री हित हरिवंश हंस हंसिनी सौवल-गौर ।... राधिका रवन सौ मिली गजगामिनी ।... अति कुलकात समात नहीं कहूँ मिले हैं कुंजविहारी ।... बनी श्री राधा-मोहन जू की जोरी ।...जै श्री हित हरिवंश रसिक राधापति जस वितान जग छाये । मोहन रसिकराय री माई तासौं ।... जै श्री हित हरिवंश रसिकनी भामिनि आलस ।... प्रीति की रीति रँगीलौई जानै ।... श्याम सुन्दरी बिहार बँसुरी मृदंग तार ।  
..... प्रणत सुन्दर सुधर प्राणबल्लभ नवल ।... आजु सँभारत नौहिन गोरी ।... रुचिर राजत वधू कानन किशोरी ।... वेपथ जुत नेति-नेति वदत भामिनी ।... जोई-जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै ।  
..... हा राधा राधिका पुकारत निरखि ।... अति राजत घनश्याम तमाला ।... प्रिया प्रेम के अंक अलंकृत ।... तोपै सकल सौंज दामन की कत सतराति कुटिल दृग भोरी ।... बिहरत दोऊ प्रीतम कुंज ।... देखि सखी राधा-पिय केलि ।... निविड़ निकुंज मिले रस सागर ।... जै श्री हित हरिवंश मिले रस लम्पट ।... आजु अति राजत दंपति भोर ।...

— हि. चौ., प. सं. क्रमशः ६२, ६६, ४५, ७, ५, ५७, ५६, ३१, ७६, ५०, ३०, १, २, २१,

६, ६२, २, २१, १०, ८३, ७०, ६७, ११, १, ३८, १६, ५, ५१, ६६, ४६, ४४, ४०, ३१

२. नन्दनन्दन-वृषभानुनन्दिनी उठे उनींदे भोर ।...खेलत रास रसिक ब्रजमण्डन ।...कल्पतरु तीर बलवीर कृत रास री ।...दरसन मदनगुपाल मनोहर मनसिज ताप निवारे ।...आजु गोपाल रास रस खेलत ।...हरि उर मुकर विलोकि अपनपौ ।...इन्दु गोविन्द वदन के कारन ।...

— हि. चौ., प. सं. क्रमशः ३३, १६, २६, ६३, २५, ७, १३,

योगीन्द्र दुर्गम गति मधुसूदनोपि ।...श्री राधा माधवाख्यं परमिह मधुरं तद्वयं धाम जाने ।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १, १७३ आदि ।

विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है। पुनः उन्हीं तथ्यों को यहाँ पर विस्तार पूर्वक रेखांकित करना पिष्टपेषण मात्र ही होगा। अतः यहाँ पर संक्षिप्त में इसका उत्तरानुसन्धान करते हुए यह विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है कि पौराणिक नाम ग्रहण करते हुए भी उनका उपास्य रूप पौराणिक रूप से किस प्रकार भिन्न है ?

#### ५.१.३.४. पौराणिक नामों का उल्लेख क्यों ? व पौराणिक रूप से भिन्नता

श्री हिताचार्य ने अपने 'राधासुधानिधि' नामक स्तोत्र ग्रंथ में श्री राधा-माधव के अनेक अद्भुत और रमणीय चित्र चित्रित किये हैं। यहाँ पर यह अविस्मरणीय है कि आप श्री राधा चरण प्रधान हृदय हैं। अतः इनकी भाव-तूलिका मूलतः श्री राधा चित्र-चित्रण की अनन्य कलाकार है किन्तु वह श्री राधा-रूप-चित्रण की मधुर-भव्य भूमिका में ही श्री माधव के मनोहारी और विचित्र चित्र का चित्रण कर देती है। यही तो आचार्य चरण की अद्वितीय विशिष्टता और मधुर मौलिकता है। इनकी यह विचित्र विधा ही वृन्दावन रसोपासना का प्राण है। यहाँ पर दृष्टव्य तो यह है कि श्री हिताचार्य ऐसे प्रत्येक चित्र चित्रण के साथ-साथ उन दोनों का एक या एकाधिक परिचय अवश्य देते हैं। जैसे रसिक शेखर प्रियतम का स्वरूप चित्रण करते हुए उनका परिचय इस प्रकार देते हैं -

....योगीन्द्र दुर्गम गतिर्मधुसूदनोऽपि।....

यो ब्रह्म रुद्र शुक नारद भीष्म मुख्यै रालक्षितो न सह सा पुरुषस्य तस्य<sup>१</sup>।....

....श्री राधा चरण विलोडित रुचिर शिखण्डं हरिं वन्दे<sup>२</sup>।

इसी प्रकार श्री राधा-रूप का चित्रण करते हुए उनका परिचय इस प्रकार देते हैं—

यस्याः कदापि वसनाञ्चल खेलनोत्थ धन्याति धन्य पवनेन कृतार्थ मानी<sup>३</sup>।.....

यत्किंकिरीषु बहुशः खलु काकु वाणी नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्ड मौले<sup>४</sup>।.....

यत्पाद पद्म् नखचन्द्रमणिच्छटायाः विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूषदशि<sup>५</sup>।.....

प्रत्येक रूप चित्रण के साथ अनिवार्य रूप से बार-बार किसी परिचय विशेष का देना ही श्री हिताचार्य के इस अन्तराशय की ओर इंगित करता है कि उनके वर्ण्य श्री राधा-माधव पौराणिक राधा-माधव से पृथक् हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने ग्रंथों में श्री राधा-माधव के जिस रूप का उद्गान किया है वह रूप पौराणिक रूप से सर्वथा भिन्न है। तभी तो श्री हिताचार्य अपनी श्री राधा और अपने श्री श्यामसुन्दर का परिचय देते हुए पुराणों में विख्यात एवं भक्त जगत में अत्यधिक आख्यात ब्रजेन्द्रनन्दन श्री कृष्ण और वृषभाननन्दिनी श्री राधा रूप का सर्वथा निषेध कर देते हैं। वे स्थल-स्थल



पर स्फुट स्वर से उद्घोष करते हैं कि मेरे उपास्य युगल श्रुतियों के लिए अगोचर, ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी, नारद और सनकादिक भक्तों से अचिन्त्य तथा श्री नन्द-यशोदा कीर्ति-वृषभान, सुबल-सुबाहु सखागण, एवं ब्रजगोपिकाओं सहित समस्त ब्रज परिकर से ही सर्वथा अलक्ष्य हैं<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य के इन श्लोकों के आधार पर ही तदनुगत श्री हरिराम जी व्यास सेवक जी तथा प्रबोधानन्द जी आदि रसिकों ने भी सुस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि —

इहि रस नवधा भक्ति उवीठी रति भागौत कथा की।

रहनि कहनि सबहिन ते न्यारी 'व्यास' अनन्य सभा की<sup>२</sup>।

वृन्दावन रस मुहि भावै हो।

वेद-पुरान अरु भारत भाखै सो मुहि कछु न सुहावै हो<sup>३</sup>।

आगम-निगम-पुरान अगोचर सहज माधुरी रूप निधिम्<sup>४</sup>।

भक्त जगत के सर्वमान्य प्रमाण ग्रंथों 'ब्रह्म वैवर्त पुराण', 'पद्य पुराण', 'आदि पुराण', 'स्कन्द पुराण', श्रीमद् भागवतादि पुराणों के वर्ण्य श्री नन्दनन्दन और वृषभानुनन्दिनी; नारदादि भक्तों, सुबलादि सखाओं तथा चन्द्रावली आदि अनन्त ब्रजगोपिकाओं से अदृष्ट नहीं हैं। इन सभी ने उन्हें निकट से देखा है। ब्रह्मा जी ने गोचारण काल में वत्स हरण के समय और भांडीरवट में दोनों का विवाह कराते हुए उन्हें अत्यन्त निकट से देखा है<sup>५</sup>। श्री शिवजी ने श्री कृष्ण जन्म के समय उनके शिशु रूप का और महारास में उनके किशोर रूप का दर्शन किया है<sup>६</sup>। इसी प्रकार श्री नारद जी ने भी जन्म के समय शिशु रूप में और एक अवसर विशेष में उनके किशोर रूप के दर्शन किये हैं<sup>७</sup> और ब्रज लीला परिकर में तो यह अवतार लीला सम्पन्न ही हुई थी। अतः यह निर्विवाद है कि श्री हिताचार्य के गेय श्री राधा-श्यामसुन्दर पौराणिक राधा-श्यामसुन्दर से भिन्न स्वरूप वाले हैं।

श्रुतियों ने इस परमतत्त्व का [स्वशक्ति अनुसार] प्रवचन करने के पश्चात् यह स्वीकार किया है कि उस परमतत्त्व का स्वरूप इतना ही और ऐसा ही नहीं है; जैसा कि हमने गाया है। हम उसे सम्पूर्ण रूप से वर्णन करने में असमर्थ हैं। उनके 'नेति-नेति'

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ११, २६६, २३५, २३८, २३६, १४८, १२८, प्र. पृ. सं. १०६-१०७

२. ३. व्या. वा., ड. व्या., प. सं. १७७, ११५

४. से. वा., से. जी, श्री हित ध्यान प्रकरण, छं. सं. ३

५. दे.— स्क. पु., आ. पु., प. पु., तथा श्री म. भा. पु.

६. दे.— स. कु. सं.

७. आ. पु.

शब्द उनके इसी अन्तराशय के अभिव्यंजक है। उनके इन 'नेति-नेति' शब्दों के द्वारा इंगित होने वाला अलक्ष्य रूप 'रस' किंवा 'प्रेम' ही है जिसे पाकर प्राणी मात्र आनन्दित होते हैं जिसके किंचित प्रकाश मात्र से ही लोक ही नहीं लोकेशों के ईश भगवान भी महा मधुर, महा मोहन, महा आकर्षक और महा प्रिय बनते देखे गये हैं। श्री हिताचार्य ने बताया है कि यह 'रस' किंवा 'प्रेम' ही सान्द्रानन्द स्वरूप श्री राधा-माधव संज्ञक युगल मूर्ति होकर वृन्दावन में नित्य क्रीड़ा किया करता है<sup>१</sup>।

इस 'रस' किंवा 'प्रेम' की उपासना घट-घट में निवास करने वाले अन्तर्यामी स्वरूप निर्गुण निराकार द्वारा तो सर्वथा ही असम्भव है। इसके लिये तो एक रूप विशेष का आधार अनिवार्य है; किन्तु वह भगवान के सगुण साकार रूप का आधार नहीं; प्रेम का साकार स्वरूपाधार। भगवान के सगुण-स्वरूपों में उनका ऐश्वर्य नित्य प्रत्यक्ष होता रहता है; जिससे एक ओर तो उपास्य में महामधुर प्रेम रूप का दर्शन ही नहीं होता और दूसरी ओर उपासक के हृदय में सहज प्रीति के स्थान पर एक भीति विशेष और श्रद्धा भक्ति का ही उदय हो पाता है। दूसरी बात यह है कि उपास्य में ईश धर्म और उपासक में जीव धर्म का अस्तित्व बना रहता है जो कि दोनों को एक दूसरे के निकट लाने के स्थान पर अपनी स्वरूप मर्यादा के अन्तर्गत दूर-दूर बनाये रखता है; और तीसरी बात यह भी है कि सगुण स्वरूपों में समान उपास्य दृष्टि भी बनाये रखनी अनिवार्य होती है; जो कि प्रेम प्रकृति और प्रेमोपासना के सर्वथा प्रतिकूल है। श्रद्धा और भक्ति तो एक साथ अनेक रूपों में की जा सकती है; किन्तु प्रेम किंवा प्रीति नहीं। इसका तो आविर्भाव ही एक रूप विशेष को लेकर हुआ करता है तथा एक ही रूप से नित्य सम्बंधित रहने पर प्रतिक्षण बढ़ता है और तुष्ट-पुष्ट हुआ करता है; क्योंकि यह प्रकृतितः एक निष्ठ होता है। निष्कर्ष यह कि 'प्रेमोपासना' स्वरूप सापेक्ष है; और वह भी एकमात्र प्रेम के साकार स्वरूप द्वारा ही सम्भव है।

भगवान के अनन्त अवतार स्वरूपों में ब्रजेन्द्रनन्दन श्री कृष्ण और वृषभानुनन्दिनी श्री राधा में उस ऐश्वर्य का प्रकाश अन्य सभी अवतारों की अपेक्षा कम देखा जाता है। किन्तु देखा अवश्य जाता है; जिसके क्षणिक और तनिक प्रकाश ने माँ यशोदा को भी संभ्रमित कर दिया था<sup>२</sup>; इसके साथ ही भगवान की लीलायें अनन्त हैं जिससे उपासक का चित्त अनन्य धर्मा नहीं हो पाता और अनन्य प्रेमी का चित्त वहाँ स्थिर नहीं रहता;

१. दे.- रा. सु. नि., १७३, १९९, २००, ७६, १२६.

२. जो भजि देख्यो यशोदा कौ नन्दन तौ विश्व दिखाई सबै तन में।

— से. वा., से. जी, अनन्य टेक प्रकरण ८, छं. सं. ५



जहाँ अनन्त प्रकार की लीलायें होती हैं<sup>१</sup>। उसे तो एक प्रकार की ही लीला रुचिकर होती है। भगवान की उन लीलाओं में लोक-वेद, देशकाल की मर्यादा, गर्व, मान, विरह, मत्सुख, काम-वासना, और सुख-दुख सभी देखे जाते हैं जो कि 'प्रेम' के मधुर और पूर्ण रूप के निरावण दर्शन में बाधक बने रहते हैं। इन पौराणिक युगल रूप की मधुर लीलाओं में प्रत्यक्ष होने वाला प्रेम एकाङ्गी भी है। अतः वह अपूर्ण है। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ब्रज में अवतरित श्री कृष्ण रूप में प्रेम तत्व का प्रकाश अन्य अवतारों की अपेक्षा सर्वाधिक हुआ है। यह अवतरित रूप श्री वृन्दावन की सीमा के भीतर दिखाई देने वाले सम्पूर्ण और प्रकाशी रूप के अत्यधिक निकट है। यह कई अंशों में पृथक् होने पर भी उससे कुछ साम्य भी रखता है। इसीलिये आचार्य चरण ने अपने परमोपास्य 'प्रेम' के साकार स्वरूप के परिचय के लिए मधुर माध्यम जैसे रूप में इसे स्वीकार करके नन्दनन्दन और वृषभानुनन्दिनी आदि नामों को समाद्रित किया है। एक बात यह भी अविस्मरणीय है कि नन्दनन्दन-वृषभानुनन्दिनी आदि [अवतार कालीन] नामों का सर्वथा त्याग करने और इन दोनों रूपों में इस प्रकार का नित्य और अटूट सम्बन्ध न बतलाने से इस रसोपासना किंवा प्रेमोपासना का उपास्य रूप ही कल्पित सिद्ध हो जाता है और इसकी परात्परता भी अप्रामाणिक हो जाती है। श्रुतियों से अगोचर, साक्षात् भगवान के लिए भी आमृग्य<sup>२</sup>, निरालम्ब स्वरूप के निकट परिचय के लिए उसके निकटतम और सादृश्य रूप को ही माध्यम बनाया जा सकता था; इसीलिये श्री हिताचार्य ने [ब्रज लीलाओं और उन लीलाओं से निष्पन्न होने वाले रूपों को नहीं] केवल नन्दनन्दन-वृषभानुनन्दिनी नाम को ग्रहण किया है। एक सर्वथा अभिनव वस्तु के आविर्भावक के लिए ऐसा करना अनिवार्य भी था। किन्तु उन्होंने साथ ही यह भी घोषणा कर दी है कि मेरे उपास्य युगल का स्वरूप उनके पौराणिक रूप से सर्वथा भिन्न है। यही एक विचित्रता है और यही एक परम रहस्य है। तभी तो उन्होंने अपने उपास्य युगल को नन्दनन्दन-वृषभानुनन्दिनी, गोकुल किशोर और पुरन्धीणां चूड़ाभरण नवरत्न आदि-आदि नामों से स्मरण करते हुए भी उन नामों के साथ 'कापि', 'कश्चन', और 'किमपि' आदि शब्दों का भी उल्लेख कर दिया है। जैसे —

कस्यापि गोकुल किशोर निशाकरस्य<sup>३</sup>।

सञ्जीवनी जयति कापि निकुञ्ज देवी<sup>४</sup>।

तत्कृष्णचेतो हरणैकविज्ञ यत्रास्ति किञ्चित परमं रहस्यं<sup>५</sup>।

१. गोकुलनाथ महा ब्रज वैभव लीला अनेक न चित्त खटाई।

— से. वा., अनन्य टेक अष्टम प्रकरण, छं. सं. ११

२. से ५. रा. सु. नि., श्लो. सं. २६६, ३३, ५, २३८

इस अद्भुत रूप विधान के द्वारा उन्होंने उपासक जगत को यह बतलाने की कृपा की है कि प्रेम स्वरूप एकात्म युगल; निर्गुण निराकार व सगुण साकार ब्रह्म से पृथक् वृन्दावन बिहारी ही हैं। इस परम रहस्य का उद्घाटन करना ही तो श्री हिताचार्य के अवतार का एकमात्र उद्देश्य था।

‘राधासुधानिधि’ के प्रथम श्लोक में श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य प्रेम मूर्ति श्री राधा-श्यामसुन्दर का परिचय देते हुये कहा है कि उन श्री राधा की दिशा को मेरा नमस्कार हो जिनके वसनांचल की पवन का स्पर्श मात्र पाकर मधुसूदन भी अपने को कृतार्थ मानते हैं। यही उनके प्रेम विग्रह होने का परिचय है।

‘मधु’ नामक राक्षस को मारने के कारण भगवान् विष्णु किंवा नारायण को ‘मधुसूदन’ कहा जाता है। अतः इसप्रकार के पौराणिक नामों का उल्लेख देखकर सर्व साधारण को यहाँ पर भी उन्हीं ‘मधुसूदन’ की कल्पना हो सकती है; किन्तु ऐसा होना नहीं चाहिये। क्योंकि यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि ‘मधु’ संहार वृन्दावन से बहुत दूर क्षीरसागर के तट पर हुआ था और आचार्य श्री अपने परमोपास्य मधुसूदन का परिचय देते हुए कहते हैं कि वे एकमात्र श्री वृन्दावन की सीमा में ही दृष्टिगोचर होते हैं। वे न कहीं से आये हैं और न कहीं जाते हैं —

यद् वृन्दावन मात्र गोचर महो<sup>१</sup>

यह मधु संहार ब्रह्मा द्वारा संसृष्ट सुर-नर और ऋषि-मुनियों की रक्षा के उद्देश्य से किया गया था किन्तु श्री हित महाप्रभु के परमोपास्य तो सृष्टि वार्ता से सर्वथा दूर श्री वृन्दावन की कुंज बीथियों में ही नित्य निरन्तर श्री राधाराधन में निमग्न रहते हैं—

दूरे सृष्ट्यादि वार्ता न कलयति मनाङ्गनारदादीन् स्वभक्तान्<sup>२</sup>

यह मधु संहारक भगवान् विष्णु श्री लक्ष्मी जी से सदा संसेवित क्षीरसागर में ही निवास करते हैं; श्री राधा-सन्निकट वृन्दावन में नहीं; जबकि श्री आचार्य चरण ने मधुसूदन का परिचय देते हुए इस श्लोक में सुस्पष्ट शब्दों में कहा है कि वे नित्य निरन्तर श्री राधा वसनांचल की वायु से ही अपने को कृतार्थ मानते हैं। अर्थात् श्री राधा के इतने अधिक निकट रहते हैं कि उन्हें श्री राधा के वसनाञ्चल का स्पर्श प्राप्त होता रहता है। साथ ही यह भी अविस्मरणीय तथ्य है कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेम की मंजुल मूर्ति मधुसूदन जिन श्री राधा के वसनांचल से कृतार्थमानी होते हैं वे तो विष्णु और

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६ एवमपि श्लो. सं. ७०, ७७, १२८, १९६

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. २३५



लक्ष्मी आदि सभी से सर्वथा अगोचर रहते हैं। इसप्रकार से यह निम्नान्त सत्य तथ्य है कि प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'मधुसूदन' शब्द 'मधु' नामक राक्षस को मारने वाले विष्णु किंवा नारायण का बोधक नहीं है।

इस शब्द से विष्णु अर्थ न लेने का एक कारण यह भी है कि श्री हिताचार्य ने जिस एकात्म युगल प्रेम तत्व की उपासना प्रकट की है वह 'प्रेम' प्रकृतिः अनन्य और महामधुर है। अतः इसकी उपासना भी अनन्य उत्कट व्रत से ही सम्भव है। जबकि प्रेम-चन्द्र की महामधुर और परम शीतल एक ही किरण के प्रकाश में निखिल ब्रह्मांड नायक भगवान और उनकी सम्पूर्ण भगवत्ता पानी-पानी हो जाती है [ विलुप्त हो जाती है ]; तब प्रेम के इस पूर्ण प्रकाश स्थल श्री वृन्दावन में ईश्वर और उनके ऐश्वर्य की कल्पना कैसे की जा सकती है। लीला से रूप की निष्पत्ति होती है और लीला से निष्पन्न रूप के आधार पर नामकरण हुआ करता है। लीला के अनुकूल ही आधारभूत 'लीला धाम' और लीला के अनुकूल ही 'परिकर' होने पर ही लीला की पूर्ण सफलता सम्भव है। तात्पर्य यह कि इस उपास्य तत्व 'प्रेम' की सम्पूर्ण लीलायें, लीलाओं से निष्पन्न होने वाले रूप, लीलाओं पर ही आधारित इन सुन्दर रूपों के नाम, लीला स्थल और लीला प्रेरक, विधायक तथा सहायक परिकर—यह सभी उस महा मधुर प्रेम के ही प्रकाशक हैं। इनमें किसी भी समय ऐश्वर्य का प्रकाश सम्भव नहीं। लोक और वेद में देखा जाता है कि प्रेम के स्पर्श मात्र से ही सम्पूर्ण महत्व और अहमत्व सर्वथा निरस्त हो जाता है। जब तक अपनी सत्ता और अपनी महत्ता सर्वतोभावेन निरस्त नहीं हो जाती तब तक प्रेम-चन्द्र की किरणों का विस्फूर्जन ही नहीं हो पाता। यही कारण है कि इस प्रेम राज्य में ऐश्वर्य प्रकाश का सर्वथा अभाव रहता है और इसीलिये इस प्रेम राज्य का दर्शन सभी ऐश्वर्य भाव भावित हृदयों के लिये सर्वथा असम्भव बना हुआ है। इस प्रकार श्री हिताचार्य के उपास्य स्वरूप और उपासना सिद्धान्त की दृष्टि से भी यह 'मधुसूदन' शब्द 'मधु' संहारक विष्णु अथवा नारायण का सम्बोधक नहीं है।

श्री हिताचार्य ने इसी श्लोक में अपने 'मधुसूदन' का एक परिचय विशेष देते हुये उन्हें योगीन्द्रों से दुर्गम गति बतलाया है। 'मधु' संहारक भगवान श्री शिवादिक योगीन्द्रों के लिए दुर्गम गति नहीं हैं। भगवान शिव की गति तो भगवान श्री कृष्ण की ब्रजलीला तक विख्यात है। इसप्रकार से विचार करने पर भी यही निश्चय होता है कि श्री हिताचार्य का इंगित पुराणों में आख्यात 'मधुसूदन' के लिये नहीं है। अपने 'मधुसूदन' का एक अन्य परिचय देते हुये उन्होंने यह भी लिखा है कि वे श्री राधा के वसनाञ्चल-वायु का स्पर्श पाकर अपने को कृतार्थ मानते हैं; अपना जीवन सफल मानते हैं; स्पर्श के अभाव में नहीं। तात्पर्य यह कि वे अबिनाभाव सम्बन्ध से श्री राधा के नित्य निकट ही



रहते हैं। एक क्षण के लिये भी अलग नहीं होते। निष्कर्ष यह कि श्री हिताचार्य के 'मधुसूदन' मधु राक्षस को मारने वाले, श्री राधा से दूर वनों में गाय चराने वाले, सखाओं के साथ रहकर ब्रजगोपियों से दूध-दही का दान माँगने वाले, अनन्त ब्रजगोपियों का अधरमधु पान करने वाले और महारास में श्री राधा को छोड़कर अन्तर्धान हो जाने वाले न होकर श्री राधा अधर मधु भोजी अनन्य मधुकर हैं। इसी प्रकार अपनी श्री 'वृषभानुनन्दिनी' का परिचय देते हुए भी श्री हिताचार्य ने कहा है कि उन श्री वृषभानुनन्दिनी की दिशा को मेरी नमस्कार हो जिनके वसनाञ्चल की वायु सांस्पर्श से श्री मधुसूदन अपने को कृतार्थ मानते हैं। वे "ब्रह्मादिक दुर्गमगतेवृषभानुजायाः" हैं।

सम्पूर्ण पुराणों तथा भक्ति ग्रन्थों में व्याख्यात श्री वृषभानुनन्दिनी ब्रज की अनन्त प्रेम मत्ता गोपियों में सर्वोपरि एक अनन्यतम गोपी हैं। वे सदा श्री कृष्ण के दर्शन और सांस्पर्श से ही अपने को कृतार्थ मानती हैं। श्री कृष्ण कभी नन्दालय में और कभी सखाओं के साथ गोचर भूमि में क्रीड़ा किया करते हैं और श्री वृषभानुनन्दिनी अपने राजमहल अथवा वरसाने की वीथियों में अपनी सहेलियों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ा किया करती हैं। लोक और वेद की मर्यादायें उन वृषभानुनन्दिनी को श्री कृष्ण के साथ निरन्तर रहने में बाधक बनी रहती हैं। फलतः वे श्री कृष्ण के निर्बाध दर्शन और सांस्पर्श सुख के लिए सदा लालस मानस ही बनी रहती हैं। इस दृष्टि से भी इस श्लोक में प्रयुक्त 'श्री वृषभानु भुवो' शब्द पौराणिक किंवा अवतार कालीन ब्रज लीला की श्री राधा का सम्बोधक न होकर रस सिन्धु की विमल सार सम्पत्ति, प्रेमात्मा और प्रीति मूर्ति नित्य किशोरी श्री राधा का ही सम्बोधक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य निर्व्रान्तः स्पष्ट हो जाता है कि नन्दनन्दन, वृषभानु नन्दिनी, मधुसूदन, राधा माधव, हरि, गोपाल आदि—पौराणिक नाम ग्रहण करते हुये भी श्री हिताचार्य के उपास्य स्वरूप पौराणिक रूपों से सर्वथा भिन्न हैं। अब केवल यही प्रश्न रह जाता है कि रसोपासना आविर्भाव श्री हिताचार्य ने श्री राधा हरि आदि इन पौराणिक नामों का उल्लेख ही क्यों किया? अपने अन्य पदों की भाँति उपास्य के प्रेम स्वरूपता परिचायक नाम ही उल्लिखित क्यों नहीं किये? इसका उत्तरानुसंधान पूर्व पृष्ठों में वर्णित 'लीला गान संबंधी एक शंका और उसका निराकरण' नामक शीर्षक में किया जा चुका है।

#### ५.१.४. धाम [वृन्दावन] :

उपास्य का यह 'धाम' संज्ञक अंग उसकी लीलाओं का पूरक है, क्योंकि लीला, क्रीड़ा किंवा खेल के लिए क्रीड़ाभूमि अनिवार्यतः सुनिश्चित होती है। रस भक्ति आविर्भावक श्री हिताचार्य के वाणी साहित्य का गहन आलोड़न करने से ज्ञात होता है कि प्रेम मूर्ति



श्यामा-श्याम की क्रीड़ा भूमि किंवा लीला स्थल श्री वृन्दावन धाम है। “मेरे परमोपास्य प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम की लीला भूमि और नित्य निवास स्थली श्री वृन्दावन है”— ऐसा उल्लेख श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर किया है।

### ५.१.४.१. निज आलय और नित्यविहार स्थल :

अपने परमोपास्य का स्वरूप परिचय देते हुए श्री हिताचार्य ने एक स्थल पर लिखा है कि वह एकमात्र वृन्दावन में ही गोचर है<sup>१</sup>। अर्थात् उसका अपना निज निवास स्थान वृन्दावन ही है। इसी तथ्य को परिपुष्ट करते हुए एक अन्य स्थल पर भी लिखा है कि वह वृन्दावन की सीमा में ही विराजमान है<sup>२</sup> इसी तथ्य पर पुनः प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है कि वह वृन्दावन में सदा सर्वदा प्रकटतर है<sup>३</sup>। एक स्थल पर अपने उपास्य को सर्वालक्षित बताते हुए उसे वृन्दावन की निकुंज सीमा में ही स्वानंग रंगोत्सव परायण रहने का उल्लेख किया है<sup>४</sup>। इतना ही नहीं उन्होंने सुस्पष्ट शब्दों में अंगुलि निर्देश करते हुए यह भी उल्लेख किया है कि रस क्रीड़ा विदग्ध युगल इसी वृन्दावन भूमि में ही विहार कर रहे हैं<sup>५</sup>। वृन्दावन को लीला भूमि के रूप में प्रकीर्तित करते हुए उन्होंने कहा है कि श्री राधा चरण कमलों की लीला भूमि [वृन्दावन] में दिव्य कल्पवृक्षों की अनन्त श्रेणियाँ सदा विराजमान रहती हैं<sup>६</sup>।

### ५.१.४.२. श्री राधिका-कृपा-गम्य :

श्री हिताचार्य ने इस लीला धाम वृन्दावन की स्वरूप गरिमा पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जो श्री राधा पद किंकरी भाव से पूर्ण हृदय वालों के लिए ही सम्यक्

१. यद् वृन्दावन मात्र गोचरमहो...

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६

२. यो वृन्दावन सीम्नि कश्चन घनाश्चर्यः किशोरीमणिः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७७

३. कालिन्दी कूल कल्पद्रुमतल निलय प्रोल्लसत्केलिकन्दा। वृन्दाटव्यां सदैव प्रगटतर रहो.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२६

४. वृन्दारण्य निकुंज सीमसु सदा स्वानंग रंगोत्सवै।.... गोविन्द प्रिय वर्ग दुर्गम सखी वृन्दैरनालक्षिता। दास्यं दास्यति में कदानु कृपया वृन्दावनाधीश्वरी।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८

५. चलल्लीला गत्या क्वचिदनु चल्लद्धंश मिथुनं। क्वचित्केकिन्यग्रे कृत नटन चन्द्रक्यनुकृति।।

लताशिलष्टं शाखि प्रवर मनु कुर्वत क्वचिदहो। विदग्ध द्वन्द्वं तद्रमत इह वृन्दावन भुवि।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २१९

६. श्री राधा पादाब्ज लीला भुवि जयति सदा मन्द मन्दार कोटिः।

श्री राधाकिंकिरीणां लुठति चरणयोरद्भुता सिद्ध कोटिः।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १४३

प्रकार से दृष्टिगोचर हो सकता है। जो श्री राधा की कृपा स्पर्श के बिना कदापि हृदय में ध्यान में भी नहीं आ सकता और जो एकमात्र पाप के ही पात्र हैं उनको भी प्रेमामृत सिन्धु के सार रस का दान करता है। उस श्री वृन्दावन की दुष्प्रवेश महिमा मेरे हृदय में स्फुरित हो—

यद्राधा पद किंकरी कृत हृदां सम्यग् भवेद् गोचरं  
ध्येयं नैव कदापि यद्धृदि बिना तस्याः कृपा स्पर्शतः।  
यत्प्रेमामृत सिन्धु सार रसदं पापैक भाजामपि  
तद् वृन्दावन दुष्प्रवेश महिमाश्चर्यं हृदि स्फूर्जतु<sup>१</sup>॥

इसी तथ्य को सशक्त शब्दों में सम्पुष्ट करते हुए एक अन्य स्थल पर उद्घोष किया है कि मैं श्यामा-श्याम की रस रास क्रीड़ास्थली उस वृन्दावन को सर्वप्रथम प्रणाम करता हूँ जो श्री राधिका की कृपा बिना सभी को मन के द्वारा भी अगम्य है। श्री हिताचार्य ने उस वृन्दावन को नित्य नूतन शोभा से सम्पन्न इंगित करते हुए यह भी कहा है कि उस धाम में नित्य शरद और नित्य बसन्त ऋतु बनी ही रहती हैं—

प्रथम यथामति प्रणऊँ श्री वृन्दावन अति रम्य।  
श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य॥  
वर यमुना जल सींचन दिनहीं शरद बसंत।  
विविध भाँति सुमनसि के सौरभ अलि कुल मंत॥  
रसिक रास जहाँ खेलत श्यामा-श्याम किशोर।  
उभय बाहु परिरंजित उठे उर्नीदे भोर<sup>२</sup>॥

### ५.१.४.३. अन्य लोकों से पृथक—अवनीतलस्थ :

श्री हिताचार्य ने अपने उपास्य के क्रीड़ा धाम वृन्दावन को बैकुण्ठ आदि सभी भगवद् धामों से पृथक घोषित करते हुए लिखा है कि अन्यत्र की तो बात ही क्या कही जाय, बैकुण्ठधाम भी जिसके समक्ष तेज हीन प्रदेश बन गया है —

किं ब्रूमोन्यत्र कुण्ठीकृतक जन पदे धाम्न्यपि श्री विकुण्ठे<sup>३</sup>।

श्लोक में प्रयुक्त 'अन्यत्र किं ब्रूम' शब्द द्वारा तथा धाम्न्यपि के 'अपि' शब्द द्वारा बैकुण्ठ धाम के साथ-साथ गोलोकादि सभी ईश धामों से अपने वृन्दावन की पृथकता का स्पष्ट संकेत किया गया है।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २६५

२. हि. चौ., प. सं. ५७

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. १७५



गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना के अतिरिक्त सभी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में गोलोक सभी लोकों के ऊपर स्थित माना जाता है<sup>१</sup>। जहाँ पर इस प्रगट मथुरा मंडल के समान ही वृन्दावन, यमुना तथा गोवर्धनादि पर्वत हैं। इस गोलोक का लीला परिकर भी वहीं ब्रज और मथुरा परिकर ही है<sup>२</sup>। अर्थात् नन्द-यशोदा, कीर्ति-वृषभानु, ब्रजगोपीगण-सखागण, वसुदेव-देवकी, कंस और उग्रसेन आदि ही हैं। यहाँ पर वही सब लीलायें होती मानी जाती हैं<sup>३</sup> जिनका वर्णन श्रीमद् भागवत, ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्म पुराण आदि ग्रन्थों में है। इस वृन्दावन के उपासक गोलोक लीला को 'वास्तवी' तथा प्रगट ब्रज की अवतार कालिक लीला को 'व्यवहारिकी' लीला कहते हैं<sup>४</sup> गोलोक लीला को नित्य; और प्रगट लीला को नैमित्तिक कहते हैं। किन्तु यह नित्य लीला प्रगट लीलानुसारिणी ही है और लीला से निष्पन्न होने वाला श्री कृष्ण रूप भी प्रगट लीला में प्रत्यक्ष रूप के समान ही है। यहाँ पर श्रीकृष्ण के दक्षिण अंग से गोप सखा परिकर और वामांग से श्री राधा सहित समस्त गोपी परिकर प्रगट होता है। और फिर दोनों परिकर उन्हीं में लीन हो जाते हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही नित्य बने रहते हैं यहाँ की लीला में श्री राधा एक सर्वसाधारण गोपी हैं जो कि श्रीदामा की कोप भाजन भी बन जाती हैं। पुराणों के मतानुसार गोलोकस्थ गोपीजन बल्लभ की एकान्त गोपी रमण लीला में कतिपय सखाओं का भी नित्य प्रवेश है। शिव, ब्रह्मा, नारद, शुक, सनक और नर रूप अर्जुन

१. श्री गोलोकं तं चिराशावलम्बं प्राप्तो भ्रान्तं सर्वलोकोपरिष्ठात्।  
आस्ते श्री मन्माथुरे मण्डलेऽस्मिन् याहक् सर्वं तत्र वै तादृगेव।  
तस्मिन् श्री मथुरा रूपे गत्वा मधुपुरी महं। अत्रत्यामिव तां दृष्ट्वा विस्मयं हर्षं मय्यगां।  
तस्याम शृण्वं चेदं निगृह्य पितरं स्वयं। देवकी वसुदेवञ्च कंसो राज्यं करोति सः।  
तस्य प्रिय सुरा मित्र परिवारस्य शङ्कया। नोत्सहन्ते यथा कामं विहर्तुं यादवाः सुखं।  
— बृ. भा., स. गो., द्वितीय खण्ड, ष. अ., श्लो. सं. १४ से १७ तक
२. एवं तत्र चिरं तिष्ठन् मर्त्यलोक स्थितं त्विदं। मथुरा मण्डलं श्री मदपश्यं खलु तादृशं।  
तत्तच्छ्री गोप-गोपी मिस्ताभिर्गोभिश्च तादृशैः। पशु-पक्षि कृमिक्ष्माभृत्सस्तिर्वदिभिर्वृतम्।  
— बृ. भा., स. गो., द्वितीय खण्ड, ष. अ., श्लो. सं. ३७१, ३७२
३. ता वद्विहाय प्रभुरात्म कौतुकं निर्गत्य तत्कालियमोग बन्धनात्।  
उतुङ्ग विस्तीर्ण सहस्र तत्फणेष्वारुह्य हस्ताब्ज युगं व्यसारयत्।  
तेष्वेव नीत्वा युग पन्निजप्रियास्ता गोपिकाः सत्वर मध्यरोहयत्।  
रत्न स्थली पङ्क्ति समधु सर्वत शिचत्राति चित्रं भ्रमणामिरामिषु।  
कृष्णं मुग्धमिलाक्ष्य कशाघातै प्रचोदिताः। रामनन्दादि सम्मत्या रथाश्वास्तवेन वेगतः।  
इतस्ततो निपतिता गोप नारीः पूशंश्च सः। वर्ज्ययन् वक्र गत्याशु रथं तं निरसारयत्।  
— बृ. भा., स. गो., द्वितीय खण्ड, ष. अ., श्लो. सं. २४१, २४२, ३१६, ३१७
४. लीलैवं द्विविधा तस्य वास्तवी व्यवहारिकी। वास्तवी तत्स्व सम्बन्धा जीवनां व्यवहारिकी।  
— बृ. भा., स. गो., द्वितीय खण्ड, ष. अ., श्लो. सं. ....

तक भी यहाँ के नित्यविहार में गोपी रूप से प्रवेश कर सकते हैं। अवतार काल में यह गोलोक ही प्रपंच भूत में एकात्म होकर गोकुल [ब्रज] रूप में प्रगट होता है। 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में इस गोलोक लीला में काम, क्रोधादि का वर्णन भी विशद रूप में प्राप्त होता है इसी प्रकार की एक लीला में श्रीदामा से श्रापित होकर श्री राधा का श्री कृष्ण से एक सौ वर्ष के वियोग होने का भी उपाख्यान मिलता है। यह श्राप ब्रज में प्रगट होने का एक कारण माना जाता है। यह गोलोक और यहाँ की लीलायें ही [गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना को छोड़कर] अन्य सभी कृष्ण भक्ति संप्रदायों में उपास्य हैं।

हम यह भी देखते हैं कि श्री हिताचार्य ने स्वेष्ट वृन्दावन को बैकुण्ठ और गोलोकादि अन्य सभी धामों से पृथक घोषित करते हुए उसे इसी भूतल पर स्थित बतलाया है —

जै श्री हित हरिवंश विपिन भूतल पर संतत अविचल जोरी<sup>१</sup>।  
नव वृन्दावन हरित मनोहर नव चात्रक बोलत मोर-मोरी।  
जै श्री हित हरिवंश असिस देत मुख चिरजीवौ भूतल यह जोरी<sup>२</sup>।।  
आजु निकुंज मंजु में खेलल नवल किशोर नवीन किशोरी।  
अति अनुपम अनुराग परस्पर सुनि अभूत भूतल पर जोरी<sup>३</sup>।।

यहाँ पर अत्यन्त अविस्मरणीय परम रहस्य की बात यह है कि यह वृन्दावन पृथ्वी के अन्य भागों में स्थित न होकर ब्रजमण्डलान्तर्गत इसी भूतल पर स्थित होते हुए भी वह उन्हें नहीं दिखाई देता जिन्हें राधिका कृपा प्राप्त नहीं है<sup>४</sup> अथवा जो राधा पद किंकरी कृत हृदय नहीं हैं<sup>५</sup>। हितानुगत परवर्ती सभी रसिकों ने वृन्दावन को इसी भूतल पर स्थित बताते हुए श्री राधिका कृपा अप्राप्त जनों को अगोचर प्रकीर्तित किया है। 'श्री राधा माधव इस वृन्दावन में नित्य क्रीड़ा करते हैं'— यह संकेत करते हुए प्रबोधानंद जी सरस्वती पाद ने इसे इसी पृथ्वी पर प्रकट कहा है—

श्री वृन्दावनमवनी प्रकटं प्रकृतेः परात्परं सुरसम्।  
श्री राधामाधव नित्याक्रीडं संत्यज्य सर्वमाश्रयत्<sup>६</sup>।

हित ध्रुवदास जी ने इस वृन्दावन को अवनी पर स्थित बताते हुये इस धरा धाम से असंपृक्त और सबसे ऊँचा बताया है। यहाँ 'ऊँचौ' शब्द का अन्तराशय सर्वोत्कृष्टता से है—

१. से ४. हि. चौ., प. सं. ७०, ५४, ७, ५७

५. रा. सु. नि., श्लो. सं. २६५

६. वृ. म., प्र. सं., पंचदश शतकम्, श्लो. सं. ५९



यद्यपि राजत अवनि पर सबते ऊँचौ आहि।

ताकी सम कहिये कहा श्रीपति बंदत ताहि<sup>१</sup>॥

कृष्णदास भावुक ने भी इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

भूतल विराजै पै राजै सब लोकनि पर, फूल्यौई रहत सदा सेव निगम वानी कौ।  
दिखियत है भू पर पै जानि सर्व ऊपर है, झलमलात वृन्दावन वृन्दावनरानी कौ<sup>२</sup>॥

मोहनमत्त जी ने श्री हिताचार्य की रसोपासना में स्वीकृत वृन्दावन को स्वर्ग, नर्क, बैकुण्ठ और गोलोक आदि सभी लोकों से पृथक् व्याख्यान किया है—

तीन लोक की भूत मूत सम, सुर-नर-मुनि धुधकारैं।

स्वर्ग, नर्क, बैकुण्ठ, लोक गो, सब सौंटे पर मारैं<sup>३</sup>॥

श्री हिताचार्य की वाणी के सूत्र वाक्यों [श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य—हि. चौ., प. सं. ५७] तथा [जै श्री हित हरिवंश विपिन भूतल पर—हि. चौ. प. सं. ७०] के आधार पर परवर्ती हितानुगत रसिकों ने भी इसी वृन्दावन की स्वरूप गरिमा और महत महिमा का गान किया है। प्रबोधानन्द सरस्वती पाद ने वृन्दावन के महामहिम स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—जिसका करोड़वांश भी निगम स्पर्श नहीं कर पाते, जिसे योगीगण नहीं जानते, जिसे लक्ष्मी, शंकर, ब्रह्मा, अर्जुन और उद्धवादि सखा भी नहीं देख पाते हैं। औरों की तो बात क्या? ब्रजवासीगण भी जिसे कभी नहीं देख सकते वह श्री वृन्दावन एकमात्र श्री राधा चरणाश्रितों को ही परिलक्षित होता है। ऐसे श्री वृन्दावन में प्रेम किंवा रस मूर्ति अद्वय युगल निरन्तर क्रीड़ा करके आनन्दित हो रहे हैं—

यद् कोट्यंश मपि स्पृशेन्ननिगमो यन्नो विदुर्योगिनः

श्रीश ब्रह्म शुकार्जुनोद्धव सखाः पश्यन्ति यन्न क्वचित्

अन्यत् किं ब्रजवासिनामपि न यत् दृश्यं कदा लोकये

श्री वृन्दावन रूपमद्भुत महं राधा पदैकाश्रयः<sup>४</sup>

कैशोरादपरं वयो नहिं कदा प्यासादयन्नक्षणं

क्रीडातो विरतं तदेक मिथुनं वृन्दावने नन्दति<sup>५</sup>

१. व्या. ली., वृन्दावन सत, हि. घु. दा., छं. सं. ७४

२. वृ. अ., कृ. दा. मा., छं. सं. १, ३

३. मो. म. की माँ., मो. म., छं. सं. ४

४. से ५. वृ. म., प्र. स., सप्तदश शतक, श्लो. सं. ६०, षष्ठम शतक, श्लो. सं. ९,

सरस्वती पाद ने— “श्री राधिकाकृपा बिनु सबके मननि अगम्य”—इस सूत्र वाक्य में अन्तर्गर्भित तथ्य का उद्घाटन करते हुए यह भी कहा है कि यह वृन्दावन श्री मद्भागवतादि पुराणों, अन्यान्य भक्ति ग्रंथों तथा समस्त कृष्णोपासक सम्प्रदायों में वर्णित वृन्दावन से और गोलोक वृन्दावन से भी पृथक है—

अनन्तैश्विज् ज्योत्सना रस जलधिपूरै स्ततइतो  
बहद्भिर्गोलोकावधि सकल संप्लावन करम्<sup>१</sup>

श्रीमद्भागवतादि पुराणों तथा कृष्णोपासक भक्ति सम्प्रदायों के ग्रंथों में ‘गोष्ठ वृन्दावन’ तथा ‘गोपी वृन्दावन’ का वर्णन है। कवि कर्णपूर [गौड़ीय] के ‘आनन्द वृन्दावन चम्पू’ नामक ग्रन्थ में पौराणिक वृन्दावन का परिचयात्मक सुन्दर वर्णन है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह वृन्दावन ब्रजपुर पुरन्दर की राजधानी है — “यत्र कांचन राजधानी ब्रजपुर पुरन्दरस्य<sup>२</sup>।” जिसके राजा-रानी नन्द-यशोदा हैं। ‘आनन्द वृन्दावन चम्पू’ में जिस वृन्दावन का वर्णन है वह सरस्वतीपाद वर्णित ‘गोष्ठ वृन्दावन’ है। सरस्वती पाद ने स्वेष्ट वृन्दावन का परिचय देते हुए कहा है कि—

स्थूल, सूक्ष्म कारण एवं तुरीय ब्रह्म श्री बैकुण्ठ, द्वारिका, जन्मभूमि [मथुरा—गोकुल] श्री कृष्ण की गोचारण स्थली श्री वृन्दावन एवं गोपियों की क्रीड़ा भूमि [ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ और उत्तरोत्तर आश्चर्यमय हैं] अतिशय आश्चर्यजनक एवं परिदृश्यमान से अतीव सुन्दर श्री राधा की कुंजवाटी सुशोभित है। वहाँ ही रूप शोभा वैदग्ध्य तथा पारस्परिक अनुराग के अद्भुत सागर एवं नित्य तथा अभंग उन्मादकारी अनंग रंग रंजित श्री राधा और कृष्ण अपनी अलियों सहित लीला किया करते हैं—

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं ब्रह्म तुर्य श्री बैकुण्ठा द्वारिका जन्मभूमिः।  
कृष्ण स्थायो गोष्ठ वृन्दावनन्तत् गोप्या क्रीडं धाम वृन्दावनान्तः।  
अत्याश्चर्या सर्वतोस्माद् विचित्रा श्री मद् राधा कुंज वाटी चकास्ति।  
आद्यो भावो यो विशुद्धोऽति पूर्ण स्तद्रूपा सा तादृशोन्मादि सर्वाः।  
तत्रैवाविर्भवद्रूप शोभा वैदग्धान्योऽन्यानुरागाद्भुतौघौ।  
नित्याभङ्ग प्रोन्मदाननङ्गरङ्गौ राधा कृष्णौ खेलतः स्वालि जुष्टौ<sup>३</sup>।

सरस्वती पाद ने अपने वृन्दावन को गोलोकस्थ वृन्दावन से पृथक संकेत करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि— “मेरा यह वृन्दावन अपने अनंत चित् ज्योत्सनामय

१. वृ. म., प्र. स., चतुर्थ शतक, श्लो. ८३

२. आ. वृ. च., क. कर्ण.

३. वृ. म., प्र. स. प्रथम शतक, श्लो. सं. ८, ९, १०



रस समुद्र के पूर प्रवाह से गोलोक सीमा तक को संप्लावित करने वाला है—

अनन्तैश्विज्ज्योत्सना रस जलधि पूरै स्ततइतो।

वहद्विर्गोलावधि सकल संप्लावन कर्म<sup>१</sup>।

हरिराम व्यास जी ने “श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य” वृन्दावन का अन्तर्बहिर्परिचय देते हुए लिखा है कि यह श्री वृन्दावन श्री राधामोहन का अपना निज मन्दिर [निवास स्थान] है। यह ब्रह्मा के द्वारा संसृष्ट नहीं है। अतः यहाँ महाप्रलय का प्रभाव नहीं होता। यह सदा सनातन माया-काल रहित, नित्य नूतन, हरित और कुसुमित बना रहता है। यह न तो सूर्य के नीचे है और न शेष के फनों पर ही स्थित है। यहाँ न सन्ध्या होती और न प्रातः ही होता है। इस वृन्दावन में निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार ब्रह्म से पृथक् ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ अद्वय युगल रूप से नित्य विहार किया करता है—

श्री वृन्दावन की शोभा देखत मेरे नैन सिरात।

कुंज निकुंज पुंज सुख वरषत हरषत सबके गात॥

राधामोहन के निजु मन्दिर महाप्रलय नहिं जात।

ब्रह्मा ते उपज्यौ न अखण्डित कबहूँ नहिं नसात॥

फन पर रवि तर नहिं विराट महुँ नहिं सन्ध्या नहिं प्रात।

माया काल रहित नित नूतन सदा फूल फल पात॥

निर्गुण-सगुण ब्रह्म ते न्यारौ बिहरत सदा सँघात।

‘व्यास’ विलास रास रस अद्भुत निगम अगोचर बात<sup>२</sup>॥

उपास्य तत्व ‘प्रेम’ के लीलाङ्ग प्रकरण में वर्णित संपूर्ण लीलायें इस भूतलस्थ वृन्दावन धाम में ही होती हैं जो श्री राधिका कृपा गम्य है। इस दृष्टि से यह वृन्दावन उपास्य की लीलाओं का आधार तो है ही साथ ही प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम का नित्य निवास स्थल भी है। वे इसमें लीला करने के लिए न तो कहीं बाहर से आते हैं और न इसे छोड़कर कहीं बाहर ही जाते हैं —

आयातं न कुतश्चन क्वचन नौ गन्तुस्मरैकाम्बुधौ

पारावार विवर्जितेऽति विषमेऽनाद्यन्त कालं लुटत्।

गौर श्यामल दिव्य कान्ति सहजात्याश्चर्य-कैशोरकम्

यत्रास्ते मिथुनम् मिथोऽङ्गमिलनाज्जीवन्तु मस्तद्वनन्<sup>३</sup>।

१. वृ. म., प्र. स., चतुर्थ शतक, श्लो. सं. ८३

२. व्या. वा. ह. व्या., प. सं. ४४

३. वृ. म., प्र. स. नवम शतक, श्लो. सं. ६८,

.....न स्थाने परतः कदा त्वनुगतं नौ वा कुताऽप्यागतम् .....  
क्रीडातो विरतं तदेक मिथुनं वृन्दावने नन्दति<sup>१</sup>।

#### ५.१.४.४. क्रीड़ा-प्रेरक और सहायक :

उपास्य के 'रूप विवेचन' प्रकरण में निम्नान्त रूप से आलोकित हो चुका है कि परमोपास्य का रूप प्रतिक्षण नव-नव रूप में प्रकट होता है। रूप की इस नूतनता का कारण उसकी नई-नई लीलायें हैं—क्योंकि प्रेम के रूप की निष्पत्ति लीलाओं से ही होती है। इन नूतन लीलाओं की प्रेरणा उन्हें वृन्दावन की सहज शृंगार-सम्पत्ति, नई-नई सहज शोभा, एवं रस विलास सामग्री से मिलती है।

वृन्दावन अपनी अनन्त द्रुम बेलियों के पारस्परिक आलिंगन से, पुष्प-पराग पान से प्रमत्त मलिन्दों की मधु गुंजन से, अनन्त अमलामृत किरणों के द्वारा कुमुदनी कुल के साथ कलाधर की क्रीड़ा से, तरनितनया की तरल तरंगों से और मोर-मराल कोकिल-कपोतादि पक्षियों की रंगीन केलियों से युगलवर के हृदय में रस क्रीड़ा करने का उद्दीपन किया करता है। क्रीड़ा प्रिय युगल को नई-नई केलि करने की प्रेरणा दिया करता है। इसप्रकार से यह वृन्दावन अपने नित्य नवीन स्वरूप-वैभव-द्वारा रसिक युगल की प्रेम केलि को अक्षुण्ण बनाये रखता है। अन्तराशय यह कि 'वृन्दावन' श्यामा श्याम की लीलाओं का प्रेरक है।

वृन्दावन के क्रीड़ा-प्रेरक रूप पर प्रकाश डालते हुए श्री हिताचार्य ने कहा है कि क्रीड़ा प्रिय श्यामा-श्याम कभी तो लीला पूर्ण गति द्वारा यमुना में केलि कर रहे हंस-हंसिनी की गति का अनुकरण करते हैं। कभी नर्तनशील मयूर और मयूरी को देखकर उन्हीं की भाँति स्वयं भी नृत्य करते हैं तो कभी किसी लता से संश्लिष्ट पादप को देखकर स्वयं भी आबद्ध वक्ष होते हैं—

चलल्लीलागत्या क्वचिदनु चलद्धंश मिथुनं, क्वचित्केकिन्यग्रे कृत नटन चन्द्रक्यनुकृति।  
लता श्लिष्टं शाखि प्रवर मनु कुर्वत् क्वचिदहो, विदग्ध द्वन्द्वं तद्रमत इह वृन्दावन भुवि<sup>२</sup>।  
कदा मधुर सारिकाः स्वरस पद्यमध्यापयत्, प्रदाय करतालिकाः क्वचन नर्तयत्केकिनम्।  
क्वचित् कनक वल्लरी वृत तमाल लीलाधनं, विदग्ध मिथुनं तदद्भुतमुदेति वृन्दावने<sup>३</sup>।

#### ५.१.४.५. प्रेम मूर्ति किंवा प्रीति मूर्ति :

प्रेम चाहे लौकिक हो या अलौकिक, उसकी प्रकृति, उसका प्रबल प्रताप और प्रभाव एक सा ही परिलक्षित होता है। उसके प्रत्येक केलि क्षेत्र में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि 'प्रेमी'

१. वृ. म., प्र. स., षष्ठम शतक, श्लो. सं. ९

२., ३. रा. सु. नि., श्लो. सं. २१९, २२१



प्रीति की प्रेरणा से विवशतः अपने प्रेमारस्पद के पग प्रान्त में अपना सर्वस्व समर्पण किया करता है। प्रीति के अन्तः आदेशों से ही वह प्रेमपात्र के सर्वथा आधीन, उसका मुखापेक्षी और उसका अनुगामी बना रहता है। इसी प्रकार प्रेमपात्र भी प्रीति की प्रबलशालिनी प्रेरणा से अपने प्रेमी के समक्ष कभी प्रतिकूल, कभी अनुकूल और कभी तदाधीन ही बना दिखाई देता है। भगवान राम और भगवान श्री कृष्ण के प्रेमीभक्त एवं प्रेम की ध्वजा रूप में प्रकीर्तित ब्रजगोपियाँ इस तथ्य के जाज्वल्य और निरापद प्रमाण हैं। स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने 'प्रेरिका प्रीति' वशात् अर्जुन का सारथ्य किया था और गोपियों की गागर भरी थीं।

साक्षी स्वरूप उपर्युक्त प्रमाणों की प्रकृष्ट प्रभा में प्रकाशित यह तथ्य किसे अमान्य होगा कि—प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों के प्रेम विलासों की विधायिका तथा नियामिका एकमात्र 'प्रीति' ही होती है।

श्री हिताचार्य की वाणी तथा हितानुगत रसिकों की वाणियों से हमें यह उद्बोधन भी प्राप्त होता है कि प्रेममूर्ति अद्वय युगल श्यामा-श्याम को प्रीति के अनन्त विलासों की प्रेरणा वृन्दावन से ही मिला करती है। [देखें राधासुधानिधि, श्लो. २१९] इस आधार पर सम्भवतः यह तथ्य सभी को स्वीकार होगा कि वृन्दावन भी राधाकिंकरीगणों की भाँति ही 'प्रीति' की सजीव मूर्ति है। यही कारण है कि हित रसिकों ने स्थल-स्थल पर इसे 'रस मूर्ति', 'प्रीतिमूर्ति' किंवा 'प्रेम मूर्ति' कहकर प्रकीर्तित किया है। यह एक निरापद और निर्भ्रान्त सत्य है कि प्रीति की दो अवस्थायें होती हैं। एक चैतन्यावस्था और दूसरी जाङ्ग्यावस्था। एक तरल और दूसरी सान्द्र। चैतन्य किंवा तरल अवस्था सचल और सक्रिय देखी जाती है तो जाङ्ग्य किंवा सान्द्रावस्था अचल और निष्क्रिय रूप में ही प्रत्यक्ष रहती है, किन्तु ऐसी जाङ्ग्यावस्था में रहते हुए भी यह प्रीति चैतन्य अवस्था जैसी ही प्रेमी-प्रेमपात्र को विलासों की प्रेरणा देती है और विविध प्रकार की सेवा करके उनके सुख में सुखी-उत्फुल्ल वदन बनी रहती है। 'प्रीति' की चैतन्यावस्था की साकार मूर्ति श्री राधाकिंकरीगण हैं और प्रीति की जाङ्ग्यावस्था का साकार विग्रह श्री वृन्दावन है। वृन्दावन 'प्रीति' का ही साकार विग्रह है इसीलिए प्रेममूर्ति श्यामा-श्याम और ललितादिक सहचरियों की भाँति नित्य नवल रूप<sup>१</sup>

१. [क] नव वृन्दावन हरित मनोहर नव चात्रक बोलत मोर मोरी।

—हि. चौ., प. सं. ५४

[ख] सदा बसन्त रहत वृन्दावन पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट।

—हि. चौ, प. सं. ६४

[ग] माया काल रहित नित नूतन सदा फूल फल पात।

—व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ४४

[घ] छिन-छिन वन की छवि नई नवल जुगल के हेत। समुझि बात सब जीय की सखि वृन्दा सुख देत।।

— व्या. ली., वृन्दावनसत, हि. ध्रु. दा., छं. सं. २२

और नित्य किशोर<sup>१</sup> बना ही रहता है। सहचरियों की भाँति ही अपने दोनों लाड़िलों की मन रुचती सेवा किया करता है<sup>२</sup> और दोनों को सानन्द देखकर सदा उत्फुल हृदय हुआ करता है। अर्थात् सदा हरा भरा बना रहता है<sup>३</sup>। श्यामा-श्याम भी श्री वन की रस-केलि सहायिका सेवा से उपकृत होकर इसके गुण गाया करते हैं<sup>४</sup>।

#### ५.१.४.६. रस-केलि का साक्षी :

वृन्दावन की नित्य नूतनता और उत्फुल्लता ही साक्षी रूप में इस बात की घोषणा जैसी किया करती है कि प्रेम मूर्ति श्यामा श्याम का नित्य नूतन विहार निरन्तर चल रहा है। सदा एक रस चल रहा है। यही कारण है कि श्री हिताचार्य ने इस वृन्दावन को श्री राधा केलि कला का साक्षी कहकर प्रकीर्तित किया है—

राधा केलि कला सु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने।

वत्स्यामि स्फुटमुज्ज्वलाद्भुत रसे प्रेमैक मत्ताकृतिः<sup>५</sup>।

श्री हिताचार्य के सूत्राधार पर प्रबोधानन्द जी ने भी उसे श्री राधा नागर की स्मरकला का साक्षी बतलाया है—

हा वृन्दावन हा महा रसमय प्रेमैक सम्पन्निधे।

राधा रति नागर स्मर कला साक्षिन्मदेक प्रिये<sup>६</sup>।

१. विपिन अलौकिक लोक में अति अभूत रस कन्द। नव किशोर इक वैस दुम फूले रहत सुछन्द।।

— ब्या. ली., वृन्दावनसत, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ३५

२. [क] ये द्राधिष्ठाऽतिह्रस्वा अति घन विरलाश्छायाया शीतलोष्मा।

निःश्वभ्रा कोटराद्या अति शिशु तरुणास्तानवाद्याः स्थविष्ठाः।

श्री राधा कृष्णयोः कामपि रस लहरी सनततं वर्द्धरन्तः।

शाखीन्द्रास्ते तदिच्छामय तनु विभवा भान्ति वृन्दावनीयाः।

— वृ. म., प्र. स., षष्ठम शतक, श्लो. सं. १४

[ख] देवी वृन्दाविपिन की वृन्दा सखी सरूप। जिहि विधि रुचि होइ दुहुँनि की तिहि विधि करत अनूप।।

— ब्या. ली., वृन्दावन सत, हि. ध्रु. दा., छं. सं. २१

३. वर यमुना जल सींचन दिनहीं शरद-बसंत। विविध भाँति सुमनसि के सौरभ अलि कुत मंत।।

— हि. चौ., प. सं. ५७

४. गावत वृन्दा विपिन गुन नवल लाड़िली लाल। सुखद लता फल फूल दुम अद्भुत परम रसाल।।

— ब्या. ली., वृन्दावन सत, हि. ध्रु. दा., छं. सं. २३

५. रा. सु. नि., श्लो. सं. २६६

६. वृ. म., प्र. स., सप्तदश शतकम्, श्लो. सं. २२



### ५.१.४.७. केलि-द्वष्टा रसिक और रसदाता :

वृन्दावन रस रसिकों की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि रसिक युगल की सर्वप्रथम केलि रसास्वादिका श्री राधाकिंकरीगण ही हैं; किन्तु श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में इसके मूल में छिपे रस रहस्य को उद्घाटित करते हुए यह भी बताया है कि इन राधा किंकरीगणों को इस केलि रस माधुरी की उपलब्धि वृन्दावन के द्वारा ही हुई है और होती है। वृन्दावन की इस विशिष्ट स्वरूप महत्ता के कारण ही उन्होंने इसे 'परम रस सुधा माधुरी का धुरीण' और 'रस-दाता' कहकर प्रशंशित किया है तथा सर्वप्रथम इसकी वन्दना भी की है—

किं ब्रूमोन्यत्र कुण्ठीकृतक जन पदे धाम्न्यपि श्री विकुण्ठे  
राधा माधुर्य वेत्ता मधुपति रथतन्माधुरी वेत्ति राधा  
वृन्दारण्य स्थलीयं परम रस सुधा माधुरीणां धुरीणां  
तद्वदं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिंकरीभ्यः<sup>१</sup>।

प्रथम यथामति प्रणज्जं श्री वृन्दावन अति रम्य<sup>२</sup>

### ५.१.५. परिकर [राधाकिंकरीगण] :

#### ५.१.५.१. परिकर और लीला : पारस्परिक सम्बन्ध :

उपास्य का यह 'परिकर' संज्ञक अंग भी धामांग वृन्दावन की भाँति ही श्यामा-श्याम की नित्य लीलाओं का पूरक है किन्तु एक वैशिष्ट्य के कारण इस अंग का महत्व विशेष है। वह वैशिष्ट्य यह है कि परिकर ही एक लीला से दूसरी लीला का पार्थक्य ज्ञान कराता है। उदाहरणतः — यदि लीला परिकर में लीला कर्ता के साथ उनके स्नेहीजन श्री नन्द-जशोदादि हैं तो वह ब्रज लीला [ब्रज में होने वाली श्री कृष्ण की बाल लीला] है। यदि लीला परिकर में सुबल-सुबाहु आदि सखागण हैं तो वह भी ब्रज लीला [ब्रज में होने वाली श्री कृष्ण की गोचारणादि सख्य लीला या गोष्ठ लीला] है और यदि लीला परिकर में गोविन्द प्रिय राधा, चन्द्रावली, ललिता आदि गोपीगण हैं तो वह भी [किशोवस्था की शृंगारी लीला नाम्नी] ब्रज लीला ही है। ब्रज लीला का सम्पूर्ण परिकर 'गोविन्द प्रिय परिकर' कहलाता है।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. १७५

२. हि. चौ., प. सं. ५७

## ५.१.५.२. परिकरीय पार्थक्य :

श्री हिताचार्य के उपास्य की लीलायें ब्रजलीला से सर्वथा भिन्न निकुंज लीला संज्ञक हैं। इस निकुंज लीला का परिकर गोविन्द प्रिय परिकर से सर्वथा भिन्न<sup>१</sup> श्री राधा प्रिय परिकर के नाम से जाना जाता है। इस राधा प्रिय परिकर में सभी सहचरियाँ श्यामा-श्याम की सेविका हैं; जो कि श्री राधा पक्षपातिनी होने के कारण राधाकिंकरी नाम से जानी जाती हैं<sup>२</sup>। ये सभी किंकरीगण युगल की परिचारिका होते हुए भी प्रकृतितः अपनी स्वामिनी श्री राधा की पक्षपातिनी हैं और राधा चरणों की ही अनन्या हैं। ये अपनी स्वामिनी श्री राधा के परम प्रेष्ठ होने के भाव संबंध से ही रसिकानन्द श्यामसुन्दर से भी प्रेम करती हैं—कान्तभाव से नहीं<sup>३</sup>। यद्यपि रसिकानन्द श्यामसुन्दर भी अपनी प्रिया की परम प्रिय दासी होने के नाते इनके प्रति विचित्र स्नेह वैभव की रचना करते हैं तो भी इन सखियों का मन रसिक प्रीतम की ओर उन्मुख न होकर श्री राधा-चरण-कमल-रस में ही निमग्न बना रहता है<sup>४</sup>। श्री हिताचार्य ने इन अनन्य निष्ठ राधा किंकरीगणों को श्री राधामनुधावती<sup>५</sup>, श्री राधाचरणानन्या<sup>६</sup>, श्री राधा पक्षपातिनी<sup>७</sup> तथा श्री राधा स्नेह गर्विता<sup>८</sup> के रूप में चित्रित किया है और कहा है कि ये श्री राधा की परम प्रिय कृपापात्री हैं—इसी

१. गोविन्द प्रिय वर्ग दुर्गम सखी वृन्दैरनालक्षिता। दास्यं दास्यति मे कदानु कृपया वृन्दावनाधीश्वरी।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८

२. राधाकिंकरीणां त्वखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा। .....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १४७

३.४. रा. सु. नि. श्लो. सं. १४१, ८७, ५५ — एतत् श्लोक सम्बन्धी विस्तृत विवेचन षष्ठम अध्याये में।

५. लीलापाङ्ग.....श्री राधा मनु धावती ब्रज किशोरीणां घटां भावेये।

— रा. सु. नि., श्लो. ८९

६. राधा नाम सुधा रसं रसयितुं जिह्वास्तु में विह्वला। पादौ तत्पदकाङ्क्षिता सु चरतां वृन्दाटवी वीथिषु। तत्कर्मैव करः करोतु हृदयं तस्याः पदं ध्यायता। तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः।

— रा. सु. नि., श्लो. १४० एवमपि—श्लो. ५५, ८७, ११३, ११४, ११५, २४०

७. श्री गोवर्धन एक एव भवता पाणौ प्रयत्नादधृतौ। राधावर्ष्णि हेम शैल युगले दृष्टेपि ते स्याद्भयम्। तद् गोपेन्द्र कुमार मा कुरु वृथा गर्व परीहासतः। कर्ह्येवं वृषभानुनंदिनि तव प्रेयांसमामाषये।

— रा. सु. नि., श्लो. २२३

८. किं रे धूर्त प्रवर ! निकटं यासि नः प्राण सख्या। नूनं बाला कुच तट कर स्पर्श मात्रा द्विमुद्धेत। इत्थं राधे पथि पंथि रसान्नागरं तेन लग्नं। क्षिप्त्वा भंग्या हृदयमुभयो कर्हि सम्मोहयिष्ये।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १९०



दृष्टि से रसिक शेखर श्यामसुन्दर इनके समक्ष सदा चाटुकारी करते हुए काकुवाणीवद् विनयावनत बने रहते हैं<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य ने इन राधाकिंकरीगणों को भी 'ललितादि', 'ब्रज किशोरी', 'ब्रज युवती', तथा 'गोपी' नाम से स्मरण किया है; किन्तु साथ ही उन्होंने इनको गोपी, ललितादि तथा बल्लवी आदि नामों से स्मरण करते हुए भी कुछ ऐसे विशिष्ट शब्दों से संयुक्त कर दिया है जिनसे इन किंकरीगणों का रूप गोविन्द प्रिय परिकर की ललितादि गोपियों से पृथक दिखाई देने लगता है।

एक स्थल पर उन्होंने "आधाय मूर्धनियदा पुरुदार गोप्यः<sup>२</sup> ....." लिखकर यह घोषणा की है कि उदार गोपियों ने श्रीराधा चरण रेणु को अपने मस्तक पर धारण करके अपने काम्य पद को प्राप्त किया था।

श्रीमद्भागवत वर्णित ब्रजगोपियों ने श्री राधा की चरण रेणु अपने मस्तक पर कभी भी नहीं धारण की थी, प्रत्युत श्रीकृष्ण चरण चिन्हों के साथ श्री राधा चरण-चिन्हों देखकर उन गोपियों के हृदय में अमर्ष और क्षोभ उत्पन्न हुआ था। दूसरी दृष्टव्य बात यह भी है कि ये गोपियाँ उदारचेता नहीं हैं, सब की सब स्व सुख सुखी हैं। इसीलिए श्रीराधा-चरण-चिन्हों को देखकर उनके हृदय में अमर्ष और क्षोभ उत्पन्न हुआ था। सुस्पष्ट है कि श्रीराधा प्रिय परिकर से संबोध्य ब्रज किशोरी, ललितादि किंवा गोपी नाम से स्मरण की गई राधाकिंकरीगण, गोविन्द प्रिय परिकर की गोपियों से सर्वथा भिन्न हैं।

एक अन्य स्थल पर श्रीहिताचार्य ने "रहो बल्लवी भाष भव्या"<sup>३</sup> लिखकर राधाकिंकरीगणों को 'बल्लवी' नाम से स्मरण तो किया है किन्तु 'बल्लवी' शब्द के साथ 'रहो' विशेषण शब्द का संयोग करके यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये बल्लवीगण पुराण विख्यात और सर्व विज्ञात गोपियों से पृथक कोई रहस्य रूपा एकान्तिक और सर्व अज्ञात गोपियाँ हैं।

एक अन्य स्थल पर इन रहो बल्लवी ब्रज किशोरियों का स्मरण करते हुए उन्हें श्रीराधा की अनुगामिनी बतलाया है—

**श्रीराधामनुधावती ब्रज किशोरीणां घटां भावये<sup>४</sup>।**

१. [क] यस्यास्तेवत् किंकरीषु बहुशः चाटूनि वृन्दाटवी। कन्दर्पः कुरुते तवैव किमपि प्रेप्सुः प्रसादोत्सवम्।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ९३

[ख] यत्किंकरीषु बहुशः खलु काकु वाणी। नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्ड मौलैः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७

२. से ४. रा. सु. नि., श्लो. सं. ४, १२६, ८९

श्रीमद् भागवत वर्णित कृष्ण कान्ता गोपियों श्रीराधा की अनुगामिनी न होकर श्रीराधा की उपेक्षा करके उनसे भी आगे जाकर श्रीकृष्ण से मिलने वाली हैं। ये राधाकिंकरीगण न तो किसी की बेटी ही हैं और न किसी की बहू ही हैं। यही कारण है कि श्री हिताचार्य के रसिक शेखर श्यामसुन्दर को यह शब्द कभी नहीं कहने पड़ते कि- 'बताओ' यह किसकी बेटी हैं ? तथा "किसी की बहू-बेटी रात विरात निकल जाती हैं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि ललितादि नाम से स्मरण की गई ये राधाकिंकरीगण गोविन्द प्रिय ललितादि गोपियों से सर्वथा भिन्न हैं।

श्रीहिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों के आधार पर प्रबोधानन्द जी सरस्वती तथा हितध्रुवदास जी आदि परवर्ती रसिकों ने राधाकिंकरीगणों को ब्रज के गोप-गोपियों से पृथक् व्याख्यान किया है। प्रबोधानन्द जी ने राधाकिंकरीगणों का स्वरूप चित्रण करते हुए लिखा है कि समस्त गोप किशोरों की वधूगण भी जिनकी छाया तक नहीं देख पातीं; ऐसी सर्व निपुणता की निधि दासियों से [श्री राधा] सेवित हो रही हैं—

सर्वाभीरकिशोर सुन्दर वधू दुष्प्राप्य पादाम्बुज।

च्छायैःसर्वविदग्धता निधि लसद्दासीगणैःसेव्ययाः<sup>१</sup>॥

इसी प्रकार हितध्रुवदास जी ने भी श्यामा-श्याम के नित्यविहार में गोपियों का मन के द्वारा भी पहुँचना निषेध किया है; साथ ही न पहुँचने का कारण उनके हृदयस्थ 'सकामता' बतलाई है—

तिन गोपिन ते दुर्लभ माई। नित्य विहार सहज सुखदाई॥

तिलहूँ कौ मन तहाँ न परसै। ललितादिक जिहि ठाँ छवि दरसै॥

तिन मन कछु सकामता आई। ताते बिच अन्तर पर्यौ माई<sup>२</sup>॥

निशि द्यौस जानति नाहि सजनी एक रस भीजी रहै।

गोप-गोपिन आदि दुर्लभ तिहि सुखहि दिन प्रति लहै<sup>३</sup>॥

### ५.१.५.३. प्रीति स्वरूपा :

श्री राधा प्रिय परिकर में प्रीति स्वरूपा वे ललिता-विशाखादि किंकरीगण हैं जिन्हें श्री हिताचार्य ने 'प्रणयमय रसिक ललितादि' कहकर स्मरण किया है<sup>४</sup>।

१. वृ. म., प्र. स. चतुर्थ शतक, श्लो. सं. ३

२. व्या. ली., हि. ध्रु. दा., नेह मंजरी, छं. सं. १५३, प्रेमलता, छं. सं. १६, अनुरागलता, छं. सं. २४.

३. पदा., हि. ध्रु. दा., प. सं. ८०

४. प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन चषक, पिवत मकरन्द सुख रासि अन्तर सची।



प्रेमी और प्रेमपात्र की प्रत्येक क्रिया की प्रेरक, दोनों के अभ्यन्तर में निवास करने वाली 'प्रीति' ही होती है। यह 'प्रीति' ही दोनों को एक दूसरे में घुल मिल जाने के लिए उत्कण्ठित बनाये रहती है। यह प्रीति ही प्रेमी और प्रेमपात्र के रूप को नित्य नूतनता प्रदान करती है और रूप-रस-प्यास को प्रतिक्षण विवर्धमान रखती है। प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों को एक दूसरे के प्रति अनन्य और अधीन बनाये रखने वाली भी यही [ प्रीति ] है। वह प्रेमी को अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए बाध्य करती है और प्रेमपात्र को उस समर्पित को स्वीकार करने के लिए विवश। यह प्रीति ही है जो प्रेमपात्र के हृदय में मान, गर्व, प्रणय, कोप, लज्जा आदि विविध भाव-भंगिमाओं [ चेष्टाओं ] को तथा प्रेमी के हृदय में प्रेमपात्र का लाड़ प्यार से समाराधन करने के लिए विविध भावों को जन्म देती है। विशेषता यह है कि इतना सब कुछ होने पर भी यह प्रीति अपने हृदय में स्वसुख की कोई वाञ्छा नहीं रखती। इसकी प्रत्येक प्रेरणा प्रत्येक क्रिया विधान निर्हेतुक ही होता है। यह 'प्रीति' प्रेमी और प्रेमपात्र को अपनी क्रियाओं से सन्तुष्ट कर स्वयं तुष्ट पुष्ट होती है। प्रेम धाम वृन्दावन में होने वाली प्रेम-क्रीड़ा में यह प्रीति ही साकार बनकर 'सखी' नाम से विख्यात है। यही कारण है कि इन सखियों को श्री हिताचार्य ने "प्रणयमय रसिक ललितादि" कहकर और उनके परवर्ती अनेक रसिकों ने "रस मूरति सब सहचरी सेवत आठों याम" कहकर प्रकीर्तित किया है। यह सखियाँ तत्सुखसुखिता मूलक प्रीति से संभृत हृदय होकर विधिकरी, सहचरी, अनुचरी और किंकरी रूप से युगल की सेवा में रत रहती हैं, जिनका पृथक-पृथक परिचय हम आगे देंगे।

ये सब सहचरियाँ ममता, स्नेह, आसक्ति, चाह, रति, सुरति किंवा प्रीति की साकार मूर्ति हैं। अतः इनके प्रीति विलासों तथा प्यार प्रकारों की सीमा नहीं है। प्रातःकाल जुगल को जगाते समय तथा भोजन एवं सयन के समय वे युगल को इस प्रकार से दुलार प्यार करती हैं कि मानों वह ममता की मनोहर मूर्ति ही हैं। स्नेह की प्राणवान प्रतिमा ही हैं। सुरत संग्राम में युगल विजेताओं को देखकर उनका अनुरागी हृदय स्नेहोद्रेक से द्रुतपूर्ण हो जाता है। तब वह युगल लाड़िलों को आशीर्वाद देती हैं कि तुम दोनों इसी प्रकार अचल विहार करो और तुम्हारा यह राज्य तथा तुम्हारी यह अनुपम जोड़ी नित्य अचल बनी रहे—

अति उदार विवि सुन्दर सुरत सूर सुकुमार।

जै श्री हित हरिवंश करहु दिन दोऊ अचल विहार<sup>१</sup>।

जै श्री हित हरिवंश विलास रास जुत जोरी अविचल राजु<sup>२</sup>।

श्री हिताचार्य ने नित्य विहार की लीला परिकर ललितादिक सहचरियों को “प्रणयमय रसिक ललितादि” लिखकर जहाँ प्रीति स्वरूपा बतलाया है वही पर उन्हें रसिक कहकर भी प्रकीर्तित किया है। “प्रणयमय रसिक ललितादि” लिखकर उन्होंने यह व्यंजित कर दिया है कि ये ललितादिक सखियाँ जीव-ईश, स्त्री-पुरुष-आदि सभी अहं भावों से सर्वथा शून्य प्रीति, प्रणय रूपा किंवा रस स्वरूपा हैं<sup>१</sup>। “लोचन चषक रसासव गटकति” लिखकर यह व्यंजित किया है कि ये सखियाँ प्रीति विलासों को करने वाले प्रेमी और प्रेमपात्र नहीं हैं अपितु उन विलासों की प्रेक्षिका हैं। “उभय संगम सिन्धु सुरत पुषणबन्धु द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै” एवं “हित हरिवंश निकट दासीजन लोचन चषक रसासव गटकति” इन पंक्तियों में भी पुनः स्पष्ट किया है कि ये सखियाँ न तो श्यामसुन्दर से मिलकर ही अपना हृदय शीतल करती हैं और न श्री राधा से मिलकर; प्रत्युत ये तो लाल और ललना [श्यामसुन्दर और श्री राधा] को मिलते हुये देखकर या दोनों को मिलाकर ही अपना हृदय शीतल किया करती हैं<sup>२</sup>। ये सखियाँ न तो काव्य रस क्षेत्रीय सामाजिक ही हैं और न प्रमाता या आनंद भोक्ता ही हैं। न भक्ति भाव क्षेत्रीय भक्त किंवा प्रेमी भक्त ब्रजगोपियाँ ही हैं। ये सखियाँ न तो प्रेमी ही हैं न तो प्रेमपात्र ही हैं; प्रत्युत प्रेमी और प्रेमपात्र [श्यामा-श्याम] रूप में नित्य प्रत्यक्ष प्रेम की उपासिका—नित्य निकटवर्तिनी हैं। ये सखियाँ प्रीति स्वरूपा ऐसी रसिक हैं जो कि सामाजिक, सहृदय किंवा सदाशय रूप में दिखायी देती हुई भी रस क्रीड़ा की अभिन्न अंग ही हैं।

१. श्री हिताचार्य के इन सूत्र वाक्यों को व्याख्यायित जैसा करते हुए सर्वसुखदास जी ने भी लिखा है कि जिस प्रकार प्रेम की मिथुन मूर्ति ललना और लाल की पुरुष या स्त्री संज्ञा नहीं है; उसी प्रकार इन सखियों के हृदय में भी पुंसत्व और नारीत्व का सर्वथा अभाव रहता है। ये सहचरिगण पुंस, नपुंस और नारी की स्वरूप सीमा से पृथक् विशुद्धतम ‘हित’ की मंजुल मूर्ति हैं—

हित विदेह दो देह सनेही गौर-श्याम पिय-प्यारी।

विवि निष्काम सकाम सु नामी वाम विहार अहारी॥

वृन्दावन निर्मूल फलित समतूल सलित जमुना री।

‘सबसुख’ सखी समाज अमानी पुंस, नपुंस न नारी॥

— हि. द., स. सु., छं. सं. ५

चाचा वृन्दावनदास जी ने राधाकिंकरी भावानुभावित उपासकों को सचेष्ट करते हुए कहा है कि मन से नारी और पुरुष का भाव सर्वथा निरस्त होने पर ही ललितादिकों के भाव से श्यामा-श्याम का सेवन संभव है। इस प्रकार उन्होंने भी राधाकिंकरी ललितादिक सहचरियों को पुंसत्व और नारीत्व की स्वरूप सीमा से पृथक् ‘प्रीति-प्रतिमा’ व्यंजित किया है—

बनिता-पुरुष भाव मिटि जाय। सेवै ललितादिक के भाय।

— वृ. म. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. १९



### ५.१.५.४. केलि संयोजिका और सहायिका :

कभी ये सखियाँ किसी रसानन्द विशेष की सृष्टि करने के लिए अपनी स्वामिनी श्री राधा से समत्व भावेन हास-परिहास करके युगल को सुखित करती हैं तो कभी रहस्य की मधुर रस लीलाओं को मधुर संकेतों द्वारा अभिव्यंजित कर उन्हें पुनः उसी लीला में निमग्न कराती हैं और कभी-कभी व्यङ्ग्य वचनों द्वारा किसी मधुर लीला का स्मरण दिलाकर पुनः उसी में निमज्जन करने की प्रेरणा देती हैं। इसप्रकार के मधुर हास परिहास का उज्ज्वल प्रकाश तथा रस निकेत संकेत श्री हिताचार्य द्वारा वर्णित रस-दान लीला के एक पद में देखिये —

दान दै री नवल किशोरी।

माँगत लाल लाड़िलौ नागर प्रगट भई दिन-दिन की चोरी॥

नव नारंग कनक हीरावलि विद्रुम सरस जलज मणि गोरी।

पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कदलि खंजन की जोरी॥

तोपै सकल सौंज दामनि की कत सतरात कुटिल दृग भोरी।

नूपुर रव किंकिनी पिसुन घर जै श्रीहित हरिवंश कहत नहिं थोरी<sup>१</sup>॥

ये सभी किंकरीगण श्यामा श्याम की मन रुचिती सेवा करके युगल को प्रसन्न मुख देखकर ही अपना जीवन सफल मानती हैं<sup>२</sup>। कभी परम प्रेष्ठ रसिक दम्पति को झूला झुलाकर<sup>३</sup>, कभी होली खिलाकर<sup>४</sup>, कभी रास क्रीड़ा<sup>५</sup> कराकर कभी वन विहार<sup>६</sup> कराकर

१. हि. चौ., प. सं. ५१

२.[क] गतौ कुंज द्वारे सुखमरुति संवीज्य परया। मुदाहं श्री राधा रसिक तिलकौ स्यां सुकृतनी॥

[ख] कदावा कस्तूर्या किमपि रचयन्त्येव कुचयो। विचित्रां पत्राली महमहह वीक्षे सुकृतनी॥

[ग] कदानुवर नागरी रसिक शेखरौ तौ मुदा। भजामि पद लालनाल्ललित जीवनं कुर्वती॥

— रा. सु. नि., श्लो. १९२, २०२, ५८

३. झूलत दोऊ नवल किशोर।..... निरखि-निरखि फूलत ललितादिक विवि मुख चन्द्र चकोर।  
दै अशीष हरिवंश प्रसंशित करि अंचल की छोर॥

— हि. चौ., प. सं. ३५

४. रसिकलाल पर मेलत कामिनि वन्दन धूर। पिय पिचकारिन छिरकत तकि-तकि कुमकुम पूर॥  
हित चिन्तक निजु चेरिनु उर आनैद न समात। निरखि निपट नैनन सुख तृन तोरत बलि जात॥

— हि. चौ., प. सं. ५७

५. मदन मथन घन निकुंज खेलत हरि राका रुचिर शरद रजनी।  
यमुना पुलिन तट सुरतरु के निकट रचित रास चलि मिलि सजनी॥

— हि. चौ., प. सं. ६५

६. वन की कुंजनि-कुंजनि डोलनि।.... कबहुँ श्रमित किशलय सज्जा पर मुख अंचल झकझोलनि।  
दिन हरिवंश दासि हिय सींचत यारिध केलि कलोलनि॥

— हि. चौ., प. सं. ३४

कभी जल बिहार कराकर<sup>१</sup> और कभी शैया बिहार कराकर<sup>२</sup> उन्हें रसानन्द मग्न किया करती हैं और उन्हें रसानन्द मग्न देखकर आप भी रसानन्द मग्न होती हैं, अपना हृदय शीतल किया करती हैं<sup>३</sup>।

#### ५.१.५.५. केलि-प्रेरिका :

प्रीति स्वरूपा इन राधाकिंकरीगणों का स्थान उपास्य के लीला क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्री हिताचार्य ने लीला क्षेत्र में इन्हें श्यामा-श्याम के लीला-विलास की प्रेरिका रूप में चित्रित किया है; किन्तु अविस्मरणीय है कि ईश्वर या ईश्वरीरूप में नहीं; अपितु दासी किंवा सखी रूप में ही चित्रित किया है। एक लीला का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि —

हे मृगनैनी ! आज मेरे कहने से तुम अपने प्रीतम के पास चलो। तुम नृत्य की गति लेने में तथा अभिनय-कला में पूर्ण पटु हो साथ ही कोक-विद्या में भी पूर्ण निपुण हो। देखो ! यह चन्द्र-चन्द्रिका-रंजित रजनी धीरे-धीरे घटती जा रही है। [ दासी के ये वचन सुनकर ] प्रीतम को सुरत सुखदायिनी श्री राधा अत्यन्त आतुर गति से चल दीं —

आजु मेरे कहें चलौ मृगनैनी।

गावत सरस युवति मंडल में पिय सौं मिलें भलें पिक बैनी॥

परम प्रवीन कोक विद्या में अभिनय निपुन लाग गति लैनी।

रूप रासि सुनि नवल किशोरी पल-पल घटत चाँदनी रैनी॥

जै श्री हित हरिवंश चली अति आतुर राधा रवन सुरत सुख दैनी।

रहसि रभसि आलिंगन चुम्बन मदन कोटि कुल भई कुचैनी॥

१. सुन्दर पुलिन सुभग सुखदायक।..... शीतल हंस सुता रस वीचिन परसि पवन सीकर मृदु वरषत।  
वर मन्दार कमल चम्पक कुल सौरम सरस मिथुन मन हरषत॥

— हि. चौ., प. सं. ७२

२. नागरी निकुंज ऐन किशलय दल रचित सैन, कोक कला कुशल कुँवरि अति उदार री।...  
लाड़िली किशोर राज हंस-हंसिनी समाज, सींचत हरिवंश नैन सुरस सार री॥

— हि. चौ., प. सं. ७६

३.[क] जै श्री हित हरिवंश रसिक ललितादिक लता भवन रंघन अवलोकत।

अनुपम सुख भरि भरित विवस असु आनंद-वारि कंठ-दृग रोकत॥

[ख] जै श्री हित हरिवंश लाल-ललना मिलि हियौ सिरावत मोर।

— हि. चौ., प. सं. ७२, ३१ एवमपि-रा. सु. नि., श्लो. ४७



इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नित्य लीला की समस्त सखीजन प्रीति के अनन्तानन्त प्रकारों से श्यामा-श्याम को केलि की प्रेरणा देती हैं एवं अपने मन और आत्मा रूप लाल-ललना को सन्तुष्ट कर स्वयं तुष्ट-पुष्ट हुआ करती हैं —

जै श्री हित हरिवंश लाल-ललना मिलि हियौ सिरावत मोर<sup>१</sup>।

### ५.१.५.६. वर्गीकरण और स्वरूप :

श्यामा-श्याम की लीलाओं में जहाँ पर इन राधाकिंकरीयों के प्रीति स्वरूपा, तथा लीला प्रेरिकादि रूप प्रत्यक्ष हुए हैं वहीं पर उनके अन्तरंगा सखी, सहचरी, अनुचरी और किंकरी रूप भी दिखाई देते हैं। आगे इनका पृथक-पृथक रूपांकन करेंगे —

### ५.१.५.६.१. अन्तरंगासखी किंवा विधिकरी :

अन्तरंगा सखी केवल एक ही होती है। यह युगल की अभिन्न हृदया और पूर्ण हित चिन्तिका होती है। अतः युगल की शैया बिहार जैसी ऐकान्तिक क्रीड़ा में भी उनके निकट रहकर सेवा किया करती है और यथा समय यथोचित कार्य करके दोनों को सुख पहुँचाती रहती है।

ललित लताओं से समावृत एक मंजुल निकुंज में युगलवर शैया विहार कर रहे हैं। ललितादिक सहचरियाँ तत्सुखसुखी होने के कारण उस विहार का दर्शन चोरी से लता रन्ध्रों में लगकर कर रही हैं। पर्यंक स्थित श्री राधा की दृष्टि अकस्मात् प्रीतम के वक्षस्थल पर पड़े प्रतिविम्ब पर पड़ जाती है और उसे वे कोई अन्य नायिका समझकर मान युक्त हो जाती हैं। मान मोचन के सम्पूर्ण प्रयत्न विफल हो जाने पर शैया निकुंज में ही विराजमान श्री हित सखी-अन्तरंगा सखी प्रणय कोप के साथ श्री राधा की मालायें तोड़ देती हैं। फलतः प्रतिविम्ब की मालायें भी टूट जाती हैं। अन्तरंगासखी की इस हित चिन्तना मूलक क्रिया से दोनों उत्फुल्ल वदन पुनः क्रीड़ा परायण हो जाते हैं— हितसखी का यह अन्तरंगा सखी स्वरूप श्री हिताचार्य द्वारा विरचित निम्नांकित पद में दृष्टव्य है —

आजु निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।..  
कोमल किशलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेसित गोरी।..  
हरि उर मुकर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मान जुत भोरी।  
चिवुक सुचारु प्रलोय प्रबोधत पिय प्रतिविम्ब जनाइ निहोरी।

नेति-नेति वचनामृत सुनि-सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी।

जै श्री हित हरिवंश करत कर धूनन प्रणय कोप मालावलि तोरी<sup>१</sup>॥

यह अन्तरंगासखी श्री राधा की विश्वासपात्री और स्नेह संभृत शुभचिन्तका है। रसिक युगल की एक ऐकान्तिक क्रीड़ा के संगोपन संलाप में इसका यह रमणीय रूप इसप्रकार प्रत्यक्ष हुआ है —

किसी निविड़ निभृत निकुंज में श्री राधा अपने प्रीतम के संग विहार करके सखी मण्डल में आ रही हैं। साथ में केवल क्रीड़ा दृष्टा अन्तरंगा सखी है। सुरतांत चिन्हों से समलंकृत श्री राधा सखियों के समक्ष जाने में संकुचित हो रही हैं। यह जानकर अन्तरंगासखी अपनी वचन चातुरी से श्री राधा को पूर्ण आश्वस्त करती हुई कहती है कि —

अहह हे राधिके ! मैं तुम्हारे इस स्व घटित प्रेष्ठ संगम को अत्यन्त स्फुट परिहास करने वाली सखियों से इस प्रकार कहकर छिपाऊँगी कि—दूर प्रदेश से फूल चुनने के कारण ही मेरी प्राणसखी के अंग स्वेद पूर्ण हैं। युगल कुचों में काँटे लगने के चिन्ह हैं और खेद की बात है कि इसी प्रकार यह तिलक भी पसीने के कारण ही सर्वथा मिट गया है एवं अत्यन्त शीतल पवन स्पर्श के कारण सखी के अघर क्षत विक्षत हो रहे हैं—

स्वेदापूरः कसुम चयनैर्दूरतः कन्टकांको

वक्षोजेऽस्यास्तिलक विलयो हंत घर्मांभसैव।

ओष्ठः सख्याः हिम पवनतः सत्रणो राधिके ते

क्रूरास्वेवं स्वघटित महो गोपये प्रेष्ठ सङ्गम्<sup>२</sup>॥

यह अन्तरंगासखी विभिन्न लीलाओं के प्राङ्गण में ललितादिक सहचरियों को भी प्रेरणा प्रदान करती हुई दिखाई देती है। रास रसिक श्री युगल की रूप माधुरी और रास माधुरी का आस्वादन लेने के लिए ललितादिक समस्त सहचरियों को प्रेरित करती हुई कहती है कि नित्य नव दुलहिनी और नित्य नव दूलह रास खेल रहे हैं। हे ललितादिक सब सखियो ! तुम सुनो न ! अपनी आँखों से देखकर फूलती क्यों नहीं हो ?

खेलत रास दुलहिनी दूलहु।

सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि-निरखि नैननि किन फूलहु<sup>३</sup>॥

१. हि. चौ. प. सं. ७

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. २०७

३. हि. चौ., प. सं. ६२



इतना ही नहीं श्री राधा की यह अंतरंगासखी श्री राधा-प्रिय प्रीतम से मधुर विनोद में ऐसे परिहास पूर्ण अध्यादेश जैसे वाक्य भी कहती परिलक्षित होती है — क्यों रे धूर्त प्रवर ! तू मेरी प्राण सखी के निकट ही चला आ रहा है ? —

किं रे धूर्त प्रवर निकटं यासि नः प्राण सख्या<sup>१</sup>

श्री राधा की स्नेह गर्विता अन्तरंगासखी प्रीतम से ऐसा भी कह देती है कि हे धूर्तेन्द्र [ रस क्रीड़ा की रीति-नीति में निपुण ] श्री राधा तुम्हारे भय से उस एकान्त कदम्ब खण्डी में अकेली नहीं जायेगी —

धूर्तेन्द्र त्वदभयमुपगता सा रहो नीप वाट्यां ।

नैका गच्छेत् कितव कृतमित्यादिशेत् कर्हि राधा<sup>२</sup> ।।

ये अन्तरंगा हितसखी ही अपने दोनों प्रीतम का संगम कराने वाली है । इसीलिए रसिक शेखर श्यामसुन्दर इस हितसखी के चरणों में नित्य निपतित होते रहते हैं । इस प्रसंग की सुरम्य झाँकी स्वयं श्री हिताचार्य द्वारा वर्णित श्री राधा और हितसखी के वार्तालाप प्रसंग में इस प्रकार दिखाई देती है —

हे प्रणयिनी श्री राधे ! अद्भुत महा मोहन श्यामसुन्दर मेरे चरणों में गिरकर और दाँतों में तिनका दबाकर चाटुकारी के दीन वचन बोलते हैं । मेरे पीछे-पीछे चलते हैं और यह सब यत्न आपके संगम के लिए करते रहते हैं । मैं [ उस समय के ] अपने हार्दिक उद्वेग का आपसे क्या निवेदन करूँ ? [ तात्पर्य यह कि आप तो मेरी स्वामिनी ही हैं और आपके प्राणनाथ होने के नाते वे भी मेरे लिए आप जैसे ही हैं । वे इस प्रकार जब मेरे सामने दैन्य प्रकाशित करते हैं; तब मैं बड़े असमञ्जस में पड़ जाती हूँ कि इस समय मैं क्या करूँ ? आपको किस बात में सुख मिलेगा मेरे द्वारा प्रीतम की प्रार्थना स्वीकार करने में या अस्वीकार करने में ? मैं यही निश्चय नहीं कर पाती; क्योंकि मुझे यह भी तो ज्ञात है कि आप अन्तर से अनुकूल तथा बाहर से प्रतिकूल बनी रहती हैं । उधर तो प्रीतम की दीनदशा और इधर आपकी सुख चिन्ता ] —

तादृङ् मूर्तिः ब्रजपति सुतः पादयोर्म पतित्वा-

दन्ताग्रेणाथ धृत्वा तृणकममलान्काकुवादान्ब्रवीति ।

नित्यं चानुव्रजति कुरुते सङ्गमायोद्यमं चे

त्युद्वेगं मे प्रणयिनि किमावेदयेयं नु राधे<sup>३</sup> ।।

अति निकटवर्तिनी सखी होने के कारण यह अन्तरंगासखी अपनी स्वामिनी श्री राधा से भी ऐसे शब्दों और ऐसी शैली में आलाप-संलाप कर लेती है जिससे यह ज्ञात होता है कि वह किसी अबोध बालिका से बात कर रही हो —

तेरे हित लैन आई वन ते श्याम पठाई, हरत कामिनी घन कदन काम कौं ।  
काहे कौं करत बाधा सुनि री चतुर राधा, भेंटि कैं मैटि री माई प्रगट जगत भौ ।।  
तू तौऽव सखी सयानी तैं मेरी एकौ न मानी, हाँ तोसौं कहत हारी जुवति जुगति सौं<sup>१</sup> ।

एक अन्य स्थल पर यह अन्तरंगा हितअली स्वामिनी श्री राधा की पथ प्रदर्शिका रूप में भी प्रत्यक्ष हुई है । सखी भावापन्न श्री हिताचार्य के ही शब्दों में—“अहो श्री वृन्दावन के सुन्दर निकुंज भवनों में अपनी आत्मा स्वरूपा प्रिय स्वामिनी को ढूँढ़ती हुई और यह कहती हुई कि हे राधे ! विदग्ध प्रीतम सहित मेरे द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर क्यों नहीं जाती हो ?”—

वृन्दारण्य निकुंज मञ्जुल गृहेष्वात्मश्वरी मार्गयन् ।

हा राधे ! स विदग्ध दर्शित पथं किंयासि नेत्यालपन्<sup>२</sup> ।....

स्वामिनी श्री राधा भी अपने प्रीतम के साथ हुए सुरतविहार की रसचर्चा केवल इस अन्तरंगासखी-हित सखी से ही करती हैं । तभी तो श्री हिताचार्य सखी भावापन्न रूप में स्वाभिलाषा कथन ब्याज से श्री राधा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—अहा हा ! जिसके अक्षर-अक्षर से अनुपम प्रेम समुद्र जैसे निर्झरित हों, जो कानों में अमृत धारा की वृष्टि का विधान करती हों, और जो रस पूर्ण, परम कोमल, परम शीतल हों । हे श्री राधे ! मेरे साथ आपकी वह सुन्दर कथा [रस चर्चा] क्या कभी होगी ? व्यंजना यह कि जैसा कि प्रतिदिन आप मुझसे अपने सुरत विहार की कथा कहा करती हैं, क्या आज न कहेंगी ? जिसे सुनने के लिए मेरे कर्णपुट आकुल रहते हैं—

क्षरन्तीव प्रत्यक्षरमनुपम प्रेम जलधिं सुधाधारा वृष्टीरिव विदधती श्रोत पुटयोः ।  
रसार्द्रासिन्मृद्धी परम सुखदा शीतल तरा भवित्री किं राधे तव सहमया कापि सु कथा<sup>३</sup> ।

‘राधासुधानिधि’ ग्रन्थ में ही एक अन्य स्थल पर श्री हिताचार्य ने स्वयं को श्री राधा की एकान्तदासी [रहः परिचारिकाहं] कहकर कुंजभवन के आभ्यन्तरीय भाग में केवल अपने को ही स्थित बतलाते हुए लिखा है कि—जहाँ पर कुंजभवन के भीतरी भाग में परम प्रेमी लाल जी के साथ मेरी लाड़िली श्री राधा कृत रति प्रकाशित होती है; अर्थात् प्रीति की क्रीड़ायेँ होती है; वहाँ द्वार पर खड़ी रहने वाली श्री राधा की प्रिय

१. हि. चौ., प. सं. ५८

२., ३. रा. सु. नि., श्लो. सं. ५९, १५३



किंकरी श्रेष्ठ मैं अथवा केवल मैं उनकी किंकिणी ध्वनि को सुनूँगी—

कुञ्जान्तरे किमपि जात रसोत्सवायाः श्रुत्वा तदालपित सिंजित मिश्रतानि ।  
श्री राधिके तव रहः परिचारिकाहं द्वारस्थिते रसहृदे पतिताकदास्याम्<sup>१</sup> ।।

...यत्र श्री वृषभानुजा कृत रतिः कुञ्जोदरे कामिना,  
द्वारस्था प्रिय किंकरी परमहं श्रोष्यामि कांचीध्वनिम्<sup>२</sup> ।

श्री हरिवंशोदित रसोपासना के विशाल वाणी साहित्य में इस अन्तरंगासखी के अनेक सुचारु चित्र दिखाई देते हैं। प्रबोधानन्द सरस्वती पाद ने उस एक मुख्या सखी का परिचय देते हुए लिखा है कि —

उन अनन्त सखियों में कोई एक श्री राधा की अत्यन्त कृपापात्री है। उससे क्षण भर के लिए चरण से विच्छेद होने पर श्री राधा को प्राण हरण हो जाने की अनुभूति होने लगती है। अतः दिन-रात वह पद-कमल के निकट ही बनी रहती है; और अधिक क्या कहा जाय, लता गृह में अपने कान्त के साथ क्रीड़ा करते समय भी श्री राधा जी उसे शैया पर बैठाये रखती हैं एवं कभी उसे अपने कपड़ों से आच्छादित कर देती हैं। वह दासी श्री राधा जी के नेत्र एवं वाक्यों के सब संकेतों को समझने में समर्थ है। श्री युगल-किशोर भी उसका आदर करते हैं और दोनों प्रिया-प्रीतम के प्रसादी माला, वस्त्र भूषणादि धारण करके वह मनमोहनी हो रही है —

सहजैरेव सकलं स्थगवन्ती, सहेश्वरं ।  
तत्रैकश्चित्तनुं सौम्यां श्री राधात्यनुकम्पिताम् ।  
क्षणं चरण विच्छेदाच्छ्रीश्वर्याः प्राण हारिणीम् ।  
पदारविन्द संलग्न तथैवाहर्निशं स्थिताम् ।  
बहुना किं स्व कान्तेन क्रीडन्यापि लतागृहे ।  
पर्यङ्गाधिष्ठापितां वावस्त्रैर्वाच्छादितां क्वचित् ।  
श्रीश्वरी दृष्टि वागादि सर्वेगित विचक्षणाम् ।  
श्री कृष्ण दत्त ताम्बूल चर्बितां तत्तदादृताम् ।  
प्रेष्ठ द्वन्द्व प्रसादस्र वस्त्र भूषणादि मोहनीम् ।  
महा विनय सौशील्याघनेकाश्चर्य सदगुणाम्<sup>३</sup> ।।

१. से २. रा. सु. नि., श्लो. सं. ४७, ७३

३. वृ. म., प्र. स., अष्टम शतक श्लो. २१, २२, २३, ३२, ३१। एवमपि—वृ. म., प्र. स., चतुर्थ शतकम्, श्लो. ७८, अष्टम शतकम्, श्लो. ३६ से ४२, नवम शतकम्, श्लो. ५६ से ६१, दशम शतकम्, श्लो. १ से ३, चतुर्दश शतकम्, श्लो. ३४ से ३७, ३८, ३९,

प्रबोधानन्द सरस्वती ने उक्त श्लोकों में अन्तरंगासखी का जो रूप चित्रित किया है; श्री हिताचार्य ने सरस्वती पाद से अनिश्चित काल पूर्व ही अपनी अभिलाषा कथन ब्याज से अपने उस निज रूप की अभिव्यक्ति कर दी है—

“कुंज शैया पर सोये हुए निविड़ आनन्द के उन्मद रस घन सम्पन्न प्रेमाभूत मूर्ति श्री राधा और श्री श्यामसुन्दर के अनिवर्चनीय अति कोमल श्री चरणों का सम्वाहन करते—करते शैया के अन्त भाग में लुढ़क कर क्या मैं तन्द्रावश हो जाऊँगी”—

सान्द्रानन्दोन्मद रस घन प्रेम पीयूष मूर्तेः  
श्री राधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुंजतले  
कुर्वाणाहं मृदु-मदु पदाम्भोज सम्वाहनानि  
शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्त तन्द्राभवेयम्<sup>१</sup>

श्री हिताचार्य और सरस्वती पाद के उक्त वर्णनों में अन्तरंगासखी का जो रूप प्रत्यक्ष हुआ है उसे ‘विधिकरी’ नाम से भी अभिसंज्ञात किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह विधिकरी ही सदैव युगल के साथ रहती है और युगल की सम्पूर्ण लीलाओं का विधान रचती है। इसको युगल के शैया बिहार तक के समय भी तन्द्रिल अवस्था में शैया में ही लुढ़क जाने का अधिकार रहता है। यह अन्तरंगासखी अनेक लीला प्रसंगों में कभी श्यामा पर तो कभी श्याम पर प्रणय कोप करती भी दिखाई देती है और ललितादिक सखी मण्डल तो इनकी प्रेरणा का मुखापेक्षी सदा ही बना रहता है।

श्री हिताचार्य की वाणी का अवलंब पाकर ही वृन्दावन रस रसिकों ने रसिक युगल की केलि वर्णना में ललिता-विशाखादि अष्ट सखियों के अतिरिक्त इस अन्तरंगासखी किंवा विधिकरी को निज सहचरि, निज अली, निज सजनी, हित सखी, हित अली, हित सहचरी, हित सजनी, सुहृदअली, प्रेम सहेली, हरिवंशी, प्राणअली, सन्धि सहचरी, वंशी सखी नवलनेह अलि, आदि-आदि नामों से स्मरण किया है —

निजु सहचरि —

सुरत सुधा सागर बढ्यौ निजुसहचरि के नैनन हेत।  
चारु चलत अघ माधुरी नव-नव सचु विलसत सुखदेत।  
यह अलाप अविचल रहौ नागरीदास जियत यह डाट<sup>२</sup>।

१. रा. सु. नि., श्लो. २१२ एवमपि — रा. सु. नि., श्लो. ७३

२. ना. दा. जी की वा., ने. ना. दा., प. सं. १५



निज अलि -

स्वाहा शक्ति होम की जैसें ऐसें ही रति दम्पति जानि।  
आकर्षत निजुअलि समाज सुख राखति आप अभिअंतर आनि॥  
नागरीदास गुरु पद प्रताप ते परै जिय सरस सलौनी बानि<sup>१</sup>॥

निज सजनी -

नागरीदास विवि प्रेम परावधि निजसजनी सुख सुजस रढ़े<sup>२</sup>।

हित सजनी -

भोजन धरम कौ मूल मरम कौ।  
निशीथ सुरत समै सेज लड़ावन हितसजनी जू के कुशल करम कौ<sup>३</sup>॥

हित सखी -

आजु की बानिक लाल रँगिले की मोपै कछू नहिं जात बखानी।  
रूप विलास सनेह निहारि सखी हित वारि पियें ध्रुव पानी॥  
सखी एक हित की अधिक आनँद कौ समौ पाइ।  
दशा कुँवर की प्रिया साँ कहत बनाइ-बनाइ<sup>४</sup>॥

सुहृद अली -

सुहृद अली अति हेत साँ बातें करति निहोर।  
रसिकलाल बलि प्रेम साँ बँधे तिहारी डोर<sup>५</sup>॥

हित सहचरि -

हित सहचरि के अंश धरि रही भुजा छवीली।  
अधिक होत आधीन परी अरबी अरवीली<sup>६</sup>॥

सन्धि सहचरी -

सुरत-सिन्धु गम्भीर गहर में बहैं वचन मृदु भाखैं।  
सन्धि सहचरी नेह-चीर दै तीर नवीन में राखैं<sup>७</sup>॥

हित अलि -

अहो लाल ! यह विपिन सुख कौन, सुकृत फल पायौ।  
हे प्यारी ! हित अलि-अनुकम्पा कहत गरौ भरि आयौ<sup>८</sup>॥

१. से ३. ना. दा. जी की वा., ने. ना. दा., प. सं. १, ९१, ९३

४. से ५. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., शृंगारसत तृतीय, छं. १०, सुखमंजरी, छं. १, मानलीला, छं. सं. २७

६. मं. वि. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. ६०

७, ८. मी. जी. वा., पदा., मी. जी., प. सं. २७, २८

हरिवंशी —

दोउन के सनमुख हरिवंशी। बैठी प्रिय ढिंग करत प्रशंशी<sup>१</sup>॥

वंशी सखी —

सब सखि की राजा हरिवंशी। वंशी अनुगत सब प्रसंशी॥

ललितादिक गन सखी सहेली। वंशी की अनुगतहि रहेली॥

श्री वंशी जू मुख्य सु दासी। केलि खेल में करत खवासी॥

सुरत केलि में मान मनावै। कर गहि अंग संग पौढावै॥

जहाँ केलि वंशी दरसावै। तहाँ और सखि जान न पावै<sup>२</sup>॥

नवल नेह अलि -

नवल नेह अलि आरति कीनी। वारि फेरि चित संपति दीनी<sup>३</sup>॥

प्राण अली —

फूली फूली राधा आजु मंगल गावै।

मिलि आवौ ललितादि सखी मेरी हित सजनी कौ आजु बधावै॥

वितान तरे कुसुमनि चौकी पर निजु आली कौं लै बैठावै।

मोदक मिश्री गिरी छुहारे प्राण अली की गोद भरावै।

भोरी सखी हित यह जाँची जिय गौर चरन तजि अनत न जावै<sup>४</sup>॥

प्रेम सहेली —

श्री ललिता जू कियौ प्रिया साथ। गह्यौ विशद विशाखा श्याम हाथ।

भई प्रेम सहेली श्याम कोद। प्यारी सँग आरति रुचि विनोद<sup>५</sup>॥

प्रिया जी एवं प्रेमसहेली के वार्तालाप प्रसंग में -

प्रेम सहेली के प्रेम कौं गावत ललना लाल।.....

छिन-छिन प्रति रस विस्तरत करत प्राण प्रतिपाल<sup>६</sup>॥

तोसौं कछु न दुराईहौं सखि तू मेरे हित प्राण।.....

इक दिन कालिंदी के कूल ही ठाढ़ौ ललिता के संग।

तैं मोसौं तबही कह्यौ यह तेरे ही रस रंग<sup>७</sup>॥

१. से ३. अ. अ. जी की वा., अ. अ., वंशीविलास, छं. सं. २९, परिचर्याविलास, छं. सं. ६२ से ६५ तथा

७०, थल नौका खेल विलास, छं. सं. ८४

४. भो. ना. जी की वा., भो. ना. प. सं. १५

५. भ. मु. जी की वा., पदा., भ. मु., प. सं. ८३

६, ७. बि. दा. की वा., बि. दा., प. सं. १७३, १७४



हितालि —

कृष्णदास हितालि निरखत दुरहिं दोऊ हिंडोर<sup>१</sup>।

### ५.१.५.६.२. सहचरी :

सहचरियों की संख्या आठ मानी गई है। जिनके नाम हैं — ललिता, बिशाखा, चम्पक, चित्रा, तुंगविद्या, रँगदेवी, इन्दुलेखा और सुदेवी। श्यामा-श्याम के साथ-साथ चलने के कारण इनकी 'सहचरी' संज्ञा है। ये यदा-कदा श्यामा-श्याम के साथ हास परिहास भी कर लेती हैं। ये सहचरियाँ युगल की एक-एक विशिष्ट सेवा की अधिकारिणी हैं। ये शैया विहार के दर्शन शैया निकुंज के रन्ध्रों से ही करती हैं—शैया निकुंज के भीतर प्रविष्ट होकर नहीं<sup>२</sup>।

### ५.१.५.६.३. अनुचरी :

इनकी संख्या अनन्त है<sup>३</sup>। ये सहचरियों का अनुगमन करती हैं। उनकी आज्ञा के बिना युगल की कोई भी सेवा करने का अधिकार इनको नहीं है। ये निकुंज भवन की सेवी सहचरियों के साथ जाकर ही युगल की सेवा कर सकती हैं, उनके बिना नहीं। ये सहचरियों की भाँति श्री राधा से सीधे [direct] हास परिहास नहीं कर सकतीं। यद्यपि इनको युगल से हास परिहास करने का अधिकार तो होता है; किन्तु सहचरियों के माध्यम से ही।

### ५.१.५.६.४. किंकरी :

अनुचरियों की भाँति इनकी संख्या भी अगणित है। ये किंकरियाँ, सहचरी और

१. कृ. दा. गो. की वा., कृ. दा. गो., [झूलन पदावली], प. सं. १

२. [क] नेति-नेति वचनामृत बोलत ललितादिक देखत दुरि चोरी।  
जै श्री हित हरिवंश करत कर धूनन प्रनय कोप मालावलि तोरी।।

— हि. चौ., प. सं. ७

[ख] बीठल विपुल विनोद करत मिलि नहिं ललितादिक नीरी।

— बी. वि., जी की वा., बी. वि., प. सं. ११

[ग] ललितादिक गन सखी सहेली। 'वंशी' की अनुगतहि रहेली।.....  
जहाँ केलि 'वंशी' दरसावै। तहाँ और सखि जानि न पावैं।

— अ. अ. जी की वा., परिचर्या विलास, छं. सं. ६३ तथा ७०

३. लक्ष्य-लक्ष्य के यूथ तहँ अगणित अमित अपार। रसन कोटि जो होंइ तन कहि न सकत विस्तार।।  
रजकन उड़गन बूँदघन आवत गिनती माँहिं। कहत जोई थोड़ी सोई सखियन संख्या नाहिं।।  
मण्डल जोरै खड़ी मनु जुरे चकोरन वृन्द। इकटक रहीं निहारि सब विवि वृन्दावन चन्द।।

— ब्या. ली., समामण्डल लीला, हि. घु. दा., छं. सं. ४४, ८१, ८२

अनुचरी दोनों की अनुगामिनी तथा मुखापेक्षी होती हैं। उनका रुख लेकर ही प्रत्येक सेवा कार्य करती हैं। उनके आदेशानुसार श्यामा-श्याम का प्रत्येक कैंकर्य करने के कारण ये 'किंकरी' कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त राग-रागिनी, दिवा-यामिनी, छहों ऋतु, शुक, पिक, हंस, मोर-मयूरी आदि पक्षीगण, जमुना तथा लता बल्लरी भी विपिनबिहारी श्यामा-श्याम के निकुंज महल में सखी स्वरूप से सदा सेवा निरत बनी रहती हैं<sup>१</sup>।

## ५.२. उपासक :

### ५.२.१. उपासक का अर्थ और रूप :

उपासना करने वाले को उपासक कहा जाता है। अतः उपासना करने वाले की 'उपासक' संज्ञा होती है। उपास्य के नाम-रूप भेद के कारण उपासक के नाम-रूप में भी भेद होता है। यथा परमतत्त्व के सगुणरूप—विष्णु भगवान, राम और श्रीकृष्ण के उपासक को वैष्णव, भक्त, रामोपासक तथा कृष्णोपासक कहा जाता है। इसी प्रकार शिव के उपासक की 'शैव' और शक्ति के उपासक की 'शाक्त' संज्ञा होती है।

प्रायः सभी भक्ति सम्प्रदायों में उपासक के दो रूप माने जाते हैं। पहला रूप वह है जो गुरूपदिष्ट साधना का चरम लक्ष्य होता है। जो रूप साधना की परिपक्व, स्थिति में फल रूप में प्राप्त होता है। जिसे प्राप्त करके ही उपासक अपने उपास्य की लीला [लीला परिकर] में समाविष्ट हो सकता है और उपास्य की परिचर्या करने का अधिकारी बन सकता है। यह रूप उपासक का नित्य निज रूप कहलाता है। दूसरा रूप वह है जो कि उपासना के क्षेत्र में लोक प्रत्यक्ष रहता है। उपासक के नित्य रूप के भी दो रूप होते हैं। पहला रूप—उपासक का तात्त्विक स्वरूप और दूसरा उपर्युक्त रूप अर्थात् परमोपास्य के लीला परिकर में नित्य स्थित रूप।

१.[क] रूप धरैं सब रागिनी रँग रंग अनुराग। लाल-लडैती कुँवरि कौ गावत दिनहि सुहाग।।  
दिवा जामिनी छहौरितु ठाढ़ी रहैं कर जोर। करत जोई तिहि छिन समुझि जब चितवत जिहि ओर।।  
शुक-पिक बल्ली सखी सब हंस-मयूरी-मोर। लिये दीनता रहत दिन जितिक लाल की ओर।।

— ब्या. ली., सभामंडल लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ७४, ७५, ७८

[ख] सखी सरूप दिनेशनन्दिनी कहत मधुर मृदु बैन।  
अहो प्रिया ! करुनानिधि रानी चलिये पिय सुख दैन।।

— पदा. होरी धमार, चा. वृ. दा., प. सं. २५

[ग] इकमने सब पंछी चतुर अलीमाव सब हीयैं। कबहुँ सु चहचर मिलि करैं कबहुँ तौ मुनिव्रत लीयैं।

— हि. प्रि. से. वि., [से. च.] प्रि. दा., सेवक जी की बघाई, पृ. सं. १२२



## ५.२.२. उपासक का तात्त्विक स्वरूप :

रसभक्ति किंवा रसोपासना का परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' है। पूर्व पृष्ठों में प्रेम 'तत्त्व की परात्परता पर यथेष्ट प्रकाश डाला चुका है। परमतत्त्व चराचर, जड़-चेतन में संव्याप्त होता है। इस सर्वमान्य सिद्धान्त के आधार पर परम तत्त्व 'प्रेम' के उपासक [जीव] का अपना तात्त्विक स्वरूप 'प्रेम' ही प्रकृत सिद्ध है। प्रेमोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य ने इसी बात को अपनी कथन शैली विशेष से व्यक्त करते हुए कहा है कि "जो कि क्रूर, पापी और सज्जनों के दर्शन-सम्भाषण के योग्य भी न हों किन्तु वे सभी योगीन्द्रों के लिए सुन्दर-दर्शनीय सघन रस के दाता और सघन आनन्द की एकमात्र मूर्ति हैं। उन्हें भी तत्त्व रूप में देखकर उनमें मेरी परमाराध्य बुद्धि है"—

सद्योगीन्द्रसुदृश्य सान्द्र रसादानन्दैक सन्मूर्त्यः।

सर्वेप्यद्भुत सन्महिम्न मधुरे वृन्दावने संगताः॥

ये क्रूरापि पापिनो न च सतां संभाष्य दृश्याश्चये।

सर्वान्वस्तुतया निरीक्ष्य परम स्वाराध्य बुद्धिर्मम<sup>१</sup>॥

श्री हरिवंश वाणी के गहन अध्येता और मार्मिक व्याख्याकार श्री सेवकजी ने श्री हिताचार्य के इस सिद्धान्त सूत्र का भाष्य जैसा करते हुए कहा है कि वह 'प्रेम' किंवा 'रस' [श्री हरिवंश] ही एकमात्र अभेद तत्त्व है। वही प्रिया-प्रियतम है, वही उपास्य और वही उपासक, वही आत्मा और वही सब प्राणियों में रमा हुआ है—

श्री हरिवंश नाम-गुण-श्रूपं। श्री हरिवंश प्रेम रस रूपं॥.....

श्री हरिवंश विदित विधि वेदं। श्री हरिवंश जु तत्त्व अभेदं॥.....

प्रज्ञा हरिवंश प्रतीति प्रमानत, प्रीतम श्री हरिवंश प्रियं॥.....

श्री हरिवंश विपुल गुण मिष्टं। श्री हरिवंश उपासक-इष्टं॥

गाऊँ हरिवंश नाम-जस निर्मल, श्री हरिवंश रमित प्रानं॥.....

आत्मा हरिवंश प्रगट परमानंद श्री हरिवंश प्रमाण मनं<sup>२</sup>॥

प्राप्त सामग्री के आलोड़न से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रसोपासना में उपासक का तात्त्विक स्वरूप 'प्रेम' है। वह तत्त्वतः प्रेम स्वरूप ही है।

## ५.२.३. नित्य लीला में उपासक का निज रूप :

उपासक का दूसरा रूप—उसका अपना निज किंवा नित्य रूप श्री राधाकिंकरी

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २६४

२. से. वा., इष्टाराधन पंचम प्रकरण, छं. सं. २, ४, १, २

रूप है। श्री हिताचार्य ने अपनी अभिलाषा कथन व्याज से उपासक का नित्य और निज रूप व्यक्त करते हुए लिखा है कि “जो श्री राधा और रसिकवर श्री श्यामसुन्दर का रहस्य निश्चय ही न तो ब्रह्मादि देवताओं को ही विदित है, न हरिभक्तों को और न श्रीकृष्ण के सुहृदादिकों [श्रीकृष्ण के माता, पिता, बन्धु, सखागण तथा कान्ताओं] को ही विदित है; किन्तु उनकी दासी होकर, उनकी नित्य वर्द्धमान केलि को असमय में भी अपने नेत्रों से देखने की दुर्गम आशायें हैं” —

न देवैर्ब्रह्माद्यै न खलु हरिभक्तै न सुहृदादिभियेद्वै राधामधुपति रहस्यं सुविदितम् ।।  
तयोर्दासीभूत्वा तदुपचित केलोरसमये । दुरन्ताः प्रत्याशा हर हर दृशोर्गोचरयितुम्<sup>१</sup> ।।

तथैव —

“अपनी स्वामिनी के हाथों से प्रेम पूर्वक दिये हुये उपरैनी एवं कंचुकी आदि प्रसादी वस्त्र अपनी कुच तटी में धारण करती हुई विविध प्रकार की परिचर्याओं में अद्वितीय चतुर सुकुमारी के रूप में नित्य समीप स्थित अपने आप को क्या इस जीवन में देखूँगी” —  
दुकूलं विभ्राणामथ कुचं तटे कंचुकपटं । प्रसादं स्वामिन्याः स्वकरतलदत्तंप्रणयतः ।।  
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविध परिचर्यैक चतुरां । किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये<sup>२</sup> ।।

एवमपि —

“रसिकवर लाल जू के साथ केलि विलासों को अंगीकार करने वाली उन्हीं नवरस कला की कोमल प्रेममूर्ति श्रीराधा का ध्यान करता हुआ इस वृन्दावन में शरीर को त्याग कर मैं किस प्रकार उनके चरण-कमल की सुगन्धि और माधुर्य की सीमा स्वरूपा दासी होऊँगा” —

वृन्दारण्ये नव रसकला कोमल प्रेम मूर्तेः श्री राधायाश्चरण कमलामोद माधुर्य सीमा ।।  
राधा ध्यायन् रसिक तिलकेनात्त केलिविलासां तामेवाहं कथमिह तनुं न्यस्य दासी भवेयम्<sup>३</sup> ।।

श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्रवाक्यों के आधार पर हरिराम व्यासजी<sup>४</sup>, सेवकजी<sup>५</sup> तथा

१ से ३. रा. सु. नि. श्लोक १४८, ५२, २६१

४. किशोरी जू मोहि अपनी करि लीजै ।.... व्यास स्वामिनी की छवि निरखत महल टहलनी कीजै ।।

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. २८६

५. आलय वन बसत संग पारस के आयस कनक समान भयं ।

मागौं मन मनसि दासि अपनी करि पूरन काम सदा हृदयं ।।

— से. वा., ध्यान प्रकरण, छं. सं. ४



प्रबोधानन्दादि<sup>१</sup> हित सम्प्रदायानुयायी सभी रसिकों ने भी अपने नित्य निज रूप-श्री राधाकिंकरी रूप को-प्राप्त करने की अभिलाषा प्रगट की है।

### ५.२.४. उपासना के क्षेत्र में उपासक का रसिक रूप :

श्री हरिवंशोदित रसोपासना का उपासक 'रस' की उपासना करता है तथा वह प्रणयमय रसिक ललितादिकों का भावानुगमन करता है। अतः उपासना के क्षेत्र में उसकी 'रसिक' संज्ञा होती है और सम्भवतः इसीलिये इनके परिचय ग्रंथों को, 'रसिकमाल', 'रसिक अनन्यमाल', 'रसिक अनन्य सार' आदि कहा जाता है। यह सत्य है कि 'रस' किंवा 'प्रेम' की उपासना करने के कारण इन्हें 'प्रेमोपासक' किंवा 'रसिक' कहा जाता है, किन्तु यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि किसी नायिका या किसी नायक से और भगवान राम-कृष्ण से प्रेम करने वाला प्रेमोपासक नहीं होता, वह तो प्रेमी, भगवत्प्रेमी, राम-प्रेमी या कृष्ण-प्रेमी होता है, प्रेमोपासक तो 'प्रेम' की ही उपासना करने वाला होता है। 'प्रेम' की उपासना करने वाला प्रेमोपासक ही 'रसिक' कहलाता है।

रसोपासक रसिक का स्वरूप परिचय प्राप्त करने से पूर्व उपास्य रस का पूर्ण परिचय प्राप्त करना परमावश्यक है। रस के अनेक रूप और अनेक नाम शास्त्रों में वर्णित तथा लोक में प्रचलित हैं। जैसे मकरध्वज रस, चन्द्रोदय रस, सोमरस, षटरस और काव्यरस [काव्य के नव रस] आदि-आदि। रस के इन विभिन्न रूपों के कारण रसिक रूप भी अनेक प्रकार के कहे सुने और देखे जाते हैं। लोक और वेद में आनन्द को भी रस कहकर प्रकीर्तित किया जाता है।

जिसे जिस वस्तु में अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है; उसकी सम्पूर्ण प्रियता उसी वस्तु में केन्द्रित हो जाती है और वह उसी वस्तु का व्यसनी या लोलुप बन जाता है। ऐसे आनन्द लोलुप व्यसनी को उस वस्तु का 'रसिक' कहा जाता है। जैसे मधुर रसिक, रूप रसिक, काव्य रसिक, संगीत रसिक, भगवतनाम रसिक, कथा रसिक, कीर्तन रसिक और भगवल्लीला रसिक; आदि आदि।

काव्यानुभूति पर विचार करते हुए रसशास्त्र मनीषियों ने प्रतिमान के रूप में एक आदर्श पाठक [नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में आदर्श प्रेक्षक] की कल्पना की है। आचार्य

१. कृष्ण प्रेम सुधा रसात्म सकलं वृन्दावनं तद् गतं।  
सर्वस्यास्तु चारिष्णु चिद् घनमथो रूपं तवापीदृशम्।  
तत्त्वं त्यक्त समस्त बाह्य कलनोनोलोक धर्मादिके।  
ष्वासक्तो वस राधिका पदतले नित्यं स्वतत्त्वे स्थितः।

भरत तथा उनके परवर्ती सभी काव्यशास्त्र मनीषियों ने काव्य रस की अनुभूति करने वाले को प्रमाता, सहृदय, सामाजिक और सदाशय कहकर ही स्मरण किया है। सहृदय या सामाजिक के स्थान पर 'रसिक' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख भोजकृत 'शृंगार प्रकाश' नामक ग्रंथ में मिलता है—

आत्मास्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य  
शृंगार माहुरिह जीवितमात्म यो तेः॥  
तस्यात्म शक्ति रसनीयतथा रसत्वं  
युक्तस्थयेन रसिकोऽयमिति प्रसादः<sup>१</sup>॥

भगवान् के नाम स्मरण, यश कथन—श्रवण, लीला गान, रूप दर्शन और चिन्तन करने से भगवद्भक्त को एक विशेष आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द को ही रस मानकर श्री शुकमुखोद्गलित भगवत नाम रूप लीला से परिपूर्ण भागवत को 'रस का आलय' और उसके श्रोता वक्ता को भावुक तथा 'रसिक' नाम से प्रकीर्तित किया गया है<sup>२</sup>।

रसोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य परम प्रेमस्वरूप हित दम्पति को रसिक-रसिकनी, रसिकयुगल या रसिक किशोर युगल कहकर प्रशंसित किया है<sup>३</sup>। साथ ही इन रसिक युगल की लीला प्रेरक और लीला दर्शक श्री राधाकिंकिरियों को भी रसिक कहकर स्मरण किया है<sup>४</sup>।

'रसिक' के उपर्युक्त संकेतित इतने रूप प्रकाश में आने पर यह प्रश्न सहज ही बन जाता है कि इन रसिक रूपों में से वृन्दावन रसोपासक रसिक का स्वरूप कौन सा है ?

लवणादि षट्‌रस तथा आयुर्वेदीय रस तो मानव तन पोषक भोग्य पदार्थ मात्र हैं रस नहीं। काव्य रस भी कृत्रिम तथा अनित्य है। वह तो ब्रह्मानन्द भी नहीं उसके सहोदर रूप में ही स्मरण किया जाता है। अतः वह और उसका 'रसिक' हमारी विचारणा का विषय ही नहीं बनता; फिर भी वह 'रसिक' नाम से आख्यात है, अतः उसके [रसिक के] स्वरूप-पार्थक्य पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

१. शृं. प्र. प्रथम प्रकाश

२. निगम कल्पतरोगलितं फलं शुकमुखादमृतं द्रव संयुतम्॥  
पिवत भागवत रस मालयम मुहरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

— प. पु.

३. विदग्ध वर नागरी रसिक शेखरौ खेलतः।..... गतिं रसिकयोर्द्वयो स्मरत चारु वृन्दावने।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १६६, १७१

४. प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन चषक।.... जै श्री हित हरिवंश रसिक ललितादिक।

— हि. चौ., प. सं. ५०, ७२



एक काव्य रस रसिक केवल काव्य पठन काल या नाट्य प्रेक्षण काल में ही रस दशाप्राप्त होने पर [तद्भिन्नत्व प्राप्त होने पर] रस की अनुभूति कर पाता है, प्रत्येक समय नहीं। बहुत अधिक स्पष्ट है, कि न तो वह स्वरूपतः 'रस' ही है और न स्वरूपतः 'रसिक' ही।

वृन्दावन रस-रसिक की भाँति काव्य रस रसिक का वृन्दावन रस या काव्य रस से सास्वत सम्बन्ध भी नहीं होता; जो रस और रसिक में स्वरूपगत होता है, सहज और प्राकृतिक होता है। जो कि उपासना के क्षेत्र में उपास्य-उपासक सम्बन्ध के नाम से अभिसंज्ञात है। ऐसी अनेक भिन्नताओं के कारण [जिनका विशद विवेचन आगे के पृष्ठों में करेगे] वृन्दावन रस का 'रसिक' काव्य रस रसिक की कोटि में नहीं आता।

काव्य रस रसिक जिस रस की अनुभूति करता है वह मायिक उपकरणों से निष्पन्न होता है। जिस आनन्द का प्रतिसम्वेदन करता है वह सुनिश्चित रूप से लोक की काममूला रति का प्रतिफलन ही है; क्योंकि उस रसासव का उन्माद उसे भगवद् विमुख और विषय लोलुप बना देता है, बनाये रखता है। कालिदास, जगन्नाथ, मयूर तथा आलम आदि कवि इस तथ्य के पुष्ट प्रमाण हैं। अतः वृन्दावन रस रसिक इस कोटि में गण्य नहीं है। प्रमाता संज्ञक वृन्दावन रस रसिक अनुकार्य [श्यामा-श्याम] के प्रीति विलासों का पाठक और प्रेक्षक तो होता ही है साथ ही वह उन प्रीति विलासों का अभिन्न और अपरिहार्य अंग भी होता है; क्योंकि वह भावतः अपने उपास्य 'रस' [रसमूर्ति श्यामा-श्याम] के विलासों का प्रेरक तथा सहायक श्री राधाकिंकरी रूप [किंकरी रूपाविष्ट] होता है।

आनन्द को भी 'रस' कहते सुनते देखा जाता है, किन्तु लोक के सभी आनन्द विषयानन्द के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। जिन्हें सज्जन और सुधीजन 'नरक कोटि वीभत्स' कहते हैं<sup>१</sup> ब्रह्मानन्द भी रस की कोटि में नहीं आता क्योंकि उसमें आनन्दास्वाद की वैचित्री तथा आस्वादक को आनन्द की अनुभूति कराने वाली स्थिति का ही अभाव है। अतः वह निस्वाद और शुष्क ज्ञान मात्र है। इस ज्ञान में मानव के अहं के साथ उसकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ तथा सम्पूर्ण विकार ही समाप्त हो जाते हैं फलतः वह रसानुभूति का पात्र ही नहीं बन पाता। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्द प्राप्त करने वाले की 'रसिक' संज्ञा नहीं होती। एतावता वह भी हमारी विचारणा का विषय नहीं बन पाता।

अनन्त ऐश्वर्यशाली का अनन्त सौन्दर्य सौजन्य, प्रणत पालकता, दयालुता, कृपालुता और औदार्य आदि गुण गण मानव की राग वृत्ति को अपनी ओर तन्मुख कर

१. अलं विषय वार्तया नरक कोटि वीभत्सया।



लेते हैं। मानव का यह स्वाभाविक राग भगवदोन्मुख होने पर 'भक्ति' संज्ञक होता है<sup>१</sup>। यह भक्ति जिसके हृदय में होती है उसे भक्त कहते हैं। भक्त को भगवान से अलौकिक आनंद प्राप्त होता है। जिसे भगवदानंद कहते हैं। भक्त को प्राप्त होने वाला यह आनंद भी आनंद मात्र ही बना रह जाता है रस नहीं बन पाता क्योंकि वह आनंद भक्त की अपनी रति का ही आनन्द है, अपनी कामना पूर्ति का ही आनंद है। और वह इस प्रकार :—

भगवान पूर्ण, पूर्ण काम, अंशी, सर्व व्यापक शक्ति सम्पन्न, दाता, पालक रक्षक तथा नियामक हैं। भक्त अपूर्ण सकाम अंश और शक्तिहीन होता है। तत्त्वतः भगवान से अभिन्न रूप होने पर भी उसमें भगवान के सर्जक, पालक, व्यापक, संहारक दातार सर्व रक्षक और नियमन आदि-आदि धर्म कभी भी उदित नहीं हो सकते। यह द्वैत ही तो भक्त और भक्ति का अस्तित्व सुरक्षित रखता है। इन धर्मों के उदित न होने के कारण भक्त अपने में अभावों की अनुभूति किया करता है। अभावों की अनुभूति ही उसके हृदय में अनेकानेक कामनाओं की सृष्टि किया करती है। यह परम सत्य है कि भक्त के हृदय में ऐहिक सुखों की कामना स्वर्गादि लोकों के सुख भोग की कामना नहीं होती किन्तु इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भक्त को यह ज्ञान बना ही रहता है कि भगवान आनन्दघन हैं, आनन्द दाता हैं, मैं नहीं। अतः मैं उन्हें आनन्द नहीं दे सकता। इस चिरस्थायी भावना के कारण भक्त के हृदय में भगवान को सुख देने की भावना के स्थान पर उनसे अलौकिक सुख प्राप्त करने की कामना बनी ही रहती है।

इस कामना का मिश्रण होने के कारण ही भगवद् भक्त उस विशुद्ध आनन्द का प्रतिसम्वेदन नहीं कर पाता जो कि चमत्कार प्राण होकर रस रूप में प्रगट होता है। भक्त अपनी रति का आनन्द स्वयं ही उपभोग करता है, उस रति का नहीं जो कि "न ममेति न परस्येति" होती है। यही कारण है कि वह रसिक बनाने वाली उस क्षमता से वंचित ही बना रहता है; जो कि रस से तदभिन्नत्वेन अनुभूति कराने वाली रस दशा प्राप्त कराती है। यहाँ पर यह भी अविस्मरणीय है कि इन भक्तों के हृदय में दासोहं—की भावना चिरस्थायी रहती है; यह भावना ही उन्हें उस दशा से सर्वथा असम्पृक्त बनाये रखती है। तात्पर्य यह कि ये भगवदानन्द प्राप्त भक्तगण भी 'रसिक' नहीं कहे जा सकते। अतः यह भी हमारी विचारणा का विषय नहीं बन पाते। यदि 'रसिक' मान भी लिये जाँय तो 'वृन्दावन रस रसिक' इन रसिकों की श्रेणी में नहीं आते।

'भक्ति'-अर्चन वंदन और आत्मनिवेदन आदि नौ प्रकार की होती है। इसे नवधा भक्ति और वैधी भक्ति कहा जाता है। यह नवधामक्ति परिपक्व स्थिति में पहुँचकर दसधा



किंवा प्रेम लक्षणा भक्ति कहलाती है। यह 'भक्ति' भाव मूला या भाव प्रधान होती है। इस भक्ति में प्रेम के कथंचित लक्षण देखे जाते हैं। इसीलिए यह प्रेम लक्षणा कहलाती है। यह प्रेम लक्षणा भी दो प्रकार की होती है—रागात्मिका और रागानुगा। रागात्मिका भक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के लीला परिकर, गोविन्द प्रिय परिकर [नन्द-यशोदा, कीर्ति-वृषभान, सखागण और श्रीकृष्ण प्रेम विह्वला श्री राधा-चन्द्रावली और ललितादि गोपियों] की अपनी निजी वस्तु है। इसका सर्वाधिक प्रकाश उन ब्रजगोपियों में ही देखा जाता है जिन्होंने परम कान्त श्रीकृष्ण-प्राप्ति के लिये दुस्त्यज आर्य पथ का अतिक्रमण कर दिया था।

रागानुगा भक्ति उन भक्तों के हृदयों में होती है जो कि इन गोविन्द प्रिय परिकर में से किसी का भी भावानुगमन करके श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं। सारांशतः यह 'प्रेम लक्षणा भक्ति' सख्य वत्सल्य और मधुर भाव से की जाती है। इन सख्यादि भावों से श्रीकृष्ण की भक्ति करने वाले भक्तों को भी प्रेमी भक्त कहा जाता है। इन भक्तों को भी भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण और लीला के कथन, श्रवण, चिन्तन तथा लीला दर्शन से एक विशेष आनन्द प्राप्त होता है; जो कि भगवदानन्द से भी अत्यधिक मधुर होता है। अतः वह अनुपम परमानन्द संज्ञक है। श्री हिताचार्य ने आनन्दों का उत्तरोत्तर क्रमिक विकास वर्णन करते हुए चमत्कार प्राण रस को श्री राधाकिंकरीगणों को ही प्राप्त निर्देश किया है—

ब्रह्मानन्दैकवादाः कतिचन भगवदवन्दनान्द मताः।

केचिद् गोविन्द सख्याद्यनुपम परमानन्दमन्ये स्वदन्ते॥

राधाकिंकरीणां त्वखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा।

तत्पादाम्भोज राजन्नखमणि विलसत् ज्योतिरेकच्छटापि<sup>१</sup>॥

काव्य रस रसिक जिस 'रस' की अनुभूति करता है वह मायिक उपकरणों से निष्पन्न होता है। वह जिस आनन्द का प्रतिसंवेदन करता है वह लोक की उस काम मूला रति का ही प्रतिफल है जो कि पतनोन्मुखी है। अर्थात् नित्य शुद्ध तत्त्व से विमुखकर्त्ता है। कालिदास, जगन्नाथ, मयूर और आलम आदि कवि इस तथ्य के अकाट्य प्रमाण हैं। काव्य रस के आलंबन रस के कारण मात्र होते हैं; रस स्वरूप नहीं। अतः उस रस का अनुभवकर्त्ता सामाजिक रस स्वरूप कैसे हो सकता है; यह एक जटिल प्रश्न है। काव्य रस का रसिक 'रस' का उपासक भी नहीं होता। काव्य रस रसिक, प्रमाता सामाजिक या रस का भोक्ता अवश्य होता है किन्तु उसका 'रस' से कोई स्वरूपगत नित्य संबंध नहीं होता।

‘प्रमाता’ अनुकार्य किंवा अनुकर्ता के प्रीति विलासों का पाठक या प्रेक्षक मात्र होता है किन्तु वृन्दावन रस का रसिक भोग्य-भोक्ता रूप दंपति के प्रीति विलासों का प्रेक्षक तो होता ही है साथ ही वह उनके प्रीति विलासों का अभिन्न और अपरिहार्य अंग भी होता है। साथ ही इन दोनों में उपासक और उपास्य का चिरन्तन संबंध भी होता है; जो कि उन दोनों को सभी प्रकार के रसों और सभी प्रकार के रसिकों से पृथक बनाये रखता है।

यह परमानंद भी इन भावक भक्तों प्रेमी भक्तों [ब्रजगोपिकाओं] की अपनी रति का ही आनंद है, मत्सुख है। श्रीमद् भागवतादि ग्रन्थों तथा सूरदासादि ब्रजलीला उपासकों के ब्रजलीला गान में सुस्पष्ट वर्णन है कि नन्द-यशोदा अपने स्नेह भाजन श्रीकृष्ण को अपने सामने ही खेलते देखना चाहते हैं; अपनी इच्छानुसार ही उन्हें रखना चाहते हैं; अपनी इच्छानुसार उनका स्नान-शृंगार करना चाहते हैं। सुबल-सुबाहु तथा श्री दामादि सखागण अपनी ही जीत चाहते हैं। अपना दाव पड़ने पर उनकी पीठ पर चढ़ी लेते हैं; और न कुछ गेंद जैसी तुच्छ वस्तु के लिए उन्हें कालीदह में कूदने के लिए विवश कर देते हैं। सब ब्रज गोपिकायें भी श्रीकृष्ण को अपने पास रखना चाहती हैं। श्रीकृष्ण जब श्री राधा के पास जाते हैं तब चन्द्रावली दुखी होती हैं; उन पर कुपित होती हैं और जब चन्द्रावली के पास जाते हैं तब श्री राधा दुखी होती हैं और उन पर कुपित होती हैं। बहुत अधिक स्पष्ट है कि गोपियों समेत सभी गोविन्द प्रिय परिकर अपना ही सुख चाहते हैं, श्रीकृष्ण का नहीं। इस मत्सुख कामना के कारण ही ब्रज गोपियों को श्रीकृष्ण का विरह जन्य दुख सहना पड़ा था। सभी को ज्ञात है कि संपूर्ण गोविन्द प्रिय परिकर को परमानंद के साथ-साथ परम दुख भी प्राप्त हुआ था। बहुत अधिक स्पष्ट कि इस परम दुख का मूल गोपियों की कामना ही थी<sup>१</sup>।

महत पुरुषों का कहना है कि यह कामना ही दुख का मूल है<sup>२</sup>। रस शास्त्र मनीषियों के शब्दों में यह सकामता [कामना] ही अपनी रति नाम से वर्णित हुई है और बताया गया है कि अपनी रति साथ ही [पराई रति] सहृदय को उस रस दशा तक पहुँचने में बाधक होती है जिस दशा में पहुँचने पर रसानुभूति होती है। [इष्ट साक्षात्कार का अनुभव होता है] इस प्रकार से वह परमानंद भी न तो ‘रस’ ही बन पाता और न इसके आस्वादक

१. तिन उर कछु सकामता आई। ताते बिच अन्तर पश्यौ माई॥

— ब्या. ली. अनुरागलता, हि. ध्रु., दा., छं. सं. २४

२. दुख कौ मूल सकामता सुख कौ मूल निहकाम। विरह वियोग न तहँ कछु रसमय ध्रुव सुख धाम॥

— ब्या. ली. अनुराग लता, हि. ध्रु., दा., छं. सं. २५



‘रसिक’ ही बन पाते; क्योंकि ‘रस’ तो दुख और सुख से परे होता है<sup>१</sup>। अर्थात् न तो वह दुख ही है और न सुख ही है। इसीलिए तो ‘रसिक’ को न तो दुःखानुभूति ही होती है और न सुःखानुभूति। वह ‘रस’ तो इन सभी आनंदों से भिन्न अद्भुतानन्द<sup>२</sup> या चमत्कार प्राण संज्ञक परमानन्द का भी सार<sup>३</sup> होता है। सम्भवतः इसीलिए इसका आस्वादन इसकी अनुभूति, ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ से अभिन्न स्थिति-‘रस दशा’ में ही होती है। रस स्वरूप या प्रेम स्वरूप होने पर ही होती है।

इस विवेचना से बहुत अधिक स्पष्ट है कि जीव जगत, भक्त जगत तथा प्रेम जगत [प्रेमी भक्त जगत] ये सभी भगवदानन्द या परमानन्द में निमग्न हैं। एतावता ये कोई भी ‘रसिक’ कोटि में नहीं आते।

भक्ति शास्त्रों का आलोड़न करने से ज्ञात होता है कि इन गोविन्द प्रिय परिकर [नन्द-यशोदा, सखागण तथा गोपीगण] को तथा शुक, नारद, उद्धव, जनक, प्रह्लादादि भक्तों को और इसी प्रकार श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, आचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानन्दाचार्य, श्री चैतन्यदेव, श्री बल्लभाचार्य एवं तदनुगत श्री सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास, श्रीरूप और सनातन आदि भक्तों को ‘रसिक’ कहकर किसी ने भी स्मरण नहीं किया है। यदि आज कोई भक्तगण उपर्युक्त भक्तों को ‘रसिक’ कहें तो यह उनकी स्वतंत्र भावना मात्र ही होगी। यह तो हुई प्रसंगागत बात; कहने तो हम यह जा रहे थे कि वृन्दावन रस रसिक उनकी श्रेणी में भी नहीं आते।

श्री राधाकिंकरीगण न तो भक्त ही हैं न प्रेमी भक्त, न प्रेमी हैं न प्रेमपात्र। ये तो प्रीति की साकार मूर्ति हैं। ये किंकरीगण प्रेमी और प्रेमपात्र रूप में नित्य प्रत्यक्ष अद्वय युगल श्यामा-श्याम के सुख में ही सुखी रहने वाली हैं। स्वसुख कामना शून्य हृदय वाली हैं। ये सखियाँ अपने दोनों प्रीतम श्री राधा-श्यामसुन्दर को मिलाकर—दोनों को बिहार कराकर और उनके बिहार को देख-देखकर ही सुखी होती हैं। अन्तराशय यह कि उनके रति बिहार के आनन्द का प्रति सम्वेदन करती हैं। अतः ये राधाकिंकरीगण ही वस्तुतः प्रेमोपासिका—रसोपासिका और सर्वादि रसिक हैं। वृन्दावन रस का उपासक इन्हीं सखियों का भावानुगमन करता है। इसीलिए वह इन्हीं प्रणयमय रसिक ललितादिकों

१. दुख-सुख गये जु सुख उपजत है तापै श्याम बँधावै।

— व्या. बा., ह. व्या., पृ. सं. २२३

२. अद्भुतानन्द लोभश्चेन्नाम्ना रस सुधानिधिः।....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २७०

३. क्वाहं मूढ मतिः क्व नाम परमानन्दैक सारं रसः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २६८

की श्रेणी में परिगणनीय है। रसोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य ने स्वयं उद्घोष किया है कि मैं इन श्री राधा किंकरियों का भावानुगमन करता हूँ —

उत्फुल्ल स्थल पंकजामिव भुवं रासे पदन्यासतः।

श्री राधामनुधावतीं ब्रज किशोरीणां घटां भावये<sup>१</sup>॥

इन रसिक ललितादिकों की रसपान विधा पर प्रकाश डालते हुए श्री हिताचार्य ने कहा है कि नवल नागरी और नवल नागर किशोर युगल शैया विहार परायण हैं और प्रीति स्वरूपा ललिता-बिशाखादि सखियाँ लोचन पात्र के द्वारा उस रस का पान कर रही हैं—

प्रणयमय रसिक ललितादि लोचन-चषक-पिवत मकरंद सुख रासि अन्तर सची<sup>२</sup>।  
जै श्री हित हरिवंश रसिक ललितादिक लता भवन रन्ध्रन अवलोकत।  
अनुपम सुख भरि भरित विवस असु आनंद-वारि कण्ठ-दृग रोकत<sup>३</sup>।  
जै श्री हित हरिवंश निकट दासीजन लोचन-चषक रसासव गटकति<sup>४</sup>।

सखियों की उपर्युक्त रसपान विधा प्रकाशन के माध्यम से ही श्री हिताचार्य ने यह रस विधान भी व्यंजित कर दिया है कि रसिक वही है जो प्रेम मूर्ति रसिक युगल के विहार को—विहार रस को लोचन-पात्रों से ही पान करे। श्री हिताचार्य के इन सूत्र वाक्यों का भाष्य जैसा करते हुए परवर्ती रसिकों ने भी रसिक का स्वरूप आलोकित करते हुये लिखा है कि रसिक वही है जिसके हृदय में लाड़िली लाल की पारस्परिक प्रीति झलकती रहती है —

रसिक तबै पहिचानिये जिनके यह रसरीति।

छिन-छिन उर झलकत रहै लाल-लाड़िली प्रीति॥.....

अनुरागे जिनके भजन ते तौ पैयत थोर।

जिनके हिय में बसत रहैं रसमय जुगल किशोर॥.....

प्रेम प्रकार अनेक विधि तिनमें उत्तम भाँति।

अद्भुत प्रीति दुहूँ की जिनके उर झलकाँति<sup>५</sup>॥

श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य श्यामा-श्याम को तो रस और रसिक कहकर प्रकीर्तित किया ही है; साथ ही ललितादिक सखियों को भी रसिक कहकर स्मरण किया

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ८९

२ से ४. हि. चौ. ५०, ७२, ७९

५. ब्या. ली., हि. घु. दा., आनन्दाष्टक, छं. सं. ६, अनुराग लता, छं. सं. ७१, प्रीति चौवनी, छं. सं. २६



है। ऐसा इसलिए किया है कि नित्यबिहार स्थल श्री वृन्दावन धाम में प्रेम किंवा 'रस' ही ललितादिक, श्यामा-श्याम और श्री वृन्दावन के रूप में प्रकट होकर बिहार किया करता है। अतः यह चारों ही रस और चारों ही रसिक हैं। यहाँ पर नितान्त अविस्मरणीय यह है कि श्यामा-श्याम रस विलासी रूप में और ललितादिक सखियाँ रस विलासों की प्रेक्षिका रूप में ही बनी रहती हैं। श्री श्यामा-श्याम सेव्य रूप [उपास्य रूप] में और ललितादिक सेविका [उपासक] रूप में नित्य प्रत्यक्ष रहती हैं। वृन्दावन रस का उपासक इन्हीं रसिक ललितादिकों का भावानुगमन करता है। उनका ही अनुसरण करता है। इस विवेचन के आधार पर निष्कर्ष यह निकलता है कि वृन्दावन रस का उपासक इन्हीं ललितादि रसिकों की गणना में आता है।

गो. श्री हितहरिवंशोदित वृन्दावन रस के वाणी साहित्य के आलोड़न करने से यह भी ज्ञात होता है कि इस रस की प्राप्ति के लिए इन सखियों की शरण ग्रहण करना अनिवार्य है<sup>१</sup>। ये रसिक सखियाँ ही संसार में आचार्य रूप से आविर्भूत होकर इस वृन्दावन रस की उपासना का प्रचार-प्रसार करती हैं इस प्रकार से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि वृन्दावन रस का उपासक इन्हीं ललितादि रसिकों की श्रेणी में गण्य है।

इन ललितादि सखियों की 'रसिक' संज्ञा क्यों है? क्योंकि—रसिक वही है जो 'रस' की उपासना करे। 'प्रेम' की अद्वय युगल मूर्ति प्रेमी और प्रेमपात्र की उपासना करे। रसिक वही है जो स्वयं प्रेमी और प्रेमपात्र न होकर उनके प्रीति विलासों का दृष्टा हो। प्रीति विलासों को देखकर ही अपना हृदय शीतल करता हो। रस से अनुप्राणित होता हो। रसिक वही है जो कि जीव, ईश, स्त्री, पुरुष, भक्त और भगवान आदि सभी प्रकार की अहमोपाधियों से शून्य हृदय अर्थात् रस से अभिन्न दशा, रसदशा को प्राप्त 'रस रूप' हो गया हो। रसिक वही है जो अपनी रति का आनन्द प्राप्त न करता हो प्रत्युत प्रेमी और प्रेमपात्र के रति विलासों से निष्पन्न आनन्द का प्रतिसम्बेदन करता हो।

पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि रसिक के ये स्वरूप लक्षण साधारण आनन्द भोक्ताओं, ब्रह्मानन्द के भोक्ताओं, भगवदानन्द के भोक्ताओं, भगवद् भक्तों तथा अनुपम परमानन्द के आस्वादकों किंवा गोविन्द प्रिय परिकर में दिखाई नहीं देते। राधाकिंकरीगणों

१. [क] यद् राधापद किंकरी कृत हृदां सम्यक् भवेद् गोचरं।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २६५

[ख] सखियन शरण भाव धरि आवै। सो या रस के स्वादहि पावै।।

— ब्या. ली., रति मंजरी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ७८

में ही ये सम्पूर्ण लक्षण दिखाई देते हैं। इसीलिए आचार्य चरण ने इन्हें 'रसिक' कहकर प्रकीर्तित किया है। "प्रणयमय रसिक ललितादि" लिखकर आचार्य चरण ने यह व्यंजित किया है कि ये ललितादि सखियाँ जीव, ईश, स्त्री, पुरुषादि सभी अहं भावों से सर्वथा शून्य प्रीति रूपा, प्रणय रूपा, किंवा रस स्वरूपा हैं। "लोचन-चषक पिवत" तथा "लोचन-चषक रसासव गटकति" लिखकर यह व्यंजित किया है कि ये सखियाँ प्रीति विलासों को करने वाले प्रेमी और प्रेमपात्र नहीं हैं अपितु उन विलासों की प्रेक्षिका हैं। "उभय संगम सिन्धु सुरत पूषणबंधु द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै", "हित हरिवंश निकट दासीजन लोचन-चषक रसासव गटकति" इन पंक्तियों में भी पुनः स्पष्ट किया है कि ये सखियाँ न तो श्यामसुन्दर से ही मिलकर अपना हृदय शीतल करती हैं और न श्री राधा से ही; प्रत्युत लाल और ललना [श्यामसुन्दर और श्री राधा] को मिलते हुए देखकर या दोनों को मिलाकर ही अपना हृदय शीतल किया करती हैं। ये सखियाँ न तो काव्य रस क्षेत्रीय सामाजिक ही हैं और न प्रमाता या आनंद भोक्ता ही हैं। न भक्ति भाव क्षेत्रीय भक्त किंवा प्रेमी भक्त ब्रजगोपियाँ ही हैं। ये सखियाँ न तो प्रेमी ही हैं और न प्रेमपात्र ही हैं; प्रत्युत प्रेमी और प्रेमपात्र [श्यामा-श्याम] की उपासिका-नित्य निकट वर्तिनी हैं। ये सखियाँ प्रीति स्वरूपा ऐसी रसिक हैं जो कि सामाजिक सहृदय किंवा सदाशय रूप में दिखाई देती हुई भी रस क्रीड़ा की अभिन्न अंग ही हैं। श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत 'वृन्दावन रस' का उपासक इन्हीं ललितादिक सखियों का भावानुगमन करता है—इनसे भाव तादात्म्य करता है—इसीलिए उसकी 'रसिक' संज्ञा है।

इस विशद विवेचना का सारांश यह कि श्री हरिवंशोदित रसोपासना का उपासक प्रणयमय रसिक ललितादिक सखियों की श्रेणी में परिगणित है। अतः उपासना के क्षेत्र में उसकी 'रसिक' संज्ञा होती है। वह तत्त्वतः प्रीति स्वरूप और उपास्य के लीला क्षेत्र में उसका नित्य निज रूप-राधाकिंकरी रूप है।

### ५.२.५. रसिक ही नहीं रसिकअनन्य :

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना का उपासक 'रसिक' संज्ञक तो होता ही है, प्रेमोपासक होने के कारण वह अपने इष्ट के प्रति सम्यक्तया पूर्ण अनन्य भी होता है। इसीलिए उसे 'रसिक' के साथ-साथ 'अनन्य' 'अनन्यरसिक' किंवा 'रसिकअनन्य' नाम से भी प्रकीर्तित किया गया है। यही कारण है कि जिन-जिन ग्रन्थों में इन रसिकों के जीवन वृत्त उल्लिखित किये गये हैं उन ग्रन्थों के नाम भी 'रसिक अनन्यमाल', 'रसिक



अनन्य सार', 'रसिक अनन्य गाथा', 'रसिक अनन्य परचावली', आदि-आदि प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं अपितु इस रसिक जगत के संस्पष्टा गो. हित हरिवंश जी को 'रसिक अनन्य वेणु कुल मण्डन',<sup>१</sup> 'अनन्य सभा शृंगार', 'अनन्य सभा सौभाग्य',<sup>२</sup> 'रसिकअनन्य प्रधान', 'रसिक अनन्य मुख्य', 'रसिक अनन्य सभाभरण',<sup>३</sup> तथा 'अनन्य उत्कट व्रत धारी'<sup>४</sup> आदि-आदि नामों से प्रकीर्तित किया गया है।

उपासक की 'रसिकअनन्य' संज्ञा तथा उपासना प्रवर्तक को 'रसिक अनन्य प्रधान', 'रसिक अनन्य नृपति' और 'रस-रसिकाधार', कहकर स्मरण करने तथा रसिक चरित्र ग्रन्थों के नाम 'रसिकअनन्य मालादि', लिखने का एक विशेष और अविस्मरणीय कारण भी था और वह कारण यह कि इस रसिक जगत के संस्पष्टा गो. हित हरिवंश जी ने ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म, सनातन धर्म, जैन धर्म, भगवद् धर्म इन सभी धर्मों से पृथक् जिस 'रसोपासना' संज्ञक धर्म का प्रवर्तन किया था वह धर्म परात्पर तत्त्व 'प्रेम' का अपना निज धर्म था, हितधर्म किंवा प्रेम धर्म था। जिसका उपास्य भी 'प्रेम' उपासक भी 'प्रेम' और उपासना का मार्ग भी 'प्रेममार्ग' ही था।

'प्रेम' अनन्यता प्राण होता है। 'अनन्यता' प्रेम का वह धर्म विशेष है जिसका अस्तित्व; जिसका दर्शन ही यह प्रमाणित करता है कि यह 'प्रेम' है। सम्भवतः इसीलिए श्री हरिवंशोदित धर्म श्री हरिवंश धर्म की—'प्रेम धर्म' की—'अनन्य धर्म' और इस धर्म को धारण करने वाले की 'अनन्य' संज्ञा संरुद्ध हुई है। श्री हिताचार्य तो इसके मूल आविर्भावक ही थे। अतः उन्होंने अपना परिचय 'अनन्य' कहकर ही दिया है—

कदावा गोविन्दः सकल सुखदः प्रेम करणा।

दनन्ये धन्ये वै स्यमुपनयेत स्मर कलाम्<sup>५</sup>।।

१. नमो नमो जै श्री हरिवंश। रसिक अनन्य वेणु कुल मण्डन लीला मानसरोवर हंस॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ८

२. हुतौ रस रसिकन कौ आधार।... बड़ौ अभाग्य अनन्य सभा कौ उठिगौ ठाठ सिंगार॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ६

३. करुणामय परम पुनीत कृपानिधि रसिकअनन्य समामरनं॥

सजयति हरिवंशचन्द्र नामोच्चार वर्द्धित सदा सुबुद्धि। रसिकअनन्य प्रधान सत साधु मंडली मंडनो जयति।

जै जै श्री हरिवंश व्यास कुल मण्डना। रसिक अनन्यनि मुख्य गुरु जन भय खण्डना॥

— से. वा. ध्यान प्रकरण, छं. सं. २, १ एवं मंगल गान प्रकरण

४. विधि निषेध नहिं दाम अनन्य उत्कट व्रत धारी।

— म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

५. रा. सु. नि., श्लो. १६१

श्री हिताचार्य-मुखोद्गलित उपर्युक्त प्रमाण वाक्य के आधार पर ही परवर्ती सभी रसिकों ने उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म को 'अनन्य धर्म', इस धर्म के धारकों को 'अनन्य' या रसिक अनन्य तथा इनके सुचारु चरित्र ग्रन्थों को 'रसिक अनन्य माल', 'रसिक अनन्य सार' तथा 'रसिक अनन्य परिचावली' कहकर स्मरण किया है।

### ५.२.६. अनन्य धर्म ही 'प्रेमधर्म' है :

धर्म और धर्मी का संबंध नित्य और नैसर्गिक होता है। धर्म से ही धर्मी की पहिचान होती है, क्योंकि धर्मी के बिना धर्म का अस्तित्व नहीं होता और धर्म के बिना कोई उस धर्म का धारक—'धर्मी' नहीं कहा जा सकता। जैसे शैत्य धर्म से जल की और दहन धर्म से अग्नि की पहिचान होती है। 'प्रेम' के भी तीन धर्म हैं—तत्सुखसुखिता, तदाधीनता और अनन्यता। इन तीनों धर्मों में 'अनन्यता' उसका प्रधान धर्म किंवा प्राण स्थानीय है। अतः हम यहाँ पर तत्सुखसुखिता और तदाधीनता की संक्षिप्त चर्चा करते हुए 'अनन्यता' पर ही विस्तृत विवेचन करेंगे।

#### १ [क] अनन्य धर्म —

जाकी है उपासना ताही की वासना ताही कौ नाम रूप गुण गाइये।  
यहै अनन्य धर्म परिपाटी वृन्दावन बसि अनत न जाइये।  
— व्या. वा., ह. व्या. प. सं. १७६

[ख] वृन्दावन में श्री हरिवंश। हरि विलास सरवर के हंस।।  
हरि राधा व्रत एकै जिनके। हरि प्रसाद बिनु और न तिनके।  
धर्म अनन्य प्रकट करि दीयो। सब रसिकन कौ सींच्यो हीयो।।

— ह. ना., म., दा. स्वा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ८

[ग] रसिक अनन्य धर्म परिपाटी। जानि गही हित जू की घाटी।

— र. अ. मा., म. मु., प्रबोधानन्द जी की परचई

रसिकों की अनन्य संज्ञा —

लै उपदेश कहाइ अनन्य अन्हाइ अनर्पित जाइ गटक्कत।

.....अनन्य कहे की जिय लाज धरि।.....

— से. वा., काचे धर्मी प्रकरण, छं. सं. १४, १७

रसिक अनन्य हमारी जाति।।

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ११८

रसिक चरित्र ग्रन्थों के नाम —

रसिक अनन्य माल, रसिक अनन्य सार, रसिक अनन्य परिचावली, रसिक भक्त गाथा, इत्यादि।

२. धर्मी बिनु नहिं धर्म नाहिं बिन धर्म जु धर्मी। श्री हरिवंश प्रताप मर्म जानै जे मर्मी।।

—से. वा., पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. ११



### ५.२.६.१. तत्सुखसुखिता :

स्वसुख कामना शून्य होकर अपने प्रिय के सुख में सुखी होना ही 'तत्सुखसुखी धर्म' कहलाता है<sup>१</sup>। प्रेम के इस धर्म का प्रत्यक्ष दर्शन ही यह बोध कराता है कि यह 'प्रेम' है; प्रेम स्वरूप है। इस धर्म के अभाव में वह प्रेम नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसमें धर्म होता है वह उस धर्म का धर्मी कहा जाता है। परमतत्त्व प्रेम का यह धर्म श्री हिताचार्य के उपास्य श्री राधा-श्यामसुन्दर, राधाकिंकिरीगण और वृन्दावन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसीलिए इन चारों को प्रेम स्वरूप कहा जाता है।

जीव जगत, भक्त जगत और प्रेम जगत [ब्रज] इन तीनों प्रदेशों में सभी मत्सुख-सुखी—अपने ही सुख में सुखी देखे जाते हैं। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, कान्त-कान्ता, भाई-भाई भाई-बहिन ये सभी तथा प्राणीमात्र अपना ही सुख चाहता है; पर का नहीं। विचार पूर्वक देखा जाय तो जीव जगत का सुख-दुख, मान-अपमान, आसक्ति-अनासक्ति, प्रतिस्पर्धा-हिंसा और प्रतिहिंसा ये सारे द्वंदज व्यापार स्वार्थ संज्ञक मत्सुखसुखीत्व की ही उपज हैं।

प्रत्येक भक्त भी भगवान से अपने सुख की ही याचना किया करता है; क्योंकि उसे यह ज्ञान है कि—“मैं सेवक रघुपति प्रिय मोरे”। मैं अंश हूँ प्रभु अंशी हैं। मैं याचक हूँ और प्रभु पूर्णकाम—दाता हैं। यही कारण है कि भक्त; भगवान को सुख देने की कल्पना ही नहीं कर सकता। गोविन्द-प्रिय-परिकर [नन्द-यशोदा, सखागण और समस्त ब्रजगोपीगण] अपना-अपना सुख ही चाहते हैं। श्रीकृष्ण के सुख का ध्यान उन्हें भी नहीं रहता।

प्रीति मूर्ति राधाकिंकिरीगण ही एकमात्र तत्सुखसुखीत्व प्रेम धर्म की प्रतीक हैं। वे सदा अपने दोनों लाड़िलों का मुख, रुख और सुख देखा करती हैं। अपने प्रेष्ठ युगल के सुख में ही सुखी होती हैं। इन सहचरियों का भावानुगमन करने वाला उपासक भी अपने उपास्य के सुख में सुखी—तत्सुखसुखी ही होता है।

### ५.२.६.२. तदाधीनता :

सभी प्रकार से अपने प्रिय के आधीन हो जाना अपने; अहं को पूर्ण रूप से मिटाकर उसे अपने प्रिय को समर्पित कर देना 'तदाधीनता' कहलाती है। प्रेम का यह 'तदाधीनता' संज्ञक धर्म 'प्रेम' के 'प्रेमी' अंग में विशेष रूप से प्रत्यक्ष रहता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र पर अपना सर्वात्मना समर्पण—तन, मन, धन और प्राणों का समर्पण—कर देता है। अपने अहं को पूर्ण रूप से मिटा देता है। वह अपने प्रेमपात्र के संकेतों पर अथवा उसकी

१. अपने सुख की कामना जहाँ न कोऊ होइ। प्रीतम के सुख ही सुखी तत्सुख कहिये सोइ॥

इच्छा जानकर [उसका रुख पहिचानकर] तदनुकूल ही प्रत्येक कार्य किया करता है। प्रेमपात्र के मन और नैनों के पीछे प्रेमी के मन और नैन निरन्तर चला करते हैं। प्रेमी अपने प्रेमपात्र का मुख, रुख और सुख देखकर ही जीवित रहता है। इस प्रकार प्रेमी अपने प्रेमपात्र के सदा आधीन ही बना रहता है। यही है प्रेम के 'तदाधीनता' संज्ञक प्रेम धर्म का स्वरूप और उसकी शाब्दिक परिभाषा।

श्री हिताचार्य ने प्रेम की मूर्ति द्वय का स्वरूप परिचय देते हुए प्रेमपात्र को बहुमान भंगी से भव्य और बाहर से सदा प्रतिकूल कहा है एवं प्रेमी को प्रेमपात्र के समक्ष सदा चाटुकारी करते हुए विनयावनत चित्रित किया है<sup>१</sup>। एक दूसरे स्थल पर प्रीति-रीति के विज्ञाता रँगिलेलाल का परिचय देते हुए भी यह कहा है कि प्रीति की रीति तो एक मात्र रँगिलेलाल ही जानते हैं। यद्यपि वे सकल लोक के चूड़ामणि हैं तथापि श्री प्रिया जी के समक्ष<sup>२</sup> तथा उनकी दासियों तक के समक्ष अपने को दीन ही मानते हैं<sup>३</sup>। अन्तराशय यह कि 'प्रेम' का 'तदाधीनता' संज्ञक धर्म रसिकशेखर श्याम में ही पूर्णतः प्रत्यक्ष हुआ है।

प्रेमपात्र स्वरूपतः और प्रकृतितः वाम होता है। उसकी यह वामता ही तो प्रेमी को नितान्त आधीन बनाये रखती है। प्रेमपात्र की इस वामता के उर अन्तराल में प्रेमपात्र की निष्कामता है; जो उसे गंभीर बनाये रखती है। प्रेमपात्र श्री राधा भी पूर्ण प्रेम स्वरूप ही हैं; किन्तु उनके स्वरूप में ही एकात्म वामता और गम्भीरता उनमें प्रेम के तदाधीनता धर्म को प्राण-प्रश्वासों की भाँति भासित और अनाभासित बनाये रखती है। प्रेम का तदाधीनता धर्म प्रेमपात्र में कभी-कभी ही प्रत्यक्ष होता है। जैसा कि श्री हिताचार्य कृत 'हित चौरासी' के प्रथम पद—“जोई-जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै”—में प्रत्यक्ष हुआ है।

जिस प्रकार यह तदाधीनता धर्म 'प्रेम' के 'प्रेमी' अंग रसिकशेखर श्याम में विशेष रूप से दिखाई देता है उसी प्रकार यह तदाधीनता संज्ञक प्रेम धर्म प्रीति-प्रतिमा राधाकिंकरीगणों में भी अधिकाधिक रूप से नित्य प्रत्यक्ष बना रहता है। तभी तो ये सखीगण अपने परम प्रेष्ठ रसिक युगल की मन रुचिती सेवा किया करती हैं—उनका मुख, सुख और रुख देखकर ही सदा जीवित रहती हैं। प्रेमोपासना का उपासक भी इन राधाकिंकरीगणों का भावानुगमन करने के कारण 'प्रेम' के 'तदाधीनता' संज्ञक धर्म से सदा सम्पन्न बना रहता है।

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. १६६

२. हि. चौ., प. स. ४१

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. २१८



### ५.२.६.३. अनन्यता :

एकमात्र अपने परमप्रेष्ठ परमोपास्य इष्ट के नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर से एकान्त अनुराग सम्बन्ध स्थित रखना, उनका ही उच्छिष्ट लेना और स्वेष्ट के ही उपासक रसिकजनों का संग करना अनन्यता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों, मन, वाणी और हृदय की सम्पूर्ण चिन्तन वृत्तियों का अपने एक इष्ट में केन्द्रित हो जाना अनन्यता है।

‘अनन्यन्ता’ शब्द, उसकी परिभाषा तथा उसका महत्त्व भक्ति के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों तथा हिन्दी-भक्ति काव्य के रामायणादि ग्रन्थों में भी मिलता है। देवर्षि नारद ने अपने ‘भक्ति सूत्र’ में अनन्यता की परिभाषा व्यक्त करते हुए लिखा है कि—“अन्य सब आश्रयों का त्याग ही अनन्यता है<sup>१</sup>। इस कथन को इन शब्दों में भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि एकमात्र भगवान का आश्रय लेना ही अनन्यता है। भगवान श्रीकृष्ण ने अव्यभिचारिणी भक्ति के स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में अनन्यता युक्त भक्ति को महत्त्व प्रदान किया है<sup>२</sup>। उन्होंने अनन्यता का महत्त्व प्रकाश करते हुए यह भी व्याख्यान किया है कि यदि मेरा भक्त दुराचारी हो किन्तु वह सम्पूर्ण रूप से मेरा अनन्य हो तो मैं उसका त्याग नहीं करता<sup>३</sup>।

### ५.२.६.३.१. उपास्य स्वरूपाधारित अनन्यता का स्वरूप वैविध्य

यह अनन्यता रसोपासना किंवा प्रेमोपासना के क्षेत्र में भी दिखाई देती है और भगवदुपासना के क्षेत्र में भी; किन्तु दोनों क्षेत्रों की अनन्यता का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। प्रेमोपासना के क्षेत्र में केवल अपने इष्ट के नाम, रूप, लीला एवं धामादि में ही उपासक की बाह्य तथा अन्तर्दृष्टि का केन्द्रित हो जाना [एक इष्ट के अतिरिक्त अन्य कुछ न देखना, न चिन्तन करना] अनन्यता कहलाती है; किन्तु भगवदुपासना के क्षेत्र में सब अवतारों, सब देवी-देवताओं तथा चराचर प्राणी में अपने इष्ट को देखना अनन्यता कहलाती है। इन पंक्तियों का अन्तराशय इन शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है कि प्रेमोपासक अन्य सबसे अनाशक्त होकर केवल अपने इष्ट को ही देखता है किन्तु

१. अन्याश्रयाणां त्यागो हि अनन्यता।

— ना. भ. सू.

२. मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

— श्री म. भ. गी., अध्याय १३, श्लो. सं. १०

३. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक्। साधुरेव समन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः॥

— श्री म. भ. गी., अध्याय ९, श्लो. सं. ३०

येतु सर्वाणि कर्वाणि मयि सन्यस्यमत्पराः।

— श्री म. भ. गी., अध्याय १२, श्लो. सं. ६

तेषां महं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्॥ भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्।....

— श्री म. भ. गी., अध्याय १२, श्लो. सं. ७

भगवदुपासक एक से ही आशक्त न होकर अन्य सब में भी एक को ही देखता है।

प्रेमोपासना की अनन्यता प्रगाढ़ आशक्ति मूलक विशुद्ध ममत्व पर आधारित होती है और भगवदुपासना की अनन्यता समत्व पर आधारित होती है। इसका एक कारण विशेष है और वह यह कि —

‘अनन्यता’ प्रीति का ही एक धर्म और स्वरूपभूत गुण है। इन दोनों में गुण और गुणी अथवा धर्म और धर्मी जैसा अक्षुण्ण सम्बन्ध होता है। इसीलिए प्रेमोदय के साथ-साथ इसकी भी कथंचित रश्मियाँ देखी जाती हैं। जिस हृदय में जिस प्रकार की रति का उदय होता है उस हृदय में अनन्यता भी उसी के अनुरूप प्रकाशित होती है। जहाँ पर अपूर्ण प्रीति वहाँ अपूर्ण अनन्यता और जहाँ पर पूर्ण प्रीति वहाँ पर पूर्ण अनन्यता का प्रकाश होता है।

### ५.२.६.३.२. भगवदुपासना क्षेत्रीय अनन्यता :

भक्ति में भी प्रीति का कोई अंश अवश्य विद्यमान रहता है। इसीलिए भक्तों में भी उनकी प्रीति के स्वरूपानुरूप इस अनन्यता के भी दर्शन होते हैं। भक्तों के उपास्य भगवान एक भी हैं और साथ-साथ अनन्त रूप भी हैं। उनकी भक्ति भगवान के एक रूप और एक भाव पर ही सीमित या केन्द्रित नहीं रहती। इसीलिए उन्हें अपने उपास्य राम-कृष्ण, नृसिंह, वामन आदि अवतार और शिव-गणेश आदि देवी-देवताओं में समान दृष्टि रखनी पड़ती है और साथ ही सब भावों से भजन करने के लिए विवश भी होना पड़ता है—

सर्वदा सर्व भावेन भजनीयो ब्रजाधिपः<sup>१</sup>।

भक्तवर प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष, जनक, कबीर और नामदेव आदि-आदि भक्तों के सुचारु चरित्र उपर्युक्त तथ्य के पुष्ट प्रमाण हैं। श्रीकृष्ण भक्त नन्ददास जी भगवान राम और कृष्ण में अपनी समान भाव भक्ति व्यक्त करते हुए कह उठते हैं कि—

राम-कृष्ण कहिये उठि भोर।

उहि अवधेश ओहि ब्रजजीवन धनुष-धरन अरु माखन-चोर॥

इतमें अयोध्या निर्मल सरजू उत जमुना जल करत कलोर।

इतमें दशरथ पुत्र कहाये उतमें कहाये नन्दकिशोर॥

इतमें कौशल्या गोद खिलावै उतमें जसुदा झुलावै हिंडोर।

इतमें धनुष बाण कर राजै उतमें मुरली धरे मुख की कोर॥



इतमें चरण अहिल्या तारी उत कुब्जा सौं कियौ है कलोर।  
 इतमें जानकी बायें विराजैं उत राधे सँग जुगल किशोर॥  
 इतमें सागर शिला तरानी उत गिरिवर धरे नख की कोर।  
 रावण के दस मस्तक छेदे कंस कौं मार किये झकझोर॥  
 इतमें राज विभीषण दीनों उग्रसेन कियौ अपनी ओर।  
 'नन्ददास' के ये दोऊ ठाकुर दशरथ-सुत अरु नन्द-किशोर<sup>१</sup>॥

गो. तुलसीदास जी भी श्रीराम और कृष्ण में ही नहीं प्रत्युत चराचर में राम को ही देखते हैं। इस समदृष्टि के कारण ही वे सभी को प्रणाम करते हैं—

सीय राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी<sup>२</sup>॥

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह कि भक्त सर्वाश्रय छोड़कर एकमात्र उस भगवान को अपना एकान्त आश्रय बनाता है जो कि अनन्त रूपों वाला है। वह भक्त भगवान के सभी रूपों में समान भाव भक्ति रखता है। भगवान की सभी लीलायें, सभी रूप और नाम-गुण उसे एक जैसे प्रिय लगते हैं। सारांश यह की वह भगवद् भक्त सब में एक को—अपने उपास्य राम या कृष्ण को—ही देखता है। यही है भगवद् भक्त की अनन्यता का सुरम्य रूप।

यह तो हुआ भक्ति क्षेत्रीय अनन्यता का अदूर दर्शन किन्तु प्रेम देश में निवास करने वाले रसिक अनन्यों की अनन्यता कुछ भिन्न रूप वाली ही होती है।

### ५२.६.३.३. प्रेमोपासना क्षेत्रीय अनन्यता :

यह अनन्यता प्रेम की वह स्वाभाविक वृत्ति है जो प्रेमी और प्रेमपात्र के हृदय में ही अपने पूर्ण रूप से निवास करती है। उन दोनों की पारस्परिक प्रीति को क्षण-क्षण में तरल और क्षण-क्षण में सान्द्र बनाती है। तरलावस्था में अनन्यता प्रेमी और प्रेमास्पद को अनन्त क्रीड़ा में प्रवृत्त करती है तो सान्द्रावस्था में दोनों को एक तन हो जाने के लिए लालस मानस बनाती है। इस प्रकार से यह अनन्यता प्रीति के स्वरूपगत वैभव को चमत्कृत करती है। प्रेमी और प्रेमपात्र की अतृप्ति और औदार्य, आशक्ति और आकर्षण, समर्पित और वामता के साथ-साथ दोनों के रूप, सौन्दर्य और माधुर्य की नित्य नूतनता को अक्षुण्ण बनाये रखती है।

१. न. ग्र., न. दा. जी, प. सं. ३, एवमपि प. सं. २

२. रा. च. मा., बालकाण्ड, गो. तु. दा.

यह अनन्यता प्रेमी की ओर उन्मुख होकर प्रेमपात्र के रूप को और प्रेमपात्र की ओर उन्मुख होकर प्रेमी के रूप को आलोकित करके दोनों हृदयों में स्थित 'प्रीति' को पुष्टि प्रदान करती है। इस प्रकार यह अनन्यता प्रेम के तीनों अंगों [प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रीति] को नित्य नवल रूप में आलोकित किया करती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि अनन्यता ही प्रेम की वास्तविक प्रकाशिका है। यह एक अकाट्य तथ्य है कि इस अनन्यता से ही प्रीति, प्रेमी और प्रेमपात्र का पोषण होता है। इस प्रकार से यह प्रेम की जीवनीशक्ति भी कही जा सकती है।

#### ५.२.६.३.४. प्रेम-धर्म और अनन्यता :

धर्म से ही धर्मी की पहिचान होती है। जैसे ऊष्मा और दाहकत्व धर्म होने के कारण ही कोयले या लकड़ी की 'अग्नि' संज्ञा हो जाती है और इस धर्म के अभाव में अग्नि संज्ञा न होकर कोयला या लकड़ी संज्ञा ही बनी रहती है। ठीक इसी प्रकार प्रेम का धर्म अनन्यता है। यही कारण है कि यह अनन्यता उपास्य-‘प्रेम’ और उपासक ‘प्रेम’ दोनों में ही दिखाई देती है। उपास्य प्रेम ‘अद्वय युगल श्यामा-श्याम’ परस्पर एक दूसरे के प्रति अनन्य हैं तो उपासक ‘प्रेम’ अपने परमोपास्य के प्रति अनन्य होता है।

#### ५.२.६.३.५. प्रेम प्रकृति और अनन्यता :

प्रेम का यह सहज स्वभाव है कि वह दो में ही उत्पन्न होता है किन्तु दोनों को दो नहीं रहने देता—एक कर देता है। ‘प्रेम’ की इस अद्भुतता को व्यंजित करते हुए श्री हिताचार्य ने कहा है कि वह सदा सनातन दो रूप में<sup>१</sup> ही प्रगट तो रहता है किन्तु दो रूप में दिखाई देते हुए भी इस प्रकार तन-मन और प्राणों से एक बना रहता है कि जल-तरंग की भाँति उसे—‘उन दोनों स्वरूपों को’ अलग-अलग नहीं किया जा सकता—जै श्री हित हरिवंश हंस-हंसिनी साँवल-गौर, कहौ कौन करै जल-तरंगनि न्यारे<sup>२</sup>।

इन्हीं सूत्रों के आधार पर हितघुवदास जी ने भी कहा है—

रहन देत नहिँ और रस यहै प्रेम की टेक, याकौ सहज सुभाव यह करत दोय ते एक<sup>३</sup>।

इसी तथ्य को चाचा वृन्दावनदास जी ने इन शब्दों में कहा है—

१. ....तयोः अद्भुत प्रेम मूर्त्योः

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १७३

२. हि. चौ., गो. हि. ह., प. सं. १

३. ब्या. ली., प्रीति चौवनी, हि. घु. दा., छं. सं. १२



द्वै बिना होहि उत्पति न याकी कहुँ, भये द्वै मन जहाँ एक क्यों गाइये<sup>१</sup>।।

ऐसे एकत्व विधायक प्रेम में अनन्तता के लिए स्थान कहाँ ? वह 'प्रेम' तो लोक और वेद के विधि—निषेध, मान, मर्यादा आदि कोलाहल से दूर रहने वाला नितान्त एकान्त प्रिय होता है। उसका मार्ग भी एकान्तिक होता है। इसीलिए इस प्रेम धर्म किंवा अनन्यधर्म में सन्निष्ठ भावक, लोक तथा वेद मार्ग दोनों से ही आँख और कान बन्द करके एकमात्र अपने इष्ट पर ही परमाशक्त होता है<sup>२</sup>। वह विधि और निषेध दोनों से ही वेपरवाह होकर अपने इष्ट की प्रीति में ही प्रमत्त बना रहता है। वह सबमें एक को नहीं देखता—सबकी ओर से आँख बन्द करके एक को ही देखता है। अपने इष्ट—अद्वय युगल एकात्म वपु श्री राधाबल्लभलाल में ही अनन्य निष्ठ होकर केवल उन्हीं के नाम, रूप, लीला का स्मरण, दर्शन, चिन्तन और गान किया करता है। इतना ही नहीं वह अपने इष्ट का ही प्रसाद पाता है और अपने सजातीय सगोत्रीय रसिक अनन्यों के साथ इष्ट के लीला धाम में ही निवास करता है।

### ५.२.६.३.६. अनन्यधर्म-आविर्भावक के शब्दों में अनन्यता :

अनन्यता प्राण इस रसिक अनन्य धर्म के आविर्भावक श्री हिताचार्य ने अपनी अनन्यता कथन व्याज से उसका विधान विनिर्मित करते हुए कहा है कि —

मैं अपनी परम इष्ट श्री राधा का नाम स्मरण करके ही सदा विह्वल बना रहूँ। उनके पदाङ्कित श्री वृन्दावन धाम में ही सदा विचरण करूँ। उनका ही उच्छिष्ट प्रसाद पाऊँ। उनके ही दिव्य गुणानुवाद गाऊँ। उनका ही दर्शन और उनका ही ध्यान करूँ। उनकी ही सेवा करूँ और केवल श्री राधा के भावोत्सव सहित उनके प्राणनाथ श्री लाल जी में मेरी रति हो। 'राधा के भावोत्सव' सहित कहने का अन्तराशय यह है कि—'रसिकेश श्यामसुन्दर मेरी राधा के प्राणनाथ हैं'—इस भाव संबंध के साथ उनमें मेरी रति हो —

राधा नाम सुधा रसं रसयितुं जिह्वास्तुमे विह्वला।

पादौ तत्पदकाङ्किता सु चरतां वृन्दाटवी वीथिषु।

१. यु. प्री. प्र. प., चा. वृ. दा., प. सं. १६

२. तन-मन की सुधि ना रहै ना सुधि खिजमतदार। जुगल चरन-मकरंद कौ पीवै बारंबार।। मदमातौ रहै प्रेम कौ चित चालै तित दौरि। लोक-वेद कुल-कानि की सौंकल डारी तोरि।। प्रेम रहै रस एक लै सदा दिवाने दूरि। गैर नहीं जहँ आन रस जिन घट पूरा पूरि।। प्रेमी कुल मानैं नहीं नहीं वेद मर्याद। रहै गरीबी ओटिकैं करै न काहू वाद।।

— प्रे. वि., सु. स., [सहचरिसुख से भिन्न] प्रा. ह. लि. प्र., छं. सं. ३९, ४०, ४१, ४७

तत्कर्मैव करः करोतु हृदयं तस्याः पदं ध्यायता।

तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः<sup>१</sup>।

तथापि —

हे रसदायिनी श्री राधे ! तुम्हारे ही उच्छिष्ट अमृत का भोजन करती हुई तुम्हारे ही चरित्रों को सुनती हुई, आपके ही चरण-कमल-रज का स्मरण करती हुई तुम्हारे ही कुञ्जालयों में विचरती हुई, तुम्हारे ही दिव्य गुणों का गान करती हुई एवं तुम्हारी ही मूर्ति को देखती हुई मैं शुद्ध तन-मन और वाणी से केवल तुम्हारी ही आश्रिता हूँ —

उच्छिष्टामृत भुक्तवैव चरितं शृण्वस्तवैवस्मरन्।

पादाम्भोज रजस्तवैव विचरन् कुंजास्तवैवालयां।

गायन्दिव्य गुणास्तवैव रसदे पश्यं स्तवैवाकृतिं।

श्री राधे तनुवाङ्मनोभिरमलैः सोऽहं तवैवाश्रितः<sup>२</sup>।

आचार्य चरण ने अपनी अनन्यता कथन व्याज से रसिक अनन्यता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह भी कहा है कि जिनमें प्रेममूर्ति श्री राधा की अमृतमयी महिमा और उनका भाव निश्चय ही नहीं है; उन सुन्दर शास्त्र समूहों से और उनसे प्रकाशित तथा साधुजन गृहीत मार्गों से भी हमें क्या प्रयोजन है ? अहा ! हा ! जहाँ पर मेरी श्री राधा नहीं हैं; उस श्रेष्ठ बैकुण्ठ लक्ष्मी से भी हमें क्यों ? किन्तु करोड़ों जन्मों में भी श्री वृन्दावन भूमि में यह मधुर आशा बनी रहे —

किंवा नस्तैः सुशास्त्रै किमथ तदुदितैर्वर्त्मभिः सद्गृहीतैः।

यत्रास्ति प्रेममूर्तेर्नहि महिम सुधा नापि भावस्तदीयः।

किंवा बैकुण्ठ लक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा।

किंवाशाप्यस्तु वृन्दावन भुवि मधुरा कोटि जन्मान्तरेपि<sup>३</sup>।

सर्वथाभिनव रसोपासना के प्रवर्तक होने के कारण श्री हिताचार्य ने नैमित्तिक लीला— 'प्रकट ब्रज लीला' में प्रत्यक्ष गोपीजन बल्लभ रूप से पूर्ण तटस्थ भाव, उदासीन भाव, निरपेक्ष भाव या विराग और गोविन्द-प्रिय वर्गालक्षित<sup>४</sup> वृन्दावन की नित्य निकुञ्ज लीलाओं में प्रत्यक्ष सदैव प्रकटतर रूप से<sup>५</sup> एक निष्ठ पूर्णानुराग प्रगट करके अपने उत्कट अनन्य व्रत का प्रकाशन इस प्रकार किया है :—



**विराग भावाभिव्यक्ति -**

वह किसी एक ब्रजगोपी का रति चोर है। किसी अन्य के स्तन पर चकित होकर हाथ रखकर किसी सुन्दर युवति की वेणी में लगी मल्ली माला को वेणु से खींचता है। किसी की पुलकित भुज लता को अपने ऊपर रख लेता है और किसी अन्य को [अपने साथ कुंज में प्रवेश करने का] संकेत करता है। वह राधा के चरणों में लोटता है। मैं ऐसे उस महा लम्पट को अच्छी तरह जानता हूँ—

एकस्यारति चौर एव चकितं चान्यास्तनान्ते करं।

कृत्याकर्षति वैष्णुनान्य सदृशो धमिल्लमल्लीस्रजम्।

धत्तेन्या भुज बल्लिमुत्पुलकितां संकेत यत्यन्यया।

राधायाः पदयोर्लुठत्यलममुं जाने महा लम्पटं<sup>१</sup>।

[एवमपि—रा. सु. नि. श्लो. २२५, २२६, २२७, २२८, २३२]

**पूर्णानुरागाभिव्यक्ति -**

जो श्री राधा-हृदय रूप अगाध सरोवर के हंस हैं। अर्थात् जो एकमात्र श्री राधा हृदय में ही क्रीड़ा करते हुए जीवन धारण करते हैं। जिनके हाथों में मुरली सुशोभित है। पद-पद पर रोम-रोम तथा प्रत्येक इन्द्रियों को अमृत जैसे प्रिय लगने वाले प्रिया-गुणों से आसक्त, जिनके सिर पर चंचल मोर चन्द्रिका, कानों में सखियों द्वारा सुरचित कर्णभूषण और गले में प्रकाशमान गुञ्जाओं की माला सुशोभित हो रही है; वे ही रसिक शिरोमणि श्यामसुन्दर मुझे मिलें—

रसागाधे राधा हृदि सरस हंसः करतले, लसद् वंश स्रोतस्यमृत गुण संगः प्रतिपदम्।  
चलत्पिच्छोत्तंसः सुरचितवतंसः प्रमदया, स्फुरद्गुञ्जा गुच्छः सहि रसिक मौलिर्मिलतुमाम्<sup>२</sup>।

ब्रह्म पुराण आदि पुराण, पद्म पुराण, आदि पुराणों, तन्त्रों तथा अनेक भक्ति ग्रन्थों में कहा गया है कि कोई पराशक्ति तथा स्वतंत्राशक्ति है वही श्री राधा हैं, शची, शिवा भी श्री राधा हैं। षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान की पूज्या और अनिर्वचनीय शासनकर्त्री भी श्री राधा हैं। [अवश्य होंगी ही] परन्तु जो परम प्रेम, आद्य और पूर्ण रस की प्राण स्वरूपा शृंगार लीला कला वैचित्री की अन्तिम सीमा हैं और जो वृन्दावननाथ की पट्टमहिषी [हृदय सिंहासनारूढ़ हृद्देश्वरी-हृदय की रानी हैं वह] श्री राधा ही मेरी सेव्या स्वामिनी हैं—

प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं शृंगार लीला कला।

वैचित्री परमावधिर्भगवता पूज्यैव कापीशता।

ईशानी च सची महासुख तनुः शक्ति स्वतंत्रापरा।  
श्री वृन्दावननाथ पट्टमहिषी राधैव सेव्या-मम<sup>१</sup>।

आचार्य चरण के उपर्युक्त सूत्र वाक्यों का विस्तार जैसा करते हुये तदनुगत हित रसिकों ने भी अनन्यता के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है।

### ५.२.६.३.७. हरिरामव्यास जी के शब्दों में अनन्यता :

रसिक अनन्य श्री हरिरामव्यास जी ने अनन्यता का स्वरूपांकित करते हुये बतलाया है कि अपने परमोपास्य के ही नामरूप और गुणों का गान करना, अपनी सम्पूर्ण वासनाओं को निरस्त करके एकमात्र उनकी ही वासना—उनके ही सुख की वासना—हृदय में रखना और उनके धाम वृन्दावन में ही निवास करना अनन्य धर्म की परिपाटी है; साथ ही इस परिपाटी के विपरीत चाल चलन को व्यभिचार भी बतलाया है—

जाकी है उपासना ताही की वासना ताही कौ नाम-रूप-गुण गाइये।  
यहै अनन्य धर्म परिपाटी वृन्दावन बसि अनत न जाइये॥  
सोई व्यभिचारी जो आन कहै आन करै ताकौ मुख देखें ते दारुन दुख पाइये।  
'व्यास' होइ उपहास त्रास किये आस अछत कत दास कहाइये<sup>२</sup>॥

“भक्त इष्ट अति व्यास के” इस रूप में समाख्यात श्री व्यास जी ने उपर्युक्त शब्दों में परिभाषित अनन्यता का निकटतम स्वरूप परिचय देते हुए कहा है कि स्वेष्ट श्री राधाबल्लभलाल के रूप—स्वरूप, उनके धाम वृन्दावन और उन्हीं के अनन्य रसिकों से ही सम्बन्ध रखना चाहिये अन्य से नहीं—

व्यास एक ही बात गहि श्री राधाबल्लभ-धाम। और अनेकन भक्त सौं नाहिंन मेरौ काम॥  
श्री राधाबल्लभ ध्याइकैं और ध्याइये कौन। व्यासहि देत बनें नहीं बरी-बरी प्रति लौन<sup>३</sup>॥

अनन्य रसिक कहलाकर भी जो अपनी इष्ट अनन्यता को त्यागकर नवग्रह और गणेशादि देवताओं की पूजा करते हैं उनकी कटु आलोचना करते हुए वे कह उठते हैं कि —

रसिकअनन्य कहाइकैं पूजैं ग्रह गन्नेश। व्यास क्यों न तिनके सदन यमगन करें प्रवेश<sup>४</sup>॥

उन्होंने एक स्थल पर रसिक अनन्यों के जीवन में प्रत्यक्ष अनन्यता—उनके आचरण या रहनी कहनी—को सबसे पृथक व्याख्यान करते हुए कहा है कि रसिक अनन्यों को

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७८

२ से ४. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १७६, साखी सं. ११२, २८, १६



एकमात्र वृन्दावन रस ही सुस्वाद लगता है। भगवान की नवधा भक्ति की चर्चा या भागवत की रति कथा [भगवान श्रीकृष्ण की ब्रज लीला] भी अरुचिकर लगती है—

इहि रस नवधा भक्ति उवीठी रति भागौत कथा की।

रहनि कहनि सबहिनु ते न्यारी व्यास अनन्य सभा की<sup>१</sup>॥

श्री वृन्दावन रस मुहि भावै हो।

वेद-पुराण अरु भारत भाखै सो मोहि कछु न सुहावै हो<sup>२</sup>॥

अनन्य रसिक हरिरामव्यास जी की दृष्टि में सब धर्मों से पृथक इस धर्म को धारण करने वाले अनन्य रसिक अन्य सभी भक्तों से सर्वथा पृथक हैं। अपने को भी उन्हीं अनन्यों का सजातीय अनुभव करते हुये वे बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि हमारी जाति भी रसिक अनन्य है —

रसिक अनन्य हमारी जाति<sup>३</sup>।

खोटे व्यास अनन्य कौ गाहक नन्दकुमार<sup>४</sup>।

अपने को लोक वेदातीत आचरण करने वाले अनन्य रसिकों का सजातीय मानने के कारण वे गर्वोक्ति पूर्ण वाक्यों में यह भी कह उठते हैं कि जिसे लोग अधर्म कहते हैं वही मेरा निज धर्म है। अन्य सब लोग दाहिने मार्ग—वेदमार्ग—से चलते हैं और मैं वेद विरुद्ध मार्ग से चलता हूँ—

जाकों लोग अधर्म कहत हैं सोई धर्म है मेरौ।

लोग दाहिने मारग लागत हों जु चलत हों डेरौ<sup>५</sup>॥

इनकी अनन्यता का चर्मोत्कृष्ट रूप तो इनके जीवन में उस समय प्रत्यक्ष हुआ था जबकि इन्होंने अनन्यता के विपरीत कार्य करने वाले स्ववंशजों को मरने का श्राप तक दे दिया था और यह श्राप व्यास जी के जीवन काल में ही सत्य घटित हुआ —

मरैं वे जिन मेरे घर गनेश पुजायौ।

व्यासदास कन्या पेटहि क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ<sup>६</sup>॥

जो हों सत्य सुकल कौ जायौ।

तौ मेरौ पन साँचौ करि हरि हों दारुन दुख पायौ॥

मो अनन्य के मन्दिर में जिन थापि गनेश पुजायौ।

तिनकौ वंश वेगि हरि तोरहु गाय गूह जिन खायौ॥

तिनकौ खोज न रहौ कहूँ हरि जिहि हरि परस छुड़ायौ।  
 रास विलास जहाँ होते तहँ मलियागोरिल गायौ॥  
 जो मैं कह्यौ सोई हरि कीनों यह परचौ जग पायौ।  
 व्यास जु बुवै लुनैगौ दुख-सुख यह मत वेद बतायौ<sup>१</sup>॥

### ५.२.६.३.८. प्रबोधानंद जी सरस्वती के शब्दों में अनन्यता :

प्रबोधानंदजी सरस्वती ने भी अपने गुरुवर्य श्री हिताचार्य की भाँति ही<sup>२</sup> परमोपास्य 'प्रेम' के क्रीड़ा धाम वृन्दावन को प्राथमिकता देते हुए वृन्दावनेश्वरी श्री राधा, वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्ण, वृन्दावनेश्वरी की परिचारिका राधाकिंकरीगण, और श्री राधिकाराम वृन्दावनधाम के प्रति अपनी उत्कट अनन्यता प्रकट की है। वृन्दावन धाम के प्रति अपनी अनन्यता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है कि मैं वृन्दावन वासावरोधक गुरु को तथा वृन्दावन से बहिर्गत श्री हरि को भी छोड़ सकता हूँ किन्तु वृन्दावन को नहीं—

सा मे न माता सा च मे पिता न—स मे न बन्धुः स च मे सखा न।  
 सा मे न मित्रं स च मे गुरुर्न—यो मे न वृन्दावन वासमादिशेत<sup>३</sup>॥  
 मिलन्तु चिन्तामणि कोटि कोट्य स्वयं बहिर्दृष्टिमुपैति वा हरिः।  
 तथापि वृन्दावन धूलि धूसरं न देहमन्यत्र कदापि यातु मे<sup>४</sup>॥

अपनी अनन्य निष्ठा की अतिशयिता घोषित करते हुए उन्होंने वृन्दावन में आकर पुनः बाहर चले जाने वाले को कुत्ते से भी अधम बतलाया है—

मुक्ति श्री भिः स कलितपदो नारकं याति धावन्।  
 लब्ध्वा चिन्तामणिमथ महावारिधौ निक्षेपेत् सः॥  
 कृत्वा वश्यं सकल भगवच्छेखरं खाऽधमः स्वाद्।  
 यो दुर्बुद्धिस्त्यजति सहसा प्राप्य वृन्दावनं तत्<sup>५</sup>॥

[एवमपि—वृ. म., १/६, १/२५, १/५२, १/६३, २/१, २/१५, १७/४६ इत्यादि]

इसी प्रकार वृन्दावन रस के प्रति अनन्य निष्ठा प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है कि —

१. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १४७

२. प्रथम यथामति प्रनऊँ श्रीवृन्दावन अति रम्य। श्री राधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य॥

— हि. चौ. प. सं. ५७

३ से ५. वृ. म., प्र. स., सप्तदश शतक, श्लो. सं. ३५, २३, प्रथम शतक, श्लो. सं. ६०



हित्वा वृन्दावन रस कथामन्यवार्ता रुचिश्चेत्।

ज्ञातं क्षिप्त्वा परमममृतं, भोक्तुमिच्छुः स्वविष्टाम्<sup>१</sup>।।

एक स्थल पर उन्होंने श्री राधापति भवन वृन्दावन के प्रति अपनी एकान्त अनन्य निष्ठा व्यक्त करते हुए गोपीरस और हरि रस को भी विश्रान्ति शून्य कहा है—

अन्यत् किम् धन्य गोपी रसमपि रसयैदन्य विश्रान्ति शून्यं<sup>२</sup>।

सन्तः सन्तप्ति शान्त्यै न मम हरिरसैकाशया दन्दहस्य .....

हा वृन्दारण्य राधारति भवन ममालम्बनं स्या स्त्वमेव<sup>३</sup>।

सरस्वती पाद ने श्री वृन्दावन धाम में केन्द्रित अपनी अनन्य निष्ठा को सर्वांगपूर्ण बनाते हुए वृन्दावनेश्वरी श्री राधा के नाम, श्री राधा चरण, राधादास्य, राधापिय श्यामकिशोर और राधाकिंकरीगणों के प्रति भी जो उत्कट अनन्य निष्ठा अभिव्यक्त की है, नीचे अवलोकनीय है—

राधा-नाम-निष्ठा —

अहह विगर्हित कर्मण आस्तां यत्तन्ममाति मूढस्य।

नैव जहाति तु वृन्दाविपिनं नैवात्र नाम राधाया<sup>४</sup>।।

राधा-चरण-कमल-निष्ठा —

अस्तु मे नरक कोटिः सिध्यतु नेष्टं नचेश्वरो दयताम्।

श्री राधा चरणाम्बुज मधुरिमलोभस्तु नो भवोच्छिथिलः<sup>५</sup>।।

राधा-दास्य-निष्ठा —

अप्यस्तु नरक कोटि वृन्दावनतोऽपि वा सफला।

राधा पदाब्ज दास्ये सुदुस्त्यजाशा ममाधमस्यापि<sup>६</sup>।।

राधा-पिय-निष्ठा —

सर्वानन्द कदम्ब सार परमापारम्बुधौ राधिका।

दासी नामनुनेतरि स्मरकला पारं परं गन्तरि।।

नित्यं प्राप्तारि काम विप्लवदशां श्यामे किशोरे महा।

श्चर्या काऽपि रति ममास्तु सततं वृन्दावने वस्तरि<sup>७</sup>।।

१ से ७. वृ. म., प्र. स., प्रथम शतक, श्लो. सं. ६७, एकादश शतक, श्लो. सं. ४७, द्वादश शतक, श्लो. सं. ६६, नवम शतक, श्लो. सं. ८६, १७, ६२, चतुर्थ शतक, श्लो. सं. २१

राधाकिंकरी-निष्ठा —

प्रेष्ठ द्वन्द प्रसादाभरणवर पट स्रग्ग नवाभीरबाला।  
मालालङ्कार कस्तूर्यगुरु घुसृण सदगन्ध ताम्बूल वस्त्रै॥  
वाद्यैः संगीत नृत्यैरनुपम कलया लालयन्तीः सतृष्णा।  
राधा कृष्णावखण्ड स्वरस विलसतौ कुञ्जवीथ्यामुपैमि॥  
श्री वृन्दाकाननेऽत्यद्भुत कुसुम लसद् रत्न बल्ली निकुंज।  
प्रसादे पुष्पचन्द्रातपचय रुचिरे पुष्प पत्यङ्क तल्पे॥  
राधाकृष्णौ विचित्र स्मर समर कदा खेलनौ वीक्ष्य वीक्ष्या।  
नन्दाद्विह्वलं संलुठदवनितले बन्ध तामालिवृन्दम्१॥

एकमात्र वृन्दावन में ही गोचर स्वेष्ट श्री राधाबल्लभलाल के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा का आदर्श रूप निम्नांकित छंद में भी प्रेक्षणीय है—

श्री राधाबल्लभ आत्म कोटि दयितं नित्यार्ति रूपोन्नति।  
नित्य प्रोच्छल दन्तपार रहित श्यामांग कान्त्यम्बुधिम्॥  
नित्यानन्द रसौन्मदैक विकृतिं नित्यैक कैशोरकं।  
श्री वृन्दावन नित्य केतन महं नित्यात्म भावै भजे३॥

एक स्थल पर उन्होंने वृन्दावनेश्वरी के अति रस विवश श्याम सुन्दर के आराधक रसिकजनों की सर्वोत्कृष्टता कथन द्वारा उनके प्रति [वृन्दावन रस रसिकों के प्रति] अपनी अनन्यता स्पष्ट की है—

धन्यो लोके मुमुक्षुर्हरि भजन परो धन्य धन्य स्ततोऽसौ।  
धन्यो यः कृष्णपादाम्बुजरति परमो रुक्मिणीश प्रियोऽतः॥  
यशोदेय प्रियोऽयतः सुबल सुहृदतो गोपकान्ता प्रियोऽतः।  
श्रीमद् वृन्दावनेश्वर्यति रस विवशाराधकः सर्वमूर्ध्नि४॥

५.२.६.३.६. सेवक जी के शब्दों में अनन्यता :

श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य तत्त्व 'रस' किंवा 'प्रेम' को प्रेमपात्र श्री राधा, प्रेमी श्यामसुन्दर प्रीतिरूपा सखीगण तथा वृन्दावन इन चार रूपों में प्रत्यक्ष देखा है। श्री सेवक जी ने इसी परम तत्त्व 'रस' किंवा 'प्रेम' के निकट दर्शन श्री हरिवंश रूप में

१ से ४. वृ. म., प्र. स., द्वितीय शतक, श्लो. सं. ४०, ३६, दशम शतक, श्लो. सं. ७, द्वितीय शतक, श्लो. सं. ३४



किये हैं<sup>१</sup>। अतः सभी दृष्टियों से और सभी अंगों से परिपूर्ण उनकी अनन्यता श्रीहरिवंश में ही समाहित हुई दिखाई देती है।

सेवक जी ने अपने परमोपास्य श्रीहरिवंश के प्रति अपनी प्रगाढ़ अनन्यता व्यक्त करते हुए कहा है कि हम कर्म, धर्म, ज्ञान, व्रत और तपश्चर्या से विरत हैं। निर्गुण ब्रह्म तथा अवतार समूह—सगुण ब्रह्म—भी हमारा उपास्य नहीं है। हम तो मन-क्रम-वचन द्वारा श्रीहित हरिवंश की ही उपासना करते हैं —

कर्म-धर्म कोउ करहु वेद विधि कोउ बहु विधि देवतन उपासी।  
कोउ तीरथ-तप-ज्ञान-ध्यान-व्रत अरु कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी॥  
कोउ यम-नेम करत अपनी रुचि कोउ अवतार कदंब उपासी।  
मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत हम श्री हित हरिवंश उपासी<sup>२</sup>॥

एक स्थल पर सेवक जी ने अनन्यता का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हुए श्री हरिवंश को ही उपास्य और उपासक, कारण और कार्य, प्रमेय और प्रमाण, ज्ञान, ध्यान, विद्या, मन्त्र और ऋद्धि-सिद्धि आदि बतलाया है —

श्रीहरिवंश उपासक-इष्टं।.....  
कारज हरिवंश प्रताप सु उद्धित कारन श्री हरिवंश भनं।  
विद्या हरिवंश मंत्र चतुरक्षर जपत सिद्ध भव उद्धरनं।.....  
श्री हरिवंश सु सुन्दर ध्यानं। श्री हरिवंश विशद विज्ञानं।.....  
रसमय हरिवंश परम परमाक्षर श्री हरिवंश कृपा सदनं।  
आत्मा हरिवंश प्रगट परमानंद श्री हरिवंश प्रमाण मनं।.....  
श्री हरिवंश स्वरूप हित रिद्धि-सिद्धि हरिवंश<sup>३</sup>।

यह निरापद सत्य है कि एकान्त और पूर्ण तत्त्व वही है जो सबमें व्याप्त हो। सेवक जी ने इसी तथ्य के आलोक में श्री हरिवंश को अभेद तत्त्व कहा है<sup>४</sup>। इस अभेद तत्त्व को देखते हुए हरि और हरिवंश में समान बुद्धि रखना अनिवार्य होगा—दोनों में समान निष्ठा रखने पर भगवदुपासना क्षेत्रीय अनन्यता की रक्षा तो हो जाती है किन्तु श्री हरिवंशोदित रसोपासना क्षेत्रीय अनन्यता परिलांछित हो जाती है। अतः उन्होंने हितोपासकों को सावधान

१. श्रीहरिवंश प्रेम रस रूपं।.....

— से. वा., इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. २

२,३. से. वा., अनन्य टेक प्रकरण, छं. सं. १, तथा इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. १, २, ४

४. श्री हरिवंश विदित विधि वेदं। श्री हरिवंश जु तत्त्व अभेदं॥

— से. वा., इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. ४

जैसा करते हुए कहा है कि हरि और हरिवंश दोनों एक ही हैं—इस अभेद तत्त्व को मानते हुए भी एकमात्र श्री हरिवंश नाम का उच्चारण करना ही रसिक अनन्यता है—

हरि-हरिवंश भेद नहीं होय। प्रभु ईश्वर जानैं सब कोय। दोय कहे न अनन्यता॥  
हरि-हरिवंश भेद नहीं करै। श्री हरिवंश नाम उच्चरै। छिन-छिन प्रति बिसरै नहीं<sup>१</sup>॥

अपनी अनन्यता कथन ब्याज से उन्होंने सभी हित धर्मियों को उद्बोधन भी दिया है कि प्रत्येक उपासक को श्री हरिवंश नाम, श्री हरिवंश वाणी, श्री हरिवंशी रसरीति और श्री हरिवंशोपासक के प्रति मनसा, वाचा और कर्मणा अनन्य निष्ठ होना चाहिए—  
नाम अनन्यता —

श्री हरिवंश चन्द्र शुभ नाम। सब सुख सिन्धु प्रेम रस धाम। जाम घटी बिसरै नहीं॥  
यह जु पश्यौ मुहि सहज सुभाव। श्री हरिवंश नाम रस चाव। नाव सुदृढ़ भव तरन कौं॥  
नाम रटत आई सब सोहि। देहु सुबुद्धि कृपा करि मोहि। पोहि सुगुन माला रचौं॥  
नित्य सु कंठ जु पहिरौं तास। जस वरनौ श्री हरिवंश विलास। श्री हरिवंशहि गाइहौं<sup>२</sup>॥  
श्री हरिवंश नाम नित कहौं। नाम प्रताप नाम फल लहौं। नाम हमारी गति सदा<sup>३</sup>॥

नाम अरद्ध हरै अघ पुंज जगत्र करै हरि नाम बड़ाई।  
सो हरिवंश समेत संपूरन प्रेमी अनन्यनि कौं सुखदाई॥  
श्री हरिवंश कहंत सुनंत छिनै-छिन काल वृथा नहीं जाई।  
जो श्री हरिवंश तजौं भजौं औरहि तौ मोहि श्री हरिवंश दुहाई॥  
जो हरि नाम जगत्र शिरोमणि वंश बिना कबहूँ नहीं लैहौं<sup>४</sup>॥  
श्री हरिवंश के नाम न प्रेम धरम्मी धरम्म समुझ्यौ क्यों जानिवौ<sup>५</sup>॥

वाणी अनन्यता —

सेवक शरण सदा रहै अनत नहीं विश्राम॥ वाणी श्री हरिवंश की कै हरिवंशहि नाम<sup>६</sup>॥  
सो जु वानी रसिक नित्य निशि-दिन रटत, कहत अरु सुनत रसरीति जानी।  
ताहि तजि और गाऊँ न कबहूँ कछू, प्राण रमि रही हरिवंश वानी॥.....  
छाँड़ि जंजार कैसें न निश्चय धरत, एक किन रमत हरिवंश वानी।.....  
तब सुख हरिवंश गुन नाम रसना रटत, और बहु वचन अति दुःखदानी॥  
हानि हरिवंश के नाम अन्तर परै, लाभ हरिवंश उच्चरत वानी<sup>७</sup>॥

१ से ७. से. वा., जस विलास प्रकरण, छं. सं. २, नाम प्रताप प्रकरण, छं. सं. ५, जस विलास प्रकरण, छं. सं. १, नाम प्रताप प्रकरण, छं. सं. १, अनन्यटेक प्रकरण, छं. सं. १२, ४, पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. ३, अबोलनौ प्रकरण, छं. सं. ६, वाणी प्रताप प्रकरण, छं. सं. ४, ८, ६



यह एक निर्भ्रान्त और सर्वमान्य तथ्य है कि 'श्रीहरिवंश नित्य वर केलि' के दर्शन श्री हरिवंश स्वरूप—'रस स्वरूप राधा किंकरी रूप' से ही किये जा सकते हैं। श्री हिताचार्य ने भी कहा है कि श्री राधाबल्लभ-मुख-कमल के दर्शन हरिवंश-नेत्रों से कर —

निकसि कुंज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंश।

राधाबल्लभ-मुख-कमल निरखि नैन हरिवंश'।।

इस दृष्टि से श्री हरिवंशोदित रसोपासना के सभी रसिकों की वाणी श्री हरिवंश वाणी ही सिद्ध होती हैं और उन सबका पठन-श्रवण करना भी श्री हरिवंश वाणी का ही पठन-श्रवण करना, रसिकजन सम्मत है, किन्तु यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि नदी का उद्गम किंवा उत्स स्थान एक ही होगा, सब घाट नहीं। इसी प्रकार इस रसोपासना के उत्सकार सब रसिक न होकर गोस्वामी श्रीहित हरिवंश जी ही हैं।

सभी भागवत सम्प्रदायों में भी उपास्य, उपासक और उपासना विधान—उपासना सिद्धान्त के प्रमाण वाक्य—तत् तत् सम्प्रदायाचार्य प्रणीत ग्रंथों को माना जाता है, साथ ही वेद, पुराण तथा अन्यान्य भक्ति शास्त्रों को भी प्रमाण रूप में स्वीकार करने का संविधान है; किन्तु सेवकजी ने प्रमाण रूप में केवल श्री हिताचार्य की वाणी को घोषित करके उसी के प्रति अपनी एकान्त अनन्यता व्यक्त की है —

[क] श्री हरिवंश विदित विधि वेद.....श्री हरिवंश प्रमाण मनं।.....

[ख] हरिवंश प्रतापहि जानत हैं। हरिवंश प्रबोध प्रमानत हैं।.....

[ग] हरिवंश गिरा रसरतीति प्रसिद्ध प्रतीति प्रगट्ट प्रमानत हैं।.....

[घ] जु धरंमी-धरंम स्वरूप कह्यौ बिसरौ जिन श्री हरिवंश कह्यौ।.....

[ङ] श्री हरिवंश कही जु श्याम-श्यामा पद कमल संगी सिर नायौ।

ते न वचन मानत गुरु द्रोही निशि दिन करत आपनों भायौ<sup>१</sup>।।

रसरतीति अनन्यता —

'रसरतीति' रस केलियों में प्रत्यक्ष उपास्य के रूप तथा रसास्वादक उपासक की रसपान विधा की परिचायिका होती है। इसका सर्वप्रथम उद्गाता भी आचार्य ही होता है। अतः सेवक जी ने श्री हरिवंश वाणी में उद्गीत रसरतीति में अपनी अनन्य प्रीति प्रगट की है—

१. स्फु. वा., गो. हि. ह., अन्तिम दोहे

२. से. वा., इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. ४, २, धर्मीनु कृत्य प्रकरण, छं. सं. ७, पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. ६, ७, ६

श्रीहरिवंश गिरा रसरीति, सु चित्त प्रतीति न आन सुहाई।  
जो रसरीति सदा अविरुद्ध प्रसिद्ध विरुद्ध तजत क्यों ताहि न।  
हरिवंश गिरा रसरीति प्रसिद्ध प्रतीति प्रगट्ट प्रमानत हैं।  
बलि जाऊँ अपने धरम्भिन की जु धरम्मी धरम्महि जानत हैं।

धर्मी अनन्यता —

अन्य-अन्य भागवत सम्प्रदायों में भगवद् भक्त का भगवान के समान ही सम्मान किया जाता है। और राम-कृष्णादि सभी भक्तों की पूजा समान रूप से की जाती है किन्तु सेवक जी एकमात्र श्री हरिवंश धर्म के धर्मियों में ही अनन्य निष्ठा रखते हैं—

श्री हरिवंश सुधर्म दृढ़ अरु समुझत निजु रीति।  
तिनकौ हौं सेवक सदा मन-क्रम-वचन प्रतीति॥  
मन-क्रम-वचन प्रतीति प्रीति दिन चरन पखारौं।  
नित प्रति जूठन खाऊँ वरन भेदहि न विचारौं॥  
तिनकी संगति रहत जाति कुल मद सब नंशहि।  
संतत सेवक सदा भजत जे श्री हरिवंशहि॥

श्री हरिवंश चरन नहिं तजौं। अरु तिनके भजतिनु कौं भजौं। लजौं नहीं अति निडर ह्वै॥  
श्री हरिवंश धर्म जे धरहिं। श्री हरिवंश नाम उच्चरहिं। ते सब श्री हरिवंश के॥  
श्रवण सुनहिं जे श्री हरिवंश। मुख वरनत वाणी हरिवंश। मन सुमिरन हरिवंश कौ॥  
ऐसे रसिक कृपा जो करैं। तौ हमसे सेवक निस्तरैं। जूठन लै पावैं सदा॥  
सेवक शरण रहै गुन गाइ। संतत सकल सुनहु चित लाइ। श्री हरिवंश प्रताप जस॥

५.२.६.३.१०. हितध्रुवदास जी के शब्दों में अनन्यता :

हित ध्रुवदास जी ने रसिक अनन्यता के सूक्ष्माति सूक्ष्म स्वरूप को मार्मिक शब्दों में परिभाषित करते हुए उसकी सर्वांगीण व्याख्या तो प्रस्तुत की ही है साथ ही वृन्दावन रसोपासना के सम्पूर्ण अंगों के स्वरूप चित्रण माध्यम से अपनी प्रगाढ़ अनन्यता की भी मुखर अभिव्यक्ति की है —

“अनन्यता याकौ कहिये, छाँड़ि अपनौं इष्ट और न जानैं, न मन चलै, जो चलै तौ अनन्य नाहीं।”

१ से ३. से. वा., अनन्य टेक प्रकरण, छं. सं. ६ पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. २, ६, भक्त भजन प्रकरण, छं. सं. १, नाम प्रताप प्रकरण, छं. सं. १०, रस विलास प्रकरण, छं. सं. ७

४. ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.



अनन्यता की इसी परिभाषा को पूर्ण रूपेण हृदयंगम कराने के लक्ष्य से चात्रक और पतिव्रता स्त्री के उदाहरण द्वारा उन्होंने पुनः इसी बात की पुष्टि की है कि रसिक उपासक की एक इष्ट से ही आशक्ति होना अनन्यता है—

यदपि विषय इन्द्रियन बस भक्त अनन्य जो होइ।  
कर्मठ कोटि जितेन्द्रिय तिहि सम सर नहिं कोइ॥....  
है आवैं या देह ते कैसैंहुँ दोष विशाल।  
जो है एक अनन्य व्रत तजत न ताहि गुपाल॥  
ज्यों घरनी अतिही बुरी पति नहिं छाँड़त वाहि।  
देखत ही पर पुरुष तन तजत तिही छिन ताहि॥  
ज्यों चात्रक स्वाती बिना परसत नहिं जल और।  
दृढ़ता यौं मन चाहिये फिरै न बहुते ठौर<sup>१</sup>॥

श्री हरिवंशोदित अनन्य धर्म-धारक धर्मियों के जीवन में प्रत्यक्ष होने वाले आचरणों तथा कर्तव्यों की प्रेरणा मूलक शब्दों द्वारा उन्होंने अनेक स्थलों में अनन्यता के आदर्श रूप पर प्रकाश डाला है। अपने इष्ट श्री राधाबल्लभलाल के ही प्रसाद ग्रहण करने की अनन्य निष्ठा व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि—

श्री राधाबल्लभलाल कौं रुचि सौं जिमावहु नित।  
सो जूठन लै पाइये आन न आनहुँ चित्त॥  
सुनि ध्रुव धर्मी आन सौं कबहुँ न कीजै वाद।  
सब ते दिनहिं निशंक है लीजै महाप्रसाद<sup>२</sup>॥  
खान पान तौ कीजिये रसिक-मण्डली माँहिं।  
जिनके और. उपासना तहाँ उचित ध्रुव नाँहिं<sup>३</sup>॥

श्री हरिवंशोदित वृन्दावन रस और इस रस के रसिक अनन्यों के प्रति अनन्य निष्ठा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

है अनन्य इक रस गहै वृन्दावन रसरीति।  
विधि निषेध मानैं न कछु करै भजन सौं प्रीति<sup>४</sup>॥  
यह रस परस्यौ नाहिं जिन तू जिन परसै ताहि।  
तासौं नातौ नाहिं कछु यह रस रुचै न जाहिं<sup>५</sup>॥

१ से ५. ब्या. ली., हि. घु. दा., भजन सत, छं. सं. ५०, ७८, ७६, ८८, ८४, ८५, मन शिक्षा, छं. सं. २७  
भजन कुंडलियाँ, छं. सं. १८, मन शिक्षा, छं. सं. ३१

इष्ट मिलै अरु मन मिलै मिलै भजन रसरिति।  
मिलिये तहाँ निशंक है कीजै तिनसों प्रीति<sup>१</sup>।।  
महा मधुर रस प्रेम बिनु परसत नहिं कछु और।  
ऐसे रसिक अनन्य जे तेई मम सिरमौर<sup>२</sup>।।

एक स्थल पर उन्होंने वृन्दावन रस रसिकों को ही अपना सजाती तथा अन्य उपासकों को विजाती बताते हुए उनके संग का निषेध करके आदर्श अनन्यता का रूप परिलक्षित कराया है—

“यहाँ श्रीजी जो रस प्रगट कर्छौ ता रस उपासना में कछु न मिलै। अद्भुत उपासना सबन ते न्यारी गति ताकी है। यह महा माधुरी रस जाके उर न आवै, तासों संग न करिये, संग करनौ बड़ी अज्ञानता है। और सब भजन में गोष्ठी है, सनेह में गोष्ठी कहा ?....जिन यह रस समझ्यौ नाही, तासों रस की बात करनी उचित नाही। जो कहै तौ आपतै जाइ, अन्तर परै, निस्संदेह।....विजाती सों मिलिवौ भलौ नाही। बिनु सजाती सों मिलि बात न चलावै।....आपकौं यों चाहिये औरनि सों मत्सरता छाँड़ि आपनौं रस लिये रहै और याही रस के उपासकनि सों अन्तर खोलि संग करै<sup>३</sup>।”

वृन्दावन रस रसिक को जिस प्रकार अपने उपास्य के नाम, रूप, लीला आदि के प्रति अनन्य रहना अनिवार्य है उसी प्रकार इष्ट के लीला-धाम के प्रति भी। अतः ध्रुवदास जी ने अपने इष्ट—प्रेम मूर्ति अद्वय युगल के लीला धाम-वृन्दावन की अनन्यता का उद्बोधन भी अनेक स्थलों पर दिया है—

बसिकैं वृन्दाविपिन में ऐसी मन में राखि।  
प्रान तजौं वन ना तजौं कहौ बात कोउ लाख।।  
वृन्दावन के बसत ही अन्तर जो करै आनि।  
तिहि सम शत्रु न और कोउ मन वच कैं यह जानि।।  
वृन्दावन कौ नाम रटि वृन्दावन कौ देखि।  
वृन्दावन सौं प्रीति करि वृन्दावन उर लेखि।।  
वृन्दावन कौ यश अमल जिहि पुरान में नाहिं।  
ताकी वानी परौ जिन कबहूँ श्रवणन माँहि।।  
खण्ड-खण्ड है जाइ तन अंग-अंग सत दूक।  
वृन्दावन नहिं छाँड़िये छाँड़िवौ है बड़ी चूक<sup>४</sup>।।

१ से ४. ब्या. ली., हि. घु. दा., मन शिक्षा, छं. सं. २६, ५२, सिद्धान्त विचार, वृन्दावन सत, छं. सं. ६७, ५०, ७८, ८४, ७०



रसोपासक रसिक को रसोपासना के क्षेत्र में बहुत सतर्कता के साथ फूँक-फूँककर पैर रखना पड़ता है, क्योंकि एक ओर तो उसे प्रेम के ध्येय रूप में अनन्य ममता रखनी होती है तो दूसरी ओर प्रेम के ज्ञेय रूप की अवहेलना का भी बचाव रखना पड़ता है। अर्थात् वह सब से निष्काम होकर सबसे हित भाव रखते हुए<sup>१</sup>; सभी जीवों से प्रीति रखते हुए अपनी रीति का निर्वाह करता है<sup>२</sup>। अर्थात् वृन्दावन रस निष्ठ होकर वृन्दावन में ही सदा निवास करता है। उसे एक ओर तो प्रेम के ऐश्वर्य रूप राम-कृष्ण आदि अवतार लीलाओं, उनके नाम-रूप, गुणों के प्रति अश्रद्धा का बचाव रखना पड़ता है तो दूसरी ओर प्रेम के विशुद्ध और एकान्त माधुर्य रूप की अनन्य निष्ठा का निर्वाह करने के लिए ऐश्वर्य लीला माहात्म्य और ज्ञानादि का मानसिक स्पर्श भी न हो इसका विशेष ध्यान रखना पड़ता है; क्योंकि ये सब रस के आवरण हैं —

“अनन्त लीला अवतार तिनकी ईश्वरता कौ वार पार नहीं। ऐसैं ही नाना प्रकार के भक्त हैं। श्रीकृष्ण लीला तीन प्रकार की। जहाँ जाकौ मन लाग्यो ते सब नीके हैं, घट कोऊ नहीं। आपकों यों चाहिये और की घट बढ़ कछू देखै नहीं। अपने रस की जैसी उपासना है तहाँ मन दीये रहै।.....ईश्वरता, ज्ञान, महातम, अरु विषय या रस माधुरी के आवरण हैं।.....इनते चित्त काढ़ि माधुर्य रस में दैनों। और रस या रस के आवरण हैं।.....साधारण प्रेम, साधारण विरह सबके मन आवै। भगवत भजन की विधि महातम और जहाँ ताई ऐश्वर्य लीला तिनमें समाई है।..... और जहाँ ताई अवतार लीला जहाँ तैसैई भाँति के भक्त हैं, एक भक्त ऐसे हैं जो सब अवतार लीला गावत हैं, कछू भेद नहीं, ते ऐश्वर्य महातम ज्ञान लिये हैं। अनेक भाँति भक्ति भेदन के भेद तैसैई भक्त हैं। जैसौ जाकौ भाव है तैसौई सिद्ध होय ताते औरनि सों प्रयोजन नहीं। आपकों यों चाहिये औरनि सों मत्सरता छाँड़ि आपनों रस लिये रहै और याही रस के उपासकनि सों अन्तर खोलिकें संग करै<sup>३</sup>।”

यह रस परस्यो नाहिं जिन तू जिन परसै ताहि।

तासों नातौ नाहिं कछु यह रस रुचै न जाहि<sup>४</sup>॥

१. सबसों हित निष्काम मति श्री वृन्दावन विश्राम। श्री राधाबल्लभलाल कौ हृदय-ध्यान मुख नाम॥

— स्फु. वा., गो. हि. ह., अन्तिम दोहे

२. सब जीवन सों प्रीति रीति निवाहत आपुनी।

— से. वा., अकृपा-कृपा प्रकरण, छं. सं. १

३.४. ब्या. ली., हि. धु. दा., सिद्धान्त विचार, मन शिक्षा छं. सं. ३१

मन एक स्थान पर कभी स्थिर नहीं रहता। मन की इस घंचलता के कारण ही उपासक अपने अनन्य मार्ग से विचलित हो जाता है और उपासना का शुद्ध स्वरूप विकृत होकर और का और ही हो जाता है। इसीलिये हित ध्रुवदास जी ने इस रसिक अनन्य धर्म का निर्वाह करना—अनन्य मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन बतलाया है—

कठिन है रसिक अनन्यता रहत न मन इक ठौर।

राई के सम चलत ही होत और की और'।।

फिर भी श्री हरिवंश-कृपावलम्बी अनेकानेक उपासकों ने इस अनन्य मार्ग पर चलकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति की है; जिनका यशोद्गान 'रसिक अनन्य माल' और 'रसिक अनन्य परचावली' आदि ग्रंथों में सम्प्राप्त है।

प्रेमोपासना क्षेत्रीय अनन्यता का विशिष्टतम रूप भगवतमुदित जी द्वारा वर्णित कल्याण पुजारी जी के एक चरित्र से भी ज्ञात होता है; जिसमें कल्याण पुजारी जी ने अन्यान्य प्रभु-मन्दिरों में न जाने का कारण इन शब्दों में प्रकट किया है —

और पुजारी की इक बात। इष्ट-दरस तजि अनत न जात।।

जे-जे अनत दरस करि आवैं। इनके आगे वरनि सुनावैं।।

तब ये कहैं प्रिया के चरन। देखे कहूँ पियहि सुख करन।।

अपने इष्टहि देख्यौ कीजै। और कहूँ मन जानि न दीजै।।

जो ह्याँ सुख सम्पति अधिकाई। अपने लखि मानिये घटाई।।

जो कोउ बात उहाँ घटि दीसै। तौ अपराध लगै निजु सीसै।।

दुहूँ भाँति मन मैलौ होई। अति व्रत तजि भटकौ जिन कोई।।

घटती बढ़ती कहूँ न विचारै। सब ठाँ अपनौं इष्ट निहारै।।

प्रिया चरन जहँ नहीं प्रधान। सुख न लहैं तहँ रसिक सुजान'।।

### ५.३. उपासना विधा :

#### ५.३.१. शाब्दिक अर्थ और परिभाषा :

मही मण्डल के समस्त धर्म सम्प्रदायों [ परमतत्त्व के निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार रूप की उपासना करने वाली सभी सम्प्रदायों ] में 'उपासना' या 'उपासना विधा' शब्द बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। 'उपासना' शब्द का विद्वद् सम्बेद्य वैयाकरणीय अर्थ

१. ब्या. ली., मन शिक्षा, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ४१

२. र. अ. मा., भ. मु., कल्याण पुजारी जी की परचई



है—‘उपास्य की उपासक द्वारा समीप से सेवा’। अर्थात् उपास्य का नित्य सामीप्य। उपासना करने की विधा में कुछ न कुछ पार्थक्य प्रत्येक सम्प्रदाय में देखा जाता है किन्तु ‘उपासना’ शब्द के उक्त वैयाकरणीय अर्थ में किसी भी सम्प्रदायाचार्य या किसी भी विद्वान् को कोई आपत्ति नहीं है। उपासक को जिस विधि विधान से उपास्य का यह नित्य सामीप्य प्राप्त होता है; वह ‘उपासना विधा’, ‘उपासना पद्धति’ तथा ‘भजन की रीति’ आदि-आदि नामों से अभिसंज्ञात है।

### ५.३.२. रति और भाव :

उपासक को उपास्य का नित्य सामीप्य कराने वाला, प्रेम, प्रीति, राग और अनुराग का अनिवार्यतः एक सम्बन्ध सूत्र होता है। जिसका एक छोर उपासक के हृदय में और दूसरा छोर उपास्य के हृदय में नित्य स्थित रहता है। उपासना जगत में यह सम्बन्ध सूत्र ‘भाव’ नाम से अभिसंज्ञात है। ‘प्रीति’ किसी न किसी भाव का रूप ग्रहण करके ही गतिशील होती है तथा अपने आश्रयालंबनो के स्वरूपानुरूप ही विविध रूप धारण करती है। प्रीति के इन विविध रूपों के कारण ही भावों के नाम-रूपों में भी भिन्नता देखी जाती है। उदाहरणतः—दास्यारति के अनुरूप उपासक के हृदयस्थ भाव का नाम दास्य भाव, सख्यारति के स्वरूपानुसार सख्यभाव, वत्सला रति के अनुरूप वात्सल्य भाव और मधुरा रति के स्वरूपानुसार मधुर भाव [गोपीभाव या कान्तभाव]। सच्छास्त्रों के अध्ययन अनुशीलन और वीतराग संतों के संग से संसार की असत्यता और भगवत् तत्त्व की सत्यता का ज्ञान होता है; साथ ही जीव की रति संसार से हटकर भगवदोन्मुख हो जाती है। किन्तु उनसे किसी प्रकार का भाव संबंध स्थापित नहीं होता। वह भाव विरहित भक्ति या ज्ञानमूला भक्ति तक ही सीमित रह जाती है। इसीलिए उसे किसी प्रकार के ‘भाव’ नाम से स्मरण नहीं किया जाता। ऐसी ज्ञान मूला रति से सम्प्राप्त आनन्द को भक्त जनों ने ‘ज्ञान शान्त रस’ के नाम से अभिसंज्ञात किया है।

### ५.३.३. भावों की अवतरणिका :

आचार्य भरत तथा उनके परवर्ती काव्य शास्त्राचार्यों ने शृंगार आदि नव रसों के रति, निर्वेद, भीति और विस्मयादि नौ भाव स्वीकार किये हैं। भक्त प्रवर श्री रूप गोस्वामी जी ने भक्ति के क्षेत्र में अलौकिक भगवान् श्रीकृष्ण को आलम्बन बनाकर दास्य, सख्य और वत्सल इन तीन भावों को भक्ति काव्य-क्षेत्र में स्थान देने के साथ-साथ काव्य क्षेत्रीय रति भाव को ही गोपी भाव, कान्त भाव और मधुर भाव नाम से अति ख्यात कर दिया। संस्कृत साहित्य में सखी, सहेली, सहचरि, किंकरी, दासी, परिचारिका आदि शब्द

तो प्रचुर रूप में प्राप्त होते हैं, किन्तु सखीभाव, सहेलीभाव, सहचरीभाव, किंकरीभाव आदि शब्द विक्रम की सोलहवीं शताब्दी पूर्व के साहित्य में सर्वथा अनुपलब्ध हैं। सोलहवीं शताब्दी में संसृष्ट भक्ति रस के कृष्ण भक्ति काव्य में राधाकिंकरीभाव या सहचरीभाव किंवा सखीभाव शब्द की उपलब्धि इसलिए भी नहीं दिखाई देती है क्योंकि कृष्ण भक्ति रस का आलंबन प्रेम मूर्ति श्री राधा नहीं अपितु भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं जो कि वात्सल्य, दास्य, सख्य और मधुर भाव के ही विषय बन सकते हैं।

‘श्री राधाकिंकरीभाव’, ‘वृन्दावन नागरी पशुपति स्त्री भाव’, ‘रहो वल्लवी भाव’ ‘महोदार माधुर्य भाव’ आदि नामों का सर्वप्रथम उल्लेख श्रीहिताचार्य की वाणी ‘राधासुधानिधि’ में ही प्राप्त होता है<sup>१</sup>। इस भाव से की जाने वाली उपासना ही प्रेमोपासना किंवा रसोपासना नाम से ख्यात हुई।

#### ५.३.४. प्रेमोपासना और भगवदुपासना :

प्रेमोपासना किंवा रसोपासना के उदयन काल में जहाँ एक ओर श्री चैतन्य देव और उनके शिष्यों द्वारा श्री कृष्ण के मधुर रूप की उपासना का प्रचार आरम्भ हो चला था वहीं दूसरी ओर आचार्य बल्लभ और उनके शिष्यों द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के वात्सल्य, सख्य और मधुर भाव की भक्ति के प्रचलन का शुभारम्भ भी होने लगा था। सम्पूर्ण भक्ति साहित्य का गहनतम आलोड़न करने पर भी उपर्युक्त भक्ति भावों के अतिरिक्त अन्य किसी भक्ति भाव का स्पष्ट नामोल्लेख या सांकेतिक उल्लेख भी नहीं मिलता। उसी समय श्री हिताचार्य ने उपासना के क्षेत्र में सर्वथा नवीन प्रेमोपासना किंवा रसोपासना की प्रतिष्ठा की जो कि एक सर्वथा अभिनव और मौलिक भाव—‘राधाकिंकरीभाव’—को लेकर उदित हुई। यह ‘प्रेमोपासना’ सर्वथा नवीन उपासना थी; ऐसा कहने का कारण एकमात्र यही नहीं कि वह एक अभिनव भाव लेकर उदय हुई थी प्रत्युत इसके अतिरिक्त और भी अन्य अनेक कारण थे जो उसे भगवदुपासना से भिन्न आलोकित करते थे। यथा—

| प्रेमोपासना                                                                                                                                 | भगवदुपासना                                                                     |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------|
| १. ‘प्रेमोपासना’ दास्य, सख्य वत्सल तथा मधुर भाव आदि किन्हीं भी भक्ति भावों से न की जाकर एकमात्र प्रेम स्वरूपा राधाकिंकरीभाव से ही सम्भव है। | ‘भगवदुपासना’ दास्य, सख्य, वत्सल, मधुर तथा शांत आदि-आदि अनन्त भावों से संभव है। |



२. 'प्रेमोपासना' श्रुति गोचर निर्गुण-सगुण ब्रह्म से सर्वथा पृथक् 'प्रेम' किंवा 'रस' की उपासना है। इसका उपास्य तत्त्व वह 'प्रेम' है जो भगवान् को भी अपने वश में रखता है।
३. 'प्रेमोपासना' भगवत् स्वरूप 'रस' की उपासना है।
४. 'प्रेमोपासना' राधा चरण प्रधान उस सदैव प्रकटतर नित्य नवल अद्वय युगल की उपासना है; जो एकमात्र वृन्दावन में ही नित्य नव किशोर रूप से नित्यविहार परायण बना रहता है।
५. 'प्रेमोपासना' प्रेमी और प्रेमपात्र की उपासना है; किन्तु उन प्रेमी और प्रेमपात्र की जिनमें प्रेम के निज धर्म तत्सुख सुखिता, अनन्यता एवं तदाधीनता—पूर्ण रूप से नित्य प्रत्यक्ष रहते हैं।
६. 'प्रेमोपासना' विशुद्धतम माधुर्य की उपासना है; किन्तु नितान्त अविस्मरणीय तथ्य यह है कि इसमें ऐश्वर्य का अभाव नहीं अदर्शन रहता है।
७. 'प्रेमोपासना' प्रेम स्वरूप होकर ही की जाती है।
८. 'प्रेमोपासना' अनन्यता मूलक किंवा अनन्यता प्राण है क्योंकि 'प्रेम' अनन्त रूप न होकर अद्वय रूप है।
९. 'प्रेमोपासना' में उपासक प्रेमी और प्रेमपात्र न होकर प्रेमी और प्रेमपात्र की
- 'भगवदुपासना' निर्गुण निराकार अथवा सगुण साकार ब्रह्म की उपासना है। इसका उपास्य षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् नारायण-विष्णु तथा राम-कृष्ण आदि अवतार स्वरूप हैं जो कि प्रेम के वशीभूत हैं।
- 'भगवदुपासना' रस स्वरूप भगवान् की उपासना है।
- 'भगवदुपासना' सर्व शक्तिमान् परम पुरुष उस एकान्त ईश्वर की उपासना है जो स्वेच्छा से अपनी प्रकृति एवं शक्तियों को प्रगट एवं अन्तर्विलीन करता रहता है।
- 'भगवदुपासना' उन भगवान् की उपासना है, जिनमें सृष्टि, पालन, संहार, भक्त वत्सलता आदि-आदि भगवान् के धर्म पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं।
- 'भगवदुपासना' विशुद्ध ऐश्वर्य किंवा माधुर्य मिश्रित ऐश्वर्य की ही उपासना है।
- 'भगवदुपासना' भगवद् दास होकर ही की जाती है।
- 'भगवदुपासना' समन्वय प्राण किंवा समता मूलक है क्योंकि भगवान् अनन्त रूप हैं।
- 'भगवदुपासना' में भगवान् प्रेमपात्र और भक्त 'प्रेमी' स्थानीय होता है।

- संतुष्टि से तुष्ट-पुष्ट होने वाली 'प्रीति' का ही साक्षात् स्वरूप होता है।
१०. 'प्रेमोपासना' में उपास्य और उपासक के बीच अणु-महान, जीव-ईश, अंश-अंशी के द्वैत के लिए कोई सन्धि नहीं है।
११. 'प्रेमोपासना' में विधि निषेध का कोई बन्धन नहीं होता। इसका उपासक लोक-वेद की मर्यादाओं एवं समस्त भगवद् धर्मों से भी निर्मम हो जाता है।
१२. 'प्रेमोपासना' किंवा 'रसोपासना' में रसानुभूति करने की प्रक्रिया होती है; क्योंकि प्रेमोपासक 'रस' के आश्रय और विषयालम्बन से पृथक्-रस शास्त्रानुसार रसानुभूतिकर्ता सहृदय, सामाजिक, सदाशय, किंवा द्रष्टा रसिक का ही स्थान लेता है।
१३. 'प्रेमोपासना' का आधारभूत प्रमाण ग्रंथ उपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य की वाणी है।
१४. 'प्रेमोपासना' केवल कृपा साध्य ही है।
- 'भगवदुपासना' में भगवान और भक्त के बीच अणु-महान, जीव-ईश, अंश-अंशी का द्वैत अनिवार्य रूप से होता है।
- 'भगवदुपासना' में शास्त्रीय विधि निषेध अनिवार्य है। इसीलिए भगवदुपासक वैदिक मर्यादाओं में अनुबन्धित रहकर समस्त भगवद् धर्मों में समान दृष्टि रखता है।
- 'भगवदुपासना' में भगवान के रसस्वरूप होते हुए भी रस शास्त्र वर्णित रसानुभूति करने की प्रक्रिया का सर्वथा अभाव होता है। क्योंकि उपासक भक्त स्वयं ही 'रस' का आश्रयालम्बन बन जाता है और भगवान् विषयालम्बन। फलतः भगवदुपासना में रस शास्त्रानुसार रसानुभूतिकर्ता सहृदय, सामाजिक, सदाशय किंवा द्रष्टा रसिक—इस अविभाज्य अंग का स्थान ही नहीं रह जाता।
- 'भगवदुपासना' के प्रमाण ग्रंथ वेद, पुराण तथा अन्यान्य भक्ति शास्त्र हैं।
- 'भगवदुपासना' साधन साध्य भी है।

### ५.३.५. भक्ति भाव के परिभाव्य और राधाकिंकरीभाव :

उपासना के क्षेत्र में 'भाव' का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय में उपास्य का नित्य सामीप्य [ उपास्य की प्राप्ति तथा उसकी नित्य परिचर्या ]



प्राप्त करने का 'भाव' भिन्न-भिन्न नाम-रूपों में प्राप्त होता है। श्री हिताचार्य का परमोपास्य सभी भगवदुपासक सम्प्रदायों के उपास्य से भिन्न है। उपास्य की स्वरूप भिन्नता के कारण उपासक का स्वरूप, उपासना विधा और उपासना का भाव [ जिस भाव से उपास्य की उपासना की जाती है—वह भाव ] भी सब भावों से भिन्न प्राप्त होता है। उनके द्वारा आविर्भूत उपासना का उपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' है; निर्गुण निराकार ब्रह्म नहीं और षटैश्वर्य सम्पन्न वह भगवान भी नहीं जो कि सभी भावों से भजनीय हैं<sup>१</sup>। श्रीमद् भागवतादि पुराण ग्रंथ तथा भक्तमालादि अनेकानेक भक्ति ग्रंथ इस तथ्य के साक्षी हैं कि भक्तों ने इन भावों से ही भजन करके भगवान को प्राप्त किया है। भक्तों के इन भावों की गति क्षमता भगवान तक पहुँचाने की ही है; भगवान के लिए भी विमृग्य, भगवान के लिए भी परम रहस्य और भगवान को स्ववश में करके अपने इंगितों पर चलाने वाले— 'प्रेम' के क्रीड़ा धाम तक पहुँचाने की नहीं—प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम के केलि भवन तक नहीं। श्यामा-श्याम के केलि धाम तक पहुँचाने वाला तो प्रीति स्वरूपा राधाकिंकरीगणों का अपना भाव राधाकिंकरीभाव ही एकमात्र सक्षम है। इसीलिए तो श्रीहिताचार्य ने इन भावों से भजन करने वाले हरि भक्तों से अपने परमोपास्य प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम की रहस्य केलि को सर्वथा अलक्ष्य कहा है<sup>२</sup>। उन्होंने यह भी उद्घोष किया है कि वह रस रहस्य या रहस्य केलि उनकी दासी [ राधाकिंकरी ] होकर ही देखना संभव है<sup>३</sup>। साथ-साथ ही यह भी स्पष्ट कथन किया है कि यह उपासना एकमात्र श्रीराधा-कृपा साध्य है, अन्य किसी साधन से सर्वथा असम्भव है<sup>४</sup>।

श्यामा-श्याम की रहस्य केलि की निकट द्रष्टा राधाकिंकरीगण सख्यादि भावों से भगवान कृष्ण का भजन करने वाले भक्तों से भिन्न हैं; इस तथ्य को एक दूसरे प्रकार से व्यक्त करते हुए श्री हिताचार्य ने एक स्थल पर लिखा है कि कोई तो ब्रह्मानन्दवादी हैं, तो कोई भगवदानन्द में मत्त हैं; अन्य लोग श्रीकृष्ण के सख्य आदि [सख्य वत्सल और मधुर भाव के आनन्द] अनुपम परमानन्द का आस्वादन करते हैं किन्तु राधा दासियों

१. सर्वदा सर्व भावेन भजनीयो ब्रजाधिपः।

— चतु. श्लो., आ. ब., श्लो. सं. १

२.३. न देवैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरि भक्तै न सुहृदादिर्मिर्यद्वै राधा मधुपति रहस्यं सुविदितं।  
तयोर्दासी भूत्वा तदुपचित केली रसमये, दुरन्ताः प्रत्याशा हर हर दृशोर्गोचरयितुम्।।

रा. सु. नि., श्लो. सं. १४८

४. यत्लक्ष्मी शुक् नारदादि परमाश्चर्यानुरागोत्सवैः। प्राप्तं त्वत्कृपयैव हि ब्रज भृतां तत्तत् किशोरीगणैः।।  
तत्कैर्कर्य मनुक्षणादमुत रसं प्राप्तुं धृताशेमयि। श्री राधे नव कुंज नागरि कृपा दृष्टिं कदा दास्यसि।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८५

के लिए तो उन श्रीराधा की प्रकाशमान नखमणि-ज्योति की एक किरण मात्र ही सम्पूर्ण आनन्द के चमत्कार सार की एकमात्र सीमा है—

ब्रह्मानन्दैक वादाः कतिचन भगवद्वन्दनानन्द मत्ताः।  
केचित् गोविन्द सख्याद्यनुपम परमानन्दमन्ये स्वदन्ते।  
श्री राधाकिंकरीणां त्वखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा।  
तत्पादाम्भोज राजन्नखमणि विलसज्ज्योतिरेकच्छटापि<sup>१</sup>।

श्रीहिताचार्य के इस कथन से निर्भ्रान्त रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि राधाकिंकरीगण सख्यादि भावों [सख्य, वत्सल और मधुर भावों] से भजन करने वाले भक्तों से पृथक् ही हैं; इस पार्थक्य को आलोकित करने का अन्तराशय यही है कि इन राधाकिंकरीगणों का भाव—दास्य, सख्य वत्सल और मधुरभाव से सर्वथा भिन्न है। आचार्य चरण के इन सूत्र वाक्यों के आधार पर हित ध्रुवदास जी ने भी भावों का पार्थक्य और उनकी क्रमिक उत्कृष्टता वर्णन करते हुए ललितादिकों के भाव को ही सर्वोत्कृष्ट कहा है—

ज्ञान शांत रस ते अधिक अद्भुत पदवी दास।  
सखा भाव ताते अधिक जिनके प्रीति प्रकाश॥  
अद्भुत बाल चरित्र कौ जो जसुदा सुख लेत।  
ताते अधिक किशोर रस ब्रज बनितनि के हेत॥  
सर्वोपरि है मधुर रस युगल किशोर विलास।  
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास॥  
या पर नाहिंन भजन कछु नाहिंन है सुख और।  
प्रेम मगन विलसत दोऊ परम रसिक सिरमौर<sup>२</sup>॥

एक स्थल पर श्री हिताचार्य ने वृन्दावन-महिमा-गोचर होने का अकाद्य विधान जैसा विनिर्मित करते हुए यह घोषणा की है कि 'वृन्दावन की मधुर महिमा श्रीराधा पद-किंकरी कृत हृदां को ही गोचर हो सकती है'<sup>३</sup>। 'श्रीराधा पद किंकरी कृत हृदां' का सरलार्थ यह कि जिसका हृदय श्रीराधा चरणों की किंकरीगणों का कृत—'कैकर्य' ही बन गया हो। हृदय 'भावों' का ही निवास स्थान होता है। अतः अन्तराशय यह स्पष्ट

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. १४७

२. ब्या. ली., भजनाष्टक, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १ से ४

३. यद् राधा पद किंकरी कृत हृदां सम्यक् भवेद् गोचरं।

ध्येयं नैव कदापि यद्विदि बिना तस्याः कृपा स्पर्शतः।



हुआ कि जिसका हृदय श्रीराधा-पद-कैङ्कर्य-भाव से परिपूर्ण हो गया हो, ऐसे राधापद किङ्करीभाव पूर्ण हृदय को ही उस वृन्दावन की महिमा स्फुरित होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य ने अपनी रसोपासना में परमोपास्य 'रस' के क्रीड़ा धाम तक पहुँचाने वाले 'भाव' को 'राधाकिङ्करीभाव' नाम से प्रकीर्तित किया है। उपासना के आधार स्वरूप इस भाव का उल्लेख श्री हिताचार्य ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक स्थलों में किया है। एक स्थल पर उन्होंने इसे 'रहो वल्लवी भाव' नाम से अभिसंज्ञात करते हुए कहा है कि—जो वृन्दावन में सदा सर्वदा प्रकटतर है, जो किन्हीं ऐकान्तिक गोपियों के एकान्त भाव से ही भव्य स्वरूपा हैं और जिनके चरण-कमल अपनी सेविकाओं के हृदय में मधुररस-सुधा का निर्झरण करते रहते हैं —

कालिन्दी कूल कल्पद्रुम तल निलय प्रोल्लसत्केलिकन्दा।

वृन्दाटव्यां सदैव प्रकटतर रहो वल्लवी भाव भव्या।

भक्तानां हृत्सरोजे मधुर रस सुधा सिन्धु पादाराविन्दा।

सान्द्रानन्दाकृतिर्नः स्फुरतु नव-नव प्रेम लक्ष्मीरमन्दा<sup>१</sup>।

उपर्युक्त श्लोक में उपास्य का स्वरूप परिचय देते हुए उसे 'वृन्दावन में सदैव प्रकटतर' कहा है। ब्रजगोपियों ने जिस स्वरूप को देखा है वह सदैव प्रकटतर नहीं प्रत्युत द्वापरान्त में ब्रजभूमि में कहीं से अवतरित हुआ था। बहुत अधिक स्पष्ट है कि श्रीहिताचार्य ने इस श्लोक में जिस 'सदैव प्रकटतर' रूप का संकेत किया है उस रूप को पुराण विख्यात गोपियों ने कभी नहीं देखा है। उस रूप को देखने वाली, भव्य बनाने वाली ऐकान्तिक गोपियों के नाम से संज्ञात राधाकिङ्करीगण; पुराण विख्यात ब्रजगोपियों से भिन्न हैं। सबसे अलक्षित अपरिचित एकान्त स्थल वृन्दावन निवासिनी हैं। जिनके हृदय में सदा सर्वदा श्रीराधा के चरण-कमल ही रस-सुधा-सिन्धु का निर्झरण करते रहते हैं। इसीलिए ये गोपियाँ—'एकान्त गोपियाँ' किंवा 'रहो वल्लवी' हैं। इन रहो वल्लवीगणों के भाव विशेष से ही 'वृन्दावन में विद्यमान सदैव प्रकटतर रूप' भव्य होता है। एतावता ये 'रहो वल्लवी' सुनिश्चित रूप से ललितादिक राधाकिङ्करीगण ही हैं और श्लोक में प्रयुक्त 'रहो वल्लवी भाव' ये शब्द समूह राधाकिङ्करीभाव का ही उद्बोधक है; गोपी भाव का नहीं।

'वल्लवी' शब्द का कोषगत अर्थ 'गोपी' भी होता है। अतः 'वल्लवी भाव' शब्द से उस गोपीभाव का भ्रम होना स्वाभाविक है जो कि भक्ति शास्त्रों में कृष्णकान्ता ब्रज

वधूटियों का भाव [श्री कृष्ण के प्रति ब्रजगोपियों का कान्त भाव] नाम से अति प्रसिद्ध है; किन्तु 'वल्लवी भाव' के साथ ही संलग्न 'भव्या' शब्द इस भ्रम सर्वथा निरस्त कर देता है; क्योंकि 'भव्या' शब्द स्त्री लिङ्ग है; जो कि वल्लवीभाव से भव्य होने वाली श्री राधा की ओर ही संकेत करता है; ब्रज गोपियों के परम कान्त श्रीकृष्ण की ओर नहीं। श्लोक में सम्प्रयुक्त 'रहो' शब्द भी इस वल्लवी भाव को उन ब्रजगोपियों के गोपी भाव से पृथक् करता है। क्योंकि श्रीमद्भागवतादि भक्ति शास्त्रों में वर्णित वल्लवी [गोपियाँ] गुप्त या रहस्यपूर्ण एकान्तिक नहीं हैं; अपितु अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अन्तराशय यह कि यह 'रहो' शब्द उन श्री राधाकिंकरीगणों की ओर ही संकेत करता है जिनका वर्णन श्रीमद्भागवतादि सम्पूर्ण भक्ति शास्त्रों में कहीं भी नहीं मिलता। ये एकमात्र श्री राधा की ही अनन्य किंकरी हैं; श्री कृष्ण की नहीं। श्री कृष्ण से उनका जो कुछ भी प्रीति सम्बन्ध है वह इसलिए है कि वे प्राणनाथ श्री श्यामा जू के प्राणनाथ हैं।

इस प्रकार 'रहो' शब्द और 'भव्या' शब्द का अर्थालोक इस भ्रांति को सर्वथा दूर कर देता है कि श्री हिताचार्य ने गोपीभाव स्वीकार किया है और साथ ही यह भी सुस्पष्ट कर देता है कि श्री हिताचार्य ने रहो वल्लवी राधाकिंकरीगणों का 'राधाकिंकरीभाव' ही स्वीकार किया है।

श्री हिताचार्य ने इस राधाकिंकरी और राधाकिंकरीभाव को 'रहो' विशेषण के द्वारा प्रकीर्तित करके उसके स्वरूप को शब्दों में अपरिभाषित होने का संकेत किया है। सुस्पष्ट ही है कि वे राधाकिंकरीगण और उनके सेव्य श्री राधाचरण प्रधान युगल के प्रति उनका हार्दिक भाव सबसे अज्ञेय, एकान्तिक और रहस्यमय ही है।

यह 'राधाकिंकरीभाव' सबसे अविदित ही है—यह केवल श्री हिताचार्य एवं उनके अनुगतों की ही एकमात्र भावना नहीं है; प्रत्युत सुधीजन सम्मत और भक्तजन मान्य भी है। सशक्त शब्दों में ऐसा कहने का आधार यह है कि नव रस के काव्य ग्रन्थों में नव रस के स्थायी भाव रूप में रति, हास, शोक, क्रोध उत्साह, भय, जुगुप्सा, निर्वेद आदि नव भावों का ही नामोल्लेख मिलता है। जिन्हें 'मनोविकार' के नाम से भी परिभाषित किया गया है। उपासना के क्षेत्र में भक्ति रस की स्थापना करते हुए श्री रूप गोस्वामी पाद ने भक्ति रस का स्थाई भाव 'श्री कृष्ण चरण रति' लिखा है। साथ ही उस कृष्ण चरण रति को पाँच भागों में विभक्त करते हुए शान्त रति, दास्या रति, सख्या रति, वत्सला रति और मधुरा रति इन पाँच नामों से भी अभिसंज्ञात किया है। इन्हीं पंच रतियों के आधार पर भगवान श्री कृष्ण के चरणों से संबंधित भक्तों के भावों को शान्त भाव, दास्य भाव, सख्य भाव, वत्सल भाव और मधुर भाव इन पाँच नामों से स्मरण किया गया है।



इस समय तक [विक्रम की सोलहवीं शताब्दी तक] आकर मनोविकार संज्ञक यह 'रति भाव' श्री कृष्ण चरण से सम्बन्धित होने के कारण भक्ति भाव बन गया था। यहाँ पर दृष्टव्य तो यह है कि इस समय तक के विरचित सम्पूर्ण भक्ति ग्रंथों और काव्य ग्रंथों में राधाकिंकरी और राधाकिंकरी भाव—इन दोनों नामों का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

संस्कृत वाङ्मय तथा ब्रजभाषा में विनिर्मित सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति काव्य में ब्रज गोपी और गोपीभाव का नामोल्लेख तो मिलता है किन्तु राधाकिंकरी और राधाकिंकरी भाव का नामोल्लेख नहीं मिलता। हम देखते हैं कि हिताचार्य प्रणीत 'राधासुधानिधि' में भी ललितादिक राधाकिंकरीगणों को 'पशुपति स्त्री', 'वल्लवी', 'ललिता' और गोपी आदि नामों से स्मरण किया गया है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि श्री हिताचार्य की ललितादिक राधाकिंकरीगण 'रहो' संज्ञक कैसे ? आगे के पृष्ठों में हम इस प्रश्न पर विचार करने की चेष्टा करेंगे।

श्रीमद् भागवतादि सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति काव्य में वर्णित ब्रजगोपियाँ सुनिश्चित रूप से लोक प्रत्यक्ष [लौकिक] गोपों की बहू किंवा बेटा हैं। उनके पति भी हैं और पुत्र भी हैं। उनका आविर्भाव भी है और तिरोभाव भी है। उनके परमाराध्य भगवान् श्री कृष्ण ही हैं; श्री राधा या श्री राधा-माधव नहीं।

गोस्वामी हित हरिवंशोदित रसोपासना के रसवाणी साहित्य में वर्णित राधाकिंकरी गण ललिता आदि नामों से अभिसंज्ञात तो हैं किन्तु वे लौकिक व अलौकिक सीमा से सर्वथा असम्पृक्त रस रूपा, प्रणय रूपा किंवा प्रीति स्वरूपा हैं<sup>१</sup>। ये न तो किसी गोप की बेटा ही हैं न बहू ही। इनके न तो कोई पति ही हैं न कोई पुत्र ही। इनका आविर्भाव और तिरोभाव कभी भी नहीं होता क्योंकि ये प्रेममूर्ति श्यामा-श्याम के नित्य विहार की अविभाज्य अंग हैं। इनके प्राणबल्लभ भगवान् श्री कृष्ण न होकर निकुंज में नित्यबिहार करने वाले प्रेम मूर्ति अद्वय युगल हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य की वाणी में उद्गीत राधाकिंकरीगणों का स्वरूप परिचय श्रीमद्भागवत आदि सम्पूर्ण भक्ति काव्यों में अनुल्लिखित है। श्री हिताचार्य से पूर्व ये राधाकिंकरीगण सभी के लिए अज्ञेय, अनाख्यात और अज्ञात ही रही हैं। इसीलिए आचार्य चरण ने उन्हें 'रहो वल्लवी' नाम से प्रकीर्तित किया है। जब ये रहो वल्लवीगण [राधाकिंकरीगण] सुधीजनों तथा समस्त भक्तों की मानसी दृष्टि

से भी सर्वथा असंपृक्त रूप में प्रमाणित हो गई तब उनके भाव को 'रहो वल्लवी भाव' सिद्ध करने की पृथक से कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती और यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है 'रहो वल्लवी भाव' प्रख्यात वल्लवी भाव से सर्वथा पृथक 'राधाकिंकरीभाव' ही है।

एक अन्य स्थल पर इस 'राधाकिंकरीभाव' को 'महोदार माधुर्य भाव' कहकर भी उसका उत्कर्ष गान किया है और कहा है कि—श्री राधा चरण-कमल से उच्छलित नव रस और प्रेमामृत समूह स्वरूप श्री यमुना तटवर्ती कमनीय कुंज में अपने हृदय में मैं कब अत्यन्ताभिराम और अत्यन्त उदार महामधुर भाव धारण करके श्रीवृन्दावन वीथियों में ललित रति कला सम्पन्न नागरी श्रीराधा की मानसी सेवा करते हुये अन्य सब कुछ भूल जाऊँगा—

श्री राधा पादारविन्दोच्छलित नव रस प्रेम पीयूष पुंजे।

कालिन्दी कूल कुंजे हृदि कलित महोदार माधुर्य भावः।

श्रीवृन्दारण्य वीथी ललित रति कला नागरी तां गरीयो।

गम्भीरैकानुरागां मनसि परचिरन् विस्मृतान्यः कदास्याम्<sup>१</sup>।

यह तथ्य सर्वमान्य और शास्त्रानुमोदित है कि कृष्ण कान्ता ब्रजगोपियों की सेव्या श्री राधा नहीं थीं। उनके सेव्य तो पुरुष भूषण भगवान श्री कृष्ण ही थे और उन्हीं का दास्य उन्हें काम्य था। ब्रज गोपियों के भाव से श्री राधा की सेवा नहीं की जा सकती। श्री हिताचार्य ने 'महोदार माधुर्य भाव' से श्री राधा नागरी को ही सेव्य बतलाया है तथा श्री राधा; गोपी भावादि अन्य किसी भाव से सेवित नहीं होतीं। अतः सुस्पष्ट ही है कि उपर्युक्त श्लोक सं. २१३ में महा उदार [तत्सुखसुखी प्रकृति] श्री राधाकिंकरीगणों के माधुर्य भाव का उल्लेख करके 'राधाकिंकरीभाव' की ओर ही संकेत किया गया है।

'राधासुधानिधि' के श्लोक सं. ४ में भी राधाकिंकरीगणों को 'उदार गोपी' कहकर स्मरण किया गया है<sup>२</sup>; श्री कृष्ण प्रेमोन्मत्ता ब्रजगोपियों को नहीं क्योंकि वे सभी ब्रजगोपियाँ मत्सुखसुखी ही थीं। अतः वे उदार नहीं कही जा सकतीं।

'उदार' उसे कहा जाता है जो अपने किसी उद्देश्य विशेष की सिद्धि के लिए नहीं—प्रत्युत दूसरे के सुख के लिए अपना सर्वस्व दे देता है। ब्रजगोपियों ने कृष्ण-कान्ता पद प्राप्त करने के लिए ना-ना प्रकार के व्रत, तप और देव पूजायें की थीं। अनेक कष्ट उठाये थे। लोक तथा वेद मार्ग का उल्लंघन करके अपने-अपने माता-पिता,

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २१३

२. आधाय मूर्द्धनि यदा पुरुदार गोप्यः।.....



बन्धु-बान्धव और पुत्र तथा पति तक को भी त्याग दिया था। किन्तु इस त्याग से श्री कृष्ण को कौन सा सुख मिला ? किसी पति विशेष, पत्नी विशेष का त्याग या भगवान के लिए घर-बार छोड़ देना औदार्य तो नहीं कहा जा सकता; त्याग-वैराग्य आदि भले ही कह दिया जाय।

निर्हेतुक औदार्य का नाम ही 'तत्सुखसुखीत्व' है; जो कि 'प्रेम' का स्वरूपभूत गुण किंवा धर्म है। यह प्रेम धर्म प्रेम मूर्ति प्रेमी श्याम सुन्दर, प्रेम मूर्ति प्रेमपात्र श्री राधा और प्रीतिमूर्ति राधाकिंकरीगणों में ही प्रत्यक्ष रहता है; श्री कृष्ण-कान्ता ब्रजगोपियों में नहीं। इसीलिए वे उदार न होकर सब की सब तत्सुखसुखी [स्वसुखसुखी] ही थीं। उन ब्रजगोपियों के लिए श्री राधा-पद-दास्य काम्य भी नहीं था। अवतार कालीन श्री राधा भी इन्हीं ब्रजगोपियों में सम्मिलित थीं; जिन्हें पुरुष भूषण श्री कृष्ण-दास्य ही काम्य था।

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि 'महा उदार' शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवतोक्त ब्रजगोपियों के लिए नहीं प्रत्युत महा उदार राधाकिंकरीगणों के लिए और 'महोदार माधुर्य भाव' शब्द का प्रयोग महा उदार राधाकिंकरी-भाव के लिए ही किया गया है।

एक स्थल पर राधा दास्य की दुर्लभता सूचित करते हुए तथा उसकी लभ्यता का उपाय बताते हुए इस राधाकिंकरीभाव को 'श्रीवृन्दावन की नागरी गोपियों का भाव' कहकर प्रकीर्तित किया है—

लक्ष्म्या यश्च न गोचरी भवति यन्नापुः सखायः प्रभोः।

सम्भाव्योपि विरञ्चि नारद शिव स्वायम्भुवाद्यैर्नयः।

यो वृन्दावन नागरी पशुपति स्त्री भाव लभ्यः कथं।

राधामाधवयोर्ममास्तु स रहो दास्याधिकारोत्सवः<sup>१</sup>।

उपर्युक्त श्लोक में उल्लिखित 'पशुपति स्त्री' शब्द का अर्थ 'गोपी' होता है। अतः 'पशुपति-स्त्री-भाव' इस शब्द से साधारणजनों तथा भक्तजनों को भी भक्ति शास्त्रों में प्रकीर्तित ब्रजगोपियों के गोपी भाव की भ्रांति होना स्वाभाविक है; किन्तु श्री हिताचार्य की यह मुखोक्ति 'स रहो दास्याधिकारोत्सवः' उस भ्रांति का समूल उन्मूलन कर देती है। क्योंकि कृष्ण-कान्ता ब्रजगोपियों के लिए राधामाधव का दास्य कभी काम्य नहीं था। उन्हें तो पुरुष भूषण श्री कृष्ण के दास्य प्राप्ति की ही कामना थी। श्री राधा में तो इन ब्रजगोपियों का स्वामिनी भाव ही न था; अपितु सापत्य भाव ही था। इसीलिए श्री कृष्ण की महारास लीला प्रकरण में श्री कृष्ण को ढूँढ़ते समय श्री कृष्ण-चरण-चिन्ह के साथ

श्री राधा के चरण-चिन्ह देखकर ब्रजगोपियों के हृदय में श्री राधा के प्रति अमर्ष भाव उत्पन्न हुआ था —

तस्या अमूनिनं क्षोमं कुर्वन्नुच्चै पदानियत् । यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुक्तोऽच्युतोऽधरं १॥

बहुत अधिक स्पष्ट है कि 'वृन्दावन की नागरी गोपी' पुरुष भूषण श्री कृष्ण दास्य की अभिलाषिनी ब्रजगोपीगण न होकर श्री वृन्दावन की संपूर्ण कला कुशला, श्री राधामाधव दास्य लब्धा श्री राधाकिंकरीगण ही हैं। प्रस्तुत श्लोक में उस रहो दास्य को उन्हीं राधाकिंकरीगणों के भाव-राधाकिंकरी भाव-के द्वारा ही प्राप्त होने वाला कहा गया है।

श्रीहिताचार्य के उपर्युक्त श्लोकों, [श्लोक सं. १२६, २१३, २३६ और २६५] पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सर्व साधारण सुधीजनों को भी निर्मान्त रूप से ज्ञात हो जायेगा कि श्लोक प्रणेता का वर्ण्य विषय या मनोकाम्य विषय श्रीराधा या 'राधा-माधव-दास्य' ही है। यहाँ पर एक बात नितान्त स्मरणीय यह है कि श्री हिताचार्य ने अनेक बार इस राधामाधव दास्य को भक्तों मुक्तों तथा गोविन्द प्रिय वर्ग से अलक्ष्य कहा है। सच बात तो यह है कि श्री राधा-माधव-दास्य इन सबको अभीष्ट ही नहीं है; क्योंकि इन सब के आराध्य या प्रेमपात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। ब्रजगोपियों के लिये श्रीराधादास्य काम्य होना इसलिए भी असम्भव है क्योंकि वे सब श्री राधा से सापत्न्य सम्बन्ध रखती थीं। कोई उन्हें [श्रीराधा को] स्वपक्षा कोई विपक्षा और कोई तटस्था गोपी ही समझती थीं।

उपर्युक्त श्लोकों में सम्प्रयुक्त 'रहो वल्लवी भाव', 'महोदार माधुर्य भाव', और 'वृन्दावन नागरी पशुपति स्त्री भाव' इन शब्द समूहों को पढ़कर सर्वसाधारण पाठक को यह भ्रम होना सम्भव है कि यह सभी पद भक्ति शास्त्रों में वर्णित 'गोपी भाव' के पर्यायवाची हैं; किन्तु ऐसा भ्रम साधारण पाठकों को ही हो सकता है—व्याकरण वेत्ता तथा भक्ति शास्त्रज्ञ सुधीजनों को नहीं। शास्त्रज्ञजन इस बात से पूर्णाभिज्ञ होते हैं कि किसी शब्द के साथ विशेषण शब्द का प्रयोग निरर्थक या व्यर्थ ही नहीं किया जाता। विशेषण शब्द का संयोग सुनिश्चित रूप से सहेतुक ही होता है—निर्हेतुक नहीं। यदि श्रीहिताचार्य का मन्तव्य वस्तुतः 'गोपीभाव' से ही होता तब तो वह केवल 'वल्लवी भाव', 'माधुर्य भाव' और 'पशुपति स्त्री भाव' इन सभी पदों से ही व्यक्त हो जाता। 'रहो' विशेषण युक्त 'वल्लवी भाव', 'महा उदार' विशेषण युक्त माधुर्य भाव और 'वृन्दावन नागरी' विशेषण युक्त पशुपति स्त्री भाव, लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।



श्रीहिताचार्य ने अपनी प्रेमोपासना को सभी भगवदुपासनाओं से भिन्न, अपने परमोपास्य को सभी भक्तों तथा ब्रजलीला परिकर से भी अलक्षित, सभी उपास्य स्वरूपों से भिन्न एवं उपास्य की उपासना विधा भी सभी उपासनाओं से भिन्न घोषित की है। इन श्लोकों में सम्प्रयुक्त 'रहो', 'महोदार' और 'वृन्दावन नागरी' ये सब विशेषण पद राधाकिंकरीभाव को भगवदुपासना क्षेत्र में अति ख्यात 'गोपी भाव' से सर्वथा पृथक् बताने के लिए ही प्रयोग किये हैं। जिस प्रकार कमल शब्द के पूर्व 'नील' विशेषण शब्द संयुक्त होने पर अन्य लाल, पीत, श्वेत आदि रंगों के कमलों की निषेध व्यंजना स्वतः ही हो जाती है। यह तथ्य सुधी जनों के लिए इसलिए भी निर्भ्रान्त रूप से मान्य होगा क्योंकि उन्हें यह बात भी पूर्ण रूप से ज्ञात है कि ब्रजगोपियों के गोपी भाव का विषय श्रीकृष्ण हैं। उनका काम्य भी श्रीकृष्ण-दास्य है, श्रीराधा या राधामाधव का दास्य नहीं। वह तो श्रीकृष्ण से बार-बार यही माँगती है कि—“पुरुष भूषण देहि दास्यम्”। किन्तु उक्त श्लोकों में श्रीकृष्ण-दास्य की प्राप्ति की अभिलाषा प्रगट नहीं की गई है—राधामाधव के दास्य की अभिलाषा ही व्यक्त की गई है। अतः यह निरापद और निर्भ्रान्त तथ्य है कि आलोच्य श्लोकों में 'रहो वल्लवी' और 'वृन्दावन नागरी पशुपति स्त्री' आदि शब्द, से ब्रजगोपियों की ओर संकेत नहीं है; प्रत्युत वृन्दावन की एकान्तिक नागरी गोपियों के नाम से अभिसंज्ञात उन ललित ललितादिकों की ओर ही संकेत है जिन्हें श्री राधामाधव का दास्य प्राप्त है, और जो दास्य करने में अत्यन्त कुशला राधाकिंकरी ही हैं—कृष्ण किंकरी नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीहिताचार्य प्रणीत इन श्लोकों में प्रयुक्त 'रहो वल्लवी भाव' और 'वृन्दावननागरी पशुपति स्त्री भाव' ये वाक्य गोपी भाव के पर्यायवाची नहीं प्रत्युत 'राधाकिंकरी' और 'राधाकिंकरीगणों के भाव' के ही उद्बोधक हैं।

राधाकिंकरीगणों के भाव को 'रहो वल्लवी भाव' नाम से अभिसंज्ञात करने का एक कारण और भी है और वह यह है कि दास्य भाव और सख्य भाव परस्पर विरोधी भाव हैं। किन्तु ललितादिक सखियों के हृदय में ये दोनों भाव साथ-साथ देखे जाते हैं। ये सखियाँ राधामाधव की परिचर्या भी करती हैं और उनसे हास-परिहास भी। स्वयं श्री हिताचार्य ने एक स्थल पर विविध परिचर्याओं में कुशल दासी होने की<sup>१</sup> और एक अन्य स्थल पर श्री राधा से मधुर परिहास करने वाली सखी होने की<sup>२</sup> अभिलाषा व्यक्त

१. ....स्थितां नित्यं पार्श्वे विविध परिचर्यैक चतुरां। किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये।।  
विचिन्वन्ती केशान् क्वचन् मणि मञ्जीर युगलं.... कदास्यां श्री राधे तब सु परिचारिण्यहमहो।।  
....श्री राधिके करुणयानुचरिं विधेहि।.... श्री राधिके तव रहः परिचारिकाहं।...तनुंन्यस्य दासी भवेयम्।।

— रा. सु. नि., श्लो. ५२, ५३, ४३, ४७, २६१

२. रा. सु. नि., श्लो. १४, ८८, २३०



की है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये समस्त राधानुचरियाँ दासी तो हैं किन्तु लौकिक और अलौकिक दास-दासियों से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाली हैं। इसी प्रकार ये राधाकिंकरियाँ श्रीराधा की सखी तो हैं किन्तु लौकिक और अलौकिक सखी-सखाओं से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाली हैं। जो अपनी स्वामिनी श्री राधा से सखाओं की भाँति समत्व भाव नहीं रखतीं। यही कारण है कि श्री हिताचार्य ने इन राधाकिंकरीगणों को 'रहो वल्लवी' और इनके भाव को 'रहो वल्लवी भाव' नाम से अभिसंज्ञात किया है।

इन राधाकिंकरियों के भाव को सुस्पष्ट शब्द में 'सखी भाव' [सखा भाव या सख्य भाव] तथा 'दासी भाव' [दास्य भाव] नाम से न कहने का भी एक कारण है; और वह यह कि सखा के हृदय में एक दूसरे सखा के प्रति स्थायी रूप से समत्व भाव बने रहने के कारण उसके हृदय में दास्य भाव का उदय होना सर्वथा कल्पनातीत है। इसी प्रकार स्वामी और दास अथवा स्वामिनी और दासी परस्पर अपनी स्वरूप मर्यादा में ही बने रहते हैं। दास कभी भी अपने स्वामी से अथवा दासी अपनी स्वामिनी से हास परिहास नहीं कर सकती। इन दास-दासियों के हृदय में अपने स्वामी या स्वामिनी के प्रति सख्यभाव या सखीभाव का उदय होना सर्वथा अकल्प्य है। इसीलिये श्रीहिताचार्य ने राधाकिंकरियों के भाव को 'रहो वल्लवी भाव' तथा 'वृन्दावन नागरी पशुपति स्त्री भाव' तो कहा किन्तु 'सखीभाव' और 'दासी भाव' नाम से अभिसंज्ञात नहीं किया है।

श्री हिताचार्य के रस वाणी साहित्य में राधाकिंकरीगणों को 'सखी', 'सहेली', और 'सहचरी' आदि नामों से भी अभिसंज्ञात किया गया है। कोई आश्चर्य नहीं कि राधाकिंकरी व सखी इन दोनों का नाम साम्य देखकर कोई हिताचार्य द्वारा आविर्भूत 'राधाकिंकरीभाव' को भी 'सखीभाव' समझने और कहने लगें; किन्तु राधाकिंकरीभाव; 'सखीभाव' [सखा भाव के स्त्रीलिङ्ग रूप] से सर्वथा पृथक है।

सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति काव्य [संस्कृत काव्य तथा ब्रजभाषा काव्य] में भक्ति रसान्तर्गत परिगणित 'सख्यारति' या 'सखाभाव' का नामोल्लेख तो मिलता है किन्तु 'सखीभाव' का नहीं। विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं शती में आविर्भूत श्री हिताचार्य, स्वामी श्री हरिदास जी, हरिरामव्यास, प्रबोधानंद सरस्वती, सेवक जी, रूप गोस्वामी पाद, हितघुवदास जी तथा बिहारिनिदास जी आदि रसिक भक्तों की रचनाओं में भी 'सखीभाव' का उल्लेख नहीं मिलता। 'सखीभाव' का पृथक रूप से नामोल्लेख न मिलने का एक शास्त्रीय कारण है और वह यह कि भक्ति रस के आलम्बन भगवान श्री कृष्ण हैं जो कि शान्तारति, वत्सलारति और सख्यारति आदि [वत्सलभाव तथा सखाभाव आदि] के द्वारा भावित



वर्णित किये गये हैं। यह 'सखीभाव', 'सखाभाव' का स्त्रीलिंग रूप ही है। सख्यभाव की ही एक परिणति विशेष है; जो कि समयस्क मित्रों या सहेलियों के मध्य ही सम्भव है। स्वामी और सेवक किंवा स्वामिनी और दासी के मध्य सर्वथा असम्भव है। क्योंकि 'सख्यभाव'; वत्सलभाव, दास्यभाव और मधुरभाव इन तीनों भावों का विरोधी है।

उपर्युक्त विशद विवेचना का सारांश यह है कि 'सखीभाव' नामक न तो कोई स्वतंत्र भाव ही है और न यह 'राधाकिंकरीभाव' का पर्यायवाची ही है। इस तथ्य के आलोक में एक प्रश्न उठता है कि हितध्रुवदास जी ने अपनी वाणी में 'सखियन कौ भाव' तथा 'सखिभाव' आदि शब्दों का उल्लेख क्यों किया है? —

“जिन भक्तन के सखियन कौ भाव है धन्य तेई रसिक भक्त<sup>१</sup>।”

प्रथमहिं श्री गुरु के चरन उर धरि करौं विचारि।

वैस-वेष सखि-भाव सौं अद्भुत रूप निहारि<sup>२</sup>॥

उपर्युक्त प्रश्न का समीचीन उत्तर हितध्रुववाणी से ही प्राप्त हो जाता है। हितध्रुव दास जी ने स्वरचित 'आनन्दाष्टक' में भावों का परिगणन करते हुए शान्त, दास्य, सख्य, वत्सल और किशोर भाव [ब्रज बनिताओं का भाव] इन पाँच भावों का ही उल्लेख किया है; 'सखीभाव' का नहीं। जैसा कि ललितादिकों के हृदगत भाव को सर्वोपरि मधुर रस नाम से अभिसंज्ञात करते हुए उसे सबसे पृथक् उल्लिखित किया है<sup>३</sup>। यदि ध्रुवदास जी के दृष्टि में ललितादिक राधाकिंकरीगणों का भाव; 'सखीभाव' का पर्यायवाची ही होता तो वे 'आनन्दाष्टक' में वर्णित भावों के विकास क्रम में “सर्वोपरि सखि भाव है” यह लिखकर 'सखीभाव' का प्रयोग अवश्य ही कर देते।

जिस प्रकार 'वत्सलभाव' को समझाने के लिए नन्द-यशोदा का भाव कह देते हैं किन्तु वह 'नन्द भाव' या 'यशोदा भाव' नाम से संरुढ़ नहीं किया जा सकता और न किया गया है। मधुर भाव को समझाने के लिए राधा-चन्द्रावली आदि ब्रजगोपियों का भाव कह देते हैं किन्तु वह 'राधा भाव' या 'चन्द्रावली भाव' आदि नामों से संरुढ़ नहीं किया जा सकता और न किया गया है। इसी प्रकार हितध्रुवदास जी ने भी ललितादिक राधाकिंकरीगणों के भाव को समझाने के लिए 'सखियन कौ भाव' या 'सखि-भाव' कहकर तो उल्लिखित किया है किन्तु उसे 'सखीभाव' इस पृथक् नाम से ही संरुढ़ नहीं कर दिया है।



### ५.३.६. राधाकिंकरीभाव की मौलिकता :

राधाकिंकरीभाव का अर्थ है—राधा की किंकरियों का भाव। इन राधा किंकरीगणों को श्री हिताचार्य ने सखी, सजनी, दासी, चेरी, परिचारिका, रहो वल्लवी, उदार गोपी आदि नामों से भी स्मरण किया है। किन्तु यहाँ पर अविस्मरणीय यह है कि ये सखियाँ लोक विख्यात तथा भक्ति शास्त्रों में व्याख्यात दास-दासियों के स्वरूप से भिन्न स्वरूप वाली हैं। इनके स्वरूप पार्थक्य से अनभिज्ञजन राधाकिंकरीभाव को लोक-विख्यात सखीभाव दासीभाव और गोपीभाव ही मानते हैं। किन्तु यह इन सभी भावों से पृथक और विलक्षण एक स्वतंत्र भाव है। यह पार्थक्य श्री हिताचार्य द्वारा सम्प्रयुक्त 'रहो वल्लवी भाव' 'महोदार माधुर्य भाव' और 'वृन्दावन नागरी पशुपति स्त्री भाव' आदि शब्दों के द्वारा तो प्रकट हो ही जाता है; साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भी राधाकिंकरीभाव की मौलिकता सिद्ध हो जाती है।

### ५.३.६.१. भाव और उनके धरातल :

'दासी भाव' मूलतः दास्य भाव ही है। दास्य भाव से अतिरिक्त कोई अन्य स्वतंत्र भाव नहीं है। पुरुष हृदय में स्थित होने के कारण [स्वामी और सेवक हृदय से संबंधित होने के कारण] वह दास्य भाव और नारी हृदय में स्थित [स्वामिनी और दासी हृदय से सम्बन्धित होने के कारण] वह दासी भाव संज्ञक हो जाता है। इसी प्रकार 'सखी भाव' भी कोई स्वतंत्र भाव न होकर सख्य भाव ही है जो कि आलम्बन स्वरूप के पार्थक्य के कारण 'सखीभाव' नाम से संबोध्य हो जाता है। अर्थात् पुरुष हृदय में स्थित [मित्र-मित्र हृदय से सम्बन्धित] होने के कारण वह 'सखा भाव' और दो नारी हृदय से संबंधित होने के कारण वह 'सखीभाव' संज्ञक हो जाता है।

एक पुरुषाकृत भक्त दास्य भाव और सख्यभाव से भगवान श्री राम-कृष्ण की उपासना कर सकता है किन्तु कान्तभाव [गोपीभाव] से उपासना करने के लिए उसे पुंसत्व के अहंत्व को सर्वथा निरस्त करके नारी स्वरूपावेशित होना ही पड़ेगा। नारी स्वरूपावेशित होकर ही वह नारी भाव [गोपी भाव] से श्रीकृष्ण की उपासना कर सकता है। अष्टछापी श्री कुम्भनदास जी सुनिश्चित रूप से पुरुषाकृत भक्त हैं किन्तु गोपीभाव से श्रीकृष्ण का आराधन करने के लिए वे नारी स्वरूपावेशित हो जाते हैं और तब उनके मुख से ये वाक्य निकल पड़ते हैं—



माई मेरे श्याम लग्यौ सँग डोलै।

जित जाऊँ तित आड़ौई आवै बिना बुलाये बोलै।।.....

कुम्भनदास रँगिलौ ठाकुर हँसि-हँसि घूँघट खोलै<sup>१</sup>।

इसी प्रकार एक नारी भक्त भगवान श्रीकृष्ण का कान्तभाव [गोपीभाव] से आराधन तो निर्वाध रूप से कर सकती है किन्तु उसे श्रीकृष्ण के साथ सखाभाव-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए—सखा भाव से आराधना करने के लिए पुरुष स्वरूपावेशित होना ही पड़ेगा। अन्तराशय यह कि दास्यभाव और सखाभाव पुरुष हृदय में ही समुदित हो सकते हैं। इसी प्रकार दासीभाव, सखीभाव तथा कान्तभाव नारी हृदय की ही वस्तु हैं; और इनका उदय नारी हृदय में ही सम्भव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सख्यभाव और दास्यभाव से भजन करने वाले भक्त के हृदय में पुंसत्व का तथा दासीभाव, सखीभाव और कान्तभाव [गोपीभाव] से भजन करने वाले भक्त-हृदय में नारीत्व का अहं बना रहता है। उपासनाधार की दृष्टि से जिसका बना रहना नितान्त अनिवार्य भी है। सम्भवतः इसीलिए श्रीहिताचार्य ने प्रेममूर्ति श्यामा-श्याम के नित्यविहार को गोविन्द प्रिय परिकर [ब्रजगोप-गोपियों] से, लक्ष्मी, ब्रह्मा, शिवादि सभी देवतागणों से, मुक्तजनों से और नारद, शुक-सनकादिक सभी भक्तजनों से अलक्ष्य कहा है<sup>२</sup>। क्योंकि इन सब में नारीत्व का किंवा पुंसत्व का अहं बना रहता है और दम्पति की रति क्रीड़ा को देखकर नारी और पुरुष दोनों ही हृदयों में काम-भाव अथवा जुगुप्सा का भाव उदय होना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी है।

राधाकिंकरीगण न तो पुरुष ही हैं और न नारी ही—वह तो प्रणयमय रसिक हैं। अपने जुगल प्रियतम गौर-श्याम की<sup>३</sup> प्रेम केलि देखकर इनके चित्त में कामोदय नहीं होता। रति केलि देखकर चित्त में कामोदय का न होना ही यह प्रमाणित करता है कि राधाकिंकरीगण श्यामा-श्याम की भाँति न पुरुष ही हैं न नारी ही और न नपुंसक<sup>४</sup>। वे तो 'प्रेम', 'हित' किंवा रस स्वरूप ही हैं। राधाकिंकरीभाव इन्हीं की स्वाधिकृत निजी

१. प्रा. प. सं., कुं. दा. के प., कु. दा., प. सं. १५

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. ३, ७३, ६६, १२८, १४८, २३८, २३६, प्र. पृ. सं. १०६-१०७

३. बिहरत दोऊ प्रीतम कुंज। अनुपम गौर श्याम तन शोभा वन वरषत सुख पुंज।।

— हि. चौ., प. सं. ६६

४. हित विदेह दो देह सनेही गौर-श्याम पिय-प्यारी। विवि निष्काम सकाम सु नामी वाम विहार अहारी।। वृन्दावन निर्मूल फलित समतूल सलित जमुनारी। 'सबसुख' सखीसमाज अमानी पुंस-नपुंस न नारी।।

— हि. द., स. सु. दा., छं. सं. ५

सम्पत्ति है। इसीलिए पूर्व रसिकों का कथन है कि मन से नारी और पुरुष का भाव सर्वथा निरस्त होने पर ही ललितादिकों के भाव—‘राधाकिंकरीभाव’ से श्यामां-श्याम का सेवन संभव है —

.....अरु जे कृष्ण चरन अनुरक्त। प्रेमी बहुत कुशल मति भक्त।।  
तिनहूँ कौं दुर्लभ अति महा। कहौ जु ऐंकि कहत है कहा।।  
तौ सुनि बिना प्रिया पद दासि। लहै न इहि वन वास उपासि।।  
बनिता - पुरुष भाव मिटि जाय। सेवै ललितादिक के भाय।।  
स्वामिनि कृपा सखी तन होइ। सुर-नर-मुनि पहुँचै तब सोइ<sup>१</sup>।।

भाव और उनके धरातल ज्ञान के आलोक में यहाँ राधाकिंकरीभाव का अन्य भावों से पार्थक्य बताना भी अनिवार्य प्रतीत होता है। अतः आगे के पृष्ठों में इस विषय पर भी विस्तृत विवेचन करने की चेष्टा करेंगे।

### ५.३.६.२. राधाकिंकरीभाव और दास्यभाव :

यह ‘दास्यभाव’ स्वामी और सेवक, स्वामिनी और दासीगणों के हृदयों में स्थित रहने वाला एक मनोभाव है, जो कि दोनों को अत्यन्त निकट और दोनों को पृथक भी बनाये रखता है। दास और दासी में लिङ्ग भेद के कारण पार्थक्य अवश्य दिखाई देता है किन्तु मूलतः दोनों हृदयों में एक दास्य भाव ही स्थित रहता है। उपास्य के स्वरूप भेद के कारण यह एक ही भाव दासी भाव और दास्य भाव इन दो पृथक-पृथक नामों से लोक में प्रचलित है।

दास्य भाव स्वामी और सेवक तथा दासी और स्वामिनी के मध्य होता है। यह दास्य भाव भी रति किंवा प्रीति की एक परिणति विशेष है ; जो कि स्वामीसेवक तथा दासी-स्वामिनी दोनों को एक दूसरे के निकट बनाये रखती है। सेवक अपने स्वामी की प्रीति पूर्वक निरन्तर सेवा किया करता है और स्वामी भी सेवक के प्रति ममतापूर्ण स्नेह रखता है। किन्तु इन दोनों में प्रीति के साथ-साथ नीति भी है जो कि दोनों को अलग-अलग भी बनाये रखती है। अर्थात् दोनों को अपने-अपने स्वरूप में स्थित बने रहने के लिए विवश करती है, साथ ही मर्यादा पालन के लिए बाध्य भी किया करती है। स्वामी को प्रत्येक क्षण इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मुझे सेवक के समक्ष किस प्रकार उठना बैठना चाहिये; उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये;



किन-किन स्थानों तथा किन-किन प्रसंगों में उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति होनी चाहिये। इसी प्रकार एक सेवक या दासी को भी यह ध्यान रखना पड़ता है कि मुझे स्वामी के समक्ष किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये तथा किन-किन स्थलों और किन-किन प्रसंगों में मुझे उपस्थित या अनुपस्थित होना चाहिए। न तो स्वामी ही सेवक से हास-परिहास कर सकता है और न सेवक स्वामी से ही। स्वामी अपने सेवक को सदा सनातन लघु पालित और कृपापात्र ही समझता है और सेवक सदा सनातन अपने स्वामी को महान, पालक और कृपालु मानता है। यही कारण है कि स्वामी तो सेवक को किसी प्रकार के वरदान या आशीर्वाद देता है किन्तु सेवक स्वामी को न तो आशीर्वाद ही दे सकता है और न वरदान ही।

राधाकिंकरीगणों के हृदय में निश्चित रूप से दास्य भाव स्थित है। जिसके कारण वे दासी परिचारिका और सेविका नाम से अभिसंज्ञात हैं; किन्तु ये ललितादि सखियाँ अपनी स्वामिनी श्री राधा के साथ समय-समय पर हास-परिहास भी करती दिखाई देती हैं। यथा—

मोहन लाल के रसमाती।

वधू गुपति गोवति कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती॥

देखि सँभार पीत पट ऊपर कहाँ चूनरी राती।

टूटी लर लटकत मोतिन की नख विधु अंकित छाती॥

आजु रहसि मोहन सब लूटी विविध आपुनी थाती।

जै श्री हित हरिवंश वचन सुनि भामिनि भवन चली मुसिकाती॥

तेरे नैन करत दोऊ चारी।

अति कुलकात समात नहीं कहूँ मिले हैं कुंजबिहारी।.....

जै श्री हित हरिवंश रसिकनी भामिनि आलस अँग-अँग भारी॥

ऐसे हास-परिहास के एक नहीं अनेकानेक पद प्राप्त हैं। सखियों के स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में हम यह भी देख चुके हैं कि ये दासियाँ अपने सेव्य युगल को सुरत केलि करने की प्रेरणा देती हैं, सुरत केलि कराती हैं, उनकी सुरत केलि को निकट से किंवा लता रन्ध्रों से देखा करती हैं। आश्चर्य जनक विशेषता तो यह है कि ये किंकरी गण अपने सेव्य युगलवर को अविचल बिहार परायण बने रहने का आशीर्वाद तक दिया

करती हैं। स्पष्ट है कि इन राधाकिंकरीगणों के हृदय में स्थित दास्य भाव लोक-वेद विख्यात दास्य भाव से विलक्षण ही है।

### ५.३.६.३. राधाकिंकरीभाव और सख्यभाव :

सख्यभाव दो मित्रों किंवा दो सहेलियों के बीच होता है। यह सख्यभाव भी रति [प्रीति] की एक परिणति विशेष है; जो कि दोनों मित्रों या दोनों सहेलियों को निकट बनाये रखता है। दोनों मित्र या दोनों सहेलियाँ एक साथ उठते बैठते हैं। खेलते और खाते हैं। इन दोनों के बीच किसी प्रकार की मान मर्यादा की मेड़ नहीं होती। अर्थात् सख्यभाव या सखीभाव धारण करने वाले सखा या सखियों के हृदय में अपने सखा के प्रति स्वामी भाव कभी नहीं होता। ये दोनों परस्पर एक दूसरे से प्यार करते हैं; किन्तु विशेष स्मरणीय यह है कि इन दोनों के बीच मत्सुख किंवा स्वसुख की भीति होती है; जो दोनों को अलग भी बनाये रखती है। इस सख्य भाव में प्रीति के साथ-साथ समीति भी है। अर्थात् समत्व भी होता है। दोनों मित्रों के हृदय में यह भाव बना रहता है कि जैसा तू है वैसा ही मैं हूँ। किसी प्रकार का स्वरूपतः तारतम्य नहीं। बराबर ले बराबर दे। वय की दृष्टि से या पद की दृष्टि से किसी प्रकार का तारतम्य होते हुए भी क्रीड़ा के क्षेत्र में दोनों ही अपने को बराबर समझते हैं। दाव आने पर एक लघु वयस का मित्र भी अपने से बड़ी वयस या राजकुमार को घोड़ा बनाकर सवारी करता है। इस तथ्य की सर्वमान्य साक्षी श्रीमद्भागवत वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण और उनके सखाओं के साथ हुई कमनीय क्रीड़ा है; जिसका वर्णन सूरदासादि अनेक भक्तों ने किया है। सूरदास जी का एक पद देखिये—

खेलन में को काको गुसैयाँ।

हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥

जाति पाँति हमते बड़ नाही बसत तुम्हारी छैयाँ।

अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ॥

रौंटे करै तासों को खेलै रहे बैठि जहँ तहँ सब गैयाँ।

सूरदास प्रभु खेल्यौई चाहत दाउ दियौ करि नंद दुहैयाँ॥

इसी प्रकार श्री राधा, चन्द्रावली, ललिता और बिशाखादि गोपियों के हृदय में भी आलोच्य सख्य भाव ही है। ये सब गोपियाँ एक दूसरे को अपनी सखी मानती हैं और



तत्-तत् प्रसंगों में एक दूसरे को सखी सहेली, सहचरी, सजनी आदि कहकर संबोधित करती हैं। सखागणों की भाँति ये सखियाँ भी अपना दाव आने पर—अपनी स्वार्थ सिद्धि का प्रश्न उपस्थित होने पर तनिक भी नहीं चूकतीं। ऐसी स्थिति में उन दोनों का अहं ऊपर आ जाता है और मधुर मैत्री भाव नीचे दब जाता है। मात्सर्य का भाव सबल और सहृदयता का भाव दुर्बल हो जाता है। श्रीकृष्ण की वह लीला भूमिका—जिसे श्रीकृष्ण और उनके प्रेम में बावली ब्रजगोपियों की मधुर केलि कहा जाता है—इस तथ्य का मूर्त प्रमाण है। महारास में श्रीकृष्ण ब्रजगोपियों को छोड़कर अन्तर्धान हो जाते हैं और ब्रजगोपियाँ उन्हें ढूँढती फिरती हैं। जब एक स्थल पर उन्हें दो चरणों के स्थान पर चार चरण दिखाई पड़ते हैं तब दूसरे चरण द्वय को देखकर उन्हें यह ज्ञात हो जाता है कि वह अवश्य ही सर्वशक्तिमान भगवान की आराधिका होगी। इसीलिए इस पर प्रसन्न होकर हमारे प्राण प्यारे श्यामसुन्दर ने हमें छोड़ दिया है और इसीलिए इसे एकान्त में ले गये हैं। उसी क्षण गोपियों के हृदय में मात्सर्य जन्य क्षोभ भी उत्पन्न होता है।

श्री राधाकिंकरीगण भी परस्पर एक दूसरे को सखी-सहेली कहती हैं<sup>१</sup>। अपनी स्वामिनी श्री राधा को भी लीला प्रसंगों में सखी कहकर सम्बोधित करती हैं<sup>२</sup>। इतना ही नहीं स्वामिनी श्री राधा भी इन किंकरीयों को यदा कदा सखी कहकर सम्बोधित किया करती हैं<sup>३</sup>। इन तथ्यों से निर्व्रान्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि इन राधाकिंकरीयों के हृदय में स्वामिनी श्री राधा के प्रति सख्य भाव भी है जो कि लीला प्रसंगानुसार व्यक्त होता है। किन्तु इन सखियों के हृदय में श्री राधा के प्रति समत्व भाव न होकर स्वामिनी भाव ही नित्य स्थित रहता है। यही कारण है कि कभी भी किसी लीला प्रसंग में यहाँ तक कि हास-परिहास आदि करते समय भी स्वामिनी और सेविका के बीच जो मर्यादा होती है उसे बनाये रखती हैं। इन राधाकिंकरीयों के हृदय में स्वसुख की गन्ध भी नहीं है। ये अपनी प्राणसखी श्री राधा और उनके प्रीतम का ही सुख देखती हैं, मुख देखती हैं और रुख देखती हैं। ये राधाकिंकरीयाँ स्वयं श्री राधा और श्यामसुन्दर के साथ क्रीड़ा नहीं करतीं झूला नहीं

१. खेलत रास दुलहिनी दूलहु। सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि-निरखि नैननं किन फूलहु॥

— हि. चौ., प. सं. ६२

२. हौं जु कहति इक बात सखी सुनि काहे कौं डारत।.....

— हि. चौ., प. सं. ७५

३. नन्द के लाल हरयौ मन मोर। हौं अपनी मोतिन लर पोवति कौंकरि डारि गयौ सखि मोर॥

— हि. चौ., प. सं. १३

झूलती, भोजन नहीं करती, शैया बिहार नहीं करती। तात्पर्य यह कि इन राधाकिंकरीयों के हृदय में स्थित सख्यभाव लोकवेदाख्यात सख्यभाव से विलक्षण ही है।

### ५.३.६.४. राधाकिंकरीभाव और मधुरभाव [गोपीभाव] :

यह मधुर भाव नायक-नायिका किंवा कान्त-कान्ता के बीच में होता है। चाहे वह प्रेमी-प्रेमिका हों चाहे विवाहित दम्पति हों। यह भाव प्रेमी और प्रेमिका को काम केलि परायण बनाता है और नायक-नायिका को संयोगी और वियोगी बनाकर कभी सुखी और कभी दुखी बनाया करता है। यह भाव भी 'रति' की ही एक परिणति विशेष है; जो कि कान्त-कान्ता [नायक-नायिका] को एक दूसरे के निकट बनाये रखता है। काव्य शास्त्र मनीषियों तथा भक्तों [भक्ति शास्त्रज्ञों] दोनों को ही यह मान्य है कि यह मधुर भाव [मधुरारति भाव] रस के आश्रयालम्बन कान्ता या नायिका के हृदय में ही नित्य स्थित रहता है। यही कारण है कि यह 'गोपीभाव' नाम से संरुढ़ है। साहित्य शास्त्र की किरणों के अमल आलोक में हमें यह तथ्य प्राप्त होता है कि नायिका के हृदय में स्थित मधुर भाव किसी एक नायक विशेष परम कान्त पुरुष के प्रति ही प्रभावित होता है। नायिका के प्रति नहीं। आचार्य भरत, दण्डी, भामह, अभिनव गुप्त, माघ और कालिदास जैसे शास्त्र मनीषीगणों के ग्रन्थ तो उक्त तथ्य को प्रमाणित करते ही हैं। पुराण काल से अद्यावधि निर्मित भक्ति शास्त्र [श्रीमद्भागवत, गीत गोविन्द, कृष्ण कर्णामृत तथा भक्ति रसामृत सिन्धु] भी इसकी साक्षी देते हैं। दास्य भाव के आदर्श प्रतीक हनुमान जी, वत्सल भाव के प्रतीक नन्द-यशोदा और सख्य भाव के प्रतीक सुबल-सुबाहु तथा श्रीदामादि सखागण माने जाते हैं। उसी प्रकार मधुर भाव [गोपी भाव किंवा कान्त भाव] की प्रतीक ब्रजगोपिकायें हैं। यही कारण है कि मधुर भाव का उपासक अपने को गोपीभाव से अनुभावित करता है और इस प्रकार ब्रजगोपियों से भाव तादात्म्य करके श्रीकृष्ण को अपनी मधुर रति का विषय बनाता है। पृथक् रूप से 'सखीभाव' और उस भाव के प्रतीक का उल्लेख किसी ग्रंथ में नहीं मिलता।

ये गोपियाँ अपने परम प्रेष्ठ नायक शिरोमणि श्रीकृष्ण के साथ विविध प्रकार की केलियाँ करती हैं और इस प्रकार विविध विहार करके स्वयं आनन्द लेती हैं। ये परस्पर एक दूसरे के साथ मात्सर्य रखती हैं। इन सभी के हृदय में यह अभिलाषा बनी रहती है कि श्रीकृष्ण केवल हमारे साथ ही क्रीड़ा करें।

राधाकिंकरीगणों के स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में हम देख चुके हैं कि इन राधाकिंकरी



गणों के सेव्य प्राणनाथ श्रीकृष्ण नहीं अपितु स्वामिनी श्री राधा ही हैं। रसिकवर श्री श्यामसुन्दर स्वामिनी श्री राधा के प्राणनाथ हैं—इस मधुर सम्बन्ध की दृष्टि से उन्हें भी श्री राधा की भाँति परम प्रियतम मानती हैं—अन्तराशय यह कि श्यामसुन्दर से इनका मधुर भाव सम्बन्ध नहीं है—ये दोनों को ही अपना प्रियतम मानती हैं<sup>१</sup>। दोनों लाड़िलों का सस्नेह लाड़-प्यार और दुलार करके अपना हृदय शीतल करती हैं। ये किंकरीगण अपने सेव्य रसिक युगल को अन्य-अन्य मधुर केलियों के साथ सुरत केलि करने की प्रेरणा देती हैं और उन दोनों की सुरत केलि का निकट दर्शन करके आनन्द मग्न होती हैं। परमाश्चर्य तो यह है कि प्रतिक्षण गौर-श्याम की प्रेम केलि देखकर भी इनके चित्त में कामोदय नहीं होता। राधाकिंकरीगणों के इस प्रकार के महोदार माधुर्य भाव को देखकर यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इनका मधुर भाव लोक वेद में विख्यात मधुर भाव से पृथक् और महा विलक्षण ही है। श्री हिताचार्य और उनके अनुगतानुगतों की रस वाणियों में ही इसका निकट दर्शन है।

### ५.३.७. 'राधाकिंकरीभाव' की उपलब्धि कैसे हो ? :

'भाव' का दूसरा नाम सम्बन्ध है। भक्ति सम्प्रदाय के उपास्य श्री राम या श्री कृष्ण के प्रति भक्त का जो प्रेम सम्बन्ध दिखाई देता है; वही उपासना के क्षेत्र में 'भाव' संज्ञक कहा जाता है। यथा—श्री हनुमान जी का या गो. तुलसीदास जी का भगवान श्री राम से जो प्रेम सम्बन्ध है वही 'दास्य भाव' नाम से अभिसंज्ञात है। श्री सूरदास-नन्ददासादि भक्तगणों का श्रीकृष्ण के साथ जो प्रेम सम्बन्ध है वही 'वत्सल भाव' और 'सख्य भाव' नाम से अति ख्यात है। श्री चैतन्य देव, रूप-सनातनादि गौड़ीय भक्तों का श्रीकृष्ण के साथ जो मधुर सम्बन्ध है वही 'गोपी भाव' किंवा 'कान्तभाव' कहकर प्रकीर्तित किया गया है। इन भावों के द्वारा ही इन भक्तों को अपने-अपने इष्ट की प्राप्ति हुई है।

यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि इन भक्तों को ये भाव कैसे प्राप्त हुए ? 'भाव' किसी बाजार में उपलब्ध होने वाली कोई वस्तु विशेष नहीं है। वह तो इष्ट का रूप और इष्ट की लीलाओं के कथन-श्रवण से भक्त-हृदय में उदित होता है। जिन भक्तों का हृदय उपर्युक्त भावों से अनुभावित हो गया है—ऐसे भक्तों का निरन्तर संग और सेवन करने से ही तत्-तत् भाव प्राप्त होते हैं।

१. विहरत दोऊ प्रीतम कुंज। अनुपम गौर-श्याम तन शोभा वन वरषत सुख पुंज।

नन्ददास, अलिभगवान आदि अनेक भक्तों का जीवनवृत्त भी इस तथ्य की साक्षी देता है कि लीला देखकर या उस भाव के भावक का संग करने से भाव परिवर्तन हो गया था<sup>१</sup>। बहुत अधिक स्पष्ट है कि किसी भी भाव की उत्पत्ति और उपलब्धि—उस भाव से प्राप्त होने वाले इष्ट के रूप तथा लीला का कथन-श्रवण, उस भाव के भावकों [भक्तों] का निरन्तर संग, सेवन और उनकी कृपा पर ही निर्भर है।

इसी प्रकार राधाकिंकरीभाव की उपलब्धि मूलतः राधाकिंकरीगणों की कृपा पर ही निर्भर है। सम्भवतः इसीलिए श्रीहिताचार्य ने राधाकिंकरीगणों के स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में यह उद्घोष किया है कि मैं उन राधामनुधावतीं किशोरियों की भावना करता हूँ—

लीलापाङ्ग.....श्री राधामनुधावतीं ब्रजकिशोरीणां घटां भावये<sup>२</sup>।

राधाकिंकरीगणों की कृपा प्राप्त करने के लिए राधाकिंकरी भावानुभावित रसिकों का संग, उनकी सेवा; साथ ही श्यामा-श्याम के लीलामय रूप और रूपमयी लीलाओं का कथन-श्रवण भी परमावश्यक ही नहीं अनिवार्य है। हित ध्रुवदास जी ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

“.....एक ने कही कि यह लाड़िली-लाल जू कौ अद्भुत निकुंज माधुरी कौ रस सबते दुर्लभ-दुर्घट है, तासौं प्रेम कैसैं उपजै ? कौन उपाय-कौन साधन ? मूल तौ कृपा रसिक भक्तन की; जिनसौं संग मन-वच-क्रम करि करै निशि-दिन। अरु रसमई भजन के अभ्यास में रहै। और कठिन कलेश साधन सौं न बनै। यह रस अति कोमल है।.....सर्वोपरि साधन यह है जो रसिक भक्त हैं तिनकी चरन-रज बन्दै। तिनसौं मिलि किशोरी-किशोर जू के रस की बातें कहै-सुनै निशि-दिन। अरु पल-पल उनकी रूप-माधुरी विचारत रहै। यह अभ्यास छाँड़ै नहीं, आलस ना करै। तौ रसिक भक्तन कौ संग ऐसौ है जो अवश्य ही प्रेम कौ अंकुर उर में उपजै.....। संग ते कृपा अरु कृपा ते संग.....या सिद्धान्त पर और कछु नाहीं<sup>३</sup>।”

१ [क]. कहा कमी रघुनाथ में, छाँड़ी कुल की कान। मन व्यभिचारी है गयौ, सुनि मुरली की तान॥

— दो सौ वा. वै. की वा. से उद्धृत, नन्ददास जी की वार्ता

[ख]. अलिभगवान राम-सेवा सावधान मन, वृन्दावन आये कछु औरै रीति भई है।

देखे रासमण्डल में बिहरत रस-रास, बाढ़ी छवि प्यास दृग सुधि-बुधि गई है॥

नाम धरि रास औ बिहारी सेवा प्यारी लगी, खगी हिय मौझ गुरु सुनी बात नई है।

विपिन पधारे आप जाय पग धारे शीश, ईश मेरे तुम सुख पायौ कहि दई है॥

— भ. मा. टी., टी.-प्रि. दा. छं. सं. ३७६

२. रा. सु. नि., श्लो. ८६

३. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., सिद्धान्त विचार



रसिक अनन्य मालादि रसिक चरित्र ग्रन्थों में वर्णित हरिरामव्यास जी, सेवक जी, चतुर्भुजदास जी, परमानन्ददास जी, गंगा बाई, जमुना बाई, प्रबोधानन्द सरस्वती, अलि भगवान आदि-आदि रसिकों के जीवन चरित्र भी ये बताते हैं कि ये सभी रसिक राधाकिंकरी भावानुभावित रसिकों के सत्संग से ही राधाकिंकरीभाव से की जाने वाली रसोपासना में संनिष्ठ हुए थे<sup>१</sup>।

सारांशतः अन्तराशय यह है कि 'राधाकिंकरी भाव' की प्राप्ति राधाकिंकरीगणों की भावना करने—अर्थात् इनके भाव को अपना भाव बनाकर—सब प्रकार से इनका अनुगमन करने—से ही होगी और यह कार्य राधाकिंकरी भावानुभावित हृदय रसिकों की कृपा से ही संभव है।

### ५.३.८. राधाकिंकरी रूप की प्राप्ति कैसे हो ? :

उपासना के मूलाधार—राधाकिंकरी रूप की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? इस सम्बन्ध में श्री हिताचार्य का सुस्पष्ट उल्लेख तो प्राप्त नहीं है किन्तु राधाकिंकरीगणों का स्वरूप निर्देश करते हुए उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि मैं उन राधामनुधावतीं ब्रजकिशोरियों की भावना करता हूँ —

लीलापाङ्ग.....श्री राधामनुधावतीं ब्रजकिशोरीणां घटां भावये<sup>२</sup>।

श्रीहिताचार्य कृत इस सूत्र वाक्य में अन्तर्गर्भित गूढ़ार्थ को समझने के लिए उनके उपास्य और उनकी नित्य लीला—क्रीड़ा पर दृष्टि डालना अनिवार्य है। उनका परमोपास्य 'प्रेम' है। 'प्रेम' की सम्पूर्ण लीला-क्रीड़ा प्रीति की प्रेरणा पर ही निर्भर हैं; किंवा प्रीति की भूमिका पर ही आधारित हैं। इन लीलाओं को देखकर प्रीति [प्रीतिस्वरूपा सखियाँ] ही तुष्ट-पुष्ट हुआ करती हैं। इस प्रकार से यह 'प्रीति' ही इस बिहार की स्रष्टा-द्रष्टा और आधारभूता है। तात्पर्य यह कि नित्यबिहार का दर्शन करने के लिए प्रीति स्वरूपा होना अनिवार्य है। यह 'प्रीति' ही प्रेम देश में अनन्त राधाकिंकरीगणों के रूप में प्रत्यक्ष है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने इनकी भावना की है और भावना [अर्थात् इनके स्वरूप को अपना स्वरूप और इनके भाव को अपना भाव अनुभव] करने की प्रेरणा प्रदान की है। इसी प्रेरणा में यह भी ध्वनित कर दिया है कि इनके स्वरूप की स्वस्वरूपानुभूति तथा इनके भाव की उपलब्धि एकमात्र इनकी कृपा पर ही निर्भर है। अतः इन्हें इस रस की स्वत्वाधिकारिणी और एकमात्र दात्री समझकर इनकी शरण ग्रहण करो। परवर्ती

१. र. अ. मा., भ. मु., व्यासजी, सेवकजी, गंगा-जमुना बाई, परमानंद, प्रबोधानन्द जी आदि की परचई

२. रा. सु. नि., श्लो. ८६

अनेक हित रसिकों ने श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों के आधार पर इसी तथ्य की पुष्टि की है। हित ध्रुवदास जी ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

“सखियन कौ प्रेम सर्वोपरि है.....इनकौ भाव धरि याही रस की उपासना में कपट छाँड़ि, भ्रम छाँड़ि निशि-दिन मन दै विचार में रहै<sup>१</sup>।”

तिन सखियन की कृपा मनाऊँ। या रस कौ कनिका जौ पाऊँ<sup>२</sup>।।

सखियन शरण भाव धरि आवै। सो या रस के स्वादहि पावै<sup>३</sup>।।

### ५.३.६. राधाकिंकरी रूप से स्वेष्ट-सेवा :

गो. हित हरिवंशोदित प्रेमोपासना का चरम लक्ष्य है—इस शरीर को त्यागकर अपने निज रूप राधाकिंकरी रूप से<sup>४</sup> श्यामा-श्याम की निरन्तर सेवा करना। उपासक अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर सके इसके लिए श्री हिताचार्य ने विधान किया है कि उपासक शरीर में प्राण रहने तक तन-मन-धन से अपने इष्ट की सेवा में निरन्तर संलग्न रहे। सेवा में निरन्तर संलग्न रहने से जीवनान्त के अन्तिम क्षणों में भी उपासक का मन वहीं उपास्य श्यामा-श्याम की सेवा में लगा रहेगा। इस प्रकार से निरन्तर सेवा संलग्न उपासक देह त्यागने पर सुनिश्चित रूप से अपना निज रूप प्रीति स्वरूपा राधाकिंकरी रूप—प्राप्त कर लेगा और श्यामा-श्याम की सेवा करके परम सौभाग्यशाली हो जायेगा। लक्ष्य-प्राप्ति के इस उपासना विधान को श्री हिताचार्य ने अपने जीवन में आचरित आचरणों द्वारा तथा अपने ग्रंथों में शब्दतः प्रकट किया है<sup>५</sup>। श्री हिताचार्य द्वारा प्रकट इष्ट-सेवा का यह विधान दो रूपों में देखा जाता है। मानसी सेवा और प्रगट सेवा। श्री हिताचार्य द्वारा समाचरित इन दोनों प्रकार की सेवा पद्धतियों के स्वरूप पर आगे के पृष्ठों में विस्तृत रूप से प्रकाश डालेंगे।

### ५.३.६.१. मानसी सेवा या मानसी भावना :

#### ५.३.६.१.१. मानसी सेवा क्या है ? :

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी के “आज्ञा सम न सु साहिब सेवा”<sup>६</sup> इस कथन के अनुसार स्वामी की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना ही सेवा है। आज्ञा पालन करना

१ से ३. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., सिद्धान्त विचार, प्रेमलता, छ. सं. ६७, रति मंजरी, छ. सं. ७८

४. सर्वलोक महाश्चर्य सुकुमारान्नि ते कथम्। त्वत्प्रसादात्प रूपेण बिना स्यादमजनमया।।

— रा. उ. सु. नि., कृ. च. गो., श्लो. ११

५. रा. सु. नि., श्लो. २६१

६. रा. च. मा., गो. तु. दा.



तो सेवा है ही; किन्तु बिना आज्ञा के ही स्वामी की रुचि अनुसार स्वामी को सुख पहुँचाने वाली सेवक की प्रत्येक क्रिया ही वास्तविक सेवा है। यह सेवा जब स्वामी की आज्ञा-पालन मात्र तक ही सीमित रहती है तब वह 'नौकरी' या 'ड्यूटी' [कर्तव्य पालन मात्र] ही कही जाती है। क्योंकि तब तक उन दोनों [स्वामी और सेवक] में प्रीति का सम्बन्ध नहीं होता; किन्तु जहाँ पर उन दोनों में प्रीति-सम्बन्ध स्थापित होता है वहीं पर सेवा का सर्वाङ्गीण स्वरूप विकसित होता है। तब वह 'सेवक' क्रीतदास से भी उन्नत बिना मोल का चेरा हो जाता है। क्योंकि उसके दास्य भाव [स्वामी और सेवक को जोड़ने वाले सम्बन्ध सूत्र] में प्रीति के तत्त्व भी दिखाई देते हैं—केवल रीति और भीति के तत्त्व ही नहीं। सम्भवतः इसीलिए दास्य भाव प्रीति की एक परणति विशेष 'दास्यारति' नाम से अभिसंज्ञात है। इसी प्रीति की प्रेरणा से किये गये सेवक के प्रत्येक कार्य को परिचर्या, दास्य या सेवा कहा जाता है।

श्री हिताचार्य ने सेवा के दो रूप प्रगट किये हैं—मानसी सेवा और प्रगट सेवा। जो सेवा केवल मन के द्वारा ही की जाती है, किसी बाह्य उपादानों पर आधारित नहीं होती, उसे मानसी सेवा कहते हैं। इस सेवा में सेव्य रूप, सेवा की सम्पूर्ण सामग्री और सेवक रूप; भाव-भावना द्वारा ही संसृष्ट होते हैं। अर्थात् उपासक भौतिक देह से सर्वथा पृथक्, मनोभाव द्वारा निर्मित भाव देह किंवा रस वपु राधाकिंकरी रूप में स्थित होकर ही सम्पूर्ण सेवा कार्य करता है। शारीरिक इन्द्रियों से सर्वथा अनपेक्ष केवल मन के भावों द्वारा की जाने के कारण ही यह सेवा 'मानसिक सेवा' किंवा 'मानसी भावना' नाम से अभिसंज्ञात है। इस मानसी सेवा में उपास्य का रूप भी भावना भावित होता है। भावना भावित यह रूप निराकार और साकार इन दोनों स्वरूप सीमाओं से विमुक्त होता है। सेवा की सम्पूर्ण सामग्री भी भाव-भावना द्वारा ही निर्मित होती है इसीलिए यह मानसी सेवा 'मानसी भावना' नाम से भी संरूढ़ हो गई है।

### ५.३.६.१.२. मानसी सेवा और ध्यान :

'भावना' नाम से संरूढ़ यह मानसी सेवा 'ध्यान' से मिलती जुलती अवश्य है और 'ध्यान' नाम से कही सुनी भी जाती है किन्तु वास्तव में यह 'ध्यान' से सर्वथा भिन्न है। 'ध्यान' पूर्व परिचित एकाकृत रूप विशेष का होता है, अदृष्ट और अनाकृत रूप का नहीं। किन्तु भावना भावित रूप—पूर्व परिचित एक आकृति विशेष में आबद्ध नहीं होता। मानसी सेवा का सेव्य रूप [भावना भावित रूप] भावक द्वारा ही निर्मित; नित्य नूतन होता है।

भावना भावित रूप—संकल्प-विकल्प स्वरूप मन, प्रज्ञा, रूप, बुद्धि और आत्मा को प्रच्छन्न करने वाले अहं का विषय न होने के कारण न तो वह कल्पना ही है और न 'ध्यान'। वह तो सान्द्रानन्दाकृत रूप है जो कि निराकार होते हुए भी साकार और साकार होते हुए भी निराकार होता है। बाह्य इन्द्रियों का विषय न होते हुए भी भावक अपने निज रूप [भावना भावित रूप] द्वारा उस रूप के मार्दव, सौगन्ध्य, गौरता, श्यामता तथा अंग प्रत्यंगों के सौन्दर्य का अनुभव करता है। श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की रस वाणी में वर्णित उपास्य का रस केलि परायण नित्य नवल रूप ही इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण है। इस प्रकार यह 'मानसी सेवा' ध्यान और कल्पना से भिन्न ही है।

'ध्यान' में ध्याता द्वारा [स्थूल देह से भिन्न] किसी एक भाव देह में स्थित होने की भावना नहीं की जाती और न 'ध्यान' में ध्याता द्वारा ध्येय की कोई सेवा ही की जाती। हाँ, दर्शक रूप से भगवान के रूप और लीलाओं का चिन्तन मात्र अवश्य किया जाता है। 'मानसी भावना' में भावक अपने निज रूप का मन द्वारा निर्माण करता है। जो कि भावना द्वारा संसृष्ट लीलाओं का दर्शक मात्र ही नहीं होता प्रत्युत इन लीलाओं का अभिन्न अंग भी बना रहता है। इतना ही नहीं कभी वह उन लीलाओं का विधायक और कभी संचालक बनकर अपने इष्ट की सेवा भी किया करता है। श्री हिताचार्य और तदनुगत रसिकों की रस वाणियाँ इस तथ्य का मुखर प्रमाण हैं। यह भी अविस्मरणीय है कि भावक जिस भाव देह का निर्माण करता है; वह सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य द्वारा निर्धारित जीव का नित्य सिद्ध वपु ही होता है जो प्रत्यक्ष में श्री गुरु-चरणों द्वारा उपदिष्ट होता है। भावक की यह विशिष्ट क्रियायें ही 'मानसी भावना' को 'ध्यान' से अलग करती हैं।

### ५.३.६.१.३. मानसी सेवा का वैशिष्ट्य :

ध्यान करना जिन-जिन उपासनाओं में स्वीकार है और जिन-जिन शास्त्रों में वर्णित है; उन सभी साधन मार्गों व सभी शास्त्रों में 'ध्यान' द्वारा प्राप्तव्य भूमिका को 'समाधि' नाम से प्रकीर्तित किया गया है। 'मानसी भावना' इस चरम सिद्धि की भूमिका को पार करने पर प्रारम्भ होती है। प्रेम की परिपक्व दशा में धारणा, ध्यान और समाधि अपने विशिष्ट रूप में समाहित और परिलक्षित होती हैं—

धारणा-ध्यान-समाधि तिनके प्रेम में सब पाइये<sup>१</sup>।

यह मानसी सेवा सम्पूर्णतः मन के आधीन है। मन प्रकृतितः चंचल और विषयानुगामी



है। अतः यह सेवा सर्व साधारण के लिए अशक्य ही है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने इष्ट की प्रकट सेवा [श्रीराधाबल्लभलाल जी की मन रुचिती श्री विग्रह सेवा] का भी संविधान किया है; साथ ही स्वयं उसे अपने जीवन में आचरित करके<sup>१</sup> प्रत्येक रसोपासक रसिक को भी नित्य प्रति यह अष्टयामी सेवा करने की पुन्य प्रेरणा प्रदान की है। गोस्वामी वृन्दावनदास जी ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

भावना मनसोऽधीना मनस्तु विषयानुगम्। चेन्नसिद्धयेदियं रीतिस्तत्रो पायमथाचरेत्॥  
स्वस्याभिमत रूपेण कृत्वा प्रतिकृतिं प्रभोः। तस्यां परिचरेन्नित्यं स्निह्यान्विम्यदति क्रमात्॥  
स्थापयेद्दामभागेतु प्रेयस्या आसनं प्रभोः। तदीयं परिचर्याहृद्रव्यं तत्रैव विन्यसेत्<sup>२</sup>॥

‘प्रगट सेवा’ स्थूल देह और देश-काल में आवद्ध होती है। अतः सेवा-कार्य समय पर ही पूरा करने के लिए तन के साथ मन भी सेवा-कार्यों में लगा तो रहता है किन्तु वह कभी बाहर जा भी सकता है। मानसी सेवा [भावना] में मन को बाहर जाने का अवकाश नहीं रहता; क्योंकि वह ‘भावना-देश’ का स्वयं ही निर्माता है; उसका प्रेरक और संचालक भी है। सारांशतः प्रगट सेवा में तन ही स्थिर होता है; किन्तु मानसिक सेवा में तन और मन दोनों ही स्थिर हो जाते हैं।

‘प्रगट सेवा’ में अष्टयाम सेवा के अन्तर्गत आने वाली वन बिहार की विभिन्न लीलायें, जल विहार, गेंद क्रीड़ा तथा रासलीला आदि लीलाओं के दर्शन और तल्लीलाओं की विविध सेवायें करने का शुभावसर प्राप्त नहीं होता। ‘मानसी भावना’ में इन सभी लीलाओं के दर्शन तथा सेवा करने का अवसर भी सहज ही प्राप्त हो जाता है।

### ५.३.६.१.४. मानसी सेवा का संविधान और प्रक्रिया :

श्री हिताचार्य के उपासना संविधान में उपास्य और उपासक दोनों ही रस स्वरूप हैं। यह उपासना रस स्वरूप होकर [अपने को रस स्वरूप राधाकिंकरी मानकर] ही की जा सकती है। तभी इस रसोपासना की चरम सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इस रूप की उपलब्धि ही इस रसोपासना की चरम सिद्धि है। श्री हिताचार्य ने अपनी अभिलाषा कथन व्याज से यह विधान भी किया है कि इस राधाकिंकरी रूप की अनुभूति इस जीवन में कर लेने पर ही शरीरान्त होने पर इस रूप की प्राप्ति और रस रूप युगल की सेवा

१. सेवा की पद्धति विस्तारी। सात भोग रितु-रितु अनुसारी॥

पाँच आरती आठौ जाम। समय-समय भावना सु धाम॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. १३४, १३५

२. अ. नि., वृ. दा. गो., श्लो. सं. १८ से २०

का अधिकार संभव है<sup>१</sup>। आशय यह कि जब तक उपासक इसी जीवन में स्व स्वरूपस्थ होकर [श्री राधा किंकरी भावानुभावित हृदय होकर] अपने इष्ट की सेवा करने का सतत अभ्यास नहीं करेगा; तब तक उसे शरीरान्त होने पर राधाकिंकरी रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि सहज स्वभावानुसार दैनिक अभ्यास करने पर शरीरान्त समय में मन की जहाँ पर स्थिति होती है; जीव को उसी रूप की प्राप्ति होती है।

इस जीवन में [भौतिक शरीर में] निज रूप—‘राधाकिंकरी रूप’ में स्थित होना और सान्द्रानन्दाकृत रस रूप युगल की सेवा करना असम्भव है। यह तो मन की भाव-भावना द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए श्री हिताचार्य ने इस जीवन में [भौतिक शरीर की स्थिति काल में] ही मानसी भावना द्वारा इष्ट की मानसी सेवा करने का संविधान अपनी अभिलाषा कथन व्याज से इन शब्दों में किया है—

श्री राधा पादारविन्दोच्छलित नव रस प्रेम पीयूष पुंजे।  
कालिन्दी कूल कुंजे हृदि कलित महोदार माधुर्य भावः।  
श्री वृन्दावण्य वीथी ललित रति कला नागरी तां गरीयो।  
गम्भीरैकानुरागां मनसि परिचरन् विस्मृतान्यः कदास्याम्<sup>२</sup>।

[श्री राधा-चरण-कमल से उच्छलित नवीन रस और प्रेमामृत समूह स्वरूप श्रीयमुना तटवर्ती कुञ्ज में, हृदय में परम सुन्दर अत्यन्त उदार और महामधुर भाव धारण करके, गम्भीर तथा उत्कृष्ट अनुराग शालिनी ललित रति कला सम्पन्न उन नागरी की श्रीवृन्दावन वीथी में मानसी सेवा करता हुआ मैं कब अन्य सब कुछ भूल जाऊँगा।]

श्री हिताचार्य ने अपने इसी अन्तराशय को पुनः स्पष्ट करते हुए यह भी कहा है कि मैं एकमात्र ‘प्रेममत्ताकृत’ होकर अदभुत रसमय श्री राधा की केलि-कलाओं के साक्षी रूप पावन श्री वृन्दावन में कब भली-भाँति निवास करूँगा तथा शरीरस्थ नेत्रादि इन्द्रियों को तेजपूर्ण निकुंजों में ही लगाता हुआ अपने तदवत तेजमय भावानुरूप दिव्य कोमल वपु को देखूँगा—अर्थात् भावना में अपने रूप को देखूँगा—

राधा केलि कला सु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने।  
वत्स्यामि स्फुट मुज्वलाद्भुत रसे प्रेमैक मत्ताकृतिः।  
तेजो रूप निकुंज एव कलयन् नेत्रादि पिण्डास्थितं।  
तादृक्स्वोचित दिव्य कोमल वपुः स्वीयंसमालोकये<sup>३</sup>।



श्री हिताचार्य ने इसी आशय को और भी सुस्पष्ट करते हुए अन्यत्र यह भी कहा है कि—अपनी स्वामिनी के द्वारा प्रेमपूर्वक अपने ही कर-कमल से दी हुई, प्रसादी ओढ़नी तथा वक्षस्थल पर कंचुकि को धारण करती हुई अनेक प्रकार की सेवाओं में निपुण, नित्य समीप स्थित क्या इस जीवन में अपने आप को सुकुमारी किशोरी रूप में निश्चय रूप से अनुभव करूँगी? अर्थात् 'विस्मृतान्यः कदास्याम्' इस शरीर के साथ अन्य सभी को भूलकर—मैं अपने को राधाकिंकरी रूप में अनुभव करूँगी। [मानसी भावना द्वारा अपने राधाकिंकरी रूप को देखूँगी।]

मानसी सेवा का उपर्युक्त संविधान श्री हिताचार्य की वाणी में तो मिलता ही है; उनके जीवनवृत्त से भी परिपुष्ट होता है कि वे सेवाकुंज, जमुनापुलिन और मानसरोवर आदि एकान्त स्थलों में जाकर नित्यप्रति मानसी भावना किया करते थे और प्रेम विग्रह श्यामा-श्याम को नव-नव लाड़ लड़ाया करते थे—

काहू द्यौस पुलिन में ऐसैं। करत भावना हित जू वैसैं॥  
 औचक नरपति आयौ तहाँ। विनती करिकैं पूँछी तहाँ॥  
 मगन अवस्था जहँ तुम रहौ। हम पर कृपा करौ सब कहौ॥  
 कहौ आप अब हम ह्यौ नाँहीं। उत्तर सुनि समुझ्यौ मन माँहीं॥  
 कर जोरे विनती करी मो कृत भयौ विछेद।  
 क्षमा करौ अपराध कौं जान्यौ मैं यह भेद२॥

श्री हिताचार्य की 'मानसी भावना' साधनावस्था की 'भावना' मात्र ही नहीं थी प्रत्युत वह सिद्ध कोटि की थी। अर्थात् यह मानसी भावना उनके परमाराध्य और परम साध्य श्यामा-श्याम के प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हो गई थी। प्रत्यक्ष और भावना का भेद ही निरस्त हो गया था। उनके आचार्य जीवन का एक संस्मरण इस तथ्य का मूर्त प्रमाण है।

एक दिन सेवाकुंज में बैठे हुए श्री हिताचार्य ने संध्या के समय मानसी भावना में श्यामा-श्याम को अनेक प्रकार की मेवायें अर्पित की थीं। श्यामा-श्याम ने प्रगट होकर कहा कि तुम्हारे द्वारा समर्पित मेवा मात्र से हमारी तुष्टि नहीं होगी; क्योंकि इस समय भूख बहुत जोर से लगी है। श्री हिताचार्य ने कहा अवश्य ही लगी होगी क्योंकि तुमने राजभोग में भोजन नहीं किये थे और कहा था कि हम सेवाकुंज में भोजन करेंगे। यह कहकर अपने हाथों से ही प्रत्यक्ष में भोजन कराया—

१. रा. सु. नि., श्लो. ५२, प्र. पृ. सं. ३७३

२. श्री ह. च., उ. दा., नृपति प्रसंग

सेवा करि पौड़ाइ प्रभु पुनि एकान्तहि जाइ।

रहत भावना में पगे नव-नव लाड़ लड़ाइ॥

इक दिन बैठे हे कुंज सेवा। अर्पन करी ध्यान में मेवा॥

कह्यौ प्रत्यक्ष आइ दोऊ जन। हमको भूख लगी है इहि छिन॥

कह्यौ लेहु मैं पहिलैंही लायौ। घर तौ भोग तुमन नहिं पायौ॥

तब तुम कही कुंज मधि जैहैं। कुसुम खेल करि पाछैं खैहैं॥

लियें सकल सामग्री आयौ। भोजन करहु जु मन कौ भायौ॥

ख्वाइ-प्याइ जल-बीरी दीनी। तत्सुखसुखी रहति मति भीनी॥

हित वाणी में प्राप्त 'इष्ट की इसी जीवन में मानसी सेवा करने का सूत्रात्मक संविधान' हित ध्रुवदास जी तथा वृन्दावनदास जी ने निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है—

यह रस जो मन-वच कै गावै। निश्चय सो सहचरि पद पावै॥

इनहीं नैननि सब सुख देखै। जनम सुफल अपनों करि लेखै॥

नित्यां स्वारसिकीं लीलां मनसा संस्मरेत्प्रभोः।

शैय्या रोहणतः पूर्वं परां शैय्यावरोहणात्१॥

[प्रभु की शैय्या पर विराजमान होने से पहिले की और शैय्या से उठने के पीछे की [अर्थात् मंगला से शयन तक की] अन्तरंग माधुर्य रस भरी नित्य की [अष्टयाम सेवा की] लीला को मन से अच्छी प्रकार स्मरण करे।]

मानसी सेवा की परम्परा श्री हिताचार्य से प्रारम्भ होकर अद्यावधि अक्षुण्ण रूप से गतिवान है। आचार्य चरण के शिष्य-प्रशिष्यों के चरित्र इस तथ्य को प्रमाण पुष्ट बनाते हैं<sup>४</sup>। श्री हिताचार्य प्रणीत मानसी सेवा सम्बन्धी उपर्युक्त सूत्र वाक्यों का आधार पाकर भावना परायण रसिकों ने भी अष्टयामी मानसी सेवा के क्रम पर प्रकाश डाला

१. श्री ह. च., उ. दा., कुंज सेवा प्रसंग

२. ब्या. ली., रसानंद लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १२३, १२४

३. अ. नि., गो. वृ. दा., श्लो. सं. १७

४. इष्ट धाम कौ भेद चितायौ। नरवाहन त्योंही मन लायौ॥

सेवा करन लग्यौ मन लाइ। करत भावना नहीं अघाइ॥

— र. अ. मा., भ. मु., नरवाहन जी की परचई

विशेष ज्ञातव्य — 'रसिक अनन्यमाल' में वर्णित अन्यान्य रसिकों की परचई तथा 'श्री हरिवंश चरित्र', 'रसिक अनन्य सार', 'रसिक अनन्य परचावली', 'बसन्त प्रबंध', 'हित रूप चरित्र बेली', 'रसिक भक्त गाथा' आदि वाणी ग्रंथ भी इस सम्बन्ध में अवलोकनीय हैं।



है। हित ध्रुवदास जी ने मानसी सेवा की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है कि जब नित्य प्रति तिय के तन का भाव धारण करके मानसी सेवा करेगा; तभी युगल महल की टहल करने का अधिकार प्राप्त होगा—

प्रथमहिं मज्जन कीजिये सौरभ अंग लगाइ।  
ता पाछें रचि पचि करै सुन्दर तिलक बनाइ॥  
तिय के तन कौ भाव धरि सेवा-हित सिंगार।  
जुगल महल की टहल कौ तब पावै अधिकार॥  
नारी किंवा पुरुष हो जिनकै मन यह भाव।  
दिन-दिन तिनकी चरन-रज-लै लै मस्तक लाव॥  
दुलहिनि-दूलह छवि झलक तहँ राखै दोऊ नैन।  
भाव तरंगनि मन-रँगै सुनत मधुर-मृदु बैन॥  
लाल-लड़ैती केलि कल अद्भुत प्रेम विलास।  
तिनही के रँग रँगि रहै सबते होइ उदास॥

यहाँ पर यह अविस्मरणीय है कि हित ध्रुवदास जी ने उपर्युक्त दोहों में केवल तिय के तन का ही भाव धारण करने का आदेश दिया है; तिय के मन का नहीं; क्योंकि नारी-मन में काम का चिर स्थाई निवास माना गया है जो कि किसी भी दम्पति की काम केलि देखकर उद्दीप्त हो जाता है। प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम के नित्यबिहार में पुरुष मन के साथ-साथ नारी-मन का भी प्रवेश निषिद्ध है। यह लीला बिहार तो केवल प्रेम मूर्ति राधाकिंकरीगण ही अथवा इनके भाव को अपने मन में धारण करने वाले रसिकगण ही देख सकते हैं। उपर्युक्त दोहों में यह भी अविस्मरणीय है कि हित ध्रुवदास जी ने “तिय के तन कौ भाव धरि” इन शब्दों द्वारा केवल भावतः ही तिय के शृंगार का आदेश दिया है। लहँगा, सारी, कंचुकी, नथ आदि पहनकर तिय ही बन जाने का नहीं। इस अन्तर्भाव को न समझ सकने के कारण कुछ व्यक्ति अठारहवीं शताब्दी में सखी बनकर [सारी, लहँगा, नथ, बेसरादि पहनकर; नारी शृंगार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर] डोलने लगे थे। गो. दामोदरवर जी के शिष्य प्राणनाथ जी द्वारा लिखे गो. दामोदर जी के जीवन संबंधी कतिपय संस्मरणों से ज्ञात होता है कि गो. दामोदरवर जी ने ऐसे व्यक्तियों की कटु आलोचना की थी। छन्द निम्नांकित हैं—

कोऊ जीव अनसमझ तिलक द्वै बैंदी देंहीं।  
गुरु निन्दा करवाइ यहै अघ पुंजनि लैंहीं॥

जो कहिये यह भाव धर्म मन ही कौ आही।  
 तौ कहि तरकन लगैं क्यों जु ? शिक्षा नहिं ताही॥  
 कोउ कहैं माला-मुद्रा ये हू मन में दीजै।  
 निंदकजन ते डरपि प्रगट बाहिर कत कीजै ?  
 रे यह हरि कौ वेष प्रगट वेदन है गायौ।  
 ज्यों हरि जू कौ श्रूप प्रगट श्री गुरु पधरायौ॥  
 भाव विराजै सदा उपासकजन-मन माँहीं।  
 अरु ज्यों दूजे श्रूप प्रगट की आज्ञा नाहीं॥  
 त्यों निज भाव स्वरूप प्रगट काहू न दिखावै।  
 प्रभु जू जानत ताहि लोक-निन्दा न करावै॥  
 ह्वाँ सखियन कौ वेष सबै नख-शिख लीं सोहै।  
 डँडिया-लहंगा आदि खुभी नथ भूषन जोहै॥  
 ये शान्त भक्ति के चिन्ह तन्त्र मत प्रगट जु धारे।  
 मँहदी-अंजन बैंदी-जावक राखैं न्यारे॥  
 भाव-भावना गम्य धर्म मन ही कौ जानौ।  
 शान्त और शृंगार बिना सुमुझैं क्यों सानौ॥  
 श्री मुख यह श्लोक भाव की पुष्टि करन कौ।  
 पढ़ते बारंबार जीव अहंकार हरन कौ॥१॥

“स्त्री वा पुरुष वा”.....।

[कोई-कोई अज्ञानी जीव बिन्दी युक्त तिलक लगाकर उसमें एक विशेष बैंदी और लगाते हैं। वे इस [मनमुखी] कार्य से गुरु निन्दा कमाकर पाप ही कमा लेते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह एक भाव विशेष है तो यह धर्म उनका मनमुखी ही हुआ। तो वह अनेक प्रकार के कुतर्क करने लगते हैं; क्योंकि वे अशिक्षित हैं। वे यह तर्क करते हैं कि यह माला-मुद्रा आदि भी आप मन में ही क्यों नहीं धारण कर लेते। अरे यह तो हरि का वैसा ही प्रगट वेष वेदों ने गाया है जैसा कि हरि का [अचिन्त्य] स्वरूप श्री गुरुदेव ने प्रगट विराजमान किया है। और जो भाव है वह तो उपासक के मन में ही सदा विराजा करता है। और जैसे दूसरे [प्रिया-जू के] स्वरूप की प्रगट रूप से पधराने की आज्ञा नहीं है, उसी प्रकार से अपनी भावना का निज स्वरूप प्रगटतः किसी को नहीं दिखाना चाहिये। उसको प्रभु जानते ही हैं—दिखाकर लोकनिन्दा नहीं करानी



चाहिए। वहाँ [निकुंज धाम में] सखियों का नख-शिख वेष सारी, लहंगा, नथ, वेसरादि भूषणों से भूषित है। ये चिन्ह प्रगट में शान्त भक्ति वाले निर्गुण प्रेम पंथी और तान्त्रिक [वाम मार्गी शाक्त] लोग ही धारण करते हैं। मँहदी, अंजन, बैदी और जावक तक लगाया करते हैं। किन्तु यह धर्म यह भाव मानसी भावना गम्य ही है। शान्त और शृंगार का मार्मिक रहस्य समुझे बिना दोनों को एकमेक क्यों सानते हो ? और फिर उपर्युक्त बात को पुष्ट करने के लिए यह श्लोक बारम्बार कहा करते थे—“स्त्री वा पुरुष वा”]

गो. रूपलाल जी ने अपने ‘समय प्रबंध’ में आदेशात्मक शब्दों में लिखा है कि मानसी सेवारम्भ करने से पूर्व उपासक को चाहिये कि वह सर्वप्रथम मन-मन में यह भावना करे कि मेरा यह भौतिक तन बदल गया है। इसके पश्चात् मानसिक देह का निर्माण करे, फिर उस मनोनिर्मित वपु [राधाकिंकरी वपु] को सखी शृंगार से समलंकृत करे। अलंकृत करते समय यह भावना करे कि मुझे श्री स्वामिनी जी ने अपने प्रसादी वस्त्रालंकार दिये हैं, उन्हें मैं पहिन रही हूँ—

प्रथमहिं भावक भाव विचारै।

बनि तन नव किशोर सहचरि वपु हित गुरु कृपा निहारै।।

भूषन-वसन प्रसाद स्वामिनी पुलकि-पुलकि अँग धारै।

जै श्री रूपलाल हित ललित त्रिभंगी रंगी रस विस्तारै<sup>१</sup>।।

चाचा वृन्दावनदास जी ने भी मानसी सेवा की प्रारंभिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए बताया है कि स्वयं को राधाकिंकरी स्वरूप अनुभव करने के पश्चात् गुरु अली का अनुगमन करते हुए उन ललितादिक राधाकिंकरीगणों में जा मिले जो कि प्रभातकाल में श्यामा-श्याम के शैया भवन के रन्ध्रों में लगी हुई उनकी सुरतान्त शोभा का दर्शन कर रही होती हैं—

प्रथम भाव तन बदलि करै अपु वपु जु अलंकृत।

श्री व्याससुवन परसाद देह मानसी गढ़ै चित।।

अनुगत गुरुअलि यूथ होहि अस सेवा लाइक।

ललितादिक रुचि माँहिं रलै बहु प्रेम सु भाइक।।

निपट भुरहरैं अली युगल-मुख देखन लोभा।

लगीं रन्ध्र मग जाइ जहाँ वरषत अति शोभा<sup>२</sup>।।

१. स. प्र., रू. ला गो., प. सं. १

२. मं. जु. वि. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. ११, १२, १३

प्रेममूर्ति श्याम-श्याम की अष्टयामी प्रत्येक सेवा इसी प्रकार राधाकिंकरी ललितादिकों का अनुगमन करते हुए ही करनी चाहिए।

श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की रस-वाणियाँ रस का ही वाङ्मय स्वरूप हैं; जो मानसी भावना की आधार भूमिका, प्रेरिका और सहायिका हैं। नेही नागरीदास जी की जीवन परचई से ज्ञात होता है कि वे श्री हिताचार्य मुखोद्गलित वाणी के पदों के आधार पर मानसी भावना किया करते थे और अष्ट प्रहर नवल किशोर-किशोरी के नित्यबिहार में छके रहते थे—

हित जू की वानी में प्रान। हित वानी तजि सुनहिं न आन।।.....  
 वानी कौ कोउ इक पद कहैं। आठ प्रहर तामें छकि रहैं।।.....  
 जु कछु भावना करत जात हे। हित-पद में फूले न मात हे।।  
 नवल किशोर नवीन किशोरी। कहत भये ज्यों खेलत जोरी।।  
 चिवुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधित। तिन कर गदहन पग क्यों शोभित।।  
 सबके सुनत बात यह कही। उत्तम रीति रसिकजन गही।।

### ५.३.६.१.५. मानसी सेवा की महत्ता :

सेवा सम्बन्धी प्राप्त सामग्री के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य द्वारा समाचरित दोनों सेवा पद्धतियों में से मानसी सेवा पद्धति की अशक्यता तो स्वीकार की गई है किन्तु साथ ही उसकी महत्ता भी स्वीकार की गई है। भावना परायण नाम से विख्यात नेही नागरीदास जी ने इसे 'भीतरी सेवा' नाम से प्रकीर्तित करते हुए लिखा है कि "जब भीतरी सेवा में मन लग जायगा; तभी परमाराध्य यह स्वीकार करेंगे कि आराधक की रति आन्तरिक रति है और स्वामिनी श्री राधा भी उसे अपनी दासी स्वीकार करेंगी"—

भीतरी सेवा में मन मानै।

निपट निरन्तर अभिअंतर रति, तब हँसि प्रभु पहिचानै।।.....

नागरीदास वृषभानकुँवरि जू तिन्हें अपनौ करि जानै<sup>१</sup>।।

गो. सुखलाल जी ने दोनों प्रकार की सेवाओं का स्वरूप विवेचन करते हुए मानसी सेवा की ही महत्ता स्वीकार की है—

१. र. अ. मा., भ. मु., नागरीदास जी की परचई, छं. सं. ११, १३, २४ से २७

२. ने. ना. दा. की वा., ने. ना. दा., प. सं. ७३



ताते साधक वपु सदा करौ सु द्वै विधि जानि।  
 अन्तर-बाहर टहल सौं नित्य टहल मनमानि॥  
 अन्तर मन कौ कर्म है बाहर सेवा होइ।  
 बहुत सरस दोनों जबै नहिं तौ मानस भोइ॥  
 जो मानस आवै नहीं सेवा बाहर कीन।  
 सो साधक नर गौन है ताते मानस लीन॥  
 मानस कौं निशि-दिन करै गुरु-हित शरण अनन्य।  
 सो सब भक्तन में सरस जनम कस्यौ तिन धन्य<sup>१</sup>॥

लोकनाथ जी ने भी इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

गुरु उपासना मन्त्र जप, चित्त भावना लीन।  
 बातनि कारज ना सरै, इहि विधि पहुँचि प्रवीन<sup>२</sup>॥

गो. रूपलाल जी ने इस मानसी भावना को नित्यबिहार की प्रीति का प्रतीक जैसा अभिव्यंजित करते हुए उसे इस जीवन में ही श्री हित दम्पति के साक्षात्कार करने का उपाय और उपेय घोषित किया है—

नित्यबिहार सौं करि प्रीति।  
 ध्यान चित-चिंतत रहौ नित मानसी की रीति॥.....  
 जै श्री रूपलाल विलोकि दम्पति लखि जगत विपरीति<sup>३</sup>॥

गो. चन्द्रलाल जी ने तो पुरजोर शब्दों में यह घोषणा की है कि इस रूप [भाव देह] की साधना से ही उस रूप [अपने निज रूप राधाकिंकरी रूप] की उपलब्धि होती है—

इहि रूप साधन सौं उहि रूप सिद्ध होत.....<sup>४</sup>

लाङ्गिलीदास जी ने भावना संज्ञक मानसी सेवा का महत्व व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रगट सेवा घुटनों तक जल के समान, मानसी सेवा जंघा तक जल के समान और नित्य बिहार की [शरीर छोड़कर नित्य निकुंज में दासी रूप से] सेवा अमित जल के समान है। दूसरे शब्दों में प्रगट सेवा कूप जल के समान, 'भावना' नदी-जल के समान और नित्यबिहार की सेवा अमित जल वाले सागर के समान है—

१. भा. मृ., गो. सु. ला., छं. सं. ३ से ६

२. हि. चौ. टी., टी. लो. ना., प्रारंभिक दोहे, दोहा सं. १२

३. गो. हि. रू. वा., स्फुट पद, रू. ला. गो., प. सं. ३

४. वृ. प्र. मा., गो. च. ला., छं. सं. १०६

घोंटू-जंघा-अमित जल जमुना तीन प्रकार।  
 सेवा प्रगट अरु भावना जो सो नित्य विहार।।  
 प्रगट भाव जल कूप लौं नदी भावना जान।  
 तापर नित्य विहार रस ज्यों समुद्र रति मान<sup>१</sup>।।

इसी प्रकार गो. कमलनैन जी, अतिबल्लभदास जी, कृष्णदास जी भावुक, अनन्य अली जी, चाचा वृन्दावनदास जी, रतनदास जी, प्रीतमदास जी, राधिकाचरणदास जी आदि भावना परायण रसिकों ने अष्टयाम की मानसी सेवा पर विशेष बल देकर इसकी महत्ता स्वीकार की है।

### ५.३.६.२. प्रगट सेवा :

#### ५.३.६.२.१. प्रगट सेवा क्या है ? :

पार्थिव शरीर और जीवन में व्यवहृत भौतिक पदार्थों द्वारा निष्पन्न होने वाली इष्ट-सेवा का नाम ही 'प्रगट सेवा' है। 'प्रगट सेवा' पंच भौतिक शरीरस्थ जीवात्मा के द्वारा होने के कारण सेवक हृदयस्थ सेवा भाव की भूमि में—जीव और ईश के मध्य रहने वाले सेवक-स्वामी भाव का कथंचित आलोक आभासित होता है किन्तु वह सेवक हृदय की स्नेहिल-मयूषों से मण्डित होने के कारण माधुर्यमय ही बना रहता है। अर्थात् सेव्य [विग्रह] स्वरूप में ममता मूलक माधुर्य भाव ही चिर स्थायी बना रहता है।

#### ५.३.६.२.२. प्रगट सेवा का उद्देश्य व वैशिष्ट्य :

'मानसी सेवा' पूर्ण रूपेण मन पर ही आधारित होती है। परिणामतः नितान्त चंचल मन स्वतः ही आवद्ध बना रहता है किन्तु मन के चलित होने पर वह भी बन्द ही हो जाती है। संभवतः इसीलिए श्री हिताचार्य ने मन की इस चंचलता की उपेक्षा जैसी करके 'प्रगट सेवा' का विधान किया; जिससे उपासक का तन तो इष्ट की सेवा में निरन्तर लगा ही रहेगा और निरन्तर सेवा करते-करते मन भी अचंचल होकर इष्ट की सेवा में लग जायगा।

श्री हरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना अनन्यता प्रधान है। इसीलिए इस रसोपासना के उपासक की 'अनन्य' संज्ञा ही संरुढ़ है। किन्तु इस अनन्यता का सम्यक् पालन करना नितान्त कठिन होता है। 'प्रगट सेवा' विराजमान करके उस स्वरूप की अष्टयामी सेवा करते रहने से वह साधक अपने इष्ट के ही दर्शन करेगा, अपने इष्ट



का ही चरणामृत-उच्छिष्ट प्रसाद भोजन करेगा और उन्हीं के लीलामय रूप तथा रूपमयी लीलाओं का गायन करेगा। इस प्रकार से वह अपने अनन्य धर्म का पालन सहज में ही कर लेगा। संभवतः इस उद्देश्य से भी श्री हिताचार्य ने स्वयं तो 'प्रगट सेवा' विराजमान की ही और साथ ही निजानुगतों को 'प्रगट सेवा' विराजमान करने का आदेश भी दिया<sup>१</sup>। उनके अनुगतानुगतों की अविरल परंपरा में अनेक रसिकों तथा गोस्वामी वृन्दों के सेव्य स्वरूप तथा प्राचीन मन्दिर आज भी इस तथ्य को प्रमाण पुष्ट बनाते हैं<sup>२</sup>।

१. आज्ञा तिनकों दई गुसाँई। हरि-हरिजन सेवा पधराई॥

— र. अ. मा., भ. मु., गंगा-जमुना बाई की परचई

२ [क] नमो-नमो श्री राधा-मोहन।.....श्रीकृष्णदास प्रभु लाड़ लड़ाये सेवा में सहि सके न विछोहन॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प. सं. ५६

[ख] भक्ति कल्पतरु ते भई, शाखा त्रितिय अनूप। नाम श्री गोपीनाथ जू अति ही मोहन रूप॥ श्री रंगीलाल लड़ावहीं तात जु सेव्य स्वरूप। श्री व्याससुवन काढ़े सुहृथ प्रथमहिं ते मधि कूप॥ सुहृथ सदा सिंगारहीं अर्पहिं नाना भोग। समय-समय उत्सव सजैं जिहि रितु जैसौ जोग॥

— हि. भ. क., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ४८

[ग] भक्ति कल्पतरु की कहाँ शाखा चौथी एह। श्रीराधाबल्लभ जू कियौ तिनसौं परम सनेह॥ अतिलड़ श्री हरिवंश के नाम श्री मोहनलाल। अपने हाथ जिमावहीं प्रभु कौतिकी दयाल॥

— हि. भ. क., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ५८

[घ] स्वामी बड़े जानि मनि जानि। सब तजि सोइ रस कीजै गान॥

हवै विरक्त सेवा पधराई। सो सब विधि हित जू ते पाई॥

श्री कुंज बिहारिनि संग बिहारी। हित जू की पद्धति उर धारी॥

गादी मधि थापी सुकुमारी। सदन पुलिन में लखे बिहारी॥

— श्री ह. च., उ. दा., स्वामी जू कौ प्रसंग

[ङ] नमो-नमो प्रभु सदन उत्तंग। हरीदास तूँवर पधराये जुगल किशोर सु कमनी अंग॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प. सं. ६६

[च] नमो-नमो रसिकराय प्रभु प्यारे। श्री वनचंद कृपा के भाजन झूठा-स्वामी सेवन हारे॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प. सं. १०६

[छ] नमो-नमो हरि नित्य बिहारी। श्री मुकुन्दलाल के सेव्य सदाई परचौ दियौ जै नगर मैंझारी॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प. सं. १०७

[ज] श्री किशोर जू प्रगट जु कीने। गादी प्रिया थापि सुख लीने।

हित पद्धति सौं प्रभु पधराये। राग-भोग सेवन गुन गाये॥

— र. अ. मा., भ. मु., व्यास जी की परचई

[झ] आज्ञा तिनकों दई गुसाँई। हरि-हरिजन सेवा पधराई॥

— र. अ. मा., भ. मु., गंगा-जमुना बाई की परचई

[ञ] तब हित जू कौ चित्र लिखायौ। सेवा नाम सहित पधरायौ॥

— र. अ. मा., भ. मु., बीठलदास जी की परचई

— शेष आगे के पृष्ठ पर

### ५.३.६.२.३. प्रगट सेवा का मूर्त विधान :

श्री हिताचार्य ने देववन में श्री रंगीलाल जी और पंचकोसी वृन्दावन में श्री राधा-बल्लभलाल जी इन दो सेव्य स्वरूपों की प्रगट सेवा विराजमान करके सात भोग और पाँच आरती करने का मूर्त विधान किया। विधिनिषेध शून्य इस प्रगट सेवा का प्रारंभ उन्होंने ठाकुर श्री रंगीलाल जी के प्रादुर्भाव के साथ वि. सं. १५६६ में किया। ठा. श्री रंगीलाल जी के वाम पार्श्व में स्वामिनी श्रीराधा की 'गादी' स्थापित करके उस गादी को ही श्री राधा के समस्त वस्त्राभूषणों से समलंकृत करने का मूर्त विधान किया<sup>१</sup>। इसी प्रकार वृन्दावन आने पर भी श्री राधाबल्लभलाल जी के स्वरूप के पास श्री राधा की गद्दी विराजमान की तथा स्वयमेव पाँच आरती और सात भोग समर्पण करके विधिनिषेध

— पिछले पृष्ठ की शेष टिप्पणी

[ट] तब मुरलीधर जू पधराये। आम तरें रचि मंडप छाये॥

— र. अ. मा., भ. मु., चतुर्भुजदास जी की परचई

[ठ] मन्दिर करि दम्पति पधराऊँ। संतनि की सेवा चित लाऊँ॥

पाँच आरती सातौ भोग। नैमित्तिक उत्सव कौ जोग॥

— र. अ. मा., भ. मु., सुन्दरदास जी की परचई

[ड] सेवा संग हुती जो नित की। तासों इक रस वृत्ति जु चित की॥

सदाचार सौ भोग लंगावैं। ता प्रसाद बिनु और न पावैं॥

— र. अ. मा., भ. मु., हरीदास तुलाधार की परचई

[ढ] फिरि देखै तौ हयौ कछु नाहीं। कर्मठी बैठी निज घर मौहीं॥

तब तौ इन फिर खबर मैगाई। सेवा करत कर्मठी पाई॥

— र. अ. मा., भ. मु., कर्मठी बाई जी की परचई

[ण] नमो-नमो श्री राधाकंत। श्री हित रूप सिंगारे करवर जिनकौ परचै दिये अनंत॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प. सं. ५८

१ [क] वरष सात के जबही भये। यज्ञोपवीत कियौ छवि छये॥.....

लेहु मन्त्र तुम करहु प्रकाश। रसिकजननि की पुजवहु आश॥

मिश्र-बाग में कूप निहारौ। तामें द्विभुज स्वरूप हमारौ॥

सुन्दर श्याम बाँसुरी लीयें। मम गादी सेवहु मन दीयें॥.....

मन्दिर देवन मौझ बनायौ। तहाँ जु प्रभु कौ लै पधरायौ॥

राग-भोग नित नौतन करहीं। अपने तन-मन करि विस्तरहीं॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ६२, ७३ से ७५, ७८, ७९

[ख] सात वरष के भये जबहि श्री व्यास दुलारे। तब उपवन चलि जाँय खेल नाना विस्तारे॥

पिता-बाग मधि कूप तहाँ श्री विग्रह जान्यौ। धाय परे जल कूदि आपु सो भुज भरि आन्यौ॥

प्रभु श्री रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी। रीझि लड़ैती कुँवरि आपुनी पद्धति ओपी॥

— श्री ह. स., चा. वृ. दा., छं. सं. ५४ से ५६



शून्य 'प्रगट सेवा' का मार्ग प्रशस्त किया<sup>१</sup>। श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत यह सेवा पद्धति उनके नाद-बिन्दु परिकर में प्रगट सेवा विधान के रूप में समादृत हुई। गो. वृन्दावनदास जी ने लिखा है कि—“अपने को जो अत्यन्त प्रिय लगे ऐसे रूप की प्रतिमा स्थापित करके उसके द्वारा अपराधों से डरते हुए और उसमें नित्य स्नेह करते हुए नित्य सेवा करै और बाँये भाग में प्रभु की प्रियतमा [श्री राधा जी] का आसन [गद्दी] स्थापित करै। उनकी सेवा के योग्य जो द्रव्य है उसको उसी आसन पर निवेदन करै—

स्वस्याभिमत रूपेण कृत्वा प्रतिकृतिं प्रभोः। तस्यां परिचरेन्नित्यं स्निह्यन्विभ्यदति क्रमात्॥  
स्थापयेद्वामभागेतु प्रेयस्या आसनं प्रभोः। तदीयं परिचर्याह द्रव्यं तत्रैव विन्यसेत्<sup>२</sup>॥

इसी प्रकार मन्दिर के सेवाधिकारी गो. दामोदरवर जी ने भी अपने शिष्यों को आज्ञा देते हुए कहा है कि श्री हिताचार्य की उपासना में श्री राधा की पृथक प्रतिमा प्रतिस्थापित करने की आज्ञा नहीं है। अर्थात् श्री राधाबल्लभलाल जी के एक ही स्वरूप में प्रेममूर्ति अद्वय युगल का दर्शन करै—

.....अरु ज्यों दूजे श्रूप प्रगट की आज्ञा नाही<sup>३</sup>।

### ५.३.६.२.३.१. श्री राधा की गादी :

श्री हिताचार्य को श्री राधा ने मंत्र दीक्षा दी थी और कुएं के भीतर से सेव्य स्वरूप को निकालकर उनके साथ 'गादी सेवा' विराजमान करके सेवा पद्धति प्रचार करने का आदेश दिया था<sup>४</sup>। इस प्रकार उन्हें अपनी उपासना संस्थापन के लिए आधार स्वरूप मन्त्र, मन्त्रदाता गुरु और सेव्य स्वरूप; सात वर्ष की स्वल्पायु [वि. सं १५६६] में ही समुपलब्ध हो गये थे।

१. आये निज वृन्दावन धाम। दल फल फूलन श्यामा-श्याम॥.....  
मन्दिर सुन्दर सरस बनायौ। करि अभिषेक प्रभुहि पधरायौ॥  
श्री राधाबल्लभ नाम सु कह्यौ। वेद-पुरान सहित उन लह्यौ॥  
पंद्रह सै इक्यावने सुहायौ। कार्तिक सुदि तेरस सुख छायौ॥  
पट्टमहोत्सव ता दिन कीनौ। जाचक द्विज गुनियनु धन दीनौ॥.....  
सेवा की पद्धति विस्तारी। सात भोग रितु-रितु अनुसारी॥  
पाँच आरती आठौ याम। समय-समय भावना सु धाम॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ११८, १२८ से १३१, १३४, १३५

२. अ. नि., गो. वृ. दा., श्लो. सं. १६, २०

३. प्र., प्रा. ना., छं सं. १६१

४. श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ६२, ७३ से ७५, ७८, ७९, प्र. पृ. सं. ४४७

### ५.३.६.२.३.२. गादी स्थापन के उद्देश्य :

सेव्य स्वरूप द्विभुज वंशीवादन-तत्पर त्रिभंगी श्याम स्वरूप की उपलब्धि हुई थी। गौरांगी श्री राधा की मूर्ति नहीं। श्री राधा के सेव्य स्वरूप के स्थान पर उन्हीं की आज्ञा से श्री हिताचार्य ने श्री राधा की गादी ही संस्थापित की। इसी प्रकार वृन्दावन पहुँचकर सेव्य स्वरूप श्री राधाबल्लभलाल जी के साथ भी वि. सं. १५६० में श्री राधा की गादी ही विराजमान की और यह उद्घोषणा भी की कि यह स्वरूप एक दूसरे के अंश पर भुजायें रखे हुए प्रेम विग्रह श्यामा-श्याम का ही एक रूप है, किन्तु श्री राधाबल्लभ—इस एक ही स्वरूप में परस्पर अंश पर भुजायें रखे हुए अद्वय युगल 'प्रेम' के दर्शन मेरे नेत्रों से देखने पर ही हो सकेंगे—

निकसि कुंज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंश।

श्री राधाबल्लभ मुख-कमल निरखि नयन हरिवंश'।।

प्रेमोपासना किंवा रसोपासना का उपास्य 'प्रेम' है। वह दो में नित्य प्रकट रहने पर भी तन-मन और प्राणों से एक ही बना रहता है। सेव्य स्वरूप के स्थान पर पृथक-पृथक दो मूर्ति विराजमान करने पर उपास्य 'प्रेम' की प्रेम रूपता ही प्रच्छन्न हो जाती—'प्रेम' अद्वय युगल रूप वाला होता है—यह कहने का कोई आधार ही नहीं रह जाता। अतः श्री हिताचार्य ने देववन में कुएं से प्राप्त रंगीलाल जी के श्री विग्रह के साथ और वृन्दावन में श्री राधाबल्लभलाल जी के श्री विग्रह के साथ प्रिया जी का प्रगट विग्रह विराजमान न करके उनकी 'गादी सेवा' ही विराजमान की और इस प्रकार से एक ही स्वरूप में अद्वय युगल के दर्शन कराने वाले प्रेम सिद्धान्त को मूर्त रूप प्रदान कर दिया।

श्री राधा की गद्दी विराजमान करने का एक उद्देश्य—'इष्ट के साथ गुरु का नित्यार्चन'—भी था। श्री हिताचार्य की मन्त्रदात्री गुरु उनकी इष्ट श्री राधा ही हैं। अतः उन्होंने श्री राधा की गादी सेवा में गुरु-गादी और गुरु-गादी में ही श्री राधार्चन ये दोनों कार्य एक ही साथ सम्पन्न करने का विधान बना दिया।

उपासक वर्ग में नारी और पुरुष दोनों ही होते हैं। पुरुष उपासक के द्वारा श्री राधा के प्रत्यंग का स्नान तथा शृंगार आदि करना नैतिकता, सामाजिकता और वैष्णवता सभी दृष्टियों से ही अनुचित था। संभवतः इसलिए भी श्री हिताचार्य ने श्री राधा की प्रगट मूर्ति विराजमान न करके उनकी गद्दी सेवा विराजमान करने का मूर्त विधान किया।



### ५.३.६.२.३.३. गादी सेवा ही हितानुयायी होने का प्रतीक :

श्री हिताचार्य द्वारा गादी सेवा संस्थापन के पश्चात् रसोपासना जगत में उपास्य के श्री विग्रह के साथ गादी सेवा का प्रचलन चल पड़ा। हितात्मज गो. कृष्णदास जी एवं मोहनदास जी ने अपने सेव्य स्वरूप श्री राधामोहन जी और श्री लाड़िलीमोहन जी के समक्ष, स्वामी हरिदास जी और हरिराम व्यास जी ने अपने सेव्य स्वरूप श्री बाँकेविहारी [कुंजबिहारी] जी<sup>१</sup> और श्री जुगलकिशोर जी<sup>२</sup> के समक्ष, गो. वनमालीदास जी की सुता हित किशोरी जी ने अपने सेव्य स्वरूप श्री किशोरीबल्लभ जी और श्री सेवा सखी जी ने अपने सेव्य स्वरूप श्री मुरलीमनोहर जी [अठखम्भा बाजार, वृन्दावन में विराजमान] के समक्ष श्री राधा की गादी सेवा ही विराजमान की। इन मन्दिरों में आज भी श्री राधा की गादी सेवा के ही दर्शन होते हैं। कहा जाता है कि वृन्दावन के अन्य सम्प्रदानुयायी अनेक मन्दिरों में भी उस समय सेव्य स्वरूपों के निकट श्री राधा की गादी स्थापित हो गई थी; किन्तु बाद में बंगाल से श्री राधा के विविध विग्रह आने के पश्चात् यहाँ से गादी सेवा हटा दी गई। केवल गोपाल भट्ट जी के सेव्य श्री राधारमण जी में अब भी श्री राधा की गादी सेवा ही विराजमान है। ऐसा ज्ञात होता है कि इष्ट के साथ गादी सेवा की स्थापना चिर पूर्व काल से ही हितानुयायी होने का प्रतीक मान लिया गया था।

### ५.३.६.२.४. प्रगट सेवा के रूप :

#### ५.३.६.२.४.१. गादी संयुक्त सेव्य स्वरूप विग्रह की सेवा :

हित रसिक जगत में प्रगट सेवा के तीन रूप प्रचलित देखे जाते हैं। श्री राधा की गादी संयुक्त सेव्य के स्वरूप विग्रह की सेवा, नाम सेवा और चित्र सेवा। सेव्य स्वरूप विग्रह की सेवा का सम्यक् परिचय 'प्रगट सेवा का मूर्त विधान' शीर्षक से ऊपर दिया जा चुका है। अतः यहाँ केवल नाम सेवा और चित्र सेवा का परिचय ही दिया जा रहा है।

१. स्वामी बड़े जानि मणि जानि। सब तजि सोई रस कीजै गान॥  
है विरक्त सेवा पधराई। सो सब विधि हित जू ते पाई॥  
श्री कुंज बिहारिनि-कुंजबिहारी। हित जू की पद्धति उर धारी॥  
गादी मधि थापी सुकुमारी। सदन पुलिन में लखे बिहारी॥

— श्री ह. च., उ. दा., स्वामी हरिदास जू कौ प्रसंग

२. श्री किशोर जू प्रगट जु कीने। गादी प्रिया थापि सुख लीने॥  
हित पद्धति सौं प्रभु पधराये। राग-भोग सेवन गुन गाये॥  
नित दूलह-दुलहिनि दुलराये। श्री हरिवंश कृपा ते पाये॥

— र. अ. मा., भ. मु. व्यास जी की परचई

### ५.३.६.२.४.२. नाम सेवा :

जो उपासक इष्ट के सेव्य विग्रह की सेवा करने में असमर्थ होते हैं; वे श्याम तमाल की दारु पट्टिका पर 'श्री राधाबल्लभो जयति' या 'श्री राधाबल्लभ श्री हरिवंश' नामांकित करवाकर उसी पट्टिका में सेव्य विग्रह की भावना कर लेते हैं। कहीं-कहीं पट्टिका के ऊपरी भाग में श्री राधा की मुखाकृति भी बनी रहती है। उसी पट्टिका में सेव्य विग्रह की भावना कर लेते हैं। इस भावना से उसी पट्टिका [नाम सेवा स्वरूप] को स्नानादिक कराकर श्री राधा के पटाभरण धारण कराते हैं। नित्य प्रति अष्टयामी सेवा करते हुए नित्य तथा नैमित्तिक उत्सव भी मनाते हैं। पंचकोसी वृन्दावन के रासमण्डल, मानसरोवर तथा हिंडोल स्थल [वनचन्द्र जी का डोल] आदि लीला स्थलों में चिर पुरातन समय से नाम सेवा ही विराजमान है, जिनकी अष्टयामी सेवा हित सम्प्रदायी रसिकजन करते चले आ रहे हैं।

### ५.३.६.२.४.३. चित्र सेवा :

जो उपासक 'नाम सेवा' विराजमान करने में भी असमर्थ होते हैं; वे सेव्य विग्रह के स्थान पर इष्ट का चित्र ही विराजमान करके सेव्य विग्रह की भाँति अष्टयामी सेवा किया करते हैं। ये दोनों प्रकार की सेवायें भी श्री हिताचार्य के विद्यमान काल से ही अद्यावधि चली आ रही हैं। श्री हिताचार्य के शिष्य बीठलदास जी के चरित्र से ज्ञात होता है कि नाम सेवा व चित्र सेवा का शुभारम्भ बीठलदास जी ने किया था<sup>१</sup>।

### ५.३.६.२.५. प्रगट सेवा की प्रक्रिया :

#### ५.३.६.२.५.१. अष्टयामी सेवा :

श्री हिताचार्य द्वारा प्रकटित यह 'प्रगट सेवा' विशुद्ध लाड़ और प्यार की सेवा है। जिस प्रकार निकुंज में तत्सुखसुखी राधाकिंकरीगण अपने परम प्रेष्ठ प्रेममूर्ति श्यामा-श्याम का लाड़-प्यार आठों प्रहर किया करती हैं; उपासक के द्वारा की गई यह 'प्रगट सेवा' भी ठीक उसी का सम्यक् अनुकरण ही है। यही कारण है कि श्री हरिवंशोदित रसोपासना में प्रचलित 'प्रगट सेवा' के प्रत्येक कार्य श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की रस-वाणी के पदों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। जैसे— 'जगाइवे के प्रद', 'मंगला भोग व मंगला आरती के पद', 'वन विहार के पद', 'स्नान के पद', 'शृंगार आरती के पद',

१. तब हित जी कौ चित्र लिखायौ। सेवा नाम सहित पधरायौ॥

सदाचार सौ पाक रसोई। करि निवेद पावैं नित सोई॥

— र. अ. मा., भ. मु., बीठलदास जी की परचई



‘राजभोग आरोगन’, ‘राजभोग आरती व राजभोग सैन के पद’, ‘अचवन के पद’, ‘बीरी के पद’, ‘उत्थापन के पद’, ‘सन्ध्या भोग व सन्ध्या आरती के पद’, ‘सयन भोग, सैन आरती व सैन के पद’, ‘शैया विहार के पद’ आदि-आदि। इन पदों का गायन भी श्री हिताचार्य द्वारा ही आविर्भूत ‘समाज संगीत’ संज्ञक मौलिक गान पद्धति<sup>१</sup> से होता है। इस प्रकार यह प्रगट सेवा प्रातः काल से लेकर रात्रि शयन पर्यन्त की अष्टयामी सेवा है।

### ५.३.६.२.५.२. औत्सविक सेवा :

श्री हिताचार्य ने लोक में अवतरित रूप को अपना उपास्य न बनाकर परात्पर तत्त्व ‘प्रेम’ के उस नित्य रूप को ही अपना परमोपास्य बनाया था जो वृन्दावन की सीमा के अन्तर्गत ही अद्वय युगल स्वरूप से नित्यबिहार किया करता है। संभवतः इसीलिए उन्होंने स्वेष्ट की प्रगट सेवा में भी लोक प्रचलित सामाजिक त्यौहारों को अपने इष्ट के उत्सव के रूप में स्वीकार नहीं किया था। अर्थात् प्रगट सेवा संविधान में स्थान नहीं दिया था। स्वेष्ट की अष्टयामी सेवा में केवल ऋतु उत्सवों के रूप में नित्य विवाहोत्सव, बसन्तोत्सव, होरी उत्सव, होरीडोल उत्सव, जल बिहार उत्सव, पावसोत्सव, झूलनोत्सव, शरद रासोत्सव, वन विहार उत्सव आदि-आदि नित्य उत्सवों को ही स्वीकार किया था<sup>२</sup>। यही कारण है कि उनकी संपूर्ण वाणी में किसी ऐसे उत्सव का वर्णन नहीं है जो वर्ष के किसी मास अथवा किसी तिथि विशेष में हुये दिखाई दिये हों। वर्तमान काल में श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर में साँझी, दीपावली, राधाष्टमी, खिचरी आदि उत्सव भी मनाये जाते हैं; किन्तु श्री हिताचार्य की वाणी तथा उनके जीवन पटल पर दृष्टिपात करने पर इन उत्सवों का सर्वथा अदर्शन दिखाई देता है। ऐतिहासिक उल्लेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि ये उत्सव सम्प्रदाय में परवर्ती महानुभावों द्वारा प्रारंभ किये गये हैं। ‘उत्सव’ संबंधी विस्तृत विवरण इसी प्रबंध के परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

### ५.३.६.२.६. अन्य सम्प्रदायी सेवा पद्धति से पार्थक्य :

अन्य-अन्य भक्ति सम्प्रदायों में इष्ट-सेवा के प्रत्येक कार्य वैदिक मन्त्रों और वैदिक विधि विधान पर ही आधारित होते हैं; किन्तु श्री हरिवंशोदित रसोपासना में प्रचलित प्रगट सेवा के कोई भी सेवा कार्य वैदिक मन्त्रों और वैदिक विधि विधानों पर आधारित न होकर श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की ‘रस वाणी’ द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

१. समाज गान पद्धति का विस्तृत विवेचन प्रबंध के परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

२. सेवा की पद्धति विस्तारी। सात भोग रितु-रितु अनुसार।।

अन्य भक्ति सम्प्रदायों में सेव्य स्वरूप विग्रह के साथ तुलसी-शालिग्राम की सेवा करना तथा तुलसी दल के माध्यम से घंटा नाद करके भोगार्पण करना अनिवार्य है। एकादशी के दिन अपने सेव्य स्वरूप को भी फलाहार भोग समर्पित करने तथा स्वयं भी वही फलाहार करने का विधान है; साथ ही सेवा में शंख, चक्र, गरुड़ादि वैष्णवी सेवोपकरणों अथवा इनके चिन्हों का रखना भी अत्यन्त आवश्यक है।

श्री हिताचार्य द्वारा प्रवर्तित 'प्रगट सेवा पद्धति' में उपर्युक्त सम्पूर्ण विधि निषेधों का त्याग व एकादशी के दिन भी नित्य प्रति की भाँति ही स्वेष्ट को भोग लगाकर महाप्रसाद पाने का मूर्त विधान प्राप्त होता है। श्री हिताचार्य ने इस सेवा विधान को अपने जीवन में मूर्त रूप दिया था। इसीलिए नाभाजी ने इनका परिचय देते हुए इन्हें 'महाप्रसाद के एकमात्र अधिकारी' और 'विधि निषेधों के बन्धन से विमुक्त अनन्य उत्कट व्रतधारी' कहकर प्रकीर्तित किया है—

सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।

विधि निषेध नहीं दाम अनन्य उत्कट व्रत धारी<sup>१</sup>॥

### ५.३.६.२.६.१. "विधि-निषेध नहीं दाम" :

श्री हिताचार्य द्वारा प्रवर्तित "विधि-निषेध नहीं दाम" इस सेवा विधान को स्वीकार करने में असमर्थ अन्य वैष्णव सन्तगण हित रसिक समाज से अप्रसन्न रहा करते थे। स्वामी चतुर्भुजदास जी ने उन सन्तों की अप्रसन्नता दूर करने के लिए शास्त्र वाक्यों द्वारा उनका मनस्तोष भी किया। जिसका सांकेतिक उल्लेख उन्होंने स्वयं ही इन शब्दों में किया है—

एकादशी जु भोग लगावत। ताते सन्त कछुक दुख पावत।।.....  
सबकौ धर्म करै सब कोई। भक्ति करत कछु बाध न होई॥  
श्रुति मधि व्यास भागवत कीयौ। विष्णुपुरी ताकौ सत लीयौ॥  
नवधा भक्ति तहाँ जु बताई। ता मधि एकादशी न आई॥  
व्रत-तप आदि निषेध सुनाये। श्रीधर ताके अर्थ बताये॥  
श्रीहरिवंश प्रगट करि दीनों। रसिकजननि निशंक है लीनों॥.....  
हमकौ सन्त दोष कत लावहिं। इहि मत महाप्रसादहि पावहिं॥  
सब दिन आदर सौं हम लीनों। ता दिन जाय न औरहि दीनों<sup>२</sup>॥

१. भ. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

२. द्वा. य., अनन्य भजन यश, स्वा. चतु., छं. सं. १२, १६, १७, १८, २३



श्री हिताचार्य के प्रगट सेवा विधान में तुलसी तथा शालिग्राम शिला की सेवा का अदर्शन देखकर भी शालिग्राम सेवी वैष्णव; हित रसिकों की आलोचना किया करते थे। स्वामी चतुर्भुजदास जी ने शास्त्र वाक्यों द्वारा इनका भी मनस्तोष किया। इस शास्त्र चर्चा का उल्लेख उन्होंने इन शब्दों में किया है—

एकन ये अपराध लगाये। इन तौ शालिग्राम विहाये॥  
ताकौ भेद वेद यों गावै। सेवत अति जु मुक्ति फल पावै॥  
वृन्दावन जु उपासन जिनके। राधा-कृष्ण इष्ट अति तिनके॥  
श्री मूरति सेवा मन मान्यौ। मुक्ति महा सुख लघु करि जान्यौ॥  
यातैं शालिग्राम न जजहीं। श्री मूरति जु भक्ति हित भजहीं॥  
श्री हरिवंश जु दयौ बताई। भक्ति अनन्य भेद सुनों भाई१॥

श्री हिताचार्य-द्वारा प्रकटित प्रगट सेवा में तुलसी, शंख, चक्र, गरुड़ादि वैष्णवी सेवोपकरणों का सर्वथा अभाव देखकर भी वैदिक पद्धति के आग्रही वैष्णवगण निष्फल आलोचना किया करते थे। इस तथ्य का सांकेतिक उल्लेख तत्कालीन सेवाधिकारी गो. दामोदरवर जी से पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों में इस प्रकार मिलता है—

मानि प्रश्न पुनि कर्चौ शंख-गरुड़ादि पारषद।  
क्यों नहिं सेवा माँझ देखियत परम भक्ति हृद॥  
तहाँ कही प्रभु के अवतार बहुत भक्तन हित।  
तिनके सेवक धाम प्रापक बैकुण्ठ आदि थित॥  
शंख-चक्र-गरुड़ादि विष्णु के आयुध कहिये।  
जहाँ विष्णु गरुड़ादि तहाँ नित आयुध लहिये॥  
ह्याँ ब्रज में माधुर्य सदा मुरली कर शोभित।  
श्रीपति कौं सुख दुर्लभ वह छवि सुनि-सुनि लोभित॥  
वेई सकैं नहिं पाइ पारषद कैसें पावैं।  
नित्यबिहारी युग किशोर कौ दरस न पावैं॥  
बिना सहचरीभाव जुगलवर मन नहिं आवैं।  
इहि प्रकार पारषद कुंज-गृह धसन न पावैं२॥

“श्री पति कौं सुख दुर्लभ” तथा “वेई सकैं नहिं पाइ पारषद कैसें पावैं” ‘प्रश्नोत्तरी’ की उपर्युक्त पंक्तियाँ सुनकर तत्कालीन सभी आलोचकों ने भी यह बात

१. दा. य., अनन्य भजन यश, स्वा. चतु., छं. सं. ३६, ३७, ३८, ४१

२. प्र., प्रा. ना., छं. सं. २८४ से २८८ तथा २६३

हृदय से स्वीकार कर ली कि जब नित्यबिहारी प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम के पास श्रीपति विष्णु ही नहीं पहुँच पाते तब शालिग्राम, तुलसी, चक्र, शंख तथा गरुड़ादिकों का प्रवेश कैसे हो सकता है।

### ५.३.६.२.६.२. "सर्वसु महाप्रसाद" :

महामहिम भगवत्प्रसाद का महिमा-गान 'पद्म पुराण', 'स्कन्द पुराण', 'बृहन्नारदीय पुराण' और 'गरुड़ पुराणादि' अनेकानेक भक्ति शास्त्रों में प्रचुर रूप से प्राप्त होता है, जो एकादशी या अन्य व्रत-बासर में प्रभु को समर्पित अन्न-प्रसाद छोड़कर दूध-फल खाता है; वह अधम है तथा यम किंकरों द्वारा दण्डनीय होता है।

भगवान् शंकरोक्त 'सम्मोहन तंत्र' में वर्णित महाप्रसाद-महिमा तो अत्यधिक महत्वपूर्ण और बहुचर्चित है। इस वर्णना का विशेष महत्व सम्भवतः इसलिए भी अधिक होगा क्योंकि इसमें स्वयं एकादशी ने पितामह ब्रह्मा, नारद, शिव और महर्षियों के समक्ष भगवत्प्रसाद की महिमा का गान किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

एक समय मेरे पिता दक्ष प्रजापति के यज्ञ स्थल में श्री नारद जी ने श्री शंकरजी से पूछा कि आप भगवत्प्रसाद की महिमा बताने की कृपा करें। उसी समय वहाँ अकस्मात् एकादशी भी स्वयं उपस्थित हो गई तब श्री नारद जी ने एकादशी से कहा कि यह बहुत अच्छा हुआ कि तुम आज अपने दिन-[एकादशी तिथि] में स्वयं ही इस सभा में उपस्थित हुई हो। अतः हे कल्याणी! कृपा कर तुम स्वयं ही यह बताओ कि प्रभु का प्रसाद महत् है या तुम्हारे व्रत का फल। तब एकादशी ने उपस्थित सभी जनों को सम्बोधित करते हुए कहा कि—हे ब्रह्मलोक निवासियो! कहाँ तो मैं तुच्छ फल देने वाली एकादशी और कहाँ महामहिम परम पावन भगवत्प्रसाद। कहाँ तो ये यज्ञादिकों के तुच्छफल और कहाँ हरि का श्रेष्ठ प्रसाद। मैं हाथ उठाकर कह सकती हूँ कि प्रभु प्रसाद के समान कोई भी नहीं है। व्रत, तीर्थाटन, यज्ञ तथा दानादि कर्म फल भगवत्प्रसाद के समान किसी भी प्रकार नहीं हो सकते। भगवत्प्रसाद के सामने ये सब तृण के समान तुच्छ हैं। जिस दिन महाप्रसाद न पाकर अन्य कुछ पाया जाता है; वह दिन व्यर्थ जाता है। जो प्रतिदिन ही प्रभु को समर्पित अन्न-महाप्रसाद पाता है; वही व्यक्ति मुझे अच्छा लगता है।

१. त्यक्त्वान्न सृष्ट्या हरिमुक्तशेषां विष्णुं व्रतं प्राप्य नराधमाः वै।

भुंजति दुग्धादि फलं मनुष्या ते दण्डनीया यम किंकरेण॥

एकादश्यां प्रसादान्नं वर्जयन्ते नराधमाः। ते दण्ड्या-नरकेहृतैरिह भूपाल भृत्यकैः॥

निर्गुणं विष्णुं नैवेद्यं त्यक्त्वा मोक्षयन्ति ये फलं। तैरवेति प्रतिज्ञातं वयं रोख भागिनः॥

प्रसादान्ते नरा एवा अन्न सामान्या दर्शिनः। रौरवे नरके सत्यं पच्यन्ते शाश्वती समा॥

— स्क. पु.



भक्त जगत में पंचम वेद तथा श्रुतिसार रूप में स्वीकृत, भगवान् श्रीकृष्ण के वाङ्मय रूप में पूजित सर्व प्रामाण्य श्रीमद्भागवत में श्री मुख वाक्य हैं कि मैं व्रत, तप आदि से प्रसन्न नहीं होता। मैं तो एकमात्र भक्ति से ही प्रसन्न होता हूँ। टीकाकार श्री विष्णु पुरी तथा श्रीधर जी ने भी एकादशी का नाम तक न लेकर केवल भक्ति में व्रत, तपादिकों की उपेक्षा ही की है<sup>१</sup>।

महाप्रसाद की महिमा का इस प्रकार तुमुल घोष होने पर भी सभी भक्त प्रसाद को ही एकमात्र सर्वस्व स्वीकार न कर सके। सर्व साधारण भक्त शिष्टाचार की दृष्टि से महाप्रसाद को समादृत तो करते रहे किन्तु एकादशी आदि व्रत-बासरो में प्रीति पूर्वक प्रभु-प्रसाद ग्रहण करने में उनकी आत्मा भीरु ही बनी रही। सम्भवतः उनके हृदय में उनकी यह अटल मान्यता बनी रही होगी कि अन्न प्रसाद ग्रहण करने से उन्हें नरक यातना भोगनी पड़ेगी। श्री कबीर जी, श्री नामदेव जी जैसे निर्गुणिया भक्त नाम-महिमा-गान के भावावेश में एकादशी व्रत की उपेक्षा करते हुए नरक यातना के डर से निर्भय अवश्य दिखाई देते हैं—

कौन कलंक रह्यौ राम कहेला। सुर-नर-मुनि सब तरे प्रेम गहेला॥

वानी बोले नामा कौनें न मुक्ति पाईला। कीट भृग हेत ऐसै रमै है जाईला॥

भली करी नाम छीपा सुक्रत सुमति पाईला। एकादशी व्रत करें काहे तौ तीर्थ जाईला<sup>२</sup>॥

राजा राम जपौ रे भाई। जाकी चौदह लोक दुहाई॥

माँगी मुक्ति भुक्ति पुनि माँगी चीन्हें नहिं रघुराया।

जब चीन्हें तब दये न लीन्हें साधन करै बताया॥

हरि नामहि मन मान जान जो ध्यानहि भोग लगाया।

कोटि-कोटि तीरथ एकादशि एक सीथ जब खाया॥

कहत कबीर सकल साधन सौं जनम-जनम करि आया।

अब हौं संत-संग रति माँगीं जिन हरि-सुयश सुनाया<sup>३</sup>॥

जगन्नाथ पुरी में महाप्रसाद का महत्व आज भी सबको नरक यातना की भीति से अछूता बनाये रखता है। श्री नामा जी ने अपनी भक्तमाल में जगन्नाथस्थ एक भक्त का चरित्र गान करते हुए महाप्रसाद का उत्कर्ष इस प्रकार वर्णन किया है—

परसाद अवज्ञा जानिकें पाणि तज्यौ एकै नृपति<sup>४</sup>।

१. द्वा. ज., अनन्य भजन यश, स्वा. च., छं. सं. १२, १६, १७, १८, २३

२. ३. फु. प. सं., निर्गुणिया सन्तों के पद, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. २५, २६

४. म. मा., ना. दा., छं. सं. ५०

यहाँ पर यह बात अत्यन्त अविस्मरणीय है कि अन्यान्य भक्तों द्वारा भगवत्प्रसाद ग्रहण करने का मूल कारण महाप्रसाद के प्रति प्रीति नहीं; प्रत्युत किसी प्रकार की भीति ही है। यदि वास्तव में महाप्रसाद में उनकी हार्दिक प्रीति होती तो वह सदा सर्वदा और सर्वत्र ही बनी रहती; केवल जगन्नाथ पुरी में ही नहीं। 'महाप्रसाद' को सर्वस्व मानना—यह दिव्य देन तो श्रुति शेखरोपरि आश्चर्यचर्याचरण करने वाले, प्रेम धर्म किंवा अनन्य धर्म को प्रगट करने वाले श्री हिताचार्य की ही है। यही कारण है कि नाभा जी ने एकमात्र श्री हिताचार्य को ही "सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी" लिखकर उनका उत्कर्ष वर्णन किया है<sup>१</sup>।

वास्तव में महाप्रसाद में इस प्रकार की इष्टवत् प्रीति किंवा एकान्त निष्ठा महात्म्य बुद्धि को लेकर हो ही नहीं सकती। इस प्रकार की अनन्य निष्ठा तो प्रीति सम्बन्ध स्थापित होने पर ही सम्भव है। श्री हिताचार्य ने अपनी इष्ट अनन्यता का व्याख्यान करते हुये कहा है कि—“हे रसदायिनी श्री राधे ! तुम्हारे ही उच्छिष्ट अमृत का भोजन करती हुई, तुम्हारे ही चरित्रों को सुनती हुई, तुम्हारे ही चरण-रज-कमल का स्मरण करती हुई, तुम्हारे ही कुञ्जालयों में विचरती हुई, तुम्हारे ही दिव्य गुणों का गान करती हुई एवं तुम्हारी ही मूर्ति को देखती हुई, मैं शुद्ध तन-मन और वाणी से केवल तुम्हारी ही आश्रिता हूँ—

उच्छिष्टामृत भुक्तवैव चरितं शृण्वस्तवैव स्मरन्<sup>२</sup>।.....

श्री हिताचार्य द्वारा समुपलब्ध अपने इष्ट के उच्छिष्टामृत के प्रति सहज अनन्य निष्ठा को हितानुगत हरिरामव्यास जी स्पष्ट करते हुए यह भी लिख देते हैं कि —

हमारी जीवन मूरि प्रसाद।

अतुलित महिमा कहत भागवत, मेटत सब प्रतिवाद।।

जो षट मास व्रतनि कीने फल, एक सीथ के स्वाद।

दर्शन पाप नसात खात सुख, परसत मिटत विषाद।।

देत-लेत जो करै अनादर, सो नर अधम गवाद।

श्री हरिवंश प्रताप व्यास यह, रस पायौ अनहाद<sup>३</sup>।।

महाप्रसाद ग्रहण में बाधक एकादशी व्रत और एकादशी उपवास करने वालों की कटु आलोचना करते हुए वे कह उठते हैं कि—

राखैं व्रत एकादशी महाप्रसाद ते दूर। ते नर जमपुर जाहिंगे मुख में परिहै धूर<sup>४</sup>।।

१. भ. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. २४०

३.४. व्या. वा., ह. व्या., प सं. ८५, साखी सं. १४१



श्री हिताचार्य द्वारा प्रदत्त स्वेष्ट के महाप्रसाद की अद्भुत अनन्यता श्री हित चरणाश्रित हरिरामव्यास जी के जीवन में मूर्त रूप में प्रत्यक्ष हुई थी। जब व्यास जी ओरछा छोड़कर श्री वन आ गये तो उनके प्रिय शिष्य मधुकरशाह ने उनको पुनः ओरछा वापिस लाने के लिए ब्राह्मणों को भेजा। श्री व्यास जी वृन्दावन को एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ना चाहते थे। अतः प्रथम तो उन्होंने ब्राह्मणों को प्रतिदिन कोई न कोई उत्सव बतलाकर लगभग एक वर्ष निकाल दिया। फिर अपने स्वजन सनेहियों से मिलने के बहाने वृन्दावन के एक-एक वृक्ष से लिपट कर रोते हुए अनेक सुबह और अनेक संध्यायें निकाल दीं। इसी प्रकार अनेक उपक्रम करते हुए उन्होंने बहुत समय व्यतीत कर दिया। अन्त में जब ब्राह्मणों ने कहा कि हम तो राजा को वचन देकर आये हैं; अतः प्राण देकर भी तुम्हें लेकर ही जायेंगे; तब व्यास जी बड़े असमंजस में पड़ गये और मन ही मन विचारने लगे कि यह तो निश्चय ही है कि मुझे वृन्दावन वास अवश्य ही मिलेगा। सम्भव है कि श्री मन्महाप्रभु पाद को कोई और ही घटना घटित करनी हो; जो कि अन्य जीवों के लिए मधुर आदर्श और सबल संबल बनेगी। अतः उन्होंने ब्राह्मणों से कहा अच्छा तो चलो श्री राधाबल्लभलाल जी के दर्शन और कर आये फिर तुम्हारे साथ ही चलते हैं। मन्दिर के दरवाजे पर ज्ञात हुआ कि श्रीजी के राजभोग हो चुके हैं। उसी समय उन्होंने देखा कि सामने से एक महतरानी अपनी डलिया में श्रीजी का प्रसाद लेकर चली आ रही है। व्यास जी ने बिना उससे कुछ कहे ही उसकी डलिया में से एक पकौरी उठाकर खाली। उनका यह करना ही था कि साथ में आये ब्राह्मण यह देख कर चिल्ला उठे और कहने लगे कि अरे भाई ! चलो वापिस चलो। यह ब्राह्मण नहीं रहे; अब तो ये किरिस्तान हो गये। व्यास जी के मुख से भी यह पद निकल पड़ा—

एक पकौरी सब जग छूट्यौ।

जप-तप-व्रत-संजम करि हारे नैकु नहीं मन दूट्यौ॥

माया रचित प्रपंच कुटुम्बी मोह-जाल सब छूट्यौ।

व्यासदास हरिवंश कृपा ते बसि वनराज प्रेम रस लूट्यौ<sup>१</sup>॥

हित ध्रुवदास जी कृत 'भक्त नामावली' में भी हरिराम व्यास जी की अपने इष्ट श्रीराधाबल्लभलाल जी के महाप्रसाद के प्रति अनन्य निष्ठा का उल्लेख इन शब्दों में मिलता है—

कहनी-करनी करि गयौ एक व्यास इहि काल। लोक-वेद तजिकैं भजे श्रीराधाबल्लभलाल॥  
प्रेम मगन कछु गन्यौ नहिं वरनावरन विचार। सबनि मध्य पायौ प्रगट लै प्रसाद रससार<sup>२</sup>॥

१. व्या. वा., ह. व्या., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. २५

२. व्या. ली., हि. ध्रु. दा. भक्त नामावली, छं. सं. ४२, ४३

श्री हिताचार्य द्वारा प्रदत्त यह महाप्रसाद की अनन्यैक निष्ठा श्री राधा चरण प्रधान रसोपासना के सभी रसिकों ने तो गृहीत की ही; अन्यान्य भक्ति सम्प्रदायों में भी इसका आंशिक प्रभाव प्रसरित हुआ। कुछ लोग अपने सेव्य स्वरूप को एकादशी के दिन अन्नभोग समर्पित करने लगे; किन्तु भोग लगा हुआ प्रसाद स्वयं न लेकर किसी अन्य को दे देते थे; स्वयं तो फलाहार ही करते थे। आशय यह कि ये महाप्रसाद निष्ठा हितानुगत रसिकों के अतिरिक्त अन्यान्य भक्तों को सहज सुलभ न हो सकी। तभी तो हरिराम व्यास जी ने लिखा है कि—

कोटि-कोटि एकादशी महाप्रसाद कौ अंश। व्यासहि यह परतीति है जाके गुरु हरिवंश<sup>१</sup>।।

### ५.३.६.२.७. प्रगट सेवा की महत्ता :

श्री हिताचार्य; स्पष्ट श्रीराधाबल्लभलाल जी की प्रगट सेवा सम्पन्न करके मानसी सेवा भी किया करते थे। उनके इस जीवनवृत्त से 'मानसी सेवा' का महत्व विशेष तो प्रगट होता है किन्तु 'प्रगट सेवा' का महत्व न्यून नहीं हो जाता। यही कारण है कि रसिक जगत में 'प्रगट सेवा' का प्रचलन प्रचुर रूप में पाया जाता है—मानसी सेवा का प्रचुर रूप में नहीं। जिसका कारण अनुसन्धेय नहीं; प्रगट ही है—मन का चांचल्य।

'मानसी सेवा' मन के द्वारा ही सम्पन्न होती है। मन के विचलित होने पर तो वह पूर्ण रूप से बन्द ही हो जाती है; किन्तु 'प्रगट सेवा' मन के चलित होने पर भी चलती ही रहती है। रसिकजनों की यह भी मान्यता रही है कि 'प्रगट सेवा' करते-करते ही 'मानसी सेवा' में भी मन लग जायगा। 'प्रगट सेवा' नीव स्थानीय है जिस पर ही 'हित-महल' खड़ा हो सकेगा—

प्रगट भाव की नीव दृढ़ कीजै कृपा मनाय।  
तब निश्चल हित महल रस रहै चित ठहराय।।  
प्रगट भाव आवेश सौं कीजै विजै स्वभाव।  
वृन्दावन रसरीति में तब उपजै चित चाव।।  
प्रगट भाव सेवा बिना रञ्च न उपजै प्रेम।  
प्रेम बिना दरसै नहीं नित्य केलि वन नेम।।  
प्रगट भाव हुंडी सही गही लहे तिन दाम।  
अबहु गहैं विश्वास दृढ़ लहैं सु संपति धाम<sup>२</sup>।।

१. व्या. वा., ह. व्या., प्रा. ह. लि. प्र., साखी सं. १४२

२. सु. बो., ला. दा., सप्तम प्रसंग, दो. सं. १०४, १०५, १०८, अष्टम प्रसंग, दो. सं. ४४



### ५.३.६.२.८. इष्ट-सेवा साधन है या साध्य ? :

सेव्य स्वरूप की यह 'प्रगट सेवा' तथा 'मानसी सेवा' साधन है या साध्य ? अधुनातन विचारकों की यह जिज्ञासा युगीन दृष्टि से समीचीन भी है और विचारणीय भी । श्रीहिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की वाणियाँ यह घोषणा तो स्पष्ट कर रही हैं कि राधाकिंकरी रूप से श्री हित दम्पति की सेवा परिचर्या करना ही उपासक का परमाभीष्ट है<sup>१</sup>; किन्तु इस अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करने के लिए अन्य कोई साधन नहीं है । इसकी प्राप्ति तो एकमात्र निकुंजेश्वरी की कृपा पर ही निर्भर है । इसीलिए श्री हिताचार्य तथा तदनुगत सभी रसिकों ने इस सेवा की प्राप्ति के लिए निकुंजेश्वरी जू से ही प्रार्थना की है<sup>२</sup> ।

यह भी निरापद सत्य है कि राधाकिंकरी रूप और श्रीराधा कैंकर्ष की प्राप्ति इस नश्वर शरीर को त्यागने के बाद ही होगी<sup>३</sup> । जीवन के इस अनिश्चित समय को व्यतीत करने के लिए उपासक को ऐसे ही कार्य विशेष में संप्रवृत्त होना अनिवार्य है जो साधक को उसके लक्ष्य से इतस्ततः न कर दे; प्रत्युत ऐसा तल्लीन कर ले कि वह इस जीवन में ही राधाकिंकरी होने का अनुभव करने लगे<sup>४</sup> । यह कार्य है—आशक्ति और ममता पूर्वक स्वेष्ट की प्रगट सेवा तथा मानसी सेवा करना । इस प्रक्रिया को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि स्वेष्ट की सेवा करना साधन भी है और साध्य भी । किन्तु यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि उपर्युक्त प्रश्न उपासक के साधक शरीर द्वारा की जाने वाली इष्ट सेवा से ही सम्बन्धित है; ललितादिक दासियों द्वारा की गई परम प्रेष्ट अद्वय युगल की सेवा से सम्बन्धित नहीं । ललितादिक दासियाँ न तो मानसी सेवा ही करतीं और न प्रगट सेवा [श्री विग्रह की सेवा] । अतः इस प्रश्न का उत्तर भी सभी दृष्टियों से यही समुचित होगा कि उपासक द्वारा की जाने वाली इष्ट सेवा [मानसी सेवा और प्रगट सेवा] साधन भी है और साध्य भी ।

### ५.४. सहायक तत्व :

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना का परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' है । रस मूर्ति श्यामा-श्याम की निरन्तर निकट सेवा करना ही इस रसोपासना की चरम सिद्धि है ।

१.[क] रा. सु. नि., श्लो. सं. २६१, प्र. पृ. सं. ३७३

[ख] किशोरी मुहि अपनी करि लीजै ।..... व्यास स्वामिनी की छवि निरखत महल टहलिनी कीजै ।

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. २८६

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. ३०, ३१, ३६, ५३

३.४. रा. सु. नि., श्लो. सं. २६१, प्र. पृ. सं. ३७३, श्लो. सं. ५२, प्र. पृ. सं. ३७३

इस परम पद रूपा रसवती सिद्धि की उपलब्धि एकमात्र कृपा साध्य ही है; साधन-साध्य नहीं<sup>१</sup>। हाँ यह बात भी स्वीकार की जाती है कि यह कृपा प्राप्त करने के लिए श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों ने कुछ ऐसे उपासक-कृत्यों का उल्लेख अपनी वाणी तथा आचरणों द्वारा अवश्य किया है जिनमें से कुछ उपाय भी हैं व उपेय भी। आगे के पृष्ठों में श्रीहिताचार्य की रसोपासना के इन सहायक तत्त्वों पर पृथक-पृथक प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

### ५.४.१. गुरु शरणागति :

किसी भी प्रकार की साधना-सिद्धि के लिए उस साधना में पारंगत गुरु का अनिवार्यतः आनुगत्य; सार्वजनीन मान्यता है। इस तथ्य में किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का विरोध नहीं है। श्री हिताचार्य ने भी प्रेममूर्ति श्री राधा से गुरु दीक्षा लेकर<sup>२</sup> अनादिकाल से समागत गुरु-शिष्य-सम्बन्ध परम्परा को शिरोधार्य किया है। साथ ही गुरुवर श्री राधा की आज्ञा से ही अनेक नर-नारियों को दीक्षित करके<sup>३</sup> गुरु-शिष्य परम्परा को चिरायुष्मान भी बनाया है। इतना ही नहीं अपनी रचनाओं में कई स्थलों पर गुरु की महत्ता का उल्लेख<sup>४</sup> करने के साथ-साथ गुरु-शरण ग्रहण करने की भी आज्ञा दी है<sup>५</sup>। श्री हिताचार्य के नाद-बिन्दु परिवार के रसिक चरित्र भी इष्टोपलब्धि के लिए गुरु दीक्षा लेने की प्रेरणा देते हैं। रसिक वाणी साहित्य में समुपलब्ध यह ऐतिहासिक तथ्य ही यह लिखने के लिए प्रेरित करते हैं कि श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत रसोपासना की इष्ट वस्तु [रस मूर्ति अद्वय युगल के नित्यबिहार] प्राप्त कराने वाले सहायकों में उपासना का बीज मन्त्र प्रदान करने वाले गुरु का ही प्रथम स्थान है। हरिरामव्यास जी, सेवक जी, चतुर्भुजदास

१ [क] .....श्रीवृन्दावन कुञ्ज मञ्जु गृहणी काव्यस्ति तुच्छा महो।

कुवार्णखिल साध्य-साधन कथां दत्वा स्व दास्योत्सवं।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ६१

[ख] या रस कौ साधन नहिं कोई। एक कृपा ते जो कछु होई।।

— ब्या. ली., अनुरागलता, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १०

२. जो शास्त्र मर्यादा सत्य है अरु गुरु महिमा ऐसैं ही सत्य है, तौ ब्रज नव तरुनि कदम्ब चूड़ामनि श्री राधे ! तिहारे स्थापे गुरु मार्ग विषैं अविश्वास अज्ञानी कौं होतु है; ताते यह मर्यादा राखिनी।

— श्री मु. प., गो. हि. ह., द्वितीय पत्री

३. ....लेहु मन्त्र तुम करहु प्रकाश। रसिकजननि की पुजवहु आश।।

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ७३

४. ....गुरोर्मजन विक्रमात् कइह ते महा बुद्धयः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८१

५. जै श्री हित हरिवंश विचारिकैं मनुज देह गुरु चरन गहि।

— स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. ७



जी, हितघुवदास जी आदि रसिकों ने भी इस विधान का उद्घोष अपने-अपने शब्दों में किया है<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में गुरु-शरण ग्रहण करने की आज्ञा तो दी है किन्तु मन्त्र किससे लेना चाहिये—यह उल्लेख नहीं किया है। श्री हितात्मज गोस्वामी वनमाली दास जी ने 'सेवकवाणी' को 'हितवाणी' [हित चौरासी] के साथ लिखने-पढ़ने का आदेश देकर श्री हिताचार्य की वाणी के समान ही मानने का अकाट्य संविधान बना दिया था<sup>२</sup>। तभी से 'सेवकवाणी' भी उपासना का प्रमाण ग्रंथ माना जाने लगा था। 'सेवकवाणी' में गुरु दीक्षा किंवा मन्त्र लेने के संबन्ध में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि यदि हृदय में श्रद्धा का उदय हो गया है तो उस श्रद्धालु को उचित है कि जहाँ पर गो. हितहरिवंशोदित अनन्य धर्म के आचरण करने वाले हों वहाँ जाकर उनसे दीक्षा मन्त्र ग्रहण करे—

प्रथम हृदय श्रद्धा जो करै। आचारजनि जाइ अनुसरै। जहाँ-जहाँ हरिवंश के।।  
रसिकनि की सेवा जब होइ। प्रीति सहित बूझहु सब कोइ। कौन धर्म हरिवंश कौ।।  
कौन सुरीति कौन आचरन ? कौन सुकृत जिहि पावै सरन ? क्यों हरिवंश कृपा करै<sup>३</sup>?

एक अन्य स्थल पर इसी आज्ञा को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो श्री हरिवंश धर्म में पूर्ण रूप से दृढ़ हो, पूर्ण रूप से अनन्य धर्म का पालन करता

१. [क] प्रथम जु सेवहु गुरु के चरन। जिन यह धर्म कह्यौ सब करन।। नाम प्रताप बताइयौ।।  
जो हरिवंश नाम अनुसरहु। निशि-दिन गुरु कौ सेवन करहु।। सकल समर्पन प्रान धन।।  
गुरु उपदेश सुनहु सब धर्म। श्री हरिवंश नाम फल मर्म।। मर्म भग्यौ वचननि सुनत।।

— से. वा., नाम प्रताप, तृतीय प्रकरण, छं. सं. ३, ४, ६

[ख] जैसे गुरु तैसे गोपाल। हरि तौ तबही मिलिहैं जबही श्री गुरु होंहि कृपाल।।

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ८९

[ग] प्रथम शिष्य गुरु-सरन सिंधारै। गुन अरु शील स्वभाव निहारै।।  
वरनाश्रम सौ न्यारौ होई। इन्द्रीजीत गुरु कीजै सोई।।  
जो न अनर्पित भोजन करही। आन देव मन हू नहिं धरही।।  
सदा वचन सौंचे मुख बोलै। विषय वासना चित्त न डोलै।।.....  
ता पहुँ मन्त्र दीक्षा लीजै। शिक्षा देइ सु निश्चय कीजै।।.....  
देहि मन्त्र जो ध्यान बतावै। सोई इष्ट ताहि मन लावै।।  
बिनु दीक्षा; तिनकौ जल पावै। उपजी भक्ति सु सहज गँवावै।।

— द्वा. य., शिक्षा सार जस, स्वा. च. दा., छं. सं. ३, ४, ६, ७, ८

[घ] .....गुरु, इष्ट, मन्त्र, रसिकन कौ संग; जब या रस माधुरी के जरै तबही उर में आवै।

— व्या. ली., हि. घु. दा. सिद्धान्त विचार

२. र. अ. मा., म. मु., सेवक जी की परचई

३. से. वा., श्री हित नाम प्रताप, तृतीय प्रकरण, छं. सं. २

हो, श्री हरिवंश द्वारा संस्थापित 'रसरीति' का पूर्ण ज्ञाता हो और निरन्तर श्री हरिवंश का ही भजन भी करता हो मैं सदा उन्हीं का सेवक हूँ—

श्री हरिवंश सु धर्म दृढ़ अरु समुझत निजु रीति।

तिनकौ हौं सेवक सदा मन-क्रम-वचन प्रतीति<sup>१</sup>॥

एक अन्य स्थल पर शरणागति के संबंध में आदेश देते हुए कहा है कि श्री हरिवंश नाम में और श्री हरिवंश-धर्म-धारक धर्मी में जिसकी प्रीति हो उसी का चरणाश्रय ग्रहण करना चाहिये—

श्री हरिवंश नाम-धर्मी जु रति, तिन, शरण्य संतत रहै।

सेवक निशि-दिन धर्मिनु मिलैं, श्री हरिवंश सुजश कहै<sup>२</sup>॥

अपने पूर्ववर्ती रसिकों की बात का समर्थन करते हुए चाचा वृन्दावनदास जी ने भी इस बात पर विशेष बल देते हुए लिखा है कि—

हित धर्मी मर्मी जे पाके। जुगल केलि नित रहैं रस छाके।

तिनसौं मन्त्र उपासन लीजे। सेवक गिरा समुझि चित दीजै<sup>३</sup>॥

श्री हरिवंश के नाद वंशीय और बिन्दु वंशीय गोस्वामीगण—इन दोनों परिवार में<sup>४</sup> श्री हरिवंश-धर्माचरण करने वाले होते हैं। अतः जो हरिवंश धर्म का किंवा अनन्य धर्म का दृढ़ता के साथ पालन करता हो और जिसकी श्री हरिवंश नाम में हार्दिक प्रीति हो-उससे ही दीक्षा-मन्त्र लेना चाहिये। श्री हिताचार्य के नाद-बिन्दु दोनों परिवार में श्री हरिवंश धर्म के उदय काल से ही गुरु मन्त्र देने की परम्परा का प्रचलन भी प्राप्त होता है। अर्थात् श्री हरिवंश के बिन्दु कुलोद्भव गोस्वामीगण, तथा श्री हरिवंश के शिष्य-

१. से. वा., हित भक्त भजन, दशम प्रकरण, छं. सं. १

२. से. वा. धर्मी धर्म विधान, त्रयोदश प्रकरण, छं. सं. ११

३. से. ज. वि., चा. वृ. दा., छं. सं. २६, ३०

४. नाद कुल व बिन्दुकुल :-

श्री हिताचार्य के पुत्र-पौत्रों में आने वाले गोस्वामीगण बिन्दु कुल कहलाते हैं और आचार्य चरण की शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा में आने वाले रसिकगण नाद परिकर या नाद कुल कहलाते हैं। इस नाद कुल में विरक्त और गृहस्थ दोनों प्रकार के धर्मी हैं। मन्त्र नाद की प्राप्ति होने पर ही किसी उपासक की 'हितोपासक' संज्ञा होती है। जब तक उसे इस नाद मन्त्र की प्राप्ति नहीं होती तब तक वह न तो प्रभु-गृह की टहल करने का ही अधिकारी माना जाता और न किसी अन्य उपासक को रसोपासना में दीक्षित करने का ही अधिकारी माना जाता। इस विधान का निर्वाह करना हित कुल के दोनों वर्गों [नाद कुल और बिन्दु कुल] के लिए समान रूप से अनिवार्य है।



प्रशिष्यगण गुरु दीक्षा का मन्त्र देते चले आ रहे हैं। रस भक्ति धारा का बृहद इतिहास इस तथ्य का साक्षी है।

### ५.४.२. प्रवृत्ति-निवृत्ति :

श्री हिताचार्य ने अपनी रसोपासना सिद्धि की प्राप्ति में न तो प्रवृत्ति का ही विधान किया है और न निवृत्ति मार्ग का ही। उन्होंने एक स्थल पर उपासक को मनुजतनोपलब्धि का वास्तविक लाभ लेने के लिए यह उद्बोधन दिया है कि यदि तू सांसारिक समस्त लौकिक प्रपंचो [गार्हस्थ आश्रम] को त्याग सकता है तो त्यागकर इष्ट का नाम स्मरण कर और यदि नहीं त्याग सकता है तो छोड़ना अनिवार्य भी नहीं है; बिना छोड़े ही इष्ट का नाम-रूप-गुण गान कर—

जै श्री हित हरिवंश विचारिकें मनुज देह गुरु चरन गहि।

सकहि तौ सब परपंच तजि कृष्ण-कृष्ण गोविन्द कहि॥

श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों के आधार पर परवर्ती रसिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि इस रसोपासना में स्वेष्ट के नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर में सन्निष्ठ होना ही अनिवार्य है; चाहे वह गृहस्थ में ही रहकर हो या वैराग्य लेकर जंगल में रहकर—

“कानन बसौ कि गेह।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य ने अपने रसोपासना मार्ग में प्रवृत्ति और निवृत्ति में से किसी एक को विशेष महत्व नहीं दिया है। श्री हिताचार्य के जीवन वृत्तावलोकन से भी ज्ञात होता है कि उन्होंने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी महा विरक्ति का आदर्श उपस्थित किया था। आचार्य चरण के शिष्यों में भी गृहस्थ और विरक्त शिष्यों की परम्परा इसी आदर्श की द्योतक है।

### ५.४.३. तिलक और कण्ठी :

श्री हिताचार्य एकान्त ईश्वर की भक्ति को भी दूर से नमस्कार करने वाले अन्यतम आचार्य थे। अतः उन्होंने अपनी रसोपासना को न तो वैष्णवाचार सापेक्ष ही कहा है और न उपेक्ष ही। यही कारण है कि उनकी वाणी में कण्ठी-तिलक के संबंध में न तो यही उल्लेख मिलता है कि रसोपासक के लिए कण्ठी-तिलक उपासना में सहायक हैं

१. देखें—भगवत मुदित जी कृत—र. अ. मा., चाचा वृन्दावनदास जी कृत—र. अ. प. तथा भ. प्र. वे., इ. प. व. वे., व. प्र. [प्रथम से चतुर्थ] गो. जतनलाल जी कृत. र. अ. सा., गोविन्द अली जी कृत—र. भ. गा. आदि।

२. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. ७

और न यही उल्लेख मिलता है कि ये बाधक हैं। उन्होंने स्व रचित 'राधासुधानिधि' में इष्ट सिद्धि लब्ध महानुभावों का स्वरूप संकेत करते हुए लिखा है कि—श्री गुरु-सेवा पराक्रम से अथवा गुरुदत्त भजन-पराक्रम से या भजन के महत् पराक्रम से, जो अपने बाहुमूल में निश्चय ही शंख-चक्रादि नहीं लिखते, ललाट में विचित्र तिलक की रचना नहीं करते और कण्ठ में शोभायुक्त तुलसी की माला धारण नहीं करते; वे महामति महानुभाव इस लोक में कौन हैं ? अर्थात् विरले ही हैं—

लिखन्ति भुज मूलतो न खलु शंख चक्रादिकं। विचित्र हरि मन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।।  
लसत्तुलसि मालिकां दधति कण्ठ पीठे न वा। गुरोर्भजन विक्रमात्कइहते महा वृद्धयः<sup>१</sup>।।

किन्तु दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि उन्होंने स्वभृत्य बीठलदास जी को प्रेषित एक पत्री में “श्याम वन्दिनी विहार चन्दन” लेने का भी उल्लेख किया है—

“श्री सकल गुण सम्पन्न रसरीति बढावन चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान बीठलदास जोग लिषितं श्री वृन्दावन रजोपसेवी श्री हरिवंश जोरी सुमिरन बंचनौ।।  
.....श्याम वन्दिनी विहार चन्दन लैनौ<sup>२</sup>।”

साथ ही श्री हिताचार्य के प्राचीन हस्तलिखित चित्रों में भी उनके उन्नत ललाट पर तिलक व कण्ठ में युग लड़ी कण्ठी के भी प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इस प्रकार की परस्पर विरोधी स्थिति से एक बार सभी ही किंकर्तव्यविमूढ़ हो सकते हैं किन्तु श्री हिताचार्य प्रणीत “लिखन्ति भुज.....”। इस उपर्युक्त श्लोक में ही उल्लिखित “गुरोर्भजन विक्रमात्” इस पंक्ति को पढ़ने से पाठक पूर्ण रूप से निर्भ्रान्त हो जाता है और हो जाना चाहिये; क्योंकि श्री हिताचार्य ने उपर्युक्त श्लोक में तिलक-कण्ठी धारण करने का निषेध नहीं किया है। अर्थात् कण्ठी धारण न करने और तिलक न लगाने का विधान नहीं बना दिया है। उन्होंने तो “गुरोर्भजन विक्रमात्” से शक्तिमान रसिकों का स्वरूप चित्रण किया है। “गुरोर्भजन विक्रमात्” से यह भाव भी ध्वनित होता है कि जब तक उपासक गुरोर्भजन विक्रम से सम्पन्न न हो जाय तब तक उसका कण्ठी-तिलक धारण करना रसिकाचार के विपरीत नहीं है।

आचार्य चरण ने आलोच्य श्लोक के द्वारा यह बतलाने की कृपा की है कि भगवद् धर्मों से निर्मम होना—भगवद् धर्मों की ममता पर विजय पाना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है। वह ममता देह, गेह और स्वजन-सनेहियों की ममता से भी बढ़कर बलवान है। यह

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ८१

२. श्री मु. प., गो. हि. ह. प्रथम पत्री



कार्य तो एकमात्र 'गुरोर्भजन विक्रमात्' ही हो सकता है। इस बल के बिना यह कार्य करना भगवद् धर्मों के प्रति अनास्था सूचक ही है।

श्री हिताचार्य द्वारा अपने शिष्य बीठलदास को प्रेषित पत्री की एक पंक्ति में "श्याम वन्दिनी विहार चन्दन लैनौ" इस उल्लेख से तो यही ज्ञात होता है कि वे श्याम द्वारा वन्दिनीय विहार चन्दन [वृन्दावन की रज] का ही तिलक लगाते थे। श्री हित चरणाश्रित हरिराम व्यास जी ने भी श्याम द्वारा वन्दनीय वृन्दावन रज के तिलक को ही अपना साज बतलाया है—

मोहि वृन्दावन रज सौं काज। माला-मुद्रा श्याम वन्दनी तिलक हमारौ साज<sup>२</sup>॥

किन्तु श्रीहित तनुज गो. कृष्णदास जी ने श्री हिताचार्य का स्वरूप गान करते हुए उनके भाल प्रान्त पर कस्तूरी तिलक का वर्णन किया है—

कस्तूरी तिलके ललाट फलके धारेण यस्याः स्फुटं।

श्रीराधाख्य महोदयं गुरुवरं ध्यायामि वैयासकिं<sup>३</sup>॥

इनके अतिरिक्त अन्य हित धर्मियों ने श्रीहिताचार्य की जन्म बधाई गान के व्याज से उनका स्वरूप वर्णन करते हुये आचार्य श्री के ललाट पर रोरी का तिलक वर्णन किया है—

देखौ कैसा बना हैगा श्री हित जू व्यास का लाला।.....

तिलक रोरी का माथे पर, झलकती नाक में बेसर<sup>४</sup>।.....

बधाई गायकों के इस प्रकार के वर्णन से दो प्रकार का अर्थ लिया जा सकता है। एक तो यह कि यह वर्णन केवल वर्षगांठ वाले दिन लगाये गये अक्षतयुत कुमकुम तिलक का है। दूसरा यह कि यह तिलक वर्णन श्री हिताचार्य के ललाट पर नित्य सुशोभित होने वाला ही तिलक है।

१. श्याम के द्वारा वन्दनीय विहार चन्दन; श्रीवृन्दावन की रज ही है। श्रीहिताचार्य ने अपने 'वृन्दावन रस' को वृन्दावन रस न लिखकर 'वन विहार रस' ही लिखा है तथा 'राधा सुधानिधि' में भी वृन्दावन को राधाकेलि का साक्षीभूत 'विहारवन' ही लिखा है। तात्पर्य यह कि आचार्य चरण 'विहार' शब्द को वृन्दावन के पर्यायार्थ में भी प्रयोग करते थे। अतः उन्होंने वृन्दावन रज के चन्दन के स्थान पर श्याम वन्दिनी विहार चन्दन का उल्लेख किया है। गो. चन्द्रलालजी ने 'वृन्दावन प्रकाशमाला' में वृन्दावन के एक स्थल पर 'विहार चन्दन की खान' का वर्णन भी किया है—

आगे नीकी विहार चन्दन ही की खान लसै, आगे पै जाये ते तो लागत सुहाये हैं।

— वृ. प्र. मा. च. ला. गो., छं. सं. ८४

२. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ११३

३. वै. अ., कृ. दा. गो., श्लो. सं. ७

४. पदा., हि. दा., हित जन्म बधाई, प. सं. १

हितध्रुवदास जी ने एक स्थान पर उपासक-कृत्यों का वर्णन करते हुए तिलक लगाने का विधान तो बताया है किन्तु यह रज का हो, रोरी का हो, या चन्दन का हो यह नहीं लिखा—

प्रथमहिं मज्जन कीजिये सौरभ अंग लगाय। ता पाछे रचिपचि करै सुन्दर तिलक बनाय<sup>१</sup>।।

स्वामी चतुर्भुजदास जी ने अपने 'द्वादश यश' में नाशा मूल से लेकर विन्दी संयुक्त दण्डाकार केश पर्यन्त ऊर्ध्व तिलक का वर्णन किया है। किन्तु वह किस वस्तु का हो; यह नहीं लिखा है —

पुनि हरि मन्दिर तिलक जु धरई। दण्डाकार छिद्र जुत करई।।

नाशा मूल केश लगि जाई। तिलक भक्त कौ यह कह्यौ भाई<sup>२</sup>।।

अतिबल्लभदास जी ने श्याम वन्दिनी, विहार चन्दन और रोरी के तिलक की कोई चर्चा न करके इष्ट के प्रसादी चन्दन का तिलक लगाने का उल्लेख ही किया है—

जुगल मन्त्र जप तुलसी दाम। तिलक प्रसादी मुद्रा नाम<sup>३</sup>।।

गो. ब्रजलाल जी ने अंगों में नाम मुद्रांकन के साथ ऊर्ध्वपुण्ड तिलक का उल्लेख किया है और इस तिलक को श्याम वन्दिनी द्वारा करने का विधान इस प्रकार किया है—

रासोत्साहं प्रपश्ये द्विमलतर हृदा स्वामिनी गौर बाद्ध्यं।

राधाकुण्डस्य यात्रां परिजनै सावकाशः अकुर्यात्।

तत्रत्या मृत्तिकापि स्व निगम निपुनैः श्याम संवदिनीतिः।

प्रोक्तां मुद्रास्तयैवा रचयतु तिलकं चाम्बु पानं विमिश्रं।

टीका-तथैव श्याम वन्दिन्यैव तिलकं मुद्रा श्चाम्बु। पानं च तथैव विमिश्रं रचयतु करोतु<sup>४</sup>।

इदमित्थं इसी वस्तु का तिलक लगाना चाहिये—ऐसा कोई प्रमाण मिलने के अभाव में श्याम-वन्दनीय विहार चन्दन [वृन्दावन की रज], रोरी तथा केसर के प्रसादी चन्दन इन सभी का नाशामूल से केश पर्यन्त छिद्राकार [बिन्दु युक्त] दण्डाकार ऊर्ध्वपुण्ड तिलक लगाने का प्रचार पाया जाता है। गोस्वामीगण अब श्याम-वन्दनीय विहार चन्दन [वृन्दावन की रज] का तिलक न लगाकर केवल केसर युक्त प्रसादी चन्दन या रोरी का ही तिलक लगाते हैं। तिलक में लगाई जाने वाली बिन्दी-रोरी, श्याम-वन्दनीय विहार चन्दन,

१. ब्या. ली., भजन सत, हि. ध्रु., दा., छं. सं. ४

२. द्वा. य., स्वा. च. दा., शिक्षा सार यश, छं. सं. ११, १२

३. अ. ब. दा. की वा., मन्त्र ध्यान पद्धति, अ. ब. दा. प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ६

४. से. वि., गो. ब्र. ला., श्लो. सं. ३१



[वृन्दावन की रज] और केसर युक्त चन्दन आदि में से किस वस्तु की होनी चाहिये। प्राचीन ग्रन्थों में इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इसीलिए जिस वस्तु का तिलक लगाया जाता है उसी की ही तिलक के मध्य में बिन्दी लगाने की परम्परा पाई जाती है।

राधाबल्लभीय गोस्वामियों की एक साखा में रोरी के तिलक के मध्य श्यामबिन्दु लगाने का भी प्रचार पाया जाता है। कोई-कोई अपने बिन्दु युक्त तिलक में एक अतिरिक्त बिन्दु भी रख लेते हैं किन्तु गोस्वामी दामोदरवर जी ने इस प्रकार बिन्दु युक्त तिलक में दूसरी बैदी देना गुरु-मार्ग-विरुद्ध आचरण बतलाया है —

कोऊ जीव अनसमुझि तिलक द्वै बैदी देंही। गुरु निन्दा करवाय यहै अघ पुज्जनि लैंही<sup>१</sup>॥

कण्ठी —

इस सम्प्रदाय में तुलसी के मनियों की युग लड़ी आकण्ठ लगना कण्ठी धारण करने का विधान मिलता है। स्वामी चतुर्भुजदास जी ने अपने 'द्वादश यश' में इसका उल्लेख इस प्रकार से किया है—

तुलसी की माला जु<sup>२</sup> बनावै। हरिहि चढ़ाय जु आपुन नावै॥

ज्यों द्विज सदा जनेऊ धरई। माला-बिनु जल-पान न करई<sup>३</sup>॥

गोस्वामी ब्रजलाल जी ने इसी मन्तव्य को सुस्पष्ट करते हुए अन्य माला धारण करने का निषेध किया है—

वृन्दाया एव माला मुरसि विनिहितां कण्ठ लगना दधाना।

नान्यामक्षादि मालां हरि शरण गतः प्रेम तो धारयेत<sup>४</sup>॥

#### ५.४.४. मन्त्र-जाप :

इष्ट के नाम जप-स्मरण के साथ-साथ हित रसिकों ने मन्त्र-जाप को भी सहायक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। हित ध्रुवदास जी ने उपासना की सिद्धि कैसे हो ? इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—

“.....जाके सांगोपांग उपासना सहज की होइ। सांग कहा ? गुरु-इष्ट, मन्त्र, रसिकन कौ संग, जब या रस माधुर्य के जु रैं, तब उपासना सिद्ध होइ<sup>५</sup>॥”

१. प्र., प्रा. ना., छं. सं. १८७

२. इस ग्रन्थ के टीकाकारों ने पंक्ति में प्रयुक्त 'माला' शब्द का अर्थ कण्ठी ही स्वीकार किया है।

३. द्वा. य., स्व. च. दा., शिक्षा सार यश, छं सं. १३

४. से. वि., गो. ब्र. ला., श्लो. सं. ४८

५. व्या. ली., हि. ध्रु. दा., सिद्धान्त विचार

इसी प्रकार लोकनाथ जी ने भी मन्त्र-जाप पर विशेष बल देते हुए लिखा है कि—

गुरु-उपासना-मन्त्र-जप, चित्त भावना लीन।

बातनि कारज ना सरै, इहि विधि पहुँचि प्रवीन<sup>१</sup>।।

### ५.४.४.१. मूलमन्त्र किंवा निजमन्त्र :

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना का दीक्षा मन्त्र किसी ऋषि-देव या नारायण आदि के द्वारा सम्प्रोक्त न होकर साक्षात् पूर्णानुराग मूर्ति श्री राधा के ही श्री मुखोक्त है। रसोपासना सिद्धि का एकमात्र मूल मन्त्र होने के कारण इसे 'मूल मन्त्र' कहा जाता है। इसके जाप से रस स्वरूप श्री युगल की तत्क्षण प्राप्ति होती है। इसीलिए इसे 'युगल मन्त्र' भी कहा जाता है<sup>२</sup>। यह मन्त्र सर्वप्रथम प्रेममूर्ति श्री राधा से श्री हिताचार्य को ही प्राप्त हुआ और उन्हीं के द्वारा इस मानव जगत में इस मन्त्रराज का प्रकाश हुआ। अतः यह 'श्रीहित मन्त्र' नाम से भी अभिसंज्ञात है।

यह द्वादशाक्षरी सिद्ध मन्त्र है। इस मन्त्र में 'ओम्', 'कर्ली', 'नमः', 'शरणं' आदि शब्द संयुक्त नहीं हैं और न ही इसमें अंगन्यास-करन्यास आदि की कोई अनुष्ठान विधि का ही विधान है। यह जाप मात्र से ही सिद्ध होता है। अर्थात् नित्यबिहारी श्री हित युगल का प्रत्यक्ष दर्शन और नित्य सामीप्य प्राप्त होता है। गो. ब्रजलाल जी ने अपने 'सेवा विचार' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियों को भी इस मन्त्र प्राप्त करने का अधिकारी बतलाया है—

श्रीमद् व्यासात्मजस्य श्रवण पथिपुरा श्री किशोर्या यदुक्तं

सिद्धं मंत्रेण तेन प्रथिततमगुणः श्रद्धितान् दीक्षयेत्।

विप्रान् क्षत्रां च वैश्यां निज शरणगतान्साधु शूद्रांस्त्रियोपि

सर्वेषां चाधिकारो भवति भगवतः शुद्ध मंत्र प्रदाने<sup>३</sup>।।

इस मंत्र में ओंकार आदि के लिए स्थान नहीं है। भजनदास जी ने इस मन्त्र को रस के प्रकटतम स्वरूप नित्यबिहार और इसके वाङ्मय स्वरूप श्रीहितवाणी का सान्द्र स्वरूप में देखने की भावना प्रकट की है —

१. हि. चौ. टी., टी.—लो. ना., दो. सं. १२, प्रारम्भिक

२. द्वार तिहारे पीपर जोहै। ऊँची डार सबनि में सोहै।।

तामें अरुन पत्र इक न्यारौ। जामें जुगल मन्त्र है हमारौ।।

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ७१, ७२

३. से. वि., ब्र. ला. गो., श्लो. सं. ८८



सर्वोपरि सबते परे अनुपम सुख कौ मूल।  
 श्री हित मंत्र समुद्र रस वैभव अमित अतूल॥  
 रसमय द्वादश वरन निज प्रथम बीज हित जानि।  
 ओंकार यामें नहीं यह मन निश्चै मानि॥  
 श्रीहित नित्यबिहार सब, सो निज मंत्र स्वरूप।  
 याही के अनुकूल हित वाणी रसद अनूप॥  
 सिद्ध मन्त्र यह जानिये यामें विधि कछु नाहिं।  
 मन की गति कौं रोकिकैं करै भजन उर माँहिं॥  
 याते मन जपिये सदा श्री हित-मन्त्र रसाल।  
 अगम सुगम करि देत हैं शरणागत प्रतिपाल<sup>१</sup>॥

भजनदास जी ने नित्यबिहार प्राण रसोपासना में इष्ट, गुरु और निज मंत्र इन तीनों को एक ही रूप में देखा है—

इष्ट-गुरु अरु मंत्र निज एक रूप रस खान।  
 इनकौं तजि औरहि भजै सौ व्यभिचारी जान<sup>२</sup>॥

#### ५.४.४.२. शरणागत मन्त्र :

इस निजमन्त्र के अतिरिक्त एक और अन्य मन्त्र प्रदान करने की भी प्रथा पाई जाती है, जिसे 'शरणागत मन्त्र' कहते हैं। जबसे इस मन्त्र का प्रचार हुआ तब से श्रीहित मन्त्र का नाम 'निजमन्त्र' कर दिया गया है। यह शरणागत मन्त्र अष्टदशाक्षरी है। वर्तमान समय में निजमन्त्र [हित मंत्र] दीक्षा से पूर्व इस मंत्र की दीक्षा का प्रचार बहुल पाया जाता है। इस शरणागत मन्त्र की दीक्षा का प्रारम्भ कब से और किस कारण हुआ यह अज्ञात है। किन्तु इसका आरम्भ श्री हिताचार्य के द्वारा नहीं हुआ था—यह एकान्त सत्य है।

श्री हिताचार्य ने निकुंज गमन करने के पश्चात् सेवक जी को एक निजमन्त्र ही दिया था और इसके बाद अन्य किसी भी मन्त्रदान का प्रमाण नहीं है। ठीक यही मन्त्र इनके परम मित्र चतुर्भुजदास जी को श्री हिताचार्य के सुपुत्र गोस्वामी वनमालीदास जी द्वारा प्राप्त हुआ था—

जोई मन्त्र चतुर्भुज सुनि आये। सोई मंत्र सेवक घर पाये<sup>३</sup>॥

छबीलेदास जी, हरिवंशदास जी, हरिरामव्यास जी, परमानन्ददास जी, प्रबोधानन्द

१. २. भ. दा. की वा., भ. दा., दो. सं. ५७, ५८, ६३, ६६, ७०, १०१

३. र. अ. मा., भ. मु., सेवक जी की परचई, छं. सं. ३७

जी, खरगसेन जी आदि-आदि अनेक श्री हित शिष्यों के चरित्रों में भी किन्हीं दो मन्त्र दान का प्रमाण नहीं मिलता। 'द्वादशयश', 'सेवकवाणी', 'भावामृत', 'भावना सागर' आदि जिन-जिन ग्रन्थों में मन्त्र की चर्चा की गई है उन-उन ग्रन्थों में भी केवल एक ही मन्त्र के आदान-प्रदान और जाप का उल्लेख है। गोस्वामी ब्रजलाल जी ने अपने 'सेवा विचार' नामक ग्रन्थ में भी इस शरणागत मन्त्र का कोई उल्लेख न करके केवल उसी मन्त्र का आदान-प्रदान करने का उल्लेख किया है जो श्री राधा ने अपने श्री मुख से श्री हिताचार्य को प्रदान किया था—

श्रीमद् व्यासात्मजस्य श्रवण पथि पुरा श्री किशोरी यदुक्तं।  
सिद्ध मन्त्रेण तेन प्रथिततम गुण श्रद्धितान् दीक्षयते<sup>१</sup>।

#### ५.४.४.३. अन्य मन्त्र :

गो. कमलनयन जी के शिष्य अतिबल्लभदास जी ने 'मूल मन्त्र' के अतिरिक्त अन्य पच्चीस मन्त्रों का उल्लेख करते हुए उन्हें श्री हिताचार्य को सेवाकुंज में ललिताजी द्वारा लिखित रूप में प्राप्त बतलाया है—

मन्त्र पच्चीस औरहू गाये। सेवाकुंज मध्य जो पाये॥  
आठ, पाँच, बारह, इहि क्रम धरि। श्री ललिता लिखि दिये मन्त्र वर॥  
आठ सखिन के आठ मन्त्र लहि। पाँच मन्त्र सेवा सु ठाठ लहि॥  
बारह सात गुने है दरसे। ते चौरासी पद रस सरसे॥  
रसमय द्वादश मन्त्र तहँ द्वादश अभरन जानि।  
श्रीहित जू की कृपा करि जानत भावक जानि<sup>२</sup>॥

अतिबल्लभदास जी के अतिरिक्त उनके पूर्ववर्ती, समसामयिक और परवर्ती किसी भी वाणीकार ने इन मन्त्रों की चर्चा नहीं की है और न ही सम्प्रदाय में इनकी परम्परा ही सुरक्षित है। जैसा कि द्वादश मन्त्रों के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए अतिबल्लभदास जी ने लिखा है कि वह द्वादश मन्त्र ही सात गुने क्रम से चौरासी पदों के रूप में श्री हिताचार्य द्वारा प्रकट हुए; सम्भव है कि अन्य मन्त्र भी पदों के रूप में ही प्रकट किये हों जो आज अप्राप्त हो गये हैं। दुःख है कि अतिबल्लभदास जी ने द्वादश मन्त्रों के पद रूप में प्रागट्य चर्चा की भाँति अन्य मन्त्रों के सम्बन्ध में कोई ऐसा संकेत नहीं किया है जिसके आधार पर कुछ खोज की जा सके।

१. से. वि., ब्र. ला. गो., श्लो. सं. ८८

२. मं. ध्या. प., अ. ब. दा., छं. सं. ११, १२, १६ प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ५



### ५.४.५. रसिक वाणियों का कथन-श्रवण :

श्री हिताचार्य ने उपास्य 'रस' को 'अदभुतानन्द' संज्ञा देते हुए कहा है कि यदि तुम्हें अदभुतानन्द का लोभ हो तो इस 'रससुधानिधि' स्तव को कर्ण-कलशों द्वारा ग्रहण करके निरन्तर पान करो<sup>१</sup>। एक दूसरे स्थल पर इसी आदेश को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है कि मैं श्रीकृष्ण रसामृत का सार वर्णन कर रहा हूँ, इस वर्णन—'वाणी' को सुनने से श्री राधा की पद-रति प्राप्त होगी<sup>२</sup>। श्री हिताचार्य के इन सूत्र वाक्यों के आलोक में यह तथ्य असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि श्री हिताचार्य ने उपास्य श्यामा-श्याम की केलि कथामृत रूप रस वाणियों को इष्ट-लाभ के लिए विधेय कहा है। श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों का आधार पाकर सेवक जी नागरीदास जी तथा हित ध्रुवदास जी आदि अनेक रसिकों ने भी रसिक वाणियों का कथन-श्रवण इष्ट वस्तु की उपलब्धि के लिए सहायक स्वीकार किया है।

श्री हरिवंश वाणी के सर्वमान्य और अन्यतम अध्येता सेवक जी ने इस रस पान की विधा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—उपासकगण रसिक वाणियों का कथन-श्रवण, पठन-गायन और विस्तरण करके उसी लीला रस का पान करते हैं जिन लीलाओं को निजदासी ललितादिक सखियाँ अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखकर अपना जीवन धारण करती हैं<sup>३</sup>। सेवक जी ने रसोपासना की सिद्धि के लिए श्री हरिवंश वाणी का पठन-श्रवण, कथन-जपन और मनन-चिन्तन ही एकमात्र आधार स्वीकार किया है<sup>४</sup>।

१. अदभुतानन्द लोभश्चे नाम्ना रस सुधानिधिः। स्तवोयं कर्ण कलशैः गृहीत्वा पीयतां बुधा॥  
— रा. सु. नि., श्लो. सं. २७०
२. हितहरिवंश यथामति वरनत कृष्ण रसामृत सार। श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद अम्बुज सुकुमार॥  
— हि. चौ., प. सं. ३०
३. नवल-नवल सुख चैन ऐन आपुने आपु बस। निगम-लोक मर्याद मंजि क्रीडंत रंग रस॥  
सुरत प्रसंग निशंक करत जोई-जोई भावत मन। ललित अंग चलि मंगि भाव लज्जित सु कोक गन॥  
अदभुत विहार हरिवंश हित निरखि दासि सेवक जियत।  
विस्तरत सुनत गावत रसिक सु नित-नित लीला रस-पियत॥  
— से. वा., हित रस रीति प्रकरण, छं. सं. ६
४. निपट करि रसिक जो होहु तैसी कहौ अब जु यह सुनौ मेरी कहानी।  
जौरु तुम रसिक रसरिति के चाड़िले तौरु मन देहु हरिवंश वानी।  
रसिक जो सद्य चाहत जु रसरिति फल तौरु मन देहु हरिवंश वानी।  
रसिक रस मत्त श्रुति सुनत पीवन्त रस रसनि गावन्त हरिवंश वानी।  
कहत हरिवंश हरिवंश हरिवंश हित जपत हरिवंश हरिवंश वानी।  
श्याम-श्यामा प्रगट, प्रगट अक्षर निकट प्रगट रस श्रवत अति मधुर वानी।  
सो जु वानी रसिक नित्य निशि-दिन रटत कहत अरु सुनत रसरिति जानी।  
— से. वा., वाणी प्रकरण, छं. सं. ७, ५, १, ४

नागरीदास जी ने भी उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि श्री हित भजन [रसोपासना] के क्षेत्र में वही सुसाधु के रूप में सम्मानित होता है जिसके प्राण श्री हरिवंश वाणी में रम गये हैं। जब तक उपासक के तन-मन और प्राणों में तन-मन और प्राण ही बनकर श्री हरिवंश वाणी रम नहीं जाती तब तक वह साधक इष्ट वस्तु से बहुत दूर आखेटक द्वारा वध किये हुए पक्षी की तरह जहाँ तहाँ भटकता फिरता है। उन्होंने अपनी आन्तरिक भावना को और भी निरावृत्त करते हुए यह भी उद्घोष किया है कि उपासक के सारे मनोरथ श्री हरिवंश-वाणी सेवन से ही पूरे हो सकेंगे।

#### ५.४.६. रसिक-संग :

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि श्री हिताचार्य ने “कर्ण-कलशैः गृहीत्वा पीयतां बुधाः”<sup>१</sup> इस वाक्य के द्वारा एक विशिष्ट संकेत यह भी दिया है कि इस स्तव को रसिकों से सुनकर इसका रस पान करो। बहुत अधिक स्पष्ट है कि अद्भुतानन्द की उपलब्धि—‘रस पान’ का आधार वाणी श्रवण के साथ-साथ रसिकों का संग अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है। श्री हिताचार्य ने अनेक स्थलों पर रसिकों का संग करने का आदेश दिया है।

एक स्थल पर उपासक के कृत्यों का उपदेश करते हुए यह भी कहा है कि यदि तुम कृष्ण-कल्पतरु—श्रीराधा की निरन्तर सेवा का सुख प्राप्त करना चाहते हो और मन को प्रेम रस में निमग्न करना चाहते हो तो तुम अहर्निशि सच्चे रसिकों का निरन्तर संग करो<sup>२</sup>।

एक अन्य स्थल पर श्री हिताचार्य ने यह भी कहा है कि काल ब्याल ग्रसित इस संसार के आवागमन-चक्र से सदा के लिये विमुक्त होना चाहते हो तो श्यामा-श्याम के चरन-कमल के निरन्तर संगी [चरण-कमलाशक्त] रसिकजनों को ही अपना इष्ट

१. सोई सुजन सु साधु निज वर वानी में प्रान। तेई निघरक शोभिये भजन मौझ सनमान॥ तन-मन-प्रानन में रमै वानी रसिकमणि राज। सुकृती सुघर सु सुजनजन करै देह धरि काज॥ भजनहिं पकरै सुमग मन सुफल काज धरि देह। श्री गुरु वचन सँभारि उर वस्तु न परिहै छेह॥ वानी श्री हरिवंश की जब लागि हिय न समाइ। बौधे बधिक विहंग ज्यों हाटे हाट बिकाय॥ सबै काज वानी सधै बँधै न कौनहु आस। निघरक वेपरवाह हिय हरषत भजन हुलास॥ अँखियन अंजन अमल सुख मन हिय उज्ज्वल प्रान। रस निधि निरवधि भजन की वर वानी परमान॥

— ना. दा. जी की वा., ने. ना. दा., दो. सं. ६७२, ६७५, ६७६, ६०, ४२२, ४९२

२. रा. सु. नि., श्लो. २७०, प्र. पृ. सं.

३. तनहिं राखि सत्संग में मनहिं प्रेम रस भेव। सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कल्पतरु सेव॥

— स्फु. वा., गो. हि. ह., अन्तिम दोहे



स्वीकार करके उनके चरणों में सर्वात्मना समर्पण कर दो<sup>१</sup>।

### ५.४.७. स्वेष्ट के नाम-धाम का ही नित्य सेवन :

श्री हिताचार्य ने अनन्यतामूलक अपनी रसोपासना सिद्धि स्वरूप इष्ट लाभच्छुकों को रस साधनों के उपर्युक्त साधनों के साथ ही इष्ट के नाम और इष्ट के धाम [वृन्दावन] का निरन्तर सेवन करने का भी विधान किया है<sup>२</sup>। एक अन्य स्थल पर भी उन्होंने वृन्दावन रज सेवन का विधान इन शब्दों में किया है—

जै श्री हित हरिवंश अनत सचु नाही बिनु या रजहिं लियै<sup>३</sup>

सेवक जी तथा नागरीदास जी ने भी इसी प्रकार वाणी गान के साथ-साथ नाम स्मरण पर अत्यधिक बल दिया है।

श्री हिताचार्य के उपर्युक्त उपासना सूत्रों का व्याख्यान सेवक जी, व्यास जी, नागरीदास जी तथा हित ध्रुवदास जी आदि-आदि रसिकों ने अनेक प्रकार से किया है।

सेवक जी ने श्री हरिवंश धर्म किंवा हितधर्म में दीक्षित धर्मी के लिए उसकी जीवनोपजीविका कौन सी वस्तु है ? और वह सब कैसे प्राप्त होगी ? इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—श्री राधाबल्लभलाल के भजन कर्ताओं—रसिकजनों का भजन करने से दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापों का नाश होता है। सब प्रकार के सुख तथा सम्पत्ति प्राप्त होती है। श्री हरिवंश-चरणों में प्रीति होती है। विषय-विष का नाश तथा वृन्दावन का वास प्राप्त होता है। इस प्रकार रसिकों के सुदृढ़ सत्संग से श्री हरिवंशोद्भूत गूढ़ और गम्भीर रसरीति पूर्णतः हृदयंगम होगी—ऐसी स्थिति में श्यामा-श्याम के चरण-कमलों में वास्तविक प्रीति होगी और उसका यश भी जग में फैल जायगा<sup>४</sup>।

१. जै श्री हित हरिवंश प्रपंच वंच सब काल व्याल कौ खायौ।

यह जिय जानि श्याम-श्यामा पद-कमल संगी सिर नायौ॥

— हि. चौ., प. सं. ५६

२. सबसौं हित निष्काम मति वृन्दावन विश्राम। श्री राधाबल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम॥  
रसना कटौ जु अनरटौ निरखि अनफुटौ नैन। श्रवन फुटौ जो अनसुनीं बिनु राधा जस बैन॥

— स्फु. वा., गो. हि. ह., अन्तिम दोहे

३. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०

४. श्री राधाबल्लभ भजत भजि-भली भली सब होय। त्रिविध ताप नाशहि सकल सब सुख सम्पति होय॥  
सब सुख सम्पति होय होय हरिवंश चरन रति। होय विषय विष नाश होय वृन्दावन बसि गति॥  
होय सुदृढ़ सत्संग होय रसरीति अगाधा। होय सुजश-जग प्रगट होय पद प्रीति सु राधा॥

— से. वा. भक्त भजन प्रकरण, छं. सं. ६

उन्होंने अपनी इसी भावना को अन्य शब्दों में व्यक्त करते हुए एक अन्य स्थल पर लिखा है कि श्री हित धर्मियों का निरन्तर संग करने से प्रेम की निर्वाध दशा प्राप्त हो जाती है और रस रंग की वृद्धि होती है—अर्थात् उपासक वृन्दावन रस के आनंद में निमग्न रहने लगता है<sup>१</sup>। वह हित धर्मी उन हित धर्मियों की कृपा से वृन्दावन रस मत्त हो जाता है साथ ही एकमात्र श्री हरिवंश वाणी के रस समुद्र का कल्लोलक मीन बन जाता है। अर्थात् वह वृन्दावन रस का आदर्श अनन्य बन जाता है<sup>२</sup>। इसी भावना पर सर्वाधिक बल देते हुए उन्होंने यह भी घोषणा की है कि जो श्री हरिवंश वचनों का पालन नहीं करते—अर्थात् रसिकों की सेवा नहीं करते वे सब गुरु द्रोही हैं<sup>३</sup>। एक अन्य स्थल पर रसिकजनों को ही अपना अनन्याश्रय संकेत करते हुए कहा है कि जो श्री हरिवंश धर्म धारण करते हैं, श्री हरिवंश नामोच्चारण करते हैं, श्री हरिवंश नाम ही सुनते हैं, श्री हरिवंश वाणी का ही उच्चारण करते हैं और मन से श्री हरिवंश नाम का ही स्मरण करते हैं; ऐसे रसिक यदि मुझ पर कृपा करें तो मेरा निर्वाह हो सकता है—मुझे मेरी इष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है<sup>४</sup>।

इसी प्रकार नागरीदास जी ने भी श्री हरिवंशोदित रसोपासना की अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने के लिए रसिकजनों का संग और उनकी कृपा ही एकमात्र उपाय स्वीकार किया है। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है कि जहाँ पर अपने धर्मियों और मर्मियों का समाज सुशोभित है वहीं पर उपासक की शोभा और संपूर्ण सुख है। अतः जिसके हृदय में श्री हरिवंश चरण-कमलों की ही एकमात्र आशा है; उन्हीं के चरण-कमलों का निरन्तर सेवन करना चाहिए। रसिकों की सेवा करने से श्यामा-श्याम सहज ही उस रसिक साधक

१. नित इक धर्मिन संग रंग बढ़त नित-नित सरस। नित-नित प्रेम अमंग यह जु कृपा हरिवंश की॥

— से. वा., अकृपा-कृपा प्रकरण, छं. सं. ४

२. श्री हरिवंश धरम्मी कृपा करैं तासु कृपा रस मादिक डोलत।

श्री हरिवंश की वाणी समुद्र कौ मीन भयौ जु अगाध कलोलत॥

— से. वा., पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. ८

३. श्री हरिवंश जु कही श्याम-श्यामा पद कमल संगी सिर नायौ।

ते न वचन मानत गुरु द्रोही निशि-दिन करत आपुनौ भायौ॥

— से. वा., पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. ६

४. श्री हरिवंश धर्म जे घरहिं। श्री हरिवंश नाम उच्चरहिं॥ ते सब श्री हरिवंश के॥

श्रवण सुनहिं जे श्री हरिवंश। मुख वरनत वानी हरिवंश॥ मन सुमिरन हरिवंश कौ॥

ऐसे रसिक कृपा जो करैं। तौ हमसे सेवक निस्तरैं॥ जूठनि लै पावैं सदा॥

सेवक शरण रहै गुन गाइ। संतत सकल सुनहु चित लाइ॥ श्री हरिवंश प्रताप जस॥

— से. वा., नाम प्रताप तृतीय प्रकरण, छं. सं. १०



के आधीन हो जाते हैं<sup>१</sup>।

हित ध्रुवदास जी ने भी उपासना सिद्धि के लिए रसिकों के संग को सबसे महत्वपूर्ण बताते हुए कहा है कि—

“मूल तौ कृपा रसिक भक्तनि की जिनसों संग मन-वच-क्रम करि करै निशिदिन, अरु रसमयी भजन के अभ्यास में रहै निशिदिन। और कठिन कलेश साधन सों न बनै। यह रस अति कोमल है माखन सों माखन मिलै.....सर्वोपरि साधन यह है जो रसिक भक्त हैं तिनकी चरन रज बन्दै, तिनसों मिलि किशोरी-किशोर जू के रस की बातें कहै-सुनै निशि-दिन अरु पल-पल उनकी रूप माधुरी विचारत रहै। श्री किशोरी-किशोर जू की प्रेम रस माधुरी तबही उर में आवै, जाके सांगोपांग उपासना सहज की होइ। गुरु, इष्ट, मन्त्र, रसिकनि कौ संग। जब या रस माधुरी के जरै तबही उर में आवै<sup>२</sup>।”

#### ५.४.८. श्री हरिवंश नाम स्मरण :

हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर श्री हिताचार्य ने अपनी रचनाओं में आलेखों द्वारा तथा जीवन में प्रत्यक्ष आचरणों द्वारा अपनी परमाराध्या और गुरुवर श्री राधा-नाम स्मरण, जप और चिन्तन का मूर्त विधान किया है वहीं पर उन्हीं के शिष्य सेवक जी ने [वि. सं. १६१० में ही] श्री राधा के स्थान पर श्री हरिवंश नाम-रूप की सम्प्रतिष्ठा कर दी है और इस अभिनव सम्प्रतिष्ठा को श्रीहिताचार्य के सम्पूर्ण नाद-बिन्दु परिकर ने आचार्य-आज्ञा की भाँति ही मन-क्रम और वचन से सिराधार्य भी किया है;—ऐसा क्यों ?

लेखक को इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि इस प्रश्न का उत्तरदायित्व लेखक पर न होकर उस समग्र श्रीहित नाद-बिन्दु परिवार पर ही है जिसने सेवक जी की अभिनव सम्प्रतिष्ठा को आचार्याज्ञा की भाँति बिना किसी ननुनच के स्वीकार कर लिया है। इतना ही नहीं ‘सेवकवाणी’ को भी श्री हिताचार्य की वाणी के समान ही समाद्रित करने का विधान भी बना दिया है<sup>३</sup>।

१. धर्मी मर्मी भजन कौ तहाँ सकल सुख साज। विमल वस्तु में मन परे सुकृती साधु समाज।। जाके हिय श्री व्याससुव चरन-कमल उल्लास। जूठ खाइ पद सेइये तासु नागरीदास।। ताको दासन्तन करै दंपति सहज अधीन। सेवी रसिक नरेश के चरन-कमल अधीन।।

— ना. दा. जी की वा., ने. ना. दा., दो. सं. १६५, २८१, २८२

२. ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.

३. सेवकवाणी जे नहिं जानै। तिनकी बात रसिक नहिं मानै।

जब सेवकवानी उर धरै। श्री हरिवंश कृपा तब करै।।

— र. अ. मा., म. मु., सेवक जी की परचई

सेवक जी ने 'सेवकवाणी' के पंचम प्रकरण में अपने उपास्य 'हित' किंवा 'हित हरिवंश' के सर्वात्मक स्वरूप का परिचय दिया है। उन्होंने कहा है कि श्री हरिवंश ही कारण है; वही कार्य है, वही अद्वय तत्त्व है; वही उपास्य [इष्ट] है और वही उपासक है<sup>१</sup>। इस प्रकार का अभेदत्व घोषित करते हुए वे अपनी सहज अनन्य निष्ठा श्रीहरिवंश में ही केन्द्रित करते हुए यह कह उठते हैं कि हम तो श्री हरिवंश की ही उपासना करते हैं—

कोउ यम नेम करत अपनी रुचि कोऊ अवतार कदम्ब उपासी।

मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत हम श्री हित हरिवंश उपासी<sup>२</sup>॥

वे अपनी सहज अनन्य निष्ठा को एक प्रकार से नहीं अपितु अनेक प्रकारों से प्रगट करते हैं। अथवा उनकी यह अनन्य निष्ठा स्वयमेव ही अनेक रूपों में मुखरित हो उठती है। उदाहरणः— वे श्यामा-श्याम की केलि को 'श्री हरिवंश-केलि' ही कहते हैं। [श्यामा-श्याम की केलि नहीं<sup>३</sup>] श्री श्यामा-श्याम के सुरत विहार को 'श्री हित हरिवंश-विहार' ही कहते हैं<sup>४</sup>। श्री श्यामा-श्याम के नित्य रास और विलास को 'श्री हरिवंश-विलास' और 'श्री हरिवंश-रास' ही कहते हैं<sup>५</sup>। श्री वन की यमुना तटवर्ती कुंज कुटीर में सुशोभित श्यामा-श्याम को देखकर वे कह उठते हैं कि कुंज कुटीर में श्री हित हरिवंश ही सुशोभित हो रहे हैं; जिनके गौरांग वपु में नीलाम्बर और श्याम वपु में पीतांबर सुसज्जित हैं<sup>६</sup>। वे श्री व्यास मिश्र के पुत्र हरिवंश चन्द्र को परात्पर तत्त्व—'प्रेम'

१. श्री हरिवंश विपुल गुण मिष्टं। श्री हरिवंश उपासक-इष्टं॥.....

कारज हरिवंश प्रताप सु उद्धित कारन श्री हरिवंश मनं॥.....

श्री हरिवंश नाम-गुण श्रृपं। श्री हरिवंश प्रेम रस रूपं॥

रसमय हरिवंश परम परमाक्षर श्री हरिवंश कृपा सदनं।

आत्मा हरिवंश प्रगट परमानंद श्री हरिवंश प्रमान मनं॥

— से. वा., इष्टराघन पंचम प्रकरण, छं. सं. १, २

२. से. वा., अनन्य टेक प्रकरण अष्टम, छं. सं. १

३. [क] श्री हरिवंश नित्य वर केलि। बाढ़त सरस प्रेम रस बेलि॥ मेलि कण्ठ भुज खेलहीं।

— से. वा., श्री हरिवंश रस विलास, द्वितीय प्रकरण, छं. सं. १

[ख] श्री हरिवंश करत नित केली। छिन-छिन प्रति नव-नव रस झेली॥

— से. वा., श्री हरिवंश वाणी प्रकरण, छं. सं. ३

४. अद्भुत बिहार हरिवंश हित निरखि दासि सेवक जियत।

— से. वा., हित रसरीति प्रकरण, छं. सं. ६

५. श्री हरिवंश विलास रास रस श्री हरिवंश संग अनुमैहौं।

— से. वा., अनन्य टेक, अष्टम प्रकरण, छं. सं. ४

६. रस सागर हरिवंश हित लसत सरित वर तीर।.....

बसत जु कुंज कुटीर भीर नव रँग मामिनि मर। चीर नील गौरांग सरस घन तन पीताम्बार॥

— से. वा., हित भक्त भजन प्रकरण, छं. सं. १४



का ही प्रकट रूप मानते हैं; तभी तो वे कहते हैं कि श्री व्यासनन्दन ही जगदीश हैं, जगद्गुरु हैं; जगदाधार हैं, जग जीवन हैं, जग शोभा हैं, जगमण्डन हैं, जगवन्द्य हैं और जगत के मंगलकर्ता हैं<sup>१</sup>। सेवकवाणी के अक्षर-अक्षर में परिलक्षित उपर्युक्त सेवक-भावना ही अतिबल्लभ जी,<sup>२</sup> सहचरिसुख जी,<sup>३</sup> महन्त बल्लभदास जी,<sup>४</sup> लाङ्गिलीदास जी,<sup>५</sup> हरिलालव्यास जी, चाचा वृन्दावनदास जी, सर्वसुखदास जी आदि-आदि रसिकों की वाणी में मुखरित हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सेवकजी ने तथा परवर्ती संपूर्ण हित रसिकों ने परम प्रेम स्वरूप श्री हित हरिवंश को ही उपास्य तत्त्व, अभेद तत्त्व, परात्पर तत्त्व और अवतारी माना है<sup>६</sup>।

१. जयति जगदीश जस जगमगत जगद्गुरु, जगत वन्दित सु हरिवंश-वानी।

— से. वा., श्री हरिवंश वाणी प्रकरण, छं. सं. १

व्यासनन्दन जगत आधार जगमगत जग, सब जग वन्दनीय जग भय विहण्डन।

जग शोभा जग सम्पदा जग जीवन सब जग मण्डन।।

जग मंगल जग-उद्धरण जग-निधि जगत प्रसंश। चरन शरन सेवक सदा सु जै-जै श्री हरिवंश।।

— से. वा., हित रसरीति, सप्तम प्रकरण, छं. सं. १

२. जै जै जै सुर-नर-मुनि भाखैं। महा प्रेम कौ सुरतरु प्रगट्यौ सुफल भई अभिलाषैं।।.....

जुग-जुग रूप अनूपम धरिकैं जग में साके कीने। राम-रूप धरि सीता व्याही धनुष तोरि जस लीनों। ब्रज-मथुरा-द्वारिका धाम त्रय भक्तनि कौ सुख दीनों। रास-विलास किये गोचारन रुकमिनि आदि विवाहीं। नाम-रूप-गुण-कर्म-अन्त नहिं जुग जुग के अनुसार। पुनि अब श्री हरिवंश प्रगट है तीन रूप दरसाये। वंशी, वंशीधर, द्विजवर वपु व्यास मिश्र घर आये।।.....

— पदा., हित जन्म बघाई, अ. ब. दा., प. सं. १

३. आजु सुहेलरा री हेली तारानन्द कौ। व्यास महल में री हेली रंग अनन्द कौ।।

जन्म बघावौ री हेली भाव सु छन्द कौ। जस हरिवंश कौ री हेली रस ब्रज चन्द कौ।।

— पदा., हित जन्म बघाई, स. सु., प. सं. ३

४. ....“श्री हित जू अरु श्री कृष्ण जू दोऊ एक हैं। जैसैं श्री कृष्ण अनन्त रूप अवतार-अवतारी पूर्ण-पूर्णतर रूपान्तर भेद, प्रकाश भेद, भाव भेद करि अनन्त रूप नित्य धाम में मूर्तिमान विराजैं हैं, तैसैंई श्री हित जू प्रगट प्रकाश अरु अप्रगट प्रकाश करि अनन्त रूप हैं। कोऊ रूप कौ दुखावैं नहीं, अपराध रहित सेवन करै। श्री कृष्ण रूप की जब हित भावना करै अरु अनुभव जब होय तब अवतार-अवतारी सबनि कौं इनहीं में देखै। जब श्री हित जू कौ आचार्य रूप में देखैं, तब जितने आचार्य भगवद् धर्म के हैं ते इनते जुदे न समुझै।”

— से. वा. सि., ब. दा. म., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ४

५. तन हरिवंश कौ विपिन है मन हरिवंश कौ लाल। सकल सु इन्द्री सखीगन प्रान आत्मा बूल।।

— सु. बो., ला. दा., वस्तु विचार, द्वितीय प्रसंग, दो. सं. २

६. लता भवन सुख शीतल छाँह। श्री हरिवंश रहत नित।। तहाँ न वैभव आन की।।

जब-जब होत धर्म की हानि। तब-तब तन धरि प्रगट।। जानि और दूजौ नहीं।।

— से. वा., श्री हरिवंश रस विलास, द्वितीय प्रकरण, छं. सं. २

रसिक वाणी साहित्य के आलोड़न से यह ज्ञात होता है कि सेवक जी की इस अभिनव सम्प्रतिष्ठा को जो कि श्री हिताचार्य के आदेश के सर्वथा विपरीत जैसी दिखायी देती थी; आचार्य श्री हरिवंश के नाद-बिन्दु परिवार ने आचार्याज्ञा की भाँति इसलिए सिरोधार्य कर लिया; क्योंकि पूरे परिवार के समक्ष सेवक जी आचार्यवर श्री हरिवंश की प्रति मूर्ति आचार्य के रूप में तथा सेवकवाणी आचार्य-वाणी के रूप में प्रत्यक्ष हुई थी।

‘सेवक जी आचार्य के रूप में प्रत्यक्ष हुए थे’—यह कहने का ठोस आधार यह है कि—भगवत मुदित जी कृत ‘रसिक अनन्य मालादि’ रसिक चरित्र ग्रन्थों में उल्लिखित सेवक चरित्र से ज्ञात होता है कि गो. हित हरिवंश जी निकुंज गमन करने के पश्चात् एकमात्र सेवक जी की करुण पुकार पर ही प्रत्यक्ष हुए थे और मन्त्रदान के साथ-साथ स्व स्वरूप में ही वृन्दावन, श्यामा-श्याम और ललितादिक सहचरियों के दर्शन भी करा दिये थे। इस परमाश्चर्य जनक घटना ने श्री हरिवंश के समस्त नाद-बिन्दु परिवार को अत्यधिक प्रभावित किया। परिणामतः उन सबकी यह धारणा बन गई कि सेवक जी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं प्रत्युत कोई असाधारण महापुरुष ही हैं जिनके स्नेह ने निकुंजस्थ श्री हित हरिवंश को आकर्षित ही नहीं किया प्रत्युत प्रगट होने के लिए विवश भी कर दिया है। यही कारण है कि श्री हितात्मज गो. वनमालीदास जी ने उन पर श्रीजी का भंडार ही लुटा दिया और उन्हें सब हित धर्मियों में प्रधान स्वीकार कर लिया<sup>१</sup>। तभी तो नेही नागरीदास ने सेवक जी का महिम्न गान इन शब्दों में किया—

प्रथम श्री सेवक पद सिर नाऊँ।

करहु कृपा श्री दामोदर मोपै श्री हरिवंश चरन रति पाऊँ॥

गुन गम्भीर व्यासनन्दन जू के तुव परसाद सुजस-रस गाऊँ।

नागरीदास के तुमहि सहायक रसिक अनन्य नृपति मन भाऊँ<sup>२</sup>॥

श्री हित नाद-बिन्दु परिवार ने जब सेवकवाणी का पठन-श्रवण किया तब तो सभी की यह धारणा बन गई कि यह ‘सेवकवाणी’ तो उपदेशक किंवा आदेशकर्ता आचार्य वाणी के रूप में ही प्रत्यक्ष हुई है; क्योंकि इसमें दीक्षित होने वाले तथा दीक्षा देने वाले दोनों ही वर्गों के लिए आदेश दिये गये हैं। यथा—

शुक्र मुख वचन जु श्रवन सुनावहु। तब श्री हरिवंश सु नाम कहावहु<sup>३</sup>।

१. र. अ. मा., भ. मु., सेवक जी की परचई

२. ने. ना. दा. की वा., ने. ना. दा., प. सं. २१

३. से. वा., श्री हरिवंश नाम प्रताप, तृतीय प्रकरण, छं. सं. ४



एक धरम्म समुझ्यो बिनाऽब गुसाँई के है जु जगत्र पुजावत<sup>१</sup>।  
 श्री हरिवंश जु कही श्याम-श्यामा पद-कमल संगी सिर नायौ।  
 ते न वचन मानत गुरु द्रोही निशि-दिन करत अपुनौं भायौ<sup>२</sup>॥  
 .....इत्यादि।

‘सेवकवाणी’ आचार्य-वाणी के रूप में ही प्रत्यक्ष हुई है—यह कहना भी सत्य है; क्योंकि इस वाणी में श्री हरिवंश के निजु धर्म-प्रेमधर्म किंवा अनन्य धर्म और श्री हरिवंश के वास्तविक स्वरूप का कथन किया गया है। श्री हित नाद-बिन्दु परिवार के समक्ष सर्वाधिक प्रभावी और विस्मय की बात यह भी थी कि जिन श्री हरिवंश को सेवक जी ने अपना गुरु ही नहीं परम इष्ट के रूप में प्रकीर्तित किया है; वे श्री हरिवंश जी सेवक जी के इस विरुद्ध आचरण करने पर उनसे अप्रसन्न नहीं हुए अपितु परम प्रसन्न होकर नाद-बिन्दु परिवार द्वारा उन्हें कीर्तिनीय बना दिया।

ऐसा ज्ञात होता है कि श्री हरिवंश-नाम और श्री हरिवंश-वाणी के निरन्तर स्मरण-चिन्तन से हुए अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सेवक जी को पूर्ण रूप से यह ज्ञान हो चुका था; ज्ञान मात्र ही नहीं निर्भ्रान्त विश्वास भी हो गया था कि श्री हरिवंश ही परम प्रेम स्वरूप हैं। ये परम प्रेम स्वरूप श्री हरिवंश ही ललितादिक-श्यामा अरु श्याम तथा रस धाम वृन्दावन के रूप में प्रकट होकर नित्य प्रेम केलि किया करते हैं। अर्थात् ये चारों श्री हरिवंश के ही स्वरूप वैभव हैं। इसीलिए तो सेवक जी ने इस नित्य केलि को श्यामा-श्याम की केलि न कहकर ‘श्री हरिवंश-केलि’ कहा है।

वृन्दावन रसोपासना के उपास्य रूप में ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ की प्रतिष्ठा तो रसोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य द्वारा पहिले ही हो चुकी थी;<sup>३</sup> यह उपास्य ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’-श्री हरिवंश ही हैं—इस रहस्य का उद्घाटन सेवक जी की देन है। जिसने श्री हरिवंश की प्रेम स्वरूपता को निरावृत्त कर दिया। फलतः इष्ट के नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर, भाव, रस और रसिक संग, प्रसाद आदि को लेकर पूर्ण होने वाली अनन्यता श्री हरिवंश नाम-रूप में केन्द्रित हो गई। “मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत हम श्री हित हरिवंश उपासी<sup>४</sup>”—सेवक जी यह भावना संपूर्ण सम्प्रदाय की भावना बन गई; श्री हिताचार्य के आसन पर विराजमान गो. वनचन्द्र जी की इस आज्ञा से—

१. से. वा., कावे धर्मी प्रकरण, चौदह, छं. सं. १०

२. से. वा., पाके धर्मी प्रकरण, तेरह, छं. सं. ६

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६

४. ५. से. वा., इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. २, अनन्य टेक प्रकरण, छं. सं. १

सेवकवाणी कौं लिखौ श्री चौरासी संग<sup>१</sup>।

तब से आज्ञा दई गुसाँई। पोथी दोऊ मिली लिखाई॥

चौरासी अरु सेवकवानी। इक सँग लिखत-पढ़त सुखदानी<sup>२</sup>॥

‘सेवकवाणी’ में वर्णित इस ‘श्री हरिवंश परत्व’ को देखकर कतिपय भगवद् भक्तों की यह धारणा बन गई है कि सेवक जी ने अपने गुरु श्री हरिवंश में गोविन्द की भावना करके यह परत्व स्थापित किया है। सभी भक्ति सम्प्रदायों और सभी धर्मों में भी तो गुरु और ईश्वर को समान मानने की परम्परा है। श्री सेवक जी के परवर्ती रसिक बिहारिनिदास जी ने भी संदेहात्मक स्वरोँ में श्री हरि और श्री हरिदास में अभेदत्व स्थापित किया है<sup>३</sup>; किन्तु लेखक के विचार से सर्वसाधारण भक्तों की यह भावना उनका अपना अनुमान मात्र ही है; सत्य नहीं। क्योंकि सेवक जी ने जिन श्री हरिवंश जी से मन्त्र प्राप्त करने का प्रण किया था; उनके दर्शन उन्होंने पहिले कभी नहीं किये थे। उन्होंने तो केवल उनका नाम ही सुना था और वे वहीं [जबलपुर जिलान्तर्गत गढ़ा नामक ग्राम में] उनका नाम-जप करने लगे थे। हृदय से पुकारने लगे थे। श्री हरिवंश ने उनकी अन्तर्पुकार सुन ली और मन्त्रदान के साथ ही उसी समय श्री वृन्दावन, यमुना, कुंज, निकुंज और सहचरी परिकर सहित प्रिया-प्रीतम रूप में भी दर्शन दे दिये थे<sup>४</sup>। अकल्पित और अनायास ही इन चारों रूपों को देखकर सेवक जी को यह समझने में देर न लगी कि ये चारों परम प्रेम स्वरूप श्री हरिवंश की ही परिणति हैं और श्री हरिवंश नाम ही प्रेम मूल है; जिसके स्मरण से आज मुझे इस ‘प्रेम परिणति’ के दर्शन हो रहे हैं।

भक्तों की यह धारणा इसलिए भी केवल अनुमान मात्र ही है; क्योंकि श्री हरिवंश जी ने सेवक जी के जन्म से बहुत समय पूर्व ही ज्ञानू जी, नाहरमल जी आदि रसिकों को श्यामा-श्याम के रूप में दर्शन दे दिये थे। ठठ्ठे में निवास करते हुए राजा परमानन्ददास जी की अन्तर्पुकार से दयार्द्र होकर उन्हे ठठ्ठे में ही स्वप्न में मन्त्रदान प्रदान किया था<sup>५</sup>। इन असाधारण चरित्रों के आधार पर श्री हिताचार्य के विराजमान काल में ही सभी रसिकों की यह भावना बन चुकी थी; उन सबको निर्भ्रान्त निश्चय

१. र. अ. सा., ज. ला. गो., सेवक जी की परचई

२. र. अ. मा., भ. मु., सेवक जी की परचई

३. श्री हरिदास किधौं हरि आपु बिहारी। एकहि रूप अनूप विराजत एकहि ये रस वैस तिहारी॥  
.....बिहारिनिदास के भेद नहीं श्री हरिदास किधौं हरि आपु बिहारी॥

— बि. दा. की वा., बि. दा., स्वामी जी की स्तुति, प. सं. ८

४. र. अ. मा., भ. मु., सेवक जी की परचई

५. दे. इसी प्रबंध का सप्तम अध्याय



हो चुका था कि श्री हरिवंश ही विग्रहवान प्रेम हैं, सपरिकर श्यामा-श्याम हैं। तभी तो हरिरामव्यास जी ने श्री हिताचार्य को रसिकजनों के आधार साक्षात् 'रस' रूप में प्रकीर्तित करते हुए उनके सम्बन्ध में अपने यह उद्गार प्रगट किये थे—

“हुतौ 'रस' रसिकन कौ आधार<sup>१</sup>।”

भक्तों की यह धारणा इसलिये भी अनुमान है क्योंकि सेवक जी ने अपनी वाणी में श्री हरिवंश को प्रिया रूप, प्रेम रूप, रस रूप, उपास्य रूप, उपासक रूप, आत्मा रूप, परमात्मा रूप तथा अभेद तत्त्व तो लिखा है; किन्तु 'गुरु' नहीं लिखा है [अपने गुरु रूप में कहीं पर भी स्मरण नहीं किया है] क्यों नहीं लिखा है ? इसका कारण बहुत अधिक स्पष्ट है कि यदि वे श्री हरिवंश जी को सुस्पष्ट शब्दों में गुरु भी लिख देते तो 'श्री हरिवंश परत्व' सिद्ध करने का उनका प्रयास ही सर्वथा असफल हो जाता और 'श्री हरिवंश परत्व' स्थान पर 'गुरु परत्व' मात्र ही बनकर रह जाता। गुरु परत्व स्थापित होने पर इस सम्प्रदाय में अपने-अपने गुरु को ही इष्ट मानने का विधान बन जाता। गुरु को ही इष्ट मानने की परम्परा चल पड़ती और तब तो नेही नागरीदास जी, स्वामी चतुर्भुजदास जी तथा कल्याण पुजारी जी आदि रसिक अवश्य ही यह लिख देते कि—“श्री वनचन्द्र करत नित केलि”। बीठलविपुल जी तथा किशोरदास जी आदि रसिक यह लिख देते कि—“स्वामी श्री हरिदास करत नित केलि”। हितध्रुवदास जी तथा लाल स्वामी आदि रसिक यह लिख देते कि—“श्री गोपीनाथ करत नित केलि”। प्रेमदास जी तथा चाचा वृन्दावनदास जी आदि रसिक अवश्य ही यह लिख देते कि—“श्री हित रूप करत नित केलि”। किन्तु श्री हरिवंशोदित रसोपासना के संपूर्ण वाणी साहित्य का आलोड़न करने पर एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि किसी रसिक ने अपने गुरुदेव को परम तत्त्व मानकर; श्यामा-श्याम की केलि न लिखकर उसे निज गुरुदेव की केलि लिखी हो। हाँ श्री हित हरिवंश ही परम तत्त्व हैं, प्रिया-प्रीतम हैं प्रेम रूप और रस स्वरूप हैं—ऐसा लिखने और मानने की परंपरा श्री हिताचार्य के विद्यमान काल से ही आज तक अक्षुण्ण रूप में दिखाई देती है।

सेवक जी ने श्री हिताचार्य की आराध्या प्रेम मूर्ति श्री राधा के स्थान पर श्री हरिवंश को ही उपास्य क्यों बना दिया ? इस प्रश्न का एक समाधान यह भी हो सकता है कि उन्होंने यह देखा होगा कि श्री हिताचार्य ने अपनी आत्मा रूपा श्री राधा का नाम रटने की अनन्यता घोषित करके अप्रत्यक्ष रूप से अपना ही भजन किया है। उन्होंने

‘राधासुधानिधि’ के श्लोक संख्या ५६ में अपने श्री मुख से श्रीराधा को अपनी आत्मा लिखा है<sup>१</sup> तथा लीला वर्णनात्मक अनेक पदों में भी श्री राधा को ‘रस’ की आत्मा रूप में चित्रित किया है। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि श्री हिताचार्य ने श्री हरिवंश-श्री हरिवंश नाम रटन न करके श्री राधा-नाम का जाप क्यों कहा ? इस समस्या का समाधान यह है कि वे [श्री हिताचार्य] आचार्य रूप में लोक-प्रगट हुए थे। यदि वे स्वयं ही श्री हरिवंश नाम का जप, स्मरण और कीर्तन करते तो उनके अनुगामीगण श्री राधा नाम का या श्री हरिवंश नाम का जापादि न करके अपने-अपने नाम का ही जाप करने लगते। क्योंकि आचार्य का आचरण ही विधान बनता है। उपर्युक्त विशद विवेचन का सारांश यह कि सेवक जी ने श्री हिताचार्य के विपरीत नहीं; उनकी भावनानुकूल ही उपास्या श्री राधा के स्थान पर उपास्य श्री हरिवंश की स्थापना की है। क्योंकि ‘श्री हरिवंश’ यह एक ही नाम है [हरि] रि [राधा] वं [वृन्दावन] और स [सहचरी] इन चारों का एक प्रगट स्वरूप है<sup>२</sup>। इस प्रकार से श्री हरिवंश इस एक ही नाम में श्री राधा, श्री राधा के प्रीतम, श्री राधा का लीला परिकर और श्री राधा बिहार विपिन इन सभी का एक ही साथ समाहार हो जाता है।

#### ५.४.६. स्वेष्ट-सेवा :

श्री हिताचार्य ने स्वेष्ट श्री राधिकाबल्लभलाल जी की आज्ञा से उनकी सेवा का प्रकाश किया था। स्वेष्ट की सेवा करना श्री हिताचार्य एवं सभी सम्प्रदायाचार्यों की दृष्टि में साध्य भी है और साधन भी; उपाय भी है और उपेय भी। इसीलिए श्री हिताचार्य ने रसोपासक के नित्यकृत्यों में स्वेष्ट की मानसी सेवा और विधि निषेध शून्य प्रकट सेवा करना रसोपासना का चरम लक्ष्य बतलाया है। इन दोनों सेवाओं का सर्वाङ्गीण स्वरूप परिचय इसी अध्याय में ‘उपासना विधा’ शीर्षक से पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है।

#### ५.५. बाधक तत्व :

गो. हित हरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना की सिद्धि में बाधक तत्व कौन-कौन से हैं ? इस प्रश्न का सर्वसुलभ, सहज-सुगम उत्तर सहायक तत्वों के वर्णन ही स्वयं दे देते हैं। अन्तराशय यह कि सहायक तत्वों को छोड़कर अन्य सभी कुछ

१. वृन्दारण्य निकुंज मंजुल गृहे ध्यात्मेश्वरी मार्गयन्।

हा राधे स विदग्ध दर्शित पथं किंयासि नेत्यालपन्।।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ५६

२. ललितादिक, श्यामा अरु श्याम। श्री हरिवंश प्रेम रस धाम। नाम प्रगट जग जानिये।।

— से. वा., श्री हरिवंश रस विलास, द्वितीय प्रकरण, छं. सं. ३



बाधक ही है। फिर भी श्री हिताचार्य मुखोक्त वाणियों में इन बाधक तत्वों के कतिपय उल्लेख मिल जाते हैं।

अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने के लिए श्री हिताचार्य ने अपने आचरणों और रचनाओं द्वारा यह विधान किया है कि उपासक लोक-वेद के विधि निषेधों को हृदय से अस्वीकार करते हुए<sup>१</sup> अपने इष्ट का ही उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करे<sup>२</sup>। विषय विलासों का परित्याज्य भक्ति सम्प्रदाय के सभी आचार्यों ने कथन किया है। श्री हिताचार्य ने भी विषय विलासों की चर्चा को कोटि-कोटि नारकीय वस्तुओं से भी वीभत्स कहा है<sup>३</sup>। साथ ही अपनी रसोपासना के विपरीत शास्त्रों का कथन-श्रवण तथा उपासना के विपरीत धर्मावलम्बियों का संग भी अवैध घोषित किया है। “ सुन्दर शास्त्र समूहों से और उनसे प्रकाशित साधुजन गृहीत मार्गों से हमें क्या प्रयोजन है”<sup>४</sup>—श्री हिताचार्य विरचित इस वाक्यांश से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

श्री हिताचार्य ने निम्नांकित छन्द द्वय में नव ग्रहों के शुभ-अशुभ फलों को व्यर्थ व्यंजित करते हुए लिखा है कि यदि इष्ट चरणों में मन अनर्पित है तो शुभ ग्रह भी कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो सकते और यदि प्रभु चरण में मन अर्पित हो चुका है तो संपूर्ण अशुभ ग्रह भी कोई अनिष्ट नहीं कर सकते—

द्वादश चन्द्र कृतस्थ मंगल बुद्ध विरुद्ध सुरः गुरु बंक।  
यदि दशम्म भवन्न भृगू सुत मन्द सु केतु जनम के अंक॥  
अष्टम राहु चतुर्थ दिवामणि तौ हरिवंश करत नहिं शंक।  
जो पै कृष्ण-चरन-मन अर्पित तौ करिहैं कह नव ग्रह रंक॥  
भानु दशम्म जनम्म निशापति मंगल बुद्ध शिवस्थल लीके।  
जो गुरु हाँइ धरम्म भवन्न के तौ भृगु नन्द सु मन्द नवीके॥

१. न जानीते लोकं न च निगम जातं कुल परं। परावानो जानात्यहह न सतां चापि चरितम्॥

रसं राधायाममजति किल भावं ब्रजमणौ। रहस्ये तद्यस्य स्थितिरपि न साधारण गतिः॥

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १४६

२. उच्छिष्टामृत भुक्तवैव चरितं शृण्व स्तवैव स्मरण।.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २४०

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. ८३

४. किंवा नस्तै सु शास्त्रैः किमथ तदुदितैर्वर्मभिः सदगृहीतै।

यत्रास्ति प्रेम मूर्ते नहि महिम सुधा नापि भावस्तदीयः॥.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २१६

५. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. १,

तीसरौ केतु समेत विधु ग्रस तौ हरिवंश मन-क्रम फीके।  
गोविंद छाँड़ि भ्रमंत दशौं दिशि तौ करिहैं कहा नवग्रह नीके<sup>१</sup>।

अपने इष्ट से असंबंधित सभी चर्चायें इष्ट सिद्धि में बाधक मानी जाती हैं। इसीलिए श्री हिताचार्य ने अपनी उपासना में धर्मादि चतुष्टय [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] की वार्ता को भी व्यर्थ कहा है—

धर्माद्यर्थ चतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वार्तया<sup>२</sup>।

इतना ही नहीं उन्होंने तो एकान्त ईश्वर भक्ति के प्रति भी अपना अममत्व भाव प्रगट करते हुए लिखा है कि—ईश्वर की उस एकान्त भक्ति योग पदवी को भी हम सिर पर ही चढ़ाते हैं। अर्थात् आदर तो करते हैं किन्तु वह हमें रुचिकर नहीं है —

.....सैकान्तेश्वर भक्ति योग पदवी त्वारोपिता मूर्द्धनि<sup>३</sup>।.....

एक स्थल पर श्रुति-कथा और परेश भजनोन्मद शुकादिकों के प्रति अपना अन्तर्भाव प्रकट करते हुए लिखा है कि हमें उनसे क्या प्रयोजन है ? —

अलं विषय वार्तया नरक कोटि वीभत्सया, वृथा श्रुति कथा श्रमोवत विभेमि कैवल्यतः  
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः<sup>४</sup>.....

एक अन्य स्थल पर श्रीराधावर के एकान्त भाव [राधाकिंकरी भाव] के भावकों का स्वरूप चित्रण करते हुए लिखा है कि वे वेदोक्त कर्मों से सदा अनाशक्त ही रहते हैं—

कर्माणि श्रुति बोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा<sup>५</sup>

अन्यत्र राधाकिंकरी भाव से उपासना करने वाले रसिकों का स्वरूप परिचय देते हुए लिखा है कि उन्हें कर्मों ने स्वयमेव ही छोड़ दिया है और वे भगवद् धर्म से भी निर्मम हैं—

.....त्यक्ता कर्म भिरात्मनैव भगवद्धर्मैष्यहो निर्ममाः।

सर्वाश्चर्य गतिं गता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः<sup>६</sup>।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में कहीं पर तो नव ग्रहों के शुभ-अशुभ फलों के प्रति अनास्था भाव प्रकट किया है तो कहीं पर लोक-वेदोक्त सम्पूर्ण कर्मों [विधि निषेध] से पूर्ण रूपेण उपेक्षा भाव प्रकट किया है। कहीं पर-प्रतिदिन स्वेष्ट के उच्छिष्ट के प्रति अनन्य निष्ठाभिव्यक्ति द्वारा एकादशी आदि सभी व्रतों का

१. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २

२ से ६. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७७, ७७, ८३, ८२, ८०.



निषेध किया है तो कहीं पर एकान्त ईश्वरभक्ति किंवा भगवद् धर्म और परेश भजनोन्मद शुकादि संपूर्ण भगवद् धर्मियों तक के प्रति भी अममत्व भाव ही व्यंजित किया है। “परेश भजनोन्मदा शुकादिकों से हमें क्या प्रयोजन है”—यह लिखकर उन्होंने परात्पर ईश श्रीकृष्ण की विशुद्ध ऐश्वर्य और ऐश्वर्य-मिश्रित माधुर्य लीलाओं [ब्रज लीलाओं] के प्रति भी तटस्थ भाव ही व्यंजित किया है।

यह तो हुई उनकी वाणी की साक्षी, उनके लोक प्रत्यक्ष जीवन का अध्ययन करने से भी यही बात प्रमाण पुष्ट होती है कि श्री हिताचार्य ने वेदोक्त कर्म-धर्म तथा व्रतादिकों को अपनी रसोपासना में बाधक समझकर उन्हें स्वीकार नहीं किया था। सेवक जी ने कहा है कि उन्होंने—

गुप्त रीति आचरन प्रगट सब जग दिये। ज्ञान, धर्म, व्रत, कर्म, भक्ति-किंकर किये<sup>१</sup>॥

नामा जी ने भी श्री हिताचार्य को विधि निषेध के बन्धनों से विमुक्त और व्रतादिकों के आगे महाप्रसाद को ही सर्वस्व स्वीकार करने वाले ‘अनन्य उत्कट व्रत धारी’ के रूप में प्रकीर्तित किया है—

सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी। विधिनिषेध नहीं दाम अनन्य उत्कट व्रतधारी<sup>२</sup>॥

पिछले पृष्ठों में उल्लिखित श्री हिताचार्य के सूत्र वाक्यों के आधार पर सेवक जी, प्रबोधानन्द जी, हरिराम व्यास जी, नेही नागरीदास जी तथा हितध्रुवदास जी आदि रसिकों ने रसोपासना के बाधक तत्त्वों पर विशद व्याख्यान किया है।

सेवक जी ने आचार्य चरण की भाँति ही गोकुलनाथ श्रीकृष्ण की ब्रज लीलाओं के प्रति अपना अममत्व भाव प्रकट करके उन्हें रसोपासना में बाधक व्यंजित किया है—

देखे जु मैं अवतार सबै भजि तहाँ-तहाँ मन तैसौ न जाई।

गोकुलनाथ महा ब्रज वैभव लीला अनेक न चित खटाई॥

एकहि रीति प्रतीति बँध्यौ मन मोहि सबै हरिवंश बजाई।

जो श्रीहरिवंश तजौं भजौं औरहि तौ मोहि श्रीहरिवंश दुहाई<sup>३</sup>॥

एक स्थल पर उन्होंने शाक्त-संग को अग्नि के समान संदाहक लिखकर उसे रसोपासना में बाधक बताया है —

१. से. वा., मंगल गान प्रकरण

२. म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

३. से. वा., अनन्य टेक प्रकरण, छं. सं. ११

शाकत संग अग्नि लपट लपट जरत क्यों संगति कीजै।

साधु सुबुद्धि समान सु सन्तनि जानिकैं शीतल संगति कीजै<sup>१</sup>॥

श्रीहिताचार्य द्वारा उद्गीत रसिक अनन्यता पर ही अपनी अनन्य निष्ठा प्रकट करते हुए ज्ञान, ध्यान, व्रत तथा अन्यान्य कर्म-धर्मों को भी उन्होंने बाधक बताया है—

ज्ञान-ध्यान-व्रत-कर्म जिते सब काहू में नहिं मोहि प्रतीति।

रसिक अनन्य निशान बजायौ एक श्याम-श्यामा पद प्रीति<sup>२</sup>॥

श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत प्रेमोपासना में व्रत, संयम, यम, नियम, कुल-जाति का विचार, विधिनिषेध, लग्न-ग्रहण आदि की मान्यता, सुदिन-कुदिन का विचार, ज्ञान-ध्यान आदि भागवत धर्म की क्रियायें, परमार्थ-स्वार्थ, वाद-विवाद, कुल-कर्म आदि सभी को व्यर्थ बताकर बाधक व्यंजित किया है—

श्री हरिवंश जनित जहँ प्रेम। तहाँ कहाँ व्रत-संजम नेम॥.....

तहाँ जाति-कुल नहीं विचार। कौन सु उत्तम कौन गँवार॥.....

या रस में विधि नहीं निषेध। तहाँ न लगन ग्रहण के वेध। तहाँ कुदिन-दिन कछु नहीं॥  
नहिं शुभ-अशुभ मान-अपमान। नहिं अनृत भ्रम कपट सयान। स्नान क्रिया जप-तप नहीं॥  
ज्ञान-ध्यान तहँ सकल प्रयास। सुनहु रसिक हरिवंश विलास। श्री हरिवंशहि गाइहों॥  
जहाँ श्री हरिवंश प्रेम उन्माद। तहाँ कहाँ स्वारथ निस्वाद। वाद विवाद तहाँ नहीं॥  
जे श्रीहरिवंश नाद मोहिये। तिन फिरि न बहुरि न कुल कर्म किये। जिये काल बस ना परे<sup>३</sup>

वृन्दावन रस के अनन्य रसिक हरिराम व्यास जी ने भी वेद-पुराण तथा महाभारत आदि भक्ति शास्त्रों को अरुचिकर कहकर<sup>४</sup>, उपास्य प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम के अतिरिक्त अन्य सभी देवी-देवताओं की उपेक्षा प्रकट करके<sup>५</sup>, रसिक अनन्यता से विचलित होकर विधि निषेधों से घिरे हुए व्यक्तियों के प्रति अश्रद्धा प्रकट करके<sup>६</sup>, नव ग्रह और गणेशादि

१ से ३. से. वा., काचे धर्मी प्रकरण, छं. सं. १५, पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. १

हित रस विलास, द्वितीय प्रकरण, छं. सं. ३, ४, ५

४. वृन्दावन रस मुहि भावै हो।.....वेद-पुराण रु भारत भाखै सु मुहि कछु न सुहावै हो।  
मनु वच स्मृति हू जु कहत हैं मेरे मन नहि आवै हो।.....

— व्या. वा., ह व्या., प. सं. ११५

५. आन देव सुपने नहिं जाँचौ, ज्यों धन जानौ धी कौ।

व्यासहि आश श्याम-श्यामा की ज्यों बालक आधार चुची कौ॥

— व्या. वा., ह व्या., प. सं. ११२

६. तजिकैं रसिक अनन्यता विधि निषेध लिये घेर। व्यासदास के भवन ते भक्ति गई दै टेर॥

— व्या. वा., ह व्या., साखी सं. ५३



देव पूजा के प्रति अनास्था व इनके पूजकों के प्रति क्षोभ प्रकट करके<sup>१</sup>, स्वेष्ट के महाप्रसाद को त्यागकर एकादशी पालकों की भर्त्सना करके<sup>२</sup>,—इन सबको वृन्दावन रसोपासना में बाधक सूचित किया है।

एक अन्य स्थल पर उन्होंने सन्ध्या वन्दन, तर्पण, गायत्री मन्त्र तथा यज्ञोपवीत धारण आदि वेदोक्त संपूर्ण कर्मों को रसभक्ति में बाधक बताया है—

भक्ति में कहा जनेऊ-जाति।.....

सोहति नहीं सुहागिल के सँग सौति सुरति इतराति॥

सन्ध्या तरपन गायत्री तजि माला मन्त्र सजाति।

व्यासदास के सुख सर्वोपरि वेद विदित विख्यात<sup>३</sup>॥

इतना ही नहीं उन्होंने तो “श्री हिताचार्य के संविधान रूप सूत्र वाक्यों की अवहेलना करने वालों को दण्ड भोगना पड़ेगा और विशेष हानि भी होगी”—सुस्पष्ट शब्दों में यह लिखकर कर्म, धर्म, व्रत तथा अन्य देव पूजा आदि वेदोक्त कर्मों को रसोपासना में बहुत बड़ा बाधक प्रमाणित किया है—

रसिक अनन्य कहाइकैं पूजैं ग्रह-गन्नेश। व्यास क्यों न तिनके सदन यमगन करैं प्रवेश॥

व्यास एक ही बात गहि श्री राधाबल्लभ धाम। और अनेकन भक्त सौं मेरौ नाहिंन काम॥

साकत भैया शत्रु सम वेगहि तजिये व्यास। जो बाकी संगति करै करिहै नरक निवास॥

राखैं व्रत एकादशी महाप्रसाद ते दूर। बाँधे जमपुर जाहिंगे मुख में परिहै धूर<sup>४</sup>॥

७ [क] मरें वे जिन मेरे घर गनेश पुजायौ। जे पदारथ सन्तन के काजैं, ते सारे सकतन ने खायौ।  
.....व्यासदास कन्या पेटहि क्यों न मरी, अनन्य धर्म में दाग लगायौ।

— व्या. वा., ह व्या., प. सं. १४६

[ख] जो हौं सत्य शुक्ल कौ जायौ।

तौ मैरौ पन सौँचौ करि हरि हौं दारुन दुख पायौ॥

मो अनन्य के मन्दिर में जिन थापि गनेश पुजायौ।

तिनकौ वंश वेगि हरि तोरहु गाइ गूह जिन खायौ॥.....

तिनकौ खोज न रहौ कहूँ हरि जिहि हरि परस छुड़ायौ।

रास-विलास जहाँ होते तहँ मलियागोरिल गायौ॥.....

जो मैं कढ़ौ सोई हरि कीनीं यह परचौ जग पायौ।

‘व्यास’ जु बुवै लुनैगौ दख-सुख यह मत वेद बतायौ॥

— व्या. वा., ह व्या., प. सं. १४७

२. हरि प्रसाद क्यों लेत नारकी। व्याह-सराध अधम जहँ जूठनि खात फिरत संसार की।

— व्या. वा., ह व्या., प. सं. ८६

३.४. व्या. वा., ह. व्या. प. सं. १५६ व साखी सं. १६, ११२, १३६, १४१

हित ध्रुवदास जी ने भी अन्य-अन्य भगवद लीलाओं, अन्य रसों और विजाती [ अन्य धर्मियों ] के संग को इस प्रेमोपासना के मार्ग में बहुत बड़ा बाधक व्याख्यान किया है। उन्होंने विजातियों को बाधक सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

“साधारन प्रेम, साधारन विरह सबके मन में आवै। भगवत भजन की विधि ज्ञान, महातम और जहाँ ताँई ऐश्वर्य लीला तिनमें समाई है। यहाँ श्रीजी जो ‘रस’ प्रगट कर्यौ ता रस उपासना में कछू न मिलै.....यह महा माधुरी रस जाके उर न आवै तासौं संग न करिये; संग न करनौ बड़ी अज्ञानता है। और सब भजन में गोष्ठी है। सनेह में गोष्ठी नहीं.....जिन यह रस समुझ्यौ नाहीं तासौं रस की बात करनी उचित नाहीं। जो कहै तौ आपते जाय; अन्तर परै निस्संदेह।....विजाती सौं मिलिवौ भलौ नाहीं, बिनु सजाती सौं मिलि बात न चलावै। सजाती सौं मिलि बात जुगल बिहार की करै विचारै। विजाती कौ परस हू न करै”<sup>१</sup>।

हित सौं जाहि चिन्हार नहिं तासौं करि न चिन्हार।

बिनु ध्रुव नेही भाजनहिं रंग न दीजै डारि<sup>२</sup>॥

श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत पंचागों [उपास्य, उपासक, उपासनाविधा, सहायक तत्व और बाधक तत्व] वाली रस भक्ति संज्ञक यह रसोपासना ही कालांतर में ‘वनबिहार रस’<sup>३</sup>, ‘नित्यबिहार रस’<sup>४</sup>, ‘कुंजमहल रस’<sup>५</sup>, ‘वृन्दावन रस’<sup>६</sup>, ‘जुगल केलि रस’<sup>७</sup>,

१.२. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., सिद्धान्त विचार, प्रीति चौवनी, छं. सं. ५३

३. ....तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन बिहार रस पियैं।

— स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०

४. श्री हरिवंश नाम उच्चार। नित्यबिहार रस कह्यौ अपारा।

— से. वा., वाणी प्रताप प्रकरण, छं. सं. १

५. हित हरिवंश प्रगट कियौ कुंज महल रस भेव।

— व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. १२२

६[क] हित्या वृन्दावनरस कथा मन्य वार्ता रुचिश्चेत्।....

— वृ. म., प्र. स., प्रथम शतक, श्लो. सं. ६७

[ख] वृन्दावन रस मुहि भावै हो। वेद पुरान अरु भारत माखै सो मुहि कछु न सुहावै हो॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ११५

[ग] करुनानिधि अरु कृपा निधि श्री हरिवंश उदार। वृन्दावन रस कहनि कौं प्रगट घरौ अवतार॥

— ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., रहस्यमंजरी लीला, छं. सं. १

७. श्री गुसाँई श्री हरिवंश चन्द जू प्रगट भये जुगल केलि रस माधुरी प्रगट करिवे कौं। और सबनि मिश्रित गाई। प्रेम की आशक्तता श्री गुसाँई जू ने गाई।

— ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., सिद्धान्त विचार



‘महा माधुरीरस’<sup>१</sup>, ‘प्रेमोपासना’<sup>२</sup>, ‘रस पद्धति’<sup>३</sup>, ‘श्री हरिवंश सुरीति’<sup>४</sup>, ‘व्याससुवन-पथ’<sup>५</sup>, ‘हरिवंश गुसाँई की भजन रीति’<sup>६</sup>, ‘हित रस रीति’ किंवा ‘हित जू की रीति’<sup>७</sup>, ‘श्री हरिवंश पथ’<sup>८</sup>, ‘रस रीति’<sup>९</sup>, ‘हितोपासना’<sup>१०</sup>, ‘हित पद्धति’<sup>११</sup>, ‘हित धर्म’<sup>१२</sup>, ‘गुप्त रीति’<sup>१३</sup>, ‘निज धर्म’<sup>१४</sup>,

१. यहाँ श्रीजू जो रस प्रगट कइयौ ता रस उपासना में कछू न मिलै।.....यह महा माधुरी रस जाके उर न आवै तासों संग न करिये।

— ब्या. ली., हि. धु. दा., सिद्धान्त विचार

२. सार कौ सार प्रेम सुख यह अद्भुत महा रस प्रेम की उपासना श्रीजू प्रगट करि दई है। निस्संदेह सबके कल्याणार्थ।

— ब्या. ली., हि. धु. दा., सिद्धान्त विचार

३. प्रेरि दियौ बल सुमति कों गुरुवर श्रीहित रूप। रस पद्धति अनुसार यह कथ्यौ प्रबंध अनूप।।

— स. प्र., एकादश, चा. वृ. दा., अन्तिम दोहे

४. श्री हरिवंश सुरीति सुनाऊँ। श्याम-श्याम एक संग गाऊँ।

— से. वा., वाणी प्रताप प्रकरण, छं. सं. ७

५. व्याससुवन-पथ अनुसरै सोई भलैं पहिचानिहै।

— भ. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

६. श्री हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत् कोऊ जानिहै।

— भ. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

७. हित जू की रीति कोऊ लाखनि में एक जानैं, राधा ही प्रधान मानैं, पाछैं कृष्ण ध्याइयै।

— भ. मा. टी., टी.-प्रि. दा., छं. सं. ३६०, ३६१

८. जे आये हरिवंश-पथ सिद्ध भये जु अनन्य।

— र. अ. मा., भ. मु., प्रारम्भिक दोहे

९. जो रसरिती सुरासुर दुर्लभ प्रगट व्याससुव वानी हरि जू।

— द्वा. य., च. दा., मंगल सार जस

१०. हित की यहाँ उपासना हित के है है दास।

— दो. व. सं., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २५

११. अष्टयाम वरन्यौ ललित ज्यों हित पद्धति रीति।

— स. प्र., पंचम, चा. वृ. दा., प. सं. १३२

१२. श्री सेवक सूर जनम हौं जाँची हित कौ धर्म दरसायौ।

— पदा., आ. बा., सेवक बघाई, प. सं. १

१३. अनमय आनंदकंद निजु संपति गुप्त सु रीति प्रगट करन।

— से. वा., ध्यान प्रकरण, छं. सं. ३

१४. अब निज धर्म आपुनौ कहत। तहाँ नित्य वृन्दावन रहत। बहत प्रेम सागर जहाँ।।

— से. वा., जस विलास प्रकरण, दं. सं. १४

‘प्रेम धर्म’, ‘श्री हरिवंश धर्म’<sup>१</sup>, ‘श्री हरिवंश पंथ’<sup>२</sup>, ‘अनन्य पथ’<sup>३</sup>, ‘अनन्य धर्म’<sup>४</sup>, ‘अनन्य मार्ग’, ‘रस मार्ग’<sup>५</sup>, ‘अनन्यता का मार्ग’, ‘अनन्य रस पद्धति’, ‘अनन्य रसिक धर्म’, ‘रसिक मार्ग’, ‘वृन्दावन रसोपासना’, ‘राधाचरण प्रधान उपासना’<sup>६</sup>, ‘प्रेम भक्ति’<sup>७</sup>, ‘सरस रीति’<sup>८</sup>, ‘सकृत रीति’<sup>९</sup>, ‘रस वैभव’<sup>१०</sup>, ‘रहस्य रस’<sup>११</sup>, ‘रस भजन’<sup>१२</sup>, ‘निकुंज रस’<sup>१३</sup>, ‘जुगल रस’<sup>१४</sup>,

१. श्री हरिवंश धर्म सुनंत जु छाती सिरात धरमिनि की।  
— से. वा., पाके धर्मी प्रकरण, छं. सं. १०
२. तेई जग में दुर्लभ भइया जे हरिवंश पंथ पग धारैं।  
— कि. अ. की वा., कि. अ., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २५
३. झगरे सब भ्रम निवारि सारासार करि विचारि, परम उच्च धाम पथ अनन्य रुचि बढ़ायौ।  
— स. प्र., षष्ठम, चा. वृ. दा., प. सं. १
४. श्री राधा सुहाग शुचि गावन धर्म अनन्य सुदृढ़ व्रत धरन।  
— स. प्र., दशम, चा. वृ. दा., प. सं. १
५. देखा देखी रसिक न होई यह रस मारग बंका।  
— जु. स. प., चा. वृ. दा., छं. सं. ११
- ६ [क] राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।  
— म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०  
[ख] हित जू की रीति कोऊ लाखनि में एक जानै, राधा ही प्रधान मानैं पाछैं कृष्ण ध्याइयै।  
— म. मा. टी., टी.— प्रि. दा., छं. सं. ३६०, ३६१  
[ग] राधिका पद कमल माधुरी परम रस, बिना हरिवंश हित को वखानैं।  
— बं. अ. के प., बं. अ., प. सं. ६७  
[घ] राधा जू के चरन की प्रधानता चिताई देखौ, अक्षर अति गहर थाह कैसैं हौं पाऊँ जू।  
— हि. छ. की टी., टी.—वृ. दा. [द्वितीय] छं. सं. ३
७. प्रेम भक्ति ते विमुख न ताके आगे भाखौ।  
— प्रे. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १४२
८. बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार।  
— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १६
९. यह सकृत रीति सु श्रुतिन गहरी जानिहै सो जानिहै।  
— पदा., स. सु., हित जू की मंगल बघाई, प. सं. २
१०. कानन कुंज गूढ़ रस वैभव प्रगट प्रकाशी गौर-श्याम की ललित।  
— स. प्र., त्रयोदश, चा. वृ. दा., प. सं. १
११. कानन गूढ़ रहसि रस को हो इहि कौ दाइक। श्री हरिवंशचन्द्र मम प्रभु सबही विधि लाइक।।  
— प्रे. प., चा. वृ. दा. छं. सं. १
१२. बन्दौ श्री व्याससुवन चरन-कमल बार-बार, जिनते रस भजन कौ अलम्य लाम पायौ।  
— स. प्र., पंचम, चा. वृ. दा., प. सं. १
१३. सर्वोपरि निकुंज रस लीला व्याससुवन अनुगत लहि लाहौ।  
— स. प्र., षष्ठम, चा. वृ. दा., प. सं. ४
१४. जुगल रस भेद चितावन परम कृपा वपु धर्यौ व्यास के सदन।  
— स. प्र., दशम, चा. वृ. दा., प. सं. २



‘कानन रस’<sup>१</sup>, ‘हित पंथ किंवा हित पथ’<sup>२</sup>, ‘नित्यबिहारोपासना’, ‘निकुंजोपासना’, ‘हित संप्रदाय’<sup>३</sup>, ‘रस संप्रदाय’, ‘हित हरिवंश संप्रदाय’, ‘राधाबल्लभ संप्रदाय’, किंवा ‘राधाबल्लभीय संप्रदाय’<sup>४</sup> इत्यादि नामों से भी अभिसंज्ञात हुई।



१ [क] जाँचौ श्री हरिवंश कृपालहि कानन रस दुर्लभ जो चाहौ।

— स. प्र., षष्ठम, चा. वृ. दा., प. सं. ४

[ख] अति गरुवौ सिंगार रस ताते गरुवौ एह। कानन रस महलीन कौ सबते परे सनेह।।

— स. प्र., सप्तम, चा. वृ. दा., अन्तिम दोहे

२. हित पथ चले चलत जे चलिहैं तिन पद मम निज दासे।

— पदा., आ. बा., प. सं. १

३. प्रगट करी निजु सम्प्रदा हित वपु धारि रसाल।

— सु. बो. ला. दा., नवम प्रसंग, दो. सं. ३०

४. सर्वोपरि निजु सम्प्रदा राधाबल्लभी नाम।

— सु. बो. ला. दा., नवम प्रसंग, दो. सं. ३१

## षष्ठम अध्याय

### ६. रसोपासना पर लोक-दृष्टि व उसका परिमार्जन

#### ६.१. रसोपासना और चतुःसम्प्रदाय :

परात्पर तत्त्व के सगुण स्वरूप श्रीमन्नारायण, विष्णु, राम-कृष्णादि—‘भगवान’ की उपासना करने वाली सम्प्रदायों को भागवत सम्प्रदाय कहा जाता है। भक्तिकाल के उदय काल में यह चार रूपों में विकसित होने के कारण ही ‘चतुःसम्प्रदाय’—के नाम से भी अभिसंज्ञात हो गई हैं। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी तक श्री रामानुज, विष्णु स्वामी, मध्व और निम्बार्क इन आचार्य चतुष्टय के द्वारा इन चतुःसम्प्रदायों का पूर्ण विकास हो चला था। उसी समय श्री हिताचार्य ने रसोपासना किंवा प्रेमोपासना का प्रादुर्भाव किया। आज की विचार धारा से स्नात विद्वानों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता है कि इस पाँचवी सम्प्रदाय के आविर्भाव की क्या आवश्यकता थी ? क्या चतुःसम्प्रदाय के द्वारा आविर्भूत आलोक में; उसकी दिव्य देन में किसी वस्तु का अभाव था ? अथवा गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना ने कोई अभिनव आलोक ही प्रदान किया ?



युगीन दृष्टि से प्रश्न समीचीन और आवश्यक भी है। यद्यपि इस प्रश्न का विशद विवेचन पूर्ण उत्तर पूर्व अध्यायों में अनेक स्थलों पर दिया जा चुका है किन्तु फिर भी उसे हम यहाँ सार रूप में पुनः उद्धृत कर रहे हैं।

जहाँ तक भगवान के सगुण स्वरूप-परिज्ञान का विषय है; उस परिज्ञान का पूर्व प्रकाश हो चुका था। किसी भी प्रकार का अभाव नहीं था। किन्तु उसके आगे का ज्ञातव्य-परात्पर तत्त्व के पूर्णतम रूप या विशिष्ट रूप का ज्ञान अनालोकित ही था। जिसका संकेत श्रुतियों ने भी "नेति-नेति" शब्दों के द्वारा दे दिया था। जिसका संकेत श्री हिताचार्य ने इन स्फुट शब्दों में दिया था कि मैंने परात्पर तत्त्व के उस रूप की उपासना प्रकट की है जो श्रुतियों के हृदय में अत्यन्त संगुप्त ही बना हुआ है<sup>१</sup>। जो भागवत सम्प्रदायों किंवा चतुःसम्प्रदायों के परमोपास्य भगवान के लिए भी रहस्यमय और विमृग्य है<sup>२</sup>। श्री हिताचार्य ने सुस्पष्ट शब्दों में यह भी उद्घोष कर दिया कि मैं सभी भागवतीय मार्गों के विरुद्ध चला हूँ<sup>३</sup>।

इस ऐतिहासिक तथ्य की रम्य रश्मियाँ प्राप्त होने पर यह प्रश्न भी सर्वथा निरस्त हो जाता है कि श्री हिताचार्य रामानुज सम्प्रदायानुयायी विष्णु स्वामी, मध्व या निम्बार्क सम्प्रदानुयायी थे। अथवा श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत रसोपासना पर इन सम्प्रदाय चतुष्टय का प्रभाव था।

## ६.२. रसोपासना और श्रीमद्भागवत :

प्रमेय तथा प्रमाण ग्रन्थ के उद्घोष के साथ-साथ उपासना के उपास्य, उपासक, उपासना विधि, सहायक और बाधक तत्त्व पर प्रकाश डालने वाले विशिष्ट विभूति को ही 'आचार्य' नाम से किंवा प्रादुर्भावक नाम से प्रकीर्तित किया जाता है। श्री हिताचार्य ने भक्ति के क्षेत्र में वृन्दावन रसोपासना का आविर्भाव किया था। उन्होंने इस अभिनव 'उपासना' के उपास्य और उपासकादि सभी अंगों पर प्रकाश डाला था। तभी तो श्री नामा जी, प्रियादास जी तथा भगवत मुदित जी आदि इतिहास लेखक प्राचीन भक्तों ने श्री हरिवंशोदित रसोपासना को स्वतन्त्र "श्री हरिवंश गुसाँई की भजन रीति" तथा "व्याससुवन-पथ" कहकर श्री हरिवंश गुसाँई को 'आचार्य' स्वीकार किया है।

श्री हिताचार्य ने अपने 'प्रमेय' किंवा 'परमोपास्य' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि मेरा उपास्य, शुक, नारद, सनक, ब्रह्मा और शिवादिकों से सर्वथा अलक्ष्य और अचिन्त्य है। श्रुतियों के लिये भी विमृग्य है। श्रुतियाँ उसे अपने सिरसि भाग में धारण नहीं कर सकतीं। श्री हिताचार्य के इन वाक्यों से स्वयमेव ही स्पष्ट हो जाता है कि उनके

प्रमेय किंवा उपास्य को श्रुतियों ने तथा श्री शुकदेव आदि भक्तों ने नहीं देखा है। साक्षी उसी की दी जाती है; प्रमाण रूप में उसी को स्वीकार किया जाता है, जो उस वस्तु का निकट द्रष्टा हो, उससे पूर्ण परिचित हो। इस दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य विवशतः स्वीकार करना पड़ता है कि श्री हिताचार्य ने स्वाविर्भूत उपासना में श्री शुक-मुखोद्गलित 'श्रीमद्भागवत' को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया है। यह अस्वीकृति स्वयं श्री हिताचार्य ने इन शब्दों में व्यक्त की है—

.....परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः<sup>१</sup>।

किंवा नस्तैः सु शास्त्रैः<sup>२</sup> .....

श्री हिताचार्य ने अपने परमोपास्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए सुस्पष्ट शब्दों में यह भी लिखा है कि वह गोविन्द-प्रिय परिकर [नन्द-यशोदा, कीर्ति-वृषभान, सुबलादि सखागण तथा श्री कृष्ण प्रेमोन्मत्ता समस्त ब्रज गोपियों] से सर्वथा अलक्षित है। श्री मद्भागवत में इसी परिकर के साथ की हुई केलि का वर्णन है। एतत् सम्बन्धी विस्तृत विवेचन प्रबंध के पंचम अध्याय में किया जा चुका है। इसीलिए तो श्री हिताचार्य ने श्रीमद्भागवत वक्ता श्री शुकदेव जी के प्रति अपनी तटस्थ भावना प्रगट करते हुए कहा है कि यदि श्री शुकदिक परेश के भजन में उन्मद हैं तो हमें उनसे क्या प्रयोजन ? श्री हिताचार्य के इन सूत्र वाक्यों के आधार पर ही परवर्ती हित रसिकों ने भी यह उद्घोष किया है कि—

शुक-सनकादि न जानत भेवा। यद्यपि करत बहुत विधि सेवा।।

वैभवता में सब अरुझाने। नित्यबिहारी नहीं पहिचाने<sup>३</sup>।।

ब्रज देविन कौ प्रेम है गयौ आड़े जिन उर। श्रोता-वक्ता जके थके पहुँचे न धाम धुर<sup>४</sup>।।

हम यहाँ पर यह ज्ञात कराने नहीं जा रहे हैं कि श्री हिताचार्य ने अपनी रसोपासना में प्रमाण ग्रन्थ किसे स्वीकार किया है; वह तो प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में 'प्रमेय और प्रमाण' शीर्षक में बताया जा चुका है। यहाँ पर तो यह बताने जा रहे हैं कि श्री हरिवंशोदित प्रेमोपासना में 'श्री मद्भागवत' का क्या स्थान है। अर्थात् श्री हरिवंशी रसिकों ने इस ग्रन्थ को किस रूप में देखा है ? श्री हरिवंशोदित रसोपासना में सेवक जी की वाणी 'सेवकवाणी' को श्री हिताचार्य की वाणी के समकक्ष ही स्थान प्राप्त है। अतः इस प्रश्न का उत्तरानुसन्धान इसी ग्रन्थ से प्रारम्भ करेंगे। श्री सेवक जी ने 'सेवकवाणी' के द्वितीय प्रकरण में एक आदेशात्मक वाक्य लिखा है—

१. २. रा. सु. नि., श्लो. सं. ८३, २१६

३. व्या. ली., हि. घु. दा., आनन्दलता लीला, छं. सं. ५६, ५७

४. भ. प्रा. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. ५७



शुक मुख वचन जु श्रवण सुनावहु। तब श्री हरिवंश सुनाम कहावहु।।

॥ मन सुमिरन बिसरै नहीं<sup>१</sup>॥

इस छन्द के पूर्व छन्दों में सेवक जी ने उपदेश लेने वालों के कर्तव्यों का वर्णन किया है और अब इस छन्द में उपदेशकों के कर्तव्य बतलाते हुए कहते हैं कि—तुम जब शिष्य को श्री शुक वचन [श्रीमद्भागवत] सुनाओ तब उसे श्री हरिवंश नाम कहलाओ। अर्थात् श्री हरिवंश नाम सुनाने से पहिले [दीक्षा देने से पूर्व] शुक मुख के वचन सुनाओ; जिससे उपदेश लेने वाला शिष्य मन से कभी श्री हरिवंश नाम-स्मरण करना भूल न जाये। अन्तराशय यह है कि उसका मन संसारी भोगों, संसारी सुखों का चिन्तन न करने लगे। नाम सुनाने से पूर्व श्रीमद्भागवत इसलिए भी सुना देनी चाहिए, जिससे उपदेश लेने वाले को इस बात का ज्ञान अच्छी तरह हो जाय कि श्रीमद्भागवत वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण की सभी लीलायें, श्रीकृष्ण-चरण रति ही देने वाली हैं; श्री हरिवंशोदित नित्य बिहार की रति या परम प्रेम स्वरूप श्री हरिवंश रति देने वाली नहीं हैं।

विद्वद्वर श्री हरिलाल व्यास जी ने भी सेवक जी प्रणीत उपर्युक्त इस छन्द की टीका करते हुए लिखा है कि—

“अब उपदेष्टा जो रसिक हैं तिनसों कहैं हैं। पहिले वचननि सुनत जिनकौ भर्म आगे भयौ है सो ऐसे प्रसिद्ध श्री शुक वचन श्री भागवत वाक्य हैं। सो तुम श्रवण में सुनावहु अर्थात् पहिलौ मन्त्रोपदेश भागवत वाक्य है ता पाछे हरिवंश नाम कहावहु।”

सम्प्रदायाचार्य गो. श्रीहित हरिवंश जी स्वयं कहते हैं कि उन सुन्दर शास्त्रों से मुझे क्या प्रयोजन? जिनमें मेरी प्रेममूर्ति श्रीराधा-महिम-सुधा नहीं है<sup>२</sup>। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा है कि यदि श्री शुकादिक महानुभाव परम पुरुष भगवान के भजन में उन्मत्त हैं तो हमें क्या<sup>३</sup>? आचार्य चरण के इन वाक्यों में—जिन ग्रन्थों में उनकी उपास्या प्रेममूर्ति श्री राधा की महिमा का गान नहीं है; उनके प्रति तटस्थ भाव ही व्यंजित होता है; ममत्व भाव नहीं। ऐसी स्थिति में श्री हरिवंश वाणी के प्रमुख अध्येता, पूर्ण मर्मज्ञ सेवक जी श्रीहित धर्मियों के लिये भागवत का कथन-श्रवण करना अनिवार्य कर ही कैसे सकते थे?

१. से. वा., नाम प्रताप जस, तृतीय प्रकरण, छं सं. ४

२. किंवा नस्त्रैः सु शास्त्रै किमथ तदुदितैर्वर्त्मभिः सदगृहीतै

र्यत्रास्ति प्रेम मूर्ति नहि महिम सुधा नापि भावस्तदीयः।

किंवा बैकुण्ठ लक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २१६

३. ....परेश भजनोन्मदां यदि शुकादयः किं ततः। परं तु मम राधिका पद रसे मनो मज्जतु।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८३

श्री हित चरणाश्रित हरिरामव्यास जी ने भी श्रीमद्भागवत और भागवत की रति कथा [श्रीकृष्ण की बाल लीला, सख्य लीला और गोपियों के साथ की गई रास क्रीड़ा जैसी मधुर लीला] के प्रति अपने भाव प्रगट करते हुए लिखा है कि अब मुझे [श्री हरिवंश चरणाश्रित होने के बाद] यह सब अच्छा नहीं लगता है; इन सबसे अरुचि हो गई है<sup>१</sup>।

श्री प्रबोधानन्द सरस्वती पाद ने श्री वृन्दावन रस के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा व्यक्त करते हुए सम्पूर्ण ईश्वरीय वार्ता के प्रति अनास्था प्रगट की है<sup>२</sup>। यह एक निर्विवाद सत्य है कि श्रीमद्भागवत में वृन्दावन रस नहीं है।

वनमालीदासजी गो., बीठलदास, नरवाहन, नाहरमल, पूरणदास, खरगसेन, हरिराम व्यास, प्रबोधानन्द जी सरस्वती, नवलदास, परमानन्ददास आदि-आदि श्री हरिवंश-शिष्यों के चरित्रों में भी श्रीमद्भागवत के कथन-श्रवण का प्रमाण सर्वथा अनुपलब्ध है।

गो. वनचन्दजी के कृपापात्र नेही नागरीदासजी के चरित्र में गो. श्री नागरवरजी के द्वारा श्रीमद्भागवत कथा कहने का उल्लेख मिलता है। और यह भी मिलता है कि नागरीदासजी श्री गुरु पुत्र [गो. नागरवरजी] के कहने पर श्रीमद्भागवत सुनने गये थे। वहाँ पर उन्होंने धेनुक-वध की कथा सुनी। यह कथा सुनकर वे अत्यधिक मर्माहत हुए और अपने निवास स्थान पर जाने लगे। जब गोस्वामी जी ने सौगन्ध देकर पूछा कि तुम इतने विमन होकर क्यों चल दिये? तब उन्होंने अपनी वह भावना [श्री हित वाणी में वर्णित “आज निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर—नवीन किशोरी। चिवुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिविम्ब जनाई निहोरी।”] कह सुनाई। गोस्वामी जी ने उनकी ‘भावना’ सुनकर उन्हें हृदय से लगा लिया और चुगलखोरों को भी समझाया। तब तो वे चुगलखोर भी—“सब तजि गुरु मारग में लगे”। अर्थात् श्रीमद्भागवत श्रवणादि गुरु मार्ग से विपरीत, सब कुछ छोड़कर वास्तविक गुरु मार्ग—“श्री हिताचार्य की अनन्य पद्धति” में लग गये<sup>३</sup>। उपर्युक्त घटना घटित होने के पश्चात् ही नेही नागरीदास जी के मुख से यह वाक्य निकल पड़े—

१.[क] इहि रस नवधा भक्ति उवीठी रति भागौत कथा की।

रहनि कहनि सबहिन ते न्यारी व्यास अनन्य समी की॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १७७

[ख] वृन्दावन रस मुहि भावै हो। वेद-पुरान अरु भारत भाखै सो मुहि कछु न सुहावै हो॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १५

२. त्यक्त्वा वृन्दावन मिदमहो चेद्वर्हिंयासि नूनं। क्षिप्त्वा कल्पद्रुम कर वनं हन्तशारवोटमेसि।

हित्वा वृन्दावन रस कथा भव्य वार्ता रुचिश्चेत्। ज्ञातं क्षित्वा परममृतं भोक्तुं भिच्छ श्व विष्टाम्।

— वृ. म., प्र. स.; प्रथम शतक, श्लो. सं. ६७

— शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर



जिनके बल गर्जत हुते, तेई बैरी भये आन।  
तरकस के सर साँप है, फिरि-फिरि लागे खान<sup>१</sup>॥

बहुत अधिक स्पष्ट है कि यह उक्ति, यह 'बैरी' शब्द उन्हीं लोगों के लिए प्रयोग किया गया है जिनकी प्रेरणा और जिनके आग्रह से उन्हें भागवत सुनने जाना पड़ा था। इस घटना से भागवत के प्रति हित रसिक नेही नागरीदास जी की भी भावना निर्भ्रान्त रूप से प्रगट हो जाती है।

श्री हिताचार्य ने अपना परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' को ही स्वीकार किया है<sup>२</sup>। 'रस' को परमानन्द का भी सार<sup>३</sup> और भागवत वर्णित श्री गोविन्द की सख्य, वत्सल और मधुर लीलाओं से प्राप्त आनन्द को अनुपम परमानन्द घोषित किया है<sup>४</sup>। यह भी विचारणीय है कि जब श्री हिताचार्य ने अपने शरणागतों को उस परमानन्द का भी सार 'रस' ही प्रदान

— पिछले पृष्ठ का शेष टिप्पणी भाग

३. इहि रस नवधा भक्ति उवीठी। कथा-भागवत लागत सीठी॥  
या रस रहित जु ते दुख पावैं। कुंज बाहरी कथा सुहावैं॥  
ते गुरुकुल सौं चुगली करैं। ये न भागवत मन ही धरैं॥  
इक दिन गुरु-सुत मग चलि आवत। वेई चुगल फिरि तिनहिं जतावत॥  
अवर कथानि नहीं मन लावहु। दशम होत है अब तौ आवहु॥  
ऐसैं 'नागर जू' ने कही। मानी नागरिदास जु सही॥  
'मलैं कुँवर जू' कहि तब आये। धेनुक कर गहि हते सुनाये॥  
सुनि नागरीदास अकुलाने। उठे समा ते घरहिं पलाने॥  
कही गुसाँई दुख किन दीयो। विमन गये उठि उमग्यौ हीयो॥  
तब गुरु सुत जू सौँह दिवाई। कहौ चले क्यों मन कहा आई ?  
जु कछु भावना करत जात हे। हित पद में फूले न मात हे॥  
नवल किशोर-नवीन किशोरी। कहत भये ज्यों खेलत जोरी॥  
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधित। तिन कर गदहनि पग क्यों शोभित॥  
सबके सुनत बात यह कही। उत्तम रीति रसिकजन गही॥  
सब तजि गुरुमारग में लगे। रहत जु जुगल भावना पगे॥  
रीझि गुसाँई ने उर लाये। रिस करि चुगलनि कौं समुझाये॥  
निज धर्मी तेई मत्सर करते। वरसाने गये तिनके डर ते॥

— र. अ. मा., भ. मु., नागरीदास जी की परचई

१. ना. दा. की वा., ने. ना. दा., साखी

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७३ व १७३ आदि

३. ....परमानन्दैक सारं रसः .....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २६८

४. ब्रह्मानन्दैववादाः .....केचिद् गोविन्द सख्याद्यनुपम परमानन्द मन्ये स्वदन्ते।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १४७

कर दिया, रससुधानिधि ही प्रदान कर दिया, तब फिर वे उसी परमानन्द-सिन्धु में अवगाहन करने की आज्ञा क्यों देंगे ?

श्री हिताचार्य ने श्री मद्भागवत वर्णित श्रीकृष्ण की सख्य-वत्सलादि लीलाओं से प्राप्त आनन्द को 'कृष्ण रसामृत' कहकर प्रकीर्तित किया है और कहा है कि मैं कृष्णरसामृत का सार वर्णन करता हूँ, जिसे श्रवण करने से श्री राधा-पद-रति प्राप्त होती है—

जै श्री हित हरिवंश यथामति वरनत कृष्ण रसामृत सार।

श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद-अम्बुज सुकुमार<sup>१</sup>।।

सभी भक्तों, व श्रीमद्भागवत के वक्ता और श्रोताओं का अनुभव है कि श्री मद्भागवत के कथन-श्रवण से यह श्री राधा-पद रति प्राप्त नहीं होती; श्री कृष्ण-पद रति ही प्राप्त होती है। यह तथ्य भी एकान्त सत्य के रूप में सभी को स्वीकार है कि श्रीमद्भागवत का फल नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं<sup>२</sup> और श्री मद्भागवत की कथा श्रीकृष्ण गामिनी है<sup>३</sup>। ऐसी स्थिति में कृष्ण रसामृत-सार स्वरूप श्री हरिवंश वाणी के पूर्ण मर्मज्ञ और पूर्ण अनन्य सेवक जी हित धर्मियों को हित धर्म में दीक्षा लेने के बाद भागवत सुनने का विधान करेंगे; ऐसा सोचना एक क्लिष्ट कल्पना मात्र ही होगी। अतः यही प्रतीत होता है कि उनका अन्तराशय यही है कि दीक्षा देने के पूर्व ही भागवत सुनाई जाय।

सेवकजी ने बार-बार यह भी कहा है कि श्री हरिवंश-नाम-वाणी गान करने से ही श्री हरिवंश की कृपा और श्री हित कृपा से ही नित्यबिहार के दर्शन होंगे<sup>४</sup>। गो. वनचन्द्र जी ने भी यही पुनीत प्रेरणा प्रदान की है कि—

चौरासी हित हरिवंश कृत पढ़ै-सुनै उठि भोर।

छुटै चौरासी भ्रमनि ते निरखे जुगल किशोर<sup>५</sup>।।

सेवकजी और गो. वनचन्द्रजी ने ही नहीं प्रत्युत सभी रसिकों ने नित्यबिहार दर्शन के लिए एकमात्र श्री हरिवंश नाम-वाणी का ही आश्रय स्वीकार किया है; श्रीमद्भागवत

१. हि. चौ., प. सं. ३०

२. श्रीमद्भागवतं वन्दे यत्फलं नन्दनन्दनः।

— अ. नि., वृ. दा. गो., श्लो. सं. ३८

३. श्रीमद्भागवतीयापि कथैवं कृष्ण गामिनी।

— अ. नि., वृ. दा. गो., श्लो. सं. ४३

४. निरखत नित्यबिहार पुलकित तन रोमावली। आनंद नैन सुझार यह जु कृपा हरिवंश की।

— से. वा., अकृपा-कृपा लक्षण प्रकरण, नवम, छं. सं. ५

५. गो. व. च. जी की वा., गो. व. च., हित वाणी की फलस्तुति



का नहीं। हित ध्रुवदास जी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—“ऐश्वर्यता, ज्ञान, महात्म, विषय या रस माधुरी कौ आवरन है”; “और सब रस या माधुर्य रस के आवरन हैं; अन्तराय बनाये हैं।”

श्रीमद्भागवत के श्रवण-कथन से ही यदि नित्यबिहार का दर्शन हो जाता तो श्री शुकदेवजी, परीक्षितजी और चौरासी हजार शौनकादि ऋषियों को तो नित्यबिहार का दर्शन अवश्य हो जाना चाहिये था किन्तु श्री हिताचार्य तथा परवर्ती सभी रसिकों की मान्यता यही रही है कि श्री शुक-नारदादि भक्तों के लिए वह अलक्ष्य है। गो. हित हरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना के रसिकों की इस विचार धारा को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि सेवक जी का अन्तराशय यही है कि श्री शुक मुख-वचनों को श्री हरिवंश नाम सुनाने से पूर्व ही सुना देना चाहिए। छन्द में प्रयुक्त, ‘तब’ शब्द भी उपर्युक्त अर्थ को ही प्रकट करता है।

ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिन हित धर्मियों का मन संसार से पूर्ण रूपेण विरक्त नहीं हुआ है और जिन लोगों की मानसिक रुचि श्री हरिवंश नाम में एकनिष्ठ नहीं हुई है, ऐसे हित धर्मियों को तो भागवत अवश्य ही सुननी चाहिए। संसार से विरक्ति लेने के लिए भागवत ही क्यों ? गीता, रामायण आदि कोई भी भक्ति परक ग्रन्थ पढ़े और सुने-सुनाये जा सकते हैं। किसी भी भक्त का संग किया जा सकता है; किन्तु श्री हरिवंश नाम की रुचि, अनन्यनिष्ठ प्रीति भागवतादि ग्रन्थों के पठन-श्रवण से कदापि नहीं मिल सकती; क्योंकि इन ग्रन्थों में न तो श्री हरिवंश नाम का परत्व ही वर्णन है और न श्री राधा नाम का उल्लेख ही है।

श्री हरिवंश नाम में रुचि और श्री हरिवंश नाम से अनन्य प्रीति तो एकमात्र ऐसी वाणियों का निरन्तर अनुशीलन, पठन और श्रवण करने से ही प्राप्त होगी; जिनमें श्री हरिवंश परत्व और श्री हरिवंश स्वरूप का ही गान हो। जैसे—सेवकवाणी, नेही नागरीदास जी की वाणी, सुधर्म बोधनी आदि-आदि। इसकी प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ सर्व सुन्दर और सर्व सुगम उपाय है—उन रसिकों का संग; जिनकी श्री हरिवंश नाम में अनन्य प्रीति है। ऐसे अनन्य रसिकों का संग करने से और उनकी कृपा से श्री हरिवंश नाम रुचि उसी प्रकार मिल जायगी, जिस प्रकार एक विषयी को साधु संग करने से साधुता मिल जाती है। एक नवीन साधक को स्त्रैण का संग करने से कामुकता जीवित हो जाती है; सबल हो जाती है, और एक शराबी का संग करने से शराब पीने की रुचि पैदा हो जाती है।

सत्संग का प्रभाव अमोघ होता है; इसे कौन अस्वीकार करेगा। सेवक जी, व्यास जी, हित ध्रुवदास जी, गोस्वामी तुलसीदास जी तथा नाभा जी आदि-आदि सभी महानुभाव

एक स्वर से, संग का किंवा सत्संग का प्रभाव स्वीकार करते हैं। मनोविज्ञान भी वातावरण [संग] का प्रभाव स्वीकार करता है। इस प्रकार से विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि श्री हरिवंश नाम-रुचि और श्री हरिवंश नाम के प्रति अनन्य प्रीति प्राप्त करने के लिए श्री हरिवंश नाम-वाणी के अनन्य निष्ठ रसिकों का संग ही एक मात्र उपाय है; न कि श्री मदभागवत।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि गो. हित हरिवंशोदित वृन्दावन रसोपासना में दीक्षित होने का चरम लक्ष्य मात्र जागतिक विराग ही नहीं, अपितु परम प्रेम स्वरूप श्री हरिवंशानुराग है। इस अनुराग की प्राप्ति होने पर जगत से विराग तो अपने आप ही हो जायेगा। किन्तु जगत से विराग हो जाने पर श्री हरिवंशानुराग ही प्राप्त हो यह कोई वेद वाक्य नहीं है। विराग होने पर रामानुराग-कृष्णानुराग भी तो प्राप्त हो सकता है; किन्तु 'श्री हरिवंशानुराग' प्राप्त होने पर तो जगत से ही नहीं भक्ति जगत और प्रेमी जगत से भी राग सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। और यह एक परम सत्य तथ्य है श्री हरिवंशानुराग; श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों के कथन-श्रवण से प्राप्त नहीं होगा। यह अलभ्य लाभ तो येन-केन प्रकारेण श्री हरिवंश नाम रटने से ही मिलेगा। सेवक जी का कथन है कि नाम रटने से सब कुछ प्राप्त हो जायेगा—

नाम रटत आई सब सोहि<sup>१</sup>।

श्री हरिवंश नाम सब सिद्धि। सबे रसिक विलसैं नव निद्धि। भुगतैं, देंहिं, न जाँचहीं<sup>२</sup>।

श्रीहित की शरण ग्रहण करने पर ऐसी कौन सी समस्या है जो हल नहीं हो सकती; ऐसा कौन सा कार्य है जो पूरा नहीं हो सकता; ऐसी कौन सी इच्छा है जो पूरी नहीं हो सकती। श्री हित के द्वारा तो वह कार्य सम्पन्न हो जाता है; वह अलभ्य वस्तु प्राप्त हो जाती है, जो और कोई दूसरा दे ही नहीं सकता।

“श्री हरिवंश शरणागति” की अद्भुत महानता सेवक जी की स्वानुभव की वस्तु है। वे श्री हरिवंश-शरण होने के पश्चात् श्रीमद्भागवत श्रवण करने की आवश्यकता अनुभव नहीं कर सकते। एतावता यही अधिक प्रतीत होता है कि—“शुक मुख वचन जु श्रवण सुनावहु”—इस छन्द में उनका अन्तराशय यही निहित है कि दीक्षा देने से पूर्व ही भागवत सुना दो। अर्थात् भक्ति के स्वरूप एवं उसके आचरणों को समझने के लिए सर्वप्रथम श्रीमद्भागवत सुना देनी चाहिये।



कतिपय ब्रजोपासकगणों की यह भी मान्यता है कि “श्री हिताचार्य ने रास के पदों की रचना श्रीमद्भागवत वर्णित रास पंचाध्याई का अनुसरण करके की है। अतः श्रीमद्भागवत का कथन-श्रवण उनकी उपासना में बाधक नहीं है।” किन्तु श्री हिताचार्य ने इसके विपरीत अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर यह उद्घोष किया है कि मेरा उपास्य शुक, नारदादि समस्त हरि भक्तों, सखाओं, नंद-यशोदा तथा अनन्त ब्रजगोपियों से सर्वथा अलक्ष्य है<sup>१</sup>। श्रीमद्भागवत वर्णित महारास ब्रजगोपियों और भगवान् श्रीकृष्ण पर आधारित है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने श्रीमद्भागवत का रास वर्णन नहीं किया है।

श्री हिताचार्य प्रणीत—“मोहन मदन त्रिभंगी” इस गेय पद में प्रयुक्त ‘सहेली’ शब्द की व्याख्या करते हुए उन ब्रजोपासकों का कहना है कि—“अधर पान एवं परिरम्भन जनित अत्यन्त गम्भीर रस का अनुभव करके सहेलीगण आनन्द मग्न हो रही हैं। एक ही श्यामसुन्दर से आसक्त होते हुए भी ब्रजगोपिकाओं का परस्पर निर्विरोध साहचर्य ध्वनित करने के लिए ही यहाँ उनको ‘सहेली’ कहा गया है”।

वस्तुतः केलि को देखकर आनंद मग्न होने वाली सहेलियाँ भागवत वर्णित महारास की गोपियों से सर्वथा पृथक् हैं। श्यामसुन्दर से आसक्त गोपियाँ श्रीकृष्ण का अधर पान स्वयं करती हैं। श्यामा-श्याम की केलि देखकर आनंद निमग्न नहीं अपितु क्षुभित होती हैं। ये आनंद मग्न सहेलियाँ ब्रजगोपियाँ न होकर श्री राधापक्षपातिनी श्री राधाकिंकरीगण ही हैं और यह रास ब्रजगोपियों से अलक्षित नित्य रास है; भागवत वर्णित द्वापरान्त में होने वाला महारास नहीं।

इन ब्रजोपासकों का कहना है कि—“आज निकुंजोपासक चाहे इसको स्वीकार करें या न करें; किन्तु नित्यबिहार की उपासना की प्रेरणा श्रीमद्भागवत में वर्णित रासलीला से मिली है। भक्ति के क्षेत्र में रसोपासना की दिशा बताने वाली यह लीला ही है।” किन्तु यह उन भोले भावुकों का भ्रम मात्र ही है। यदि श्रीमद्भागवत वर्णित रासलीला से श्री हिताचार्य को प्रेरणा मिली होती तो वे “.....यदि शुकादयः किं ततः .....”इन तटस्थ वाक्यों के स्थान पर श्रीमद्भागवत के प्रति कृतज्ञता अवश्य ही प्रकट करते। यदि श्री हिताचार्य को रसोपासना का दिशा निर्देश श्रीमद्भागवत से मिला होता तो सेवक जी, व्यास जी, प्रबोधानन्द जी, नागरीदास जी, लाल स्वामी, हित ध्रुवदास जी आदि उनके शिष्य प्रशिष्यगण तथा अन्यान्य भक्तगण यह कभी भी न लिखते कि श्री हिताचार्य ने वह वस्तु प्रगट की है जिसे किसी ने भी अपनी उपासना का विषय नहीं बनाया।

इन ब्रजोपासक गणों को नित्यबिहारोपासना का मूल स्रोत भागवत वर्णित वंशीवट का रास दिखाई देता है। उनकी मान्यता है कि “इसी का परिष्कार करके निकुंज लीला का राग रंग खड़ा हुआ है।”

नित्यबिहार का मूल स्रोत ब्रज का महारास है—यह कहना सर्वथा असत्य है; क्योंकि श्रीमद्भागवत वर्णित रास द्वापरान्त में केवल एक बार ही हुआ था; नित्य नहीं। वह रास भगवान् श्रीकृष्ण कृत है; जो कि ब्रजगोपियों के योग से सम्पन्न हुआ था। श्रीमद्भागवत वर्णित रास में राधा सह समस्त गोपियाँ काम-पीड़िता हैं तथा श्री कृष्णासक्त हैं। श्री कृष्ण उनकी कामाग्नि शान्त करते हैं। उस रास में भगवान् श्रीकृष्ण बहु गोपीजनबल्लभ हैं। गोपियों के मधुकर हैं। उस रास के भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् मन्मथ-मनमथ हैं और वैराग्य नामक ऐश्वर्य से सम्पन्न भी हैं। भागवत वर्णित रास की गोपियाँ श्रीराधा से सापत्न्य [सौत] संबंध रखती हैं; जबकि श्री हरिवंश रास-विलास प्रत्येक ऋतु में, अष्ट प्रहर के किसी भी समय में होने वाला नित्य रास है। यह नित्य रास माधुर्यैक मूर्ति रस घन प्रेम स्वरूप [प्रेमी] श्यामसुन्दर कृत है; जो कि श्री राधा-चरण-विलोडित रुचिर शिखण्ड हैं तथा उनकी किंकरीयों तक के सर्वथा आधीन बने रहते हैं। ये भी अविस्मरणीय है कि ये प्रेमी श्यामसुन्दर श्रीराधा के ही अनन्य हैं। श्री हिताचार्य के श्यामसुन्दर मदन-सर-जर-जर गात हैं और श्रीराधा के ही निज विटेन्द्र हैं। उनके नित्यरास में ब्रजगोपियों का प्रवेश ही नहीं है। केवल राधाकिंकरीगणों का ही प्रवेश है जिनका श्रीकृष्ण से कान्त संबंध नहीं है। इन किंकरीगणों को कभी काम पीड़ा भी नहीं होती क्योंकि ये न तो नारी हैं, न पुरुष हैं न नपुंसक। ये किंकिरियाँ कभी भी श्रीकृष्ण के साथ बिहार करने की इच्छुक नहीं होतीं। ये तो प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम का नित्यबिहार देखकर ही आनंद मग्न होती हैं तथा राधापक्षपातिनी होते हुए भी युगल के सुख में सुखी रहती हैं।

“श्रीमद्भागवत वर्णित वंशीवट का रास नित्यबिहार का मूल स्रोत है”— यह कहने के लिये यह आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो जाता है कि श्री हिताचार्य द्वारा वर्णित नित्यरास में भागवत वर्णित महारास के समस्त उपकरणों [श्री राधा, श्री श्यामसुन्दर, ब्रज गोपियाँ, द्वापरान्त की शरद रात्रि का समय, रासमण्डल, संगीत, वाद्य, वंशी, नृत्य आदि] का ज्यों का त्यों दर्शन अथवा साम्य या कोई अंश विशेष दिखलाया जाये। किन्तु हम देखते हैं कि अंश और साम्य की बात तो बहुत दूर रही इन उपकरणों के सर्वथा विपरीत उपकरण दिखाई देते हैं। जिनकी विशद चर्चा इसी प्रबंध के पंचम अध्याय में ‘नित्य रास और महारास का पार्थक्य’ इस शीर्षक से की जा चुकी है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत वर्णित ‘महारास’ नित्यबिहार का मूल स्रोत नहीं है। नित्यबिहार का मूल स्रोत तो नित्य निकुंज



धाम ही है। जहाँ से ब्रज में नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी नाम से अभिसंज्ञात रूप का जन्म हुआ है।

अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि नैमित्तिक रास [एक काल विशेष में होने वाले रास] को नित्यरास का मूल स्रोत बनाने और बताने की चेष्टा की जा रही है। वस्तुतः निकुंजलीला का राग रंग खड़ा नहीं किया गया है वह तो पहले से ही खड़ा था। तभी तो उसका नाम नित्यबिहार है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के अनेक चरित्र, लीला, क्रीड़ा, खेल, विनोद और बिहार का वर्णन है किन्तु समग्र श्रीमद्भागवत और भागवत जैसे अन्यान्य सभी भक्ति शास्त्रों में नित्यरास तथा नित्यबिहार—जो कि रसोपासना का प्राण है—का नामोल्लेख तक नहीं मिलता। श्री हिताचार्य ने भागवत वर्णित वंशीवट के रास का परिष्कार करके राग रंग खड़ा नहीं किया है प्रत्युत “न आदि न अन्त बिहार” को सभी के नयन गोचर कराया है।

नित्यबिहार [नित्य रास] तथा निकुंजोपासना को भागवत वर्णित वंशीवट के रास पर आधारित मानने पर यह भी सिद्ध होता है कि श्री हिताचार्य द्वारा सभी को नयन गोचर कराया गया नित्य रास द्वापर से पूर्व था ही नहीं। उसे अनादि कहना तथा नित्यबिहार कहना सर्वथा असत्य है। इससे श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों पर भी असत्य संभाषण करने का दोषारोपण होता है; जो कम से कम किसी भी सुबुध-रसिक को तो स्वीकार नहीं ही होगा। यदि श्रीमद्भागवत वर्णित महारास लीला को सैद्धान्तिक रूप से नित्य स्वीकार कर लिया जाय तब तो श्रीकृष्ण की कालीमर्दन, केसीवध, पूतनावध, गिर्राजधरण, चीरहरण, माखनचोरी आदि-आदि लीलायें भी नित्य मानी जा सकती हैं; नित्य देखी जा सकती हैं।

इन ब्रजोपासकगणों का यह भी कहना है कि—“भागवत वर्णित ब्रजलीला में और निकुंज लीला में राधा-श्यामसुन्दर दोनों एक ही हैं। दोनों में भेद लीला का और भाव का है। दोनों जगह है प्रेम लीला ही किन्तु प्रेम का स्वरूप दोनों जगह भिन्न है। इस भिन्नता को लेकर दोनों जगह की भिन्नता बनी हुई है।”

निकुंजोपासकों की आलोचना करने वाले इन ब्रजोपासकगणों को यह बात तो पूर्णतः प्रत्यक्ष दिखाई देती है कि ब्रज और निकुंज दो पृथक-पृथक लीला स्थल हैं और उन दोनों पृथक लीला स्थलों में होने वाली लीलायें तथा लीलाओं में प्रकाशित होने वाला प्रेम-स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। जब दो पृथक लीला स्थलों में एक ही काल में दो प्रकार की लीलायें होती हैं तो लीला करने वाला रूप [श्री राधा-श्यामसुन्दर] एक कैसे हो सकता है? जब ब्रज में अवतरित नन्दनन्दन प्रभात काल में बलदाऊ और सखागणों के साथ गाय चराने जाते हैं तो निकुंज में नन्दनन्दन वृषभाननन्दिनी के साथ अपनी ललितादि दासियों

से समावृत वन विहार में आँख-मिचौनी-गेंद खेल, रास क्रीड़ा आदि विशुद्ध माधुर्यमयी लीलायें करते हुए दिखाई देते हैं।

निकुंज स्थली में श्रीराधा श्यामसुन्दर शरद-बसन्त तथा अन्य सभी ऋतुओं में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल रास करते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु भागवत वर्णित ब्रजलीला में श्रीकृष्ण केवल शरद की रात्रि में ही अपनी कान्ताओं [ब्रजगोपियों] के साथ रास करते देखे गये, अन्य समय में नहीं; अन्य समय में तो वे गोचारण, गोवर्धन धारण, चीरहरण, कालियदमन, माखनचोरी, माटी खावन, पनघट में गोपियों के साथ छेड़छाड़, दधिदान लीला और असुरवध इत्यादि लीलायें करते दिखाई देते हैं। ब्रज के लीला स्थल में श्रीराधा श्यामसुन्दर से अलग ही दिखाई देती हैं। वे न तो उनके साथ शयन करती हैं, न भोजन करती हैं और न गाय चराने जाती हैं। हाँ श्रीकृष्ण से मिलने के लिये आकुल-व्याकुल और सचेष्ट अवश्य ही दिखाई देती हैं। इसके विपरीत निकुंज लीला में श्रीराधा-श्यामसुन्दर के बीच कभी अलगाव होता ही नहीं है।

वास्तव में इन दो पृथक लीला स्थलों में भिन्न प्रकार की लीलाओं में प्रकाशित होने वाला प्रेम भी भिन्न प्रकार का ही दिखाई देता है। क्योंकि इन दोनों लीलास्थलों में प्रेमी और प्रेमपात्र का स्वरूप ही भिन्न है। अर्थात् ब्रज में श्रीकृष्ण प्रेमपात्र और श्रीराधा सह समस्त ब्रजगोपियाँ प्रेमी हैं; जबकि निकुंज में श्रीराधा प्रेमपात्र हैं और श्यामसुन्दर प्रेमी तथा प्रीति मूर्ति सहचरियाँ हैं—प्रेम स्वरूप प्रिया-प्रियतम के प्रेम की उपासिका। भागवत वर्णित ब्रजलीला में ललिता-बिशाखा आदि सभी ब्रजगोपियाँ श्रीराधा की भाँति ही श्रीकृष्ण की प्रेमिका हैं और श्रीकृष्ण से सीधा कान्त सम्बन्ध रखती हैं। ये सभी गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ श्रृंगारी केलि करती हैं। किन्तु निकुंज लीला में ललिता-बिशाखादि सभी किंकरियाँ युगल की परिचारिका होते हुए भी श्रीराधापक्षपातिनी हैं। इसीलिए वे राधाकिंकरी नाम से ही अभिसंज्ञात हैं। वे श्रीश्यामसुन्दर से कान्त सम्बन्ध नहीं रखती। प्रत्युत श्रीराधा-श्यामसुन्दर युगल को अपना प्रीतम मानती हैं। वे श्रीश्यामसुन्दर के साथ कभी भी बिहार नहीं करतीं। वे तो श्रीराधा-श्यामसुन्दर को होली खिलाती हैं, झूला झुलाती हैं और शैया बिहार कराती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथक-पृथक दो लीला स्थलों में श्रीराधा-श्यामसुन्दर के रूप भी भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। क्योंकि भिन्न-भिन्न रूप से ही भिन्न-भिन्न लीलायें सम्पन्न हो सकती हैं। ब्रज में संयोग और वियोग 'प्रेम' के दोनों अंग भी अलग-अलग दिखाई देते हैं जबकि निकुंज लीला में पूर्ण संयोग में ही वियोग की अनुमूति का युगपत् दर्शन होता है।

यहाँ पर यह बात भी नितान्त अविस्मरणीय है कि तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो युग युगल श्रीराधा श्यामसुन्दर एक ही 'प्रेम' तत्त्व के युगल रूप हैं। दोनों लीला स्थलों



में लीला करने वाले युग युगल प्रेम स्वरूप हैं। एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। और वे ही क्यों तात्त्विक दृष्टि से तो राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन, मत्स्य, कूर्म, वाराह भगवान भी एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इतना ही नहीं यह जीव तथा जड़ चेतन क्या है ? यह भी तत्त्वतः एक वही ही है। परन्तु तत्त्वतः एक होते हुए भी सबका रूप भिन्न-भिन्न है। उनकी लीला, लीलास्थल व परिकर भिन्न-भिन्न हैं।

भाव से भावित रूप अर्थात् भाव के विषय रूप में भेद न मानकर केवल भाव भेद मानने पर तो माधुर्य संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है और ऐश्वर्य का घोर रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसा कि सीता स्वयंवर में खड़े हुए भगवान रामचन्द्र को जिन-जिन भक्तों ने जिन-जिन भावों से देखा था, उन्हें वे उसी रूप में दिखाई दिये थे। तभी तो गो. तुलसीदास जी ने उनके ईश्वरत्व को व्यंजित करने के लिए लिखा है कि—

जिन्ह कैं रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी<sup>१</sup>।।

ठीक इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण को मथुरावासियों ने धनुष तोड़ते समय जिन-जिन भावों से देखा था उन्हें वे उसी रूप में दिखाई दिये। श्रीकृष्ण का एक ही रूप भक्तों को उनके भावानुकूल भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई दिया था। शुकदेव जी ने इस घटना का वर्णन करके श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य किंवा ईशत्व का ही प्रकाश किया है; माधुर्य का नहीं।

यहाँ पर यह भी दृष्टव्य है कि इन दोनों घटनाओं में स्थान एक है; भगवान का रूप एक है; केवल भाव भेद है। इसीलिए यहाँ यह भाव भेद उनके ईश्वरत्व का प्रकाशक है किन्तु ब्रज लीला और निकुंज लीला में वय पार्थक्य, भाव पार्थक्य, रस पार्थक्य, स्थान पार्थक्य, लीला पार्थक्य, लीलोपकरण पार्थक्य, परिकर पार्थक्य, धाम पार्थक्य सुस्पष्ट हैं। अतः ब्रजोपासकों का यह कहना कि “भेद केवल भावों का है। दो रूप मानने से घोर ऐश्वर्य आ जाता है और माधुर्य नष्ट हो जाता है”—विद्वद् सम्मत और साधु सम्मत प्रतीत नहीं होता।

ब्रजोपासकों की यह भी धारणा है कि—“ब्रजलीला और निकुंज लीला का भेद स्थान को लेकर नहीं है, केवल भाव को लेकर है।” किन्तु उनकी यह धारणा भी श्री हिताचार्य प्रबोधानन्द सरस्वती, सेवक जी, हितध्रुवदास जी, तथा लाल स्वामी इत्यादि प्राचीन रसिकों के विरुद्ध मनोकल्पित भावना ही है। इन रसिक महानुभावों ने ब्रज लीला तथा निकुंजलीला के स्थान पृथक-पृथक माने हैं और सुस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि ब्रजलीला के परिकर ही नहीं प्रत्युत लीला नायक श्रीकृष्ण भी निकुंज के आँगन में नहीं पहुँच पाते—

गाय चरावनि असुर सँघारनि ते नहिं पहुँचत कुंज के द्वारे<sup>१</sup>।

यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि श्रीहिताचार्य, स्वामी हरिदास जी व अन्य हित रसिकों ने श्रीराधा, श्यामसुन्दर, ललिता, यमुना, वृन्दावन आदि पौराणिक नामों को अवश्य ग्रहण किया है। किन्तु इन नामों के ग्रहण करने से न तो रस विपर्यय ही होता है और न छोड़ देने से न रस रूप में कोई विकृति ही आती है। [ प्र. पृ. सं. २३४ से २६७ ]

यही कारण है कि जहाँ पर एक ओर इन युग युगलों के नाम तथा रूप [वेशभूषा] में कुछ साम्य दिखाई देता है; वहीं पर अनेक पार्थक्य विशेष भी हैं जो कि इन दोनों जोरियों को सर्वथा भिन्न रूप में बनाये रखते हैं। यथा-वय पार्थक्य—नित्य निकुंज की यह जोरी नित्यकिशोर ही बनी रहती है। भाव पार्थक्य—यह जोरी सख्य, वत्सल तथा मधुर आदि किसी भाव से भावित [अनुभूत या संदृष्ट] नहीं होती; यह तो एकमात्र श्री राधाकिंकरीभाव से ही अनुभूत होती है। रस पार्थक्य—यह जोरी एकमात्र सर्वाद्य किंवा महामधुर रस का ही उपभोग करती है; वत्सल आदि रसों का नहीं। आसक्त और आसज्ज रूप पार्थक्य—इस जोरी में श्री राधा 'आसज्ज' और श्री श्यामसुन्दर अनन्य आसक्त हैं। वेश भूषा-शृंगार पार्थक्य—इस जोरी के श्यामसुन्दर कभी लकुट धारण नहीं करते इसी प्रकार श्री राधा के सिर पर कभी दूध, दही या माखन की दोहनी नहीं देखी जाती। परिकर पार्थक्य—इस जोरी का परिकर एकमात्र राधा प्रिय अनन्य राधाकिंकरी वृन्द ही है। यहाँ पर नन्द—वृषभानु, यशोदा-कीर्ति, सुबल-सुबाहु आदि सखा एवं कृष्णकांता गोपियों का प्रवेश नहीं है। यक्ष, किन्नर, देवता, देव स्त्रियों और नागलोक वासियों का प्रवेश भी सर्वथा निषिद्ध है। धाम पार्थक्य—श्री हिताचार्य के परमोपास्य ग्रामवासी नहीं अपितु नागरी-नागर हैं<sup>२</sup>। आचार्य चरण ने इस जोरी को इसी भूतल पर स्थित वृन्दावन धाम में ही गोचर कहा है; और इस वृन्दावन को ब्रज मण्डल के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है; पृथ्वी के अन्य भागों में नहीं। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने और उनके अनुगतानुगतों ने अपने उपास्य को ब्रज सिरताज, ब्रजभूषण, ब्रजभूप, ब्रजमण्डन आदि नामों से प्रकीर्तित किया है। बहुत अधिक स्पष्ट है कि उनके परमोपास्य अर्थात् यह जोरी अनेक गोप-गोपियों के परिवार के बीच किसी गाँव में नहीं रहते। यही कारण है कि उनके श्री मुख से कभी भी ऐसे वाक्य नहीं निकलते—“अरे डोटा ! तुम चले क्यों नहीं जाते ? ये कौन की बेटी है ? इस कुँवरि का क्या नाम है ? यह

१. ला. स्वा. की वा., ला. स्वा., छं. सं. २०

२. आजु नीकी बनी श्री राधिका नागरी।.....

नागरता की रासि किशोरी। नव नागर कुल मौलि साँवरौ बरबस कियौ चितै मुख मोरी।।



गाँव बाबला है"; इत्यादि। यही कारण है कि उन्होंने इस जोरी को 'नागरी-नागर' कहकर ही प्रशंसित किया है यथा— नवल नागर नवल नागरी किशोर मिलि....<sup>१</sup>। इसी प्रकार श्री राधाकिंकरीगण भी ग्राम वासिनी न होकर नागरी ही हैं। यथा—ब्रज नव तरुणि कदम्ब नागरी<sup>२</sup>। .....यो वृन्दावन नागरी पशुपति<sup>३</sup>.....।

लीला पार्थक्य—यह जोरी न तो कभी बाल-कौमार-पौगंडादि कालीन ही कोई लीला करती है और न माखनचोरी या असुर संहार जैसी ही कोई लीला करती है। यह जोरी दान क्रीड़ा का आनन्द तो लेती है किन्तु उस प्रकार की दान क्रीड़ा का नहीं जिस प्रकार की दान क्रीड़ा अवतार काल में हुई थी। जिस दान क्रीड़ा में ब्रज गोपों की बहू-बेटियाँ श्री राधा के साथ दिन या रात में दूध-दही बेचने जाती थीं और श्रीकृष्ण उनसे दान लेने का उपक्रम करते हुए कहते थे कि "अरे सखाओ ! इन्होंने हमारा दान मार लिया है। इन्हें इस प्रकार से घेरो कि ये जाने न पायें। तब गोपियाँ हरि की इस प्रकृति की आलोचना किया करती थीं"। श्री हिताचार्य के उपास्य उस रस सम्पत्ति की दान क्रीड़ा का आनन्द लेते हैं जो कि नित्य नव किशोरी के प्रत्यंग में नित्य वर्तमान रहती है<sup>४</sup>।

यह जोरी नित्य रास-विलास ही किया करती है। किन्तु रास लीला एक ऐसी लीला है; जो कि नित्य लीला और प्रकट [अवतार कालीन] लीला दोनों में ही होती है। श्री हिताचार्य की वाणी में भी रासलीला का गान है। नित्य रास और अवतार कालीन महारास के सूक्ष्म पार्थक्यों को न समझ सकने के कारण कुछ भोले भावकों को श्री हिताचार्य की वाणी में भी महारास लीला गान का भ्रम होता है। वस्तुतः ये दोनों रास पृथक-पृथक हैं और श्री हिताचार्य की वाणी में विशुद्धतम नित्य रासलीला का ही उद्गान है। एतत् सम्बन्धी विस्तृत विवेचन प्रबंध के पंचम अध्याय में दृष्टव्य है।

श्रीमद्भागवत वर्णित ब्रज लीला के न मानने से इन ब्रजोपासकों की दृष्टि में प्रेमोपासना नहीं बनती। उनका कहना है कि—"ब्रज के न मानने से श्यामा-श्याम का जन्म भी असिद्ध हो जायेगा और यह बात प्रेमोपासना के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होगी। प्रेम की उपासना प्रगट रूपों पर आधारित है और जन्म के बिना प्रगट रूप कैसे सम्भव होगा ? जन्म को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से प्रागट्य माना जाय तो घोर ऐश्वर्य आ जायेगा और माधुर्य नष्ट हो जायेगा।"

१ से २. हि. चौ., प. सं. ५०, ५२

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. २३६

४. हि. चौ., पं. सं. ५१

माधुर्य मूलक प्रेमोपासना को जन्म पर आधारित मानने पर माधुर्यक मूर्ति अद्वय युगल को नित्यबिहारी और नित्यबिहारिणी नहीं कहा जा सकता और न उनकी क्रीड़ा को नित्यबिहार ही कहा जा सकता है। क्योंकि श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकजनों ने वृन्दावन रसोपासना के उपास्य तत्व को नित्यबिहारी और उनकी क्रीड़ा को 'नित्यबिहार' नाम से अभिसंज्ञात किया है। नित्य उसी को कहा जा सकता है जो कि अनादि और सनातन होता है। जन्मतः [जो किसी समय विशेष में प्रगट हुआ है जिसने जन्म लिया है] वह किसी समय इस लोक से अप्रत्यक्ष होगा ही। यह इतिहास प्रसिद्ध ही है कि भागवत वर्णित श्रीकृष्ण का जन्म द्वापरान्त में हुआ। वे एक ऐतिहासिक विभूति थे। इसप्रकार से वह ब्रज में अवतरित रूप नित्य नहीं कहा जा सकता।

परम तत्व के जन्म को 'अवतार' कहा जाता है। अवतार किसी दूसरे स्थान से किसी अन्य स्थान पर होता है। लोक में अवतरित रूप को 'अवतारी' और जहाँ से वह रूप अवतरित होता है उस स्थल में सदैव रहने वाले रूप को 'अवतारी' कहकर प्रकीर्तित किया जाता है। इस सिद्धान्त के आलोक में 'जन्म' अवतरित किंवा नैमित्तिक रूप ही सिद्ध होता है और 'अवतारी' परमतत्त्व का नित्य रूप सिद्ध होता है।

यह सिद्धान्त मानने पर कि "जन्म से ही माधुर्य उपासना बनती है और जन्म न मानने से घोर ऐश्वर्य आ जाता है"—"वृन्दाटव्यां सदैव प्रकटतर" की सर्वप्रथम घोषणा करने वाले श्री हिताचार्य और "एरी माई सहज जोरी प्रगट भई" कहने वाले स्वामी श्री हरिदास जी आदि रसिक महानुभावों पर यह आरोप होता है कि वे माधुर्य उपासना से सर्वथा वंचित थे और घोर ऐश्वर्य के उपासक थे। नित्यबिहार की उपासना [माधुर्य उपासना] का आधार नन्दलाल-वृषभानकिशोरी के जन्म पर आधारित मानने पर श्रीकृष्ण जन्म से पूर्व नित्यबिहारी और नित्यबिहारिणी के विहार का नित्यत्व ही असिद्ध हो जाता है।

ये ब्रजोपासकगण श्री हिताचार्य की रस दृष्टि न समझ सकने के कारण कभी तो केवल भाव भेद ही मानते हैं; रूप भेद नहीं और कभी यह विचार भी प्रकट करते हैं कि— "नित्य विहार की पद्धति में एक विशिष्ट भाव स्वरूप की स्थापना हुई है, और श्यामा-श्याम के पौराणिक रूप को उतने ही अंश में स्वीकार किया गया है जितने में वह उक्त भाव के अनुकूल रहता है। श्री श्याम-श्याम का नित्य दूलह-दुलहिनी रूप पुराणों के अनुकूल नहीं पड़ता किन्तु नित्यबिहार की पद्धति के लिए इसकी स्वीकृति अनिवार्य है।"

यह परम सत्य है और ब्रजोपासकगणों को भी स्वीकार है कि श्री हिताचार्य ने श्यामा-श्याम के पौराणिक रूप को उतने ही अंश में स्वीकार किया है जितने में वह उक्त भाव के अनुकूल पड़ता है। श्यामा-श्याम का नित्य दूलह-दुलहिनी रूप पुराणों के अनुकूल



नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में श्री हिताचार्य अपनी नित्यबिहार पद्धति किंवा रसरीति से प्रतिकूल पड़ने वाले रूप को अपना गेय, ध्येय और प्रेय कैसे बनाते ? यह प्रश्न विचारणीय है। हाँ उन्होंने प्रसिद्ध नन्दनन्दन-वृषभानन्दिनी नाम को अवश्य स्वीकार किया है। क्यों किया है ? इस संबंध में पंचम अध्याय में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। नन्दनन्दन और वृषभान-नन्दिनी का पौराणिक रूप नित्यबिहार की पद्धति के लिए अनिवार्य कहना केवल क्लिष्ट कल्पना मात्र है। क्योंकि पौराणिक रूप तो नित्यबिहारी रूप के सर्वथा विपरीत है। इन दोनों रूपों के पार्थक्य पर भी पिछले पृष्ठों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

केवल श्रीमद्भागवत वर्णित अवतार कालीन रासलीला से ही चिर परिचित होने के कारण इन ब्रजोपासकों को श्री हिताचार्य द्वारा वर्णित नित्य रास के पदों में भी महारास का भ्रम होता है। नित्य रास वर्णनात्मक पदों को देखकर उनको यही समझ में आता है कि—“इन पदों में श्री हित हरिवंश चन्द्र ने ब्रज के रास का अपने ढंग से वर्णन किया है।” जबकि वास्तविक तथ्य यह है कि श्री हिताचार्य ने द्वापरान्त में होने वाले ब्रज के रास का वर्णन ही नहीं किया है। उन्होंने तो भूतलस्थ वृन्दावन में निरन्तर चलने वाले नित्य रास का ही वर्णन किया है। एतत् सम्बन्धी विस्तृत विवेचन प्रबंध के पंचम अध्याय में दृष्टव्य है। फिर भी जिन्हें श्री हिताचार्य प्रणीत नित्य रास के पदों में ब्रज का महारास दिखाई दे—तो यह उनकी दृष्टि का दोष ही कहा जा सकता है। क्योंकि उनकी भावना बन गई है कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य तो अवतार कालीन वे नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी ही हैं जिनकी लीला श्रीमद्भागवत में वर्णित है।

ब्रजोपासकों की इस मान्यता—“कि उन्होंने ब्रज के रास का अपने ढंग से वर्णन किया है”—से यह भी सिद्ध होता है कि हित हरिवंश जी ने द्वापरान्त में होने वाले ऐतिहासिक श्रीकृष्ण चरित्र महारास लीला; जो श्रीमद्भागवत में वर्णित है,— का अपने शब्दों में ब्रजभाषा में अपने ढंग से रूपान्तरित मात्र कर दिया है। वास्तव में उन्होंने किसी रासलीला के दर्शन नहीं किये थे। किन्तु यह बात श्री हिताचार्य तथा तदनुगत सभी रसिकों द्वारा किये गये उद्घोषों के सर्वथा विपरीत है।

इन ब्रजोपासकों के सामने यह प्रश्न भी बना रहता है कि जब उन्होंने श्रीकृष्ण रूप को अपना उपास्य नहीं बनाया तो गोपाल, नन्दनन्दन, हरि आदि पौराणिक नाम क्यों स्वीकार किये ? एतत् सम्बन्धी विवेचना प्रबंध के पंचम अध्याय में की जा चुकी है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् भी यदि यह माना जाये कि श्री हिताचार्य ने भागवत वर्णित अवतार कालीन महारास गाया है—तो यह प्रश्न उठता है कि ‘अनन्य उत्कट व्रतधारी’ और अनन्यता प्राण रसोपासना प्रवर्तक आचार्य ने ब्रज लीला का गान क्यों किया ? क्या

ऐसा करना उनके लिए अनिवार्य था ? यदि था तो क्यों ? क्या उन्होंने पसारठ की दुकान खोली थी कि कोई कुछ भी माँगने आये उसे वही वस्तु दे दें ?

‘रसोपासना और श्रीमद्भागवत्’ इस शीर्षक में की गई विस्तृत इस विवेचना से यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि हरिवंशोदित रसोपासना में श्रीमद्भागवत का क्या स्थान है।

### ६.३. रसोपासना और शक्तिवाद :

काली, महाकाली, दुर्गा, भवानी आदि-आदि देवियों के रूप में अभिव्यक्त ‘शक्ति’ को परम तत्त्व मानकर उसकी उपासना करना तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश और श्रीराम-कृष्णादि अवतारों को ‘शक्ति’ के आधीन मानना ‘शक्तिवाद’ कहलाता है।

श्री हरिवंशोदित प्रेमोपासना में प्रेमी श्यामसुन्दर, प्रेमास्पद श्रीराधा के सदैव आधीन बने दिखाई देते हैं। साथ ही श्री हिताचार्य—प्रणीत एक श्लोक भी प्राप्त होता है—जिसमें श्रीराधा को ‘स्वतन्त्रा’ और ‘पराशक्ति’ कहा गया है। उपास्य के स्वरूप निर्धारण की इस सामग्री को देखकर कतिपय व्यक्तियों को इस रसोपासना में शक्तिवाद का भ्रम होता है।

‘रज्जु’ में सर्प का भ्रम; रज्जु के सांस्पर्श से, उसकी गति हीनता तथा निष्क्रियता का बोध होने से वह भ्रम दूर हो जाता है; किन्तु जो सुनिश्चित रूप से स्वप्नवत् असत्य है ऐसे इस दृश्य जगत को ‘सत्य’ मानने का भ्रम आज तक दूर नहीं हुआ है और शायद कभी दूर भी न होगा। श्री राधाचरण प्रधान रसोपासना में शक्तिवाद का भ्रम ऐसा ही है। फिर भी हम यथा शक्ति इस भ्रम को दूर करने का प्रयास अवश्य करेंगे।

‘शक्ति’ शब्द का कोषगत अर्थ है—बल, सामर्थ्य। यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि चाहे मूलतः ‘शक्ति’ शब्द का अर्थ एक बल ही हो किन्तु वह अनेक क्षेत्रों में अनेकानेक रूप में प्रत्यक्ष अवश्य ही दिखाई देती है। जैसे— शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति, देव शक्ति, दानव शक्ति, प्रेत शक्ति, मानव शक्ति, भोग शक्ति, पाचन शक्ति, रूप शक्ति, मोहन शक्ति, तान्त्रिक शक्ति, कवित्व शक्ति, ईश शक्ति, योग शक्ति, तप शक्ति, भजन शक्ति, आदि। किन्तु यहाँ पर प्रस्तुत ‘शक्तिवाद’ का अर्थ शक्ति को ही परात्पर तत्त्व मानने वाले ‘मत’ विशेष से ही है। अतः यहाँ पर श्री हिताचार्य की रसोपासना में इस ‘शक्तिवाद’ का भ्रम ही दूर करने की चेष्टा करेंगे। श्री हरिवंशोदित प्रेमोपासना का परमोपास्य तत्त्व वह ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ है जो कि शक्ति और शक्तिवान नहीं; प्रत्युत पूर्ण ‘आशक्तिवान’ है जो कि आसक्त और आसज्ज किंवा प्रेमी और प्रेमास्पद रूप में नित्य अभिव्यक्त रहता है। ‘प्रेम’ के ये दोनों ही रूप आशक्तिवान हैं। यही कारण है कि इन दोनों रूपों में—तत्सुखसुखिता अनन्यता और तदाधीनता—‘प्रेम’ के ये तीनों धर्म [स्वरूपगत



लक्षण] समान रूप में दिखाई देते हैं। आशक्तिवान 'आशक्त' प्रकृतितः तदाधीन होता है, अनन्य होता है और तत्सुखसुखी होता है।

श्री हिताचार्य ने 'अद्भुत प्रेम' की दोनों मूर्तियों—'आसक्त' और 'आसज्ज' का स्वरूप परिचय देते हुए कहा है कि उनमें से एक मूर्ति नीलाम्बुद श्यामवर्ण है, कंदर्प से तरल है तथा चाटु, काकु वाणीवद् नित्य विनयावनत बनी रहती है। यह निरापद रूप से परमाशक्त प्रेमी श्यामसुन्दर हैं। ये श्यामसुन्दर अपनी अनन्याशक्ति का उद्घाटन करते हुए स्वयं कहते हैं कि मेरे नेत्र श्री राधा-मुखाब्ज से ऐसे अटके हुए हैं कि वे अन्यत्र कहीं जाते ही नहीं हैं<sup>१</sup>। दूसरी मूर्ति का निकट परिचय देते हुए उन्होंने बतलाया है कि वह स्वर्ण चम्पकवर्णा है। मान की भंगियों से सदा भव्य और बाहर से सदा प्रतिकूल [किन्तु भीतर से सदा अनुकूल ही] बनी रहती है। प्रेमास्पदा की स्वरूपगत लज्जा उसे बाहर से प्रतिकूल ही बनाये रखती है<sup>२</sup>। जबकि अकाट्य सत्य यह है कि वह हृदय से अनुकूल ही बनी रहती है—तभी तो वह भी अपने आशक्त किंवा प्रेमी के प्रति—अनन्य, तदाधीन और उसी के सुख में सुखी-तत्सुखसुखी बनी रहती हैं और अपने हृदय की अनुकूलता का गुप्त भाव कभी-कभी अपनी अंतरंगा सखी से कह बैठती हैं कि सखी ! मेरे प्राण प्यारे प्रीतम जो-जो भी करते हैं, वह सभी कुछ मुझे प्यारा लगता है और जो-जो मुझे प्रिय लगता है प्रियतम भी वही-वही करते हैं—

जोई-जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै, भावै मोहि जोई सोई-सोई करै प्यारे<sup>३</sup>।

प्रेमी श्यामसुन्दर [ प्रेम मूर्ति आसक्त ] का श्री राधा के समक्ष चाटु-काकु वाणी वद विनयानवत बने रहने का कारण श्री राधा की अपराजिता शक्ति नहीं अपितु आसक्त की आशक्ति ही है। श्री राधा की मान भंगियों का कारण अप्रसन्नताजन्य कोप नहीं अपितु उनकी स्वाभाविक लज्जा है। उनके हृदय में कोपोदय की कल्पना तो की ही नहीं जा सकती; क्योंकि वे हृदय से सदा अनुकूल ही बनी रहती हैं और सच बात तो यह है कि उनके प्रीतम ऐसा कोई कार्य ही नहीं करते जो श्री राधा के हृदय में कोप भाव का उदय करे। श्री राधा के इस अवला और सबला रूप को देखकर श्री हिताचार्य स्वयं ही आश्चर्य चकित होकर कहते हैं कि यह श्री राधा अवला हैं या बल की राशि हैं ? जिन्हें देखकर निरंकुश मत्त गजराज सदृश मोहन उनके लट के पाश में बँध गये हैं। वे पुनः कहते हैं कि यह

१. कहा कहीं इन नैनन की बात। ये अलि प्रिया वदन-अम्बुज रस अटके अनत न जात।।

— हि. चौ. प. सं. ६०

२. एकं कांचन चंपकच्छवि.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १६६

३. हि. चौ., प. सं. १

दशा तो उनकी अभी ही हो रही है; जबकि श्री राधा ने उन्हें आधीन बनाने के लिए कोई आयास-प्रयास नहीं किया है—

देखौ माई अवला कै बल रासि।

अति गज मत्त निरंकुस मोहन निरखि बँधे लट पासि॥

अबही पंगु भई मन की गति बिनु उद्यम अनियास।

तब की कहा कहौ जब पिय प्रति चाहत भृकुटि विलास॥

कच संयमन व्याज भुज दरसत मुसिकन वदन विकास।

हा हरिवंश अनीति रीति हित कत डारत तन त्रास<sup>१</sup>॥

प्रेमोपासना के इस अमल आलोक में भी श्री राधा को शक्ति मानना तथा प्रेम सिद्धान्त को 'शक्तिवाद' कहना इस असत्य संसार को सत्य घोषित करने के ही समान है। श्री हरिवंशोदित रसोपासना में शक्तिवाद की भ्रान्ति का दूसरा आधारभूत कारण श्री हिताचार्य प्रणीत 'राधासुधानिधि' का एक श्लोक भी कहा जाता है जिसमें श्री राधा के पुराण वर्णित रूपों का और अन्यान्य ग्रंथों में वर्णित अनेक रूपों का परिगणन करते हुए उनके 'स्वतन्त्रा' और 'पराशक्ति' रूप का नामोल्लेख किया गया है<sup>२</sup>।

आलोच्य श्लोक में आचार्य चरण ने पुराणादि ग्रंथों में वर्णित राधा-रूपों को पूर्व पक्ष में स्थापित करके 'एव' शब्द के द्वारा अपनी सेव्या नित्य नव दुलहिनी श्री राधा का स्वरूप परिलक्षित कराया है। 'एव' शब्द का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ पर पूर्व कथित का निषेध करना होता है। [ दे. रा. सु. नि. श्लोक सं. ३६, ५५, १८१, २३५ ] यहाँ पर भी श्री राधा के ऐश्वर्य और माधुर्य इन दोनों रूपों को लक्ष्य कराकर "श्री वृन्दावन नाथ पट्ट महिषी राधैव मम सेव्या" कहा है। अतः बहुत अधिक स्पष्ट है कि 'एव' शब्द द्वारा पूर्व कथित ऐश्वर्य रूपों का निषेध किया गया है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता और श्लोक में वर्णित सभी रूपों को सेव्य कहा गया है—ऐसा अर्थ किया जाता है तो 'एव' शब्द का उल्लेख ही व्यर्थ हो जाता है।

बहुत से भक्त श्री राधा को भगवान की आल्हादिनी शक्ति और उनकी अनेक कान्ताओं में से एक प्रमुख कान्ता मानते हैं। श्री हिताचार्य की दृष्टि में यह उन सबों की निजी मान्यता है और उनकी इन मान्यताओं से श्री राधा का ऐश्वर्य ही तो प्रकाशित होता है। अतः उन रूपों को अनादृत दृष्टि से देखना अपराध होगा; इसीलिए वे इन भक्त मान्यताओं

१. हि. चौ., प. सं. ५३

२. रा. सु. नि., श्लो. ७८, प्र. पृ. सं. ३१४, ३१५



के सम्बन्ध में कुछ न कहकर अपनी रुचि विशेष प्रगट करते हुए कहते हैं कि श्री वृन्दावन नाथ पट्ट महिषी श्री राधा ही मेरी सेव्या हैं। जैसा कि राधासुधानिधि की श्लोक सं. ७७ में ईश्वर के भक्ति योग आदि का लक्ष्य करारकर अपनी रुचि विशेष प्रगट की गई है।

‘पट्ट महिषी’ शब्द का अर्थ—मुख्य रानी होता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि किसी महानुभाव को ग्रंथकार के इस ‘वृन्दावन नाथ पट्ट महिषी’ कथन से वृन्दावन नाथ में बहुनारी बल्लभत्व और श्री राधा में महिषी पट्टत्व की स्वीकृति आभासित हो। सम्भवतः इसीलिए श्री हिताचार्य ने ‘प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदय’ कहकर उन पट्ट महिषी का परिचय दिया है।

यदि थोड़ी देर के लिए एक शुद्ध विचारक की सूक्ष्म और गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो गोपराज कुमार श्रीकृष्ण की आराधिका श्री राधा का पट्ट महिषीत्व [कृताभिषेका महिषी भोगिन्योन्या नृपा स्त्रियः] ही शास्त्रों में स्पष्ट रूप से न मिल सकेगा। भाव-भावना की बात तो सर्वाबाधित है, अस्तु।

श्री हिताचार्य ने इस श्लोक के अतिरिक्त अन्य श्लोकों में भी अपनी सेव्या श्री राधा का परिचय देते हुए उन्हें गोविन्द प्रिय वर्ग [नन्द-यशोदा, कीर्ति-वृषभान, सखागण तथा समस्त ब्रजसीमन्तिनी गणों] से तथा सभी भक्तों से दूर रस-क्रीड़ा निमग्न बतलाया है।

‘पट्ट महिषी’ शब्द से विधिवत परिणीता वधूटियों में से प्रमुख वधूटी, यह अर्थ इसलिए भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि परिणीता स्वीकार कर लेने पर श्री राधा स्वकीया सिद्ध होती हैं और अपरिणीता स्वीकार करने पर उनका यह महिषीत्व ही असम्भव हो जाता है। श्री हिताचार्य ने ‘राधासुधानिधि’ ग्रंथ की श्लोक सं. ५६ और ७२ में स्वकीया-परकीया दोनों का निषेध करके श्री राधा-माधव के नित्य विवाह उत्सव और उनका नित्य नव दाम्पत्य स्वीकार किया है।

“पट्ट महिषी” शब्द का स्थूल शास्त्रीय अर्थ लेने पर तो श्री राधामाधव का ‘एक प्रेम की युगल मूर्ति’ यह स्वरूप भी प्रच्छन्न हो जाता है, जिस पर कि श्री हिताचार्य की प्रेमोपासना आधारित है। वृन्दावन रस राज्य के विधान में ‘आसज्ज’ आसक्त के हृदय पट्ट पर एकाधिकार करने वाला होता है। रस-क्रीड़ा के क्षेत्र में एकान्त युगल प्रेममूर्ति श्री राधा-माधव में श्री राधा आसज्ज और श्री माधव आसक्त हैं। इसी अन्तराशय को प्रकट करने के लिए ही श्री हिताचार्य ने “श्री वृन्दावन नाथ पट्ट महिषी” ऐसा उल्लेख किया है। जैसा कि उन्होंने ‘राधासुधानिधि’ की श्लोक सं. १२१ में ‘गोविन्द पट्टेश्वरी’ कहकर स्पष्ट कर दिया है।

ईश्वर या ईश्वरी अनेक न होकर एक ही होती है। अतः यहाँ ‘पट्टेश्वरी’ शब्द का अर्थ मुख्य ईश्वरी सर्वथा असम्भव है। इसीलिए आचार्य चरण ने ‘पट्टेश्वरी’ शब्द का अर्थ—

हृदय पटल पर एकछत्र राज्य करने वाली हृदयेश्वरी ही स्वीकार किया है। श्री हिताचार्य के उपास्य और उपासना के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर इस प्रकार की अर्थ-भ्रान्ति हो ही नहीं सकती है। यह शक्ति और शक्तिमान का भेद भी उसी उपासना में होता है जहाँ पर भगवान [सगुण स्वरूप का कोई रूप] परमोपास्य होते हैं। भगवान को उपास्य मानने पर उनकी एकान्त परात्परता भी स्वीकार करनी ही होगी और उनकी परात्परता स्वीकार करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि यह सम्पूर्ण चिदाचिद् विलास उसी एक परात्पर पुरुष की तदाधीन प्रकृति के साथ एक क्रीड़ा ही है। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर उस परात्पर भगवान के सभी स्वरूपों को उसी पुरुष प्रकृति की विविध परिणतियाँ स्वीकार करनी पड़ेंगी अर्थात् श्री नारायण और लक्ष्मी, शिव और पार्वती, श्री राम और सीता एवं श्रीकृष्ण और राधा इन सभी स्वरूपों को पुरुष और प्रकृति किंवा शक्तिमान और शक्ति मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। यही कारण है कि भगवान ब्रजेश तनय को आराध्य मानने वाले उपासकगण भी राधा को श्री कृष्ण की एक शक्ति विशेष—‘आल्हादिनी शक्ति’ मानते हैं।

श्री हिताचार्य का परमोपास्य तत्त्व वह ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ है जो कि भगवान और उनकी सम्पूर्ण भगवत्ता का मूल है। उद्भावक, प्रेरक, संचालक और नियामक है। वह एक ही साथ पूर्ण माधुर्य अधिष्ठान और पूर्ण ऐश्वर्यवान है। वह एक साथ ही अणोरणीयान् और महतोमहीयान् है। वह एक ही समय में दो भी है और अद्वय भी है। तथा निर्गुण और सगुण ब्रह्म से पृथक् है। भगवान और उनकी सम्पूर्ण भगवत्ता भी जिसके आवरण रूप में नित्य प्रत्यक्ष रहती है<sup>१</sup>।

भगवत्ता के आवरण में प्रकाशित वह ‘प्रेम’ तत्त्व ही अद्वय युगल रूप से श्री वृन्दावन धाम में नित्य क्रीड़ा किया करता है। एक ही आत्मा की दो देह में शक्ति और शक्तिमान का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ तक शक्ति और शक्तिमान का भेद दिखाई देता है वहाँ तक एकात्म युगल रूप में नित्य अभिव्यक्त ‘प्रेम’ अथवा ‘रस’ की उपासना नहीं कही जा सकती। वह तो सर्वशक्तिमान् भगवान की ही उपासना है।

श्री राधा को स्वतन्त्र शक्ति मानने पर उनकी प्रेम स्वरूपता औपचारिक या कथन मात्र ही रह जाती है। क्योंकि स्वतन्त्र शक्ति में अनन्यता, तत्सुख सुखिता और प्रीति परवशता

१.[क] कोटि ब्रह्म ऐश्वर्यता वैभवता की वारि।....

— व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. १४४

[ख] ब्रह्म जोति कौ तेज जहँ जोगेश्वर धरँ ध्यान। ताही कौ आवरन तहँ नहिं पावै कोउ जान।।

— व्या. ली., नेह मंजरी लीला, हि. ध्रु. दा., छं. सं. १६८



‘प्रेम’ के इन प्राकृतिक धर्मों का अस्तित्व ही सर्वथा असम्भव है। “श्री हिताचार्य अपनी श्री राधा को पराशक्ति और स्वतन्त्र शक्ति नहीं मानते”—इसका सबसे बड़ा और अकाट्य प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि उन्होंने श्री राधा की अनेकानेक मधुरोज्ज्वल केलियों का वर्णन करते हुए उन्हें ‘प्रियतम-प्रेम-विवशा’ रूप में भी चित्रित किया है। सारांश यह कि “सदा मधुर वाक्पटुः” श्री हिताचार्य ने अपने स्वरूप और प्रकृति के अनुसार इस श्लोक में भी गोविन्द पट्टेश्वरी श्री राधा की महामधुर मूर्ति नित्य नव दुलहिनी को ही सेव्या बतलाकर अपनी अनन्यता आलोकित की है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आलोच्य श्लोक के उपर्युक्त विवेचन से—रसोपासना में शक्तिवाद के दर्शकों की भ्रान्ति पूर्णतः दूर हो जायगी और यह निश्चय हो जायेगा कि श्री हिताचार्य ने आलोच्य श्लोक में केवल विविध पुराण वर्णित श्री राधा के विविध रूपों का परिगणन कराने के लिए ही श्री राधा को ‘स्वतन्त्रा’ और ‘पराशक्ति’ कहा है; अपना उपास्य स्वरूप बताने के लिए नहीं।

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना में शक्तिवाद की गुंजन इसलिए भी अमान्य सिद्ध है; क्योंकि जिस प्रकार शिव की उपासना करने वाले की ‘शैव’ संज्ञा होती है; शिव के प्रति उसकी भक्ति शिव भक्ति कहलाती है। भगवान विष्णु की उपासना करने वाले की ‘भक्त’ या ‘वैष्णव’ संज्ञा होती है और विष्णु के प्रति उसकी भक्ति भगवद् भक्ति या विष्णु भक्ति कहलाती है। इसी प्रकार ‘शक्ति’ की उपासना करने वाले की शाक्त संज्ञा होती है और शक्ति के प्रति उनकी भक्ति ‘शक्ति-भक्ति’ कहलाती है। किन्तु गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना के रसिकों द्वारा ‘शक्ति’ की उपासना करने की बात तो बहुत दूर रही; शक्तिवाद और शाक्तों की अत्यन्त कटु शब्दों में आलोचना की गई है। ये रसिकगण शाक्तों के प्रति अत्यधिक घृणा के भाव प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं। श्री हित चरणाश्रित हरिराम यास जी शाक्तों के प्रति घृणात्मक भाव प्रगट करते हुए लिखते हैं कि शाक्तों का दर्शन और स्पर्श तो मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक है—

साकत भैया शत्रु सम वेगहि तजिये व्यास।  
जो याकी संगति करै करिहै नरक निवास।।  
साकत स्त्री छाँड़िये वेश्या करिये नारि।  
हरिदासी जो है रहै कुलहि न आवै गारि।।  
साकत सगौ न भेंटिये इन्द्र-कुवेर समान।  
सुन्दर गनिका गुन भरी परसत तन की हानि।।  
साकत वामन जिन मिलौ वैष्णव मिलि चण्डाल।  
जाहि मिलैं सुख पाइये मनौ मिले गोपाल।।

साकत वामन मसकरा महा पतित जग माँझ।  
 पिता नपुंसक किन भयौ माता भई न बाँझ<sup>१</sup>॥  
 करि मन साकत कौ मुँह कारौ।  
 साकत मोहि न देख्यौ भावत कहा बूढ़ौ कहा वारौ॥  
 भक्त हेत मम प्रान हतत है नैकु न डरै मट्यारौ॥  
 आठैं-चौदह कूँडौ पूजै अभागे कौ ज्ञान अँध्यारौ॥  
 'व्यासदास' यह संगति तजिये भजिये श्याम सवारौ<sup>२</sup>॥

श्री सेवक जी ने भी शाक्तों के संग को अग्नि की लपट के समान त्याज्य कहा है—

शाकत संग अगिन्न लपट लपट जरत क्यों संगति कीजै।  
 साधु सुबुद्धि समान सु संतनि जानिकैं शीतल संगति कीजै॥  
 एक जु काचे प्रकृति विरुद्धी प्रकृति विरुद्ध करें तो कहा कीजै।  
 जे आग के दाझे गये भजि पानी में पानी में आग लगै तौ कहा कीजै<sup>३</sup>॥

#### ६.४. प्रेमोपासना और रहस्यवाद :

गो. हित हरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना जिस परम तत्व की उपासना है वह परम तत्व 'प्रेम' किंवा 'रस' स्वयं रहस्य ही नहीं प्रत्युत परम रहस्य है<sup>४</sup>। श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की वाणियों में वर्णित इस उपास्य तत्व के नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर, रस उपासना का उपासक और उपासना का प्रकार ये सभी रहस्यमय ही दिखाई देते हैं। 'रसोपासना' की इस स्वरूपभूत रहस्यमयिता के कारण सर्व साधारणजनों और भगवद् भक्तों तक को इस रसोपासना में कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों के रहस्यवाद तथा सूफियों के प्रेममार्ग की भ्रान्ति होना कोई असम्भव बात नहीं है। किन्तु वास्तविकता यह है कि न तो कबीर के रहस्यवाद में इस रसोपासना के परम रहस्य का आभास ही है और न इस रसोपासना में कबीर के रहस्यवाद का आभास ही।

विद्वानों के मतानुसार कबीर के रहस्यवाद की परिचयात्मक परिभाषायें निम्नांकित हैं—

१. व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. १३६ से १४० और पद सं. ६३

३. से. वा., से. जी, काचे धर्मी प्रकरण, छं. सं. १५

४. यन्नारदाजेश शुकरगम्यं वृन्दावने वंजुल मंजु कुञ्जे।

तकृष्णचेतो हरणैकविज्ञमत्रास्ति किंचित् परमं रहस्यं॥



ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं; भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है।

कबीर, रैदास, दादू, मलूकदास, पलटूदास आदि सन्तों का आराध्य तत्त्व निर्गुण निराकार राम है—दशरथ नन्दन राम नहीं। निराकार रामोपासक सन्तगण घट-घट वासी राम को अपना पति और स्वयं को उसकी परणीता पत्नी मानते हैं<sup>१</sup>। परमात्मा और आत्मा के मधुर सम्बन्धों की यह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही साहित्य में रहस्यवाद कहलाती है। दूसरे शब्दों में प्रेमाश्रयी अद्वैतानुभूति एवं प्रतीकाश्रयी सांकेतिक अभिव्यक्ति का नाम ही रहस्यवाद है।

एक ही अद्वैत तत्त्व की अनुभूति जब साधना का आश्रय लेकर अभिव्यक्त होती है तब वह साधनात्मक और जब प्रेमाश्रयी होती है तब वह भावात्मक रहस्यवाद का रूप धारण कर लेती है। भावात्मक रहस्यवाद प्रेममार्गी शाखा [सूफियों] में और साधनात्मक रहस्यवाद नाथ सम्प्रदाय में देखा जाता है। कबीर में इन दोनों का समन्वय दिखाई देता है।

इन विद्वानों के मतानुसार कबीर के रहस्यवाद का मूलाधार है—‘ब्रह्म की अनुभूति’। जीवात्मा उस अलौकिक शक्ति से सम्बन्ध जोड़ने के लिए लालायित रहती है। ‘पूर्णता’ पर पहुँच जाने पर यह सम्बन्ध उस मानसिक स्थिति को जन्म देता है जिसमें जीवात्मा अपने आपको अनन्त शक्ति तथा वैभव से युक्त पाती है। जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञाता तथा ज्ञेय; अन्त में एक हो जाते हैं; उसी प्रकार रहस्यवाद में साधक तथा साध्य एकाकार हो जाते हैं। रहस्यवादी साधक का अन्तिम लक्ष्य यही स्थिति होती है। साधक को इस लक्ष्य की पूर्ति में सबसे अधिक सहायता प्राप्त होती है—‘प्रेम-भाव से’।

कबीर के हृदय में आध्यात्मिक चिन्तन-धारा का उद्गम सगुण धारा की रामभक्ति शाखा के आचार्य श्री रामानन्द जी द्वारा बीजारोपण के साथ होता है; जो कि शांकर अद्वैत के सिद्धान्त-सलिल-सिंचन से पल्लवित-पुष्पित और फलित देखा जाता है। यही कारण है कि उनकी आत्मा राम की बहुरिया बनने [राम से मधुर सम्बन्ध जोड़ने] का लोभ सम्बरण नहीं कर सकी है। किन्तु यहाँ पर अविस्मरणीय है कि दशरथनन्दन राम की बहुरिया बनने का नहीं; प्रत्युत घट-घट वासी निर्गुण निराकार राम की दुलहिनी बनने का—

१. दुलहिनी गावहु मंगलचार। हम घर आये हो राजा राम भरतार।।  
रामदेव सँग भौवरि लैहौ धनि-धनि भाग हमार।.....  
सुर तेतीसूँ कौतिक आये मुनिवर सहस अठ्यासी।  
कहँ कबीर हम व्याह चले हैं पुरुष एक अविनाशी।

दशरथ सुत तिहुँ लोक वखाना। राम नाम का मरम है आना।।  
ना दशरथ घर औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा।।  
ना वो ग्वालन के सँग फिरिया। गोवर्धन लै ना कर धरिया।।

सारांशतः जीवात्मा का अद्वैत तत्त्व [परब्रह्म परमात्मा] के साथ भावात्मक सम्बन्ध ही कबीर के रहस्यवाद का उद्घाटन है।

निर्गुणी सन्तों की उपासना को रहस्यवाद कहने का एक आनुसंगिक कारण यह भी है कि ये सन्तगण अपने आराध्य तत्त्व से संबंधित जो कुछ भी कथन करते हैं वह सब सीधे-सीधे सुबोध शब्दों में न कहकर उलट बाँसियों में कहा करते हैं। यथा—

अग्नि जु लागी नीर में, कंदू जलिया झारि।  
उत्तर दक्षिण के पंडिता, रहे विचारि-विचारि।।  
दीपक पावक आंगिया, तेल भी आन्या संग।  
तीन्यू मिलकर जोइया, उड़ि-उड़ि परैं पतंग।।  
आंगणि बेल आकाश फल, अण व्यावर का दूध।  
ससा सिंह की धुनहड़ी, रमै बाँस का पूत<sup>१</sup>।।

श्री हिताचार्य की रसोपासना में जिस परम रहस्य का प्रत्यक्ष दर्शन होता है वह जीव और अद्वैत ब्रह्म के सम्बन्ध पर आधारित नहीं है। वह तो जीव और ब्रह्म के संबंध की कल्पना से सर्वथा असंपृक्त—अद्भुत प्रेम की अद्वय युगल मूर्तियों [एक प्राण की दो देह वाली अद्भुत प्रेम की अद्वय युगल मूर्तियों] के स्वरूप का रहस्य है। उनकी उपासना में जिस परम रहस्य के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं उसका स्वरूप परिचय शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता; फिर भी—‘तदपि कहे बिनु रहा न कोऊ’ महज्जनों के इस कथन का आधार पाकर उस परम रहस्य की चारु चन्द्रिका का स्पर्श करने की चेष्टा मात्र की जा रही है।

**उपास्य रूप की रहस्यता :**

श्री हिताचार्य ने अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने परमोपास्य के परम रहस्यमयी स्वरूप का परिचय देते हुए यह घोषणा की है कि मेरा परमोपास्य वह ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ है; जो कि केवल वृन्दावन में ही नयन गोचर है<sup>२</sup>। जो श्रुतियों, बुधजनों भक्तों

१. क. ग्र., क. दा., प. सं. २५

२. क. ग्र., क. दा., साखी

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६



और भगवान के लिए भी विमृग्य है; अगम्य है, और परम रहस्य है<sup>१</sup>। जो श्रुतियों के हृदय में तो है किन्तु उनसे ही अत्यन्त संगुप्त है<sup>२</sup>। जो कि प्रतिक्षण नवल रूप में प्रगट होता है<sup>३</sup>। जो न तो निर्गुण निराकार ही है और न सगुण साकार ही है<sup>४</sup>। रस शास्त्र निर्माताओं ने भी रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि वह न तो लौकिक [प्रत्यक्ष घटना पर आधारित] ही है और न अलौकिक [अप्रत्यक्ष घटना पर आधारित] ही है। सारांशतः अन्तराशय यह कि श्री हिताचार्य का उपास्य—‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ रहस्य ही नहीं प्रत्युत परम रहस्य है।

उपास्य—‘रस’ परम रहस्य है—श्री हिताचार्य का यह वाक्य<sup>५</sup> ही इस तथ्य का अभिव्यंजक है कि उनके उपास्य का नाम, रूप, लीला, धाम, परिकर ही नहीं उपासक और उपासना विधि भी परम रहस्य है।

सर्व साधारण तथा विद्वद् समाज ‘रहस्य’ शब्द का अर्थ प्रायः ‘गुप्त’ या ‘छिपा हुआ’ करते हैं। इस अर्थ को किसी तरह अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका एक विशिष्ट अर्थ और भी है जिसे इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—किसी पदार्थ की दो परिस्थितियाँ होती हैं—प्रगट और अप्रगट। जो हमारे नेत्रों के सामने होता है उसे हम प्रगट कहते हैं तथा जो नेत्रों के सामने नहीं होता उसे हम अप्रगट या गुप्त कहते हैं। किन्तु एक ऐसी स्थिति भी होती है जो प्रगट दिखाई देते हुए भी प्रगट का निषेध और किसी अप्रगट की अभिव्यंजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ‘रहस्य’ का अर्थ न तो प्रगट ही होता है और न अप्रगट ही। वह तो प्रगट और अप्रगट की सन्धि में अवर्ण्य व आश्चर्यमय होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जो प्रत्यक्ष होने पर भी अप्रत्यक्ष ही बना रहे। अर्थात् जो आकार, प्रकार और रूप-रंग आदि के आधार

१ से ४. रा. सु. नि., श्लो. सं. २६६, ४०, २०५, १२६, १४७, प्र. पृ. सं. १०६, १०७

५ [क] पूर्णानुराग रस मूर्ति तडिल्लतामां। ज्योतिः परं भगवतो रति मद रहस्यं।.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ४०

[ख] यन्नारदाजेश शुक्लैरगम्यं वृन्दावने वंजुल मंजु कुंजे।  
तत्कृष्ण चेतो हरणैक विज्ञमत्रास्ति किञ्चित्परम रहस्यं।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २३८

[ग] .....दास्यं दास्यति सर्व वेद सिरसां यत्तदरहस्यं परम्।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २०४

[घ] .....कैर्वाभाव रहस्य पारगमतिः श्री राधिका प्रेयसः।.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८२

[ङ] .....न सुहृदादिभिर्न द्वे राधा मधुपति रहस्यं सुविदितम्।.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १४८

से 'वही' सुनिश्चित होने पर भी 'वह' न हो—वही परम रहस्य है। उदाहरणतः—

यदि कोई व्यक्ति अपनी मुठ्ठी में कुछ छिपाये हुए यह कहता है कि बताओ ! मेरी मुठ्ठी में क्या है ? तब हम उससे कहते हैं कि आप वस्तु को गुप्त रखे हुए हैं; प्रगट दिखाइये तो हम बतायें कि आपके पास कौन सी वस्तु है। जब वह मुठ्ठी खोलकर उस वस्तु को प्रगट दिखाता है, तब हम उसे देखते ही कह देते हैं कि यह तो 'अमुक' वस्तु है। हमारे कथन को अस्वीकार न करते हुए वह पुनः कहता है कि इस वस्तु के रूप, रंग, आकार और प्रकार को देखकर वही वस्तु कही जा सकती है; जो तुमने कही है; किन्तु जो वस्तु मैं तुम्हें दिखा रहा हूँ वह 'वह' नहीं है; जो तुम बता रहे हो। तब हमारे मुख से सहसा यह वाक्य निकल ही जाता है कि तब तो इसमें कोई न कोई रहस्य है।

श्री हिताचार्य का परमोपास्य ऐसा ही परम रहस्य है। तात्पर्य यह कि उन्होंने अपने प्रेम धर्म के साथ उसके धर्मों—'प्रेमी और प्रेमपात्र' [ जिनमें प्रेम धर्म संपूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हुआ है; ऐसे नित्य नव दूलह श्यामसुन्दर तथा नित्य नव दुलहिनी श्री श्यामा ] अद्वय युगल श्री राधाबल्लभलाल को रहस्य में ही प्रगट किया है—

.....धर्म-धर्मी रहसि हू में दिये प्रगट दिखाइकैं' .....

'रहस्य' में ही प्रकट दिखा दिया—यह कहने का आशय यह है कि उसे इस प्रकार, इस भाषा में, इस शैली से प्रगट कर दिया कि उसकी रहस्यता भी ज्यों की त्यों बनी रही और उसे प्रगट भी कर दिया। प्रगट कर देने पर भी उसे सब नहीं प्रत्युत कोई विरला ही समझ सका<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य ने उस अद्भुत प्रेम मूर्ति द्वय का परिचय देते हुए कहा है कि वे राधामाधव नाम से आख्यात तो हैं<sup>२</sup> किन्तु सब भक्तों के कीर्तनीय, सब भक्तों के परमोपास्य तथा सब पुराणों में व्याख्यात राधामाधव से सर्वथा भिन्न हैं। नन्दनन्दन-वृषभान नन्दिनी नाम से नित्य स्मरणीय होने पर भी श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेममूर्ति राधामाधव; नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी से सर्वथा भिन्न हैं—यह एक परम रहस्य है। उनकी वाणियों में श्यामा-श्याम के प्रत्येक रूप चित्रण के साथ अनिवार्य रूप से बार-बार किसी परिचय विशेष का दिया जाना श्री हिताचार्य के इसी अन्तराशय की ओर इंगित करता है। यही एक विचित्रता है; परम रहस्य है। तभी तो उन्होंने अपने उपास्य युगल को नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी,

१. पदा., स. सु., हित जू की मंगल बघाई, प. सं. ३

२ [क] म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

[ख] ब्या. ली., हि. धु. दा., रहस्यलता लीला, छं. सं. १

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. १७३



गोकुल किशोर और पुरन्धीणां चूड़ाभरण-नवरत्न आदि नामों से स्मरण करते हुए भी उन नामों के साथ 'कापि', 'कश्चन' और 'किमपि' आदि शब्दों का भी उल्लेख कर दिया है। जैसे—

कस्यापि गोकुल किशोर निशाकरस्य<sup>१</sup>  
श्यामामणिर्जयति कापि निकुंज सीम्नि<sup>२</sup>।  
.....सञ्जीवनी जयति कापि निकुंज देवी<sup>३</sup>

इस अद्भुत रूप विधान के द्वारा श्री हिताचार्य ने उपासक जगत को यह बतलाने की कृपा की है कि प्रेम स्वरूप एकात्म युगल निर्गुण निराकार व सगुण साकार ब्रह्म से पृथक वृन्दावन बिहारी हैं। इस परम रहस्य का उद्घाटन करना ही तो उनके अवतार का एकमात्र उद्देश्य था। इस रहस्य को समझने के लिए दोनों स्वरूपों के पार्थक्यों को समझना नितान्त अनिवार्य है। वे पार्थक्य निम्नांकित हैं —

(१) पौराणिक नन्दनन्दन और वृषभान नन्दिनी द्वापरान्त में भाद्रमास की अष्टमी तिथि को शिशु रूप में प्रगट हुए थे। इससे पूर्व उन्हें किसी ने नहीं देखा था।

(२) ये युगल ब्रज दृष्टि के विविध विनोदों में सदा उत्फुल्ल वदन होते हैं। अर्थात् इन्हें नन्द-वृषभान, कीर्ति यशोदा, सखावर्ग तथा समस्त ब्रज गोपीगण अपने-अपने भाव से लाड़ लड़ाते हैं।

(३) ये युगल बाल, कौमार और पौगण्ड आयु के पश्चात् किशोर होते हैं। तथा पूतना वध, कंस वध, माखन चोरी, दानलीला तथा महारास इत्यादि सभी प्रकार की लीलायें करते हैं।

श्री हिताचार्य के नन्दनन्दन और वृषभान नन्दिनी अनादि काल से वृन्दावन में बिहार कर रहे हैं और सदा सनातन नित्य नव किशोर रूप में रसिकों के हृदय में प्रगट होते हैं। अर्थात् इनका नित्य प्रागट्य है।

ये अद्वय युगल ब्रह्मा, शिव, नारदादि समस्त भक्तों, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, देवताओं, देव स्त्रियों, नागलोक वासियों तथा ब्रजलीला परिकर से सर्वथा अलक्ष्य वृन्दावन में ही निवास करते हैं। ये केवल राधाकिंकरीगणों के ललित लाड़ों से ही सदा तुष्ट-पुष्ट होते हैं।

श्री हिताचार्य के युगल नित्य 'मुकुलित वय नव किशोर' ही बने रहते हैं। तथा रास और प्रेम विलास के अतिरिक्त अन्य कोई भी लीला नहीं करते।

(४) ये युगल किशोर वय प्राप्त होने पर ही एक दूसरे से मिलते हैं। तभी दोनों में प्रेम सम्बन्ध स्थापित होता है।

(५) इन नन्दनन्दन को वन में गाय चराना अनिवार्य है जहाँ श्री राधा साथ में नहीं जाती; साथ में होते हैं उनके सखागण।

इन युगल का प्रेम सम्बन्ध सहज है जो कि अनादिकाल से चला आ रहा है।

ये युगल अपनी दासियों के साथ नित्य ही प्रातः सन्ध्या समय वन बिहार करने जाते हैं; गाय चराने नहीं।

परम रहस्य की बात तो ये है कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य अद्वय होने पर भी युगल और युगल होने पर भी अद्वय हैं। “देखी सुनी कहूँ हम नार्ही। द्वै तन की एकै परछाँही” की भाँति एक ‘प्रेम’ प्राण की दो मूर्ति हैं। नन्दनन्दन-वृषभानुजा नाम से प्रकीर्तित किये जाने पर भी वे नन्दनन्दन और वृषभान-गोप की बेटा नहीं हैं। वह ऐसी वृषभानुजाया हैं जो कि शिव, नारद और ब्रह्मादिकों के लिए भी सर्वथा अचिन्त्य दुर्गमगति हैं<sup>१</sup>। उन्हें नन्द-यशोदा, वृषभान-कीर्ति, अन्य ब्रज गोपियाँ तथा ब्रजवासीगण भी नहीं देख पाते<sup>२</sup>। खोर खिरक गिरि गहवर जिनकी केलि है; किन्तु ब्रजवासियों के लिए परम अगोचर है<sup>३</sup>।

एक परम रहस्य यह भी है कि पूर्ण ईश्वर [सकल लोक चूड़ामणि] होने पर भी उनमें ईश्वरता का किंचिदाभास तक नहीं दिखाई देता<sup>४</sup>। साक्षात् मनमथ मनमथ होने पर भी वे मदनपीड़ा से पीड़ित दिखाई देते हैं<sup>५</sup>। इनका प्रागद्वय नित्य ही होता है; किन्तु सदैव किशोर रूप में ही देखे जाते हैं<sup>६</sup>। श्री हिताचार्य के परमोपास्य का नित्य नव विवाहोत्सव ही यह सिद्ध कर देता है कि उनके परमोपास्य न तो लौकिक ही हैं और न अलौकिक। काल से परे होने पर भी इनकी अष्टयामी लीला निरन्तर चलती रहती है।

अवतार कालीन ब्रजलीला में प्रत्यक्ष श्री नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी रूप तथा नित्य वृन्दावन की नित्य लीला [नित्य बिहार] में प्रत्यक्ष श्री नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी रूप इन

१. ....ब्रह्मादि दुर्गम गते वृषभानुजाया: .....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ३६

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. १२८, २३८, २३५

३. ह. म., प्रा. ना., पृ. सं. २०

४[क] हि. चौ., प. सं. ४१

[ख] वृ. म., प्र. स. षष्ठम शतक, श्लो. सं. ६

५. हि. चौ., प. सं. २४

६. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६, १२६, १४४



दोनों के नाम-रूप-लीला की समानता व असमानता भली प्रकार से सुस्पष्ट हो जाने पर भी हित रसिकों का परमोपास्य—‘रस’ किंवा ‘प्रेम’—रूप कौन सा है ? यह जानना अत्यन्त कठिन था; अतः श्री हिताचार्य ने धर्म-धर्मी के रहस्य में इसे भी स्पष्ट कर दिया।

श्री हिताचार्य ने रहस्य की शैली से इंगित कर दिया कि हमारा परमोपास्य ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ है। धर्म से धर्मी की पहिचान होती है। जिस स्वरूप में प्रेम के तत्सुखसुखिता, तदाधीनता व अनन्यता ये धर्म पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हों वही हमारा परमोपास्य है। यहाँ पर ‘धर्म’ का अर्थ—मत, पन्थ, मार्ग या उपासना नहीं है और न धर्मी का अर्थ उस धर्म को धारण करने का वाला मतानुयायी ही है; जैसा कि जैन धर्म को धारण करने वाला ‘जैनी’ और वैष्णव धर्म को धारण करने वाला ‘वैष्णव’ कहलाता है। प्रत्युत यहाँ पर ‘धर्म’ का अर्थ वस्तु का स्वरूपभूत गुण किंवा लक्षण है। ऐसा धर्म, ऐसा लक्षण और ऐसा गुण जो कि उस वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता। वह धर्म, वह गुण और वह लक्षण ही उस वस्तु का एकान्त स्वरूप परिचायक है; जैसे अग्नि का दाहकत्व और ऊष्मा ये धर्म, अग्नि के ऐसे स्व धर्म [ स्व स्वरूप धर्म ] हैं जो कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अवस्था में भी यह बता देते हैं कि यह अग्नि है। इसी प्रकार तत्सुखसुखिता, तदाधीनता और अनन्यता प्रेम के ये तीनों धर्म भी श्री हित दम्पति की प्रेम स्वरूपता के परिचायक धर्म हैं।

प्रेम के ये तीनों धर्म अवतार कालीन [पौराणिक] नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी रूप में नहीं देखे जाते। भागवत के श्रीकृष्ण परम स्वतन्त्र स्वाधीन ईश्वर हैं। वे ऐसे मधुकर हैं जो अनेक गोपियों के मकरन्द-पान करते हैं; वे अनन्य मधुकर किंवा श्री राधा के निज विटेन्द्र नहीं। वे दूसरे के सुख में सुखी होने वाले स्वभाव के भी नहीं हैं। यही कारण है कि वे नन्द-यशोदा सखागण तथा गोपियों को रोती विलखती छोड़कर मथुरा चले जाते हैं।

‘प्रेम’ के ये तीनों धर्म वृन्दावन बिहारी अद्वय युगल में ही दिखाई देते हैं। इसीलिए तो श्री हिताचार्य ने उच्च स्वर से यह उद्घोष किया है कि—

प्रीति की रीति रँगिलौई जानै।

यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै॥

जमुना पुलिन निकुंज भवन में मान मानिनी ठानै।

निकट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहिं न आनै॥

नश्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन आन सों बानै।

जै श्री हित हरिवंश चतुर सोई लालहि छाँड़ि मेड़ पहिचानै॥

एवमपि—

कहा कहों इन नैनन की बात। ये अलि प्रिया वदन-अम्बुज रस अटके अनत न जात<sup>१</sup>।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य स्वरूप में प्रगट स्वरूप [अवतार कालीन नन्दनन्दन-वृषभाननन्दिनी] का ही वर्ण-वेष और नाम दिखाई देता है किन्तु वे उनसे सर्वथा पृथक् हैं; यही है उनके परमोपास्य का परम रहस्यमय स्वरूप। यही कारण है कि उनके उपास्य का स्वरूप रहस्य तत्व के विज्ञाता कहे जाने वालों के लिए, श्रुतियों और भगवान के लिए भी परम रहस्य बना हुआ है।

श्री हिताचार्य के परमोपास्य प्रेम मूर्ति अद्वय युगल की भाँति उनका लीला धाम वृन्दावन भी एक परम रहस्य ही है। क्योंकि घरातलस्थ होने पर भी वह सबसे ऊँचा है और भूतलस्थ होते हुए भी सबके लिए अदृश्य है। केवल राधाकिंकरीभावानुभावित हृदया वालों को ही सम्यक् प्रकार से गोचर है। प्रेम धाम वृन्दावन जड़ दिखाई देने पर भी परम चेतन है—लीला सहायक और लीला दृष्टा है। सबको दिखाई देने वाले वृन्दावन से पृथक् वह कोई दूसरा वृन्दावन तो नहीं है किन्तु यह प्रगट वृन्दावन ही वह वृन्दावन नहीं है। वह ब्रह्मा की सृष्टि से परे है। सूर्य के नीचे व शेषनाग के फणों पर स्थित नहीं है। उस वृन्दावन में इस सूर्य-चन्द्र का प्रकाश नहीं पहुँचता। दिन और रात नहीं होते किन्तु फिर भी उस वृन्दावन के निकट दृष्टा रसिकजनों को श्यामा-श्याम की प्रत्येक ऋतुओं की तथा प्रभात-सन्ध्या की क्रीड़ायें पृथक्-पृथक् दिखाई देती हैं।

इसी प्रकार ललिता-बिशाखादि परिकर भी नारी आकृत दिखाई देते हुए भी नारी नहीं हैं। पुंस-नपुंस और नारी इन शारीरिक परिधियों से सर्वथा पृथक् ये 'प्रीति' की ही साकार मूर्ति हैं। जोकि बिना प्राण वाली हैं<sup>२</sup> और परमेष्ठ युगल की तृष्टि-पुष्टि से ही तुष्ट-पुष्ट होने वाली हैं। प्रबंध के पंचम अध्याय में इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

गो. हित हरिवंशोदित प्रेमोपासना का परमोपास्य तत्व निर्गुण-सगुण ब्रह्म से पृथक् वह विग्रहवान 'प्रेम' है जो नित्य नव किशोराकृत दम्पति रूप से केवल वृन्दारण्य की सीमा में ही नित्य बिहार परायण बना रहता है। प्रेमोपासना के उपासक का इस रूप से पति-पत्नी सम्बन्ध नहीं रहता। पति सम्बन्ध तो किसी नारी का किसी पुरुष से ही होता है—दम्पति से नहीं। प्रेमोपासना का उपासक राधाकिंकरीगणों की भाँति ही न तो नारी ही होता है,

१. हि. चौ., प. सं. ६०

२. तैसीय संग सहचरी भोरी। बँधी बंक चितवनि की डोरी।।

बिनु प्राननि डोलत सँग लागी। प्रेम रूप के रँग अनुरागी।।

— ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., नेह मंजरी लीला, छं. सं. १५, १६



न पुरुष और न नपुंसक ही। वह तो प्रेम स्वरूप ही होता है। इसीलिए वह प्रिया-प्रीतम अद्वय युगल रूप में प्रत्यक्ष 'प्रेम' को ही प्रियतम मानता है और प्रीति मूर्ति राधाकिंकरीगणों का भाव तादात्म्य करके दम्पति रूप में नित्य प्रगट रहने वाले 'प्रेम' से ही प्रेम करता है<sup>१</sup>।

इस 'रस' की उपासना रस स्वरूप होकर ही की जाती है; किन्तु रस स्वरूप होते हुए भी राधाकिंकरी भावानुभावित वह रसोपासक राधाकिंकरीयों की भाँति ही लीला रस का पान किया करता है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह शिवोहं-ब्रह्मास्मि और दासोऽहं को भी पीछे छोड़कर जाने वाला तदभिन्न रहकर भी तटस्थ भोक्ता और भोक्ता होकर भी तदभिन्न 'रस' ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना सुनिश्चित रूप से परम रहस्यमयी होते हुए भी कबीर आदि निर्गुणी सन्तों के रहस्यवाद से सर्वथा पृथक है।

### ६.५. प्रेमोपासना और सूफियों का प्रेम मार्ग :

ऐसा ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत प्रेमोपासना की पद्धति और सूफी सन्तों के प्रेम मार्ग के नाम साम्य के आधार पर कतिपय भोले भावुकों को यह भ्रान्ति हो चली थी कि प्रेमोपासना और सूफी सन्तों का प्रेम मार्ग एक ही है। जबकि वास्तविकता यह है कि ये दोनों तीन और छः की भाँति भिन्न-भिन्न हैं। परस्पर विरोधी हैं। आगे के पृष्ठों में इन दोनों की भिन्नता पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार "निर्गुण धारा दो शाखाओं में विभक्त हुई। एक ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी प्रेम मार्गी शाखा [सूफियों की].....दूसरी शाखा शुद्ध प्रेम मार्गी सूफी कवियों की है। जिनकी प्रेम गाथायें प्रेम की प्रदर्शिका हैं। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस प्रेम तत्त्व का आभास दिया है जो कि प्रियतम ईश्वर से मिलाने वाला है<sup>२</sup>। प्रेम की पीर ऐसी विश्व व्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है<sup>३</sup>।"

१. [क] .....ताते इनके रस बिहार में दोइ रस नाहीं; एक प्रेम सौं आशक्त हैं।

— ब्या. ली., हि. घु. दा., सिद्धान्त विचार

[ख] ब्या. ली., हि. घु. दा., प्रेमावली, छं. सं. ६७

२. मानुष प्रेम भयेउ वैकुण्ठी। नहिं त काह छार भर मूठी ॥

३. हि. सा. का इ., आ. रा. च. शु., पृ. सं. ७३

आचार्य शुक्ल जी ने एक अन्य स्थल पर यह भी लिखा है कि— “सूफियों से जो प्रेम तत्व उन्होंने [निर्गुण पंथानुयायी सन्तों ने] लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे काम वासना ग्रस्त रहा हो पर निर्गुण पंथ में अविकृत रहा—यह निस्संदेह प्रशंसा की बात है<sup>१</sup>।”

“सूफी सन्त प्रकृति को परमात्मा का प्रतिविम्ब मानते हैं इसीलिए वे प्रकृति प्रेम को परमात्मा तक पहुँचने का साधन मानते हैं। सूफियों के अनुसार सारा जगत एक ऐसे रहस्यमय प्रेम सूत्र में बँधा है जिसका अवलम्बन करके जीव प्रेम मूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपों में उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते हैं। जैसा कि मझझन कहते हैं कि—

देखत ही पहिचानेउ तोही। एक रूप जेहि छँदरखौ मोही॥

एही रूप वुत अहै छपाना। एही रूप सब दृष्टि समाना॥

एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥

एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक-नरेशा॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान सम्पत्ति है। जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता। किसी की आँखें नहीं खुल सकती—

विरह अवधि अवगाह अपारा। कोटि माँहिँ एक करै न पारा॥

विरह कि जगत अविरथा जाही। विरह रूप यह सृष्टि सवाही॥

नैन विरह-अंजन जिन सारा। विरह रूप दरसन संसारा॥

कोटि माहि विरला जग कोई। जाहि शरीर विरह दुख होई॥

रतन कि सागर सागरहि गज मोती गज कोइ।

चंदन कि वन वन ऊपजै विरह कि तन-तन होइ॥

जिनके हृदय में यह विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्शन हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रगट कर रहे हैं। ये भाव प्रेम मार्गी सूफी सम्प्रदाय के सन्त कवियों में पाये जाते हैं<sup>२</sup>।”

हम देखते हैं कि कबीर के सन्त मत में तो पंचमौलिक को और सम्पूर्ण पार्थिव जगत को नश्वर माना गया है। इसीलिए वे कहते हैं कि—



घास फूस ज्यों तन जरै हाड़ जरैं जैसैं लकरी।  
साखि भरनि कौं राख बची सोऊ भई चकमक री॥

किन्तु सूफी सन्तगण प्रेम की आराधना के लिए इस नश्वर शरीर को ही माध्यम मानते हैं। वे मानव जगत के ही किसी प्रेमी-प्रेमपात्र की प्रेम-गाथा को अपनी आराधना का आधार बनाते हैं। यही कारण है कि जायसी जैसे लब्ध प्रतिष्ठ सूफी सन्त ने अपने 'पद्मावत जायसी' ग्रन्थ में राजकुमारी पद्मावती के पांचभौतिक शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन करके सूफी आराधना को सफल बनाया है।

अन्त में यह कहना कोई अनुचित न होगा कि इन सन्तों ने अद्वैत ब्रह्म को भावात्मक दृष्टि से अपनी वाणी का विषय अवश्य बनाया है किन्तु उनकी आराधना का यह 'प्रकार' उन्हें लौकिक प्रेम से आगे नहीं ले जा सका है।

प्रेमोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य ने अपना परमोपास्य 'प्रेम' किंवा 'रस' को घोषित किया है; और उसका निकटतम साक्षात्कार करने के लिए यह भी बताया है कि वह 'प्रेम' युगल रूप [प्रेमी-प्रेमपात्र रूप] से सदा प्रेम केलि परायण बना रहता है। राधाकिंकरीगण स्वयं भी प्रीति की ही साकार मूर्ति हैं। इनका प्रेम 'प्रेम' से ही होता है<sup>१</sup>। इसीलिए ये सब प्रकार से निष्काम होकर प्रेम की दोनों मूर्तियों को मिलाकर—उन्हें क्रीड़ा परायण बनाकर—उनकी प्रेम केलि देखकर प्रेमानन्द से अपना हृदय शीतल किया करती हैं। श्री हरिवंशोदित रसोपासना किंवा प्रेमोपासना के उपासक को इस 'रस' रूप का साक्षात्कार [नित्य निकटता की प्राप्ति] इन्हीं प्रीति स्वरूपा राधाकिंकरीगणों के भाव को आत्मसात् कर लेने पर ही होता है।

श्री हरिवंशोदित रसोपासना के रसिकगण स्वेष्ट—'प्रेम' की प्राप्ति के लिए लौकिक प्रेम को माध्यम नहीं बनाते<sup>२</sup>। इन रसिकों की प्रेम साधना का लक्ष्य ब्रह्म भी नहीं होता<sup>३</sup>। इनकी दृष्टि में तो ब्रह्म [श्रुति वर्णित निर्गुण निराकार और सगुण साकार ब्रह्म] की चर्चा भी वृथा है<sup>४</sup>।

सारांश यह कि सूफी सन्तों में इश्क मजाजी [लौकिक प्रेम] को इश्क हकीकी

१. सहज प्रेम की सींव दोउ नव किशोर वर जोर। प्रेम कौ प्रेम सखीन के तिहि सुख कौ नहिं ओर।।

— ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., प्रेमावली लीला, छं. सं. ६७

२. रा. सु. नि., श्लो. ८३, १४७

३. कोटि ब्रह्म ऐश्वर्यता वैभवता की वारि।.....

— व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. १४४

४. वृथा श्रुति कथा श्रमोवत् विभेमि कैवल्यतः .....

— रा. सु. नि., श्लो. ८३

[अलौकिक प्रेम] का सोपान माना गया है। सम्भवतः इसीलिए वे इस नश्वर जगत के प्रेमी-प्रेमपात्र की प्रेम गाथा को आराधना का माध्यम बनाकर उस प्रेम गाथा का निरन्तर चिन्तन-मनन और गान करके लौकिकी प्रेम-मदिरा से उन्मत्त बने रहते हैं। किन्तु श्रीहरिवंशोदित प्रेमोपासना लौकिक और अलौकिक प्रेम [भगवत्प्रेम] से भी परे, लोक मानस से सर्वथा अचिन्त्य, मुक्त और भक्तजनों की भक्ति भावना से असम्पृक्त उस 'प्रेम' तत्व की उपासना है; जिसकी नित्य निरन्तर प्रेम क्रीड़ा अबाध रूप से चलती रहती है और उपासक प्रीति मूर्ति राधाकिंकरीगणों का भाव तादात्म्य करके उस रूप का निकट से दर्शन किया करता है। इस प्रकार से यह प्रेमोपासना सूफीमत से सर्वथा पृथक है। न तो हित रसिकों की प्रेम साधना में सूफियों की प्रेम साधना का ही कोई आभास है और न सूफियों की प्रेम साधना में हित रसिकों की प्रेम साधना का ही कोई आभास है। इसीलिए तो गो. दामोदरवर जी ने हित रसिकों को सचेत करते हुए यह उपदेश दिया है कि—

सोफी-शेखनि की संगति मन में न चलावै<sup>१</sup>

## ६.६. प्रेमोपासना और रीतिकालीन शृंगारी काव्य :

साधारणतः शृंगार रस का वर्णन नायक-नायिका की शृंगारी केलि [काम केलि] पर ही आधारित होता है। रसशास्त्रकारों के शब्दों में शृंगार रस के आलंबन नायक-नायिका ही होते हैं। शृंगार रस के मूर्त स्वरूप के उदाहरण बहुल से संस्कृत और ब्रजभाषा का शृंगारी काव्य भरा पड़ा है। विषय वस्तु की दृष्टि से देखने वालों को रसिक वाणियों में रस केलि कर्ता रस मूर्ति श्यामा-श्याम भी साधारण नायक-नायिका के रूप में ही परिलक्षित होते हैं और प्रेमोपासना के रसिकों द्वारा रस वाणी में वर्णित 'उनकी रस-केलि वर्णना भी शृंगारी काव्य है'—ऐसी भ्रान्ति होती है। किन्तु यह निर्भ्रान्त सत्य है कि प्रेमोपासना के वाणीकारों द्वारा वर्णित रस मूर्ति श्यामा-श्याम की रस केलि वर्णना शृंगारी काव्य से सर्वथा पृथक है। इस स्वरूप पार्थक्य के अनेक आधारभूत कारण हैं। कतिपय निम्नांकित हैं—

किसी शृंगारी कवि का ही कथन है कि—

रीझेंगे रसिक तौ कहेंगे कविताई भल नहीं तौ राधा-कृष्ण गुन गान कौ बहानौ है<sup>२</sup>।।

उपर्युक्त छन्द-पंक्ति से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि रीति कालीन समस्त शृंगारी काव्य निरापद रूप से मात्र शृंगारी काव्य ही है; जो कि काव्य रस रसिकों [चाहे वह कवि हों,

१. प्र., प्रा. ना. छं. सं. २०७

२. री. का. क. सं., ह. लि. प्र., पृ० २१५



काव्यरस—रसिक हों या काम विलासी व्यक्ति हों ] के मनोविनोदार्थ कवियों द्वारा ही विनिर्मित किया गया है। वह काव्य उन कवियों द्वारा रचा गया है जो सुनिश्चित रूप से लक्ष्मीपति भगवान के भक्त नहीं अपितु लक्ष्मी के दास विलासी व्यक्तियों के भक्त थे। उन कवियों के लिए राधा-कृष्ण का नाम तो एक बहाना मात्र था। उनकी दृष्टि में जो शकुन्तला वही राधा और जो दुष्यन्त वही कृष्ण थे। इन रचनाओं की निर्मिति का उद्देश्य किसी प्रकार की रसानुभूति या भगवदानन्द की प्राप्ति करना नहीं था; केवल यश किंवा धनोपलब्धि मात्र था। उदाहरणतः कवि भूषण की रचना का उद्देश्य वीर रस की अनुभूति करना नहीं था प्रत्युत छत्रपति शिवाजी, महाराजा छत्रसाल और साहू आदि को प्रसन्न करके धन प्राप्त करना था और वे इस कार्य में सफल भी हुए; जिसका उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि—

नाती कौं हाथी दियौ तापर रुरकत ढाल। साहू तेरे दान पर धुज बाँधी छत्रसाल<sup>१</sup>॥

इसी प्रकार कविवर बिहारी की रचनाओं का उद्देश्य भी स्वयं शृंगार रस की अनुभूति करना नहीं था अपितु महाराज जयसिंह को प्रसन्न कर स्वरचित एक दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा प्राप्त करना था। 'बिहारी सतसई' का निर्माण जयसिंह की आज्ञा से ही हुआ—

हुकुम पाय जयसिंह कौ, हरि-राधिका प्रसाद।

करी 'बिहारी' सतसई, भरी अनेक सवाद<sup>२</sup>॥

शृंगारी काव्य के पठन-श्रवण से वक्ता-श्रोता के हृदय में भगवान राम-कृष्ण की भक्ति का उदय नहीं होता प्रत्युत काम-वासना ही उदीप्त होती है। यह भी असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि रीति कालीन शृंगारी कवियों को रसानुभूति हुई थी या नहीं।

रीति कालीन शृंगारी काव्य कवियों के वाक् विलास का प्रतिफल भी है। ये कवि जानबूझकर अपनी कविता में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे; जिनका अर्थ सर्वसाधारण गम्य न हो। महाकवि केशव की रचना के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि—

दैवौ न चाहै विदाई नरेश तौ पूछै केशव की कविताई।

प्रेमोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों द्वारा रसमूर्ति श्यामा-श्याम की रस केलि वर्णना कवि प्रतिभाजन्य काव्य नहीं है<sup>३</sup>। श्यामा-श्याम की रस केलि दर्शन

१. री. का. क. सं., ह. लि. प्र., पृ० १२२

२. वि. स., वि. क. अन्तिम दोहे

३. चित दै समुझौ वस्तु कौ कविता लखौ न कोइ।

से प्राप्त 'रसानन्द का उदगलन है'। इसीलिए इसके मूल में काव्य के कोई भी उद्देश्य अनुसन्धेय ही नहीं हैं। इसके कथन-श्रवण से उसी रस की अनुभूति होती है; जिस रस की अनुभूति राधाकिंकरी भावानुभावित वाणीकार रसिकजनों को हुई थी। इसके पठन-श्रवण और गायन से काम वासना का उद्दीपन नहीं प्रत्युत उन्मूलन होता है<sup>२</sup>। वाणी के इस प्रकृत प्रभाव को व्यक्त जैसा करते हुए श्री हिताचार्य ने वाणी में वर्णित श्यामा-श्याम की केलि को 'जगत पावनी' कहकर प्रकीर्तित किया है<sup>३</sup>। यही कारण है कि इसे पढ़कर-सुनकर कितने ही जीव वृन्दावन रस-रसिक हो गये हैं। रस भक्ति धारा का बृहद इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि इन रसिकों के जीवन के मोड़ का कारण श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों द्वारा विरचित 'पद' मात्र ही थे<sup>४</sup>।

१. उगलि गिरा उर भाय परम कहनी कही। दिव्य प्रीति हित रीति धर्म पूर्यौ मही॥

— से. च., प्रि. दा., सेवक जी कौ मंगल

२. भव-जल-निधि कौं नाव काम-पावक कौं पानी। प्रेम-भक्ति कौं मूल मोद मंगल सुखदानी॥

निगम सार सिद्धान्त सन्त विश्राम मधुर वर। रसिकन कौं रस सार सकल अक्षर रस कौं घर॥

चौरासी श्री हित हरिवंश कृत पढ़ै-सुनै निशि-भोर। छुटै चौरासी भ्रमनि ते निरखै जुगल किशोर॥

— गो. व. च. की वा., हित चौरासी की फलस्तुति, गो. व. च.

३. ....नरवाहन प्रभु सु केलि बहु विधि भर भरत झेलि, सौरत रस रूप नदी जगत पावनी॥

— हि. चौ., प. सं. ११

\* ४ [क] सहज नवल ने यह पद गायौ। सुनत व्यास कौ मन हुलसायौ॥

पद-आजु अति राजत दंपति भोर [हि. चौ., प. सं. ३१]॥

यह पद व्यास विचारत भये। रोम-रोम तनमय है गये॥

जिनकौ हियौ सिरावत जोरी। विधि निषेध शृंखल दृढ़ तोरी॥.....

ऐसी सुनी नवल मुख रीति। व्यास करी हित गुरु सौं प्रीति॥

— र. अ. मा., भ. मु., व्यास जी की परचई

[ख] पूरनदास विरक्त अनन्य। श्री हरिवंश धर्म सम्पन्य॥

'यह जु एक मन' कौ पद गायौ। व्यासहिं कह्यौ सु अर्थ बतायौ॥

राजा के मन निश्चै आई। गुरु हरिवंश करौं सुखदाई॥

— र. अ. मा., भ. मु., परमानन्ददास जी की परचई

[ग] परमानंद रसिक कहूँ मिले। चरचा करत दुहुँनि मन खिले॥

नित विहार की चरचा ठानी। सो प्रबोध ने मनहिं न आनी॥

सुनि प्रबोध वृन्दावन आये। दरसन किये परम सुख पाये॥

— र. अ. मा., भ. मु., प्रबोधानंद जी की परचई

[घ] दिशि-दिशि घर-घर प्रगटी वानी। रसिकनि अपनी निधि करि जानी॥

चारि दिशानि समुद्र प्रयंत। वानी पढ़ै सुनै सब सन्त॥

वानी सुनि-सुनि भये उपासक। कर्म-ज्ञान तजि भये वन वासिक॥

— र. अ. मा., भ. मु., ध्रुवदास जी की परचई



ऐसा कहा जा सकता है कि श्रीमद्भागवत वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण की रास क्रीड़ा काम केलि ही है। किन्तु भक्त की भक्ति भावना के कारण ही पाठक-श्रोता और वक्ता के मन में कामोद्दीपन नहीं हो पाता प्रत्युत शमन हो जाता है। यदि ऐसा ही है तो बिहारी, देव, बोधा, मतिराम, आलम, सेनापति और दूलह आदि कवियों द्वारा विरचित शृंगारी काव्य में भी तो राधा-कृष्ण ही तो नायक-नायिका के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं; फिर इन शृंगारी कवियों की रचनाओं को पढ़कर कामभाव शमन क्यों नहीं होता; भक्ति भाव जागृत क्यों नहीं होता? क्योंकि शृंगारी कवियों की भावना राधा-कृष्ण के प्रति शुद्ध नायक-नायिका रूप तक ही सीमित थी। उनकी राधा-कृष्ण के प्रति भगवद् भावना नहीं थी। यही कारण है कि राधा-कृष्ण केलि वर्णनात्मक होने पर भी 'शृंगारी काव्य' श्रीकृष्ण-भक्ति भाव उदय करने में सक्षम नहीं है।

श्रीमद्भागवत वर्णित 'रास पंचाध्याई' के रचयिता तथा व्याख्याता वेदव्यास व शुकदेव जी का राधाकृष्ण के प्रति लौकिक नायक-नायिका भाव नहीं था प्रत्युत पूर्ण भगवद् भाव था। 'रास पंचाध्याई' का प्रत्येक छन्द ही नहीं वरन् वर्ण-वर्ण उनकी परम पूत भक्तिभावना से अभिमंत्रित था। इसीलिए आज तक 'रास पंचाध्याई' का प्रत्येक अक्षर मन्त्रवत् प्रभावशाली बना हुआ है। जिन्हें सुनकर श्रोता-पाठक के हृदय का हृद रोग शमन हो जाता है<sup>१</sup>।

इसी प्रकार रसिकों की वाणी के प्रत्येक अक्षर उनकी रसमयी भावना से अभिमंत्रित होते हैं और वे वाणी पाठकों तथा श्रोताओं के हृदय में मन्त्रवत् प्रभाव डालते हैं। उस अमोघ मन्त्र का प्रभाव यह होता है कि उसका हृदयस्थ काम रोग शनैः - शनैः निरस्त हो जाता है। विषयी जीव भी अनन्य प्रेमोपासक बन जाता है। तभी तो श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में वर्णित श्यामा-श्याम की नव निकुंज केलि को 'जगत-वन्दनी' और उनकी सौरत रस, रूप नदी को 'जगत पावनी' कहकर प्रकीर्तित किया है। आचार्य चरण ने अपनी वाणी में वर्णित रस केलि गान को उस कृष्ण रसामृत [श्रीमद्भागवती कथा] का भी सार बतलाया है<sup>२</sup> जिसके कथन-श्रवण से हृद रोग का शमन हो जाता है।

१ विक्रीडित ब्रज वधूमिरिदञ्च विष्णोः, श्रद्धान्वितोऽनु शृणुतादथ वर्णयेद्य।  
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृदोगमाश्व पहिनोत्यचिरं धीरः॥

— श्री म. भा., द. स्क., रास पंचाध्याई, श्लो. सं. ४०

२ जे श्री हित हरिवंश यथामति वरनत कृष्ण रसामृत सार।  
श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद-अम्बुज सुकुमार॥

रीति कालीन शृंगारी कविगण राधा और कृष्ण को केवल रस का आलंबन ही मानते हैं, रस स्वरूप नहीं। उनका काव्य सामाजिक निष्ठ होता है। सामाजिक का रस के आलम्बनों से कोई भक्ति भाव संबंध नहीं होता। अतः उन्हें रसानुभूति नहीं होती।

रसिक वाणियों के वर्ण्य विषय श्यामा-श्याम सर्व साधारण की दृष्टि में रस के आलंबन दिखाई देते हुए भी रसालंबन न होकर रस मूर्ति ही हैं<sup>१</sup>। इसीलिए तो रसिक वाणीकार का इनसे निकट का भाव संबंध बना रहता है और यही कारण है कि प्रीतिमूर्ति राधाकिंकरीगणों की भाँति रसिकजनों को भी रसानुभूति होती रहती है।

रीति कालीन शृंगारी काव्य और रसिक वाणियों में सबसे महान पार्थक्य यह है कि रसिक वाणियों में वर्णित रस केलि में वाणीकाररसिक; लीला स्रष्टा, लीला दृष्टा और लीला सहायिका के रूप में उस लीला का अभिन्न अंग ही बना हुआ दिखाई देता है<sup>२</sup>। तथा प्रगट में वृन्दावन रसोपासना में दीक्षित तो होता ही है।

शृंगारी काव्य का प्रणेता केवल-काव्य-प्रणेता मात्र ही होता है। उस वर्णित घटना का कोई अंग नहीं। उस विषय वस्तु या उसके पात्रों से उसका कोई संबंध भी नहीं होता। उदाहरणतः कवि भूषण युद्ध का वर्णन तो करता है किन्तु वह वर्णित घटना में सैनिक, राजा, मंत्री आदि नहीं बन जाता और न वह उस वर्ण्य विषय का स्रष्टा, दृष्टा, संचालक या सहायक ही होता है। शृंगारी काव्य प्रणेता कवि भगवद्धर्म में आस्थावान और अनास्थावान भी हो सकता है। उदाहरणतः आलम और रसलीन आदि मुसलमान कवि भगवद् धर्म के प्रति आस्थावान थे; ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

“शृंगारी काव्य और रसिक वाणी में वर्णित रस केलि वर्णना के पार्थक्य” सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह कि—

१ [क] रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६

[ख] नायक तहाँ न नायिका रस करवावत केलि।

— ब्या. ली., रति मंजरी ली., हि. ध्रु. दा., छं. सं. ४५

[ग] रस ही कह्यौ उपास्य निजु रस वपु श्री हरिवंश। याते रस आन्हिक कह्यौ लै हित वाणी अंश॥  
रस मूरति श्री राधिका रस मूरति श्री श्याम। रस मूरति हित सहचरी सेवत आठौ जाम॥

— र. आ. स., ब्र. जी. दा., छं. सं. ११०, १११

२. अपनी बात मोसौं कहि री भामिनी, आँगी मौँगी रहति गरव की माती।

हौं तोसौं कहति हारी सुनि री राधिका प्यारी, निशि कौ रंग क्यों न कहति लजाती॥

— हि. चौ., प. सं. १४

एवमपि— रा. सु. नि., श्लो. सं. २१८, प्र. पृ. सं. ३६४



### शृंगारी काव्य

- (१) कवि प्रतिभा जन्य कवि की रचना है।  
अतः 'शृंगारी काव्य' संज्ञा है।

- (२) शृंगारी काव्य ऐसे शास्त्रज्ञ द्वारा विरचित होता है जिसका वर्ण्य [विषय वस्तु] से किसी प्रकार का भक्ति भाव का संबंध नहीं होता। अतः असंदिग्ध रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि कवि को रचना काल में रसानुभूति हुई थी। उसे तो आनन्द किंवा शोक का अनुभव भी नहीं होता।

- (३) शृंगारी कवि आस्थावान भी हो सकता है और अनास्थावान भी।

- (४) शृंगारी काव्य रचना का उद्देश्य होता है—यश अथवा अर्थोपार्जन।

- (५) शृंगारी काव्य के पठन-श्रवण से काम वासना उदीप्त होती है।

- (६) शृंगारी काव्य में लौकिक आलंबनों की विशुद्ध काम क्रीड़ा का ही वर्णन होता है।

### रसिक वाणी

प्रतिभाजन्य रचना नहीं रसिजन पेय 'रस' का स्वाभाविक उद्गलन है। अतः 'काव्य' संज्ञक न होकर 'वाणी' संज्ञक है। यह बात अलग है कि रसिकों की रस भारती को देखकर प्रतिभाजन्य कवि और साहित्यिक भी चमत्कृत हो उठें।

वाणीकार रसिक का वर्ण्य से अभिन्न सम्बन्ध होता है। वह रसिक वाणी में वर्णित लीला का झटा, द्रष्टा, सहायक और रसास्वादक होता है। वह उस वर्णित लीला का अभिन्न अंग ही होता है। अतः उसे वाणी लेखनकाल में रसानुभूति होती है।

वाणीकार सुनिश्चित रूप से रसोपासना निष्ठ, आस्थावान और विधिवत् दीक्षित होता है।

रस केलि वर्णनात्मक 'वाणी' तो रसपानाधिक्य का स्वाभाविक परिणाम है। अतः इसका कोई भी उद्देश्य अनुसन्धेय ही नहीं है।

रसिक वाणी में वर्णित रस केलि के कथन-श्रवण से काम का समूल उन्मूलन हो जाता है।

रसिक वाणी में वर्णित रस केलि वर्णना उस परात्पर तत्त्व 'प्रेम' किंवा 'रस' ही की क्रीड़ा है जो प्रेमी-प्रेमपात्र रूप में सदैव प्रत्यक्ष रहता है; जो लौकिक-अलौकिक आलम्बनों से परे है तथा श्रुतियों द्वारा अलक्षित किन्तु "रसोवैसः" ..... शब्दों द्वारा संकेतित है।

शृंगारीकाव्य और रसिक वाणी में वर्णित रस केलि वर्णना के पार्थक्य सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन को हृदयंगम कर लेने के पश्चात् भी विशुद्ध विचारक एवं कोरे कुतार्किक व्यक्तियों का यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि वृन्दावन रस रसिकों की वाणियों [रस केलि वर्णनात्मक रचनाओं] को पढ़कर सर्व साधारण मानव के हृदय में तो कामोद्दीपन होता ही है। ऐसी स्थिति में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल या उन्हीं का अनुकरण करने वाले अन्य साहित्य इतिहास लेखकों का यह कथन कैसे असत्य सिद्ध किया जाय कि—“वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेम लक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई”<sup>१</sup>।”.....

मानव जगत में ऐसे मानवों की संख्या अधिक है जिनके हृदय में श्रीमद्भागवत वर्णित श्रीकृष्ण की रासलीला के प्रति और महाकवि सूरदास-नन्ददास जैसे भक्तों द्वारा वर्णित श्रीकृष्ण के साथ ब्रजगोपियों की शृंगारी केलि के प्रति ऐसी दुर्भावना चिर स्थाई बनी हुई है कि ये सब विशुद्ध काम क्रीड़ा का ही वर्णन है। लेखक के विचार से ऐसे व्यक्तियों की भावना का उन्मूलन या परिवर्तन कभी भी किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण को कामुक और उनकी रास क्रीड़ा को काम क्रीड़ा कह सकता है; वह हित रसिकों की वाणी में वर्णित रस केलि वर्णना को लौकिक काम केलि कहे तो आश्चर्य की क्या बात है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के हृदय में तो अपनी नव जोवना बेटी, बहिन तथा पुत्र-वधू के दर्शन, स्पर्श तथा आलिंगन से भी कामोद्दीपन होना कोई असम्भव बात नहीं है।

## ६.७. रस सिद्धान्त संबंधी भ्रान्ति व निराकरण :

श्री हिताचार्य के ‘पूर्ण संयोग में ही वियोगानुभूति’—इस अद्भुत प्रेम सिद्धान्त पर [प्र. पृ. सं. २७६-२८७] आचार्य चरण के शब्दों में ही पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है; किन्तु फिर भी कतिपय भोले साक्षरों की भ्रान्ति मूलक ऐसी धारणा बन गई है कि—

“श्री हित जी कृत—“चकई प्राण जु घट रहैं पिय बिछुरन्त निकज्ज।”..... और “सारस सर बिछुरन्त कौ जो पल सहै शरीर।”.....इन दोनों कुण्डलियों में मिलन-विरह की अनुभूति के जैसे प्रतिपादन का जो प्रयत्न किया है; वह होता नहीं।.....चकई और सारस के प्रेम वर्णन में वियोग में संयोग की आशा और मिलन में विरह की चिन्ता अवश्य रहती



होगी। तात्पर्य यह कि दोनों के अनुभव पृथक-पृथक हैं और इससे मिलन-वियोग की साधारण अनुभूति का सामान्य सिद्धान्त ही गृहीत हो सकता है; विलक्षण नहीं। यदि मिलन-वियोग के एक साथ अनुभव का सिद्धान्त ही श्री हिताचार्य का अभिप्रेत था तो वे इन दोनों का समन्वय करते हुए कोई तीसरा छन्द लिख सकते थे।”

वस्तुतः श्री हिताचार्य ने उपर्युक्त दोनों कुण्डलियों में अपने विलक्षण प्रेम सिद्धान्त का विज्ञापन नहीं किया है; प्रत्युत पूर्व पक्ष स्वरूप संयोग निष्ठ प्रेम और वियोग निष्ठ प्रेम—इन दोनों की सशक्त आलोचना मात्र ही की है। अपने अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का व्याख्यान तो उन्होंने ‘हित चौरासी’ के “अंशनि पर भुज दियें विलोकत” आदि पदों में किया है। इन पदों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। किन्तु जिन भ्रान्त व्यक्तियों की आँखों में मात्सर्य और साम्प्रदायिक पक्षपात का परदा पड़ा रहता है उनको ये पद नहीं दिखाई देते।

उन भ्रान्त व्यक्तियों का यह भी कहना है कि—“मिलन-विरह की युगपत् अनुभूति” का सिद्धान्त हित हरिवंश के समय में नहीं था.....वह बहुत परवर्ती ध्रुवदास काल का है। श्री हित जी के सिद्धान्तों के सर्वमान्य भाष्यकार सेवक जी ने अपनी वाणी में कहीं भी श्री हरिवंश जी की प्रेम पद्धति में वियोग का निषेध अथवा सूक्ष्म विरह का पतिपादन नहीं किया। जैसा कि स्वामी हरिदास जी की परम्परा में उनके समकालीन बिहारिनिदास जी ने स्पष्टता पूर्वक किया है। स्वामी हरिदास जी की नित्यविहार उपासना के प्रभाव से सर्वप्रथम ध्रुवदास जी ने इस वियोगात्मक या मिलन-विरह के सिद्धान्त का राधाबल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलन किया।”

मिलन-विरह की युगपत् अनुभूति के अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का प्रकाश श्री हिताचार्य ने ‘आजु अति राजत दम्पति भोर’,<sup>१</sup> ‘बिहरत दोऊ प्रीतम कुंज’<sup>२</sup> तथा ‘कहा कहों इन नैनन की बात’<sup>३</sup> आदि पद-रचना के माध्यम से वृन्दावनागमन काल [वि. सं. १५९०] से पूर्व देववन में ही कर दिया था। यह कहने का अकाट्य आधार यह है कि श्री हिताचार्य विरचित “आजु अति राजत दम्पति भोर” यह पद नवलदास जी ने हरिराम जी व्यास को वि. सं. १५९०-१५९१ के मध्य सुनाया था<sup>४</sup>। इस ऐतिहासिक आधार पर इस पद की रचना श्री हिताचार्य के वृन्दावन आगमन काल [वि. सं. १५९०] के अनिश्चित काल पूर्व ही माननी पड़ेगी। यही वह पद है जो अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का मूलाधार है।

श्री हिताचार्य द्वारा प्रणीत इन्हीं सूत्र रूप पद पंक्तियों के आधार पर सेवक जी ने

१ से ३. हि. चौ., प. सं. ३१, ६६, ६०

४. र. अ. मा., म. मु., व्यास जी की परचई

वि. सं. १६१० के लगभग श्री हरिवंशी रस रीति पर प्रकाश डालते हुए यह घोषणा की है कि—

श्री हरिवंश सु रीति सुनाऊँ। श्यामा-श्याम एक सँग गाऊँ॥  
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई। प्रान सु एक देह हैं दोई॥  
अंशनि पर भुज दियँ विलोकत। तृपित न, सुन्दर मुख अवलोकत॥  
इन्दु वदन दीसत विवि ओरा। चारु सु लोचन त्रिषित चकोरा॥  
करत पान रस मत सदाई। श्री हरिवंश प्रेम रति गाई॥

सेवक जी प्रणीत उपर्युक्त पंक्तियों में—“छिन इक कबहुँ न अन्तर होई” इस पंक्ति में स्थूल वियोग का सुस्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। यह भी विशेष रूप से दृष्टव्य है कि उन्होंने श्री हिताचार्य प्रणीत प्रेम सिद्धान्त के मूलाधार वाले पद की पंक्तियाँ भी ज्यों की त्यों उद्धृत की हैं। सेवक जी ने इस अद्भुत रस सिद्धान्त का एक अन्य स्थल पर पुनः उल्लेख करते हुए लिखा है कि पूर्ण संयोग में वियोग की अनुभूति—इस प्रकार का हेतु श्री हरिवंश के बिना कौन जानता है कि उसका स्वरूप क्या है ? और कौन समझा सकता है ? यह रसरीति तो श्री हरिवंश-वाणी में ही वर्णित है। इसीलिए मुझे श्री हरिवंश वाणी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुहाता—

भुज अंशनि दीने विलोकि रहे मुख-चन्द्र उभै मधु पान कराई।  
आपु विलोकि हृदय कियौ मान चिवुक्क सुचारु प्रलोइ मनाई।  
श्री हरिवंश बिना यह हेतु को जानै ? कहा ? को कहै समझाई ?...  
श्री हरिवंश वचन रचन सु नित्य किशोर-किशोरी लड़ाई।  
श्री हरिवंश गिरा रसरीति सु चित्त प्रतीति न आन सुहाई॥

इसी प्रकार श्री हिताचार्य के विद्यमान काल में ही श्री हित चरणाश्रित प्रबोधानंद जी ने भी श्री हिताचार्य द्वारा प्रादुर्भूत अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का वर्णन करते हुए लिखा है कि वृन्दावन में ही विद्यमान नित्य संयोग में ही नित्य विरह दशा युक्त युगल किशोर मुझे लुभायमान कर रहे हैं—

नित्याद्भुताद्भुत रसोत्सव नित्य सङ्ग नित्यार्त.....वृन्दावने किमपि लोभयते मनो मे॥

१. से. वा., श्री हरिवंश वाणी, चतुर्थ प्रकरण, छं. सं. ६. ७

२. से. वा., अनन्य टेक शपथ, अष्टम प्रकरण, छं. सं. ८, ६

३. वृ. म., प्र. स., नवम शतक, श्लो. सं. ४६



उस समय [वि. सं. १५९०] तक स्वामी हरिदास जी के प्रशिष्य बिहारिनिदास जी वृन्दावन में ही नहीं आये थे। स्वामी हरिदास जी पद रचना करते थे या नहीं यह भी अनिश्चित ही है; क्योंकि हरिराम व्यास जी ने श्री हिताचार्य के निकुंज गमन [वि. सं. १६०९] पर दुख प्रकट करते हुए अपने यह उद्गार प्रकट किये थे—

“....पद रचना अब कापै है है निरस भयौ संसार”<sup>१</sup>।

और जब स्वामी जी पद रचना करने लगे थे तब उनके निकुंज गमन पर व्यास जी ने कहा था कि—

“बिहारहि स्वामी बिनु को गावै.....”<sup>२</sup>।

.....सेवा सावधान अति जान सुघर सरस गावत दिन रास<sup>३</sup>।

अपने मूलाचार्य और पूर्ववर्ती रसिकों की भाँति हित ध्रुवदास जी ने भी श्री हिताचार्य के अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का विवेचन करते हुए उसे श्रीजू [श्री हिताचार्य] की वाणी में वर्णित अद्भुत प्रेम सिद्धान्त वर्णनात्मक पदों से ही प्रमाणित किया है और यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि—“तहाँ की बात श्री गुसाँई जू [श्री हिताचार्य] ने गाई।” पंक्तियाँ निम्नांकित हैं—

“.....अरु श्रीजू की वानी—“करत पान रस मत्त परस्पर लोचन त्रिषित चकोर।” ताते प्रेम-विरह अनेक भाँति हैं। जैसौ जहाँ प्रेम तैसौ तहाँ विरह है। जहाँ स्थूल प्रेम तहाँ स्थूल विरह। जहाँ सूक्ष्म प्रेम तहाँ सूक्ष्म विरह।

जो कोऊ कहै स्थूल कहा ? सूक्ष्म कहा ? सूक्ष्म प्रेम यासौ कहिये-जो एक सेज पर रूप देखत चन्द्र-चकोर ज्यों नैनांचल ओट भये; महा कठिन दशा होय अरु देह हू अपनी न्यारी नाही सहि सकत; यह भी विरह मानत हैं। तहाँ की बात श्री गुसाँई जू ने गाई। तहाँ श्रीजू की वानी-

“श्रुति पर कंज दृगंजन कुच बिच मृगमद है न समात।

जै श्री हित हरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात।।”

अरु श्री स्वामी जी कौ पद—

“ऐसी जिय होत जो जिय सौं जिय मिलै तन सौं तन समाय लेउँ तौ देखौ कहा हो प्यारी” यह प्रेम अति तीव्र है जा पर श्रीजू के रसिक भक्तनि की कृपा होय तब ही उर में आवै। ऐसे अद्भुत प्रेम में और भाँति कौ विरह न संभवै।....या प्रेम

में न स्थूल प्रेम की समाई न स्थूल विरह की, न मान की। एक रस यह प्रेम ही विरह स्वरूप है<sup>१</sup>।”

उपर्युक्त विशद विवेचन का सारांश यह कि श्री हिताचार्य ने वि. सं. १५६० से पूर्व ही “चंकई प्राण....।” तथा “सारस सर....।”-इन दोनों कुण्डलियों में संयोग निष्ठ और वियोग निष्ठ प्रेम की आलोचना करके ‘हित चौरासी’ नामक वाणी के पद सं. ३१, ६६, ६० आदि में पूर्ण संयोग काल में ही वियोग की अनुभूति वाले अपने अद्भुत प्रेम सिद्धान्त का प्रकाश कर दिया था श्री हिताचार्य के विद्यमान काल में ही उनके शिष्य प्रबोधानंद जी सरस्वती ने तथा आचार्य चरण के निकुंज गमन के पश्चात् वि. सं. १६१० में सेवकजी ने भी हित वाणी में वर्णित सूत्र वाक्यों के आधार पर इस अद्भुत रस सिद्धान्त की व्याख्यायें की हैं। अपने मूलाचार्य के सूत्र वाक्यों के आधार पर ही पूर्व हित रसिकों की भाँति हित ध्रुवदास जी ने भी श्री हिताचार्य के इस अद्भुत रस सिद्धान्त का विशद विवेचन किया है।

उपर्युक्त भ्रान्ति मूलक धारणा धारक व्यक्तियों की अन्तरात्मा भी यह स्वीकार करती है कि स्वामी हरिदास जी ने इस अद्भुत प्रेम सिद्धान्त सम्बन्धी कोई वैधानिक पद पंक्तियाँ नहीं लिखी हैं। तभी तो ये व्यक्ति स्वामी हरिदास जी द्वारा विरचित पदों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत न करके हितध्रुवदास जी, बिहारिनिदास जी, ललितकिशोरीदास जी, भगवत रसिक जी, तथा ‘सुधर्मबोधनी’ कार लाड़िलीदास जी आदि परवर्ती रसिकों की शरण ग्रहण करते हैं।

इन भ्रान्त व्यक्तियों को श्री हिताचार्य का यह अद्भुत रस सिद्धान्त कभी-कभी चण्डीदास और अभिनवगुप्त की रचनाओं में भी दिखाई देने लगता है। वस्तुतः उनका यह समझना भी असत्य ही है। चण्डीदास आदि कवियों की रचनाओं में—“संयोग काल में भावी विरह का भय” तो वर्णन किया गया है किन्तु “पूर्ण संयोग में ही वियोगानुभूति” इस महा विलक्षण रस सिद्धान्त का नहीं।

“काव्य रस और भक्ति रस के शास्त्रों में शृंगार रस के संयोग और वियोग नामक दो पक्ष होते हैं”—यह उल्लेख तो अवश्य मिलता है और साथ ही संयोग काल में “भावी विरह होने का भय” इसका एकाधिक उदाहरण भी मिल जाता है; किन्तु पूर्ण संयोग काल में ही विरह की अनुभूति का उदाहरण श्री हिताचार्य से पूर्व अवैष्णव और वैष्णव साहित्य में एक भी नहीं मिलता। चण्डीदास की निम्नांकित पंक्तियों में “संयोग काल में भावी विरह होने का भय” वर्णन किया गया है—

एई भय उठे मने एई भय उठे। ना जानेर कानूर प्रेम तिले जाने छुटे।।



इसी प्रकार अभिनव गुप्त के—“इसीलिए संभोग के समय विप्रलम्भ की सम्भावना से भय बना रहता है—” इस कथन में भी ‘पूर्ण संयोग में ही वियोग की अनूभूति’—श्री हिताचार्य के इस विलक्षण रस सिद्धांत की किंचित् झलक तक नहीं मिलती। चण्डीदास और अभिनव गुप्त के इस विवेचन के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथनों में “मिलन में ही विरह का अनुभव या भास” चण्डीदास के अनन्य भक्तों को ही हो सकता है; किसी रसिक, वैष्णव या साहित्यिक विद्वान को नहीं।

### ६.८. नित्यबिहार और अष्टयामी क्रीड़ा :

वाणी की रस रहस्यता समझना तो परेश भक्तों तथा मुक्तों तक के लिए भी शक्य नहीं है; सर्व साधारण के लिए तो वह नितान्त अगम्य ही है—ऐसे कतिपय साधारण व्यक्तियों का कहना है कि—“श्री हिताचार्य की उपासना लौकिक या प्रगट लीला की [ब्रजबिहारी की] ही है; क्योंकि उनकी वाणी में अष्टयाम सेवा का वर्णन मिलता है। नित्यबिहार में अष्टयामी सेवा के लिए स्थान नहीं है। अतः उनकी उपासना नित्यबिहारी की नहीं है नित्यबिहारी तो सतत् शैया बिहार में ही मत्त बने रहते हैं। केवल शैया बिहार ही उनका शृंगार-आहार और पान है। ये न जागते हैं न सोते हैं इनमें न कोई प्रधान है और न अप्रधान”।

ऐसे खुरापाती विचार तो उन्हीं व्यक्तियों के मस्तिष्क में उत्पन्न हो सकते हैं जो केवल शैया बिहार [काम-क्रीड़ा] को ही परात्पर आनन्द जानते और मानते हैं। जिनकी दृष्टि में ‘बिहार’ शब्द का अर्थ केवल “शैया बिहार” तक ही सीमित है और जिन्होंने श्री हरिवंशी-हरिदासी द्वारा वर्णित वाणियों का कभी निकट अध्ययन तथा मनन नहीं किया है। इन दोनों की वाणी में शैया बिहार के तो कतिपय पद ही मिलते हैं। शेष पदों में स्नान, जल बिहार, वन बिहार, गेंद क्रीड़ा, आँख मिचौनी, रास क्रीड़ा, वसन्त बिहार, फाग बिहार और पावस बिहार आदि के वर्णन मिलते हैं<sup>१</sup>। स्वामी हरिदास जी तो कुंज बिहारी-बिहारिणी को प्रतिदिन उत्तम से उत्तम भोग लगाते थे<sup>२</sup>। भगवत रसिक जी को भी स्वीकार है कि नित्यबिहारी भोजन करते हैं<sup>३</sup>। स्वामी हरिदास जी के बिहारी-बिहारिणि सोते भी हैं<sup>४</sup> जागते

१. दे.-प्र. पृ. सं. २११ से २१२

२. उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं ।.....

३. भोजन-सैन बिहार करैं ललिता की गोदी।

— भ. मा., ना. दा., छं. सं. ६१

४. प्यारी अब सोइ गई। ज्यों-ज्यों जगावति त्यों-त्यों नहिं जागति प्रेम रस पान करि मोइ गई।।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ४७

भी हैं<sup>१</sup>। स्नान करते हैं केश सुखाते हैं<sup>२</sup>। शृंगार करते हैं<sup>३</sup>। उन्हें जाड़ा लगता है<sup>४</sup>। पावस विनोद में उनकी चूँनरी बूँदों से भीज जाती है<sup>५</sup>। वे मयूर नृत्य करते हैं, रास करते हैं<sup>६</sup>, शतरंज खेलते हैं<sup>७</sup>, होरी खेलते हैं<sup>८</sup> और होरीडोल झूलते हैं<sup>९</sup>। इतना ही नहीं अपने सखाओं को साथ लेकर ब्रज गोपियों से दान भी माँगते हैं<sup>१०</sup> और स्नान करती हुई बहू-बेटियों से छेड़छाड़ भी करते हैं<sup>११</sup>। स्वामी हरिदास जी भी श्री हिताचार्य की भाँति ही श्री राधा का प्राधान्य स्वीकार करते हैं<sup>१२</sup>।

१ [क] प्रिया-पिय के उठिवे की छवि वरनी न जाय सबते न्यारे।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ८६

[ख] मरगजी वनमाल शिथिल कटि किंकिनि अरुन नैन चारों जाम जगे।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ८७

२. सौँधें न्हाइ बैठी पहिरि पट सुन्दरि जहाँ फुलवारी तहाँ सुखवति अलकैं।

कर नख शोभा कल केश सँवारति मानों नव घन में उड़गन झलकैं।।

विविध सिंगार लियें आगें ठाढ़ी प्रिय सखी.....

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. १०३

३[क] किशोर कुमकुम कौ सिंगार कियें सारी-चुरी खुमी नेत्रनि दियें श्याम।।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ५६

[ख] बैठे रसिक सँवारति वारनि कोमल कर ककही सौँ।

श्री हरिदास के स्वामी श्यामा नख शिख लौं बनाई दै काजर नख ही सौँ।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ७०

४. चूँनरी में जाड़ौ लागतु है री कीजिये सुख सैन।.....

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ८०

५. बूँदें सुहावनी री लागति मति भीजै तेरी चूँनरी।.....

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ६२

६. ए हरि रास रच्यौ सुनि धुनि मुरली वन बाजै।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ५२

७. दुहुँन की सहज विसाति दोऊ मिलि सतरंज खेलत।.....

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ८१

८. राधा रसिक कुंजबिहारी खेलत फाग सब जुवतीजन कहत हो होरी।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. १०५

९. डोल झूलत दुलहिनी-दूलहु। उड़त अबीर कुमकुमा छिरकत खेल परस्पर सूलहु।।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ४८

१०. हमारौ दान मार्यौ इन। रातिन बेचि जात घेरौ रे सखा जानि ज्यों न पावैं छियौ जिन।।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ६२

११. कहौ यह काकी बेटी कहा धौं कुँवरि कौ नाँउ।

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ८३

१२. जहाँ-जहाँ चरन परति प्यारी जू तेरे तहँ-तहँ मन मेरौ करत फिरत परछाँहीं।...

— स्वा. ह. जी के पद, स्वा. ह., प. सं. ५३

[एवमपि स्वामी हरिदास जी के पद, प. सं.—७, २४, ३५, ५७, ५८, ७८, ६६ आदि]



यह ऐतिहासिक सत्य है कि विधि निषेध शून्य अष्टयामी सेवा का शुभारम्भ श्री हिताचार्य ने किया था। तत्पश्चात् स्वामी हरिदास जी ने तथा अन्यान्य रसिक भक्तों ने भी इस अभिनव सेवा प्रकार को स्वीकार किया था। यही कारण है कि श्री हरिवंशी-हरिदासी-वर्णित पदों में श्यामा-श्याम की अष्टयामी सेवा [जगाने, सुलाने, स्नान करने और उत्तम भोग लगाने] के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः श्री श्यामा-श्याम जिस 'प्रेम' किंवा 'रस' की मधुर मूर्ति हैं वह 'प्रेम' स्वरूपतः क्रीड़ा प्रिय है। वह दिन-रात क्रीड़ा ही किया करता है। इसीलिए प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम कभी बसन्त क्रीड़ा, कभी फाग क्रीड़ा करते हैं तो कभी होरी खेलते ही खेलते हिंडोल झूलने लगते हैं। कभी नृत्य-गान और वादन में तत्पर होकर रास क्रीड़ा का आनन्द लेते हैं तो कभी प्रातः-सायं वन विहार की बेला में विविध विनोद करके आनन्दोत्फुल्ल होते हैं। सारांश यह कि वे दोनों अहर्निश बिहार परायण ही बने रहते हैं। [केवल शैया बिहार परायण ही नहीं] उनकी हित चिन्तिका दासियाँ उन्हें समयानुसार स्नान, भोजन-पान, और शयनादि कराती रहती हैं। सखीजनों की इस लाड़-प्यार पूर्ण अष्टयामी सेवा का वर्णन ही रसिकों ने अपनी वाणी में प्रचुर रूप से किया है।

श्री हिताचार्य तथा स्वामी हरिदास जी आदि रसिकों की वाणी के गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि खेल, केलि, क्रीड़ा, विलास, बिहार ये सभी शब्द एकार्थक व समानार्थक हैं। तभी तो वृन्दावन में अहर्निश होने वाले नित्यबिहार को रसिक महानुभावों ने प्रेम खेल, प्रेम क्रीड़ा, प्रेम विलास, प्रेम बिहार, रस केलि, रस खेल, रस क्रीड़ा, रस विलास, रस बिहार, निजु केलि, निजु क्रीड़ा आदि-आदि नामों से अभिहित किया है। ये अनन्त प्रेम विलास ऋतु अनुसार प्रातःकाल से लेकर शयन पर्यन्त तक चलते रहते हैं। इसीलिए तो इन विलासों को समय व ऋतु अनुसार वन-बिहार, जल-बिहार, ग्रीष्म-बिहार, पावस-बिहार, रास-बिहार, शैया-बिहार, बसंत-बिहार, गेंद खेल, शतरंज खेल, होरी खेल, आँखमिचौनी खेल, कुंजकेलि, कुंज बिहार आदि-आदि कहकर प्रकीर्तित किया गया है। वृन्दावन में अनेकानेक प्रकार के इन बिहारों को करने के कारण ही प्रेममूर्ति अद्वय युगल को क्रीड़ा कुशल किशोर-किशोरी, वृन्दावन बिहारी-बिहारिनि, कुंजबिहारी-बिहारिनि, रास बिहारी-बिहारिनि आदि नामों से स्मरण किया गया है। तात्पर्य यह कि नित्यबिहार का तात्पर्य मात्र शैया बिहार ही नहीं है; अपितु अहर्निश होने वाले 'प्रेम' के समस्त बिहार ही नित्यबिहार हैं। नित्यबिहार के अन्तर्गत अष्टयाम के विविध विहार, नित्य रास, ऋतु अनुकूल विविध बिहार—ये सभी आ जाते हैं।

## ६.६. तत्सुखसुखी भाव की एकाधिकारिणी :

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना में सखियों का स्वरूप तत्सुखसुखी माना गया

है। किन्तु कुछ भोले भावुकगण श्यामा-श्याम की सखियों को तत्सुख सुखी और मत्सुखसुखी इन दोनों स्वरूपों से परे मानते हैं। उनको तो तत्सुखसुखी भाव ब्रजगोपियों में ही दिखाई देने लगता है।

तत्सुख सुखीत्व, अनन्यता और तदाधीनता ये तीन धर्म-प्रेम के स्वरूपगत धर्म हैं। अपने तन-मन-प्राण और इन्द्रियों के सुख से सुखी होना मत्सुख सुखीत्व कहलाता है और दूसरे को सुख पहुँचाकर दूसरे को सुखी देखकर उसके [दूसरे के] सुख से सुखी होना तत्सुख सुखीत्व कहलाता है<sup>१</sup>। यह तत्सुख सुखीत्व भाव उसी हृदय में समुद्भूत और पूर्ण परिपक्व होता है; जो हृदय नारी और पुरुष भाव शून्य हो जाता है। स्वसुख कामना का पूर्ण रूप से निरस्त होने पर ही यह तत्सुख सुखीत्व भाव समुद्भूत होता है।

सर्व साधारण मानवों, सब प्रकार के भगवद् भक्तों तथा गोप्यादिक भक्तों में नारी किंवा पुंस भाव चिरस्थायी बना रहता है। इसीलिए इन हृदयों में तत्सुख सुखीत्व भाव का आविर्भाव नहीं हो पाता। तत्सुख सुखीत्व भाव पूर्ण हृदय वाले वृन्दावन रस रसिकों की सेवा और उनके कृपा प्रसाद से मानव कामना शून्य हो जाता है। तब उस कामना शून्य हृदय में ही यह तत्सुख सुखीत्व भाव समुदित और परिपक्व होता है।

राधाकिंकरीगण न तो नारी हैं न पुरुष हैं और न नपुंसक ही हैं। वह तो श्री राधा श्यामसुन्दर की भाँति ही प्रेमाङ्ग 'प्रीति' की ही साकार मूर्ति है अतः यह भाव उनके हृदय में स्वरूपतः सहज बना ही रहता है।

'भाव' हृदय की ही वस्तु है। वह हृदय में ही आविर्भूत होता है और हृदय में ही चिरस्थायी निवास करता है। नारी और पुरुष हृदय में मत्सुख सुखी भाव चिरस्थायी रहता है। तथा पुंस-नपुंस और नारी वर्ग से पृथक् प्रीति मूर्ति राधाकिंकरीगणों के हृदय में तत्सुख सुखीत्व भाव चिरस्थायी रहता है।

कतिपय भोले भावुकों द्वारा कल्पित "मत्सुख और तत्सुखीत्व से परे विशुद्ध सखी भाव" [जो आज तक अनामन और अपरिभाषित है] के उदय के लिए ऐसे हृदय का अनुसंधान करना पड़ेगा जो न तो नारी-पुरुषों का हृदय ही हो और न 'पुंस-नपुंस और नारी' के रूप से पृथक् प्रीतिमूर्ति राधाकिंकरीगणों का ही हृदय हो। राधाकिंकरीगणों के हृदय में तत्सुख सुखीत्व से परे किसी अन्य भाव की कल्पना हृदय हीन के मस्तिष्क में ही सम्भव है—सहृदय मस्तिष्क में नहीं। ब्रजगोपियों में मत्सुखसुखी भाव ही दिखाई देता है तभी तो वे श्री राधा को साथ में लेकर अन्तर्धान होने वाले श्री कृष्ण के विरह में विलाप करती हैं। उन ब्रजगोपियों ने यह नहीं सोचा कि श्री राधा को साथ में ले जाने से श्री कृष्ण को कोई सुख विशेष

१ अपने सुख की कामना जहाँ न कोऊ होइ। प्रीतम के सुख ही सुखी तत्सुख कहिये सोइ।



की प्राप्ति हुई है। श्री कृष्ण-चरण-चिन्हों के साथ श्री राधा के चरण-चिन्हों को देखकर गोपियों के मन में मात्सर्य वश महा शोक उत्पन्न हुआ था। यह तत्सुखसुखीभाव न होकर मत्सुखसुखीभाव ही है।

## ६.१०. संयोग और वियोग :

श्री हिताचार्य ने 'रसोपासना' के उपास्य स्वरूप वर्णन सन्दर्भ में अनेक स्थलों पर विविध प्रकार से 'पूर्ण संयोग में ही विरहानुभूति' अपने इस रस सिद्धान्त पर प्रचुर प्रकाश डाला है। उन्होंने "हित चौरासी" के प्रथम पद में ही "जै श्री हित हरिवंश हंस-हंसिनी साँवल गौर कहौ कौन करै जल-तरंगनि न्यारे" लिखकर सुस्पष्ट रूप से अपनी उपासना में स्थूल वियोग को अस्वीकृत कर दिया है। आचार्य चरण के शिष्य-प्रशिष्यों ने भी इस बात पर विशेष बल दिया है कि श्री हिताचार्य की रसोपासना में श्यामा-श्याम का विरह कदापि संभव नहीं है<sup>१</sup>। फिर भी हिताचार्य प्रणीत कतिपय ऐसे श्लोक भी प्राप्त होते हैं जिनमें स्थूल वियोग का वर्णन दिखाई देता है। श्री हिताचार्य को यह वर्णन करना अनिवार्य भी था क्योंकि अभिनव सिद्धान्त संस्थापन के लिए प्रत्येक आचार्य को पूर्व पक्ष का स्थापन करना अनिवार्य होता है<sup>२</sup>। श्री हिताचार्य ने इन श्लोकों की रचना इसी उद्देश्य से की है। इसी तथ्य को हित ध्रुवदास जी तथा बिहारिनिदास जी ने शब्दान्तर भेद से कहकर जिज्ञासुओं का समाधान किया है<sup>३</sup>।

## ६.११. 'हित-वाणी' की रहस्यता :

जिस प्रकार श्री हिताचार्य के उपास्य "अद्भुत प्रेममूर्त्योः राधामाधवाख्य" अनिर्वचनीय रहस्य हैं। ठीक इसी प्रकार आचार्य चरण की उपासना तथा उनकी श्रीमुख वाणी—'हित चौरासी' और 'राधासुधानिधि' आदि भी एक रहस्य ही हैं। क्योंकि यह वाणी उसी अद्भुत रस रहस्य का बाह्यमय रूप ही तो हैं। संभवतः इसीलिए श्री हिताचार्य के शिष्य सेवक जी

१ [क] श्री राधा माधवयोर्यथा कदाचिन्न सम्भवी विरहः। तद्रस वृन्दावन यो स्तथैव परमोऽविना भावः॥

— वृ. म., प्र. स., द्वादश शतक, श्लो. सं. २

२ [ख] छिन इक कबहुँ न अन्तर होई। प्रान सु एक देह हैं दोई॥

से. वा., वाणी प्रकरण—चतुर्थ छ. सं. ७

३ विस्तृत विवरण देखें—प्रबन्ध के पंचम अध्याय में।

३ [क] .....भ्रमहू को विरह कहत डर आवै। या प्रेम में न स्थूल प्रेम की समाई, न स्थूल विरह की समाई न मान की। ".....जो कोउ कहै, मान-विरह महापुरुषनि गायौ है; सो सदाचार के लियें। औरनि कौं समुझावे कौं कह्यौ है। पहिलैं स्थूल प्रेम समुझै तब आगे चलै।.....

— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. ध्रु. दा.

[ख] जनम-करम वृषभानुसुता-नैदनंदन शिष्टाचारौ।.....

— वि. दा. की वा., बि. दा., प. सं. १५०

ने हितवाणी की गूढ़ता और रहस्यमयिता को लक्ष्य कराते हुए कहा है कि—“समुझौ श्री हरिवंश सु वानी”।” और ध्रुवदास जी ने भी कहा है कि—श्री हरिवंश जु रस कह्यौ विरलौ समुझनहार”।..... इस वाणी की गूढ़ता का दूसरा कारण वाणीकार की वह वाक्पटुता भी है जो कि उनका स्वरूपभूत गुण होकर लोक प्रत्यक्ष हुई है। ऐसी रहस्यमयी गूढ़ गिरा का वास्तविक अन्तराशय खोलना एकमात्र वाणीकार की कृपा पर ही निर्भर है अथवा आचार्यचरण के निकटवर्ती स्नेहभाजन कृपापात्रों के उन अभिमतों पर आधारित है जो कि उन्होंने हितवाणी के सम्बन्ध में यत्र तत्र प्रगट किये हैं।

भक्तमाल प्रणेता श्री नाभाजी ने भी श्री हिताचार्य द्वारा प्रवर्तित रसोपासना-पथ की गूढ़ता की ओर इंगित करते हुए सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है कि “श्री हरिवंश गुसाँई जू की भजन-रीति कोई सकृत ही जान सकेगा; और ठीक-ठीक वही पहिचान सकेगा जो कि श्री व्याससुवन गो. हित हरिवंश द्वारा आविर्भूत रसोपासना के पथ-‘व्यास सुवन पथ’ का अनुसरण करेगा”।”

हित रसिकों तथा नाभाजी आदि भक्तों की घोषणा को असमझ की घोषणा तथा असत्य घोषणा मानने वाले कुछ भोले भावुकों को श्री हिताचार्य की वाणी में निम्नांकित दोष और अभाव दिखाई देते हैं। अतः हम उन पर भी पृथक-पृथक विचार करने की चेष्टा करेंगे।

### ६.११.१. अकस्मात् कौमारे प्रगट नव कैशोर विभवौ :

कतिपय विद्वानों को श्री हिताचार्य की उपास्य जोरी में अवतार कालीन जोरी के बाल, कौमार, पौगण्ड और किशोरावस्था का क्रमिक विकास दिखाई देता है। इसके प्रमाण स्वरूप वे ‘राधासुधानिधि’ के निम्नांकित श्लोकों को प्रस्तुत करके यह सिद्ध करने की चेष्टा करना चाहते हैं कि उनके उपास्य नित्य किशोर नहीं हैं। वे दोनों तो ब्रज में प्रगटे हैं, ब्रज की नगर वीथियों में साथ-साथ खेलते हैं और उनमें कौमार समाप्त होकर कैशोर प्रगट होता है—

कदा वा खेलन्तौ ब्रज नगर वीथीषु हृदयं । हरन्तौ श्री राधा ब्रजपति कुमारौ सुकृतिनः ।।  
अकस्मात् कौमारे प्रगट नव कैशोर विभवौ । प्रपश्यन्पूर्णः स्यां रहसिं परिहासादिनिरतौ” ।।

१. से. वा., से. जी, श्री हरिवंश वाणी चतुर्थ प्रकरण, छं. सं. १

२. व्या. ली., हि. ध्रु. दा., रहस्यलता लीला, छं. सं. १

३. ....सदा मधुर वाक् पटुर्जयति साधु वैयासकिं ।

— वै. अ., कृ. दा. गो., श्लो. सं. ६

४. म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

५. रा. सु. नि., श्लो. सं. ६५



श्री मद्राघे त्वमथ मधुरं श्रीयशोदा कुमारे । प्राप्ते कैशोरकमति रसाद्वल्लसे साधुयोगम् ॥  
इत्थं वाले महसि कथया नित्यलीला वयः श्री । जाता वेशा प्रकट सहसा किन्तु दृश्या किशोरी ॥

श्री हिताचार्य के परमोपास्य अद्वय युगल सदा नित्य किशोर रूप से वृन्दावन की सीमा में ही क्रीड़ा परायण बने रहते हैं । उनकी जोरी में कभी बाल, कौमार तथा पौगण्डादि आयु नहीं देखी जाती । बाल कौमार तथा पौगण्डादि आयु का विकास क्रम उसी जोरी में परिलक्षित होता है जिसका जन्म होता है । श्री हिताचार्य ने अपने उपास्य अद्वय युगल को "सदैव प्रकटतर" कहा है<sup>१</sup> । अन्तराशय यह कि उन्हें क्षण-क्षण में नित्य नवीन रूप में प्रगट होने वाला 'नित्य नवल' कहा है । उनका यह नित्य नवल रूप सदा नव किशोराकृत रूप में ही प्रगट होता है । इसीलिए उन्होंने अद्भुत प्रेम की इस जोरी को नवल किशोर-किशोरी कहकर<sup>२</sup> प्रकीर्तित करते हुए उनके नित्य नव कैशोर की जय घोषणा की है<sup>३</sup> । ऐसे प्रतिक्षण नव किशोर रूप में प्रगट होते रहने वाले अद्वय युगल में बाल-कौमार आदि आयु की कपोल कल्पना करना सुबुध सम्मान्य नहीं कहा जा सकता ।

उपर्युक्त श्लोक सं. ६५ में "अकस्मात् कौमारे प्रगट नव कैशोर विभवैः" उल्लेख देखकर कतिपय भोले भावुकों को यह भ्रम होता है कि श्री हिताचार्य के उपास्य नित्य किशोर नहीं ब्रजपतिकुमार बालकृष्ण आदि हैं । किन्तु उपर्युक्त पंक्तियों में श्री हिताचार्य के शब्दों से ही यह सहज सिद्ध हो जाता है कि उनका परमोपास्य वह 'प्रेम' किंवा 'रस' ही है जो नित्य किशोर वपु से नित्य क्रीड़ा परायण बना रहता है । वह सब रसों का मूल है और सभी दृष्टियों से पूर्ण है । इसीलिए उसमें रस की प्रत्येक दशाओं का आवर्तन-प्रवर्तन होता रहता है ।

श्री हितअली भावाविष्ट श्री हिताचार्य के सामने रसिक युगल श्यामा-श्याम रस की कुमारावस्था-रस की नवोढा दशा की क्रीड़ा कर रहे थे । अकस्मात् ही उनमें मध्या दशा का आविर्भाव हो जाता है । उनमें कोक कलाओं की वह सम्पूर्ण पटुता—जो मध्या और प्रौढ़ा दशा में प्रत्यक्ष हो जाती है—प्रगट दिखाई देने लगती है । इसीलिए आलोच्य श्लोक में श्री हिताचार्य ने यह नहीं लिखा है कि वे दोनों अकस्मात् बालक से किशोर-किशोरी [तरुण] हो गये हैं; प्रत्युत यह उल्लेख किया है कि वे दोनों अकस्मात् कौमार में नव कैशोर के वैभव को प्रकट कर रहे हैं । अर्थात् उनमें किशोरावस्था का वैभव—सुरत संगमी केलि की

१२. रा. सु. नि., श्लो. सं. १६८ और १२६, प्र. पृ. सं. ४१३

३. आजु निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी ।.....

— हि. चौ., प. सं. ७

४. ....विलासं तत्कुंजे जयति नव कैशोर मिथुनम् ।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. १४४

पटुता के पूर्ण लक्षण प्रगट हो गये हैं; वय परिवर्तन नहीं। वे तो सदैव “मुकुलित वय नव किशोर” ही बने रहते हैं<sup>१</sup>। श्री हिताचार्य के इन्हीं सूत्र वाक्यों को प्रबोधानंद जी ने “कैशोरादपरं वयो न हि कदा.....” [वृ. म., षष्ठम शतक, श्लोक सं. ६] कहकर तथा हित ध्रुवदास जी ने निम्नांकित शब्दों में व्याख्यायित किया है—

नौढ़ा मध्या अति चतुर प्रौढ़ा परम प्रवीन।  
कुँवरि चरन नख-चन्द्रिकन सेवत ज्यों जल मीन॥  
एकै वय, क्रम नाहिं कछु, सहज अलौकिक रीति।  
विलसत विविध विनोद रति उपजावत निजु प्रीति॥  
अपनी-अपनी समै सब रुचि लै करें अनुसार।  
फिरत रहैं छिन-छिन नई आनंद दशा विहार॥  
न्यारी-न्यारी दशा कहीं एक स्वाद हित जानि।  
जैसैं एकहि वस्तु के कीने व्यंजन बानि<sup>२</sup>॥

ऊपर लिखित ‘राधासुधानिधि’ के “श्रीमद् राधे त्वमथ”—इस श्लोक [संख्या १६८] की “श्री यशोदा कुमारे प्राप्ते कैशोरकम्” इस पंक्ति से भी ब्रज के बालकृष्ण और गोपकुमारी राधा की भ्रान्ति हो सकती है। किन्तु यह भ्रान्ति इसलिए भी नहीं होनी चाहिये क्योंकि श्रीहिताचार्य ने स्वयं ही इसी श्लोक में “श्रीमद् राधे रसाद् त्वमथ मधुरं” लिखकर बहुत अधिक स्पष्ट कर दिया है कि रसिक प्रीतम के लिए “प्राप्ते कैशोरकम्” शब्द का प्रयोग उनकी रस भर स्थिति किंवा मधुर रस की क्रीड़ा की उस उपर्युक्त अवस्था का सूचक है जिस अवस्था में [कौमार के सहज धर्म] मुग्धत्व के स्थान पर नागरता का प्रकाश होता है। इन दोनों का यह कैशोर नित्य नव कैशोर है। अर्थात् वह एक मुग्धत्व विशेष से सदा सम्पन्न बना रहता है। [दे.—रा. सु. नि. श्लो. सं. ५६, ६५]

“नित्य लीला वयः श्री जातावेषा” इस वाक्य से भी किसी को यह भ्रान्ति हो सकती है कि आवेश से पूर्व बाल या कौमार अवस्था थी। किन्तु यहाँ पर “वयः श्री” से आयु का अर्थ न लेकर कैशोरावस्था की संपूर्ण, शोभा, सम्पत्ति, उत्साह, रुचि, मिलनोत्कण्ठा, लज्जा, भीति, अतृप्ति आदि-आदि ही लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि पहिले मुग्धावस्था की ‘श्री’ थी, आयु नहीं। श्री प्रिया जी पूर्ण अनुराग रस सागर के सार की मूर्ति हैं। अतः इनमें मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा आदि सभी रस दशाओं का सहज उद्गम होता रहता है। जिस

१. मुकुलित वय नव किशोर वचन रचन चित के चोर।.....

— स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २२

२. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., आनन्द दशा विनोद लीला, छं. सं. ३, ४, ५, २६



समय जिस अवस्था के वैभव का प्रादुर्भाव होता है; उस समय उसी अवस्था की 'वयः श्री' पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो जाती है; न कि वय ही। वय तो सदा सर्वदा एक रस नित्य किशोर ही बनी रहती है<sup>१</sup>।

नित्यबिहार स्थली श्री वृन्दावन में जहाँ पर एक ओर अखण्ड एक रस निजानंग लीला क्रीड़ा हुआ करती है, वहीं पर गेंद क्रीड़ा, नौका क्रीड़ा आदि-आदि अनेकानेक लीलायें भी होती रहती हैं;<sup>२</sup> किन्तु मूलतः इन दोनों क्रीड़ाओं में स्मरकला ही प्रधान क्रीड़ा है। इसीलिए यह नित्य लीला और नित्य विहार नाम से अभिसंज्ञात है। इस शब्द से सीधा यही अर्थ लिये जाने के कारण ही तो इन दोनों को सुरतसूर और नित्य बिहारी कहा जाता है। अतः यहाँ पर 'नित्य लीला' शब्द से नैमित्तिक लीला अथवा प्रगट लीला सापेक्ष नित्य लीला नहीं समझनी चाहिये। वास्तविक बात यह है कि हितसखी स्वरूपाविष्ट श्री हिताचार्य को श्री प्रिया जी से एक ऐसी रसमयी बात कहनी थी जो सबके समक्ष सुस्पष्ट शब्दों में नहीं कही जा सकती थी। इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त शब्दों [श्रीमद् राधे.....श्लोक सं. १६८] के माध्यम से अपना रहस्य पूर्ण आशय अभिव्यंजित किया है।

राजभोग के पश्चात् जब श्री श्यामा-श्याम सुमृदु सुखासन पर विराजमान हुए, तब श्री हित सखी जी ने देखा कि दोनों के नेत्र सौरत रस के आवेश से अरुणाते और मदमाते हो रहे हैं। अतः उन्होंने अपनी स्वामिनी से कहा कि आपके यशोदानी नव किशोर में पूर्ण किशोर श्री और उसी प्रकार आप में भी वही पूर्ण मधुर वय श्री का आविर्भाव हो रहा है। नव-दाम्पत्य के अद्भुत बिहार का यह बड़ा सुन्दर साधु योग है। नित्य विहारी युगल विहारोत्सुक तो थे ही; अपनी अन्तरंगा सखी की सम्मति पाते ही श्री प्रिया जी के श्री अंगों में नित्य बिहार [ निजानंग बिहार ] की संपूर्ण शोभा-सम्पत्ति और कला से पूर्ण वयश्री का आवेश हो आया। तब श्री हितसखी जी ने दोनों को अपने हाथों से सुखद शैया पर विराजमान कर दिया और शयन भवन के द्वार पर चिक डालकर आप बाहर ही विराजमान हो गईं। अब उत्थापन का समय निकट आ गया है। यह जानकर अपने दोनों लाड़िलों को रस-सागर से उन्मग्न करने के उद्देश्य से पुनः उन्हीं वाक्यों [श्रीमद् राधे.....श्लोक सं. १६८] की पुनरावृत्ति करते हुए यह कह रही हैं कि क्या ऐसी नित्य किशोरी मेरे दृष्टिगोचर होंगी? व्यञ्जना यह है कि हे स्वामिनी! क्या अब मैं भीतर आकर आपको निकट से देख सकती हूँ? क्योंकि अब आपके उठने का समय हो गया है।

इन भोले भावुकों का कहना है कि श्री हिताचार्य की वाणी में चित्रग्राम [बरसाना]

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ५०, ७६, १७६

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. १०७

निवास का,<sup>१</sup> ब्रज की वीथियों में खेलने का,<sup>२</sup> खौरि खिरक गिरि गहवर केलि का,<sup>३</sup> घृतना वध का<sup>४</sup> और गोवर्धन धारण का<sup>५</sup> भी उल्लेख मिलता है। उनका कहना है कि यह सब ब्रज और ब्रज में होने वाली लीलायें ही हैं। नित्यबिहार में ये लीलायें नहीं होतीं।

## ६.११.२. चित्रग्राम निवासिनी :

श्री हिताचार्य ने एक श्लोक में श्री राधा को चित्रग्राम निवासिनी लिखकर यह अभिलाषा व्यक्त की है कि वे वृन्दावन विलासिनी श्रीराधा क्या कभी मेरी हृदय उल्लासिनी होंगी—

.....चित्रग्राम निवासिनी नव-नव प्रेमोत्सवोल्लासिनी।

वृन्दारण्य विलासिनी किमु रहो भूयाद्दुल्लासिनी<sup>१</sup>।।

अद्यावधि प्राप्त ब्रज के इतिहास ग्रन्थों में ब्रजस्थ 'चित्रग्राम' का नामोल्लेख नहीं मिला है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों, अन्यान्य किसी शास्त्रों तथा संपूर्ण कृष्ण भक्ति काव्यों में भी चित्रग्राम का उल्लेख नहीं मिलता। वरसाने ग्राम को किसी भक्त कवि ने 'चित्रग्राम' [ का पर्याय ] लिखा हो ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में — 'चित्रग्राम' उल्लेख देखकर उसे ब्रजस्थ 'वरसाना' नामक ग्राम का उल्लेख कह देना सुपठितों द्वारा सम्मानित कौन स्वीकार करेगा ? 'चित्रग्राम' वस्तुतः प्रेमधाम वृन्दावन ही है जो कि प्रेम के सुचारु चरित्रों के चित्रों से चमत्कृत होता रहता है।

उपर्युक्त श्लोक में 'चित्रग्राम निवासिनी' शब्द का 'वरसाने ग्राम में निवास करने वाली'—यह अर्थ श्री हिताचार्य की हार्दिक भावना के भी विपरीत ज्ञात होता है। क्योंकि उन्होंने अपनी सम्पूर्ण वाणी में अपनी श्रीराधा को 'नागरी' [ नगर निवासिनी या चतुर ] कहकर ही स्मरण किया है; ग्राम निवासिनी कहकर नहीं। दूसरी बात यह भी है कि वरसाने में निवास करने वाला श्री राधा रूप-कीर्ति-वृषभान, नन्द-यशोदा, कृष्ण सखागण तथा कृष्ण कान्ता गोपियों से अलक्ष्य नहीं है; जबकि श्री हिताचार्य ने अपनी आराध्या श्रीराधा को इन सबसे अलक्ष्य कहा है।

यदि वरसाने ग्राम को वृन्दावन के अन्तर्गत माना जाय—ऐसी स्थिति में 'वृन्दारण्य विलासिनी' कहकर 'चित्रग्राम निवासिनी' कहना और 'चित्रग्राम निवासिनी' कहकर 'वृन्दारण्य विलासिनी' कहना अनावश्यक जैसा ही प्रतीत होता है। यदि वरसाना

१२. रा. सु. नि., श्लो. सं. १८२, ६५

३. हि. चौ., प. सं. ४८

४ से ६. रा. सु. नि., श्लो. सं. १६३, २२३, १८२



को वृन्दावन की सीमा से बाहर माना जाता है; तब भी 'चित्रग्राम का वरसाना अर्थ नहीं लिया जा सकता; क्योंकि श्री हिताचार्य की भावना है कि मेरे उपास्य श्री राधा-श्यामसुन्दर एकमात्र वृन्दावन में ही दृष्टिगोचर होते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में यह भी बताया जा चुका है कि 'चित्रग्राम' वरसाना ही है ऐसा कोई प्रमाण किसी भी पुराण में या ऐतिहासिक ग्रन्थ में नहीं मिलता।

तुलसीदासजी, हरिलालव्यासजी, हितदासजी तथा रतनदास जी आदि 'राधासुधानिधि' के प्राचीन टीकाकारों ने भी 'चित्रग्राम' शब्द का अर्थ वरसाना नहीं किया है—

“अपावृतस्तन क्रीडनं दृष्ट्वाह-वक्षोजद्धितयेन हेम कलश श्री गर्व निर्वासयति तिरस्करोति। ततश्चाङ्गरागादि नख दशन पदादिविशिष्ट रूप लावण्य वैचित्र्यं दृष्ट्वाह-चित्रग्रामे निवसतीति। ग्राममेव रूप ग्रामः। कथं चित्र मिति तत्राह-नव-नव प्रेमोत्सवे उल्लास उत्साहो यस्याः। अतएवोत्सवे बहुवैचित्र्यम्। प्रत्यंगे जातम्। यद्वाङ्ग रागादि विचित्रे प्रिय हृदि ग्रामे इति। एतादृशी वृन्दारण्ये विलसतीत्येवंप्रकारक नित्य विलासेन वृन्दारण्य विलासिनीति नामैव ख्यातं यस्याः।”.....यद्वा विलासतु वृन्दावने। अत्र चित्रग्रामो यथा वाग्देवता चरित चित्रित चारु सद्मा। इतिवत् सखी हृदय ग्रामः शृंगारहास प्रेमानुरागरूपादिमयैः श्याम स्वेत पीत रक्त विशदादि वर्ण रङ्ग प्रिया चरित्रैश्चित्रितः, अतोऽत्रैव तेषां प्रेम्णा नितरांवासः<sup>१</sup>।”

चातुरी के ग्राम की निवासिनी हैं नये-नये, प्रेम के उत्सव हुलास उपजावनी।

वृन्दा वर विपिन विलासिनी सु होय कहाँ, रहस्यमय मेरे हिये हरष बढ़ावनी<sup>२</sup>।

.....“अरु हे सखी ! चित्रग्राम कहा-ग्राम कहिये समूह। विचित्र हैं गुण, सुभाव, सरस, शोभा ऐसे लाल ताके अंक में विराजमान वारी हौ।.....और श्री हित वृन्दावन में विलास करनवारी हौ<sup>३</sup>।”

### ६.११.३. यावाराधयति प्रियं ब्रजमणिं प्रौढानुरागोत्सवै :

श्री हिताचार्य ने अपने संपूर्ण ग्रंथ में श्री राधा को आराध्य रूप में और श्यामसुन्दर को आराधक रूप में ही चित्रित किया है किन्तु राधासुधानिधि के श्लोक सं. ६७ में 'प्रिय आराधयति' यह वाक्य एक बार भाव विरुद्ध जैसा दिखाई देता है किन्तु श्री हिताचार्य के उपास्य व उपासना के स्वरूप तथा उनकी भावाभिव्यक्ति की शैली विशेष का ठीक-ठीक स्वरूप हृदयंगम होने पर यह भ्रान्ति निर्मूल हो जाती है।

१. रा. सु. नि. टी., टी. ह. व्या., श्लो. सं. १८२ की टीका

२. रा. सु. नि. टी., टी. हि. दा., श्लो. सं. १८२ की टीका

३. रा. सु. नि. टी., टी. र. दा., श्लो. सं. १८२ की टीका

अपने-अपने एक विशिष्ट धर्म के संस्थापक सभी आचार्य गण अपने उपास्य के एक रूप विशेष और उपासना के एक सिद्धान्त विशेष का ही उद्गान किया करते हैं। श्री हिताचार्य तो उत्कट अनन्य व्रतधारी प्रसिद्ध ही हैं और अनन्यता मूलक प्रेमोपासना के संस्थापक रूप में विख्यात है अतः इनकी वाणी में परस्पर विरोधी दो सिद्धान्तों के प्रतिपादन की आशा कैसे की जा सकती है। तात्पर्य यह कि "यावाराधयति प्रियं ब्रज मणिं" यह एक मधुर रहस्य मूलक पद है; और वह रहस्य यह है—

आचार्य चरण के परमोपास्य एकात्म युगल है। अर्थात् एक प्रेम प्राण की दो मूर्ति हैं। प्रेम के सम्पूर्ण धर्म और सम्पूर्ण लक्षण इन दोनों में समान रूप से परिलक्षित होते हैं। इसी आधार पर तो आचार्य चरण ने इन्हें "अद्भुत प्रेम मूर्त्योः" और "दम्पति रस समतूल" कहा है। प्रेम के एकत्व विधायक-दो को एक बनाने वाली प्रकृति के कारण ही दोनों एक दूसरे में डूब जाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। दोनों में ही आत्म विसर्जन की अनन्तानन्त भावनायें बनी रहती हैं। यह भावनाएँ ही दोनों को एक दूसरे के प्रति आराधनशील बनाये रहती हैं। ये अनन्त भावनायें प्रेम प्रकाश के जिन अनन्त प्रकारों [ लाड़, दुलार और प्यार करने के अनन्त रूपों ] में अभिव्यक्त होती हैं, प्रेम राज्य में लाड़-प्यार के इन्हीं अनन्त प्रकारों को ही आराधना कहा जाता है। प्रेम प्रकृतितः तत्सुखसुखी होता है। अतः दोनों, दोनों को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से ही प्रत्येक क्रिया किया करते हैं। तत्सुख सुखित्व भाव मूलक प्रत्येक क्रिया ही प्रेम राज्य में आराधना नाम से प्रकीर्तित है। निष्कर्ष यह कि पारस्परिक आराधना इन दोनों का स्वरूपभूत गुण है। किन्तु इन दोनों की आराधना का रूप भिन्न-भिन्न है। क्योंकि ये दोनों मूर्तियाँ एक ही प्रेम तत्व की होने पर भी एक तो प्रेमी मूर्ति और दूसरी प्रेमास्पद मूर्ति है। प्रेमी सहज अभिलाषी होता है। अतः उसकी आराधना किंवा प्रीति-प्रवाह लोल लहरियों से पूर्ण उच्छलित और अमर्यादित रहता है। 'प्रेमास्पद' पूर्ण काम होता है। अतः उसका आराधना रूपी प्रीति प्रवाह गम्भीर और मर्यादित बना रहता है। इस प्रवाह में महासागर की भाँति अपनी अनन्त लहरों को अपने ही में विलय कर लेने की पूर्ण क्षमता है। सम्भवतः इसीलिये श्री हिताचार्य ने श्री प्रिया जी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्हें सान्द्रानुराग किंवा प्रौढानुराग रस सागर सार मूर्ति कहा है। हितध्रुवदास जी ने भी श्री हिताचार्य की इन्हीं वाणियों के आधार पर ही श्री प्रिया जी के प्रेम पर प्रकाश डालते हुए उसे गम्भीर सागर कहा है<sup>१</sup>। "प्रौढानुरागोत्सवैः" इस पद के

१. यद्यपि प्यारे लाल कौं रहत है प्रेमावेश। कुँवरि प्रेम गम्भीर तहँ नाहिन वचन प्रवेश।।

प्रिया प्रेम सागर अमल लहरिन लेत समाय। उमड़ै जो मर्याद तजि कापे रोक्यौ जाय।।

— ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., हित सिंगार लीला, छं. सं. ५२-५३



द्वारा श्री हिताचार्य ने स्वयं ही यह व्यक्त कर दिया है कि श्रीराधा प्रेमास्पद स्वरूप में ही आराधना करती है।

आलोच्य श्लोक में "गोविन्द सख्युत्सुकाः" इस पद से भी किसी को इस अर्थ की भ्रान्ति हो सकती है कि श्रीराधा का आश्रय ग्रहण करने से श्रीकृष्ण के साथ सख्य भाव स्थापित करने के इच्छुकों को भी अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् वे श्रीकृष्ण सखा हो जाते हैं। किन्तु श्री हिताचार्य का आशय यह नहीं है। उनका आशय यह है कि स्वामिनी श्री राधा के आश्रय से इनके प्रीतम श्रीब्रजमणि से भी [वह सखी] परिहास कर सकती है [यह अधिकार प्रत्येक सखी को नहीं है जैसा कि श्रीहितसखी जी को प्राप्त है। यथा—“किं रे धूर्त प्रवर निकट.” श्लो. सं. ६२ तथा ६७, १६०, २१५, २२३]

#### ६.११.४. स्वयमुपनयेत स्मरकलाम् :

राधासुधानिधि के आलोच्य श्लोक सं. १६१ को पढ़ने पर एक बार ऐसा लगता है कि ग्रंथकार ने अभी लौकिक विधिनिषेधों का त्याग नहीं किया है और इनके हृदय में श्रीराधा पद-कमल भी निश्चित रूप से अभी विराजमान नहीं हुए हैं। साथ ही यह भ्रान्ति भी होती है कि यह कामकला सीखना चाहते हैं। किन्तु, जैसा कि ग्रन्थ के अन्य श्लोकों से यह प्रमाणित होता है कि ग्रन्थकार को इन श्लोकों के रचना काल में ही श्रीप्रिया जी का अन्तरंग साहचर्य, अत्यन्त सामीप्य और उनकी समस्त सेवायें प्राप्त हैं। इसे देखते हुए उपर्युक्त भ्रान्तियों के लिये कोई स्थान नहीं है। वास्तविकता यह है कि श्रीहिताचार्य ने इस श्लोक में अपनी अभिलाषा प्रकट करने के व्याज से वृन्दावन रस रसिकों को यह बतलाने की कृपा की है कि नित्य केलि परायण श्रीप्रिया-प्रीतम की सेवा एकमात्र उन्हीं को मिल सकती है, जिन्होंने लोक-वेद के विधि निषेधों का अशेष रूप से त्याग कर दिया है। जो श्री राधा पद किंकरी कृत हृदय हैं। जो कि श्रीराधा-चरण-कमल की उस अनन्यता से परिपूर्ण हृदय हैं जिसका वर्णन श्लोक सं. ५५, ८७, ११३, ११७ आदि में किया गया है। इस श्लोक में आचार्य श्री ने यह भी बतलाने की कृपा की है कि यह सेवा तभी प्राप्त हो सकती है जब कि स्मर कला की पटुता पूर्ण रूप से प्राप्त होगी। सखियों को न तो कामकला की सीखने की आवश्यकता ही है और न वह इस कला को लाल जी से सीखने की वाञ्छा ही कर सकती। क्योंकि एक तो वह श्रीराधा-चरण-अनन्य हैं और दूसरी बात यह है कि वह स्वयं ही दोनों रसिकों को रस की प्रत्येक क्रीड़ा का मार्ग प्रदर्शन किया करती है। [दे. रा. सु. नि. श्लो. सं. २१५।]

यह स्मरकला क्या है ?

काम और विशुद्ध प्रेम इन दोनों का ही उद्भव और चरम परिपाक "किशोर-किशोरी

नव दम्पति रूप" में होता है। सख्य-वत्सल प्रेम की तथा काम की क्रीड़ा का आधार मुख्यतः आलिङ्गन और "चुम्बनादि क्रियायें" ही होती हैं। प्रेम क्रीड़ा और काम क्रीड़ा के इस साम्य को देखकर यदि यह कह दिया जाय कि काम और प्रेम किसी एक ही तत्व के दो पहलू हैं; तो कम से कम विद्वद्वज्रगत को तो कोई आपत्ति न होगी।

प्रेमोपासना प्रवर्तक श्रीहिताचार्य ने भी प्रेम क्रीड़ाओं में प्रत्यक्ष अपनी श्री राधा को एक साथ "शुद्ध प्रेम विलास वैभव निधि" एवं "कन्दर्प लीला निधि" कहकर प्रकीर्तित किया है। आचार्य चरण की इन्हीं कृपा किरण का आलोक पाकर ही तो श्री ध्रुवदास जी ने कहा है कि श्री लाड़िली-लाल के हृदय में प्रेम और मदन के दो सिन्धु सदा ही लहराते रहते हैं "प्रेम मदन के सिन्धु द्वे बहत रहत दिन हीय। कबहुँ विवश चेतत कबहुँ छिन-छिन प्यारी पीय।।" यहाँ पर पूर्व रसिकों की यह वाणी नितान्त अविस्मरणीय है कि यद्यपि 'काम बिना यह प्रेम न होई' तथा 'जो यह काम सो प्रेम न होई'। इस लीला धाम श्री वन का 'प्रेम' भी कुछ दूसरा ही प्रेम और 'काम' भी कुछ दूसरा ही काम है—लोक परिचित काम और प्रेम नहीं। तभी तो रसिकों का उद्घोष है कि 'औरै काम प्रेम कछु औरै'। उस प्रेम धाम का काम श्री हित दम्पति का अपना ही काम है [दे. रा. सु. नि. श्लो. सं. १२८] जो कि प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी बनकर नहीं, उसका अनुग बनकर श्री वन की सेवा किया करता है। [श्रीवन के काम और लोक परिचित काम का महान अन्तर प्रबन्ध के पंचम प्रकरण में वर्णित 'लीला : प्रेमकेलि या कामकेलि' नाम शीर्षक में दृष्टव्य है।]

जिस प्रकार श्रीराधा, श्रीश्यामसुन्दर, श्रीराधाकिंकरीगण और श्रीवृन्दावन ये चारों ही पूर्ण प्रेम की अभिन्न मूर्तियाँ हैं किन्तु प्रेम की अभिव्यक्ति इन चारों में भिन्न-भिन्न रूप से परिलक्षित होती है। यथा—

प्रेमास्पद श्रीराधा में—पूर्ण काम, उदार, दाता, गम्भीर रस-सागर रूप में।

प्रेमी श्रीश्यामसुन्दर में—अभिलाषी, अतृप्त, चंचल, दीन, रस तृषा-सागर रूप में।

प्रीतिरूपा सखीगण तथा वृन्दावन में—प्रीति विलासों के प्रेरक, विधायक, सहायक और दर्शक रूप में।

ठीक इसी प्रकार प्रेम में अनिवार्य 'स्मरकला' की भी अभिव्यक्ति प्रेम की मूर्ति चतुष्टय में भिन्न-भिन्न प्रकार से ही होती है। यथा—

प्रेमास्पद श्रीराधा में—काम सरसन्धानक और काम-पीड़ा-हारिणी रूप में।

प्रेमी श्यामसुन्दर में—काम पीड़ित और काम-सर जर्जरांग रूप में।



प्रीति रूपा सखीगणों तथा वृन्दावन में—काम क्रीड़ा के प्रेरक-उद्दीपक, दर्शक तथा गायक रूप में।

यद्यपि श्री श्यामा-श्याम एक ही प्रेम प्राण की दो मूर्तियाँ हैं अतः प्रीति किंवा आसक्ति का सागर दोनों के हृदय में लहराता रहता है। तथापि श्रीप्रिया जी आसज्ज और श्री लाल जी आसक्त रूप में ही नित्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। सखियाँ भी प्रीति की साकार मूर्तियाँ हैं किन्तु वे आसज्ज रूप में नहीं— आसक्त रूप में ही नित्य आलोकित होती हैं। यहाँ पर यह नितान्त अविस्मरणीय है कि ये सखियाँ न तो श्री प्रिया जी से आसक्त हैं और न प्रियतम से ही। ये तो उन दम्पति की आसक्ति से ही आसक्त हैं।

‘काम और प्रेम’ इन दोनों की प्रतीक यह ‘आसक्ति’ परमासक्त प्रियतम को सदा केलि तृषातुर बनाये रखती है जो कि काम केलि में काम कला के नाम से अभिसंज्ञात हो जाती है। यह आसक्ति श्रीश्यामसुन्दर में अप्रतिम रूप से देखी जाती है। सखियाँ भी आसक्त ही हैं। इनके हृदयों में यह आसक्ति काम केलि दर्शन की अतृप्त पिपासा के रूप में नित्य बनी रहती है अतः वे परमासक्त प्रियतम से इस स्मरकला की शिक्षा लेने की वाञ्छा करके उनके आसक्त रूप की आशंसा करती हैं।

### ६.११.५. ब्रज नगर वीथीषु हृदय :

गो. श्री हरिवंशोदित रसोपासना से पूर्ण अनभिज्ञ कतिपय व्यक्तियों का कहना है कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य युगल पूर्ण प्रेम स्वरूप नहीं हैं। क्योंकि वे “खोरि खिरक गिरि गहवर” में विहार करने के कारण वृन्दावन के प्रति अनन्य नहीं हैं। वे ब्रज की वीथियों में खेलते फिरते हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिए वे श्री हिताचार्य प्रणीत ‘राधासुधानिधि’ का “कदावा खेलन्तौ ब्रज नगर वीथीषु हृदयं” .....यह श्लोक [ श्लोक सं. ६५ ] तथा ‘हित चौरासी’ का— “देखि सखी राधा पिय केलि। ये दोऊ खोरि खिरक गिरि गहवर बिहरत कुँवरि कंठ भुज मेलि” यह पद [प. सं. ४६] प्रस्तुत करते हैं।

श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में पग-पग पर यह उद्घोषणा की है कि मेरी परमोपास्य जोरी वृन्दावन-सीमा के अन्तर्गत ही सदा निवास करने वाली और सदा बिहार करने वाली हैं<sup>१</sup>। इसीलिए उनकी वाणी में ग्राम निवासी गोपों की बहू-बेटियों के विचरण करने का कोई भी सांकेतिक उल्लेख तक नहीं मिलता। न ही ब्रज की ग्राम्य संस्कृति परिचायक—“चले जाऊ ढोटा वाइ बाबरौ यह गाँव” ऐसे वाक्य प्रयोग ही मिलते हैं और न ही ग्राम संस्कृति की कोई अन्य झलक विशेष ही दिखाई देती। उनकी नित्य किशोरी श्यामा न तो किसी

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ७६, ७७, १२६, १२८, २१६, प्र. पृ. सं. ३४४

की बहू ही हैं और न बेटी ही। उन्होंने श्री राधा को 'वृषभान गोप की बेटी', 'वृषभानुजाया' और 'वृषभानन्दिनी' आदि नामों से स्मरण अवश्य किया है किन्तु यह वृषभानु गोप की बेटी कभी भी दूध-दही बेचने नहीं जातीं जिनसे श्री कृष्ण दान माँगते हैं। यह वह वृषभान गोप की बेटी हैं जो मोहनलाल से पुष्प चयन करवाया करती हैं<sup>१</sup>। यह वह वृषभानुजाया हैं जो ब्रह्मादिकों से और संपूर्ण गोविन्द प्रिय वर्ग से दुर्गम गति वाली हैं<sup>२</sup>। यह भागवतादि पुराण वर्णित वृषभानुजाया नहीं हैं—यह बोध कराने के लिए ही श्री हिताचार्य ने अपनी श्री राधा का परिचय उपर्युक्त शब्दों में दिया है। इसी प्रकार उनके श्यामसुन्दर भी किसी के ढोटा नहीं हैं और न उनके श्यामा-श्याम किसी बाबरे ग्राम के निवासी ही हैं। वे तो ब्रजमण्डल में स्थित उस निज वृन्दावन के ही नित्य निवासी हैं जहाँ पर बाबरे नहीं बसते; केवल नागर और नागरी ही निवास करते हैं। यही कारण है कि श्री हिताचार्य ने उन्हें 'नागर कुल मौलि साँवरौ', 'राधिका नागरी', 'नागरी किशोर', 'नवल नागरी नवल नागर किशोर', 'नागरी नाइक', 'नागरी नव किशोर', 'अति नागर', 'नागरी श्याम' कहकर स्मरण किया है<sup>३</sup>।

प्रबंध के पंचम अध्याय में यह तथ्य भी अमोघ प्रमाणों से प्रमाणित हो चुका है कि श्री हिताचार्य के परमोपास्य श्यामा-श्याम का अपना ही वृन्दावन है; ऐतिहासिक किंवा पौराणिक वृन्दावन नहीं। वह श्री राधिका कृपा-बिना सबके लिए मनसा भी अगम्य है<sup>४</sup>। जिसमें उनके अपने ही सूर्य-चन्द्र, अपनी ही यमुना, अपनी ही रत्न गिरि गुहायें हैं। रुचि अनुकूली उनकी अपनी ही संकीर्ण और प्रशस्त वीथियाँ हैं। अपने ही सघन और प्रशस्त प्राङ्गण हैं। यह नव वृन्दावन अद्वय युगल की इच्छानुसार पल-पल में नव-नव रूप में प्रगट होकर उनको लाड़ लड़ाता रहता है<sup>५</sup>। इसी प्रकार इस रस धाम वृन्दावन का 'प्रेम' और 'काम' सभी कुछ अपना ही है। तभी तो श्री हिताचार्य उद्घोष करते हैं कि मेरे श्यामा-श्याम ब्रज की उन वीथियों में ही खेलते हैं जहाँ पर नागर और नागरीगण ही निवास करते हैं। वृन्दावन की वे नागरी गोपियाँ ही निवास करती हैं जो 'रहो बल्लवी' हैं। किन्तु श्री हरिवंश-कृपा-किरणों से असंपृक्त व्यक्तियों को "ब्रज नगर वीथीषु हृदयं" इस वाक्य में 'नगर' शब्द ही नहीं

१. हि. चौ., प. सं. १८

२. रा. सु. नि., श्लो. सं. ३६, १२८, २३५, २३८ आदि

३. हि. चौ., प. सं. ८२, २५, १०, ५०, ७२, ६६ ४३, ५६

४. हि. चौ., प. सं. ५७

५[क] गिरि कन्दरा अनूप नाद झरनन कौ सुन्दर। अष्टजाम नीशान घुरत मनु प्रेम पुरन्दर॥

परम मोहनी रूप धरें श्री वृन्दावन में। खेलन थल पुनि कुण्ड देत अहलाद जु मन में॥

— प्रे. प., चा. वृ. दा., छं. सं. ११६, ११७



दिखाई देता तथा "ये दोऊ खौरि-खिरक गिरि-गहवर बहरत"—इस वाक्य में गाय-बछड़े और बावरे ग्राम के गोपी-गोपगण ही दिखाई देते हैं।

'खिरक' शब्द ब्रजभाषा का शब्द है। जिसका सर्व साधारण अर्थ होता है—गोप, गाय बैल और बछड़ों का निवास स्थान। किन्तु यहाँ पर श्री हिताचार्य ने 'खिरक' शब्द का प्रयोग इन अर्थों में नहीं किया है। उन्होंने आलोच्य पद में श्यामा-श्याम के बिहार स्थलों का वर्णन किया है। जैसे—गिरि [पर्वत] गहवर [सघन वन] तथा खोरि [गलियाँ] आदि स्थल। हित वाणी में वर्णित ये सभी स्थल एकान्त, निर्जन और रमणीय हैं। किन्तु गोशाला अर्थ प्रदत्त—'खिरक' शब्द विहार करने के योग्य नहीं कहा जा सकता। वह तो गोपों, गाय व बछड़ों का अपना निवास स्थान ही है। यह भी दृष्टव्य है कि आलोच्य पद में राधा-पिय की सुरत केलि का वर्णन किया गया है और वर्णित सुरत केलि गाय, गोप और गोपियों, से समावृत्त स्थल में नहीं हो सकती। अतः इस प्रकृत विधान के आधार पर यह निश्चय है कि श्री हिताचार्य ने 'खिरक' शब्द को गोशाला अर्थ में सम्प्रयुक्त नहीं किया; अपितु "खोरि-खिरक"—इस सामासिक पद का प्रयोग करके निज वृन्दावन के ही संकीर्ण और प्रशस्त वन स्थलों का संकेत किया है। यह अर्थ लक्षणा शब्द शक्ति के द्वारा प्राप्त और विद्वद् संवेद्य अर्थ है।

यहाँ पर "खोरि-खिरक" शब्द का उपर्युक्त अर्थ इसलिए भी युक्तियुक्त है क्योंकि श्री हिताचार्य ने अपने 'राधिका कृपा-गम्य वृन्दावन' में गाय, गोप और गोपियों का प्रवेश सर्वथा असम्भव कहा है। कारण यह कि इन सबको श्री राधिका-कृपा प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में राधा-पिय की केलि स्थलियों में "खोरि-खिरक, गिरि, गहवर" इस पंक्ति में प्रयुक्त 'खिरक' शब्द का अर्थ गाय, गोप और गोपियों का नित्य निवास स्थल, कैसे कहा जा सकता है? कदापि नहीं कहा जा सकता।

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना के उन्नयन काल में सभी रसिक वृन्दावन बिहारी रसिक युगल को 'ब्रज सिरताज', 'ब्रज मण्डन', 'ब्रज भूप' तथा 'ब्रज सुन्दरी' कहकर गर्वान्वित होते थे और ब्रज की वीथियों में सोहनी दिया करते थे। क्योंकि इन रसिकों के उपास्य श्यामा-श्याम का लीला धाम वृन्दावन ब्रजमण्डलान्तर्गत इसी भूतल पर स्थित था; पृथ्वी के अन्य भागों में नहीं।

भौगोलिक सीमा की दृष्टि से श्री श्यामा-कुंजबिहारी के विहार स्थल को 'ब्रज' से उस समय तक अलग नहीं किया जा सकता जब तक रसिकों की वाणी का गहन अध्ययन करके सर्व सम्मत रूप से यह निश्चय न कर लिया जाय कि स्वामी श्री हरिदास जी

की—“ब्रज वीथिनु दीजै सोहनी”<sup>१</sup> इस आज्ञा का क्या अर्थ है ? स्वामी जी ने वृन्दावन को ब्रज के अन्तर्गत मानकर ही यह लिखी हैं या ब्रज के बाहर मानकर ? श्री श्यामा जू के सदा ही आधीन रहने वाले “या ब्रज कौ सिरताज साँवरौ”<sup>२</sup>—वृन्दावन बिहारी हैं या ब्रज बिहारी ? वह “ब्रज सिरताज साँवरौ” ब्रज का ही सिरताज है या वृन्दावन का भी ?

रसिकों की वाणी का अर्थ रसिकजन ही समझते हैं बीठलविपुल जी स्वामी हरिदास जी के शिष्य थे । अतः स्वामी जी की वाणी के अर्थ के पूर्ण विज्ञाता वही थे । उन्होंने श्यामा के सदा आधीन रहने वाले साँवरै को “या ब्रज कौ सिरताज” कहा है । यदि वे स्वामी हरिदास जी कृत “नव-नव लाड़ लड़ाय लाड़िली नहीं-नहीं इहि ब्रज जाँवरौ” इस पद का अर्थ यह मानते होते कि ब्रज में जाने का निषेध किया गया है तो वे साँवरै को “या ब्रज कौ सिरताज” कभी भी न लिखते ।

स्वामी श्री हरिदास जी महाराज के बिहारी जी श्री राधा से कहते हैं कि “चलो भीड़माड़ से अलग उस स्थान पर खेलें जहाँ पर पक्षी भी न हों; और सखी-सखा आदि [यहाँ जैसी गोप-गोपियों की भीड़] भी न हों”<sup>३</sup> । प्रश्न उठता है कि यह वृन्दावन बिहार स्थल कौन सा है; जहाँ पर सखी-सखाओं की भीड़ बनी रहती है ? जहाँ पर खड़े हुए श्री बिहारी जी कहते हैं कि “चलि री भीर ते न्यारेई खेलैं”<sup>४</sup> ।

स्वामी हरिदास जी के बिहारी जी अपने सखाओं से कहते हैं कि—“अरे सखाओ इन ब्रजगोपियों ने हमारा दान मार लिया है; इन्हें घेर लो”<sup>५</sup> । प्रश्न यह है कि ये सखा और जिनसे बिहारी जी दान माँगते हैं वे बहू बेटीयाँ निधिवन वासी हैं या ब्रजवासी ?

स्वामी हरिदास जी के बिहारी जी जल क्रीड़ा करती हुई ब्रज गोपियों से पूछते हैं कि —“यह किसकी बेटी है ? इस कुँवरि का क्या नाम है ? तब वह कुँवरि कहती है

१. स्वा. ह. जी के प., स्वा. ह., सिद्धान्त के पद, प. सं. १२

२. बी. वि. जी के प., बी. वि., प. सं. २५

३. चलि री भीर ते न्यारेई खेलैं । कुंज-निकुंज मंजु में झेलैं ।।  
जहाँ पंक्षी सखि-सखा न कोऊ, तिहि वन चलि मिलि केलैं ।

— स्वा. ह. जी के प., स्वा. ह. प. सं. १००

४. हमारौ दान मार्यौ इनि ।

रातिनि बेचि-बेचि जात घेरौ सखा जान ज्यों न पावैं छियौ जिनि ।।

देखौ हरि के ऊज उठाइये की रात विरात बहू-बेटी काहु की निकसत है पुनि ।

श्री हरिदास के स्वामी श्याम की प्रकृति न फिरी छिया छाँड़ौ किनि ?

— स्वा. ह. जी के प., स्वा. ह., प. सं. ६२



कि—अरे ढोटा तुम यहाँ से चले जाओ, यह गाँव बाबला है<sup>१</sup>।” प्रश्न उठता है कि वह कुँवरि किस ग्राम की रहने वाली और किसकी बेटी है ? क्योंकि स्वामी जी के बिहारी जी द्वारा किया गया—“कहौ यह काकी बेटी कहा धौँ कुँवरि कौ नाम ?”—यह प्रश्न ही सुस्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि वह कुँवरि किसी की बेटी हैं और कुँवरि की अन्य सहेलियाँ भी किसी न किसी की बेटियाँ ही हैं।

इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्वामी श्री हरिदास जी के बिहारी जी प्रिया जी से जिस ‘गहवरवन’ में चलने के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—“प्यारी जू आगे चलि-आगे चलि गहवरवन भीतर जहाँ बोलैं कोइल री<sup>२</sup>।” वह ‘गहवरवन’ इस पंचकोसी वृन्दावन के अन्तर्गत न होकर वरसाने ग्राम में ही है। यदि स्वामी श्रीहरिदास-वर्णित ‘गहवरवन’ इसी वृन्दावन के अन्तर्गत है तो “ये दोऊ खोरि-खिरक गिरि गहवर” आदि स्थान वृन्दावन से बाहर कैसे कहे जा सकते हैं ?

### ६.११.६. दैत्य राजोस्मिनाहं-पूतना नाहमस्मि :

श्री हिताचार्य द्वारा प्रणीत एक श्लोक में “दैत्य राजोस्मिनाहं” एवं “पूतना नाहमस्मि” इन शब्दों के उल्लेख को देखकर भी कतिपय व्यक्तियों को यह भ्रम होता है कि उनके श्यामसुन्दर दैत्यराज हन्ता और पूतना संहारी ही हैं।

‘राधासुधानिधि’ के आलोच्य श्लोक में श्री हिताचार्य ने अपनी अभिलाषा कथन व्याज से श्यामा-श्याम के रात्रिकालीन बिहार का चित्रण करते हुए लिखा है कि—“मेरे कण्ठ में नखों से घात क्यों करते हो ? मैं दैत्यराज नहीं हूँ। कुच तटी में इस प्रकार पीड़ा मत करो; मैं पूतना नहीं हूँ। हे सखी ! प्रियतम संगम समय के तुम्हारे इन शुक अनुकृत वचनों को प्रातः काल केलि कुंज में बुहारी देती हुई कब सुनूँगी”—

मत्कण्ठे किं नरवरशिखया दैत्य राजोस्मिनाहं, मैवं पीड़ा कुरु कुच तटे पूतना नाहमस्मि।  
इत्थं कीरैरनुकृत वचः प्रेयसा संगतायाः, प्रातः श्रोष्ये तव सखि कदा केलि कुंजेमृजन्ती<sup>३</sup>।

उपर्युक्त श्लोक में ‘दैत्यराज’ और ‘पूतना’ इन दो शब्दों का उल्लेख है। ये दोनों शब्द ब्रजलीला तथा अन्य ऐश्वर्य लीला के उद्बोधक हैं। जबकि ग्रन्थकार ने इसी ग्रन्थ के अन्य श्लोकों में कहा है कि मेरे उपास्य रसिक युगल सृष्टि आदि वार्ता से दूर, ब्रह्मा,

१. कहौ यह काकी बेटी कहा धौँ कुँवरि कौ नाँउ।

तुम सब रहौ री हौँ ही उत्तर देंउ चले किन जाउ ढोटा वाइ बाबरौ है गाँउ।

— स्वा. ह. जी के प., स्वा. ह., प. सं. ८३

२. स्वा. ह. जी के प., स्वा. ह., प. सं. ४६

३. रा. सु. नि., श्लो. सं. १६३

शिव, नारदादि भक्तों से अलक्ष्य और संपूर्ण गोविन्द प्रिय वर्ग से भी अलक्ष्य हैं<sup>१</sup>। फिर यहाँ पर श्री प्रिया जी के श्री मुख से ऐश्वर्य लीला सूचक इन शब्दों के निकलने का उल्लेख कैसे कर दिया ?

हम देखते हैं कि नित्य पूर्ण और परात्पर प्रभु 'प्रेम' किंवा 'हित' [एकात्म युगल श्री राधा-श्यामसुन्दर] के अनन्त अवतार स्वरूपों में जिस अवतार स्वरूप में ऐश्वर्य का जितना अधिक प्रकाश और माधुर्य का जितना अप्रकाश हुआ है; उस रूप की उतनी ही अधिक भगवत्ता स्वीकार की गई है। इसी प्रकार जिस रूप में ऐश्वर्य का जितना अधिक अदर्शन और उसके स्थान पर माधुर्य का जितना अधिक दर्शन हुआ है; उस रूप की भगवत्ता स्वीकार करने में उतनी ही असरलता या क्लिष्टता का अनुभव करना पड़ा है। जैसे भगवान् श्री राम और श्री कृष्ण स्वरूप परात्पर प्रभु के इन दोनों अवतार स्वरूपों में माधुर्य का क्रमशः अधिकाधिक विकास पाया जाता है। इनका यह माधुर्य-प्रकाश ही नारद, ब्रह्मा और इन्द्रादिकों के व्यामोह का कारण बना था। उस समय इनका ईशत्व ब्रह्मादिकों की दृष्टि से ओझल [माधुर्य के सान्द्र प्रकाश से समाच्छादित] था। वस्तुतः उनमें ईशत्व का अभाव न था। वह तो माधुर्य के प्रकाश में अदृष्ट अथवा धूमिल पड़ गया था; जो कि माधुर्य स्वरूप का एक प्राकृतिक प्रभाव था। तभी तो मोह नष्ट होने पर और माधुर्य स्वरूप का अन्तर्भाव होने पर उन सबों को इन लोक निकट [श्री राम-कृष्ण] रूपों की भगवत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माधुर्य की अतिशयिता—'अधिकाधिक प्रकाश'—ही ऐश्वर्य रूप के अप्रकाशित होने का कारण है। माधुर्यमूर्ति पूर्णतर प्रेम स्वरूप श्री युगलवर में ईशत्व का अभाव नहीं—प्रत्युत अप्रकाश है, अनाभास है। जैसे गुणी में अनन्त गुणों का अन्तर्भाव रहता है और वह देशकाल और पात्रानुसार उनका प्रकाश किया करता है। भगवत्ता भी 'प्रेम' के एक अनन्त गुणों में से एक गुण विशेष है। गुण गुणी के आधीन रहता है। इसीलिए तो वह स्वतन्त्र रूप से अपना प्रकाश नहीं कर सकता। सारांश यह है कि श्री राधा-श्यामसुन्दर ईश्वरत्व से सर्वथा विहीन; साधारण लौकिक किशोर-किशोरी नहीं हैं। प्रत्युत वह पूर्ण माधुर्यमूर्ति के साथ-साथ पूर्ण और परात्पर ईश्वर भी हैं। यही कारण है कि कभी ये ब्रजलीला किंवा ऐश्वर्य लीला और उससे निष्पन्न होने वाले रूपों को अपने विनोद और आमोद पूर्ण परिहास का विषय बनाकर पास्परिक विनोद करते देखे जाते हैं।

इस श्लोक में परिहास में प्रीतम की कुच पीड़न अकोविदता प्रकट करने के लिए पूतना नाम स्मरण के द्वारा और नख दान की कठोरता सूचित करने के लिए दैत्यराज



स्मरण के द्वारा उन रूपों का परिहास किया गया है। प्रीतम को ही दैत्यराज हन्ता और पूतना संहारी नहीं कहा गया है। रस शास्त्रों में उपमान उपमेय से भिन्न ही होता है।

इस प्रकार निर्भ्रान्ततः यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य श्लोक में श्री हिताचार्य ने अपनी अभिलाषा कथन व्याज से रात्रि के शैया बिहार का ही चित्रण किया है। जिसमें रसिक श्याम की केलि-अकोविदता की व्यंजना के माध्यम से उनसे मधुर परिहास किया गया है और दैत्यराज को केवल उपमान रूप में ही स्मरण किया गया है। उपमान; उपमेय से सर्वथा पृथक् ही होता है— इस न्याय से बहुत अधिक स्पष्ट है कि न तो वहाँ यशोदा का भवन ही है और न यशोदा; न बालकृष्ण ही हैं और न पूतना; न नृसिंह ही हैं और न दैत्यराज [ हिरण्यकश्यप ] ही।

### ६.११.७. गोवर्धन एक एव भवता :

‘राधासुधानिधि’ ग्रन्थ के आलोच्य श्लोक सं. २२३ में हितसखी जी ने श्री प्रिया जी से यह प्रार्थना की है कि मैं आपके प्रीतम श्यामसुन्दर से मधुर परिहास पूर्ण सम्भाषण कब करूँगी ? उन्होंने वास्तव में श्यामसुन्दर से परिहास किया नहीं है अपितु भविष्य में करने की प्रार्थना की है। परिहास इस प्रकार है—

श्री गोवर्धन एक एव भवता पाणौ प्रयत्नाधृतौ  
राधावर्ष्मणि हेम शैल युगले दृष्टेऽपि तस्याद्भयम्  
तद् गोपेन्द्र कुमार मा कुरु वृथा गर्व परिहासतः  
कह्येवं वृषभाननन्दिनि तब प्रेयां समाभाषये¹।

हे गोपेन्द्र कुमार तुमने बहुत प्रयत्न से एक ही गोवर्धन को हाथ पर रखा है। श्री राधा के शरीर में एक ही नहीं दो स्वर्ण पर्वत हैं। जिन्हें देखते ही तुम डर जाओगे। इसलिए तुम गर्व मत करो।

उपर्युक्त श्लोक में हितअली जी ने दोनों प्रीतम से एक साथ ही बड़ा गूढ़ और मधुर परिहास किया है। रसिकवर लाल को तो “गोपेन्द्र कुमार” [सर्वथा ही अबोध और अल्पशक्ति वाला गँवार बालक] कहकर तीखा कटाक्ष किया है और प्रिया जी से—‘लाल जी ने आपके साथ कुच केलि की है’—यह कहकर मधुर परिहास किया है।

रात्रि शैया बिहार में जिस-जिस प्रकार से श्री लाल जी ने प्रिया जी के साथ सुरतरि की क्रीड़ायें की हैं। प्रिया जी के अनुकूल किंवा प्रतिकूल होने पर रसिक प्रियतम ने जिन-जिन प्रयत्नों और जिन-जिन प्रकारों से जिन-जिन मनोरथों में सफलता प्राप्त की है;

वह सभी हितसखी जी ने निकट से देखा है। अब श्री युगलवर शैया भवन के बाहर आकर कुंज वाटिका-स्थित एक सुन्दर सिंहासन पर विराजमान है। नित्य रस के पिपासु प्रियतम की दृष्टि अब भी श्री प्रिया जी के खुले हुए वक्षोजों पर लगी हुई है। इसी समय श्री हितसखी जी ने प्रिया जी से गूढ़ परिहास पूर्ण उपर्युक्त प्रार्थना की। [श्री गोवर्धन एक-एव.....] संकेत चतुरा प्रिया जी समझ गई कि सखी ने आज रात्रि विहार के दर्शन किये हैं और अब यह इस गूढ़ व्यंग द्वारा हम दोनों का परिहास कर रही है। विशेषता तो यह है कि वह यह कह रही है कि मैं आपसे नहीं; प्रियतम से परिहास करना चाहती हूँ; कर नहीं रही हूँ। प्रिया जी ने देखा की मेरे वक्षोज खुले हुए हैं और प्रियतम की दृष्टि उन्हीं पर लगी हुई है। अतः हितसखी जी के इस गूढ़ कथन से अब वे सब कुछ अच्छी तरह समझ गई और उन्होंने अपने वक्षोजों को नीलाञ्चल से ढँक लिया।

इस श्लोक में गूढ़ व्यंजना यह है कि प्रियतम ने रात में बड़े प्रयत्न से प्रिया जी के एक वक्षोज का ही स्पर्श कर पाया है। इसीलिए अभी तक उनकी रस पिपासा शान्त नहीं हुई है और उनकी दृष्टि प्रिया जी के वक्षोजों पर लगी हुई है। श्री हितसखी जी उसी बात को प्रगट करना चाहती हैं। किन्तु उसे सबके समक्ष स्पष्ट शब्दों में न कहकर आवरण पूर्ण शब्दों में ही कह रही हैं कि हे प्रियतम ! मुझे ज्ञात है कि तुमने बड़े प्रयत्न से एक ही गोवर्धन [जैसे वक्षोज] को धारण कर पाया है। अब श्रीराधा की ओर एकटक क्या देख रहे हो ? उन्होंने अपने अंग में दो हेम-शैल धारण कर रखे हैं [मत देखो]—उन्हें देखते ही तुम भयभीत हो जाओगे।

इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वास्तविकता यही ज्ञात होती है कि श्री हिताचार्य ने आलोच्य श्लोक में 'गोवर्धन' शब्द का उल्लेख गोवर्धन पर्वत के लिए नहीं किया है; वह तो वस्तुतः श्री राधा के उरोज के लिए ही किया है। उरोज [उपमेय] के स्थान पर गोवर्धन पर्वत [उपमान] लिखकर अपने वाक्य को रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा समलंकृत किया है। आचार्य चरण ने रसिक शेखर श्यामसुन्दर के द्वारा श्री राधा के एक उरोज स्पर्श करके गर्वान्वित होने का निषेध किया है; सप्तकोसी गोवर्धन पर्वत को उठाकर गर्वान्वित होने का संकेत नहीं किया है।

## ६.११.८. विटकुल नृपति :

श्री हिताचार्य की रसरीति से सर्वथा अनभिज्ञ और शब्द ज्ञान रहित अबुधों की मान्यता है कि गो. हित हरिवंश जी द्वारा श्री कृष्ण के लिए 'विट' इत्यादि शब्दों का प्रयोग विशुद्ध एवं पूर्ण प्रेम में बाधक है।



‘विट’ शब्द का कोषगत अर्थ ‘लंपट’ होता है। लंपट लोक के अबुध और बुध समाज में निन्दनीय माना जाता है क्योंकि वह अनेक भाँवतियों के साथ रमण करता है। आश्चर्य की बात है कि श्री हिताचार्य ने ‘विट’ शब्द का अर्थ जानते हुए भी अपने रसिक शेखर श्यामसुन्दर को ‘विट’ ही नहीं ‘विटेन्द्र’ और ‘विटकुल नृपति’ कहकर प्रकीर्तित किया है।

मानव समाज में एक ही वस्तु के आस्वाद में पूर्ण आशक्त व्यक्ति को चट्टा, चटोरा, या लंपट कहकर पुकारा जाता है। जैसे—काव्य रस लंपट, मधुर रस लंपट, बतरस लंपट, अमरस चट्टा या दही चटोरा आदि। श्री हिताचार्य ने रसिक शेखर श्यामसुन्दर को एकमात्र स्वामिनी श्री राधा की अंग माधुरी और रूप माधुरी के पूर्ण अनन्य आस्वादक रूप में चित्रित किया है। एक स्थल पर उन्होंने श्यामसुन्दर का स्वरूप चित्रण करते हुए लिखा है कि—‘हे श्री राधे उन रसिक भ्रमर के नयन तुम्हारे मुख चन्द्र विम्ब पर चकोर, श्री चरण-कमल पर मधुकर, जघन-पुलिन में श्रेष्ठ खंजन, आपके रस सरोवर में मीन और आप जैसे [अद्वितीय] सुख वन में हरिण हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि उनके नयन सब प्रकार से आपके ही आश्रित हैं’<sup>१</sup>। उनके श्यामसुन्दर स्वयं ही श्री राधा के प्रति अपनी अनन्यता अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि—

कहा कहीं इन नैनन की बात।

ये अलि प्रिया-वदन-अम्बुज रस अटके अनत न जात<sup>२</sup>॥

श्री राधा रूप माधुरी के प्रति अपने प्रियतम श्याम की इस प्रकार की अद्वितीय और अनन्य लम्पटता देखकर श्री हिताचार्य ने उन्हें “श्रीराधिकां-निज विटेन्द्र<sup>३</sup>” कहकर प्रशंसित किया है। इस प्रकार का अनन्य आशक्त निन्दनीय नहीं प्रत्युत प्रशंनीय माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हिताचार्य के श्यामसुन्दर ‘विट’ ही नहीं ‘विटेन्द्र’ और विटकुल नृपति तो हैं किन्तु श्री राधा के ही निज विटेन्द्र हैं; अन्य भाँवतियों के नहीं। यही कारण है कि उनकी श्री राधा को कभी भी प्रियतम श्याम के चरणों में पड़कर यह

१. चकोरस्ते वक्त्रामृत किरणविम्बे मधुकर, स्तव श्री पादाब्जे जघन पुलिने खञ्जन वरः।

स्फुरन्मीनो जातस्त्वयि रस सरस्यां मधुपतेः, सुखाटव्यां राधे त्वयि च हरिणस्तस्य नयनम्।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २५१

२. हि. चौ., प. सं. ६०

३. [क] श्री राधिकां निज विटेन सहलपन्ती.....।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २८

[ख] रहो गोष्ठीं श्रोतुं तव निज विटेन्द्र ललिता..... विदध्याः श्री राधे मम किमधिकारोत्सव रसम्।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ७

विनती नहीं करनी पड़ती कि 'हे बिहारी जू ! रुकिये; मेरी आँखों में गुलाल क्यों डाल रहे हो ? तुम मेरी आँखों में गुलाल डालकर अपनी अन्य भाँवतियों से मिलना चाहते हो ? ऐसा मत करो, मैं तुम्हारे पैयाँ पड़ती हूँ।

### ६.११.६. निज प्राणेश्वर्या., यदि स्नेहा., राधापाद सरोज. :

कतिपय भोले भावुकों को 'राधासुधानिधि' के इन श्लोक सं. ५५, ८७ और ११७ में सखी के साथ श्री कृष्ण का रमण होना ज्ञात होता है। वस्तुतः यह उनका भ्रम ही है और इस भ्रम का मूल कारण है—गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना का ज्ञानाभाव तथा संस्कृत भाषा की वैयाकरणीय अबोधता।

श्री हिताचार्य की वाणी में रसिकशेखर श्यामसुन्दर का स्वरूप श्री राधामुखाम्बुज के अनन्याशक्त भ्रमर रूप में प्रत्यक्ष हुआ है। वे स्वयं कहते हैं कि मेरे नेत्र भ्रमर श्री राधा—मुखाम्बुज में इस प्रकार अटके हुए हैं कि कभी अन्यत्र जाते ही नहीं हैं<sup>२</sup>। इसीलिए श्री हिताचार्य ने उनको प्रीति-रीति के अप्रतिम ज्ञाता कहकर प्रकीर्तित किया है<sup>३</sup>। इसी प्रकार राधाकिंकरीगण भी श्री राधा मुख-कमल की अनन्य मधुकरी रूप में प्रत्यक्ष हुई हैं और श्री हरिवंशी सखी तो श्री राधा की परम हित चिन्तिका, पक्ष पातिनी और परम प्रिय अन्तरंगा सखी के रूप में ही दिखाई देती हैं। उन्होंने तो सुस्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा भी की है कि हमें श्यामसुन्दर के प्रिय-मिलन यत्न से भी क्या प्रयोजन है ? [.....किमीशेन श्याम प्रिय मिलन-यत्नैरपि च किम्<sup>४</sup>]। इस प्रकार की आदर्श अनन्यता धारण करने वाले [रसिक शेखर श्यामसुन्दर और राधाकिंकरीगण] कभी अपने अनन्य-पथ से विचलित हो सकते हैं—ऐसी कल्पना केवल भोले भावुकों को ही हो सकती है—विद्वज्जनों को नहीं।

आलोच्य तीनों श्लोकों में श्री राधा की निज सखी [श्री हरिवंशीसखी] की अत्युत्कट और अत्यद्भुत अनन्यता का सुचारु चित्रण किया गया है। हित सखी के साथ श्री कृष्ण कृत रमण का वर्णन नहीं। आलोच्य प्रथम श्लोक निम्नांकित है—

१. रहौ-रहौ बिहारी जू मेरी आँखिन में बूका मेलत हौ कित अन्तर होत मुख अवलोकन कौ।  
और भाँवती तिहारी मिल्यौ चाहत मिस कैं पैयाँ लागौ पन-पन कौ।.....  
— स्वा. ह. जी के प., स्वा. ह., प. सं. १०२

२. हि. चौ., प. सं. ६०

३. प्रीति की रीति रैगीलौहि जानै। यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै।।  
यमुना पुलिन निकुंजमवन में मान मानिनी ठानै। निकट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहि न आनै।।  
नश्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन-आन सौं बानै। हित हरिवंश चतुर सोई लालहि छाँड़ि मेड़ पहिचानै।।  
— हि. चौ., प. सं. ४१

४. रा. सु. नि., श्लो. सं. ११५



निज प्राणेश्वर्या यदपि दयनीये यमिति मां, मुहुश्चुम्बत्यालिंगति सुरत माध्यामंदयति।  
विचित्रां स्नेहर्दि रचयति तथाप्यद्भुत गते, स्तवैव श्री राधे पद रस विलासे मम मनः<sup>१</sup>।

उपर्युक्त श्लोक में सुस्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है कि— “यदपि श्री राधे ! इयं निज प्राणेश्वर्या दयनीया इति मां मुहुश्चुम्बति, आलिंगति, सुरत मद माध्या मदयति, विचित्रां स्नेहर्दि रचयति।”

यद्यपि— हे श्री राधे ! “यह अपनी प्राणेश्वरी की दयापात्र है”, यह सोचकर [प्रीतम] मुझको बार-बार चूमते हैं, आलिंगन करते हैं और सुरत की माध्वी से मद मत्त करने की [असफल] क्रिया करते हैं साथ ही विचित्र स्नेह-समृद्धि की रचना भी करते हैं तो भी मेरा मन अद्भुत गति आप श्री के ही चरणों के रस विलास में मग्न रहता है।

संस्कृत व्याकरण विद जानते हैं कि ‘प्राणेश्वर्या’ शब्द में षष्ठी विभक्ति है। जिसका अर्थ होता है—प्राणेश्वरी की। इस पद का यह अर्थ सोचना या बताना कि—‘मुझे अपनी दयनीया प्राणेश्वरी समझकर’—संस्कृत भाषा की वैयाकरणीय अबोधता का ही द्योतक है। यदि इस स्थल पर निम्नांकित उल्लेख प्राप्त होता तो निश्चय ही श्री कृष्ण का किसी अन्य सखी के साथ रमण होना कहा जा सकता था—

“हे हरि ! आज तुम अटपटे जैसे क्यों हो रहे हो ? पाग बन्द आदि तुम्हारे सभी वस्त्र अटपटे दिखाई देते हैं। तुम्हारे चरण भी अटपटी रीति से इधर-उधर पड़ रहे हैं। मैंने [उधर से] इधर आते हुए ही पहिचान लिया था कि तुम आज किसी और [नायिका] के हाथ में पड़ गये हो<sup>२</sup>।”

‘रमण’ स्वकीया नायिका या परकीया नायिका से ही वैध माना जाता है; दूती या नायिका की दासी से नहीं। श्लोक में उल्लिखित “प्राणेश्वर्या दयनीया इति” [प्राणेश्वरी की दयापात्री दासी है, इति] यह वाक्य ही यह कहने के लिए विवश करता है कि रसिक शेखर श्यामसुन्दर ने जो कुछ भी किया है अपनी प्राणेश्वरी की कृपापात्री से किया है; अपने प्राणेश्वरी से नहीं। क्या-क्या करते हैं ? वह सब ‘विचित्रां स्नेहर्दि रचयति’ यह वाक्य स्पष्ट कर देता है। प्राणेश्वरी श्री राधा की दासी का स्नेहभाव से आलिंगन करते हैं तथा

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. ५५

२. काहे ते आजु अटपटे हो हरि।

अटपटी पाग अटपटे से बँद अटपटी देत आगैं सरि।।

अटपटे पाँइ परत मैं परखे जब आवत हे इत ढरि।

श्री हरिदास के स्वामी श्याम जानि हौं पाये आजु लाल औरै परि।।

बार-बार हाथ और मस्तक का चुंबन करते हैं। स्नेहभाव की ये क्रियायें स्नेहपात्र-दास, दासी पुत्र, पुत्री और पौत्री आदि के साथ ही की जाती हैं।

श्लोक में यह भी उल्लेख है कि वे मुझे सुरत माध्वी से मत्त करते हैं किन्तु 'विचित्रां स्नेहर्दि रचयति' यह वाक्य यह कहने के लिए विवश करता है कि श्री कृष्ण कृत उपर्युक्त सभी क्रियायें वस्तुतः स्वारसिकी न होकर केवल बाह्य रचना मात्र ही हैं [दिखावटी या बनावटी ही हैं] क्योंकि स्नेहपात्रों दास-दासी पुत्र-पुत्री आदि के साथ सुरत रति की कोई क्रीड़ायें नहीं की जाती। श्री कृष्ण कृत सभी व्यापार प्राणेश्वरी की दासी के प्रति स्नेहभाव से प्रेरित होकर ही किये गये हैं शृंगारी रति भाव से प्रेरित होकर नहीं। श्री हिताचार्य ने 'राधासुधानिधि' के श्लोक सं. ११७ में "मोहनः श्री राधा पाद-सरोज भक्ति मचला मुद्वीक्ष्य" [रसिक मोहन; श्री राधा-चरण-कमल में उन दासियों की निष्कपट निश्चल भक्ति देखकर] इस वाक्य के द्वारा यह बात स्वयं स्पष्ट भी कर दी है। इन क्रियाओं को दिखावटी रचना मात्र कहना इसलिए भी विद्वद्जन मान्य होगा क्योंकि श्री कृष्ण कृत चुंबन-आलिंगन आदि इन व्यापारों से न तो श्री कृष्ण ही कामोन्मत्त हुए हैं और न प्राणेश्वरी की दासी ही। श्री कृष्ण कृत उपर्युक्त व्यापार केवल बाह्य रचना मात्र हैं यह कहना इसलिए भी सुबुध सम्मत होगा क्योंकि श्री हरिवंशी सखी श्री कृष्ण कृत व्यापार को गोपनीय न रखकर अपनी स्वामिनी श्री राधा से सब कह देती है। यदि यहाँ श्रीकृष्ण के साथ सखी के रमण होने का वर्णन होता तो वह कभी भी श्री राधा से इस रमण की चर्चा नहीं करती। वह स्फुट शब्दों यह भी कह देती है कि हे अद्भुत गति श्री राधे ! ऐसी स्थिति में भी मेरा मन आपके पद रस विलास में ही निमग्न रहता है—

“तथाप्यद्भुत गते स्तवैव श्री राधे पद रस विलासे मम मनः”

इसी प्रकार 'राधासुधानिधि' के श्लोक सं. ८७ में भी कतिपय भोले भावकों को श्री कृष्ण का सहचरी के साथ विहार हुआ दिखाई देता है। जबकि मूल श्लोक में स्पष्ट ही उल्लेख है कि— “यदि स्नेहात् स्वप्रेष्ठम् दिशसि.... 'कटाक्षैः आलोके'..... 'समाश्लिष्यामि'.....'तदपि'.....'त्वत् पद रसम् रसये’

हे श्री राधे ! यदि आप स्नेह वश अपने प्रीतम को [मुझे] सौंप दें तो मैं उन्हें कटाक्ष पात से देखूँगी और उनका गाढालिंगन भी करूँगी तथापि आपके ही चरणारविन्द के रस का आस्वादन करूँगी। श्लोक निम्नांकित है—

यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रति लाम्पट्य पदवी, गतं ते स्व प्रेष्ठं तदपि मम निष्ठं शृणु यथा।  
कटाक्षैरालोके स्मित सहचरैर्जात पुलकं, समाश्लिष्याम्युच्चैरथ च रसये त्वत्पद रसम्<sup>१</sup>।



आश्चर्य की बात है कि 'यदि' 'तदपि' और 'त्वत्पदरसं रसये' ये शब्द स्पष्ट ही घोषणा करते हैं कि न तो श्री राधा ने सखी के लिए स्व प्रेष्ठ श्याम को सौंपा ही है और न सखी ने रसिकशेखर श्याम का आलिंगन ही किया है। सखी ने तो अपनी अत्युत्कट अनन्य निष्ठा को सप्रमाण सत्य करने के उद्देश्य से श्री राधा से यह प्रार्थना की है कि यदि आप कभी भविष्य में इस प्रकार से परीक्षा करें तो भी मेरा मन आपके पद रस का ही आस्वादन करेगा।

'राधासुधानिधि' के श्लोक सं. ११७ में भी भोले भावुकों को सखी के साथ श्री कृष्ण का रमण दिखाई देता है। जबकि वास्तविकता यह है कि आलोच्य श्लोक में श्री हिताचार्य द्वारा श्यामसुन्दर की दासी वत्सला प्रकृति—“श्री राधा की अनन्य निष्ठ दासियों के प्रति श्री राधा की भाँति ही स्नेह पूर्वक आलिंगन-चुम्बन करने की प्रकृति” का समुद्गान और श्री राधा-चरण-कमलों में अपनी निष्कैतव प्रीति—‘अनन्य निष्ठा’ को सत्य प्रमाणित करने की प्रार्थना—वनमालोपलब्धि की अभिलाषा अभिव्यक्ति-व्याज से की गई है—

श्री राधा-चरण-कमलों में अचल भक्ति [कभी भी किसी प्रकार से विचलित न होने वाली अनन्य निष्ठा] देखकर। [दासियों का रूप सौन्दर्य, लावण्य, माधुर्य देखकर और सुरत रति से प्रेरित होकर नहीं] श्री राधा की भाँति ही श्यामसुन्दर भी [जिस प्रकार अन्य दासियों का] आलिंगन-चुम्बन करते हैं, मुझे अपना चर्बित पान मुख में देकर अपनी वनमाला भी मेरे कण्ठ में कब डालेंगे ?

राधा पाद सरोज भक्तिमचला मुद्वीक्ष्य निष्कैतवां।

प्रीतः स्वं भजतोपि निर्भर महा प्रेम्णाधिकं सर्वशः।

आलिङ्ग्यथ चुम्बति स्ववदनात्ताम्बूलमास्येर्पयेत्।

कण्ठे स्वां वनमालिकामपि ममन्यस्येत्कदा मोहनः<sup>१</sup>।

उपर्युक्त श्लोक में सुस्पष्ट शब्दों में उल्लेख है कि श्री राधा-चरण-कमलों में अचला भक्ति देखकर उन सखियों का आलिंगन-चुम्बन करते हैं। यहाँ पर विशेष ध्यान देने की बात यह है कि रसिक मोहन का यह सब कार्य उन सखियों का रूप लावण्य और सौन्दर्य देखकर सुरत रति से प्रेरित होकर नहीं किया गया है। श्री कृष्ण के द्वारा दासियों का आलिंगन-चुम्बन वत्सला रति किंवा स्नेह भाव से प्रेरित होकर श्री राधा की प्रिय दासी के प्रति किया गया है जैसा कि श्रीराधा किया करती हैं या सभी स्वामी तथा स्वामिनी अपने दास-दासियों का किया करते हैं और जैसा कि श्री हिताचार्य द्वारा उद्गीत इसी श्लोक के प्रथम चरण —“राधा पाद सरोज भक्ति मचला मुद्वीक्ष्य” [श्री राधा-चरण-कमल

में अचल भक्ति देखकर ] इस वाक्य से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। अतः स्पष्ट ही है कि आलोच्य श्लोक में न तो सखी के साथ श्रीकृष्ण का रमण ही वर्णन है और न रमण करने की कामना ही व्यक्त की गई है।

यहाँ पर एक शुद्ध विचारक यह प्रश्न भी कर सकता है कि श्री राधा पदैक निष्ठ और श्री हितसखी वपु आवेशित श्री हिताचार्य ने रसिक मोहन-मुख-चर्बित पान और प्रसादी वनमाला प्राप्ति की अभिलाषा ही क्यों की ? किन्तु इस प्रश्न का उत्तर भी सहज और सर्वगम्य है। श्री हरिवंशीसखी श्रीराधा की सर्वतोभावेन अनन्यदासी हैं<sup>१</sup>। उन्होंने हरे तृण की सौगन्ध खाकर यह घोषणा की है कि मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा ही हैं<sup>२</sup>।

“रसिक शेखर श्यामसुन्दर मेरी स्वामिनी श्री राधा के प्राणनाथ हैं”—इस भाव संबंध के साथ ही उनमें मेरी रति है<sup>३</sup> [ कान्ता भाव से नहीं ] इतना ही नहीं स्वयं श्यामसुन्दर भी अपनी प्रियतमा श्री राधा से संगम के लिए इन हितसखी के चरणों में नित्य निपतित होते रहते हैं और दाँतों में तृण दबाकर अनुनय-विनय पूर्ण वचनावली कहते रहते हैं<sup>४</sup>। श्यामसुन्दर और हितसखी के इस स्वरूपालोक में यह कहना कि हितसखी श्यामसुन्दर के मुख चर्बित पान और प्रसादी वनमाला पहिनने के लिए लालायित हैं; एक क्लिष्ट कल्पना मात्र ही होगी। प्रश्न का निरापद उत्तर यही है कि हितसखी जी ने रसिक मोहन मुझे वनमाला कब देंगे ? [ कदा स्याम् वनमालिकामपि न्यस्येत् ] पान कब देंगे ? [ ताम्बूलम् अर्पयेत् ] इस कथन के माध्यम से यह अभिलाषा व्यक्त की है कि हे श्री राधे ! आपके प्रीतम आपके चरण-कमलों में अचल भक्ति रखने वाली दासियों को आलिंगन करते हैं, चुम्बन करते हैं, पान देते हैं, और वनमाला देते हैं; इसी प्रकार मुझे भी पान और वनमाला देकर यह प्रमाण पत्र कब देंगे कि तुम [ हित सखी ] श्री राधा-पाद सरोज में अचल भक्ति रखने वाली अनन्य निष्ठ हो। श्री हिताचार्य के इन श्लोक सूत्रों का अवलम्ब पाकर उन्हीं के शिष्य प्रबोधानंद जी सरस्वती पाद ने भी हितसखी का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि कभी श्याम और कभी श्यामा उस विशिष्ट सखी को अपनी प्रसादी माला, वस्त्र और भूषणादि दे देते हैं जिन्हें धारण कर वह महा मोहनी होती रहती है। इस प्रकार जुगल किशोर भी उसका आदर करते हैं—

प्रेष्ठ द्वन्द्व प्रसाद स्रग् वस्त्र भूषादि मोहिनीम्।

महा विनय सौशील्याघनेकाश्चर्य सदगुणाम्॥

१. रा. सु. नि., श्लो. सं. २४०

२. रहौ कोऊ काहू मनहिं दियैं। मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा सपथ करौ तृण छियैं।

— स्फु. वा., प. सं. २०

३. ४. रा. सु. नि., श्लो. सं. १४१, २१८, प्र. पृ. सं. ३५५, ३६४



श्री श्वरीदृष्टिवागादि-सर्वेक्षित विचक्षणाम्।

श्री कृष्ण दत्त ताम्बूल-चर्बितां तत्त दादृताम्<sup>१</sup>॥

चाचा वृन्दावनदास जी ने आचार्य चरण की उपर्युक्त सुभावना को दीपोत्सव की एक लीला वर्णन प्रसंग में निम्नांकित शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

इहि रस विलसौ सदा असीस सखीन सुनाई।  
तबहि हरषि दई लाल माल-बीरी जु मैगाई॥  
ऐन दिवारी जानिकैं हो मानि बड़ौ त्यौहार।  
दीनी सखिन बुलाइकैं हो अति उदार रिझवार॥  
पिय दीये हैंसि पान प्रिया मृदु मुसकि निहारी।  
पूरि गई छवि सदन मनहुँ शशि कोटि उजारी॥  
लखि विहँसी हितसहचरी हो ज्यों निधनी निधि पाइ।  
प्रेम छकीं दुलरावहीं हो गावहिँ सुजश मल्हाइ<sup>२</sup>॥

उपर्युक्त विशद विवेचना का सारांश यह है कि 'राधासुधानिधि' के श्लोक सं ५५, ८७ और ११७ में श्रीकृष्ण का राधा-दासी के साथ न तो रमण होने का ही वर्णन है और न सखी द्वारा रमण की कामना ही की गई है प्रत्युत श्री राधा-चरण-कमलों में हितसखी की अचला भक्ति—अत्युत्कट और अत्यद्भुत अनन्यता का सुचारु चित्रण है।



१. वृ. म., प्र. स., अष्टम शतक, श्लो. सं. ३१, ३२

२. पदा., दीपोत्सव, चा. वृ. दा., प. सं., ३, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २१६



सर्वाद्य रसिकाचार्य गोस्वामी श्रीहित हरिवंशचन्द्र





## सप्तम अध्याय

### रसभक्ति-आविर्भावक : गो. श्रीहित हरिवंश

रस भक्ति-आविर्भावक गोस्वामी श्रीहित हरिवंश जी सोलहवीं शताब्दी में आविर्भूत विभूतियों में से एक अन्यतम विभूति थे। इन्होंने अपने अद्भुत चरित्रों और आचरणों द्वारा उपासना किंवा भक्ति के क्षेत्र में, काव्य के क्षेत्र में और संगीत के क्षेत्र में क्रान्तिकारी मोड़ दिये थे। तत्कालीन रसिक समाज तथा साधु समाज में ये 'श्रीजू' या 'श्रीजी' 'हित जू' या 'हिताचार्य' के नाम से सुविख्यात थे। इनके लोक जीवन से सम्बन्धित ऐसी विपुल सामग्री प्राप्त है जो उनके जीवनवृत्त को चिरकाल तक आलोकित करती रहेगी। प्राप्त सामग्री और प्राप्ति स्थान निम्नांकित हैं—

१[क] श्रीजू जो रस प्रगट कर्छौ ता रस उपासना में कछु न मिलै।.....

— ब्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. धु. दा.

[ख] श्रीजू करुना खान दान यहै गुहि दीजिये। श्री मुख कर्छौ वखान राधासुधानिधि घ्याइयै।

— रा. सु. नि. टी., टी.—तु. दा., प्रारंभिक दोहे

[ग] श्रीजी जब निज धाम पधारे।.....

— हि. कु. शा., ज. कृ. दा., निकुंज गमन प्रसंग, छं. सं. १६८



१. अन्तःसाक्ष्य—

‘राधासुधानिधि’, ‘हित चौरासी’, ‘स्फुट वाणी’, ‘श्री मुख पत्री द्वय’ ।

२. बहिसाक्ष्य—

बादग्राम में प्राप्त—

जन्म स्थान, तत्कालीन प्राचीन वट के स्थान पर नवीन वट वृक्ष, भावुक कृष्णदास की वह कुटी जिसमें उन्हें श्री हरिवंश के बाल रूप में दर्शन हुए थे । जन्मकालीन विशाल सरोवर का भग्नावशेष जिसका जीर्णोद्धार राजा टोडरमल ने कराया था ।

देववन में प्राप्त—

“हरिवंश चह” [वह कुआ जिसमें से सेव्य स्वरूप श्री रंगीलाल जी को निकाला था ।] रंगीलाल जी का श्री विग्रह, हरिवंश भृत्य नाहरमल कायथ की प्राचीन हवेली का जीर्णशीर्ण द्वार जिसमें उल्लिखित है—‘हरिवंश भृत नाहरमल कायथ’ ।

वृन्दावन में प्राप्त—

श्री राधाबल्लभलाल जी के चार मन्दिर<sup>१</sup>, हित घाट, श्री हरिवंश जी का प्राचीन निवास स्थल,—जिस स्थल पर उनके चतुर्थ पुत्र गो. मोहनदास जी का जन्म हुआ था और वर्तमान में जिस स्थल पर गो. मोहनदास जी के वंशज निवास करते हैं । कोइलिया

१. श्री राधाबल्लभलाल जी कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी वि. सं. १५६० से कार्तिक शुक्ला द्वादशी वि. सं. १५६१ तक रविजा तटस्थ एक लता भवन [वर्तमान नाम-कोइलिया घाट, वृन्दावन] में विराजे । इसीस्थल पर सर्वप्रथम मंदिर-जो श्री हिताचार्य के वृन्दावनागमन काल के निकट पश्चात् ही उन्हीं के शिष्य नरवाहन जी द्वारा [श्री हिताचार्य के ही निज भवन-कोइलिया घाट पर] निर्मित कराया गया और जिसमें कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी वि. सं. १५६१ में श्री राधाबल्लभलाल जी का सर्वप्रथम पाटोत्सव किया गया था । पचास वर्ष तक श्री राधाबल्लभलाल जी इसी मंदिर में विराजमान रहे । द्वितीय मंदिर-जो गो. वनमालीदास जी के सेवाधिकार काल में गो. गोपीनाथ जी के शिष्य और अब्दुल रहीम खानखाना के दीवान सुन्दरदास कायस्थ ने वि. सं. १६३६ से १६४१ के मध्य निर्मित कराया था । लाल प्रस्तर का यह प्राचीन मंदिर आज भी विद्यमान है । वि. सं. १७२६-२७ में मुस्लिम शासक औरंगजेब द्वारा इस मंदिर को अत्यन्त क्षति पहुँचाई गई । वि. सं. १७२६-१७२७ से लेकर वि. सं. १८४१ तक श्री राधाबल्लभलाल जी ब्रजस्थ कामवन के एक मंदिर में विराजमान रहे । तृतीय मंदिर-जो गो. रुपलाल जी के शिष्य रुपराम कटारे द्वारा वि. सं. १८४०-४१ के मध्य अपनी निजी हवेली के रूप में निर्मित कराया गया था—कामवन से वृन्दावन लौटने पर श्री राधाबल्लभलाल जी इसमें भी एक वर्ष विराजमान रहे । वृन्दावन में आज यह स्थल भट्ट जी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है । चतुर्थ मंदिर-जो लल्लू भाई गुजराती द्वारा वि. सं. १८४१-४२ के मध्य निर्मित कराया गया । यह मंदिर लाल पत्थर वाले प्राचीन मंदिर के अति सन्निकट है और वर्तमान में श्री राधाबल्लभलाल जी इसी मंदिर में विराजमान हैं ।

घाट [कोरिया घाट] से लेकर तीर घाट [चीर घाट] तक के उन प्राचीन स्थलों के भग्नावशेष, जिन पर अठारहवीं शती तक राधाबल्लभीय व्यक्तियों का अधिकार था। तीर फेंकने तथा तीर गिरने का स्थान। सेवाकुंज, वंशीवट, धीरसमीर, रासमण्डल, शृंगारवट, वन विहार, मानसरोवर आदि लीला स्थल जिन्हें श्री हिताचार्य ने प्रकट किया था।

रसिक वाणी ग्रन्थों में प्राप्त—

सेवकवाणी, कृष्णचन्द्र जी गो. की वाणी, प्रबोधानंद जी की वाणी, व्यास वाणी, हितध्रुव वाणी, अनन्यअली जी की वाणी, अतिबल्लभ जी की वाणी, [ हित जन्म बधाई ] चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'श्री हरिवंश सहस्रनाम' तथा 'इष्ट पद बंदन बेली', आदि।

रसिक चरित्र ग्रन्थों में प्राप्त—

श्री हरिवंश चरित्र [उत्तमदास कृत] हित कुल शाखा [जैकृष्णदास जी कृत] रसिक अनन्य माल [भगवत मुदित जी कृत] रसिक अनन्य सार [गो. जतनलाल जी कृत] भक्त गाथा [गोविन्दअलि जी कृत] बसंत प्रबंध एवं हित परिकर वन्दन पत्रिका [चाचा वृन्दावनदास जी कृत] वृन्दावन धामानुरागावली [गोपाल कवि कृत] तथा हित हरिवंश चरित्र आदि। इन वाणी-ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर हम प्रबंध के प्रथम प्रकरण में प्रकाश डाल चुके हैं। इसी उपर्युक्त प्राप्त सामग्री के आधार पर हम आगे के पृष्ठों में श्री हिताचार्य के इहलोक जीवन पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

## ७.१. जन्मस्थान, जन्मतिथि, जननी-जनक और जाति :

सेवक जी ने श्री हिताचार्य का जन्म स्थान मथुरा मण्डलस्थ बादग्राम, जन्म तिथि बैशाख शु. एकादशी, माता का नाम तारा, पिता का नाम व्यास और जाति का नाम मिश्र संज्ञक ब्राह्मण लिखा है—

मथुरा मण्डल भूमि आपनी। जहाँ बाद प्रगटे जग धनी॥  
शुभ बासर शुभ ऋक्ष विचार। माधव मास ग्यास उजियार॥  
तारा जननि जनक ऋषि व्यास।.... व्यास मिश्र कौ लाड़िलौ॥  
जै जै श्री हरिवंश चन्द्र द्विजवर कुल मण्डन॥.....

श्री हिताचार्य के लोक जीवन पर प्रकाश डालने वाले परवर्ती सभी रसिकों ने भी श्री हरिवंश के जन्म स्थान, जन्म तिथि, जाति, जननी और जनक के नाम वही लिखे



हैं जो सेवकवाणी में उल्लिखित हैं।

[क] श्री मद् व्यास कुले रसाब्धि कुल केशं दायि कल्पेयमं।  
घृत्वाचार्य वपु विर्माति सततं ध्यायामि वैयासिकिं॥

— वै. अ., कृ. च. गो., श्लो. सं. ८

स्फुरद वदन पंकज.....जयति साधु वैयासिकी।

— क., कृ. च. गो., श्लो. सं. ४

यच्छद्दालव ललितं हृदयं जानाति तत्त्वमाविलष्टम्। तस्य हरेः पद कमलं वन्दे तारोदराब्धि रत्नस्य॥

— क., कृ. च. गो., श्लो. सं. ९

[ख] त्वमसिहि हरिवंश श्याम चन्द्रस्यवंश.....। अनुपम गुण रत्नै निर्मितोऽसि द्विजेन्द्र॥

— हरि., प्र. स., श्लो. सं. ९

तदति कुतुक कुंजे भावलब्धालि मूर्तिः। सजयति हरिवंशो व्यासवंस प्रदीप॥

हरि., प्र. स., श्लो. सं. ६

[ग] जीवद मिश्र भये जग पावन। तिनके हिमकर तपन नसावन॥

तिनके सुत नव नव योगेश्वर। तिन मधि व्यास मिश्र अखिलेश्वर॥

तिनके सुत भये श्री हरि आप। वंश सहित जग अमित प्रताप॥

प्रगट भये श्री हित हरिवंश। परिकर जुत अंसनि के अंश॥

— म. ध्या. प., अ. ब. दा., छं. सं. ३५ से ३७, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ३

[घ] श्री जमुना तट गोकुल सोहै। इत रावल सबकौ मन मोहै॥

उत श्री बाद अवनि वर राजै। सरवर प्रेम सु कूप विराजै॥

वट प्रकाश की सुन्दरताई। इक रसना करि वरनि न जाई॥.....

तहँ प्रगटे हरिवंश जू रसिक मुकटमणि लाल। कर्म ज्ञान खण्डन करन प्रेम भक्ति प्रतिपाल॥

देवन नगर प्रसिद्ध विराजै। व्यास मिश्र द्विज कुल मधि राजै॥

व्यास घरनि श्री तारारानी। गर्म धर्यौ छवि अद्भुत बानी॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ५९ से ५५, ४, ४४

[ङ] वट प्रकाश तहँ संतत राजै। सुमग सरोवर कूल विराजै॥

उत गोकुल इत रावल राजै। इत श्री बाद अवनि छवि छाजै॥

ऐसहि व्यास मिश्र घर जानौ। महा महोत्सव आदि समान्यौ॥.....

धनि-धनि श्री ऋषिराज की रानी। तारारानी गुननिधि गानी॥

तिन पायौ कुल मंडन पूत। जाकी जग जगमगति विभूति॥

रितु बसंत पुजई अभिलाष। परम पुनीत मास बैशाख॥

शुक्ल पक्ष की ग्यास सुहाई। चन्द्रवार कल कीरति गाई॥

— हि. कु. शा., ज. कृ. दा., छं. सं. ३, ४, ६, १०, १२, १३

[च] मथुरा रावल रविजा तट में। बसे विचारि जु बाद निकट में॥

थल एकान्त कुण्ड वट जहाँ। गोकुल निकट बाद पुर तहाँ॥

बन्दी अति शुभ माघी मास। मंगल कियौ शुक्ल पक्ष ग्यास॥

— हि. प. व. प., चा. वृ. दा., छं. सं. ११ से १३

श्री हिताचार्य के जन्मस्थान बादग्राम में कुछ ऐसी पुरातात्विक सामग्री भी सुरक्षित है जो कि इस बात की साक्षी देती है कि इस बादग्राम में श्री हिताचार्य का जन्म हुआ था। प्रायः सभी चरित्र लेखकों ने श्री हरिवंश चरित्र वर्णन सन्दर्भ में जन्मस्थान के निकट वट वृक्ष और सरोवर होने का उल्लेख किया है। उस सरोवर का भग्नावशिष्ट रूप आज भी बादग्राम में जन्मस्थान के निकट विद्यमान है। उस समय का प्राचीन वृक्ष तो समूल नष्ट हो गया है। किन्तु उसके स्थान पर नवीन वट वृक्ष लगा दिया गया है।

बाद ग्राम में जन्म स्थल पर श्री हरिवंश जन्मोत्सव मनाने का शुभारंभ करने वाले रसिक भावुक कृष्णदास जी को जिस भजन कुटी में श्री हरिवंश के बाल रूप के दर्शन हुए थे; वह कुटी भी विद्यमान है। रसिक समाज की मान्यता है कि वे इसी कुटी में भजन किया करते थे; उन्हें जिस समय श्री हरिवंश के बाल रूप के दर्शन हुए थे उसी समय उन्होंने एक पद रचना द्वारा उस रूप का वर्णन किया था। वह पद निम्नांकित है—

देखि री देखि बलि व्यासनंदन बन्यौ, सन्यौ सुख सियरौ हियरौ सिरावै।  
गौर सो वरन मुख अरुन अम्बुज-नयन, बैन मधुरियौ जियरौ जिवावै॥  
पाग रँगमगी जगमगी कलँगी थिरकि, केश कुंचित चिलक तिलक रोरी।  
बंक भृकुटी जुटी छुटी गुन्थित अलक, चपल कुंडल झलक चित्त चोरी॥  
दिपत नासा सधर अधर दसनावली, मधुर मुसिकान थहरान मोती।  
रहत राच्यौ सुधा-सिन्धु मधु माधुरी, क्यों न नाचै वदन चन्द गोती॥  
झीनों वसन केसरी पीन अंशन करी, रेख चन्दन फूल माल पहिरैं।  
देखि प्रतिविम्ब दुति उर उजागर ज्योंऽव, सुभग सागर उमगि लेत लहरैं॥  
फबे मोतिन झबे बाहुँ दुहुँ करन मन, हरन चूरन चुनी चुरनि सोहैं।  
खीन कटि किंकिनी कोर कंचन कनी, झीन धोती चीन मुरनि सोहैं॥  
बाजत नूपुर चरन धरत भू पर लसत, हँसत आवत बरसगाँठ कीरैं।  
बैठि गावत कृष्णदास की कुटी में, परन पंचम सरस सुरनि लीरैं॥

## ७.२. जन्मस्थल [बादग्राम] का ऐतिहासिक परिचय :

यह ग्राम मथुरा नगर से दक्षिण पूर्व लगभग बारह किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। ब्रज के इस ग्राम में श्री कृष्ण ने कौन सी लीला की थी; ये तो अज्ञात है किन्तु यह सर्वजन ज्ञात है कि यह बादग्राम उस कोले ग्राम के अति निकट पार्श्व में बसा हुआ है जिस स्थान पर श्री वसुदेव जी ने गोकुल जाते समय यमुना पार की थी और



यमुना जल आकण्ठ पहुँचने पर श्री कृष्ण की रक्षा करने के लिए—‘कोउ लै कोऊ लेउ’ की टेर लगाई थी। श्री कृष्ण लीला से जुड़ी इस घटना के कारण ही वह स्थल आज ‘कोले’ ग्राम के नाम से विख्यात है। इस ग्राम में श्री कृष्ण ने कोई लीला की थी या नहीं? यदि की थी तो कौन सी लीला की थी? यह अज्ञात है। ब्रज चौरासी कोस में स्थित सभी ग्रामों में श्री कृष्ण की लीलायें अवश्य ही हुई थीं—ऐसा कहने का कोई आधार भी नहीं है; क्योंकि श्री कृष्ण की लीलायें और लीलास्थल सुनिश्चित और कृष्ण भक्ति ग्रन्थों में वर्णित हैं। गाजीपुर, अकबरपुर, शेरगढ़, कोसी, पानीगाँव, अडीग, सतोहा, डीग, नरीसेमरी, कमई, करहला आदि-आदि अनेक ग्राम हैं जिनमें श्री कृष्ण की कोई लीला नहीं हुई है; फिर भी ये सब ग्राम ब्रज के ही ग्राम माने जाते हैं। क्योंकि ये सब ब्रजमण्डल की सीमा में स्थित हैं। इसी प्रकार यह बादग्राम भी ब्रजमण्डल की सीमान्तर्गत स्थित है। पुष्टि मार्गीय यात्रा वर्णन में बाद गाँव के पार्श्व में स्थित भैंसा गाँव को भी ब्रज के ग्रामों में परिगणित किया गया है<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य के पिता व्यास जी सपरिवार देववन में निवास करते थे। वे ब्रज दर्शन करने के उद्देश्य से सपरिवार ब्रज में आये थे<sup>२</sup>। तारा रानी की प्रसव पीड़ा के कारण उन्हें विवशतः बादग्राम में ही रुकना पड़ा था। जहाँ पर श्री हित हरिवंश का जन्म हुआ। श्री हित जन्म बधाई गायकों ने भी इसे ब्रज मंडलस्थ कहकर प्रकीर्तित किया है<sup>३</sup>।

१. दे.—कवि जगदानन्द विरचित गुसाँई जी की वन यात्रा

२. पृथ्वीपति के संग पुनि रहत व्यास जी नित। कुटुम सहित ब्रज भूमि कौ देखत हरषत चित्त॥  
उत जमुना तट गोकुल सोहै। इत रावल सबकौ मन मोहै॥

उत श्री बाद अविनि वर राजै। सरवर प्रेम सु कूप विराजै॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ५० से ५२

ब्रज दरस हेत जब चाह्यौ। विप्रराज मन विपुल उमाह्यौ॥

चले भुव देव कुटुम लै संग। ब्रज दरशन अमिलाष उमंगा॥

— पदा., हित जन्म बधाई, चा. वृ. दा., प. सं. १५

३[क] प्रगटे श्री हरिवंश चन्द्र तहाँ चलौ बधाई बाजै। सर्वोपरि ब्रजभूमि विदित श्रुति बाद अनादि विराजै॥

— पदा., हित जन्म बधाई, कु. ला. गो., प. सं. १

[ख] श्री हरिवंश चन्द्र परिपूरण्य कलंक नित्यं विश्व विनाशित तन्द्र ब्रजभूमि माथुरे मण्डले बाद नाम सु ग्रामे। माधव मासि एकादशी दिवसे शुभ वारे शुभ जामे॥

— सं. गी., गो. ब्र. ला., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २

[ग] प्रगटे श्री हरिवंश गुसाँई। बादग्राम अनिराम धाम घर ब्रज की भूमि सबनि सुखदाई॥

— पदा., हि. ज. व., गो. ब्र. प., प. सं. १

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

इस स्थान पर चिर पूर्व काल से राधाबल्लभीय विरक्त साधुगण निवास करते चले आ रहे हैं। वर्तमान में यहाँ पर एक मन्दिर भी बना हुआ है जिसे श्री गंगादास जी [उपनाम हित प्रसाद] नामक महात्मा की आज्ञा से लखनऊ निवासी सेठ लाड़िलीदास ने बनवाया था<sup>१</sup>।

### ७.३. जननी-जनक का सूक्ष्म परिचय :

श्री हिताचार्य के पिता श्री व्यास मिश्र तथा उनके पूर्वज चिरकाल से देववन के निवासी थे<sup>२</sup>। मिश्र जी आयुर्वेद, ज्योतिष शास्त्र, स्मृति तथा पुराणों के ज्ञाता थे। उनकी अप्रतिम विद्वत्ता से प्रभावित होकर तत्कालीन दिल्लीश्वर ने उन्हें चार हजार की मनसबदारी प्रदान करके सम्मानित किया था<sup>३</sup>।

श्री हिताचार्य की माता का जन्म ब्रजस्थ इन्दी विन्दी या इन्दरौली ग्राम निवासी एक धनाढ्य परिवार में हुआ था। चाचा वृन्दावनदास जी ने इन्दी नगर [इन्दी विन्दी या इन्दरौली] ग्राम निवासी विप्रराज द्वारा अपने दौहित्र हित हरिवंश के जन्म काल

पिछले पृष्ठ का शेष टिप्पणी भाग —

[घ] पुत्र भयौ द्विजरानी के सुन्दर सोहनौ। हेली प्रगद्यौ है ब्रज बनितनि गन मन मोहनौ॥

— पदा., हि. ज. ब., कृ. दा. भा., प. सं. १५

[ङ] नमो-नमो ब्रज बाद बटेसुर। राधा-हरि हिय हित मूरति जहँ जनमे श्री हरिवंश जगतगुरु॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., प. सं. ११३

[च] ब्रज में बाद ग्राम अति सोहै। अति सुरम्य सबकौ मन मोहै॥

तहाँ प्रगट भये श्री हरिवंश। रसिकराज रसिकन अवतंश॥

— श्री ह. च., म. मो. दा., ह. लि. प्र., पृ. सं. २

१. हितप्रसाद हित पद सुरति बसि श्री बादग्राम। रज सु कृपा करिकें मिली पुनि पहुँचे श्री घाम॥  
करत बघाई उमगिकें श्री हित पद विश्वास। धन खर्चत हैं वर्ष प्रति हर्षत लाड़िलीदास॥

— हि. च. प्र., प्री. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १३७

२. परम्पराइ वास श्री देवन। रानी जग जानी श्री रुकमिनि॥

— हि. कु. शा., ज. कृ. दा., छं. सं. १४

३. देवन नगर प्रसिद्ध विराजै। व्यास मिश्र द्विज कुल मधि राजै॥

पंडित गुन अपार न प्रमान। हय गय संपति नृपति समान॥

देश-देश मधि सुयश अपारौ। पृथ्वीपति लौं जाइ प्रकाशयौ॥

बहु आदर सौं बोलि पठाये। नृप कौं मिलन मिश्र जी आये॥

जोतिष आगम वैद्यक वेद। स्मृत पुरानन हू के भेद॥

तब सब गुनन परीक्षा लीनी। चार हजारी की निधि दीनी॥

— श्री ह. च. उ. दा., छं. सं. ४, ७, ८, ६, ११, १२



में छोछक भेजे जाने का उल्लेख किया है<sup>१</sup>।

### ७.४. जन्मकाल : अनुसंधानालोक में :

सेवक जी ने श्री हिताचार्य के जन्मकाल तथा उस समय के देशाधिपति का नामोल्लेख न करके केवल इतना ही संकेत किया है कि उस समय धर्म विरोधी म्लेच्छों के शासन से भारतीय जनता सब प्रकार से अत्यन्त दुखी थी<sup>२</sup>। श्री हरिवंश चरित्र के लेखक उत्तमदास जी ने श्री हिताचार्य का जन्म काल वि. सं. १५५६ लिखा है<sup>३</sup>। अन्य अनेक रसिकों द्वारा प्रणीत चरित्र ग्रन्थों तथा हित जन्म बधाई के पदों में भी यही जन्मकाल उल्लिखित किया गया है<sup>४</sup>। गो. ब्रजलाल जी [विद्यमानकाल वि. सं. १७१५-१७८५] द्वारा लिखित एक ऐतिहासिक प्रपत्र में भी श्री हिताचार्य का जन्मकाल १५५६ ही उल्लिखित है। यह ऐतिहासिक प्रपत्र उन्हीं के वंशज गो. बसंतलाल जी [बड़वाला मोहल्ला, वृन्दावन] के यहाँ सुरक्षित है।

१. बहिन उदैसिर नाम झगरि लीयौ मन भायौ। इन्दी नगर नरेश विप्र छोछक जु पठायौ॥  
पीहर तारारानी सुनत सहोदर आयौ। तिन पुर जन परिवार परम हित सौं पहिरायौ॥

— श्री ह. स., चा. वृ. दा., छं. सं. ४२, ४३

२. उदवस विश्व भयौ सब देश। धर्म रहित मेदिनी नरेश। म्लेच्छ सकल पुहुमी बड़े॥  
धर्म रहित जानी सब दुनी। म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी। धनी और दूजौ नहीं॥

— से. वा., हित जस विलास प्रथम प्रकरण, छं. सं. ४, ५

३. पन्द्रहसै उनसठ संवतसर। वैशाखी सुदि ग्यास सोमवर॥  
तहाँ प्रगटे हरिवंश हित रसिक मुकट मणिलाल। कर्म ज्ञान खण्डन करन प्रेम भक्ति प्रतिपाल॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ५४, ५५

४[क] पन्द्रहसै उनसठ सम्वत कौ। माघव मास ग्यास जग हित कौ॥  
प्रगट भये श्री हित हरिवंश। परिकर जुत अंशनि के अंशि॥

— मं. घ्या. प., अ. ब. दा., छं. सं. ३७, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ३

[ख] सम्वत समय सहज है आई। पन्द्रहसै उनसठ सुखदाई॥  
रितु बसंत पुजई अभिलाषा। परम पुनीत मास वैशाखा॥  
शुकल पक्ष की ग्यास सुहाई। चन्द्रवार कल कीरति गाई॥

— हि. कु. शा., ज. कृ. दा., छं. सं. ५, ६

[ग] आजु परम उत्साह श्री व्यास जू महाराज धाम कीनौ। श्री राधाबल्लमलाल आपुही स्व प्रकाश।  
कुल परंपरा सेव्य ये ताते सुप्रसन्न धनि-धनि बाद अनादि भूमि यह मथुरा निकट जु दक्षिन  
पूरब- पुनि पन्द्रहसै उनसठ संवत्सर मधुरितु माघव ग्यास उजारी सु दसौ दिशि सुजश उजास।

— पदा., हि. ज. ब., मधु., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २

[घ] तिनके सुत मे हित हरिवंशा। परम भागवत हरि के अंशा॥  
पन्द्रहसै उनसठ परमाना। एकादशि माघौ मास वखाना॥  
प्रगट भये हित जू तब आई। प्रेम भक्ति अविचल तिन्ह गाई॥

— नि. प्र., नि. दा., [सेवासखी जी के शिष्य] रचनाकाल वि. सं. १७५५ के लगभग

राधाबल्लभ सम्प्रदाय के एक वर्ग की ऐसी भी मान्यता है कि हिताचार्य का जन्मकाल वि. सं. १५३० वैशाख शु. ११ सोमवार है। इस मत के जन्मदाता प्रियादास जी शास्त्री पटना वाले हैं। शास्त्री जी ने अपने 'महोत्सव निर्णय' [रचना काल वि. सं. १६१३] नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम यह उल्लेख किया है कि—“श्री हित हरिवंश जी के पुत्र कृष्णदास गो. ने लिखा है कि उनका प्रादुर्भाव समय वि. सं. १५३० वैशाख शु. ११ सोमवार है<sup>१</sup>।” इसी आधार को पाकर प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियों में उल्लिखित जन्म सम्वत् १५५६ पर हड़ताल लगाई गई और उस स्थान पर १५३० लिखा गया है। इतना ही नहीं तत्कालीन तथा परवर्ती लेखकगण भी जन्म सं. १५३० सिद्ध करने का प्रयास भी करने लगे; किन्तु अन्य सम्प्रदानुयायी विद्वान तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक श्री हित हरिवंश का जन्मकाल वि. सं. १५५६ ही लिखते रहे।

लेखक ने गो. कृष्णचन्द्र जी द्वारा विरचित 'कर्णानन्द', 'राधानुनय विनोद महाकाव्य', 'उपसुधानिधि', 'आशास्तव', 'वैयासिकी अष्टक', 'मानाष्टपदी [प्रथम-द्वितीय] आदि सभी ग्रन्थों की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का अनेक बार गहन अध्ययन किया; किन्तु शास्त्री जी द्वारा कृष्णचन्द्र जी के नाम से उल्लिखित श्री हिताचार्य का जन्म संवत् संबंधी श्लोक, कहीं भी नहीं प्राप्त हुआ। शास्त्री जी से पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थकार ने भी अपने ग्रन्थ में इस श्लोक को उद्धृत नहीं किया है।

आलोच्य श्लोक गो. कृष्णचन्द्र जी कृत नहीं प्रत्युत सुनिश्चित रूप से काल्पनिक है—ऐसा कहने का दूसरा कारण यह भी है कि श्री हिताचार्य का जन्म संवत् १५५६ मानने वाले तथा १५३० मानने वाले दोनों पक्षों को बैशाख शु. एकादशी तिथि को सोमवार ही स्वीकार है। किन्तु ज्योतिष की गणनानुसार खोज करने पर ज्ञात होता है कि १५३० की बैशाख शु. एकादशी को सोमवार नहीं था। यह परीक्षा आज भी किसी ज्योतिष शास्त्र विद् से कराई जा सकती है। १५३० की बैशाख शु. ११ जन्म तिथि पर आधारित जन्म कुण्डली से यह भी ज्ञात नहीं होता कि जातक तीन विवाह वाला चार पुत्रों वाला, ग्रन्थ प्रणेता, चमत्कारी महापुरुष और एक सम्प्रदाय विशेष का प्रवर्तक होगा।

जन्मकाल संबंधी प्राप्त सामग्री का शोध पूर्ण दृष्टि से अध्ययन करने पर श्री हिताचार्य का जन्म काल बैशाख शु. एकादशी, सोमवार, वि. सं. १५५६ ही निरापद ज्ञात होता है।

१. अथ बैशाख शुक्लै एकादश्यां श्री मदाचार्य चरणानां प्रादुर्भावोत्सवः तत्समय प्रोक्ता स्तत्सूनु श्री कृष्णदास गोस्वामी चरणैः—

वियंदगुणेषु शुभां शु संख्ये संवत्सरे शुभे। माघवे मासि शुक्लै एकादश्याय सोमवासरे॥

— म. नि., प्रि. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २, ३



### ७.५. नामकरण :

नामकरण संस्कार भारतीय संस्कृति में प्रचलित एक विशिष्ट संस्कार है। जो कि बालक के जन्मदिन के दसवें दिन किया जाता है। उस दिन कुल पुरोहित बालक की जन्म-राशि के आधार बालक का जो नामकरण करता है वह नाम ही आजीवन उसका परिचायक होता है। श्री हिताचार्य का भी नामकरण संस्कार हुआ था। रसिकों द्वारा वर्णित श्री हरिवंश जन्म बधाई के पदों से ज्ञात होता है कि उस समय हिताचार्य का नाम हरिवंश रखा गया था<sup>१</sup>। श्री हरिवंश नाम-रूप के विशिष्ट उद्गाता सेवक जी ने भी इनका मूल नाम चार अक्षरों वाला 'हरिवंश' ही बतलाया है<sup>२</sup>।

बाल्यावस्था की निम्नांकित दोनों रचनाओं में 'हरिवंश' नाम की ही छाप है 'हित हरिवंश' की नहीं। इस तथ्य के आधार पर भी निश्चित होता है कि नामकरण संस्कार के समय बालक का नाम 'हरिवंश' ही रखा गया —

द्वादश चंद कृतस्थल मंगल बुद्ध विरुद्ध सुरगुरु बंक।  
यदि दशम्म भवन्न भृगू सुत मन्द सु केतु जनम्म के अंक॥  
अष्टम राहु चतुर्थ दिवामणि तौ 'हरिवंश' करत्त न शंक।  
जोपै कृष्ण चरन मन अर्पित तौ करिहैं कहा नव ग्रह रंक<sup>३</sup>॥  
भानु दशम्म जनम्म निशापति मंगल बुद्ध शिवस्थल लीके।  
जो गुरु होंय धरम्म भवन्न के तौ भृगु नन्द सुमन्द नवी के॥  
तीसरौ केतु समेत विधुग्रस तौ 'हरिवंश' मन क्रम फीके।  
गोविन्द छाँड़ि भ्रमंत दसौ दिशि तौ करिहैं कहा नवग्रह नीके<sup>४</sup>॥

श्री हिताचार्य की 'स्फुट वाणी' के ये दोनों छन्द उनकी बाल्यकालीन सर्वप्रथम रचना मानी जाती हैं। इन छन्दों से जुड़ी हुई एक घटना विशेष का उल्लेख रसिक वाणियों में इस प्रकार मिलता है—

१[क] नामकरन उघरन भयौ बाद बटेश्वर मूल। मनु आनंद उमग्यौ नयौ सबहिन के मन फूल॥  
ह हरि र राधा रतन वव बैठन अवतंश। स सखि सुख सम्पुट मनौ ललित नाम हरिवंश॥

— पदा., हि. ज. ब., कृ. दा. भा., प. सं. २०

[ख] जन्मपत्र लिखवाइकें सुत मुख लखि हरषाइ। घरत नाम द्विज शोधिकें श्री हरिवंश बनाइ॥

— पदा., हि. ज. ब., प्रे. दा., प. सं. ४

२. विद्या हरिवंश मंत्र चतुरक्षर जपत सिद्ध भव उद्धरण।

— से. वा., इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. १

३. ४. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. १, २

जिस समय बालक हरिवंश की आयु पाँच वर्ष की थी उस समय उनके शरीर में ब्रण हो गये थे। व्यास जी के पूछने पर ज्योतिषियों ने कहा कि ग्रहों की पूजा करना ही इनके समाप्त करने का उपाय है। उस समय बालक हरिवंश के मुख से ये दो छन्द निकले थे, जिनका आशय है कि यदि मन श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित है तो रंक ग्रह गण क्या कर सकते हैं<sup>१</sup>।

श्री हिताचार्य की ब्रजभाषा रचनाओं में 'हरिवंश', 'हित हरिवंश', 'हरिवंश अलि' और 'हरिवंश दासि' ये चार प्रकार की छाप मिलती हैं<sup>२</sup>। हरिवंश नाम के साथ 'अलि' और 'दासि' शब्द का संयोग राधाकिंकिरीभाव का प्रतीक है। अतः विचारणीय यह है कि हिताचार्य का मूल नाम हरिवंश है या हित हरिवंश ?

रसिक वाणियों में ऐसे वर्णन भी प्राप्त होते हैं कि श्री हिताचार्य को यह 'हित' छाप श्री राधा ने मन्त्रदान करते समय दी थी<sup>३</sup>। यही कारण है कि बाल कालीन रचनाओं में 'हित हरिवंश' नाम की छाप भी पर्याप्त रूप में मिलती है<sup>४</sup>।

१. पाँच वरष के भये अंग में ब्रण हवै आये। पूँछी सबकौ व्यास कहौ याकौ जु उपाये॥  
कह्यौ जोतिषी देखि जनम पत्नी में बूझै। नवग्रह पूजन होय और नाहीं कछु सूझै॥  
व्यास मिश्र के लाड़िले बोले मति इनसौं डरौ। नव ग्रह की कछु ना चलै दंपति पूजन ही करौ॥

— र. अ. सा., ज. ला. गो., प्रथम विलास

२[क] अष्टम राहु चतुर्थ दिवामणि तौ हरिवंश करत्त न शंक।

— स्फु. वा., प. सं. १

[ख] हित हरिवंश आजु तृन टूटत हौं बलि विशद बिहार।

— हि. चौ., प. सं. ३२

[ग] देखत हरिवंशआलि निरतनी सुधंग चालि, वारि फेर देत प्रान देह सौं दुरी।

— हि. चौ., प. सं. १०

[घ] दिन हरिवंश दासि हिय सींचत वारिघ केलि कलोलनि।

— हि. चौ., प. सं. ३४

३. रसमय करे चरित परशंश। जगगुरु विदित श्री हरिवंश॥  
श्री राधा अनुग्रह कियौ। श्री मुख मंत्र निजु कर दियौ॥  
दयिता कृष्ण जिनके इष्ट। पुनि गुरु भाव प्रीति गरिष्ट॥  
दीनी रीझ हित की छाप। ता करि बढ्यौ भक्ति प्रताप॥

— वृ. प्रे. वि. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. ८ से १०

४. तू बालक नहिं भय्यौ सयानप काहे कृष्ण भजत नहिं नीके।.....  
हित हरिवंश नरक गति दुर्मर यम द्वारे कटियत नक छीके॥

— स्फु. वा., प. सं. ४



प्राप्त तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री हिताचार्य का मूल नाम तो 'हरिवंश' ही था; किन्तु श्री स्वेष्ट श्री राधा द्वारा प्रदत्त 'हित' छाप का संयोग होने के कारण वे 'हित हरिवंश' नाम से विख्यात हो गये।

## ७.६. शैशव क्रीड़ा [देववन में]

हित हरिवंश के पिता श्री व्यास जी ब्रज दर्शन के उद्देश्य से आये थे। अतः उन्होंने ब्रज में छह महीने निवास कर दिव्य लीला स्थलों के दर्शन किये और देववन चले गये<sup>१</sup>। नामकरण के समय ज्योतिषियों ने बतलाया था कि यह बालक अनेक अद्भुत कर्म करने वाला होगा। उनकी भविष्य वाणी बालक की जन्म कुण्डली पर आधारित थी अतः वह सम्पूर्णतः सत्य भी हुई। बालक हरिवंश के उन शैशव कालीन अनेक चमत्कार पूर्ण कार्यों का वर्णन रसिकजन प्रणीत अनेक चरित्र ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु उन सबका उल्लेख करना यहाँ पर अप्रासंगिक होगा। अतः उनमें से उन कार्यों का ही उल्लेख किया जा रहा है जो कि श्री हिताचार्य के ऐतिहासिक जीवनवृत्त के अभिन्न अंग हैं।

### ७.६.१. कुंज वैभव प्रकाशी :

समवयस्क कुमारों के साथ साधारण बाल क्रीड़ा करते देखकर ज्ञानू नामक भक्त को ज्योतिषियों की बात पर अविश्वास होने लगा था; अतः वह अपना सन्देह दूर करने के उद्देश्य से एक दिन बालक हरिवंश की परीक्षा लेने गया किन्तु उसे श्री हिताचार्य ने अपनी बाल क्रीड़ा में ही श्यामा-श्याम की कुंज केलि के प्रत्यक्ष दर्शन करा दिये और वह देह त्याग कर निकुंज महल में सम्प्रविष्ट हो गया<sup>२</sup>।

### ७.६.२. रंगीलाल-प्रागट्य :

शैशव काल की ही एक दूसरी घटना का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

- १[क] ब्रज अवनी षटमास रहे थल दिव्य निहारे। सुख पूरित द्विजराज बहुरि देवन पग धारे॥  
— श्री ह. स., चा. वृ. दा., छं. सं. ३४, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ३
- [ख] ब्रज घर मध्य बसे षट मास। द्वादश वन कियौ जहँ तहँ वास॥  
— हि. प. व. प., चा. वृ. दा., छं. सं. २७
- २[क] इक दिन ज्ञानू भक्त देखि बालकगन माँहीं। गये परीक्षा लैन कछू सुधि है कै नाहीं॥  
ता ढिँग गये इकान्त कुंज वैभव जु प्रकाशी। काहू न जान्यौ भेद महल की दई खवासी॥  
— श्री ह. स., चा. वृ. दा., छं. सं. ४६, ४७, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ४
- [ख] ज्ञानू और छबीलेदास आस करि आये पास, दियौ दरसाइ वृन्दाविपिन बिहार है।  
— मी. जी की वा., हित बघाई अष्टक, छं. सं. ८

एक दिन हित हरिवंश बालकों के साथ खेलते-खेलते कुएं में कूद पड़े और वहाँ से श्याम वर्ण द्विभुज मुरलीधारी एक श्री विग्रह निकालकर ले आये<sup>१</sup>। उन्होंने उस विग्रह को श्रीराधा की गद्दी के साथ एक नव निर्मित मन्दिर में विराजमान करके विधि निषेध शून्य अपनी मौलिक सेवा पद्धति का शुभारम्भ किया था। बालक हरिवंश ने उस विग्रह का नाम 'रंगीलाल' रक्खा; जो अद्यापि देववन नगरस्थ मन्दिर में विराजमान है। इस घटना का स्मारक वह कुआ भी 'हरिवंश चह' के नाम से विख्यात आज भी देखा जाता है। यह घटना वि. सं. १५६६ की है जब श्री हिताचार्य की आयु सात वर्ष की थी<sup>२</sup>।

### ७.७. शिक्षा :

श्री हिताचार्य को किन-किन विद्वानों से कब और किन-किन शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त हुई यह अज्ञात है। किन्तु इनके द्वारा विरचित 'हित चौरासी' और 'स्फुट वाणी' नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ तथा 'राधासुधानिधि' एवं 'यमुनाष्टक' जैसी संस्कृत कृतियों से ज्ञात होता है कि उन्हें संस्कृत व्याकरण, साहित्य, संगीत, ज्योतिष तथा श्रुति पुराणादिकों की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त हुई होगी। उनकी चारों कृतियाँ ही हमारे इस तथ्य को प्रमाण पुष्ट बनाती हैं।

१. मिश्र बाग में कूप निहारौ। तामें द्विभुज स्वरूप हमारौ॥  
सुन्दर श्याम बाँसुरी लीयें। मम गादी सेवहु मन दीयें॥.....  
बहुरि जाइ देख्यौ वह कूप। लियौ निकासि श्याम सुठि रूप॥  
मन्दिर देवन मौझ बनायौ। तहैं ही प्रभु कौ लै पधरायौ॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ७४, ७५, ७८, ७९

- २[क] सात वरष के भये जबहि श्री व्यास दुलारे। तब उपवन चलि जाँइ खेल नाना विस्तारे॥  
पिता बाग मधि कूप तहाँ श्री विग्रह जान्यौ। घाइ परे जल कूदि आपु सो भुज मरि आन्यौ॥  
प्रभु श्री रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी। रीझि लड़ैती कुँवरि आपुनी पद्धति ओपी॥  
— श्री. ह. स., चा. वृ. दा., छं. सं. ५४ से ५६, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ४, ५

- [ख] नमो-नमो प्रभु रंगीलाल।  
श्री व्याससुवन काढ़े जु कूप ते सात वरष के हे जिहि काल॥  
आज्ञा दई सुपन मुरलीधर कूदे गेंद संग रच्यौ ख्याल।  
सुनत बात यह पुरजन धाये अचिरज मयौ पर्यौ चित चाल॥  
काढ़े तुरत कूप ते तबही श्री विग्रह लाये जु रसाल।  
देवनि नगर विराजत मन्दिर गादी थापी राधा बाल॥  
जयति-जयति श्री तारानन्दन प्रनतजनन पर भये दयाल।  
वृन्दावन हित रूप बन्दि पद समरथ श्री हरिवंश कृपाल॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. २८



## ७.८. गुरुवर व मन्त्र प्राप्ति :

रसिकों द्वारा विरचित चरित्र ग्रन्थों व वाणी ग्रन्थों के अनुसार श्री हिताचार्य को उनकी स्वेष्ट श्रीराधा ने मंत्र प्रदान किया था<sup>१</sup>। स्वयं श्री हिताचार्य ने अपनी 'राधासुधानिधि' नामक रचना में अनेक स्थलों पर श्री राधा को अपनी इष्ट के साथ ही 'गुरु' रूप में भी स्मरण किया है।

ग्रन्थारम्भ में अपने गुरुदेव की वन्दना करना हमारी भारतीय संस्कृति का प्रतीक रहा है। मेरा ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्ण हो इस उद्देश्य से प्रत्येक कवि और प्रत्येक भक्त कवि अपने गुरुदेव की वन्दना करता है और प्रार्थना करता है कि आप मुझ पर कृपा करके ऐसी शक्ति प्रदान करें कि जिससे मेरा ग्रन्थ निर्दोष और यथोचित रूप में निर्मित हो सके। इसी पुनीत परम्परा का निर्वाह करते हुए श्री हिताचार्य ने ग्रन्थारम्भ में अपने गुरुदेव और परमेष्ठ श्री राधा की दिशा को नमस्कार करने के व्याज से उनका स्तवन किया है—

यस्या कदापि वसनाज्ज्वल खेलनोत्थ, धन्याति धन्य पवनेन कृतार्थ मानी।

योगीन्द्र दुर्गम गतिर्मधुसूदनोपि, तस्या नमोस्तु वृषभानु भुवनोदिशेऽपि<sup>१</sup>।

'वृष' शब्द का अर्थ धर्म और 'भानु' शब्द का अर्थ प्रकाश करने वाला होता है। धर्म का प्रकाश करने वाला गुरु ही होता है। इस प्रकार यहाँ पर 'वृषभानुभुवोदिशेऽपि

- १[क] एक दिवस सोवत सुख लह्यौ। श्री राधे सुपने में कह्यौ॥  
द्वार तिहारे पीपर जो है। ऊँची डार सबनि में सोहै॥  
तामें अरुन पत्र इक न्यारौ। जामें जुगल मंत्र है भारौ॥  
लेहु मंत्र तुम करहु प्रकाश। रसिकजननि की पुजवहु आश॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ७० से ७३

- [ख] कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होय दर्शन दियौ। अपने हित कौ जानिकैं हित सौं मंत्र सुनाय दियौ॥

— र. अ. सा., गो. ज. ला., प्रथम प्रकाश

- [ग] श्री व्यासनंदन व्यासनंदन व्यासनंदन गाइये।.... तिनकौं पिय नाम सहित मंत्र दियौ श्री राधे।

—रू. ला. गो. की वा., रू. ला. गो., प. सं. २

- [घ] मन्त्रराज रस निकर माहिली सम्पति दीनी। करवर भाल विशाल कृपा अति बिनुमित कीनी॥

— श्री ह. स., चा. वृ. दा., छं. सं. ५७, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ५

- [ङ] कस्तूरी तिलके ललाट फलके धारेण्यस्याः स्फुटं।

श्री राधाख्य महोदयं गुरुवरं ध्यायामि वैयासिकिम्॥

—वै. अ., कृ. च. गो., श्लो. सं. ७

- [च] राधैवेष्टः सम्प्रदायैक कर्ताचार्यो राधा मंत्रदः सदगुरुश्च।

मंत्रो राधा यस्य सर्वात्मनैव बंदे राधा-पाद-पद्म-प्रधानम्॥

— रा. सु. नि., टी. [बृहद], टी.—ह. व्या., मंगलाचरण

नमोस्तु' का एक अर्थ हुआ—गुरुवर श्री राधा की क्रीड़ा भूमि वृन्दावन की दिशा को नमस्कार हो। और दूसरा अर्थ हुआ वृषभान भूः वृषभान पुत्री श्री राधा की दिशा को नमस्कार हो। ग्रन्थकार की गुरु भी श्री राधा हैं और इष्ट भी श्री राधा हैं; और ग्रन्थारम्भ में गुरुवर तथा इष्ट को नमस्कार करना अनिवार्य है। अतः उन्होंने श्लेषार्थ गर्भित 'वृषभानु' शब्द का प्रयोग करके अपनी अभीष्ट सिद्धि की है।

गुरु-कृपा बिना कोई भी महत् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। ग्रन्थारम्भ के दूसरे श्लोक में स्वेष्ट श्री राधा को 'रस वर्षिणी कृपा दृष्टि वाली' रूप में प्रकीर्तित करके भी उन्हें गुरु रूप में ही स्मरण किया गया है<sup>१</sup>।

भगवान सबको वश में कर लेते हैं और गुरु उन सर्ववशकारी भगवान को भी भक्त के समक्ष प्रगट होने के लिए विवश कर देते हैं। अतः श्री राधिका चरण-रेणु को परमपुरुष श्री श्यामसुन्दर को वश में करने वाला अनन्त शक्ति सम्पन्न चूर्ण कहकर उन्हें गुरु रूप में ही स्मरण किया गया है<sup>२</sup>।

सम्पूर्ण भक्ति शास्त्रों में गुरु और गोविन्द को एक समान माना गया है। किन्तु शास्त्र में या किसी भक्त चरित्र ग्रन्थ में यह प्रमाण नहीं मिलता कि किसी ने गुरु का ही भजन किया हो। गुरु को ही इष्ट की भाँति सर्वभावेन भजनीय कहा हो। सच बात तो यह है कि ऐसा न कहा ही जा सकता है और न किया ही जा सकता। क्योंकि गुरु का लोक प्रत्यक्ष रूप भगवान की भाँति दिव्य न होकर पांचभौतिक ही होता है। वास्तव में वह शिष्य की भाव दृष्टि में तत्त्वतः भगवान के समान दिखाई देता है। 'गुरु' का ही भजन किया हो ऐसा प्रमाण इसलिए भी नहीं मिलता क्योंकि सभी भक्तों के गुरु और इष्ट अलग-अलग ही हुए हैं। श्री हिताचार्य की गुरु भी श्री राधा हैं और परम इष्ट भी श्री राधा ही हैं। अतः उन्होंने ही यह घोषणा की कि गुरु का भजन करने वाले कोई विरले ही हैं<sup>३</sup>।

श्री हिताचार्य ने इसी ग्रन्थ के अन्य श्लोकों में यह भी उल्लेख किया है कि भुझे उन सुशास्त्रों तथा उन शास्त्रों से समुदित और साधु जन ग्रहीत मार्गों [भक्ति

१. ब्रह्मेश्वरादि सुदुरुह पदारविन्द, श्री मत्पराग परमाद्भुत वैभवायाः।  
सर्वार्थसार रस वर्षिकृपाद्रृष्टि, स्तस्या नमोस्तु वृषभानु भुवो महिम्ने॥

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २

२. यो ब्रह्म रुद्र शुक्र नारद भीष्म मुख्यै, रालक्षितो न सह सा पुरुषस्य तस्य।  
सद्यो वशीकरण चूर्ण मनन्त शक्तिं, तं राधिका चरण रेणु मनु स्मरामि।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ३

३. लिखन्ति भुज.....गुरोर्भजन विक्रमात्कइह ते महाबुद्धयः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८१



सम्प्रदायों ] से कोई प्रयोजन नहीं है जिनमें मेरी प्रेममूर्ति राधा का महिम्नगान नहीं हैं<sup>१</sup>। इन शब्दों से उनका अन्तराशय यही व्यञ्जित होता है कि उन्होंने किसी भक्ति सम्प्रदायाचार्य का अनुगमन नहीं किया है। उन्हें किसी का उपासना मार्ग या उपासना विधा स्पृहणीय नहीं है।

यहाँ पर यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि श्री राधा की महिमा का वर्णन तो एक नहीं अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। गोपाल तन्त्र आदि ग्रन्थों में तो यह भी घोषणा कर दी गई है कि जो गौर तेज [श्री राधा] के बिना श्री कृष्ण की समर्चना करते हैं वे पातकी होते हैं; इत्यादि उल्लेखों को देखते हुए श्री हिताचार्य ने उपर्युक्त बात कैसे कह दी ?

ऐसा लिखने का कारण यह है कि संपूर्ण भक्ति शास्त्रों और सभी भक्ति सम्प्रदायाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में श्री राधा का 'कृष्णाराधिका रूप', 'कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति रूप' 'शक्तिरूप', 'प्रकृति रूप' और 'अन्यतम कृष्ण प्रेमिका रूप' ही आलोकित हुआ है और यह उद्घोष किया गया है कि श्री राधा की कृपा से कृष्णोपलब्धि होती है। श्री मद्भागवत पर आधारित भक्ति सम्प्रदाय के सभी आचार्यों ने इन्हीं श्री राधा की महिमा को अपनी वाणी का विषय बनाया है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य भी सुस्पष्ट हो जाता है कि भक्ति शास्त्रों में संप्राप्त यह श्री राधा-महिम्न-गान नहीं प्रत्युत श्री कृष्ण का ही महिम्न-गान है। श्री राधा तो वस्तुतः उपाय किंवा साधन रूपा और श्री कृष्ण उपेय किंवा साध्य रूप में प्रकीर्तित किये गये हैं। इसीलिए श्री हिताचार्य ने सभी सु शास्त्रों और शास्त्रों से समुदित साधुजन गृहीत भक्ति मार्गों को भी अप्रयोजनीय कहा है।

“भक्ति सम्प्रदायाचार्यों द्वारा प्रवर्तित शास्त्रोदित भक्ति मार्गों के विरुद्ध चलने के कारण ही श्री हिताचार्य ने स्वयं को अपराधी मानते हुए अपनी गुरु और इष्ट श्री राधा से यह प्रार्थना की है कि—

“हे श्री राधे ! आपका सद्वैभव श्रुतियों बुधजनों एवं भगवान के लिए भी अन्वेषणीय है किन्तु आपकी कृपा द्वारा ही आपका स्तोत्र पद्यों के द्वारा बनाने के लिए मैं सहज योग्य बना दिया गया हूँ। अतः हे स्नेहजल से आकुल नयनी ! सदापराधी एवं महज्जनों के मार्गों से विरुद्ध और एकमात्र तुम्हारी ही आशा रखने वाले मुझ पर अपनी अनिर्वचनीय

१. किंवा नस्तैः सु शास्त्रैः किमथ तदुदितैर्वत्मभिः सद्गृहीतैः ,  
यत्रास्ति प्रेम मूर्तेर्नहि महिम सुधा नापि भावस्तदीयः।

प्रसन्नता पूर्ण प्रीति-दृष्टि करने की कृपा करें।”

यदि श्री हिताचार्य ने श्री राधा के स्थान पर किसी भक्ति सम्प्रदायाचार्य से गुरु मन्त्र दीक्षा ली होती तो वे सभी भक्ति सम्प्रदायाचार्यों के प्रति इस प्रकार का उदासीन भाव प्रकट न करके उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते।

श्री हिताचार्य ने अपने शिष्य बीठलदास को लिखे एक पत्र में तो सुस्पष्ट शब्दों में श्री राधा को गुरु मार्ग का संस्थापक लिखकर उन्हें अपना मन्त्रदाता गुरु घोषित किया है। पत्र की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

“जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसी ही सत्य है, तो ब्रज नव तरुनि कदम्ब चूड़ामणि श्री राधे ! तिहारे स्थापे गुरु मारग विषे अविश्वास अज्ञानी कौं होतु है। तार्ते यह मर्यादा राखनी”।”

इस प्रकार बहिर्साक्ष्य और अन्तःसाक्ष्यों के आधार से हम निम्नान्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री हिताचार्य की मन्त्र प्रदाता गुरु श्री राधा ही हैं।

**सम्बन्धित भ्रान्ति व निराकरण—**

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में गो. हित हरिवंश को मध्वमतावलंबी गोपाल भट्ट का शिष्य लिख दिया है किन्तु उन्होंने अपने कथन का कोई प्रमाणाधार नहीं दिया है। परवर्ती लेखकों ने उन्हीं का अन्धानुकरण किया है। अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ कि माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय [चैतन्य सम्प्रदाय] के अनुयायी नित्यानंददास ने ‘प्रेम विलास’ नामक ग्रन्थ में इस सर्वथा असत्य कल्पना को शाब्दिक कलेवर प्रदान किया है। यह ग्रन्थ बंग भाषा और बंग लिपि में लिखा गया है।

बंग साहित्य के अधिकारी विद्वानों के खोज विवरणों से कुछ ऐसे तथ्य आलोक में आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ‘प्रेम विलास’ ग्रन्थ गौड़ीय सम्प्रदाय के विद्वद् समाज में ही अविश्वसनीय और निराद्रित है। प्राप्त तथ्य इस प्रकार हैं—

१. यह प्रेम विलास ग्रन्थ मूल में सोलह विलासों में विरचित हुआ था। वह धीरे-धीरे बढ़कर चौबीस विलास वाला बन गया। विमान विहारी मजूमदार ने ‘चैतन्य चरितेर उपादान’ नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—“जिस प्रकार नन्दालय में श्री कृष्ण दिन-दिन

१. श्री राधे श्रुतिभिर्बुधै भगवताप्यामृग्य सद्वैभवे, स्वस्तोत्र स्व कृपात् एव सहजो योग्योप्यहंकारितः।  
पद्येनैव सदापराधिनि महन्मार्ग विरुद्ध्य त्वदे— काशे स्नेहजलाकुलाक्षि किमपि प्रीति प्रसादी कुरु।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २६६

२. श्री मु. प., गो. हि. ह., द्वितीय पत्री



बड़े होते थे, उसी प्रकार वैष्णवों के घरों में 'प्रेम विलास' भी बढ़ता चला गया। [एइ सब उक्ति पढ़िया मने हय ग्रन्थ खानि खूब प्रामान्य ! किन्तु येमन नन्देर आलय कृष्ण दिन-दिन बाड़िलेन तेमनि वैष्णव देर आलय 'प्रेम विलास' दिन-दिन बाड़िलेन]

२. ग्रन्थ में वर्णित घटनाएं इतिहास विरुद्ध हैं। ३. ग्रन्थ से प्राप्त तथ्य परस्पर विरोधी हैं। ४. 'प्रेम विलास' की प्राप्त प्रतियों में भी अत्यधिक असाम्य है।

—चैतन्य चरितेर उपादन, विमान विहारी मजूमदार

कलकत्ता यूनीवर्सिटी १९३६ पृ. ५०७

५. प्राचीनकाल से ही 'प्रेम विलास' के अनेक स्थलों में अनेक लोगों की कारीगरी है।

—सुप्रसिद्ध वैष्णव साहित्य के विद्वान हाराधनदत्त महाशय,  
दे. सन् १८६३ के आश्विन मास की 'विष्णु प्रिया पत्रिका'

६. प्रक्षिप्तांश पूर्ण 'प्रेम विलास' की सब बातें विश्वास योग्य नहीं हैं।

—गौड़ीय भक्ति साहित्य के सुप्रसिद्ध व्याख्याता  
नित्यानंद वंशोद्भव अतुल कृष्ण गोस्वामी

प्रेम विलास में ऐसी अनेक अनैतिहासिक बातों का उल्लेख है जिन्हें पढ़कर ज्ञात होता है कि—

१. ग्रन्थ लेखक गो. हित हरिवंश जी के जीवनवृत्त से सर्वथा अपरिचित है।  
२. ग्रन्थ वृन्दावन से बहुत दूर स्थान में लिखा गया है। ३. ग्रन्थ गो. हित हरिवंश के चारों पुत्रों के विद्यमान काल के अनिश्चित काल पश्चात् लिखा गया है। ४. ग्रन्थ किसी विशेष उद्देश्य पूर्ति के लक्ष्य से लिखा गया है। इसीलिए नाभा जी कृत भक्तमाल और उसके टीकाकार प्रियादास जी गौड़ीय जैसे सर्व सम्मानित महात्माओं के उल्लेखों की उपेक्षा की गई है।

प्रेम विलास में उल्लिखित अनैतिहासिक बातें और उनका निराकरण:-

१. प्रेम विलास में गो. हित हरिवंश के चारों पुत्रों के नाम क्रमशः इस प्रकार लिखे गये हैं— कृष्णदास, सूरजदास, वनचन्द और वृन्दावनचन्द। जबकि उनके वास्तविक नाम गो. वनमालीदास [वनचन्द] गो. कृष्णदास, गो. गोपीनाथ और गो. मोहनचन्द्र थे। ये चारों ही अपने समय के प्रमावी पुरुषों में थे। वि. सं. १६५७ से बहुत पूर्व इनकी वाणी रचना के साथ-साथ इनके नाम का पर्याप्त प्रचार-प्रसार भारत के सभी अंचलों में हो गया था। अतः इसका रचनाकाल भी असत्य है।

२. प्रेम विलास में लिखा है कि गोपाल भट्ट ने हरिवंश पर कुपित होकर राधारमण की सेवा नहीं दी। तब हरिवंश ने राधाबल्लभ की मूर्ति विराजमान कर ली। लालदास कृत 'भक्तमाल' में भी इसी प्रकार का एक उल्लेख मिलता है—

जगते व्यापित हय परम पवित्र। श्री मन् गोपाल भट्ट जीर शिष्यते हो॥  
श्री हरिवंश राधारमन सेवा न पाइला तो। श्री राधाबल्लभ मूर्ति प्रकाश करीला<sup>१</sup>॥

यह बात सर्वविदित और सर्वमान्य है कि गो. हित हरिवंशजी को श्रीराधाबल्लभलाल जी की मूर्ति देववन से वृन्दावन आते समय मार्गस्थ चिड़थावल ग्राम से प्राप्त हुई थी। जहाँ पर एक ब्राह्मण ने इनके साथ अपनी दो कन्याओं का विवाह किया था। नाभा जी द्वारा विरचित भक्तमाल की टीका में टीकाकार प्रियादास जी ने गो. हित हरिवंश की परिचयात्मक छप्पै की टीका में इस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

आये गृह त्यागि राग बद्धौ प्रिया-प्रीतम सौं विप्र बड़भागी हरि आज्ञा दई जानिये।  
तेरी उमै सुता व्याहि देउ लेउ नाम मेरौ इनकौ जो वंश सो प्रशंश जग मानिये॥  
ताही द्वार सेवा विस्तार निज भक्तनि की अगतिन की गति सो प्रसिद्ध पहिचानिये।  
मानि प्रिय बात गृह गहौ सुख लहौ सब कहौ कैसैं लह्यौ जात यह मन आनिये॥  
राधिकाबल्लभलाल आज्ञा सु रसाल दई सेवा मो प्रकाश औ विलास कुंज धाम कौ।  
सोई विस्तार सुख सार दृग रूप पियौ दियौ तिन रसिकन जिन लियौ पक्ष वाम कौ<sup>२</sup>॥

गोपाल भट्ट के सेव्य राधारमण जी का प्रागट्य वि. सं. १५६६ में हुआ था। राधारमण जी के प्रकट होने से आठ वर्ष पूर्व वि. सं. १५६१ में श्री राध बल्लभजी का पाटोत्सव हो चुका था। इतना ही नहीं उस समय तक राजा नरवाहन, नवलदास, हरिरामव्यास, छबीलेदास, पूरनदास, परमानंददास, नाहरमल, बीठलदास, मोहनदास, गांगू, गोविन्दा, रंगा, मेधा, सेवा, नन्दा और सन्तदास आदि-आदि अनेक शिष्य भी हो चुके थे और ये सभी इष्ट के नित्यबिहार दर्शनानन्द से लाभान्वित भी हुआ करते थे। ऐसी स्थिति में गो. हित हरिवंश को राधारमण की सेवा प्राप्त करने की न तो आवश्यकता ही थी और न गोपाल भट्ट द्वारा सेवा देने या न देने का प्रश्न ही उपस्थित था।

३. 'प्रेम विलास' में लिखा गया है कि हरिवंश ब्रजवासी गोपाल भट्ट के शिष्य हुए थे। गौड़ीय वैष्णवों के मतानुसार गोपाल भट्ट का वृन्दावन [बृहद वृन्दावन] आगमन

१. भ. मा., ला. दा., पृ. ३१६ प्रकाशक शरच्चन्द्र चक्रवर्ती, कालिका यन्त्र, कलकत्ता।

२. भ. मा. टी., टी.-प्रि. दा., छं. सं. ३६१, ३६२



काल वि. सं. १५८० है। श्री हिताचार्य गोपाल भट्ट के इस वृन्दावन आगमन से बहुत पूर्व अपनी वृन्दावन रसोपासना प्रकट कर चुके थे। देववन निवास काल में श्री रंगीलाल को प्रकट करके अपनी मौलिक सेवा पद्धति की स्थापना कर चुके थे। देववन निवास काल में तथा वृन्दावन निवास काल में उनके अनेक शिष्य भी बन चुके थे।

गौड़ीय मतानुसार गोपाल भट्ट का बृहद वृन्दावन आगमन काल वि. सं. १५८० एक ऐतिहासिक तथ्य है। इसके साथ ही यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि श्री हिताचार्य इससे बहुत वर्ष पूर्व देववन में ही श्री राधा से मन्त्र प्राप्त करके ज्ञानू नाहरमल बीठलदासादि अनेक शिष्य बना चुके थे तथा रंगीलाल जी को कुएं से निकालकर अपनी मौलिक सेवा पद्धति का मूर्त विधान कर चुके थे। इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि गोपाल भट्ट के सेव्य श्री राधारमण जी के प्राकट्य काल [ वि. सं. १५६६ ] से अनेक वर्ष पूर्व ही वे राधिकाबल्लभलाल जी की आज्ञा से उनकी सेवा, उनके कुंज विलासों तथा उनके धाम [पंचकोसी वृन्दावन] का प्रकाश भी कर चुके थे। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि—

क्या श्री हिताचार्य ने श्री राधा से दीक्षा प्राप्त करके भी गोपाल भट्ट से पुनः दीक्षा ली थी ? और क्या यह सम्भव कहा जा सकता है ? यदि उन्हें श्री राधा से दीक्षा प्राप्त नहीं हुई तो अदीक्षित अवस्था में श्री राधिकाबल्लभलाल ने उन्हें अपनी सेवा पद्धति को प्रकाश करने, वृन्दावन धाम को प्रकाश करने तथा कुंजधाम के विलास-नित्यबिहार को प्रगट करने की आज्ञा कैसे दे दी ? विद्वद् समाज तथा सर्व साधारण के सामने एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि गोपाल भट्ट से दीक्षा प्राप्ति के पूर्व जब गो. हित हरिवंश अदीक्षित थे— ऐसी स्थिति में छबीलेदास, हरिरामव्यास, प्रबोधानंद, नरवाहन और राजा परमानन्द आदि ने उनसे गुरुदीक्षा कैसे ले ली ? और उन्हें श्यामा-श्याम ने दर्शन कैसे दे दिये ? गोपाल भट्ट से दीक्षित हो जाने पर नरवाहन, बीठलदास, नाहरमल, पूरनदास आदि ने भी गोपाल भट्ट या गौड़ीय सम्प्रदाय के अन्य किसी आचार्य से दीक्षा ली या नहीं ? इत्यादि।

उपर्युक्त विशद विवेचना के आलोक में 'प्रेम विलास' में उल्लिखित—श्री हित हरिवंश गो. गोपाल भट्ट के शिष्य थे—एतत् सम्बन्धी संपूर्ण बातें असत्य सिद्ध हो जाती हैं और सुस्पष्ट हो जाता है कि गो. हित हरिवंशजी की मंत्रदात्री गुरु श्री राधा ही थीं।

## ७.६. देववन निवास :

श्री हिताचार्य के देववन निवास काल के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालते हुए श्री हरिवंश चरित्र लेखकों ने लिखा है कि व्यास जी ने श्री हिताचार्य का विवाह रुकमिणि

नामक एक ब्राह्मण कन्या से किया था। उनसे वनमालीदास, कृष्णदास और गोपीनाथ नामक तीन पुत्र और साहिब दे नामक एक कन्या उत्पन्न हुई थी<sup>१</sup>। चाचा वृन्दावनदास जी ने साहिब दे और राइब दे नामक दो कन्याओं के होने का उल्लेख किया है<sup>२</sup>। इकत्तीस वर्ष तक देववन में रंगीलाल जी को लाड़ लड़ाते हुए उन्होंने नाहरमल, बीठलदास, मोहनदास, पूरनदास, प्रियादास, पं. हरिदास, प्रमदानंद, गांगू, गोविन्दा, रंगा, मेधा, सेवा, नन्दा, ज्ञानू किशोर, गोपाला आदि अनेक शरणागतों<sup>३</sup> को वृन्दावन रसोपासना में सन्निष्ठ करके उन्हें स्वेष्ट वस्तु से लाभान्वित भी किया<sup>४</sup>।

### ७.१०. रचनारम्भ-काल :

श्री हिताचार्य ने किस ग्रन्थ की रचना किस तिथि को प्रारम्भ की और किस तिथि को पूरी की—इसका उल्लेख उनके किसी ग्रन्थ में नहीं है किन्तु उनके तथा उनके शिष्यों के जीवनवृत्त से संप्राप्त तथ्यों से रचनारम्भ का समय ज्ञात किया जा सकता है। 'रसिक अनन्यमाल' में वर्णित श्री हरिरामव्यास जी के चरित्र से ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य के कृपापात्र नवलदास जी वृन्दावन से ओड़छे गये थे। वहाँ उन्होंने श्री व्यास जी से सत्संग करते समय हिताचार्य प्रणीत यह पद गाया था—

आजु अति राजत दंपति भोर।

सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवल किशोर॥

अंशनि पर भुज दियें विलोकत इन्दु वदन विवि ओर।

करत पान रस मत्त परस्पर लोचन त्रिषित चकोर॥

छूटी लटनि लाल मन करष्यौ ये याके चित चोर।

परिरम्भन चुम्बन मिलि गावत सुर मंदर कल घोर॥

पग डगमगत चलत वन बिहरत रुचिर कुंज घन खोर।

जै श्री हित हरिवंश लाल-ललना मिलि हियौ सिरावत मोर<sup>५</sup>॥

१. तीन पुत्र इक कन्या भई। सहित सुधर्म व्याह सो दई॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ६२

२. राइबदे साहिबदे सुता। मूरति दया शील संयुता॥

— हि. प. व. प., चा. वृ. दा., छं. सं. ७६

३. दे.— र. अ. मा., भ. मु., नाहरमल-बीठलदासादि चरित्र

४. प्रेम सु भक्ति रूप रस पागे। अधिकारी प्रति कहन सु लागे॥

प्रेम लक्षणा सुदृढ़ सु करै। कुंजमहल रस कौ विस्तरै॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ६७, ६६

५. हि. चौ., प. सं. ३१



यह एक निर्भ्रान्त और निरापद सत्य है कि नवलदास जी ने 'हित चौरासी' के अन्य अधिकांश पदों के साथ यह पद उस समय सुना था जब श्री हिताचार्य ने उन्हें अपना कृपापात्र बनाकर वृन्दावन रसोपासना का बोध कराया था। श्री हिताचार्य ने वि. सं. १५६० में वृन्दावन आकर सर्वप्रथम नवलदास जी को ही शिष्य किया था।

नवलदास जी से पूर्व पूरनदास जी देववन में ही श्री हिताचार्य से दीक्षित हो चुके थे। उसी समय उन्हें श्री हिताचार्य कृत अनेक पद कण्ठस्थ हो गये थे। उन पदों के आधार पर ही तो उन्होंने राजा परमानंददास को श्री हित हरिवंशोदित वृन्दावन रसोपासना का परिचय दिया था।

इन तथ्यों के आलोक में विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनैं सचु पायौ" [पद सं. ५६] तथा 'नरवाहन' छाप के दो पदों [पद सं. ११, १२] के अतिरिक्त 'हित चतुरासी' के शेष पदों की रचना देववन में ही हो गई थी।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि 'द्वादशचंद कृतस्थल मंगल', 'भानु दशम्म जनम्म निशापति' और 'तू बालक नहिं भर्ख्यौ सयानप' आदि पदों की रचना उनकी पाँच वर्ष की स्वल्पायु की ही रचनाएं हैं—इस आधार पर यह अनुमान करना कि 'स्फुटवाणी' के और अन्य पद भी स्वल्पायु में ही रचे गये होंगे, अस्वाभाविक या असंभव नहीं कहा जा सकता।

'राधासुधानिधि' ग्रन्थ में भी अनेक स्थलों पर ऐसी पंक्तियाँ प्राप्त हैं जिन्हें पढ़कर ज्ञात होता है कि ग्रन्थ के सभी श्लोक वृन्दावन में नहीं रचे गये हैं, वृन्दावन से सुदूर किसी अन्य स्थान में विरचित हुए हैं। विस्तृत विवरण परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

उपर्युक्त विवेचना के आलोक में स्पष्ट यही होता है कि श्री हिताचार्य का रचनारम्भ काल वि. सं. १५६४ से हुआ था तथा 'हित चौरासी' और 'राधासुधानिधि' इन दोनों ग्रन्थों की अधिकांश रचना देववन में ही हो गई थी।

इन दोनों ग्रन्थों की रचना वृन्दावन आने से पूर्व देववन में हो गई थी—यह बात चाचा वृन्दावनदास जी ने भी इन शब्दों में लिखी है—

राधासुधानिधि वानी द्रयौ। पुनि चौरासी पद निर्मयौ।।...  
सुत समरथ लखि यह मन धार्यौ। वृन्दावन चलिवौ जु विचार्यौ।।...  
मन कौ भेद न काहू दीयौ। वृन्दावन कौ गवन जु कीयौ।।

### ७.११. रचनायें :

श्री हिताचार्य द्वारा विरचित पत्र द्वय तथा चार रचनायें प्राप्त हैं—‘राधासुधानिधि, यमुनाष्टक ये दो संस्कृत रचनायें हैं तथा ‘हित चौरासी’ और ‘स्फुट वाणी’ ब्रजभाषा की रचनायें हैं। इन सभी रचनाओं की अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हैं और अनेक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। हमारी खोज में कुछ ऐसे भी सूत्र मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन्होंने इन प्राप्त रचनाओं के अतिरिक्त अन्य रचनायें भी की हैं। वे सूत्र निम्नांकित हैं—

हरिरामव्यास जी का एक पद [पढ़त पढ़ावत ज्यों मन.....] जिसमें श्री हिताचार्य के एक पद का उद्धरण प्राप्त होता है—“सुपने हू न किये हरि अपने”—श्री हरिवंश बखान्यौ<sup>१</sup>।” यह अर्धचरण किसी ऐसे पद का है जिसका प्रकाश और प्रचार व्यास जी के जीवनकाल में पर्याप्त रूप से हो चुका था।

गो. दामोदरवर जी द्वारा वर्णित ‘हस्तामलक’ नामक ग्रन्थ में एक ऐसी वाणी का संकेत है—जिसमें वृन्दावन का स्वरूप और उसकी सीमायें निर्धारित की गई थीं—

“अरु वानी में कहूँ वृन्दा कही नाहीं। बहुतक गोवर्धन कौँ श्री वृन्दावन मध्य वरनत हैं; आपु दरसायौ वृन्दावन के अन्त ब्रज सौँ लाग्यौ है। मध्य वृन्दावन वंशीवट के आसपास अरु मानसरोवर ते है<sup>२</sup>।”

भगवत मुदित जी गौड़ीय ने परमानन्ददास जी का चरित्र वर्णन करते हुए श्री हिताचार्य के एक ऐसे पद या ग्रन्थ की ओर संकेत किया है—जिसमें “कहा न होय सत्संग ते”—यह पंक्ति उल्लिखित थी। अथवा सत्संग का माहात्म्य वर्णन था—

कहा न होइ सत्संग ते, कह्यौ गुसाँई आप। पूरन के परताप ते, मिट्यौ जगत संताप<sup>३</sup>।।

अतिबल्लभदास जी ने श्री हिताचार्य की वाणी का मन्त्रत्व सिद्ध करते हुए ‘हित चौरासी’ के साथ एक ऐसे ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है जिसमें मंगल समय [प्रभात] से लेकर शयन समय तक के सेवा-क्रम का प्रबन्ध पूर्ण वर्णन है—

मंगलादि-सज्जा परजंत। सेवा अनुक्रम कौ सब तंत।।

पद रचना करि हित जू कह्यौ। श्री वनचन्द उही विधि लह्यौ<sup>४</sup>।।

१. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. २४६

२. ह. म., प्रा. ना., पृ. सं. १५

३. र. अ. मा., भ. मु. परमानन्ददास जी की परचई

४. म. ध्या. प., अ. ब. दा., छं. सं. ७६, ७७, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १३



गौड़ीय सम्प्रदाय के कतिपय वर्तमान व्यक्तियों का कहना है कि 'राधासुधानिधि' ग्रन्थ गो. हित हरिवंश जी कृत नहीं है, वह तो श्री चैतन्यदेव के शिष्य प्रबोधानन्द जी की कृति है; किन्तु प्राप्त अन्तःसाक्ष्यों और बहिर्साक्ष्यों के आलोक में निर्भ्रान्त रूप से सुस्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ गो. हित हरिवंश जी कृत ही है; श्री हिताचार्य के शिष्य प्रबोधानन्द अथवा श्री चैतन्यदेव के शिष्य प्रबोधानन्द जी कृत नहीं। एतत् सम्बन्धी ऐतिहासिक विवेचन परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

### ७.१२. वृन्दावन प्रस्थान :

श्री हिताचार्य के वृन्दावन प्रस्थान पर प्रकाश डालते हुए चरित्र लेखक रसिकों ने लिखा है कि इक्तीस वर्ष तक देववन में निवास करके बत्तीसवें वर्ष के प्रारंभ में अपनी इष्ट श्री राधा की स्वप्नाज्ञा से श्री हिताचार्य ने वृन्दावन प्रस्थान किया। मार्ग में रात्रि हो जाने के कारण उन्हें चिरथावल नामक ग्राम के निकट निवास करना पड़ा।

रात्रि स्वप्न में श्री राधा ने पुनः कहा कि सुबह तुम्हारे पास एक ब्राह्मण आवेगा और तुमसे प्रार्थना करेगा कि आप मेरी दोनों कन्याओं से विधिवत् विवाह करके अपनी पत्नी बनाना स्वीकार करें। तुम उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेना। वह कन्यादान के साथ मेरा एक श्री विग्रह भी देगा उसे लेकर वृन्दावन चलो। वहाँ पर मेरी सेवा पद्धति, वृन्दावन धाम और वृन्दावन धाम की कुंजों में नित्य होने वाले विलास किंवा नित्यबिहार का प्रागट्य करो। प्रियादास जी कृत 'टीका भक्तमाल' में भी इस घटना का उल्लेख

१. तब श्री श्यामा आज्ञा दई। वृन्दावनहिं चलहु रसमई॥.....

चले आपु सब छाँड़ि कैं इष्ट वचन रस लीन। मारग चलत जु श्रम भयौ सौँझ बसेरौ कीन॥

लै प्रसाद पौढ़े सुखदाई। श्री श्यामा सुपने तब आई॥

चिरथावल में द्विज सम्पन्न। प्रेमभक्ति जुत महा अनन्य॥

द्वै कन्या सो तुमकौं दैहै। अपनौं भाग्य मानि वह लैहै॥

तिनकौं पाणिग्रहण जु कीजौ। भक्ति सहायक ही गनि लीजौ॥

तिहि ठौं और एक मम रूप। द्विज लै मिलिहै परम अनूप॥

ताकौं लै वृन्दावन जैहौ। सेवन करि सबकौं सुख दैहौ॥.....

त्वाँही सुपन विप्र कौं दीनौं। रोकि रह्यौ मग आनंद भीनौं॥

करि विवाह सम्पति सजि दई। प्रीति रीति द्विज कौं बढ़ि गई॥

वहौ विप्र श्री विग्रह लायौ॥ देखत व्याससुवन सुख पायौ॥

द्वै डोला दुलहिन दोरु अरु प्रभु कौ चौडोल। रथ सकटनि में सौँज बहु भूषन वसन अमोल॥

आये श्री वृन्दावन धाम। दल फल फूलन श्यामा-श्याम॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ६६, १०१ से १०७, १०६, ११५ से ११८

है<sup>१</sup>। श्री राधा का वही स्वप्नादेश उस ब्राह्मण को भी हुआ था। अतः उसने दूसरे दिन गो. हित हरिवंश के साथ अपनी दोनों कन्याओं का विवाह कर दिया और श्री राधाबल्लभलाल जी का श्री विग्रह भी प्रदान कर दिया। श्री हिताचार्य ने दोनों पत्नियों और श्री राधाबल्लभलाल जी को साथ लेकर श्री वृन्दावन में प्रस्थान किया।

### ७.१३. वृन्दावन में प्रथम पदन्यास की तिथि :

श्री हिताचार्य के वृन्दावन आगमन काल का वर्णन करते हुए जैकृष्णदास जी ने लिखा है कि जब श्री हिताचार्य की आयु का बत्तीसवें वर्ष का वय-क्रम चल रहा था [पूर्ण नहीं हुआ था] उस समय वृन्दावन की यात्रा प्रारंभ की<sup>२</sup>। श्री हिताचार्य का जन्म वि. सं. १५५६ की बैशाख शु. एकादशी को हुआ था। उनकी आयु का बत्तीसवाँ वर्ष वि. सं. १५६१ की बैशाख शु. एकादशी को पूरा होता है। इस प्रकार बहुत अधिक स्पष्ट है कि श्रीहिताचार्य वि. सं. १५६० की बैशाख शु. ११ और वि. सं. १५६१ की बैशाख शु. ११ के मध्य किसी समय वृन्दावन आये थे।

श्री उत्तमदास आदि सभी हित चरित्र लेखकों ने यह भी लिखा है कि वृन्दावन आते हुए मार्ग में हिताचार्य का दो कन्याओं के साथ विवाह भी हुआ था—विवाह में ही प्राप्त श्री राधाबल्लभलाल जी का विग्रह व दोनों नव वधूटियों को लेकर वे वृन्दावन आये<sup>३</sup> और वि. सं. १५६१ को दस्युराज नरवाहन जी द्वारा एक नव निर्मित सुन्दर मन्दिर में उन्होंने अपने सेव्य विग्रह [श्री राधाबल्लभलाल जी] को विराजमान करके पाटोत्सव भी किया था<sup>४</sup>।

१. आये गृह त्यागि राग बद्धौ प्रिया-प्रीतम सौं विप्र बड़मागी हरि आज्ञा दई जानिये।  
तेरी उमै सुता व्याह देउ लेउ नाम मेरौ इनकौ जो वंश सो प्रशंश जग जानिये॥  
राधिकाबल्लभलाल आज्ञा सो रसाल दई सेवा मो प्रकाश, औ विलास कुंज, धाम कौ।  
सोई विस्तार सुख सार दृग रूप पियौ दियौ रसिकन जिन पच्छ लियौ वाम कौ॥  
— म. मा. टी., टी.—प्रि. दा., छं. सं. ३६१, ३६२
२. बत्तिस वरष वय क्रम जान्यौ। प्रगट वास वन कौ मन मान्यौ॥  
श्री वृन्दावन के उत्साह। मारग में कीने द्वै व्याह॥  
— ज. कृ. की वा., [हि. कु. शा.] ज. कृ. दा., छं. सं. २०, २१
३. द्वै डोला दुलहिन दोऊ अरु प्रभु कौ चौडोल। रथ सकटन में सौंज बहु भूषन वसन अमोल॥  
आये निजु वृन्दावन धाम। दल-फल-फूलन श्यामा-श्याम॥  
— श्री. ह. च., उ. दा., छं. सं. ११७, ११८
४. मन्दिर सुन्दर सरस बनायौ। करि अभिषेक प्रमुहि पधरायौ॥  
पन्द्रहसै इक्यानवा सुहायौ। कातिक सुदि तेरस सुख छायौ॥  
पट्टमहोत्सव ता दिन कीनौ। जाचक द्विज गुनियन धन दीनौ॥  
— श्री. ह. च., उ. दा., छं. सं. १२८, १३०, १३१



उपर्युक्त ऐतिह्य पर शोधात्मक दृष्टि डालने पर हमें निम्नांकित तथ्य प्राप्त होते हैं—

१. मार्ग में विवाह २. श्री राधाबल्लभलाल जी एवं नव वधूटियों के साथ वृन्दावन आगमन ३. श्री राधाबल्लभलाल जी का सुन्दर मन्दिर निर्माण और ४. कार्तिक शुक्ला तेरस वि. सं. १५६१ को उस नव मन्दिर में श्री राधाबल्लभलाल जी का पाटोत्सव।

उत्तमदास जी के वर्णनानुसार श्री राधाबल्लभलाल जी के नव निर्मित मन्दिर में विराजमान होने की तिथि [पाटोत्सव] कार्तिक शु. १३ वि. सं. १५६१ है। श्री राधाबल्लभलाल जी के इस सुन्दर मन्दिर का निर्माण श्री हिताचार्य के शिष्य नरवाहन जी द्वारा हुआ था<sup>१</sup>। उस समय की परिस्थिति को देखते हुए सुन्दर मन्दिर निर्माण होने में कम से कम छः मास अवश्य ही लगे होंगे। इस प्रकार मन्दिर निर्माण का शुभारम्भ वि. सं. १५६१ का बैशाख मास स्थिर होता है।

यह तो निश्चित ही है कि मन्दिर निर्माण का शुभारम्भ नरवाहन को दीक्षा प्राप्त होने के कुछ दिन पश्चात् ही हुआ होगा। इसप्रकार नरवाहन जी का दीक्षा काल मन्दिर निर्माणारम्भ से एक मास पूर्व वि. सं. १५६१ या १५६० का चैत्र मास माना जा सकता है।

इस नव मन्दिर के निर्माता श्री नरवाहन जी के चरित्र वर्णन सन्दर्भ में भगवत मुदित जी ने लिखा है कि जब नरवाहन जी श्री हिताचार्य के दर्शनार्थ आये थे उस समय आचार्य चरण और नवलदास जी की परस्पर किसी विषय पर चर्चा चल रही थी<sup>२</sup>। चर्चा सुनकर नरवाहन जी को अपने पूर्व जीवन पर बहुत खेद हुआ और वे श्री हरिवंश जी के शरणापन्न हो गये।

इस वर्णन से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि नवलदास जी, नरवाहन जी से पूर्व ही हिताचार्य से दीक्षित हो चुके थे। यदि नवलदास जी का दीक्षा काल नरवाहन जी के दीक्षा काल से कम से कम एक मास पूर्व ही अनुमानित कर लिया जाय तो नवलदास जी का दीक्षा काल वि. सं. १५६० का फागुन मास स्थिर होता है।

नवलदास जी का चरित्र वर्णन करते हुए 'रसिक अनन्य माल' प्रणेता ने यह भी लिखा है कि—नवलदास जी ने श्री हिताचार्य की बहुत दिनों तक सेवा की थी और श्री हिताचार्य

१. नरवाहन जु नाम बलवान। ब्रज में फिरै तासु की आन॥

सो प्रभु के दरसन कौ आयौ। शिष्य भयौ मन्दिर बनवायौ॥

— हि. प. व. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १२०, १२१

२. चरचा होत नवल अरु आप। नरवाहन सब सुन्यौ अलाप॥

दरसन ते मति शुद्ध जु भई। श्री हित जू की पद रज लई॥

— र. अ. मा., भ. मु., नरवाहन जी की परचई

ने उनकी पर्याप्त परीक्षा भी ली थी। इस प्रकार परीक्षोत्तीर्ण और शरणागति के लिए उचिताकांक्षी तथा योग्य देखकर श्री हिताचार्य ने नवलदास जी को दीक्षित किया था—

बहुत द्यौस लौं सेवा कीनी। गुरु हू शिष्य परीक्षा लीनी॥

तब निजु मंत्र सुनायौ जाकौं। धर्म अनन्य बतायौ ताकौं॥

इस परीक्षाकाल और बहुत द्यौस के सेवा काल को कम से कम दो तीन मास भी अनुमानित किया जाय, तो नवलदास जी का वृन्दावन-आगमन काल वि. सं. १५६० का मार्गशीर्ष मास स्थिर होता है। यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि श्री हिताचार्य, नवलदास जी से कुछ समय पूर्व वृन्दावन आ चुके थे। यदि इस 'पूर्व' समय को कम से कम एक मास भी मान लिया जाय तो श्री हिताचार्य का वृन्दावन आगमन वि. सं. १५६० का कार्तिक मास स्थिर होता है।

ऐतिहासिक तथ्यों को आधार बनाकर विद्वद् सम्मत शैली से यह समय स्थिर किया गया है। यही कारण है कि इस समय को अस्वीकार करने में कोई ऐतिहासिक बाधा परिलक्षित नहीं होती। कार्तिक मास में ही श्री हिताचार्य का वृन्दावन आगमन इसलिए भी निरापद है क्योंकि देववन से वृन्दावन आने वाले मार्ग में स्थित चिरथावल ग्राम में श्री हिताचार्य का विवाह कार्तिक शु. एकादशी से पूर्व हो ही नहीं सकता था। कार्तिक शुक्ला एकादशी संपूर्ण भारतीय संस्कृति में 'असूझ साया' के नाम से सम्मान्य है। इस तिथि के दिन विवाह का मुहूर्त पंचांग में ढूँढ़ने की न तो कोई आवश्यकता ही होती और न किसी को कोई आपत्ति ही। कार्तिक शु. एकादशी से पूर्व देव शयन होने के कारण कन्याओं के पिता के सामने वैदिक और लौकिक आपत्तियाँ थीं, अतः वह वि. सं. १५६० की कार्तिक शु. एकादशी से पूर्व की तिथियों में श्री हिताचार्य का अपनी दोनों कन्याओं के साथ विवाह कर ही नहीं सकता था।

ऐसा भी कहा जा सकता है कि श्री हिताचार्य वि. सं. १५६० की बैशाख शु. द्वादशी से वि. सं. १५६० की असाढ़ शु. दशमी के मध्य कभी वृन्दावन आये होंगे। किन्तु हमें यहाँ पर यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि श्री हिताचार्य चिरथावल ग्राम में अकस्मात् पहुँचे थे। पहुँचने से पूर्व उनकी वैवाहिक तिथि निश्चित नहीं थी। वह तो 'असूझ साहे' [कार्तिक शु. ११ के दिन ही] में विवाह सम्पन्न हुआ था। ज्येष्ठ या आसाढ़ मास में वृन्दावन यात्रा तो सम्भव थी किन्तु अकस्मात् 'चिरथावल' ग्राम पहुँचने पर उसी दिन विवाह का शुभ वैवाहिक मुहूर्त था—ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। अतः विवाह सम्पन्न नहीं हो सकता था।



इस शास्त्रीय विवेचना के आधार पर तथा ऐतिहासिक घटनाओं के प्रकाश योग से निरापद यही सिद्ध होता है कि श्री हिताचार्य की वृन्दावन यात्रा वि. सं. १५६० की कार्तिक शु. दशमी को प्रारंभ हुई। उसी दिन वे सन्ध्या को चिरथावल ग्राम पहुँच गये। दूसरे दिन वि. सं. १५६० की कार्तिक शु. एकादशी को असूझ साहे के शुभ मुहूर्त में उनका विवाह सपन्न हो गया और कार्तिक शु. द्वादशी को वहाँ से चलकर वि. सं. १५६० की कार्तिक शु. त्रयोदशी को वृन्दावन आ पहुँचे।

जब वि. सं. १५६० की कार्तिक शु. त्रयोदशी को श्री हिताचार्य ने वृन्दावन में प्रथम पदन्यास किया उसी दिन श्री राधाबल्लभलाल जी रविजा तटस्थ एक लताभवन में प्रिया जी की गद्दी सेवा के साथ विराजमान किये गये<sup>१</sup> और सेवा प्रारंभ हो गई। यही कारण है कि नरवाहन जी द्वारा वृन्दावनस्थ कोइलिया घाट के निकट नव मन्दिर निर्माण हो जाने पर भी वि. सं. १५६१ की कार्तिक शु. तेरस को ही उस मन्दिर में श्री राधाबल्लभलाल जी को विराजमान करके पाटोत्सव मनाया गया और यही कारण है कि वि. सं. १५६१ की कार्तिक शु. त्रयोदशी को पाटोत्सव होने के पश्चात् भी श्री राधाबल्लभलाल जी जब-जब किसी नवीन मन्दिर में विराजमान हुए कार्तिक शु. त्रयोदशी के दिन ही हुए; किसी अन्य दिन में नहीं।

इस ऐतिहासिक विशद विवेचना का उद्देश्य मात्र यह बतलाना नहीं है कि श्री राधाबल्लभलाल जी का पाटोत्सव कार्तिक शु. त्रयोदशी को मनाया गया; प्रत्युत सर्व साधारण तथा विद्वद् समाज को यह लक्ष्य कराना है कि श्री हिताचार्य ने वि. सं. १५६० की कार्तिक शु. त्रयोदशी को इस पंचकोसी वृन्दावन में सर्वप्रथम पदन्यास किया था।

### ७.१४. श्री वन प्रागट्य एवं मधुर प्रभाव :

श्री हिताचार्य जिस समय वृन्दावन में आये उस समय वह लता पुंजाकार दल-फल और फूलों से परिपूर्ण एक सघन कुंज के रूप में था। यह लता पुंजाकार वृन्दावन शुक्ल-पिक-सारस हंस आदि पक्षियों के कलरव से मुखरित और चारों ओर यमुना से समावृत्त था। कहीं-कहीं यमुना तटस्थ ऊँचे टीलों पर यमुना स्नान हेतु आये हुए ब्रजवासीगण अवश्य दिखाई देते थे। समागत श्री हिताचार्य के द्वारा यह ज्ञात होने पर कि—‘इस सघन निर्जन वन में हम निवास करेंगे’—उन सभी ब्रजवासियों को अत्यधिक विस्मय और हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्री हिताचार्य के हाथ में तीर कमान देते हुए कहा

१. ब्रजवासिन मिलि आदर कर्यौ। प्रभु डोला रविजा तट धर्यौ॥  
लता भवन में प्रभु पधराये। अनुरागी सब दरसन आये॥

कि गुसाँई जी; आप तीर चलाइये; आपका तीर जहाँ तक पहुँचेगा वहाँ तक की भूमि आपकी होगी। यह श्री हिताचार्य का मधुर प्रभाव ही था कि इन वटमार वृत्ति वाले ब्रजवासियों के चित्तों का पूर्ण परिवर्तन हो गया और वे पंचकोसी वृन्दावन में श्री हिताचार्य को भूमि प्रदान करने के लिये तैयार हो गये। ब्रजवासियों के कहने पर श्री हिताचार्य ने एक तीर छोड़ा और वह पर्याप्त दूरी पर जाकर गिरा। श्री हिताचार्य ने जहाँ से तीर फँका—अपना निवासालय उसी स्थान को बनाया और जहाँ पर वह तीर गिरा, कालान्तर में वह स्थान 'तीर घाट' और बाद में 'चीर घाट' के नाम से प्रसिद्ध हो गया—

आये निज वृन्दावन धाम। दल फल-फूलन श्यामा-श्याम।।  
देखत भये कुंज रस ऐन। सेवत सगन अलौकिक मैन।।  
जमुना चहूँ ओर फिरि आई। शुक्-पिक-सारस-शिखि धुनि लाई।।  
ऊँची टेर भानुजा तीर। जहँ ब्रजवासिन ही की भीर।।.....  
वचन परस्पर कहे सुहाये। वन बसिवौ सुनि सबै सिहाये।।  
कही गुसाँई भूमि जु चहियँ। तहँ प्रभु सेवन करि सुख लहियँ।।  
तब तौ मगन भये ब्रजवासी। दीनी कर कमान इक गाँसी।।  
लीजै भूमि गुसाँई इतनी। पहुँचे तीर तिहारी तितनी।।

इतहि पुराने भवन ते चीर घाट लौं जान। ह्यौं लौं सर पहुँच्यौ तहाँ मंडल कुंज प्रधान<sup>१</sup>।।

गो. जतनलाल जी, चाचा वृन्दावनदास जी, गोपाल कवि तथा मदनमोहनदास जी आदि ने भी तीर फेंके जाने वाली उपर्युक्त घटना का अपने-अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है<sup>२</sup>। जिस स्थान पर श्री हिताचार्य ने सपरिवार अपना निवासालय बनाया था; आज भी उनके वंशज उस स्थान पर निवास करते हैं। वह स्थान आज कोइलिया घाट के नाम से प्रसिद्ध है। उस स्थान से लेकर तीर गिरने के स्थान तक [वर्तमान में गोविन्द घाट से संलग्न] श्री हिताचार्य की अधिकृत भूमि पर [कोइलिया घाट से लेकर तीर घाट किंवा चीर घाट तक] श्री हिताचार्य के वंशजों के ही निवासालय भी बने<sup>३</sup>।

श्री हिताचार्य के वृन्दावन आने के समय पंचकोसी रासस्थल वृन्दावन तो कण्टका-कीर्ण लताओं का एक पुंज विशेष निर्जन वन था—किन्तु उसके परिसर में तथा उसके

१. श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ११८ से १२१, १२३ से १२७

२[क] र. अ. सा., गो. ज. ला., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २१, २२

[ख] हि. प. ब. प., चा. वृ. दा., पृ. सं., १७

[ग] वृ. घा., गो. क., पृ. सं., २८ व ३८

[घ] हि. ह. च., म. मो. दा., पृ. सं. ३

३. देखें—वृ. प्र. मा. एवं वृ. घा.



आस-पास के स्थानों में ब्रजवासियों व मवासियों का निवास था। इन मवासियों में नरवाहन नामक मवासी अत्यधिक बलशाली था। उसने अपनी शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण ब्रज देश पर अपना अधिकार ही बना लिया था। उसकी इस शक्ति से बड़े-बड़े राजे महाराजे भी डरते थे। यहाँ तक कि दिल्लीश्वर का भी इस नरवाहन पर कोई नियन्त्रण नहीं था<sup>१</sup>।

अपने गुप्तचरों द्वारा जब उसे यह ज्ञात हुआ कि कोई ऐसा चमत्कारी महापुरुष हिंसक जन्तुओं से संसेवित निर्जन वन में आया है; जिसके मधुर प्रभाव से हिंसक जन्तु तथा निर्जन वन के परिसर में बसे बटमारों के मन-बुद्धि और चित्त बदल गये हैं और वे सब उस महापुरुष की सेवा सुश्रुषा में निरत हो गये हैं; तो कुतूहल देखने की दृष्टि से एक दिन नरवाहन भी श्री हिताचार्य के निवास स्थान पर आया। उस समय श्री हिताचार्य अपने शिष्यों तथा ब्रजवासियों से समावृत्त थे और 'नवल' नामक शिष्य के साथ कुछ आलाप संलाप कर रहे थे। राजा नरवाहन भी श्री हिताचार्य के मधुर प्रभाव से अछूता न रह सका। वार्तालाप सुनकर उसे अपनी वृत्ति पर बहुत खेद हुआ। उसने अपना हार्दिक दुख प्रकट करते हुए श्री हिताचार्य से स्वयं को शरण में लेने की प्रार्थना की<sup>२</sup>।

श्री हिताचार्य ने उसकी निष्कपट वाणी सुनकर मन्त्रदान के साथ-साथ मधुर उपदेश भी दिये जिससे उसके जीवन का आमूलचूल परिवर्तन हो गया<sup>३</sup>। नरवाहन जैसे खूँखार दस्यु के जीवन के इस परिवर्तन से पंचकोसी वृन्दावन में निवास करना सबके लिए सुगम हो गया। फलतः बृहद वृन्दावनस्थ ब्रज के नन्दग्राम, बरसाना, राधाकुंड और

१. नरवाहन भैगाउँ निवासी। बार पार में एक मवासी॥  
जाकी आज्ञा कोउ न टारै। जो टारै तिहि चढ़ि करि मारै॥  
बस करि लियौ सकल ब्रज देश। तासौं डरपैं बड़े नरेश॥  
पातशाह के वचननि टारै। मन आवै तौ दगरो मारै॥  
जो कोऊ यापै चढ़ि आवै। अमल न देई मारि भजावै॥

— र. अ. मा., भ. मु., नरवाहन जी की परचई

२. कबहुँक श्री वृन्दावन आयौ। श्री हित जू कौ दरसन पायौ॥  
चरचा होत नवल अरु आप। नरवाहन सब सुन्यौ अलाप॥  
दरशन ते मति शुद्ध जु भई। श्री हित जू की पद रज लई॥  
कहन लग्यौ हौं शरनहि आयौ। अपुनौं सब विरतान्त सुनायौ॥  
अब प्रभु मोहि आपुनौ करौ। सिर कर धरौ कुमति मम हरौ॥

— र. अ. मा., भ. मु., नरवाहन जी की परचई

३. बिना कपट कौ वचन सुनायौ। दीक्षा दै तब 'हित' अपनायौ॥  
बाट मारिवौ तुरत छुड़ायौ। पूरन भाग्य उदै है आयौ॥  
सेवा करन लग्यौ मन लाई। करत भावना नाहि अघाई॥

— र. अ. मा., भ. मु., नरवाहन जी की परचई

संकेत आदि ग्रामों में बसे हुए सन्तजन भी श्री हिताचार्य द्वारा प्रकटित इस पंचकोसी रासस्थल वृन्दावन में निवास करने लगे<sup>१</sup>। प्रियादास जी गौड़ीय ने सुस्पष्ट शब्दों में यह उल्लेख किया है कि श्री हिताचार्य ने अपने इष्ट श्री राधिकाबल्लभलाल जी की आज्ञा से उनके धाम [पंचकोसी वृन्दावन] का, उनके कुंज विलासों [नित्यबिहार] का और उनकी सेवा [विधि निषेध शून्य अष्टयामी प्रगट सेवा तथा मानसी सेवा] का प्रागट्य किया। इससे पूर्व सभी भक्तगण इस पंचकोसी वृन्दावन से अपरिचित ही थे —

राधिकाबल्लभलाल आज्ञा सु रसाल दई सेवा मो प्रकाश औ विलास कुंज धाम कौ।  
सोई विस्तार सुख सार दृग रूप पियौ दियौ तिन रसिकन जिन लियौ पक्ष वाम कौ<sup>२</sup>।।

चाचा वृन्दावनदास जी ने भी 'हित स्वरूप बेली' में इस पंचकोसी वृन्दावन का सर्वप्रथम निवासी श्री हिताचार्य को ही स्वीकार किया है—

व्यास आत्मज सुमति जग, वैभव तजि अनियास।

वृन्दारण्य सुदेश थल प्रथम कियौ रुचि वास<sup>३</sup>।।

## ७.१५. वृन्दावन निवास :

श्री हिताचार्य ने जिस स्थान से तीर फेंका था उसी स्थान पर लता विनिर्मित मन्दिर या पर्ण कुटी में श्री राधाबल्लभलाल जी को विराजमान कर दिया<sup>४</sup> और अपने निवास के लिए किसी प्रकार का निवासालय बनाकर श्री राधाबल्लभलाल जी की अष्टयामी सेवा करने लगे। वे इस पर्ण विनिर्मित मन्दिर में उस समय तक सेवा करते रहे जब तक राजा नरवाहन द्वारा नवीन मन्दिर का निर्माण नहीं हुआ था। राजा नरवाहन ने श्री राधाबल्लभलाल जी का नवीन मन्दिर उसी स्थान पर बनवाया था। जहाँ पर श्री हिताचार्य सपरिवार निवास करते थे। नवीन मन्दिर निर्माण हो जाने पर वि. सं. १५६१ की कार्तिक शु. तेरस को श्री हिताचार्य ने श्री राधाबल्लभलाल जी को उसमें विराजमान किया और विशेष समारोह के साथ पाटोत्सव मनाया।

## ७.१५.१. निवास स्थल :

श्री हिताचार्य के सपरिवार निवास करने का स्थल तथा राजा नरवाहन द्वारा

१. एतत् संबंधी विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

२. भ. मा. टी., टी.—प्रि. दा., छं. सं. ३६२

३. हि. स्व. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. ३०

४. ब्रजवासिन मिलि आदर कर्खौ। प्रमु डोला रविजा तट धर्यौ।।

लता भवन में प्रमु पधराये। अनुरागी सब दरसन आये।।

— हि. प. ब. प., चा. वृ. दा., छं. सं. ११७, ११८, पृ. सं. १७



निर्माण कराया गया श्री राधाबल्लभ-मन्दिर, पंचकोसी वृन्दावन में किस स्थान पर था इसका सुस्पष्ट उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में नहीं है; किन्तु 'श्री हरिवंश चरित्र' तथा अन्यान्य प्राचीन वाणी साहित्य के गवेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से उस स्थल का परिचय अवश्य प्राप्त होता है।

उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' के निर्माणकाल [वि. सं. १७३६] में श्री हिताचार्य द्वारा तीर फेंकने का स्थान [जहाँ से उन्होंने तीर फेंका था]—'पुराना भवन' और तीर गिरने का स्थान 'चीर घाट' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। तीर गिरने के स्थान के निकट ही श्री हिताचार्य ने रासमण्डल और सेवाकुंज की भी स्थापना की थी—  
इतहि पुराने भवन ते चीरघाट लौं जान। ह्यौं लौं सर पहुँच्यौ तहाँ मण्डल कुंज प्रधान<sup>१</sup>॥

उत्तमदास जी के विद्यमान काल में श्री राधाबल्लभलाल जी सुन्दरदास कायथ द्वारा बनवाये गये मन्दिर [निर्माण काल—वि. सं. १६४९] में विराजमान हो गये थे। इस नवीन मन्दिर में विराजमान होने के कारण वि. सं. १५६९ में नरवाहन द्वारा विनिर्मित मन्दिर को पुराना भवन या पुराना मन्दिर कहा जाने लगा था।

उपर्युक्त प्राप्त ऐतिह्य सामग्री का गवेषणात्मक मन्थन करने पर यह तथ्य तो निरापद रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है कि श्री राधाबल्लभलाल जी का सर्वप्रथम मन्दिर [वि. सं. १५६९ में नरवाहन-द्वारा विनिर्मित, मन्दिर] उसी स्थान पर बनवाया गया था जिस स्थान से श्री हिताचार्य ने तीर फेंका था। उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' में वर्णित 'मोहन प्रसंग' से यह भी सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य ने सपरिवार अपना निवास स्थान भी उसी मन्दिर को ही बनाया था। अर्थात् निवास स्थान में ही मन्दिर और मन्दिर में ही उनका परिवारालय था।

उन्होंने इस प्रसंग का विशद वर्णन करते हुए लिखा है कि एक दिन अबोध बालक मोहन खेलते-खेलते उस स्थान पर पहुँच गया जहाँ पर श्री राधाबल्लभलाल जी शयन कर रहे थे और भोग सामग्री भी रखी हुई थी। बालक ने अपने सहज सुलभ चापल्य के साथ उस सामग्री में से कुछ खाई और कुछ फैला दी। उसी समय बालक के पिता हिताचार्य आ गये। उन्होंने बालक के गाल पर एक थपेड़ देते हुए कहा तूने ये क्या किया—

श्री राधाबल्लभ पौढ़े जहाँ। मोहन बालक पैठ्यौ तहाँ॥

विविध भोग सामग्री धरी। सो लै अस्त व्यस्त सब करी॥

कछु खाई कछु लै फेलाई। देखी लरिका की चपलाई॥

हित जू एक थपेर जु दीनी। सामिग्री क्यों जूँटी कीनी॥

वर्णित पंक्तियों से निर्भ्रान्ततः ज्ञात होता है कि श्री राधावल्लभ जी का मन्दिर [विराजमान स्थल, शैया गृह, और पाक गृह] और हित हरिवंश जी का पारिवारिक आवासगृह ये दो न थे। तभी तो बालक मोहन खेलते खेलते वहाँ घुस गया।

चाचा वृन्दावनदास जी ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

अतिलड़ श्री हरिवंश के नाम श्री मोहनलाल।

अंग परम कमनीय अति सुन्दर नैन विशाल॥

लिये खिलौना हाथ में खेलत आँगन माँहि।

प्रभु लिये मन्दिर बोलिकैं किन्हूँ देखे नाँहि॥

अपने हाथ जिमावहीं प्रभु कौतिकी दयाल।

पाक भवन ते आइकैं तात लखे तत्काल॥

चापट मास्यौ वदन में भाजन दियौ उतारि।

मन में अधिक दुखी भये यह कौतिक जु निहारि॥

उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' के 'कुंज सेवा प्रसंग' वर्णन से भी यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस मन्दिर में श्री हिताचार्य ने श्री राधावल्लभलाल जी को विराजमान करके सर्वप्रथम पाटोत्सव किया था; वह मन्दिर सेवाकुंज नामक लीला स्थल से पृथक् था और उसी में श्री हिताचार्य का सपरिवार निवास स्थान भी था। 'सेवाकुंज प्रसंग' में उन्होंने लिखा है कि—

एक दिन श्री हिताचार्य सेवाकुंज में इष्ट-ध्यान-मग्न बैठे हुए थे। उसी समय परनेष्ट श्री युगल ने प्रत्यक्ष होकर कहा कि हमें भूख लग रही है। श्री हिताचार्य ने कहा कि घर पर जब मैंने भोग रखा था, उस समय तुमने कहा था कि हम कुंज [सेवाकुंज] में गेंद खेलेंगे। उसके पश्चात् वहीं भोजन करेंगे। अतः मैं यहीं पर भोजन ले आया हूँ। उसी दिन से उस कुंज में युगल रूप की गादी सेवा संस्थापित कर दी तथा मन्दिर की भाँति ही सेवा करने का विधान भी कर दिया और यह भी नियम बना दिया कि यहाँ के लिए 'राजभोग' मन्दिर से ही आया करेगा—

इक दिन बैठे हे कुंज सेवा। अर्पन करी ध्यान में मेवा॥

कह्यौ प्रत्यक्ष आइ दोऊजन। हमको भूख लगी है इहि छन॥



कह्यौ लेहु मैं पहिलैं ही लायौ। घर तौ भोग तुमन नहिं पायौ।।  
तब तुम कही कुंज मधि जैहैं। कुसुम खेल करि पाछे खैहैं।।  
लियें सकल सामग्री आयौ। भोजन करहु जु मन कौ भायौ।।.....  
गादी जुगल रूप की थपी। भूषन वसन सौंज सब अपी।।  
राजभोग मन्दिर ते आवै। अधिकारी नित भोग लगावै<sup>१</sup>।।

चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'हित परिकर वन्दन पत्रिका' से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। साथ ही यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि सेवाकुंज का प्रागट्य श्री राधाबल्लभलाल जी का मन्दिर बनने के अनिश्चित काल पश्चात् हुआ था—

सेवाकुंज जु प्यारी ठौर। जहाँ नित बिहरैं साँवल-गौर।।  
आज्ञा दै मन्दिर बनवायौ। तहाँ हित हाथ सु भोजन पायौ।।  
मन्दिर भोग धरत हौ जैसैं। सेवाकुंज धरौ नित ऐसैं।।  
रजनी ह्यौ आवै नहिं कोऊ। यामें नित संतत हम दोऊ<sup>२</sup>।।

उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' के सूक्ष्म अध्ययन से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि गो. हित हरिवंश जी ने अपना निवासालय अथवा श्री राधाबल्लभलाल जी का मन्दिर [हित हरिवंश जी का पारिवारिक आवास गृह और श्री राधाबल्लभलाल जी का मन्दिर— जिसमें उन्होंने वि. सं. १५६१ में अपने इष्ट का सर्वप्रथम पाटोत्सव मनाया था; ये दोनों स्थल एक ही थे—ऊपर प्रमाणित हो चुका है] उसी स्थान को बनाया था जहाँ से उन्होंने तीर फेंका था और वह स्थान यमुना तटस्थ 'ऊँची टेर' [ऊँचा टीला या टेकरी] पर था<sup>३</sup>। किन्तु वह स्थान यमुना तट पर किस विशेष स्थल पर था इसका परिज्ञान रसिक वाणियों के गवेषणात्मक अध्ययन से इस प्रकार प्राप्त होता है—

गो. चन्द्रलाल जी ने 'वृन्दावन प्रकाश माला' नामक ग्रन्थ में वृन्दावन परिक्रमा में स्थित स्थानों तथा अन्तर्वेदी स्थलों का परिचय दिया है। उन्होंने यह परिक्रमा श्री राधाबल्लभलाल जी के पुराने मन्दिर से प्रारंभ की है जहाँ पर स्वयं रचयिता का निवास स्थान, [जहाँ पर उनके मूल पूर्वज गो. वनचन्द्र तनया श्री किशोरी जी के चरण उनके सेव्य रूप में विराजमान हैं।] और अन्यान्य श्री हरिवंश-वंशजों के निवास स्थान हैं —

१. श्री ह. च., उ. दा. कुंज सेवा प्रसंग

२. हि. प. ब. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १२६, १२७

३. ऊँची टेर भानुजा तीर। जहाँ ब्रजवासिन ही की भीर।।.....

मन्दिर सुन्दर सरस बनायौ। करि अभिषेक प्रमुहि पधारयौ।।

मन्दिर पुरानौ श्री राधाबल्लभलाल जू कौ, जहाँ श्री किशोरी हित सुख कौ भरन है।  
तिनके उदय ही सौं जीवन हमारौ, दुःख हरि निर्भय किये कृपा की ढरनि है॥  
विपिन विलास कौ हुलास ही सौं देख्यौ चहाँ, हिय में विनोद चाह पूरन करन है।  
तारन तरन अति सुन्दर वरन चन्द, हित ही सौं सरन है कैं सेवत चरन है<sup>१</sup>॥

इस पुराने मन्दिर से पूर्व दिशा की तरफ यमुना जी के प्रवाह की दिशा में आगे की ओर चलने पर ही यमुना का हित घाट, कुंज गली, हित परिकर की निकुंज, शाहलाल की कुंज तथा जुगलघाट पर हरीदास तूँवर के सेव्य, ठाकुर श्री युगलकिशोर जी के दर्शन होते हैं—

करिकैं प्रणाम हित कुल कौं तहाँ ते चले, कुंज गली है कैं हिय पुलकि सिहाये हैं।  
आगे हित घाट ताकौ देख्यौ सब ठाठ, जहाँ नाना भाँति द्रुम फूलन सौं छाये हैं॥  
पार बेलवन मानसरोवर शोभा देखि, यमुना की छवि लखि लोचन सिहाये हैं।  
हित परिकर की निकुंज तल आये, शाहलाल जी कुंज गली देखि हरषाये हैं<sup>२</sup>॥  
ताके आगे जुगलकिशोर जू कौ मन्दिर है, जुगलघाट छत्री तीन अति छवि देत हैं<sup>३</sup>॥

गो. चन्द्रलाल जी ने परिक्रमा वर्णन का समापन उसी स्थल [हित घाट] पर करते हुए लिखा है कि जहाँ पर सिताबराय का बनवाया हुआ मन्दिर और गुसाँई जुगलकिशोर जी की कुंज भी है। यहीं पर हित घाट है जहाँ हित कुल के गोस्वामीगण निवास करते हैं—

आगे कूप कुंज बाग मन्दिर सिताबराय, जू ही ने बनायौ हित प्रीति चित गही है।  
आगे कुंज श्री गुसाँई जुगलकिशोर जू की, तिनकी चरन की शरन हम लही है<sup>४</sup>॥  
जहाँ सादौ हित घाट सुन्दर विराजत है, हित परिकर की तहाँ ही ठहरानि है।  
जहाँ हित कुल की निकुंज नव सोहत हैं, तिनकी शरन ही हमारी ठहरानि है<sup>५</sup>॥

‘वृन्दावन प्रकाश माला’ से समुपलब्ध सामग्री समालोड़न से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री राधाबल्लभलाल जी का प्राचीनतम मन्दिर यमुनातटस्थ उस स्थान पर था जहाँ पर ‘वृन्दावन प्रकाश माला’ के निर्माण काल में हित हरिवंश जी के लघु तनय गो. मोहनचन्द्र जी के वंशज गो. जुगलकिशोर जी की कुंज थी, जहाँ पर श्री हरिवंश वंशज अन्य अनेक गोस्वामियों के आवास गृह थे और जहाँ पर गो. वनचन्द्र तनया श्री किशोरी जी के वंशज गो. चन्द्रलाल जी [ग्रन्थ रचयिता] का निवास गृह था। इससे थोड़ा ही आगे हित घाट था और जुगलघाट पर हरीदास तोमर द्वारा बनवाया गया ठा. जुगलकिशोर जी का मन्दिर भी था। ‘प्रकाश माला’ में वर्णित उपर्युक्त सभी



स्थल आज भी उसी स्थान पर परिलक्षित होते हैं जो आज कोइलिया घाट या कोरिया घाट के नाम से विख्यात है और हित घाट व जुगल घाट के अत्यन्त सन्निकट है। इसप्रकार 'वृन्दावन प्रकाश माला' के आधार पर यह तथ्य निरापद रूप से प्रमाणित हो जाता है कि श्री हित सदन अथवा श्री राधाबल्लभ जी का मन्दिर वृन्दावन में यमुना तटस्थ कोइलिया घाट [अपभ्रंश नाम-कोरियाघाट] पर ही था।

चाचा वृन्दावनदास जी ने भी इस तथ्य की पुष्टि प्रकारान्तर से की है। उन्होंने वृन्दावन में जुगलघाट पर स्थित हरीदास तूँवर द्वारा बनवाये हुए ठा. श्री जुगलकिशोर जी के मन्दिर का परिचय देते हुए लिखा है कि यह मन्दिर यमुना तटस्थ श्री हित सदन [श्री हिताचार्य के निवासालय] के निकट है जहाँ पर हित हरिवंश जी ने सर्वप्रथम श्री राधाबल्लभलाल जी को मन्दिर में पधराया था—

नमो-नमो प्रभु सदन उत्तंग।

हरीदास तूँवर पधराये, जुगलकिशोर सु कमनी अंग॥

रविजातट-हित-सदन निकट ही, जुगलघाट वरषत रस रंग।

वृन्दावन हित रूप रँगीले, बिहरत विपिन सखिनु लिये संग<sup>१</sup>॥

नमो-नमो वृन्दावन आदि हित जहाँ।

श्री हरिवंश चन्द्र पधराये, श्री राधाबल्लभ राजत तहाँ।

तजत न ठौर भक्त वत्सल प्रभु, विदित पुराने मंदिर यहाँ<sup>२</sup>॥...

चाचाजी कृत उपर्युक्त छन्दों से सुस्पष्ट ही ज्ञात होता है कि श्री हित जी का आवासगृह अथवा श्री राधाबल्लभलाल जी का वह प्राचीन मन्दिर जिसमें हित हरिवंश जी ने वि. सं. १५६१ में श्री राधाबल्लभलाल जी का सर्वप्रथम पाटोत्सव किया था; वृन्दावन में जुगलघाट पर स्थित ठा. जुगलकिशोर जी के मन्दिर के सन्निकट था। चाचा वृन्दावनदास जी की यह पंक्ति—'रविजातट हित-सदन निकट ही जुगलघाट वरषत रस रंग' भी 'वृन्दावन प्रकाश माला' से प्राप्त तथ्यों का ही पूर्ण समर्थन करती है।

वृन्दावन में जुगलघाट के निकट जिस 'हित-सदन' में हित हरिवंश जी ने श्री राधाबल्लभलाल जी को विराजमान किया था वहीं पर गो. हित हरिवंश जी के लघु तनय

मोहन का जन्म और जन्मोत्सव हुआ था<sup>१</sup>। उनके वंशज तब से आज तक उसी स्थान पर निवास कर रहे हैं जो कि आज कोलिया या कोइलियाघाट के नाम से विख्यात है।

इस स्थान विशेष को और भी स्पष्ट करते हुए गोपाल कवि ने उसे कोरिया घाट पर स्थित बतलाया है—

लीजै भूमि अबै तुम तितनी पहुँचै तीर तुम्हारौ।  
तबै कोरिया घाटहि ते तकि तीर घाट पर मास्यौ॥  
यहाँ पुरानौ मंद्र बनायौ ह्यँ मंडल बनवायौ।  
सेवाकुंज प्रकाशी तहँ पिय-प्यारी दरसन पायौ<sup>२</sup>॥

कवि ने अन्यत्र भी श्री राधाबल्लभलाल जी के इस पुराने मन्दिर के स्थल का पुनः उल्लेख करते हुए लिखा है कि हित घाट के पास गो. कुंजलाल जी [गो. जतनलाल-तनय] की कुंज में ठाकुर श्री राधारूपबल्लभलाल जी विराजमान हैं और इसी स्थान पर श्री राधाबल्लभ जी का पुराना मन्दिर है जहाँ से हित हरिवंश जी ने भूमि अधिग्रहण करने के लिए तीर चलाया था—

कुंजलाल की कुंज तहीं इक हित घाटहि तहँ पासा।  
राधा रूप बल्लभहि लाल ठाकुर हैं सुखरासा॥  
तहीं पुरानौ मंदिर राधाबल्लभ कौ इक सोहै।  
भूमि लैन हित तीर चलायौ हित जू जहँ थल जोहै<sup>३</sup>॥

परवर्ती सभी वाणीकारों ने भी हित हरिवंश जी का निवास स्थान अथवा श्री राधा-बल्लभलाल जी का मन्दिर इसी स्थल [कोइलिया घाट] को ही स्वीकार किया है—

हित जू सहज चलायौ तीर। चकित भई ब्रज जन की भीर॥  
चैन घाट ते आगे गयौ। तीर घाट तब वह थल भयौ॥  
कोइल घाट तरजिना तट में। हित जू बसे स्वजन संघट में॥  
कोउ दिन नृप नरवाहन आयौ। दरसन करि अति ही सुख पायौ॥

१[क] जनमे मोहन बजी बघाई।

श्री हरिवंश सदन महा मंगल गहर न करहु वेगि चलि माई॥

कानन रविजा तीर सोहिलौ बाद्यौ रंग कद्यौ नहि जाई॥

[ख] आजु बघावौ रविजा तीर में श्री हरिवंश सु घाम॥ टेक॥

अलम लाम सुत जनम भक्ति कौ भाजन प्रगट्यौ मानौ॥

अति सोहन मोहन लखि नैननि रसना कौन वखानौ॥

— हि. कु. की ज. ब., चा. वृ. दा., पृ. सं. १०



मन की वृत्ति बदलि तब गई। हित जू चरन शरन तब लई॥  
आज्ञा लै मन्दिर बनवायौ। प्रमुदित मन निज भाग्य मनायौ१॥

इस प्रकार उक्त वर्णनों के आलोक में यह तथ्य निभ्रान्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि वि. सं. १५६१ में नरवाहन द्वारा बनवाया गया श्री राधाबल्लभलाल जी का सर्व प्रथम मन्दिर तथा जिसमें श्री हिताचार्य का सपरिवार निवास भी था; उस स्थल पर था जो आज कोइलिया घाट किंवा कोइल घाट [अपभ्रंश कोलिया घाट या कोरिया घाट] के नाम से विख्यात है। प्राचीन वाणी ग्रन्थों में उल्लिखित गो. हित हरिवंश जी का 'पुराना भवन' या श्री राधाबल्लभलाल जी का सर्वप्रथम मन्दिर तो आज पूर्णतः नष्ट हो चुका है; किन्तु उसी स्थल पर श्री हितात्मज गो. मोहनदास जी के सेव्य स्वरूप ठाकुर श्री लाड़िलीमोहनजी एक नव निर्मित मन्दिर में विराजमान हैं और जहाँ पर वर्तमान समय में इन्हीं गो. मोहनदास जी के वंशज गो. सोहनकिशोर जी सेवा कर रहे हैं।

### ७.१५.२. स्वेष्ट-सेवा-संस्थापन :

श्री हिताचार्य के परमोपास्य षटैश्वर्य सम्पन्न भगवान नहीं थे; प्रत्युत कोटि ब्रह्म ऐश्वर्य के परकोटे के अन्तर्गत किन्तु उससे दूर पूर्ण माधुर्य मूर्ति, रस-रसिक, अद्वय युगल किशोर थे। भगवान की सेवा पूजा वैदिक विधान द्वारा ही संविधेय होती है किन्तु माधुर्य मूर्ति, 'प्रेम' किंवा 'रस' विग्रह श्री राधाबल्लभलाल जी की सेवा प्रीति-विधान से ही सम्भव थी। अतः श्री हिताचार्य ने अपने स्नेह भाजन श्रीराधाबल्लभलाल जी का अहर्निशि समयानुरूप अनेक प्रकार से लाड़-दुलार-प्यार किया। इस लाड़-प्यार को ही उन्होंने सात भोग और पाँच आरती वाली विधि निषेध शून्य 'अष्टयामी सेवा' तथा वर्ष में आने वाले ऋतु उत्सवों [बसन्त, होली, होरीडोल, जलबिहार, पावस, झूला और रास आदि] की 'औत्सविक सेवा' का सुरम्य रूप प्रदान किया<sup>१</sup>। साथ ही अपने आचरणों व वाणी द्वारा दैनिक स्वेष्ट की मानसी सेवा करने का भी मूर्त विधान दिया। प्रगट सेवा और मानसी सेवा इन दोनों सेवा पद्धतियों पर पूर्व पृष्ठों में विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। 'औत्सविक सेवा' संबंधी विस्तृत विवेचन परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

### ७.१५.३. रसोपासना का प्रचार-प्रसार :

श्री हिताचार्य ने जिस रसोपासना की संप्रतिष्ठा अपनी कौमारावस्था में देववन में ही कर दी थी और ज्ञानू, बीठलदास, नाहरमल, मोहनदास, प्रमदानंद, पूरनदास, रंगा,

१. हि. ह. च., म. मो. दा., पृ. सं. ३

२. सेवा की पद्धति विस्तारी। सात भोग रितु-रितु अनुसारी॥

पाँच आरती आठौ याम। समै-समै भावना सु धाम॥

मेधा, गांगू, गोविन्दा आदि अनेक जीवों को निज मंत्र प्रदान करके विविध विचारों का मार्ग प्रशस्त कर दिया था; उस रसोपासना की मधुर मण्डलिक मूर्ति, निषेध की निर्बन्धता तथा कर्म-धर्म और व्रतादिकों का विचक्षण विमर्श समस्त सर्वसाधारण मानव समाज का चित्ताकर्षण करने में समर्थ सिद्ध हो चुका है। उल्लेखनीय असाधारण चमत्कार तो यह हुआ कि रसोपासना के प्रवर्धन के लिए उनका 'उपासनामय जीवन' ही मूलाधार बना। संभवतः यही कारण है कि कृष्ण निवासकाल में भी उन्हें अपनी रसोपासना के प्रचार-प्रसार के लिए पूर्णतः निरालम्ब सम्प्रदायाचार्यों की भाँति खंडन-मंडनात्मक माध्य प्रत्यक्ष निर्णय, प्रवर्धन और प्रसारण की प्रक्रिया विशेष नहीं अपनानी पड़ी।

श्री हिताचार्य ने युग-युग में परम संगुप्त रसरीति का प्रचार-प्रसार करने के लिए में प्रत्यक्ष आचरणों द्वारा ही किया<sup>१</sup>। उन्होंने अपने आचरित जीवन के मधुर प्रभाव द्वारा ही अनेक जीवों को आकर्षित करके उनके जीवन में आनन्द-दुःख संश्लेषण का दिव्य और उन्हें वृन्दावन रस-रसिक बना दिया। इन वृन्दावन रस रसिकों में कुछ ऐसे विद्वत् कृपापात्र रसिक हुए जिन्होंने देश-देशान्तरों में भ्रमण करके श्री हरेकृष्ण-धर्म का प्रचार किया। जैसे—नवलदास, पूरनदास, परमानंददास आदि<sup>२</sup>। कुछ ऐसे हुए जिन्होंने वृन्दावन में ही मन्दिर बनवाकर हिताचार्य की अष्टयामी सेवा पद्धति का प्रचार किया। जैसे—होमनाथ व्यास व गो. कृष्णदास आदि<sup>३</sup>। हित शिष्यों में कुछ ऐसे रसिकों का भी संश्लेषण प्रभाव होता है जिन्होंने अनेक मोहान्ध जीवों को अपने अनन्य निष्ठा के जीवन से प्रभावित करके उन्हें अपना शिष्य बनाया और श्री हिताचार्य की अनन्यैक निष्ठा को प्रदान की। जैसे—सेवक जी अलिमोहन जी तथा हरिवंशदास काव्य आदि<sup>४</sup>। कतिपय रसिक ऐसे भी हुए जिन्होंने अपनी रसमय वाणी रचना द्वारा अनेकानेक जीवों को वृन्दावन रस का अनन्य आस्वादक बना दिया। जैसे—सेवक जी, प्रबोधानंद जी, हरिनाथ व्यास जी, गो. वनमालीदास जी, गो. कृष्णदास जी, गो. गोपीनाथ जी, गो. मोहनदास जी, अलिमोहन, गंगा-यमुना बाई, नवलदास और सेवादास आदि-आदि।

१. गुप्त रीति आचरण प्रकट सब जग दिये। ज्ञान-धर्म-वृत्त-कर्म-प्रतिष्ठ विकार विहरे।  
भक्ति हित जे शरण आये द्वन्द्व दोष जु सब घटे। कमल कर खिन अभय होने कर्म-बंधन सब भटे।

— से. वा. से. जी. मंगल गान प्रकरण

२. र. अ. मा., भ. मु., व्यास जी, परमानंददास जी व प्रबोधानंद जी की परचई

३. र. अ. मा., भ. मु., व्यास जी की परचई एवं इ. प. ब. बे. चा. वृ. दा. प. सं. ५६

४[क] र. अ. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १८२

[ख] ब. प्र. [द्वितीय] चा. वृ. दा., छं. सं. ४३ व ४६

[ग] र. म. मा., भ. मु., हरिवंशदास जी की परचई



कृष्ण भक्ति साहित्य के अध्ययन से ऐसा भी ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत 'वन-बिहार रस' किंवा वृन्दावन रस की अमोघ प्रभावी मधुरिमा ने अवतार स्वरूपों की उपासना करने वालों को भी लालस मानस बना दिया था। फलतः वे भी अपनी उपासना-मर्यादा का अतिक्रमण करके प्रगट या अप्रगट रूप से वृन्दावन रस का पान करने लगे थे। पान मात्र ही नहीं प्रत्युत उस रसासव के उन्माद से उन्मत्त होकर श्री राधाचरण प्रधानात्मक साहित्य का मधुर गान भी करने लगे थे। यद्यपि ऐसे कृष्ण भक्त पूर्ण रूप से वृन्दावन रस की 'रसिकता' अपने जीवन में उतारने में सक्षम नहीं हुए थे; क्योंकि उन भक्तगणों ने संपूर्ण रूप से 'व्याससुवन-पथ' का अनुसरण नहीं किया था। तथापि उनमें से अधिकांश भक्तों ने विधिनिषेध का अंशांश त्याग, एकादशी व्रत के साथ सभी व्रतों की उपेक्षा कर दी थी। बहुत से भक्तों ने अपने सेव्य स्वरूप के साथ श्रीराधा की गादी सेवा विराजमान करके श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत अष्टयामी सेवा पद्धति भी स्वीकार कर ली थी।

### ७.१५.४. लीला स्थलों का प्रागट्य :

श्री हिताचार्य ने ऐसे वृन्दावन का प्रागट्य किया था जोकि भूतलस्थ होते हुए भी 'देवानामथ भक्त-मुक्त' और श्री कृष्ण के लीला परिकर के लिए भी दुर्लक्ष्य था। इसीलिए यह वृन्दावन परम रहस्य संज्ञक बना रहा और बना रहेगा। ऐसे वृन्दावन में होने वाली लीलायें और लीला स्थलों का प्रागट्य भी अनेक दृष्टियों से अनिवार्य था। अतः श्री हिताचार्य ने उन लीला स्थलों का भी प्रागट्य किया<sup>१</sup> जिनका उल्लेख श्री मद्भागवत आदि पुराणों में नहीं है। इन लीला स्थलों का प्रागट्य ही पंचकोसी वृन्दावन का प्रागट्य है और जो रहस्य रूप वृन्दावन के परिचय प्रदाता तथा प्रत्यक्ष प्रतीक हैं। पंचकोसी वृन्दावन में उनके द्वारा प्रकटित लीला स्थल हैं—रासमण्डल, सेवाकुंज, वंशीवट, धीरसमीर, मानसरोवर, हिंडोल स्थल, शृंगारवट और वन विहार।

१[क] ठौर-ठौर भावना जु भासी। सेवाकुंज तहाँ जु प्रकाशी॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. १४४

[ख] लीला ठौर चिताये अपने। कोउ परतक्ष कोउ पुनि सपने॥

राधाकुण्ड-मानसर तट में। कबहूँ सुख लेहि वंशीवट में॥

जहँ-जहँ इष्ट चिताये ठौर। प्रगट करे रसिकन शिरमौर॥

— हि. प. व. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १२८ से १३०

[ग] परम करुणज्ञ ब्रजपति सुवन केलि की, ठौर दरसाइ रस कही वैभव नई।

जयति हरिवंश परशंश दत्त जासु के, सुमति जागी कुमति नाम उचरत गई॥

— ब्र. प्र. बे., चा. वृ. दा., प. सं. १

### ७.१५.४.१. रासमण्डल :

वैसे तो सम्पूर्ण पंचकोसी वृन्दावन श्यामा-श्याम का रासस्थल ही है; किन्तु इस स्थान विशेष को रास रसिक युगलवर ने रास करने के लिए ही 'रास-कुंज' के रूप में स्वीकार किया है<sup>१</sup>। जैसे भोजन के लिए 'भोजन-कुंज', शृंगार के लिए 'शृंगार-कुंज' स्नान के लिए 'स्नान-कुंज' और शयन के लिए 'शयन-कुंज', आदि।

श्री हिताचार्य ने 'हित चौरासी' के 'श्याम सँग राधिका रासमण्डल बनी' [प. सं. ७१] आदि पदों में इसी रासमण्डल संज्ञक रासस्थल की ओर संकेत किया है। इस स्थल को प्रगट करके उन्होंने यहाँ रासमण्डल का निर्माण करवाया था और अनुकरण रासलीला का शुभारंभ कार्तिक बदी द्वितीया को [वि. सं. १५६२ के लगभग] इसी रासमण्डल पर किया था<sup>२</sup>। हिताचार्य ने अपने प्रिय शिष्य छबीलेदास को इसी स्थल पर इष्ट-साक्षात्कार कराया था<sup>३</sup>। वि. सं. १६४१ में गो. वनमालीदास जी के शिष्य भगवानदास स्वर्णकार ने इसे पक्का बनवा दिया था। शिलालेख इस प्रकार उत्कीर्ण है—

१[क] नमो हित मण्डल चीर सु घाट।

जहाँ रास खेलत नित दम्पति मुरली रस वरषत जु निराट॥

गावत दुलरावत हितसजनी जुगल नेह की सूझी बाट॥

वृन्दावन हित रूप जटित नग मनु कानन कौ दिपत लिलाट॥

[ख] नमो-नमो यह मण्डल हित कौ।

गौर-श्याम मिलि रास रचत तहँ बढतु रहै उत्साह जु चित कौ॥

रजनीमुख सुख अमित बटोरत लाड़ अवधि वरनों कित-कित कौ।

प्रियहि रिझावत होत त्रिभंगी मान अपूरब देंइ नित-नित कौ॥

जहाँ नित नयी दरसत मंगल बढ़त प्रसाद जुगल हित चित कौ।

वृन्दावन हित रूप जगतगुरु गावौ जस मूरति जु ललित कौ॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प. सं. ४८, ४९

२[क] मण्डल चैन घाट पर कीनों। रास केलि रस रसिकन दीनों॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. १४६

[ख] कार्तिक बदि द्वितीया कौ रास। मण्डल-वेष स्वरूप प्रकाश॥

— हि. कु. शा., ज. कृ. दा., छं. सं. ३०

[ग] चैन घाट पर रचौ जु मण्डल। हम नित रास रमत हैं इहि थल॥

— हि. प. व. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १२८

[घ] ..... तबै कोरिया घाटहि ते तकि तीर घाट पर मास्यौ॥

यहाँ पुरानों मंद बनायौ हौं मंडल बनवायौ।.....

..... मण्डल करिकैं चैन घाट ढिंग नित श्रीजी हि लड़ामैं।

— वृ. घा., गो. क., पृ. २८ व ३८

३. र. अ. मा., भ. मु. छबीलेदास की परचई एवं श्री ह. च., उ. दा. छबीलेदास प्रसंग



“॥ श्रीराधावल्लभो जयति॥ संवत् १६४१ वर्षे आषाढ़ बदि २ शुभ दिने । श्रीमद् हरिवंश गोस्वामिनः सदन तस्यात्मज श्रीमद् वनमालीदासस्य विद्यमाने तद् भृत्य भगवानदास स्वर्णकारेण कृत विकू सुतेन॥”

यह रासमण्डल वृन्दावन में यमुना के तीरघाट किंवा चीर घाट से संलग्न चैन घाट [वर्तमान नाम गोविन्द घाट] पर स्थित है; जहाँ पर बने हुए एक छोटे से मन्दिर में श्रीजी की नाम सेवा विराजमान है और प्राचीनकाल से आज तक राधावल्लभ सम्प्रदानुयायी विरक्त संतों द्वारा नित्य संसेवित है। मण्डल के एक ओर श्री हिताचार्य के शिष्य छबीलेदास, नरवाहन और सेवक जी की स्मारक स्थली भी हैं। अनुकरण रासलीला का आयोजन तो यहाँ प्रायः प्रतिदिन होता ही रहता है। प्रतिवर्ष चैत्र पूर्णिमा से बैशाख शु. एकादशी तक यहाँ हित हरिवंश जी का जयन्ती उत्सव भी प्राचीनकाल से ही अद्यावधि मनाया जाता है। गो. चन्द्रलाल जी ने ‘वृन्दावन प्रकाश माला’ नामक ग्रन्थ में [छन्द सं. ३२ से ४८ में] इस उत्सव का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने इस मंडल की शोभा का वर्णन करते हुए इसे ‘हित जू कौ मन्दिर’ नाम से स्मरण किया है—  
रूप चौहटे में श्री हित जू कौ मंदिर है, ताकी शोभा मोपै कहा आवै वरनन में॥  
नाम ही सरूप पद रंजित अनूप दास, तरुवर रूप धरि सेवत सदन में॥  
सुन्दर सरस स्वेत शोभित शिखर सदा, शोभा कौ समुद्र सो तौ राजत सबन में॥  
चहूँ ओर भीत नीम-पीपल-रसाल-वट, मण्डल विशाल नित रहौ मेरे मन में<sup>१</sup>॥

इसी वर्णन सन्दर्भ में उन्होंने रासमण्डल से ही संलग्न एक लघु मण्डल में बने श्री हिताचार्य के शिष्य नरवाहन जी के स्मारक स्थल का भी वर्णन किया है—

आगे लघु मण्डल श्रीनरवाहन जू विराजै, श्रीहित जू कौ निज सुख निशि-दिन लहिवौ करें।  
द्रुम सौं सघन क्यारी फूली फुलवारी कुटी, रसिक जहाँ राधावर हित कहिवौ करें॥  
हित कुल सन्त औ महन्त सब आवैं तिन्हें, सीस कौं नवावैं कृपा दृष्टि चहिवौ करें॥  
हित पद आस जुत वृन्दावन वास करें, तिनकी शरण हम सदा रहिवौ करें<sup>२</sup>॥

रासमण्डल किंवा श्रीहित मण्डल पर श्री हित नाद-विन्दु परिकर के अनेक स्मारक बने हुए हैं जिनमें से अत्यधिक प्राचीन दो शिलालेखों पर उत्कीर्ण वाक्यांश इस प्रकार हैं :—

“श्रीराधावल्लभो जयति॥ संवत् १६४१ वर्षे आषाढ़ सुदि १५ शुभ दिने श्रीमत् हित हरिवंश गोस्वामिनः तेण शिष्यं नृपति नरवाहन भय ग्राम निवासी तस्य स्थान श्री हित मण्डल समीपे निर्मित॥”

“श्री राधाबल्लभो जयति ।। संवत् १६४१ वर्षे सुदि १५ शुभ दिने श्रीमत् हित हरिवंश गोस्वामिनः निजु भृत्य तमोरी छबीलेदास देववन निवासी तस्य स्थलं श्री हित मण्डले निर्मितं ।।”

### ७.१५.४.२. वंशीवट :

श्री हिताचार्य ने रास विलासोपभोगी रास-रसिक श्यामा-श्याम के रासलीलानुकरण प्रागद्य के साथ-साथ रासमंडल का प्रागद्य ही नहीं किया प्रत्युत रासलीला की प्रधान प्रेरिका व रस की मूल अधिष्ठात्री वंशी जी का अनुक्षण स्मरण कराने वाला स्थान ‘वंशीवट’ का भी प्रागद्य किया । उन्होंने अपनी वाणी की निम्नांकित पंक्तियों में इसी वंशीवट संज्ञक नित्य लीला स्थल की ओर संकेत किया है—

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान, रास रच्यौ श्याम तट कलिन्दनन्दिनी ।।  
निर्तत जुवती समूह राग रंग अति कुतूह, बाजत रस मूल मुरलिका अनन्दिनी ।।  
वंशीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ, सकल सुखद मलय बहै वायु मन्दिनी ।।

तथैव —

वैनु माई बाजै वंशीवट<sup>३</sup>

यहाँ पर श्यामा-श्याम वंशीवादन एवं रास बिहार के अतिरिक्त प्रत्येक ऋतु में अन्यान्य नवीन-नवीन रस क्रीडायें भी किया करते हैं । यथा— बसन्त ऋतु में बासन्ती क्रीड़ा<sup>३</sup>, फाग क्रीड़ा<sup>४</sup>, होरीडोल<sup>५</sup> तथा फूलडोल<sup>६</sup>, ग्रीष्म ऋतु में श्रीहित-प्रागद्य<sup>७</sup> एवं

१.२. हि. चौ., प. सं. १२, ६४

३. जमुनातटवंशीवट चहुँदिशि अरुन अबनि सब कीनी । वैस कलिन सी खिलत अली मनु झरत पराग नवीनी ।।

— पदा., बसन्त के पद, स. सु., प. सं. ५

४. रंग आजु वंशीवट फागुन विविध बिहार । बिहरत राधाबल्लभ उझलत सौरम सार ।।

— पदा., होरी के पद, स. सु., प. सं. १६

५. झूलत डोल झलक अँग-अंगन राधामोहन श्री वंशीवट ।

रूप बसंत खिले वर वैसनि ज्यों बसंत फूल्यौ जमुना तट ।।

— पदा., होरीडोल के पद, स. सु., प. सं. ३०

६. झूलत फूलडोल मिलि दम्पति फूलि-फूलि कुंजनि जमुना तट ।

रितु बसंत फूल्यौ वृन्दावन अनूठौ रंग फूल्यौ वंशीवट ।।

— पदा., फूलडोल के पद, स. सु., प. सं. ३१

७. आनँद मन्दिर मदन मोद मन प्रीति कौ । जनम बधावौ ललित है ललिता रीति कौ ।

ललित ललिता रीति में नव रंग वंशीवट खिल्यौ ।.....

—पदा., हित बधाई के पद, स. सु., प. सं. ३८



पुष्प निकुंज<sup>१</sup>, पावस ऋतु में झूलन<sup>२</sup> और शरद में रास क्रीड़ा<sup>३</sup> आदि ।

जिस प्रकार चतुःसम्प्रदाय की उपासना के मूलाधार-प्रमाण ग्रन्थ श्री मद्भागवत में सेवाकुंज, मानसरोवर तथा रासमण्डलादि नित्य लीलास्थलों का नामोल्लेख नहीं है; उसी प्रकार इस 'वंशीवट' का नामोल्लेख भी श्रीमद्भागवत में कहीं पर नहीं है । सम्भवतः इसीलिए श्री हिताचार्य ने रासमण्डल के साथ-साथ वंशीवट का भी प्रागट्य किया ।

श्री हितात्मज गो. गोपीनाथ जी के शिष्य लालस्वामी जी ने पंचकोसी वृन्दावन के इसी स्थल पर निवास करते हुए अपने ये उद्गार प्रकट किये थे कि—वंशीवट पर निवास करते हुए मुझे वंशी रव सुनाई नहीं देता, क्या मेरे कान ही बहरे हो गये हैं या वंशी के छिद्र ही बन्द हो गये हैं—

बाँसुरी के तान वान वीधे विधि लोक पर, विषधर नाथ रथ थाके मग शशि कै ।  
बाँसुरी की धुनि सुनि धाये हैं धरनिरुह, पाथर प्रवाह भये उड़ग विवस कै ।  
बाँसुरी ने बोलि आनी नवल किशोरी बाल, 'लाल हित' वृन्दावन रास लास लसिकैं ।  
बाँसुरी के वेह किधौं वायु न भरत किधौं, हम ही वधिर भये वंशीवट बसिकैं<sup>४</sup> ।

गो. चन्द्रलाल जी ने भी अपने 'वृन्दावन प्रकाशमाला' नामक ग्रन्थ में वंशीवट की सुन्दर शोभा का वर्णन करते हुए यहाँ रसिकजनों के निवास करने का संकेत किया है—  
निकट है ताके एक चौतरा रसाल जहाँ, वंशीवट छवि नित नई सरसत है ।।  
नवल किशोर एक रस ही रहत सदा, छिन-छिन माँझ नव रूप वरषत है ।।  
रसिक समूह हिय नैननि विलाकैं शोभा, इकटक रहैं मन सदा तरसत है ।।  
प्यारी-पिय हित सौं करत हैं केलि तहाँ, सो तौ छवि भावुकन के हिय दरसत है<sup>५</sup> ।।

श्री हिताचार्य के विद्यमान काल से लेकर वि. सं. १८८२ तक यह 'वंशीवट' स्थान राधाबल्लभीय हित रसिकों के हाथ में था किन्तु वि. सं. १८८२ में वंशीवट स्थानाधिपति

१. फूलन के भूषन पट फूलन की सेज सुमग, फूले श्यामा-श्याम अंग रंग आजु फूल महल ।..  
सहचरिसुख वर बिहार वंशीवट जमुना तट, बरसैं फूल ललितादि हरषि निरखि मदन गहल ।।  
— पदा., ग्रीष्म उत्सव के पद, स. सु., प. सं. ६३
२. झूलत रसिक दोउ कुंजन माँहि । जमुना तट वंशीवट छाँहि ।।  
— पदा., झूलन के पद, स. सु., प. सं. ६६
३. मण्डल निरत अदभुत जोरी ।.... दुति-धुरवा वंशीवट छोरे मैन हरौ कियौ कुंजनि खोरी  
— पदा., रास के पद, स. सु., प. सं. ७६
४. ला. स्वा. की वा., ला. स्वा., फुटकर कवित्त, छं. सं. २१
५. वृ. प्र. मा., गो. च. ला., छं. सं. ६४

द्वारिकादास [शिष्य पूरनदास महंत थोक चन्द्र सखी] नामक महंत ने 'वंशीवट' नामक यह नित्य लीलास्थल एक निम्बार्कीय साधु गोपालदास जी ब्रह्मचारी [मालिक मन्दिर ब्रह्मचारी] को चालीस रुपये में गिरवी रख दिया था। इन रुपयों का ऋण न चुका पाने के कारण यह स्थान इन्हीं निम्बार्कीय साधु के पास रह गया।

### ७.१५.४.३. धीरसमीर :

वंशीवट के निकट ही धीरसमीर नामक लीला स्थल है। रास क्रीड़ा से परिश्रान्त श्यामा-श्याम यहाँ बैठकर श्रान्ति दूर करते हैं<sup>१</sup>। वृन्दा सखी को यह सेवा विशेष रूप से प्राप्त है। वही धीर समीर का संचरण करके युगलवर की श्रान्ति दूर करती हैं। गो. चन्द्रलाल जी कृत 'वृन्दावन प्रकाशमाला' के एक छन्द से ऐसा ज्ञात होता है कि ग्रन्थ प्रणेता गो. चन्द्रलाल जी के विद्यमान में यह 'धीर समीर'—राधाबल्लभ सम्प्रदाय के रसिक चन्द्रसखी जी की कुंज का ही एक अंग माना जाता था और चन्द्रसखीजी के थोक [शिष्य परंपरा] के हित रस छके साधुगण इस स्थान पर निवास भी करते थे। छन्द निम्नांकित है—

ताके आगे अछैलाल-बछैलाल की है कुंज, सु तल समीर धीर शोभा कौं विशेषिये।  
कुंज गली आगे कुंज चन्द्रसखी जू की सोहै, केला, फुलवारी नाना दुम हिय-पेखिये।  
तहाँ सन्त सेवा करें रूप हिय नैन भरें, हित रस-छके आठौं जाम अति देखिये।  
तल है समीर धीर, कालिन्दी के सु तीर, लता-दुमनि भीर नित नैननि सौं देखिये<sup>२</sup>।

ऐतिहासिक सामग्री से यह भी ज्ञात होता है कि यह स्थान गो. हित हरिवंश जी के विद्यमान काल से वि. सं. १८८२ तक राधाबल्लभीय साधुओं के अधिकार में ही था किन्तु कालान्तर में महन्त द्वारिकादास [शिष्य पूरनदास महंत थोक चन्द्रसखी] द्वारा ही यह 'धीर समीर' नित्य लीला स्थल भी रामानुज सम्प्रदाय के वैष्णव रंगाचारी जी के हाथ में बेच दिया गया। आज इस स्थान की प्रभु सत्ता इन्हीं रामानुजी वैष्णवों के हाथों में है।

#### १. नमो-नमो दंपति धीरसमीर।

श्रमित होत तहँ विरमि रहत हैं गौर-श्याम राजत सु शरीर॥

महा रम्य आवनि दुम-छौंहीं लता रहीं झुकि जमुना-नीर।

वृन्दावन हित रूपी पंछी नदित तहाँ केकी-पिक-कीर॥

— इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा., प. सं. ७६

#### २. वृ. प्र. मा., गो. च. ला., छं. सं. ६०



### ७.१५.४.४. सेवाकुंज :

यह लीला स्थल वृन्दावन के लीला स्थलों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह श्यामा-श्याम की शयन निकुंज है। इस निकुंज में ही रसिकवर श्यामसुन्दर को प्राणाधिक प्रिय श्री राधा की चरण-सेवा करने का सुख-सौभाग्य प्राप्त है<sup>१</sup>; इसीलिए इसे 'सेवाकुंज' नाम प्राप्त होता है। शैया बिहार तो इस कुंज की प्रधान लीला है ही किन्तु अन्य समय में भी इस कुंज में श्यामा-श्याम नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते हैं। जैसे-फूल रचना की कोई क्रीड़ा, बसंत क्रीड़ा<sup>२</sup>, वैनी गूँथन लीला<sup>३</sup> तथा भोजन आदि।

एक बार परमेश्वर युगलवर के कहने पर श्री हिताचार्य ने इस 'सेवाकुंज' नामक नित्य लीला स्थल में मध्याह्न की भोजन सामग्री भी समर्पित की थी। उसी दिन से उन्होंने इस स्थान पर अपने इष्ट की गद्दी सेवा विराजमान करके यहाँ पर भी अष्टयामी सेवा करने का शुभारंभ कर दिया—

इक दिन बैठे हे कुंज सेवा। अर्पन करी ध्यान में मेवा।।  
कह्यौ प्रतक्ष आइ दोऊ जन। हमकौं भूख लगी है इहि छिन।।  
कह्यौ लेहु मैं पहिलैहि लायौ। घर तौ भोग तुमन नहिं पायौ।।  
तब तुम कही कुंज मधि जैहैं। कुसुम खेल करि पाछे खैहैं।।  
लियें सकल सामग्री आयौ। भोजन करहु जु मन कौ भायौ।।  
खाइ-प्याइ जल बीरी दीनी। तत्सुखसुखी रहति मति भीनी।।

१. रस घन मोहन मूर्ति विचित्र केलि महोत्सवोल्लसितम्।  
श्री राधा चरण विलोडित रुचिर शिखण्डं हरि वन्दे।।

— रा. सु. नि, श्लो. सं. २००

२. खेलैं श्री राधाबल्लभ सेवाकुंज। सब सौंज लियैं सँग सखिनु पुंज।।.....  
राजै रंगमहल तामें उत्तंग। तहँ भाजन भरि घरे विविध रंग।।  
बाजैं जंत्र अनेक सुर मिले संग। सोहैं वसन बसंती सबनि अंग।।.....  
नव दुलहिनि की जीत जु मनाइ। सखी फाग बघाये उठी गाइ।।.....  
परसंशत श्री हरिवंश भाग। वृन्दावन हित खिल्यौ रूप बाग।।

— पदा. बसंत, चा. वृ. दा., प. सं. ८

३. गोविंद वृन्दावन निकुंज निरमृत्यु निकुंज सुहाई। रासस्थली नित्य दंपति की सेवाकुंज सु गाई।।  
घटी रैन रुचि नहिं घटी करि अद्भुत सुरत बिहारा। उरझे तन-मन अधरामृत कौं प्रियत लेत तहँ सारा।।  
या विधि नितबिहार के सुख सेवाकुंजहि में लेहीं। गावत तिनकौं कवि रु रसिकजन सुजनन कौं सुख देहीं।।  
सो अब श्रीहरिवंशहि जी कौ है अस्थान अनूपा। सखी रूप है नितबिहार सुख देखत जहँ अनुरूपा।।  
जाके मधि अति परम मनोहर रंगमहल इक राजै। ताके मध्य प्रिया-प्रियतम नित सखियन सहित विराजै।।  
वैनीगूँथन कौ अस्थल इक परम पुरातन चीन्हैं। वैनी गूँथि प्रिया-प्रियतम ने सकल सखिन सुख दीन्हैं।।

— वृ. धा., गो. क., पृ. सं. ७०, ७६, ७८

तब ते थापी है कुंज सेवा। भोग-राग अर्पित लखि भेवा॥  
गादी जुगल रूप की थी। भूषन वसन सौंज सब अरपी॥  
राजभोग मन्दिर ते आवै। नित अधिकारी भोग लगावै॥  
गान-नृत्य वादित बहु बाजै। निरखत भावक रसिक समाजै॥

मंगल ते सब सैन लौं भोग कुंज मधि होत।

पौढ़त मन्दिर प्रगट प्रभु आवत अरुन उदोत<sup>१</sup>॥

चाचा वृन्दावनदास जी ने भी इसी चरित्र का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

नमो-नमो जै सेवाकुंज।

जहँ सजनी दम्पति दुलरावति बाजत ताल पखावज रुज्ज॥

श्री हरिवंश जिमाये करवर लहे मनोरथ सुख के पुंज।

वृन्दावन हित रूप बेलि तरु प्रफुलित सदा करत अलि गुंज<sup>२</sup>॥

नमो कुंज यह अति प्रिय ठौर।

भोग राग दंपति मुख माँगे ते अरपे रसिकनि शिरमौर॥

इष्ट सुदत अनुभव जु प्रकाशी पद्धति थापी स्वामिनि गौर।

वृन्दावन हित रूप छाप दई इन सम कौन उपासक और<sup>३</sup>॥

श्री हिताचार्य ने इस स्थल का प्रागट्य कब किया था—इसकी इदमित्थं तिथि तो अज्ञात है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि सेवाकुंज का प्रागट्य नरवाहन जी द्वारा वि. सं. १५६१ में बने श्री राधाबल्लभलालजी के मन्दिर निर्माण के कुछ काल पश्चात् ही हुआ था। चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'हित परिकर वन्दन पत्रिका' से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सेवाकुंज का मन्दिर तथा श्री राधाबल्लभ जी का मन्दिर [जिसमें श्री हिताचार्य का सपरिवार निवासालय भी था] दोनों पृथक-पृथक स्थल थे। श्यामा-श्याम की आज्ञानुसार यहाँ पर श्री हिताचार्य के विद्यमानकाल से लेकर आज तक कोई भी व्यक्ति रात्रि में निवास नहीं करता—

सेवाकुंज जु प्यारी ठौर। जहँ नित बिहरैं साँवल गौर॥

आज्ञा दै मन्दिर बनवायौ। तहँ हित हाथ सु भोजन पायौ॥

मन्दिर भोग धरत हौ जैसैं। सेवाकुंज धरौ नित ऐसैं॥

रजनी ह्यौ आवै नहिं कोऊ। यामें नित संतत हम दोऊ<sup>४</sup>॥

१. श्री ह. च., उ. दा., सेवाकुंज प्रसंग

२. ३. इ. प. ब. बे., चा. वृ. दा. प. सं. ४६, ४७

४. हि. प. ब. प., चा. वृ. दा., छं. सं. १२६, १२७



इस आज्ञा का पालन अब तक होता चला आ रहा है<sup>१</sup>। आज्ञा उल्लंघन करने वाले की मृत्यु हो जाती है। निकट अतीत में कई ऐसी घटनायें हो चुकी हैं। इस स्थल पर पक्के मन्दिर का निर्माण वि. सं. १६६०-१७०० के लगभग काँधले निवासी पुहुकरदास जी वैश्य [गो. दामोदरवर जी के शिष्य] द्वारा किया गया था। इन्होंने सेवाकुंज का रंगमहल, तिवारी व चारों ओर का परकोटा पक्का बनवा दिया था<sup>२</sup>। वर्तमान मन्दिर एक प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्भूत रूप है। जिसे वि. सं. १६८८ में बंगाल के एक भक्त प्रियालाल ने बनवाया था। इसके अतिरिक्त यहाँ पुराने दो मन्दिरों के भग्नावशेष भी हैं। मन्दिर के निकट ही एक ललित सरोवर है जिसे चारों ओर विविध पुष्पों की फुलवारी से रमणीक बनाकर गोकुल पारीख ने कभी पक्का निर्मित करा दिया था<sup>३</sup>।

श्री हिताचार्य ने इस लीला स्थल को जिस प्रकार की सधन लता पुंजाकृत रूप में प्रकट किया था; वर्तमान में वह रूप तो नहीं दिखाई देता किन्तु फिर भी यहाँ पर लता-दुमादिकों और हित नाद-बिन्दु परिकर के कतिपय स्मारकों<sup>४</sup> [प्रस्तर-विनिर्मित लघुकाय मन्दिरों किंवा छत्रियों के भीतर बने प्रस्तर-चरण-चिह्नों] के अतिरिक्त अन्य

१. सो यह सेवाकुंज अबहु निशि में हरि नित आमें। नूपुर-किंकिनि शब्द सुनत निशि में कोउ रहत न तामें।।

— वृ. धा., गो. क., पृ. सं. ७७

२. श्री दामोदर चरन उपासी। पुहुकरदास काँधले वासी।।.....

कुंज-सेवा की रचना जिती। पट भूषन सुगंध लौं तिती।।

महल-तिवारी-कोट बनायौ। राग-भोग बहु विविध सुहायौ।।

— र. अ. मा., म. मु., पुहुकरदास जी की परचई

३. तहाँ तमाल तरु में इक श्यामहि कौ स्वरूप मन-मोहै। तने लतान वितान तहाँ इक ललित सरोवर सोहै।।

सो अब गोकुल पारिख ने बनवायौ कुण्ड सुहायौ। तहाँ फुलवारि लगाय सु थल कीनों रमनीक सुहायौ।।

— वृ. धा., गो. क., पृ. सं. ७७

४. तहाँ पुराने मंदिर वारेन की समाधि बहु सोहैं। अरु हरिलाल हुलासलाल की इक समाधि मन मोहै।।

हीरालाल रु मोहनलाल हू की समाधि तहाँ राजै। हित गुलाबलाल रु बिहारिलालहि की तहीं विराजै।।

चंदलाल अरु दयालाल हू की समाधि तहाँ जानौं। श्री हित जी के कृष्णचन्द्र सुत हू की तिहि थल मानौं।।

— वृ. धा., गो. क., पृ. सं. ७८, ७९

विशेष ज्ञातव्य—

सेवाकुंज में विद्यमान कतिपय प्रमुख स्मारकों पर उल्लिखित शिलालेखों की अविकल नकल इस प्रकार है—

१. नेह अरे दोउ लाड़िले अलबेले सुकुमार।

हरि सहचरि हित कुंज में निशि दिन करत विहार।।

— संवत १८४६ आश्विन बदि १३

टिप्पणी का शेष भाग अगले पृष्ठ पर

किसी के निवास स्थल नहीं हैं। एक छोटे से मन्दिर में श्रीजी की नाम सेवा तथा श्यामसुन्दर द्वारा श्री राधा के चरण संवाहन करते हुए सुन्दर चित्र सेवा विराजमान है। राधावल्लभीय गोस्वामीगण श्री हिताचार्य द्वारा निर्दिष्ट अष्टयामी सेवा पद्धति के अनुसार यहाँ पर सेवा करते-कराते हैं।

पिछले पृष्ठ का शेष टिप्पणी भाग —

२. जोरी श्री हरिवंश की विलसत रति रस पुंज।  
श्री हुलासलाल नित नेह सौं सेवत सेवाकुंज॥  
राजत सेवाकुंज नित दम्पति हिये हुलास।  
पोषत भावुक हिय कमल सूरज प्रेम प्रकाश॥  
अष्टादश सत्तानवै सुन्दर माधव मास।  
शुक्ल पक्ष शुभ दशमि तिथि सोमवार सुखरासि॥

[ इस समाधि में किसी और भी पुरानी समाधि के पत्थर का टुकड़ा लगा प्रतीत होता है ]

३. ॥ श्री राधावल्लभो जयति॥ श्री हरिवंश चन्द्रो जयति॥  
श्री वृन्दावन श्री वनचंद। श्री किशोरीलाल जयति॥  
श्री चंद्रलाल जयति

[ संवत आदि का उल्लेख नहीं है ]

४. ॥ श्री राधावल्लभो जयति॥ श्री हरिवंश चन्द्रो जयति॥  
॥ श्री हित गो. श्री कीर्तिलाल जी मंगला वाले, शरण संवत १६३७
५. ॥ श्री राधावल्लभो जयति॥ श्री हरिवंश चन्द्रो जयति॥  
श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश॥ श्री गो. श्री लाङ्गिलीलाल जी मंगला  
वाले, शरण भये संवत १६.....[ आगे के अक्षर अस्पष्ट हैं ]
६. ॥ श्री राधावल्लभो जयति॥ श्री हरिवंश चन्द्रो जयति॥  
॥ श्री हित गुलाब गुरु जगत प्रशंश॥ श्री हित भक्तलाल जयति॥  
॥ श्री हित मोतीलाल जयति॥ श्री हित हीरालाल जयति॥
७. ॥ श्री राधावल्लभो जयति॥ श्री हरिवंश चन्द्रो जयति॥  
॥ गो. हरिबल्लभ जी॥.....
८. ॥ श्री राधावल्लभो जयति॥ श्रीहित गुलाब गुरु॥ श्रीबिहारीलाल जी॥
९. ॥ श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश॥ श्री वृन्दावन श्री वनचंद॥  
॥ श्रीमद् गो. तुलसीलाल जी॥ संवत १६४६॥
१०. ॥ श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश॥ श्री वृन्दावन श्री वनचंद॥  
॥ श्रीमद् गो. श्री हित जोरीलाल जी महाराज॥

[ कुछ स्मारकों पर लगे प्रस्तर अत्यन्त प्राचीन होने के कारण उनके अक्षर नष्ट प्रायः ही हो चुके हैं ]



इस स्थल पर वर्ष के संपूर्ण ऋतु उत्सव तो होते ही हैं; हित रसिकों द्वारा विशेष समारोह के साथ प्रतिवर्ष माघ शुक्ल पंचमी [बसन्त पंचमी] और फाल्गुन शुक्ला दोज [फुलैरा दोज] को श्रीजी के समक्ष समाज गायन भी होता है। तथा फाल्गुन शु. तृतीया से लेकर फाल्गुन शु. दसमी तक चाचा वृन्दावनदास जी की निकुंज प्रवेश-स्मृति में उनके ही द्वारा रचित होरी धमारों के पदों का भी समाज गायन होता है। चाचाजी के निकुंज प्रवेश का स्मारक चिह्न भी सेवाकुंज में अद्यापि विद्यमान है। जिसमें उनके द्वारा रचित वाणी रचना की संख्या व निकुंज प्रवेश का समय इसप्रकार उल्लिखित है—

श्री राधाबल्लभ श्री हरिवंश। गुरु हित रूप जगत परशंश॥

हित वृन्दावन तिनकौ भृत्य। सवालक्ष वानी तिन कृत्य॥

॥ संवत्-१८४९..... ॥

### ७.१५.४.५. मानसरोवर :

यह लीला स्थल भी वृन्दावन के अन्य लीला स्थलों की भाँति सभी भगवद् भक्तों को अज्ञात ही था। यही कारण है कि इसका नामोल्लेख भी श्री मद्भागवतादि पुराण ग्रन्थों में नहीं है। इस स्थल पर श्यामा-श्याम नित्य पहुँचकर असमान 'मान' को मान प्रदान किया करते हैं—एक विशिष्ट प्रकार की मानलीला का आनन्द लेकर<sup>२</sup>। मान की इस कुंज में पद न्यास करते ही श्री प्रिया की भौंह में भंगिमा आ जाती है। तभी रसिकवर श्यामसुन्दर का मुकुट उनके चरणों में स्वतः विनत हो जाता है और इस प्रकार इस कुंज में इस विशिष्ट मान लीला का आनन्द लेते हैं<sup>३</sup>। मान लीला के अतिरिक्त यहाँ बसंत क्रीड़ा, फाग क्रीड़ा और जल क्रीड़ा आदि भी किया करते हैं<sup>४</sup>। श्यामा-श्याम का

१. चतुर्थ अंक शिलालेख में नष्ट हो गया है।

२. मानसर शोभा संघट माई। जहाँ कछु होत मान कौ संभ्रम नागरि गहत मुराई॥

अवनी अमल जहाँ प्रतिविवित गोरे तन परछाँई। सो पिय मुकर माँहि जब लिखियत तब हठ करत महाई॥

जब उर कुसुमदाम लै तोरत मान चोर नसि जाई। तब रसरंग बढ़त छिन-छिन प्रति कुंज सुभग थल आई॥

सर के तीर लता निजुमन्दिर केलि करत मन भाई। वृन्दावन हित रूप जाउँ बलि अलि दृग वांछित पाई॥

— ब्र. प्र. बे., चा. वृ. दा., प. सं. १०७

३. मान कुंज आये जबहि कुँवर भौंह भई भंग। चितै लाल पाइन परे समुझि मान कौ अंग॥

— ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., समामंडल लीला, छं. सं. १११

४[क] खेलै मानसरोवर गौर श्याम। एकांत परम अभिराम धाम॥

रतिपति कौ मीत आयौ बसंत। दुम-बेलिनु नव पल्लव लसंत॥

मणि मंडल भये ढाढे किशोर। सौभगता सीवाँ दुहूँ ओर॥.....

रोचक मारुत सरवर जु पास। मोहन धुनि थेई-थेई मुख प्रकाश॥

— पदा., बसंत के पद, चा. वृ. दा., प. सं. १५

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

अत्यन्त प्रिय यह स्थल श्री हिताचार्य को भी अत्यधिक प्रिय था। इसीलिए वे इस स्थान पर नित्य प्रति जाया करते थे; मानसी भावना करने के लिए या कभी प्रकट रूप में श्यामा-श्याम की किसी लीला विशेष में योग देने के लिए<sup>१</sup>। यहीं पर श्री हिताचार्य के शिष्य प्रबोधानंद जी सरस्वती, नाहरमल एवं गोपालक ग्वाल को अलौकिक चमत्कार के दर्शन हुए थे<sup>२</sup>।

श्री हिताचार्य के विद्यमान काल में यमुना जी 'मानसरोवर' को अपने दक्षिण तट करके ही बहती थीं अर्थात् मानसरोवर यमुना के इस पार पंचकोसी की सीमा के भीतर ही था किन्तु कुछ वर्षों पूर्व से यमुना ने अपना प्रवाह स्थान परिवर्तन कर दिया है। अतः यह स्थल आज यमुना के उस पार पर दिखाई देता है।

यहाँ पर लता पादपों से समावृत एक छोटा सा मन्दिर है जिसमें श्रीजी की नाम सेवा विराजमान है। मन्दिर के आगे ही गोल मण्डल है तथा निकट में ही एक बड़ा सरोवर है। ब्रज के पाँच सरोवरों में इस मानसरोवर का प्रमुख स्थान है—

नमो-नमो पंच सरोवर नाम।

ब्रज वृन्दावन मध्य विराजत अति प्रिय लागत श्यामा-श्याम॥

श्री राधिका मान कियौ मोचन लाल प्रशंशत आठौ याम।

करत बिहार मानि रुचि जा तट मानसरोवर सब सुख धाम<sup>३</sup>॥

पिछले पृष्ठ का शेष टिप्पणी भाग —

[ख] मानसरोवर मान तजि मिलि चौंचरि खेलैं। जहाँ अवनी अति सुचारु। अहो मिलि चौंचरि खेलैं॥

— पदा., होरी के पद, चा. वृ. वा. दा., प. सं. ३०

[ग] मन करि मानसरोवर खेलत। ग्रीष्म रितु रजनी सजनी! सँग विरह ताप पग पेलति॥

— व्या. वा., ह. व्या. प. सं. ३६ [रस के पद]

[घ] ललित निकुंज बिहारी खेलत कुंज में। पिय किये सखी कौ रूप सखिन के पुंज में॥

मानसरोवर मौझ अरी सुनि न्हाइकैं। तेरौई जाप जपै पानी में जाइकैं॥

— पदा., घ. दा., प. सं. २

१. नमो-नमो राधा सु मानसर।

जहाँ मान मोचन कियौ भामिनि मन वांछित पायौ प्रीतम वर॥

रीझि भोग दंपति जु मैगायौ जैयौ रुचि सौ व्याससुवन कर।

श्री हरिवंश प्रीति करि रिझये प्रगट कियौ यह चरित मनोहर॥

प्रेम भक्ति के बस मुरलीधर जिन मानौ अचरज नारी-नर।

वृन्दावन हित रूप विदित यह परचौ जान्यौ रसिकन घर-घर॥

— इ. प. व. बे., चा. वृ. दा., प. सं. १८७

२. दे.—र. अ. मा., भ. मु., प्रबोधानंद एवं नाहरमल की परचई तथा श्री ह. च., उ. दा., ग्वाल प्रसंग

३. इ. प. व. बे., चा. वृ. दा., प. सं. १४१



चिर पूर्व परम्परा से राधाबल्लभीय हित रसिक साधुगण यहाँ श्री हिताचार्य की अष्टयामी सेवा-पद्धति के अनुसार नित्य प्रति सेवा करते हैं। इस स्थान की प्रभुसत्ता भी इन्हीं विरक्त सन्तों के हाथ में ही है। मास की प्रत्येक पूर्णिमा को यहाँ पर मेला लगता है। फाल्गुन बदी एकादशी को एक बड़ा मेला विशेष रूप से लगा करता है; जिसमें आसपास के सभी गाँवों के ब्रजवासीगण एकत्रित होते हैं। इस अवसर पर दिन में व रात्रि में राधाबल्लभीय हित रसिकों द्वारा होरी धमार के पदों का समाज गायन होता है। अन्य समयों में भी यहाँ उत्सवों व समाज गायन के समायोजन होते ही रहते हैं। इस स्थल पर फाल्गुन मास में लगाने वाले मेले का आँखों देखा वर्णन चाचा वृन्दावनदास जी ने निम्नांकित पद में किया है—

आज मानसरोवर मेला।

कुण्ड तीर मिलि खेलत होरी श्री राधाबल्लभ अलबेला॥  
 बाजत वंशी वीन मुरज डफ झाँझ मृदंग तबेला॥  
 गावत सखी बढ़ावति चौंपनि रचि रस छन्द नवेला॥  
 चलत अबीर गुलाल पोटरी रंगनि भरि-भरि बेला॥  
 निरत करत कहैं हो-हो थेई-थेई रचत विविध विधि खेला॥  
 ब्रजवासी दरसन हित आवैं नर-नारी है भेला॥  
 नाचैं-गावैं डफहि बजावैं बोलत हेली हेली॥  
 अंब-कदंब कलपतरु श्रैनी नव तमाल पुनि केला॥  
 जाय जुही केतुकी चँबेली लवंग माधुरी एला॥  
 अवनि अलंकृत जुगल चरन जहँ नित बिहार रस रेला॥  
 वृन्दावन हित मण्डल यमुना वंशीवट सुख झेला१॥

### ७.१५.४.६. हिंडोल स्थल :

इस स्थल पर श्यामा-श्याम होली खेलने के पश्चात् लता निर्मित हिंडोल पर झूलते हैं। श्री हिताचार्य ने संभवतः 'हित चौरासी' में पद सं. ५७ की "कबहुँ-कबहुँ चंदन तरु निर्मित तरल हिंडोल" इस पंक्ति में इस स्थल विशेष की ओर संकेत किया है। श्री हिताचार्य के विद्यमान काल में श्री राधाबल्लभलाल जी यहाँ पर बने डोल पर झूलते थे। इसका उल्लेख गोपालकवि ने इन शब्दों में किया है—

जहँ अठखम्भा तहँ कोई दिन राधाबल्लभ झूले।

सुन्दरदासहि कौ निवास सो रहत भजन में फूले<sup>१</sup>॥

कालान्तर में गो. वनचन्द्र जी के शिष्य रामरतन राठौर ने इस 'हिंडोल स्थल' को एक नवीन रूप प्रदान कर दिया। अर्थात् पक्का बनवा दिया। तभी से यह स्थल 'राम रतन कौ डोल' इस नाम से भी प्रसिद्ध हो गया—

रामरतन कौ डोल तहाँ वनचन्द्र समाधि सुहाई।

कोई दिन राधाबल्लभ जी झूले डोल जहाँई॥

भक्तमाल की कथा सदाँयक भयौ करत तिहि जागा।

सन्त-महन्त-गुसाँई-पंडित सुनत सहित अनुरागा<sup>२</sup>॥

वर्तमान में यह स्थल पंचकोसी वृन्दावन के अठखंभा नामक मुहल्ले के सन्निकट है। इस स्थल पर श्रीजी की नाम सेवा चिर पुरातन काल से ही विराजमान है और राधाबल्लभीय साधुओं द्वारा संसेवित है। इस स्थल की प्रभुसत्ता भी इन्हीं विरक्त हित रसिकों के हाथ में है। यहाँ पर एक बड़ा रासमण्डल भी बना हुआ है जिसमें दैनिक अनुकरण रासलीला का आयोजन होता है। 'डोल' स्थल से संलग्न रामरतन राठौर के गुरुवर्य गो. वनचन्द्र जी का स्मारक स्थल भी है। वर्तमान में यह स्थल 'वनचन्द्र जू कौ डोल' नाम से संरुढ़ हो गया है।

### ७.१५.४.७. शृंगारवट :

यह स्थल भी श्री हिताचार्य के परमोपास्य श्यामा-श्याम का वह नित्य लीला स्थल है जो कि भक्ति शास्त्रों में अनाख्यात और श्री हिताचार्य के पूर्ववर्ती सभी भक्तों को अज्ञात था। वृन्दावन की लता निकुंजें ही श्यामा-श्याम को उनके अंग शृंगार की सम्पत्ति तथा अन्य उपभोग की सम्पूर्ण सम्पत्ति प्रदान करती हैं<sup>३</sup>। इन शृंगार प्रदायिनी लता निकुंजों में यह वट वृक्ष प्रधान है। इसीलिए इस स्थल को 'शृंगार वट' नाम प्राप्त हुआ है। राधाकिंकिरीगणों तथा राधाकिंकिरी भावानुभावित रसिकजनों ने इसे 'शृंगार कुंज' किंवा 'शृंगार महल' कहकर ही सम्मानित किया है—

ता पाछे तिहि कुंज ते आये कुंज सिंगार। नौतन भूषन वसन तन पहिराये उर हार<sup>४</sup>॥

१. २. वृ. घा., गो. क., पृ. सं. ५०, ५६

३. सखि कहत अहो तरु बेली। देहु सौंज सिंगार नवेली॥

सुनि तबहि डार झुकि आवैं। फल-पत्र-फूल अलि लावैं॥

— अ. से. प्र., वृ. दा. [द्वितीय] पृ. सं. १०६

४. ब्या. ली., समामण्डल लीला, हि. घु. दा., छं. सं. १०६



यह स्थल आचार्य गो. हित हरिवंश जी की उसी स्वाधिकृत भूमि पर स्थित है जो उन्हें कोइलिया घाट किंवा कोरिया घाट से तीर फेंकने पर प्राप्त हुई थी। यद्यपि कालान्तर में इस नित्य लीला स्थल की प्रभु सत्ता गौड़ीय सम्प्रदायानुयायी गोस्वामियों के हाथ पहुँच गई है किन्तु ये गोस्वामीगण जिस विशालकाय भवन में रहते हैं उसकी अर्धचन्द्राकृत मण्डलाकार दीवाल आज भी यह साक्षी देती है कि यह स्थान इस भवन निर्माण से पूर्व राधाबल्लभीय गोस्वामीगणों के अधिकार में था; जिनके स्मारक स्थल [गो. बिहारीलाल जी [जन्म काल-वि. सं. १६६४]<sup>१</sup> का मण्डल तथा अन्य-अन्य राधाबल्लभीय गोस्वामीगणों की समाधियाँ] आज भी इसी 'शृंगारवट' नामक स्थान के आभ्यांतरीय भाग में ही बने दिखाई देते हैं।

### ७.१५.४.८. वन विहार :

सर्वमान्य सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य निर्भ्रान्ततः सत्य है कि पंचकोसी संपूर्ण वृन्दावन ही वन विहार स्थल है। किन्तु जिस प्रकार रासस्थली वृन्दावन में रास क्रीड़ा विशेष के लिए रासमण्डल स्थल सुनिश्चित है; इसी प्रकार यह स्थल भी वन बिहार करने के लिए 'वन बिहार स्थल'-रूप में सम्मानित है। इस स्थान पर प्रतिदिन प्रातः, सायं या मध्यान्ह में श्यामा-श्याम विविध क्रीड़ायेँ किया करते हैं। श्री हिताचार्य द्वारा 'हित चौरासी' में पद सं. ४५ की "जै श्री हित हरिवंश जुगल करनी गज बिहरत वन पिय-प्यारी" इस पंक्ति में इसी स्थल में होने वाले वन बिहार का संकेत किया प्रतीत होता है। चाचा वृन्दावनदास जी कृत निम्नांकित पद भी इसी स्थल की ओर संकेत करता है—

नमो-नमो वरनी वन फेरी।

दै दाहिनों चलत राधा-हरि लीला करति घनेरी॥

वृन्दा बाग सघन फुलवारी भँवर बाग ता दोऊ घेरी।

'वनविहार' में बहु बिहार रचैं रस उन्मद सुख रासि सकेरी॥

पुनि विरमत जु आइ वंशीवट सजनी वरनत प्रेम पहेरी।

वृन्दावन हित रूप जाऊँ बलि सुनि हँसि परत खिलार बड़े री॥

१. सोरह सौ चौरानवै सही। बदी असाढ़ षष्ठी शुभ लही॥

जनम बिहारीलाल सु लीनों। जनम पहिल ही सूचन कीनों॥

२. इ. प. व. वे., चा. वृ. दा., प. सं. ११२

— हि. कु. शा. ज. कृ. दा., छं. सं. ७३

वाणी साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि किसी समय ठाकुर श्री राधाबल्लभलाल जी एक विशिष्ट दिन में इस स्थल पर विशिष्ट रूप से वनबिहारोत्सव करते थे। गो. ब्रजलाल जी की वाणी में इस वन बिहार उत्सव की तिथि कार्तिक शु. प्रतिपदा लिखी गई है—

शुक्लायां चापरान्हे प्रतिपदि सुतिथौ छत्र सिंहासनाद्यैः,  
श्रीमद् राजोपचारैर्ध्वज विविध गणैश्चामरैः सत्पताकैः।  
नृत्यं गीतै च वाद्यैः स पदि वन विहाराय निःसारयित्वा,  
स्थाने-स्थाने च भोगं रचयतु रुचिरं तत्र नीराजनं च<sup>१</sup>॥

अन्यत्र भी—

सखियन वनबिहार दिन जान्यौ।  
कार्तिक सुदि परवा उत्थापन सन्ध्या लौं मन मान्यौ।  
ध्वजा-पताका-छत्र-चँवर बहु नव चौडोल बनायौ।  
लाड़िली-लाल चढ़े तिहि ऊपर जय-जय शब्द सुनायौ॥  
वीना-वैनु-मृदंग-ताल धुनि दुन्दुभि अरु सहनाई।  
नाचत चलीं अली गृह-गृह ते भोग-आरती लाई॥  
वनविहार करि मन्दिर आये सन्ध्या भोग लगावैं।  
आरति करत सखीहित हित सौं 'हित ब्रज' जूठनि पावैं<sup>२</sup>॥

हित रसिक समाज में इस स्थान का बहुत अधिक महत्व रहा है। हित ध्रुवदास जी, अनन्यअली जी आदि हित रसिकजनों ने इसी स्थान पर अपनी रस साधना की सिद्धि प्राप्त की थी। आज भी इन रसिकजनों की भजनकुटी यहाँ विद्यमान हैं। हित ध्रुवदास जी का जीवन वृत्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि सेव्य स्वरूप श्री राधाबल्लभलाल जी चौडोल में विराजमान होकर जब वन बिहारोत्सव करने पधारते थे तो इनकी [ हितध्रुवदास जी की ] कुटी में भी विराजमान होते थे<sup>३</sup>। एवं भोग-आरती इन्हीं की कुटी में हुआ करती थी। हित ध्रुवदास जी ने स्वरचित 'वन बिहार लीला' में भी इस तथ्य का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

१. से. वि., ब्र. ला. गो., श्लो. सं. ३२

२. पदा., ब्र. ला. गो., प. सं. १५

३. वन विहार कौं प्रभु जब जाते। इनकी कुटी तहाँ ठहराते॥

भोग-आरती भेंट जु करते। तब निजु इष्ट भवन अनुसरते॥

शुद्ध पाक करि भोग लगावैं। संतनि सहित प्रसादहि पावैं॥



देखि विपिन यमुना पुलिन ढरे कुटी की ओर।  
शोभा आवनि चलनि फिरि जो ध्रुव कहै सु थोर<sup>१</sup>॥

प्राचीन काल में वृन्दावन के छटीकरा मार्ग से लेकर परिक्रमा स्थित मदनटेर तक का संपूर्ण भूमि भाग इसी 'वन बिहार स्थल' के अन्तर्गत था; किन्तु आज इस विशाल काय 'वन बिहार स्थल' का अधिकांश भाग खण्ड-खण्ड होकर बिक चुका है। अपने आचार्य द्वारा प्रकटित उपर्युक्त लीला स्थलों का स्मरण परवर्ती अनेक रसिकों ने किया है—

चन्द्रसखी जी कृत—

यमुना पुलिन वंशीवट॥ एजी वंशीवट॥

सेवाकुंज निज धाम॥ हाँ जी॥ मण्डल सेवा सुख धाम॥

हाँ जी मानसरोवर-बादग्राम॥ निरखूँ श्री राधाबल्लभलाल कौं<sup>२</sup>॥

अनन्यअली जी कृत—

कहा नाम कुंजनि कौ कहियै। कहीं नाम वर ठाँव सु लहियै॥  
सो श्री हित जू कौ निज धामा। श्री राधा कौ निजु विश्रामा॥  
प्रगट जगत में जगमग सोई। जगत भगत जानत सब कोई॥  
सो हों कहीं सुनों चित लाई। सुनतहि तन-मन-हियौ सिराई॥  
प्रगट नाम ताकौ कल भाई। सेवाकुंज परम सुखदाई॥  
राजत तहँ श्री राधा रानी। पास खवास श्याम सुखदानी॥  
जो-जो प्यारी के मन मानैं। सो-सो लाल करत रुचि जानैं॥  
श्री वंशी-ललितादिक आली। तहँ नित सेवा करति रसाली॥  
यहै कुंज सुन्दर है जैसी। मोपै कहत न आवै तैसी॥  
येई सेवाकुंजहि जानौं। यहै ठौर भावक मन सानौं॥  
कौन ठौर है ताकौ द्वारौ। सोऊ देहु बताय सँभारौ॥  
सो हों कहीं सुनहु मन लावै। सुनतहि तन-मन हियौ सिरावै॥  
चैन घाट जमुना के तीरैं। शोभित लोभित सुख की भीरैं॥  
श्री हरिवंश चन्द्र जहँ राजैं। तिनकौ मन्दिर सब पर गाजैं॥  
रास विलास तहाँ नित होई। जगत भगत जानत सब कोई॥  
जब हित जू के शरणैं आवै। तब यह कुंज महल दरसावै॥

१. ब्या. ली., वन विहार लीला, हि. घु. दा., छं. सं. ५४

२. पदा., च. स., प. सं. २५

करि प्रणाम तन-मन-वच लाई। तब यह द्वारनि में है जाई॥  
यह मग हैकै आवै तहँही। सेवाकुंज अनूपम जहँ ही॥

वृन्दावनदास जी [द्वितीय] कृत—

वंशीवट यमुना तट धीरसमीर पुलिन सुख पुंज।  
बिहरत रंग रंगीलौ हित सौं मण्डल सेवाकुंज॥

प्रीतमदास जी कृत—

सेवाकुंज शयन गृह प्यारी। चाँपत चरन सु लालबिहारी॥  
मंडल रास नृत्य अभिरामा। निरत अलिगन श्याम रु श्यामा॥  
वंशीवट तट रास रचायौ। थेई-थेई मंद-मंद प्रिय गायौ॥  
मानसरोवर अति सुखकारी। प्यारी सँग जहँ छैलबिहारी॥  
करत केलि जल श्रम कौं हरहीं। प्यारी कौं प्रीतम भुज भरहीं॥  
रंगमहल अति रंग बढ़ावैं। व्याह रचैं सखि मंगल गावैं॥  
श्री हितअलि गृह लता भवन हैं। करैं बिहार रमनी रु रमन हैं॥  
इही अनूपम अद्भुत ठामा। प्यारी-प्रीतम हित विश्रामा॥

अलबेलीशरण जी कृत—

नमो जयति जमुना वृन्दावन।  
नमो निकुंज कुंज सेवा, हित मण्डल रास, डोल, आनंदघन॥  
नमो पुलिन वंशीवट, रसमय धीरसमीर, सुभग भुव खेलन।  
नमो-नमो जै मानसरोवर सुख उपजावन दंपति के मन॥  
नमो-नमो द्रुम बेली खग-मृग जे-जे प्रगट गोप्य श्री कानन।  
नमो जयति हित स्वामिनि राधा अलबेली-अलबेलौ मोहन॥

मदनमोहनदास जी कृत—

नित्य रासमंडल प्रगटायौ। नित्य रास कौ ठिक ठहरायौ॥  
ब्रजवासिन के बालक लीने। रास विलास प्रगट करि दीने॥  
प्रगट कियौ पुनि सेवाकुंज। धीरसमीर महा सुख पुंज॥  
वंशीवट रसिकन दरसायौ। मानसरोवर प्रगट दिखायौ॥

१. अ. अ. की वा., प. वि. ली., अ. अ., छं. सं. २० से ३७

२. पदा., वृ. दा. [द्वितीय] प. सं. १६

३. हि. च. प्र., प्री. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ११०, छं. सं. ११ से १८

४. पदा., अ. श., पृ. सं. ६, प. सं. ५



अरु लीला स्थल जिते प्रगट किये इहि भाँति।  
रसिकन के मन मुदित भये देखत हियौ सिराँति<sup>१</sup>॥

### ७.१५.५. दिव्य देन :

श्री राधाबल्लभलाल और उनकी विधिनिषेध शून्य मौलिक अष्टयामी सेवापद्धति; पंचकोसी वृन्दावन और उसके दिव्य लीलास्थलों के प्रागट्य से मानव जगत को एक विशिष्ट लाभ तो मिला ही, किन्तु श्री हिताचार्य की विशिष्ट और अभूतपूर्व देन तो थी 'प्रेमोपासना' किंवा 'रसोपासना'।

### ७.१५.५.१. रसोपासना-संसृष्टि :

श्री हिताचार्य ने उस परात्पर तत्व 'रस' को ही अपना परमोपास्य बनाया था जो पूर्ववर्ती सदगृहीत सभी भक्ति मार्गों से सुदूर और अप्राप्य था। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण जन उस परम तत्व 'प्रेम' किंवा 'रस' रूप का नित्य सामीप्य कैसे प्राप्त करें—इसके लिए उन्होंने उन सभी मार्गों के विरुद्ध [सबसे पृथक] रसोपासना का प्रागट्य किया। अर्थात् 'रस' को प्राप्त कर आनन्दी स्वरूप होने का मार्ग प्रशस्त किया। भगवदुपासनाओं से पृथक रसोपासना के उपास्य-उपासक और उपासना विधा आदि का विधान अपनी वाणी तथा आचरण में मूर्त रूप में प्रत्यक्ष किया। जिन सबका विस्तृत विवरण इसी प्रबंध के पंचम अध्याय में दृष्टव्य है। श्री हिताचार्य ने 'रस सुधानिधि' की इन पंक्तियों में—“मैंने सभी महत मार्गों के विरुद्ध उपासना मार्ग चलाया है-यह अपराध ही किया है”<sup>२</sup>—ऐसा स्वीकार करते हुए भी इस मार्ग के संस्थापन का श्रेय स्वयं न लेकर अपनी गुरुवर्य रस मूर्ति श्री राधा को ही देते हुए उन्हें इस रस मार्ग का संस्थापक लिखा है<sup>३</sup>; फिर भी परम सत्य छिप कैसे सकता था—सेवक जी<sup>४</sup>, हरिराम जी

१. हि. ह. च., म. मो. दा., पृ. सं. ३

२. ....पद्यैर्नैव सदापराधिनि महन्मार्ग विरुद्धयत्वदे। काशे स्नेह जलाकुलाक्षि किमपि प्रीतिं प्रसादी कुरु।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २६६

३. ....तौ ब्रज नव तरुनि कदम्ब चूड़ामनि श्री राधे ! तिहारे स्थापे गुरु मार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौं होतु है। ताते यह मरजाद राखनी।

— श्री मु. प., गो. हि. ह., द्वितीय पत्री

४. पाई रस भक्ति गूढ़ जुग-जुग जग दुर्लभ भव इन्द्रादि विधिं।  
आगम अरु निगम पुरान अगोचर सहज माधुरी रूप निधिं॥  
अनभव आनंदकंद निज सम्पति गुप्त सु रीति प्रगट करनं।  
जय जग उद्योत व्यास कुल दीपक श्री हरिवंश चरन शरनं॥

— से. वा., एकादश प्रकरण, छं. सं. ३

व्यास<sup>१</sup>, नाभा जी<sup>२</sup>, हितघुवदास जी<sup>३</sup>, भगवत मुदित जी गौड़ीय<sup>४</sup>, प्रियादास जी गौड़ीय<sup>५</sup>, वंशी अली जी एवं किशोरी अली जी आदि सभी प्राचीन रसिक-भक्तों द्वारा यह ऐतिहासिक तथ्य प्रकट हो ही गया कि इस वृन्दावन रसोपासना के प्रवर्तक गो. हित हरिवंश जी ही हैं।

पूर्व पृष्ठों में यह तथ्य भी ऐतिहासिक ग्रन्थों से प्रमाण पुष्ट हो चुका है कि श्री हिताचार्य ने अनन्यता प्राण और राधाचरण प्रधान रसरीति वाली इस रसोपासना का प्राकट्य वृन्दावन आने से बहुत वर्ष पूर्व [वि. सं. १५६६ के लगभग] रंगीलाल-प्राकट्य, बीठलदास, नाहरमल और ज्ञानू आदि को दीक्षादान तथा 'राधासुधानिधि'- 'हित चौरासी' आदि वाणी ग्रन्थों के प्रणयन के साथ देववन में ही कर दिया था।

रस भक्ति संज्ञक यह रसोपासना ही कालान्तर में 'निकुंज रस', 'रस पद्धति', 'वृन्दावन रस', 'वन विहार रस', 'नित्यबिहारोपासना', 'प्रेमोपासना', 'हित जू की रीति', 'हित पद्धति', 'हित धर्म', 'हित रस रीति', 'गुप्त रीति', 'रसरीति', 'हित पन्थ', 'हरिवंश पन्थ', 'अनन्य पथ', 'हरिवंश गुसाँई की भजन रीति', 'निज धर्म', 'प्रेम धर्म', 'श्री हरिवंश पथ', 'श्री हरिवंश धर्म', 'अनन्य धर्म', 'अनन्य मार्ग', 'व्यास सुवन पथ', 'कुंजमहल रस', 'अनन्य रस पद्धति', 'श्री हरिवंश सुरीति', 'रस मार्ग', 'रसिक मार्ग', 'वृन्दावन रसोपासना', 'निकुंज उपासना', 'राधाचरण प्रधान उपासना', 'हित सम्प्रदाय' और 'राधाबल्लभ सम्प्रदाय' इत्यादि नामों से भी अभिसंज्ञात हुई।

१. श्री राधाबल्लभ व्यास के इष्ट मित्र गुरुदेव। श्री हरिवंश प्रगट कियौ कुंज महल रस भेव।।

— व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. १२२

२. श्री हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत् कोउ जानिहै।।.....

व्याससुवन पथ अनुसारै सोई भलैं पहिचानिहै।।

—म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

३[क] .....सार कौ सार प्रेम सुख यह अद्भुत महारस प्रेम की उपासना श्रीजू प्रगट करि दई है। निशंक सबके कल्याणार्थ.....यहाँ श्रीजी जो रस प्रगट क्यौ ता रस उपासना में कछु न मिलै। अद्भुत उपासना सबनि ते न्यारी गति ताकी है।।.....

— व्या. ली., सिद्धान्त विचार, हि. धु. दा.

[ख] निगम ब्रह्म परसत नहीं जो रस सबते दूर। कियौ प्रगट हरिवंश जू रसिकन जीवन मूर।।

— व्या. ली., भक्तनामावली, हि. धु. दा., छं. सं. २

४. जे आये हरिवंश पथ सिद्ध भये जु अनन्य। 'भगवत' तिनकी परचई वरनहुँ हौंहुँ सु धन्य।।

— र. अ. मा., भ. मु., मंगलाचरण

५. राधिकाबल्लभलाल आझा सो रसाल दई सेवा मो प्रकाश औ विलास कुंज धाम कौ।

सोई विस्तार सुख सार दृग रूप पियौ दियौ रसिकन जिन पछ लियौ वाम कौ।

— म. मा. टी., टी.-प्रि. दा., छं. सं. ३६२



### ७.१५.५.२. रसपान-विधा-विनिर्मिति :

श्री हिताचार्य ने जिस 'प्रेम' किंवा 'रस' को अपना उपास्य बनाया है और जिस 'रस' की उपासना प्रगट की है; वह 'रस' निरापद रूप से अतीन्द्रिय है। उस रस का पान वे राधाकिंकिरीगण ही किया करती हैं जिनके शरीर और शरीरी दो नहीं; एक ही होते हैं। उनका वपु पांचभौतिक न होकर दिव्य होता है, रस रूप किंवा प्रेमस्वरूप होता है। अतः वे रसमूर्ति श्यामा-श्याम की रस लीला का प्रत्यक्ष दर्शन किया करती हैं। किन्तु पांचभौतिक शरीरधारी उपासक रसिक उस रसलीला में इस शरीर से प्रवेश नहीं कर सकता। अतः स्वस्वरूप [ राधाकिंकिरी वपु ] के अभाव काल में वह उस रस का पान कर सके, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्री हिताचार्य ने कुछ विशिष्ट विधायें भी स्वयं ही प्रगट कीं ये विलक्षण रस-पान-विधा ही उनकी दिव्य देन के रूप में रसिक जगत में समार्पित हुईं। ये दिव्य देन हैं—नित्य रासलीलानुकरण प्रागट्य, रस लीला गान किंवा वृन्दावन रसात्मक काव्य धारा और समाज संगीत-समुद्भव।

श्री हिताचार्य ने रसपान करने की विधाओं का एक ही सूत्र वाक्य में उद्घोष करते हुए कहा है कि—“हे बुधजनो यदि तुम्हें अद्भुतानन्द का लोभ हो तो इस रससुधानिधि स्तव [ग्रन्थ] का कर्णकलशों द्वारा पान करो<sup>१</sup>।” अन्तराशय यह कि श्री राधा-चरणानुभाव-निस्यन्दमाना गिरा [पद्यात्मक रस लीलाओं] का कथन-श्रवण और गायन करके लीला रस का पान करो<sup>२</sup>।

श्री हिताचार्य की सूत्रात्मक वाणी के भाष्यकार श्री सेवक जी ने आचार्य चरण के इस सूत्र वाक्य का भावार्थ जैसा उद्घाटित करते हुए लिखा है कि—‘हित के जिस अद्भुत नित्यबिहार को दासीगण प्रत्यक्ष देखकर जीवित रहती हैं, हित रसिकजन उसका विस्तार करके, श्रवण करके और गायन करके नित्यप्रति लीला रस का पान किया करते हैं—

अद्भुत बिहार हरिवंश हित निरखि दासि सेवक जियत।

विस्तरत-सुनत-गावत रसिक सु नित-नित लीला रस पियत<sup>३</sup>॥

### ७.१५.५.२.१. नित्य रासलीलानुकरण-प्रागट्य :

प्रेम किंवा रस मूर्ति श्यामा-श्याम प्रकृतितः रास और विलास प्रिय हैं। रास और

१. अद्भुतानन्द लोभश्चेत् नाम्ना रससुधानिधिः। स्तवोऽयं कर्ण कलशैर्गृहीत्वा पीयतां बुधाः॥

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २७०

२. श्री राधा चरणानुभाव कथयानिस्यन्दमाना गिरा।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २६८

३. से. वा., हित रसरीति प्रकरण, छं. सं. ६

विलास प्रियता इनके स्वरूप की प्रकट प्रतीक है। इसीलिए श्री हिताचार्य इन्हें आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि—रास-विलास के साथ यह जोरी सदा विराजमान रहे—

नव निकुंज अभिराम श्याम सँग नीकौ बन्यौ है समाज।

जै श्री हित हरिवंश विलास रास जुत जोरी अविचल राजु<sup>१</sup>॥

राधाकिंकरीगण इस रास-रस का पान नेत्र-चषकों द्वारा किया करती हैं<sup>२</sup>। राधाकिंकरी भावानुभावितहृदय रसिकों को भी प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा इस रास-विलास का रसास्वाद निरन्तर मिल सके इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्री हिताचार्य ने प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम की इस नित्य रासलीला के अनुकरण का प्राकट्य किया। यह रासलीलानुकरण वृन्दावन में होने वाले उस नाद्यन्त नित्यरास का अनुकरण था जो मुक्तजनों, भक्तजनों और गोविन्द-प्रिय परिकर से सर्वथा अलक्षित है। यह भागवत-वर्णित द्वापरान्त में होने वाले महारास से भिन्न उस नित्यरास का अनुकरण था जिसे केवल राधा-प्रिय किंकरीगण ही देखा करती हैं। इस रासलीलानुकरण का शुभारंभ श्री हिताचार्य ने वि. सं. १५६२ के लगभग पंचकोसी वृन्दावनस्थ चैन घाट [वर्तमान नाम गोविन्द घाट] में विनिर्मित रास-मण्डल पर ब्रजवासी बालकों को श्यामा-श्याम व सहचरियों के वेष से सुसज्जित करके किया था<sup>३</sup>। इसका सर्वाङ्गीण व विस्तृत परिचय प्रबंध के परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

### ७.१५.५.२.२. रसलीलागान या वृन्दावनरसात्मक काव्यधारा-प्रागट्य :

श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत रस पान करने की दूसरी विधा है—रस लीला गान। इस रस लीला गान को उन्होंने दो रूपों में प्रकट किया। १. पद-रचना द्वारा तथा २. पदों के गायन द्वारा।

#### पद-रचना :-

प्रेम मूर्ति श्यामा-श्याम प्रकृतितः क्रीड़ा प्रिय हैं। वे प्रत्येक समय केलि परायण ही बने रहते हैं। प्रातः सुरतान्त काल में हितसखी अथवा अन्य सखियों द्वारा अपने रात्रि-बिहार किंवा केलि-कथा-कथन को सुनकर वे दोनों सुरत बिहार का आनन्दानुभव किया करते हैं<sup>४</sup>। यही कारण है कि सखीजन उनके रात्रि बिहार का वर्णन करके उन्हें

१. हि. चौ., प. सं. ४८

२. जै श्री हित हरिवंश निकट दासीजन लोचन चषक रसासव गटकति।

— हि. चौ., प. सं. ७६

३. हि. कु. शा., ज. कृ. दा., छं. सं. ३०

४. जै श्री हित हरिवंश वचन सुनि भामिनि भवन चली मुसिकाती।

— हि. चौ., प. सं. २०



और स्वयं को भी रसानन्द से अभिभूत किया करती हैं<sup>१</sup>।

शरणागत रसिकों को भी उनके इस वन बिहार की रसानुभूति निरन्तर होती रहे—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्री हिताचार्य ने 'हित चौरासी' एवं 'राधासुधानिधि' की रचना-माध्यम से एक अभिनव काव्य धारा की भी संसृष्टि की। उन्होंने स्वयं ही अपनी वाणी को 'केलि-कथा- संलग्न'<sup>२</sup> लिखकर यह विधान जैसा बना दिया कि इस काव्य धारा का वर्ण्य विषय श्यामा- श्याम की केलि कथा ही है; साथ ही यह घोषणा भी की कि हे बुधजनो ! यदि तुम्हें अदभुतानन्द का लोभ हो तो मेरे इस 'रस सुधा निधि' स्तव का कर्ण-कलशों द्वारा पान करो<sup>३</sup>।

रसिक वाणियों में वर्णित पदों के कथन-श्रवण -गायन और पद-रचना द्वारा रसानुभूति होती है— इसकी व्यंजना हरिराम व्यास जी ने श्री हरिवंश-अदर्शन जन्य वेदना मूलक एक पद में इन शब्दों में की है—

हुतौ रस रसिकन कौ आधार।

बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार।।.....

पद-रचना अब कापै है है निरस भयौ संसार<sup>४</sup>।।

पद-गायन :-

बिहार वर्णनात्मक यह पद रचना रसिक जगत में 'रस वाणी' किंवा 'रसिक वाणी' नाम से अभिसंज्ञात हुई और इन पदों का संगीत की सुमधुर शैली के साथ गायन 'समाज संगीत' के नाम से इष्ट-समाराधना के एक प्रकार विशेष के रूप में प्रकीर्तित हुआ।

इस वाणी साहित्य किंवा काव्य धारा का अपना स्वतंत्र इतिहास है। स्वतंत्र स्वरूप और स्वतंत्र विधा है। इस काव्य धारा से अनुभूत होने वाला 'रस' रसिक वाणी साहित्य

१[क] मदन मुदित अंग-अंग बीच-बीच सुरत रंग, पल-पल हरिवंश पिवत नैन चषक झेलि।।

— हि. चौ., प. सं. १७

१[ख] .....रहसि रमी छबीले रसन वसन डीले, थिथिल कसनि कंचुकि उर राती।

सखी सौं सुनि श्रवन वचन मुदित मन, चली हरिवंश भवन मुसिकाती।।

— हि. चौ., प. सं. १५

१[ग] वृन्दावन हरिवंश प्रसंशित सुनि गोरी मुसिकात।

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ७७

२. रा. सु. नि., श्लोक सं. २६८, प्र. पृ. सं. ६२८

३. रा. सु. नि., श्लोक सं. २७०, प्र. पृ. सं. ६२८

४. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १६

में 'वन बिहार रस', किंवा 'वृन्दावन रस' नाम से प्रकीर्तित है<sup>१</sup>।

यह 'वृन्दावन रस' काव्य रस तथा भक्तिरस से सर्वथा भिन्न है<sup>२</sup>। ये दोनों रस आचार्य भरत-विनिर्मित रस-निष्पत्ति-विधा से निष्पन्न होते हैं; किन्तु यह 'वृन्दावन रस' स्वयं निष्पन्न रस है। यही कारण है कि यह 'रस' रसकेलिकर्ता रस-रसिक मूर्ति श्यामा-श्याम, रसकेलि दृष्टा व लीला की अविभाज्य अंग स्वरूपा राधाकिंकरीगण तथा सदाशय स्थानीय रसिकगण—इन सभी को सहज रूप में अनुभूत होता है।

स्वयं निष्पन्न रस को किसी निष्पत्ति विधा निर्माण की आवश्यकता नहीं होती; अतः श्री हिताचार्य ने 'नाट्यशास्त्र' की भाँति इसका कोई शास्त्रीय विधान नहीं बनाया; किन्तु विस्मय जन्य विलक्षण बात यह है कि इस रस की रचनाओं में काव्य शास्त्रियों, कवियों तथा सर्व साधारण को काव्य रसापेक्षित-स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ सम्पूर्ण अलंकार और सम्पूर्ण गुणों के दर्शन होते हैं।

### ७.१५.५.२.३. समाजगायन [ संगीत ] - समुद्भव :

'प्रेम' किंवा 'रस' जब उज्जृम्भित होता है तब उसमें राग की ऊर्मियाँ प्रकृतितः उच्छलित होती हैं। श्यामा-श्याम प्रेम किंवा रस की सघन मूर्ति ही हैं। यही कारण है कि उन्हें रागालापन तथा वीणा-वंशी वादन अत्यधिक प्रिय है। कभी रसिकशेखर श्यामसुन्दर वंशी वादन के माध्यम से श्री प्रिया के साथ गायन करके उन्हें प्रसन्न करते हैं<sup>३</sup> तो कभी केवल प्रिया जी अपने मधुर गायन तथा वीणा वादन-द्वारा अपने प्रियतम

१[क] तेऊ उमगि तजत मर्यादा वनबिहार रस पियैं।

— स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०

[ख] वृन्दावन रस मुहि भावै हो। वेद-पुरान अरु भारत भाखै सो मोहि कछु न सुहावै हो॥  
व्यासदास तेई बड़भागी जिनके जिय यह आवै हो॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ११५

इहि रस नवधा भक्ति उबीठी रति भागौत कथा की।

रहनि कहनि सबहिन ते न्यारी व्यास अनन्य समा की॥

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १७७

[ग] हित्वा वृन्दावन रस कथामन्य वार्ता रुचिश्चेत्। ज्ञातं क्षिप्त्वा मोक्तु मिच्छुः श्व विष्णाम्।

— वृ. म., प्र. स., प्रथम शतक, श्लो. सं. ६७

[घ] करुना निधि अरु कृपा निधि श्री हरिवंश उदार। वृन्दावन रस कहन कौ प्रगट घट्यौ अवतार॥

— व्या. ली., रहस्य मंजरी लीला. हि. घु. दा., छं. सं. १

२. वृन्दावन रस का शास्त्रीय स्वरूप विवेचन परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

३. दंपति अति अनुराग मुदित कल, गान करत मन हरत परस्पर।

— हि. चौ., प. सं. ५



को आनंदित करती हैं<sup>१</sup>। इसी प्रकार राग और अनुराग की सजीव मूर्तियाँ सहचरीगण भी समय-समय पर युगल के रागालाप का अनुगमन करके कभी प्रातः, कभी मध्याह्नोत्तर उत्थापन काल में और कभी रात्रि रास में गायन-वादन करके युगलवर का मनोरंजन किया करती हैं<sup>२</sup>।

राधाकिंकरी भावानुभावित रसिक भी इसी प्रकार से रस लीलाओं के पद्यात्मक गायन द्वारा अपने इष्ट युगल को आनन्दित कर सके तथा स्वयं वृन्दावनरसानन्द का अनुभव कर सके—इस उद्देश्य से श्री हिताचार्य ने ‘समाज गायन’ की अभिनव और मौलिक गायन पद्धति का भी समुद्भव किया। यहाँ पर यह नितान्त अविस्मरणीय है कि उन्होंने सामवेद के स्वर प्रधान संगीत को अक्षर प्रधान बनाकर इस मौलिक गान पद्धति को जन्म दिया और रस लीला संबंधी गेय पदों को एक धुन विशेष में आवद्ध करके उन विशिष्ट ‘धुनों’ का भी आविष्कार किया; जो आज भी राधाबल्लभीय समाजगान-गायकों के कण्ठ में परम्परा से सुरक्षित हैं। श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत इस ‘समाज गायन पद्धति’ किंवा ‘समाज संगीत शैली’ का विस्तृत विवरण प्रबंध के परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।

### ७.१५.६. शिष्य परिकर :

रसिकाचार्य गो. हित हरिवंश जी और उनके कृपापात्रों के सुयश गान करने का शुभारम्भ हरिरामव्यास जी ने पद-रचना द्वारा तथा हितध्रुवदास जी ने ‘भक्त नामावली’ नामक रचना द्वारा विक्रम की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण में ही कर दिया था किन्तु हिताचार्य के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ उत्तमदास जी द्वारा विरचित ‘श्री हरिवंश चरित्र’ ही माना जाता है। इस ग्रन्थ में जो चरित्र लिखे गये हैं वे सबके सब भगवत मुदित जी गौड़ीय द्वारा विरचित ‘रसिक अनन्यमाल’ नामक ग्रन्थ पर ही आधारित हैं अतः श्री हिताचार्य ने किसे कब और कहाँ पर दीक्षित किया इन सब बातों पर ऐतिहासिक दृष्टि से अनुसन्धान करने के लिए हम भी सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ का आलोड़न करेंगे।

भगवत मुदित जी ने इस ग्रन्थ में अड़तीस रसिक अनन्यों के चरित्र लिखे हैं। इन उल्लिखित रसिकों में से श्री नरवाहन, अज्ञात नामक-सरावगी, हरिरामव्यास,

१. वृषभानु नन्दिनी मधुर कल गावै। विकट औघर तान चर्चरी ताल सौं, नन्दनन्दन-मनसि मोद उपजावै॥

— हि. चौ., प. सं. ८१

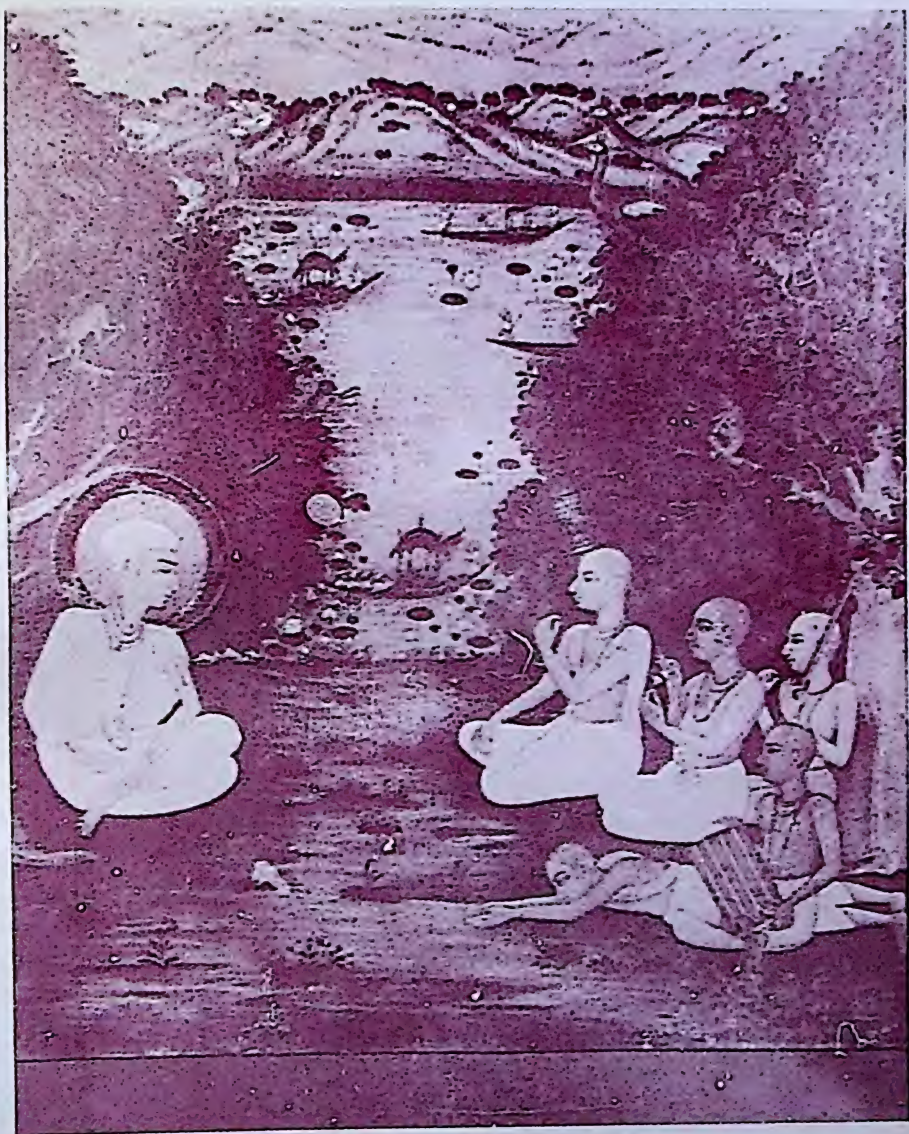
२[क] जै श्री हित हरिवंश प्रशंशि परायन, गायन अलि सुर देत मधुरतर।

— हि. चौ. प. सं. ५

३[ख] ततरु वितत घन सिखर सुघर मिलि रच्यौ समाज कुंजनि खोरी।

— पदा., स. सु., प. सं. ७७





गो० हितहरिवंशचन्द्र महाप्रभु के समक्ष उनके कृपापात्रों -  
द्वारा किए गए समाजगान का एक प्राचीन दृश्य ।





छबीलेदास, नाहरमल, बीठलदास, मोहनदास, नवलदास, हरीदास तुलाधार, हरीदास जी [कर्मठी बाई के ताऊ] परमानन्ददास, प्रबोधानन्द सरस्वती, कर्मठी बाई, सेवक जी, खरगसेन, गंगा, जमुना, पूरनदास और हरिवंशदास जी को तो सुस्पष्ट शब्दों में श्री हिताचार्य से दीक्षित लिखा है<sup>१</sup>। किन्तु जयमल और जसवन्त राठौर किनके शिष्य हैं—श्री हिताचार्य के या अन्य किसी के—यह सुस्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। चतुर्भुजदास, सुन्दरदास तथा नागरीदास, पुष्करदास जी आदि रसिकों को सुस्पष्ट रूप से गो. वनमालीदास जी, गो. गोपीनाथ जी तथा गो. दामोदरवर जी का शिष्य लिखा है।

१. नरवाहन — बिना कपट कौ वचन सुनायौ। दीक्षा दै तब हित अपनायौ॥  
 व्यासदास — श्रद्धा लखि निज मन्त्र सुनायौ। भयौ व्यास के मन कौ भायौ॥  
 छबीलेदास — आपु मिले बहु आदर दीनौ। जोग जुगल देखन कौ कीनौ॥  
 नाहरमल — श्री हरिवंश किये गुरु पूरे। भये अनन्य अशुभ-शुभ चूरे॥  
 बीठलदास — गुरु हरिवंश धाम वृन्दावन। द्विभुज राधिकाबल्लभ सौं पन॥  
 नवलदास — अब श्री हित हरिवंश के शिष्य नवल हैं जानि।  
 मोहनदास — प्रान तजे बिठल जू जैसैं। गुरु वियोग तन त्याग्यौ वैसैं॥  
 परमानन्ददास— दीक्षा नाम सुनाइकैं भृत्य आपुनौं कीन।  
 पूरनदास — पूरनदास विरक्त अनन्य। श्री हरिवंश धर्म सम्पन्न॥  
 प्रबोधानन्द — अब सुनि श्री हरिवंश पद गह्यौ प्रबोधानन्द।  
 हरीदास तुलाधार— अब श्री हित हरिवंश के कृपापात्र निज भृत्य।  
 हरीदास तुलाधार शुचि सुनिलै तिनकौ कृत्य।  
 कर्मठी — जबते हित जू नाम सुनायौ। दुख-सुख असत जानि बिसरायौ॥  
 सेवक जी — सपने ही में मंत्र सुनायौ। इष्ट धर्म सब भेद बतायौ॥  
 खरगसेन — श्री हरिवंश कृपा करी घर ही में वैराग।  
 गंगा तथा यमुना — नाम सुनाइ सुरीति बताई। सो सब इनके निश्चै आई॥  
 हरिवंशदास — जा दिन तैं गुरु शरनै आयौ। राधाबल्लभ इष्ट सुहायौ॥

— र. अ. मा., म. मु.

विशेष ज्ञातव्य— पूरनदास जी का चरित्र पृथक से नहीं लिखा है। परमानन्ददास जी के चरित्र में ही इनके हित शिष्य होने का संकेत मिलता है। इसी प्रकार नरवाहन के चरित्र वर्णन सन्दर्भ में उस सरावगी के शिष्य होने का भी उल्लेख है जिसे नरवाहन जी ने बंदी बनाया था, किन्तु उसके नाम का उल्लेख नहीं है—

देखि साह कौ भक्ति जु आई। शिष्य होन कौ मति ललचाई॥

श्रद्धा लखिकैं नाम सुनायौ। रीति धर्म सब कहि समुझायौ॥

इसी प्रकार कर्मठी बाई के चरित्र वर्णन में इनके ताऊ श्री हरिदास जी को भी श्री हिताचार्य का कृपापात्र लिखा है—

पति-पितु दोउ के जु समाये। ताऊ विरधि भक्ति मन माये॥

तिनकौ नाम सुनौ हरिदास। श्री हरिवंश चरन की आस॥



भगवत मुदित जी से पूर्व हित ध्रुवदास जी ने 'भक्त नामावली' नामक अपनी रचना में श्री राम-कृष्ण के सभी भक्तों के साथ श्री हिताचार्य के कतिपय शिष्यों के नामोल्लेख भी किये हैं। उन्होंने हिताचार्य के जिन कृपापात्रों के नाम अपनी 'भक्त नामावली' में उल्लिखित किये हैं—वे इस प्रकार हैं—

हरिरामव्यास, प्रबोधानन्द, सेवक जी, नरवाहन, परमानन्द, किशोर, सन्तदास, मनोहर, खेम, बालकृष्ण, ज्ञानू, नाहरमल, मोहनदास, बीठलदास, गोपालदास, नागर, हरिदास, खरगसेन, गंगा और जमुना।

भगवत मुदित जी ने 'भक्त नामावली' में उल्लिखित हरिराम व्यासादि उन्नीस हित शिष्यों के चरित्र तो लिखे हैं किन्तु किशोर, सन्तदास, मनोहर, खेम, बालकृष्ण, ज्ञानू, गोपालदास नागर और हरिदास इन शेष रसिकों का चरित्रोल्लेख नहीं किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि इन रसिकों के चरित्र उन्हें प्राप्त ही न हुए हों।

उत्तमदास जी ने स्वरचित 'श्री हरिवंश चरित्र' ग्रन्थ में 'रसिक अनन्य माल' में वर्णित सभी हित शिष्यों के चरित्र न लिखकर कतिपय रसिकों के चरित्र ही गुम्फित किये हैं। साथ ही हित कृपापात्रों की एक नामावली भी संलग्न कर दी है। उनकी निजी खोज की विशिष्ट देन यह है कि उन्होंने ही रसिकों को इस ऐतिहासिक तथ्य से अवगत कराया कि हिताचार्य ने अपने पुत्र तथा पुत्री इन सबको भी उपासना मंत्र से दीक्षित किया था—

सुत अरु सुता शिष्य करि लये<sup>१</sup>।

उन्होंने ही 'श्री हरिवंश चरित्र' की रसिक परचई [रसिकों की नामावली] में स्वामी हरिदास जी का नामोल्लेख करते हुए लिखा है कि—

श्री हरिदास बड़े उपकारी। हित जु कृपा ते मिले बिहारी<sup>१</sup>॥

उसी समय अतिबल्लमदास जी ने भी श्री हित बधाई गान के माध्यम से हित परिकर का भी गान किया है। उस गान में उन्होंने 'रसिक अनन्यमाल' में उल्लिखित नरवाहनादि हित शिष्यों के अतिरिक्त प्रमदानन्द, प्रियादास, हरिदास, सेवा, नन्दा और मनोहर इन छह नामों का भी उल्लेख किया है—

बड़ौ वंश कहाँ लगी यश वरनों हित परिकर गुन गाऊँ।

प्रगटे जिहि-जिहि ठाम नाम तै तिनके नाम सुनाऊँ॥

१. श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ६४

२. श्री ह. च., श्री हित कृपापात्र नामावली, उ. दा., छं. सं. १७

सेवक जनम लह्यौ परमारथ स्वारथ तन मन पूरे।  
 व्यास जनम हम लह्यौ दान सनमान भक्त जन रुरे।।  
 विपिन निकट श्री यमुना तट नरवाहन जनम वखान्यौ।  
 दान केलि कौ दान मान युत सुयश गान हम जान्यौ।।  
 परमानन्द नवल प्रमदानंद प्रियादास-हरिदासा।  
 नाहरमल श्री बीठल मोहन प्रगटत पूजी आशा।।  
 दास छबीले रस सरसीले नन्द मनोहर सेवा।  
 धामान्य प्रबोध जनम कहि-कहि उत्तरे भव पारा।  
 पूरन खरगसेन गुन गाये लह्यौ भक्ति सुख सारा।।  
 अतिबल्लभ की दुर्लभ आशा सोऽव सुलभ करि पाई।  
 परिकर जुत वंशावलि वरनन जनम बधाई गाई१।।

रसिकों के चरित्रों पर प्रकाश डालने वाले दो ग्रन्थ और भी प्राप्त होते हैं—‘रसिक अनन्य सार’ और ‘चरण प्रताप लीला’। ‘अनन्यसार’ प्रणेता गो. जतनलाल जी ने भगवत मुदित जी कृत ‘रसिक अनन्य माल’ तथा उत्तमदास जी कृत ‘श्री हरिवंश चरित’ ग्रन्थ—वर्णित चरित्रों की ही पुनरावृत्ति की है और ‘चरण प्रताप लीला’ के प्रणेता अनन्यअली जी ने स्वामी हरिदास जी, सेवक जी, प्रबोधानन्द जी तथा व्यास जी इन चार रसिकों का ही चरित्र वर्णन किया है। अन्य किसी ज्ञात या अज्ञात हित शिष्य का परिचय नहीं दिया है।

कुछ कालोपरान्त चाचा वृन्दावनदास जी ने राधाबल्लभ सम्प्रदाय के अपार साहित्य का गहनतम आलोड़न करके अनेक अज्ञात रसिक और अनेकानेक रसिक वाणियों का पता लगाया साथ ही उनके चरित्रों पर प्रकाश डालकर इस सम्प्रदाय के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति भी की। उन सब रसिकों का परिचय इस प्रबंध के साहित्य प्रकरण में दिया जायगा। यहाँ पर हम श्री हिताचार्य के शिष्यों का ही नामोल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

चाचा वृन्दावनदास जी ने ‘रसिक अनन्य परचावली’, ‘हित परिकर वन्दन पत्रिका’, ‘श्री हरिवंश सहस्रनाम’ और ‘बसन्त प्रबन्ध’ [ प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ ] आदि हित रसिक चरित्र-ग्रन्थों की रचना की है। ‘रसिक अनन्य परचावली’ में उन्हीं हित शिष्यों का परिचय दिया है जिनका परिचय ‘रसिक अनन्य माल’ में दिया गया है। केवल रंगा और गोविन्ददास नामक दो शिष्यों का परिचय विशेष ग्रन्थ की छन्द संख्या १४० में



दिया गया है। रंगा और गोविन्ददास इन दोनों के नाम गाँगू, मेधा और संतदास—इन निज भृत्यों के नाम के साथ श्री हिताचार्य द्वारा लिखित एक पत्र विशेष में भी उल्लिखित हैं।

‘हित परिकर वन्दन पत्रिका’ की मूल हस्तलिखित प्रति का वह भाग ही नष्ट हो चुका है जिसमें हित परिकर का वर्णन किया गया था। ‘श्री हरिवंश सहस्रनाम’ नामक रचना में ‘रसिक अनन्य माल’ में उल्लिखित श्री हित-शिष्यों के नामों के साथ-साथ खेम, मनोहर, गाँगू गोविन्ददास, प्रियादास, हरिदास, संतदास, सेवा, मोहन, रंगा और नन्दा इन हित शिष्यों के भी नामोल्लेख किये गये हैं। ‘बसन्त प्रबन्ध’ [प्रथम] में रचयिता ने बसन्तोत्सव—समाज गान वर्णन के माध्यम से व्याससुवन [श्री हरिवंश] के सभी प्रणतजनों के नाम उल्लिखित किये हैं<sup>१</sup>। इस बसन्त प्रबंध में निम्नलिखित हित शिष्यों के नाम स्मरण किये गये हैं—

श्री हिताचार्य के चारों कुमार [वनमालीदास, कृष्णदास, गोपीनाथ, मोहनदास] व्यास जी, नरवाहन, बीठलदास, छबीलेदास, पूरनदास, परमानन्ददास, स्वामी श्री हरिदास जी, हरिदास तुलाधार, गंगा, जमुना, कर्मठी, प्रबोधानन्द, खरगसेन, सेवक जी, अलिमोहन, जनमोहन, मनोहर, सेवा, गाँगू खेम, मेधा, नन्दा, रंगा, गोविन्ददास, सन्तदास और प्रियादास।

उपर्युक्त नामावली में यह बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि इसमें जनमोहन तथा अलिमोहन नामक दो हित कृपापात्रों का तो विशेष उल्लेख है तथा प्रमदानन्द नामक हित शिष्य का अनुल्लेख है, जिनका नामोल्लेख चाचा वृन्दावनदास जी से पूर्ववर्ती अतिबल्लभदास जी ने हित बधाई के एक पद में वर्णित ‘हित वंशावली’ में किया है।

उपर्युक्त चरित्र ग्रन्थों के अतिरिक्त ‘भक्त गाथा’ नामक एक रसिक चरित्र ग्रन्थ और भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की रचना गोविन्दअलि जी ने वि. सं. १८४४ में की थी। रचयिता ने पूर्ववर्ती रसिक चरित्र लेखकों द्वारा वर्णित श्री हित शिष्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य हित शिष्यों के नाम भी उल्लिखित किये हैं—बालकृष्ण, मुरलीधरन, किशोर,

१. श्री व्याससुवन सँग बन्यौ समाज। रितुराज खेल कौ सबहि साज।।  
लिये प्रणत जनन मण्डली लार। कीये बसन्त रितु कौ सिंगार।।  
सेवक करवर लीये सितार। हरिवंश नाम-वानी उचार।।  
व्यास करन बाजै मृदंग। नरवाहन कर सोहै उपंग।।  
सबके जु मुकटमणि व्यासनन्द। पुनि सुकल सुमोखन कुल सुचन्द।।  
सुत आसुधी मूरति अनन्द। धनि भक्ति थंम परबोधानन्द।।

गोपाला, नागर और हरिदास<sup>१</sup>। यद्यपि भगवत मुदित, उत्तमदास तथा चाचा वृन्दावनदास आदि के ग्रन्थों में इन हित शिष्यों के नामों का उल्लेख नहीं हैं, किन्तु ये नाम हितध्रुवदास जी की 'भक्त नामावली' में अवश्य प्राप्त होते हैं।

इन रसिक चरित्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेकों रसिकों द्वारा विरचित चरित्र ग्रन्थ तथा पदावली प्राप्त हैं किन्तु उन ग्रन्थों तथा पदों में इन्हीं हित शिष्यों के चरित्रों का अनुवाद किंवा नामोल्लेख मात्र है। इनके अतिरिक्त किसी हित शिष्य का नामोल्लेख नहीं है। उन चरित्र लेखकों के नाम ये हैं—कृष्णदास भावुक, वृन्दावनदास [द्वितीय] हरिलाल व्यास, ब्रजजीवनदास, स्वामिनीशरण, प्रीतमदास तथा मदनमोहनदास आदि। इस प्रकार रसिक चरित्र ग्रन्थों में हिताचार्य के निम्नांकित पैंतालीस शिष्यों के नाम मिलते हैं—

नाहरमल, बीठलदास, मोहनदास, ज्ञानू, प्रियादास, हरिदास तुलाधार, प्रमदानन्द, पूरनदास, गाँगू, गोविन्दा [गोविन्ददास] रंगा, मेधा, सेवा, नन्दा, सन्तदास, वनमालीदास गो. [वनचन्द्र जी] कृष्णदास गो., [कृष्णचन्द्र] गोपीनाथ गो., मोहनदास गो. [मोहनचन्द्र] पंडित हरीदास [कर्मठीबाई के ताऊ] नवलदास, नरवाहन, हरिरामव्यास, प्रबोधानन्द, 'सरस्वती', गंगा, जमुना, कर्मठी, साहिब दे [सुता] खरगसेन, बालकृष्ण, मुरलीधर, मनोहर दास, खेमदास, किशोर, गोपालदास, नागर, हरिदास, हरिवंशदास, परमानन्ददास, छबीलेदास, जनमोहन, अलिमोहन, सेवक जी, स्वामी हरिदास जी। अज्ञात नामक सरावगी।

उत्तमदास जी द्वारा लिखित श्री हरिवंश चरित्रान्तर्गत अनामन ग्वारिया और अनामन नृपति का भी उल्लेख मिलता है जिनको श्री हिताचार्य का सानिध्य प्राप्त हुआ और उनकी कृपा से श्यामा-श्याम के दर्शन प्राप्त हुए थे। सांकेतिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अथ ग्वाल प्रसंग—

और सुनौं हित जू के चरित। तिनके सुनत प्रेम उर भरित॥  
मानसरोवर तट इक ग्वाल। गावत हित कृत पद जु रसाल॥  
ताहि मिले श्री लाड़िली-लाल। पाछैं फिरत सुनत दै ताल॥  
नील वसन पहिरैं तन गोरी। कटि पट पीत अरुन सिर खोरी॥

१. श्री हित व्यास कुमार की करत खवासी नेम। भाव भावना में पगे संत मनोहर खेम॥  
संत मनोहर खेम किशोर ज्ञानू गोपाला। इनहूँ कौं प्रभु रीझि दई अपनी उर माला॥  
बालकृष्ण मुरलीधरन नागर अरु हरिदास। इन सबकी पुजई सकल व्याससुवन मन आश॥  
व्याससुवन मन आश रंग मेधा बड़भागी। वृन्दाविपिन बिहार युगल रस के अनुरागी॥



मुरली अपनी ग्वाल बजाई। इत हू लाल अनूप सुनाई।।  
 ग्वाल छव्यौ लखि नवल किशोर। तासौं कहन लगे चितचोर।।  
 तोसौं एक हमारौ काम। वेगि जाहु हरिवंश के धाम।।  
 खीर-कढ़ी हँ करी सु लावहु। जु कछु कस्यौ सो सब पहुँचावहु।।  
 तौलों गाइ घेरि हों तेरी। गाऊँ गैयन आगे हेरी।।  
 जाइ ग्वाल हित जू सों कही। लै पहुँचे सब मानी सही।।  
 परिकर सहित भोग रुचि पायौ। जल तँबोल लै वदन रचायौ।।  
 उन मानी ही हमसे एऊ। गावत बेनु बजावत सेऊ।।  
 अब तौ ठाकुर ही करि जाने। सखी जूथ जुत सब पहिचाने।।  
 जबही ग्वाल भेद लखि पायौ। मूर्छित पस्यौ धरनि थहरायौ।।  
 रूप माधुरी सों मन लायौ। तनहिँ छाँड़ि परिकरहि समायौ।।  
 तब तें खीर-कढ़ी प्रभु आगें। नित प्रति भोग लगत हित पागें।।

अथ नृपति प्रसंग—

काहू द्यौस पुलिन में ऐसैं। करत भावना हित जू वैसैं।।  
 औचक नरपति आयौ जहाँ। विनती करिकैं पूँछी तहाँ।।  
 मगन अवस्था जहँ तुम रहौ। हम पर कृपा करौ सब कहौ।।  
 कह्यौ आप अब हम हँ नौहीं। उत्तर सुनि समुझ्यौ मन माँहीं।।

दोहा- कर जोरें विनती करी मो कृत भयौ विछेद।

क्षमा करौ अपराध कौं जान्यौ मैं यह भेद<sup>१</sup>।।

## ७.१५.७. परम प्रभावी महदाचरण :

श्री हिताचार्य ने जन-जन को एक मधुर पोष का दिव्य दान लोक जीवन में प्रत्यक्ष अपने आचरणों द्वारा ही दिया था<sup>२</sup>। सेवक जी ने उनकी सुमधुर वादिता, अनुपम उदारता, शरणागत पालिता, निरभिमानता, निर्वैरता, परोपकारिता, अनसहन तथा निन्दकों पर भी कृपा करना; आदि-आदि परम प्रभावी महत् आचरणों का स्पष्ट उल्लेख किया है,<sup>३</sup> जो

१,२. श्री ह. च., उ. दा., ग्वाल प्रसंग एवं नृपति प्रसंग

३. गुप्त रीति आचरण प्रगट सब जग दिये।

— से. वा., से., मंगलगान प्रकरण

४. जै जै श्री हरिवंश चन्द्र उदित सदा।.....करुनासिन्धु कृपालु काल-भय सब हरी।

करत जे अनसहन निन्दक तिनहुँ पै अनुग्रह कस्यौ। निरभिमान निर्वैर निरुपम निश्कलंक सु सर्वदा।

— से. वा., से. जी, मंगलगान प्रकरण

हित शरणागतों के जीवन चरित्र में चित्र जैसे बनकर परिलक्षित हुए थे। इस शीर्षक में हम श्री हिताचार्य के इन्हीं चरित्र-चित्रों का चित्रण करने की चेष्टा करेंगे।

### ७.१५.७.१. अनुपम उदारता :

श्री हिताचार्य की अनुपम उदारता व शरणागत पालिता का पुन्य परिचय उनके शिष्य नवलदास जी के चरित्र से मिलता है; जिन्होंने दिल्ली नगरस्थ बन्दीगृह में ही बैठे हथकड़ी-बेड़ियों को काट दिया था और सदेह वृन्दावन आ गये थे। उनकी इस अद्भुत चमत्कृति से बादशाह अकबर भी अत्यधिक प्रभावित होकर नत मस्तक हो गया था। यह श्री हित प्रभु की स्वस्वरूप शक्ति ही थी जिसे उन्होंने नवलदास को स्वयं प्रदान करके अपनी अकल्पित उदारता का परिचय दिया है<sup>१</sup>।

इसी प्रकार बीठलदास के चरित्र में भी श्री हिताचार्य की अकल्पित उदारता व शरणागत पालिता का दिव्य दर्शन प्राप्त होता है। अनन्य बीठलदास पर जब धर्म संकट आने पर हिताचार्य ने उन्हें अपनी स्वरूप शक्ति से सम्पन्न करके उनकी रक्षा की थी; तब उन्होंने जूनागढ़ में ही अपने आश्रयदाता राजा को अपने निज शरीर में वृन्दावन में होने वाले रास बिहार का अदूर दर्शन करा दिया था<sup>२</sup>। इस चरित्र में भी उनके अप्रतिम औदार्य व शरणागत संरक्षण का पुनीत परिचय मिलता है।

### ७.१५.७.२. शरणागत पालिता :

कर्मठी बाई तथा गंगा-यमुना बाई की करुणापूर्ण आन्तरिक पुकार पर श्री हिताचार्य

१. बाँधि जँजीर दियौ वधशाला। मारि कपाट लगायौ ताला।।....  
गुरु-पद-इष्ट धाम चित लायौ। देह सहित वृन्दावन आयौ।।.....  
फिरिकैं अहदी शाह पठाये। नवल बहुरि वृन्दावन पाये।।  
अहदी कही जु शाह बुलाये। परमारथ हित नवल जु आये।।  
शाह नवल कौ देखत भयौ। महा तेज लखि आसन दयौ।।

— र. अ. मा., भ. मु., नवलदास जी की परचई

२. तन-मन बसैं साँवरे-गौर। नहीं चतुर्भुज कौं उर ठौर।।  
तन-मन वन-गुरु-इष्ट वखान्यौ। तब तौ नृप मन अतिहिं रिसान्यौ।।  
वसन खुलाये झूठे मानैं। हम हूँ देखैं अरु सब जानैं।।  
दुम-बेली फल-पल्लव नये। रोम-रोम प्रति देखत भये।।  
ताल-मृदंग-नूपुर धुनि बजै। मन्द मधुर मुरली मृदु गजै।।  
तब तौ अचिरज सबहिन मान्यौ। राजा आइ चरन लपटान्यौ।।  
कहन लग्यौ तुम सम नहिं कोई। यह अनन्यता सुनी न जोई।।

— र. अ. मा., भ. मु., बीठलदास जी की परचई



ने सिंह रूप से प्रकट होकर इन बाइयों की रक्षा की थी<sup>१</sup>। इन बाइयों के इस चरित्र में हित जू की शरणागत पालिता तथा परम कृपालुता का पुन्य परिचय मिलता है।

### ७.१५.७.३. निरभिमानता व निर्वैरता :

श्री हिताचार्य ने सभी सुशास्त्रों और शास्त्रोदित व महत्जन गृहीत भक्ति मार्गों से पृथक रसोपासना की संस्थापना की थी। बहुत अधिक स्पष्ट है कि वे सभी महन्मार्गों के विरुद्ध चले थे<sup>२</sup>। अविस्मरणीय आश्चर्य तो यह है कि उनके इस सर्व विरुद्ध आचरण से कोई रुष्ट नहीं हुआ प्रत्युत तत्कालीन भक्त समाज हृदय से संतुष्ट और संपुष्ट हुआ। इन भक्तगणों ने श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत राधा चरण प्रधान रसरीति से निष्पन्न 'वन बिहार रस' का पान करके<sup>३</sup> आचार्य चरण का असमान सम्मान किया। इतना बड़ा

१[क] हसनवेग तब वदन दिखायौ। देखि कर्मठी अति मय पायौ॥  
चाहै उरजनि हाथ लगायौ। और कुकर्म करनि ललचायौ॥  
तब हित जी कौ सुमिरन कर्छौ। प्रभु जी सिंहनि कौ वपु धर्छौ॥  
याहि कर्मठी दीसत नहीं। सिंहनि दीसत है जहाँ-तहीं॥.....  
थर-थर काँपै बोलि न आवै। ज्यों-ज्यों करि वह बाय सुनावै॥  
फिरि देखै तौ ह्यौ कछु नौहीं। कर्मठी देखी निजु घर माँहीं॥  
तब तौ इन फिर खबर मैगाई। सेवा करति कर्मठी पाई॥

— र. अ. मा., भ. मु., कर्मठीबाई की परचई

[ख] अजीजवेग हाकिम सुधि पाई। मनुष पठाये वेगि पठाई॥  
इनकौ रूप देखि ललचायौ। देउँ महल में बहुत लुमायौ॥  
वा मलेक्ष के मन की पाई। अपने इष्टहि सुमिरत बाई॥.....  
पाछे तहाँ यमन वह आयौ। एक सिंह रखवारौ पायौ॥  
गरज सिंह ने बहुत डरायौ। पिछले पाँय फिर्छौ घर आयौ॥.....  
प्रातहि वह हाकिम घर आयौ। माता कहि अपराध छिमायौ॥

— र. अ. मा., भ. मु., गंगा-जमुना बाई की परचई

२[क] किंवा नस्तै: सु शास्त्रै किमथ तदुदितैर्वर्त्मभिः सदगृहीतै।  
यत्रास्ति प्रेम भूर्तेर्नहि महिमसुधा नापि भावस्तदीयः।

— रा. सु. नि., श्लो. सं. २१६

[ख] .....परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः.....

— रा. सु. नि., श्लो. सं. ८३

[ग] ....पद्यै नैव सदापराधिनि महन्मार्ग विरुद्धचत्वदे काशे, स्नेह जलाकुलाक्षि किमपि प्रीतिं प्रसादी कुरु।

— रा. सु. नि., श्लो. २६६

३. जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हियें। तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन विहार रस पियें॥

— स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०

सम्मान प्राप्त करके भी श्री हिताचार्य ने उन सभी का स्तवन ही किया<sup>१</sup>; यह उनकी निरभिमानता और निर्वैरता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

निज शिष्य प्रबोधानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र में भी श्री हिताचार्य की निरभिमानता का एक सुचारु चित्र परिलक्षित होता है। प्रबोधानन्द सरस्वती श्री हिताचार्य के पास शरणागत रूप में उपस्थित हुए थे किन्तु यह जानकर कि वे संन्यास धर्म में पहले से ही सन्यस्त हैं; श्री हिताचार्य गेरुवा वस्त्रादि सम्मानोपकरण लेकर उनके सामने उपस्थित होते हैं<sup>२</sup>।

अपने से महत्तज्जनों को मान देने की परंपरा तो भारतीय संस्कृति की रूप रम्यता है ही; किन्तु श्री हिताचार्य ने अपने शिष्यों तक को अभूतपूर्व सम्मान देकर अपनी निरभिमानता का दुर्लभ दर्शन कराया है<sup>३</sup>। उनकी इस निरभिमानता की झाँकी श्री हिताचार्य द्वारा नाहरमल तथा बीठलदास को लिखी गई पत्री द्वय में दृष्टव्य है—

“श्री सकल गुन सम्पन्न रसरूति बढावन चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान बीठलदास जोग लिषितं..... पर तोहि जानत हौं; श्री स्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न हैं।.....तेरी पहिचान ते मोकों श्री श्यामा जू बहुत सुख देत हैं।..... बीठलदास के कोटि-कोटि अपराध में खेवी; आगले-पाछिले। बीठलदास मेरे प्रान हैं<sup>४</sup>।”

श्री हित कृपापात्र हरिराम व्यासजी के चरित्र से भी श्री हिताचार्य की निरभिमानता और निर्वैरता स्पष्ट उझकती दिखाई देती है। एक बार जब व्यास जी ने निर्गुणियाँ सन्तों के मुख से महात्मा कबीर और नामदेव जी कृत ज्ञान-वैराग्य परक पद सुने तो

१. जै श्री हित हरिवंश प्रपंच वंच सब काल व्याल कौ खायौ।  
यह जिय जानि श्याम-श्यामा पद कमल संगी सिर नायौ॥

— हि. चौ., प. सं. ५६

२. यह श्लोक जब लिखि पहुँचायौ। पढ़ि हित जू कौ हिय अकुलायौ॥  
ए सन्यासी हम हैं ग्रेही। लीनी भेंट उचित जिन जेही॥  
थान वाफता गेरु साथ। लै आये हित जू निज हाथ॥  
कही प्रबोध बहु रह्यौ कषाइ। उज्ज्वल करौ गहे पग आइ॥

— श्री ह. च., उ. दा., प्रबोधानन्द कौ प्रसंग

३. पत्री ताकों लिखी गुसाँई। तामें वाकी अधिक बड़ाई॥  
जोरी जू तब कृपा ते वरषत हैं रस रासि। कोटि-कोटि अपराध मैं छमे जु बीठलदास॥  
शिष्यन कौ कोउ लिखत न ऐसैं। हित जू आप लिखी है जैसैं॥  
इनकौ हेत कहा कोउ जानैं। आपु अमान देहिं अति मानैं॥

— श्री ह. च., उ. दा., बीठलदास कौ प्रसंग

४. श्री मु. प., गो. हि. ह., प्रथम पत्री



उनके मन में यह विचार आ गया कि इन्होंने हिताचार्य द्वारा प्रवर्तित रस-भक्ति का स्वरूप अभी नहीं समझा है। परिणाम यह हुआ कि व्यास जी के अन्तर्नेत्रों में नित्यप्रति झलकने वाले उनके उपास्य श्यामा-श्याम अदृष्ट हो गये। तभी वे श्री हिताचार्य के पास पहुँचे और अचानक ही हुए इष्ट-विरह का कारण पूछा। आचार्यवर ने उन्हें इसका कारण भक्तों का महदापराध बतलाया और उन्हें सभी भक्तों का सुजस गान करने की पुनीत प्रेरणा दी। इस पुनीत प्रेरणा में भी हिताचार्य की अप्रतिम निरभिमानता व निर्वैरता के दर्शन होते हैं<sup>१</sup>।

### ७.१५.७.४. सहज स्वाभाविक कृपालुता :

परमानंददास जी के चरित्र में श्री हिताचार्य की सहज स्वाभाविक कृपालुता की सुरम्य झाँकी उस समय दिखाई देती है; जब राजा परमानंददास जी की आन्तरिक आर्त पुकार पर करुणार्द्र होकर श्री हिताचार्य वि. सं. १५६२ की भादों शुक्ला नवमी को उनके निवास स्थान 'ठठ्ठे' में पहुँचकर ही उन्हें स्वप्न में अपने धर्म की मंत्र दीक्षा प्रदान कर देते हैं<sup>२</sup>। इतना ही नहीं निकुंज गमन करने के पश्चात् भी श्री हिताचार्य

१. देशान्तर ते हरि-जन आये। मद कबीर-नामा के गाये॥  
ज्ञान-विराग मुख्य हौ जिनमें। प्रेम भक्ति गुन रूप न तिनमें॥  
सुनिकैं व्यास मनहिँ यौ आन्यौ। प्रेमभक्ति रस उन नहिँ जान्यौ॥  
यह विचारि आये निजु भवन। ध्यान न आवैं राधा-रवन॥.....  
ऐसैं करत तीन दिन भये। व्याकुल है हित जू पै गये॥  
इष्ट-विरह कौ दुःख सुनायौ। कारन कौन सु मन नहिँ पायौ॥  
श्री हित जू विचारिकैं कछौ। महदपराध कहूँ तुम लछौ॥  
कर्म-ज्ञान-वैराग्य-जप-तप-संयम-व्रत-नेम। विधि निषेध के भेद बहु कर्ता प्रमु सुख क्षेम॥  
जो काहू कौं घटि-बढ़ि लहियै। सो तौ सब प्रमु ही कौ कहियै॥  
ए तो शान्त भक्त हे साधु। तुमहि लग्यौ मनसा अपराधु॥  
जे-जे जा रस में मगन अस्तुति करहु बनाइ। निरपराध है हौ तबहि जुगल बसैं उर आइ॥  
जब तिनके गुन व्यास जु गाये। तब दम्पति निज उर में आये॥

— श्री ह. च., उ. दा., व्यास जी कौ प्रसंग

२. निशि-दिन नृप के रटना रहै। श्री हरिवंश नाम-गुन कहै॥  
बार-बार पद अर्थ विचारै। पूरन की सेवा विस्तारै॥  
श्री हरिवंश चरन चित लसै। नव अभिलाषा मन में बसै॥  
आरति लखि निजु दास की सुपन माँहि सुख दीन। दीक्षा नाम सुनाइकैं मृत्यु आपुनौं कीन॥  
पन्द्रह सैं बानवै भादों सुद। नवमी दिक्षा लई भरे मुद॥.....  
श्री गुरु कृपा पुजी मन आश। नितबिहार उर भयौ प्रकाश॥

— र. अ. मा., भ. मु., परमानंददास जी की परचई

ने सेवकजी की पुकार पर करुणार्द्र होकर उन्हें भी स्वप्न में ही गढ़ा ग्राम [जबलपुर] से वृन्दावन पहुँचाकर मंत्र दीक्षा प्रदान कर दी थी और श्यामा-श्याम के नित्यबिहार के प्रत्यक्ष दर्शन भी करा दिये थे<sup>१</sup>।

जो महज्जन स्वभाव से ही उदार होते हैं, कृपालु होते हैं, वे ऊँच-नीच, वर्ण-अवर्ण तथा योग्य-अयोग्य का ध्यान न रखते हुए समान दृष्टि से सभी पर कृपा ही करते हैं। श्री हिताचार्य ऐसे ही करुणा-सिन्धु और परम उदार थे। उन्होंने सवर्ण तथा अवर्ण सभी को मुक्त हस्त से अपनी वस्तु प्रदान की थी<sup>२</sup>। गंगा-जमुना रैदासिन, हरिवंशदास कायस्थ और बाल मित्र छबीलेदास तमोली आदि ऐसे ही कृपापात्र थे जिनके चरित्र में हिताचार्य की सहज कृपालुता का सुचारु चित्र प्रत्यक्ष हुआ है<sup>३</sup>। इसी प्रकार निज शिष्य नरवाहन जी को दो पद भेंट करना भी उनकी अभूतपूर्व कृपालुता और उदारता का अद्वितीय चित्र प्रस्तुत करता है<sup>४</sup>। वे पद द्वय हैं—“मंजुल कल कुंज देश राधा-हरि विशद वेष<sup>५</sup>।”  
.....तथा “चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान<sup>६</sup>।”.....

### ७.१५.७.५. विभव-विरक्ति :

श्री हिताचार्य के जीवन में लौकिक वैभव से पूर्ण विराग तथा आन्तरिक निर्लोभता

१. सेवक कही यही प्रन मेरैं। हित जू मोहि दया करि हेरैं।।  
दीक्षा तौ हित जी पै लेऊँ। नातरु तौ यह तन तजि देऊँ।।  
सेवक कौ हवौ सुपनौ आयौ। गुरु सु कृपा ते वन पहुँचायौ।।  
तहँ हित जी ने दरशन दियौ। सिर पर कर धरि अपनौ कियौ।।  
सुपने ही में मंत्र सुनायौ। इष्ट-धर्म सब भेद बतायौ।।  
श्री वृन्दावन दियौ दिखाइ। जमुना कुंज लखी सब आइ।।  
परिकर सहित प्रिया-पिय देखे। तब तौ भाग सुफल करि लेखे।।  
बहुरि कृपा करि वानी दई। वरननि लगे विविध छबि नई।।

— र. अ. मा., भ. मु., सेवक जी की परचई

२. रम्य कानन सुख सम्पति प्रकाशी व्यास वंश यश धरन।  
यह रस दान अपूरब दीयौ अहा कृपा वपु तारे अवरन वरन।।

—स. प्र. दसम, चा. वृ. दा., प. सं. २

३. देखें—र. अ. मा., भ. मु., गंगा-यमुना, छबीलेदास व हरिवंशदास की परचई
- ४[क] कहा कहीं नहिं कहि सकत नरवाहन कौ भाग। श्री मुख जाकौ नाम धर्यौ निजु वानी अनुराग।।

— ब्या. ली., भक्तनामावली, हि. ध्रु. दा., छं. सं. ४६

- [ख] गुरु प्रसन्न है द्वै पद गाये। नरवाहन के भोग लगाये।।

— र. अ. मा., भ. मु., नरवाहन की परचई

- ५.६. पूरा पद देखें—हि. चौ., प. सं. ११, १२



के दर्शन तो होते ही हैं;<sup>१</sup> उनके शिष्यों की चरित्र-चन्द्रिका में भी आचार्यवर की विभव-विरक्ति की सुरम्य झाँकी उस समय दिखाई देती है जब नरवाहन से समाद्रित एक जैनी सरावगी ने हिताचार्य के चरणों में सहस्रों स्वर्ण मुद्रायें भेंट कर दीं किन्तु उन्होंने उन मुद्राओं का स्पर्श तक नहीं किया<sup>२</sup>। इसी प्रकार मनोहर वैष्णव के गड़े हुए तीस हजार रुपये जब गंगा-जमुना बाई ने श्री हिताचार्य को समर्पित किये तो उन्होंने वह धन न लेकर गंगा-जमुना को उनके घर में ही हरि-हरिजन सेवा पधराकर वह धन खर्च करने का आदेश दिया<sup>३</sup>।

### ७.१५.७.६. इष्ट-सेवा-परायणता :

‘अपने इष्ट की संपूर्ण सेवायें करना हितोपासक प्राणी का स्वरूपगत कार्य है’- श्री हिताचार्य ने यह सदुपदेश अपने आचरण द्वारा ही दिया है। निजु शिष्य नाहरमल के जीवनवृत्त में उनका इष्ट-सेवा-निरत या इष्ट-सेवा-संनिष्ठ रूप तो प्रगट हुआ ही है साथ ही प्रत्येक उपासक को यह शिक्षा भी प्राप्त हुई है कि अपने इष्ट की संपूर्ण सेवायें स्वयमेव ही करनी चाहिये; किसी भृत्य या किसी अन्य के द्वारा नहीं करानी चाहिए<sup>४</sup>।

१. कुँवर तुम्हें नृप देख्यौ चाहैं। व्यास मिश्र के गुन अवगाहैं॥

पट-मूषन-धन दैहैं भली। मनसव लेहु नृपति पै चलौ॥

कुँवर कही तब मधुरी बानी। काल ग्रसित सब विश्व वखानी॥

ब्रह्म लोक लौं नश्वर जानी। नृप सम्पति की कौन कहानी॥

निस्पृहता-निर्वेद सुनि कइौ नृपति सौं जाइ। अचिरज ताहू कौं भयौ महापुरुष के भाइ॥

— श्री ह. च., उ. दा., छं. सं. ८५ से ८६

२. साठ वासनी मुहरन धरी। लै हित जू के आगे धरी॥

गुरुनि कही धन तुमही राखौ। हरि-हरिजन भजिकैं रस चाखौ॥

श्रद्धा लखिकैं नाम सुनायौ। रीति धर्म सब कहि समुझायौ॥

वह धन हाथन हू नहिं छीयौ। यौं कहि बनिक विदा करि दीयौ॥

— र. अ. मा., भ. मु., नरवाहन जी की परचई

३. वाकौ मरन समै जब आयौ। गाड़्यौ धन कन्याहि बतायौ॥

तीस हजार रुपैया कहे। आपु जाइ जम के घर रहे॥.....

दर्व मनोहर जोई दियौ। कथा सहित सु निवेदन कियौ॥

आज्ञा तिनकौं दई गुसाँई। हरि-हरिजन सेवा पधराई॥

— र. अ. मा., भ. मु., गंगा-जमुना बाई की परचई

४. प्रमु की टहल आपु सब करैं। लै-लै ईधन पट में धरैं॥

नाहरमल कौं भली न लागी। विनती करन लग्यौ अनुरागी॥

प्रमु जू! धीमर आज्ञा पावै। नित बहँगी ईधन पहुँचावै॥

सुनत गुसाँई जी बहु दूखे। तासौं वचन कहे अति रुखे॥.....

ऐसैं वाकौ कीनीं त्याग। उनहूँ अपनौं गिन्यौ अमाग॥

— र. अ. मा., भ. मु., नाहरमल जी की परचई

## ७.१५.७.७. अनुग्रह की अद्भुतता :

श्री हिताचार्य का स्वरूपाख्यान करते हुए तथा परमतत्त्व के रूप में प्रकीर्तित करते हुए सेवक जी ने उन्हें प्रिया-प्रियतम, सहचरी तथा वृन्दावन रूप भी लिखा है<sup>१</sup>। आज का एक शुद्ध विचारक इसे उनकी भावना मात्र ही कहेगा। किन्तु नाहरमल के चरित्र में उन्हें [नाहरमल को] श्री हिताचार्य के प्रकट वपु में ही सहचरियों के दर्शन तथा उनके तन में ही तीर सीखने वाले बालकों का विलीनीकरण<sup>२</sup>—यह सब गीता प्रवक्ता श्रीकृष्ण-द्वारा अर्जुन तथा भीष्म को अपने विराट रूप के दर्शन कराने की स्मृति दिला देता है और सेवक जी की उपर्युक्त भावना को ऐतिहासिक सत्य कहने के लिए विवश कर देता है। इसी प्रकार श्री हिताचार्य द्वारा निज भृत्य ज्ञानू को भी अपनी साधारण बाल क्रीड़ा में ही श्यामा- श्याम की निकुंज केलि का दर्शन करा देना<sup>३</sup> भी उपर्युक्त तथ्य को अत्यधिक संपुष्ट बनाता है और साथ ही श्री हिताचार्य के अनुग्रह की अद्भुतता को भी आलोचित करता है। संभवतः यही कारण था कि रसोपासना जगत में श्री हिताचार्य के विद्यमानकाल से ही इष्ट के रूप में उनके नाम,<sup>४</sup>

१[क] श्री हरिवंश परम परमाक्षर श्री हरिवंश कृपा सदनं।..... श्री हरिवंश जु तत्त्व अमेदं।

— से. वा., इष्टाराधन प्रकरण, छं. सं. ३, ४

[ख] ललितादिक श्यामा अरु श्याम। श्री हरिवंश प्रेम रस धाम। नाम प्रगट जग जानिये।।

— से. वा., रस विलास प्रकरण, छं. सं. ३

२. एक दिवस गुरु दरसन काजै। आयौ वन में सहित समाजै।।

ब्रजवासिन के बालक जहाँ। खेलत हैं हित जू मिलि तहाँ।।

याहि देखि प्रभु तीर-कमान। लरकहिं देइ कियौ सनमान।।

नाहरमल्ल महा दुख भीनों। मैं लीला में अन्तर कीनों।।

पुनि गुरु मानसरोवर गये। तहँ कौतुक दिखाये नये।।

स्नान करत देखी सहचरीं। गुन छवि रूप रंग रस भरीं।।

निकसि सरोवर बाहर आये। श्री हरिवंश अकेले पाये।।

ऐसहि और बेर फिरि आयौ। वन मधि गुरु कौ दरसन पायौ।।

गौर वदन सुन्दर पट पहिँ। अति सु सरूप उठति छवि लहरँ।।

— र. अ. मा. भ. म. मु., नाहरमल जी की परचई

३. श्री ह. स., चा. वृ. दा., छं. सं. ४६, ४७, प्र. पृ. सं. ५८०

४. भाल तिलक धरि कंठी-माला। मोपै सुनि लै नाउँ रसाला।।

‘श्री राधाबल्लभ श्री हरिवंश’। सुमिरत कटँ पाप जम फंश।।

पिछली रात पुकारि-पुकारि। कहियो ऐसी मौँति सुधारि।।

— र. अ. मा., भ. म. मु., नरवाहन जी की परचई



रूप<sup>१</sup> और वाणी<sup>२</sup> का भी समाराधान होने लगा था।

### ७.१५.८. निकुंज गमन :

गो. हित हरिवंश जी के निकुंज गमन पर प्रकाश डालने वाली कतिपय पंक्तियाँ श्री हरिराम जी व्यास द्वारा विरचित एक पद में प्राप्त होती हैं; जिसमें रचयिता ने हिताचार्य के निकुंज गमन कर जाने के फलस्वरूप वृन्दावन के रसिक समाज की दुर्दशा और अपनी हार्दिक वेदना का वर्णन किया है। दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि पद प्रणेता ने यह निकुंज गमन कब, कैसे और कहाँ हुआ ? इस संबन्ध में कुछ नहीं लिखा है। पद निम्नांकित है—

हुतौ रस रसिकन कौ आधार।  
बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलिहै भार॥  
को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चारु।  
वृन्दावन की सहज माधुरी कहिहै कौन उदार॥  
पद रचना अब कापै है है निरस भयौ संसार।  
बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ उठिगौ ठाठ सिंगार॥  
जिन बिनु दिन छिन सत युग बीतत सहज रूप आगार।  
'व्यास' एक कुल कुमुद बन्धु बिनु उड़गन जूठौ थार<sup>३</sup>॥

१. बिठ्ठलदास उदार भये जग। गह्वौ सुदृढ़ श्री गुरुवर कौ मग॥....

जूनागढ़ कौ सूवा जानि। ताकौ इनहिं कियौ परधान॥....

तब हित जी कौ चित्र लिखायौ। सेवा नाम सहित पधरायौ॥

— र. अ. मा., भ. मु., बिठ्ठलदास जी की परचई

२[क] इक दिन नवल विरागी आये। व्यास मिले अति ही हरषाये॥

सहज नवल ने यह पद गायौ। सुनत व्यास कौ मन हुलसायौ॥

पद—“आजु अति राजत दंपति भोर” [हित चौरासी]

यह पद व्यास विचारत भये। रोम-रोम तनमय है गये॥

जिनकौ हियौ सिरावत जोरी। विधि निषेध मृंखल तृण तोरी॥

— र. अ. मा., भ. मु., व्यास जी की परचई

[ख] पूरनदास विरक्त अनन्य। श्री हरिवंश धर्म सम्पन्न॥....

चर्चा करि संदेह नसायौ। श्री हरिवंश कौ धर्म सुनायौ॥

‘यह जु एक मन’ कौ पद गायौ। व्यासहि कह्यौ सु अर्थ बतायौ॥

— र. अ. मा., भ. मु., परमानन्ददास जी की परचई

[ग] और सुनौ हित जू के चरित। तिनके सुनत प्रेम उर भरित॥

मानसरोवर तट इक ग्वाल। गावत हित कृत पद जु रसाल॥

— श्री. ह. च., उ. दा. ग्वाल प्रसंग

कृष्णगढाधीश नागरीदास जी ने 'पद प्रसंग माला' में इस घटना का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

“श्री गुसाँई श्री हरिवंश जू श्री वृन्दावन वास करें। रसिक वैष्णवन कौ सब भाँति ऐसैं सुख देहिं भजनानन्द में जु राति-दिन जात जान्यौ न परै; सो याही बीच एक समै श्री हरिवंश जू वृन्दावन पायौ। नित्य सिद्ध परिकर में प्रवेश कस्यौ। पाछे सब रसिक वैष्णवन कौ महा विरह भयौ, राग रंग सुख समाज भजनानन्द मिटि गयौ। व्यास जी एक कोठरी में बैठि रहें। भीतर की साँकरी लगाय विरह दुख ते बाहिर न निकसैं प्रसाद कछू न लेहिं। एक समय सब वैष्णवनि मिलि बाहर निकासे। सो बाहिर आय वैष्णवनि के समाज में एक नयौ पद बनाय सुनायौ। सो सुनत ही सबनि कौ श्री हरिवंश जी कौ विरह आवेश भयौ। कितेक मूर्छित भये। सो यह पद-

हुतौ रस रसिकन कौ आधार.....<sup>१</sup>। [प्र. पृ. सं. ६४६]

उत्तमदास जी ने हित हरिवंश जी के लोक जीवन पर प्रकाश डालते हुए 'श्री हरिवंश चरित्र' वर्णन सन्दर्भ में उनके निकुंज गमन का वर्णन नहीं किया है। अतिबल्लभदास जी ने अपनी रचनाओं में श्री हिताचार्य के जन्मकाल, जन्म स्थान, जननी-जनक के नामोल्लेख के साथ उनके कतिपय शिष्यों के नाम निर्देश अवश्य किये हैं किन्तु इन्होंने भी उनके निकुंज गमन का वर्णन नहीं किया है। इन्हीं के समकालीन जयकृष्णदास जी ने 'हित कुल शाखा' नामक ग्रन्थ में श्री हिताचार्य के जन्म स्थान और जन्मकाल उल्लेख के साथ निकुंज गमन का भी वर्णन किया है।

हरिराम व्यास जी के वर्णनानुसार श्री हिताचार्य का निकुंजगमन रसिक समाज के लिए हृदय-विदारक एक दुखद घटना थी। अतः जैकृष्ण जी से पूर्व किसी भी वाणीकार रसिक ने उस दुखद घटना का वर्णन नहीं किया था। जयकृष्ण जी द्वारा उस अवर्ण्य घटना का वर्णन देखकर तत्कालीन रसिक समाज को बड़ा दुख हुआ था और संभवतः किसी-किसी ने इनकी कटु आलोचना भी की थी। जिसका संकेत उन्होंने स्वयं ही इन शब्दों में किया है—

श्री हित जी निज धाम पधारे। रसिक अनन्य धर्म रखवारे॥

सो कौन भाँति साँ लिखी—

विनती अब रसिकन साँ करौं। तुम मति दूखौ हौं अति डरौं॥



मेरो जिन अपराध विचारौ। कृपा अनुग्रह दृष्टि निहारौ॥  
तनक सौ मुख ऐसी क्यों भाखी। यह सु बात किन उर में राखी॥  
परिपूरन प्रभु आज्ञा दई। तब यह बुद्धि कहन कौं भई॥  
प्रभु आज्ञा सर्वस करि मानी। ताते मैं यह समय वखानी॥

जयकृष्ण जी ने श्री हिताचार्य का निकुंज गमन वर्णन करते हुए लिखा है कि—  
श्री यमुना जी के तट पर भांडीरवट है। कुसुमित ललित लतिकाओं से रमणीय इस वन स्थली में 'भँवरनी भवन' नामक एक निभृत निकुंज है। इस निकुंज में श्यामा-श्याम रति रस बिहार किया करते हैं। शारदीय पूर्णिमा [आश्विन की पूर्णिमा] की चन्द्र-चन्द्रिका में रति रस बिहार के रसासव से आघूर्णित नयन श्री रसिक युगल झूम रहे थे, घूम रहे थे, उनकी श्री अंग की कान्ति चन्द्र-कान्ति को अत्यधिक कान्त बना रही थी। श्री हिताचार्य को प्रिया जी के अंग की सुगन्ध ने अपनी ओर बलात् आकर्षित किया। परिणामतः वे उस सुगन्ध के आधार से "प्रिया जी ! आप कहाँ हो ? कहाँ हो ?"—यह कहते हुए उस वन में घुसते ही चले गये और थोड़ी देर में प्रिया जी की अंग-चन्द्रिका में घुल मिल गये। इस प्रकार से वि. सं. १६०६ की आश्विन पूर्णिमा की रात्रि में श्री हित जी लोक-दृष्टि से ओझल हो गये—

दिव्य कमल श्री यमुना कूल। वट भांडीर निकट रस मूल॥  
संतत जहँ भँवरन की भीर। शीतल-मन्द-सुगंध समीर॥  
जहँ बिहरत श्री-रवनी-रवन। ताकौ नाम भँवरनी भवन॥  
शरद मास राका उजियारी। पूरन शशि जु प्रकाशित भारी॥  
प्रिया-जौन्ह में यौं मिलि गई। तिहि छिन सहचरि संत्रम भई॥  
कहत कि कहाँ-कहाँ हो लली। सौंधे के डोरे लगि चली॥  
दृष्टान्तर यौं श्री हरिवंश। मानसरोवर रस के हंस॥  
भँवर भँवरनी में दोउ चलैं। श्री हित जू तिन सँग ही रलैं॥  
सम्बत सोरह सै रु नव, आश्विन पूनौ मास।  
ता दिन श्री हित जग-दृगन, कियौ अप्रगट विलास॥

जयकृष्ण जी द्वारा आचार्य चरण का निकुंज गमन वर्णन करने के पश्चात् उत्तमदास जी ने भी स्वलिखित 'श्री हरिवंश चरित्र' में एक अन्य स्थल पर श्री हिताचार्य के निकुंज गमन का उल्लेख कर दिया। विशेष बात यह है कि उन्होंने इस भँवरनी भवन को मानसरोवर के निकट बताया है—

वरष अठारह लौं वन बसे। बहुरि निकुंज महल में लसे।।  
 मानसरोवर ढिंग रमनीय। भँवर भँवरनी अति कमनीय।।  
 प्रिया-जौन्ह में यों मिलि गई। सहचरि संग लगी छवि छई।।  
 ऐसैई श्री हरिवंश गुसाई। महल पधारे सो सब गाई।।  
 सम्बत सोलह सै रु नव कातिक पूनौ स्वच्छ।  
 ता दिन श्री हरिवंश वपु दीसत नहिं जग अच्छ।।

निकुंज गमन की उपर्युक्त तिथि का उल्लेख दो प्राचीन हस्तलिखित प्रपत्रों में भी मिलता है। इनकी मूल प्रति गो. बसन्तलाल जी [बड़वाला मुहल्ला, वृन्दावन] के निजी संग्रह में सुरक्षित हैं। इन प्रपत्रों में श्री राधाबल्लभलाल जी के सेवाधिकारियों का जन्मकाल, सेवाधिकार-प्राप्ति काल और निकुंजगमन काल का उल्लेख है। इन दोनों प्रपत्रों में श्री हिताचार्य का निकुंजगमन काल वि. सं. १६०६ आश्विन पूर्णिमा ही लिखा हुआ है।

श्री हरिवंशात्मज गो. वनमालीदास जी [गो. वनचन्द्र जी] के पुत्र सुन्दरवर जी का जन्म श्री हिताचार्य की निकुंजगमन तिथि को ही हुआ था। किन्तु इस दुखद घटना से शोकाकुल होने के कारण उनका जन्मोत्सव उस दिन नहीं मनाया गया—कुछ कालोपरान्त कार्तिक शु. तेरस के दिन मनाया गया था। इसका उल्लेख भी जयकृष्णदास जी द्वारा विरचित 'हित कुल शाखा' में इस प्रकार मिलता है—

पूनौ शरद चन्द मिलि गये। ताही छिन श्री सुन्दर भये।।  
 आश्विन सुदि पूनौ सुखदाई। श्री सुन्दरवर जनम बधाई।।  
 यों तेरस प्रसिद्ध ही मानै। जात कर्म दिन जान्यौ हू जानै<sup>१</sup>।।

‘उक्त घटना का संकेत गो. ब्रजलाल जी ने भी कार्तिक शु. त्रयोदशी को होने वाले ‘पाटोत्सव’ के एक पद में किया है—

कातिक सुदि तेरस सुखदाई।  
 आश्विन पूनौ सुन्दर प्रगटे इहाँ बधाई गाई<sup>२</sup>।

इस प्रकार प्राप्त प्राचीन ऐतिह्य प्रमाणों के आधार से श्री हिताचार्य का निकुंज गमन वृन्दावनस्थ मानसरोवर के निकट ‘भँवर भँवरनी’, नामक वन में हुआ था। उनका

१. श्री ह. च., [मोहन प्रसंग के पश्चात् श्रीजी कौ जन्मोत्सव समय वर्णन में] उ. दा., छं. सं. ३ से ७  
 २. हि. कु. शा., ज. कृ. दा., छं. सं. ४७, ५४  
 ३. पदा., ब्र. ला. गो., प. सं. २०



निकुंज गमन काल वि. सं. १६०६ की आश्विन पूर्णिमा ही निर्भ्रान्तः स्थिर होता है। दुख और आश्चर्य का विषय है कि सम्मान्य विद्वान् पं. रामचन्द्र शुक्ल ने इतने प्राचीन प्रमाण प्राप्त होते हुए भी स्वलिखित 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में श्री हिताचार्य का निकुंजगमन काल निराधार ही वि. सं. १६२२ लिख दिया और कुछ परवर्ती लेखकों ने भी उनका अन्धानुकरण कर लिया है।

यह सप्तम अध्याय गो. हित हरिवंश जी के चरित्र का प्रकाशक है। अतः इस अध्याय में गो. हित हरिवंश जी के जीवनवृत्त पर ही प्रकाश डाला गया है—उनके शिष्यों के चरित्रों पर नहीं। यही कारण है कि लेखक ने श्री हिताचार्य के जीवनवृत्त से संबंधित सामग्री का ही उपयोग किया है। प्राचीन रसिक वाणी साहित्य में जैसा आलेख प्राप्त हुआ; उन्हीं के शब्दों में वैसा ही लिख दिया है। इस प्रस्तुति में लेखक ने अपना स्वतंत्र मत प्रकाशित नहीं किया है।

## अष्टम अध्याय

### **८. रसभक्तिधारा का वाणी साहित्य**

#### **८.१. वाणी का सम्यक् स्वरूप परिचय :**

रसभक्ति धारा के वाणीकार रसिकों द्वारा उद्गलित रसिक वाणी साहित्य का सामान्य अर्थ होता है—रसिकों द्वारा विरचित गद्यात्मक-पद्यात्मक वाणी संज्ञक रचनाओं का साहित्य। ये रसिक वाणियाँ पद्यात्मक रूप में विरचित हैं। अतः 'वाणी' के वास्तविक रूप से अपरिचित सर्वसाधारण व्यक्ति इन्हें भी कविता ही समझते हैं। इन वाणियों के बाह्य स्वरूप किंवा 'कलेवर' को देखते हुए इन्हें कविता समझना कोई महत् और अक्षम्य अपराध तो नहीं है; किन्तु जहाँ एक ओर यह तथ्य विद्वद् सम्मत सत्य है वहीं पर दूसरी ओर यह भी निर्भ्रान्त परम सत्य है कि ये वाणियाँ वस्तुतः कविता नहीं हैं<sup>१</sup>। क्योंकि वाणी और कविता के स्वरूप और स्वरूप निर्मिति में पर्याप्त अन्तर है।

---

१. चित दै समुझी वस्तु जो कविता लखी न कोइ।



**कविता :**

किसी लोक कवि या भक्त कवि के द्वारा दृश्य जगत में संदृष्ट अथवा श्रुत, जीवन घटनाओं, मानवीय व्यापारों, व्यवहारों तथा विचारों अथवा पुराणों में वर्णित भगवान की लीलाओं, भक्त चरित्रों और ज्ञान-भक्ति मूलक उपदेशों की पद्यात्मक रचना की 'कविता' संज्ञा होती है। कविता निश्चित रूप से प्रतिभा और अभ्यासादि उपकरणों पर आधारित होती है। 'कविता' से रसानुभूति तो होती है किन्तु वह केवल ऐसे सहृदय को ही होती है जो कि काव्यकला से पूर्ण परिचित होता है। 'कविता' कवि को भी रसानुभूति कराती है या नहीं कराती? इस विषय में अभी तक विद्वद् जगत में वैमत्य बना हुआ है।

**वाणी :**

'वाणी' किसी कवि की रचना नहीं होती; अपितु रसपानाधिक्य के परिणाम स्वरूप रस का उदगलन ही 'वाणी' संज्ञक होता है।

'वेद' परात्पर तत्त्व परब्रह्म की स्वाँसायें हैं, स्वर हैं। इसीलिए उनकी 'वाणी' संज्ञा है। ठीक इसी प्रकार रस-स्वरूप-रसिक-मुख-निर्गलित रसिक वाणी भी 'रस' का उदगलन है; इसीलिये उसकी 'वाणी' संज्ञा है।

श्रीराधाकिंकरीगण लोचन-चषकों-द्वारा श्यामा-श्याम की रसकेलियों का रसपान किया करती हैं। श्रीराधाकिंकरी भावानुभावित हृदय वृन्दावन रसोपासक रसिक इन्हीं राधाकिंकरीगणों से भाव तादात्म्य करके—भावतः राधाकिंकरी स्वरूप होकर अर्थात् रसस्वरूप होकर—श्यामा-श्याम की रसकेलियों का निकट दर्शन करके रसपान किया करता है। रसपान की अतिशयिता के क्षणों में वह रस का उदगलन कर बैठता है। वह रसोदगलन ही रसिकों की भाषा में 'वाणी' संज्ञक होता है। यह रसोदगलन सहज होता है, प्रयासतः और कृत्तिम नहीं होता। वृन्दावन रस की अनुभूति और उसका उदगलन काव्यकला की प्रतिभा पर आधारित नहीं होता। इसीलिये उसकी अनुभूति के लिये काव्यकला का ज्ञान अनिवार्य नहीं होता।

'वाणी' रस का उदगलन है। इसीलिये रसिकजन इसके कथन-श्रवण से, चिन्तन मनन और गायन से रसपान किया करते हैं। 'वाणी' परात्पर तत्त्व 'रस' का ही वाङ्मय रूप है। इसीलिये रसिकजन 'वाणी' और 'वर्ण्य' में अभेद मानते हैं; इष्ट की भाँति उसकी सेवा-पूजा और स्तवन किया करते हैं। 'वाणी' का गान रस रसिक रूप श्यामा-श्याम को भी रसोन्मद बनाता है। इसीलिये वे रसिक वाणियों को सुनकर समुद और सोन्मद हुआ करते हैं। 'वाणी' 'रस' की ही वाणी है। रसिक रस स्वरूप ही होता है। इसीलिये

इनकी वाणी को 'रस वाणी' किंवा 'रसिक वाणी' भी कहा जाता है। 'वाणी' रस की श्रीमुख वाणी है—इसीलिये इसके पठन-श्रवण से कामोदय नहीं; प्रेमोदय होता है।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से पूर्व निर्मित संस्कृत वाङ्मय तथा अन्य किसी भी भाषा के साहित्य में कवि-कृत अथवा भक्तकवि कृत रचनाओं को 'वाणी' नाम से अभि-संज्ञात करने का प्रमाण नहीं मिलता। हृदगत भावोद्गारों तथा रसोद्गारों के वर्णावयवों को 'वाणी' कहने तथा लिखने की विशालकाय परम्परा के दर्शन इस रसिक वाणी साहित्य में ही होते हैं। जिसका शुभारम्भ गोस्वामी श्रीहितहरिवंश जी ने 'राधासुधानिधि', 'हित चतुरासी' [चौरासी] और 'स्फुटवाणी' आदि प्रणयन के रूप में किया था।

श्रीहिताचार्य ने इस रसिक वाणी धारा का आविर्भाव वृन्दावन रसोपासक को रसोपासना की चरम सिद्धि स्वरूप परमानन्द-सार किंवा अद्भुतानन्द प्राप्त कराने के उद्देश्य से किया था। उन्होंने स्वरचित 'राधासुधानिधि' नामक रचना को 'वाणी' नाम से प्रकीर्तित करते हुए लिखा है कि :—

“परमानन्दैकसार रस रूपा श्रीराधा के चरणानुभाव की कथा से प्रवहित मेरी वाणी कुंज पुंजों से सुशोभित वृन्दावन में संलग्न है और नित्य क्रीड़ा परायण श्रीवृषभानुनन्दिनी के पद-नखों की ज्योति छटा से सम्बन्धित है<sup>१</sup>।” साथ ही यह भी घोषणा की है कि— “हे बुधर्जनो ! यदि तुम्हें अद्भुतानन्द का लोभ हो तो इस 'रस-सुधानिधि' नामक स्तव का कर्ण-कलशों द्वारा पान करो। अर्थात् पठन-श्रवण करो<sup>२</sup>।

श्रीहरिवंश वाणी के विशेषज्ञ रूप में विख्यात सेवक जी ने श्री हिताचार्य द्वारा वर्णित 'श्यामा-श्याम की केलि वर्णना' को 'वाणी' कहकर ही प्रकीर्तित किया है<sup>३</sup>। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा है कि श्रीहरिवंश वाणी में ही परिलक्षित श्रीहरिवंशी-रसरीति से रम्य श्यामा-श्याम की नित्यकेलि-वर्णनात्मक रसिक वाणियों का पठन-श्रवण, विस्तरण और गायन करके रसिकजन लीला रस का पान किया करते हैं<sup>४</sup>। इस प्रकार श्रीहिताचार्य की वाणी में समुपलब्ध सूत्रों का आधार पाकर रसिक वाणी-धारा का प्रवाह अखण्ड रूप से चल पड़ा।

१.२ दे.—रा. सु. नि. श्लो. सं. २६८, २७०, प्र. पृ. सं. १२०—१२१

३. समुझौ श्रीहरिवंश सु वानी॥ रसद मनोहर सब जग जानी॥

कोमल मधुर ललित पद श्रेणी॥ रसिकन कौं जु परम सुख दैनी॥

—से. वा., वाणी प्रकरण, छं. सं. १

४. अद्भुत बिहार हरिवंश हित निरखि दासि सेवक जियत।

विस्तरत-सुनत-गावत रसिक सु नित-नित लीला रस पियत।।

—से. वा., हित रस रीति प्रकरण, छं. सं. ६



## ८.२. वाणी साहित्य की सर्वाङ्ग पूर्णता :

रसिक वाणियों का यह अपार सागर साहित्यिक रचना के सभी अंगों, सभी रसों और सभी प्रकार की रत्नराशियों से परिपूर्ण है। इस वाणी साहित्य-सागर में संस्कृत भाषा तथा ब्रजभाषा में विनिर्मित अनेक ग्रन्थरत्न राशियाँ प्राप्त हैं। गद्य और पद्य इन दोनों काव्य रूपों में विरचित इस वाणी साहित्य में अनेक मौलिक ग्रन्थ, अनूदित ग्रन्थ और अनेक टीका ग्रन्थ सुसंचित हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इस वाणी साहित्य के संस्रष्टा साहित्य के सभी अंगों के पूर्ण अभिज्ञाता थे। यही कारण है कि उन वाणी स्रष्टा रसिकों ने अनेकानेक विषयों को अपनी वाणी का वर्ण्य बनाया है। किसी रसिक ने स्वेष्ट के नाम, धाम तथा स्वरूप के महिम्न गान को, किसी ने रसोपासना के सिद्धान्त वर्णन को, किसी ने श्यामा-श्याम की नित्य नूतन रस केलियों को, किसी ने इष्ट के नखशिख वर्णन को, किसी ने नित्य निकुंज में होने वाली अष्टयामी सेवा को, किसी ने उत्सवों के रसमय मधुर वर्णनों को, किसी ने श्री हिताचार्य के जन्मोत्सव वर्णन को, किसी ने रसिक-चरित्रों को और किसी ने सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विवरणों को अपनी वाणी की विषय वस्तु बनाया है। यही कारण है कि इस वाणी साहित्य में श्यामा-श्याम की निकुञ्ज केलि वर्णन के साथ-साथ उपर्युक्त सभी विषयों पर लिखी गई ग्रन्थ राशियाँ समुपलब्ध हैं। उन सबका सर्वाङ्गीण परिचय देना स्थान सापेक्ष और समय सापेक्ष है। अतः यहाँ पर रसिक वाणी साहित्य की कतिपय विषय वस्तुओं का सूक्ष्म परिचय ही दिया जा रहा है।

### ८.२.१. उपासना के रससिद्धान्त किंवा रसरीति वर्णनात्मक ग्रन्थ

रससिद्धान्त किंवा रसरीति पर प्रकाश डालने वाले तो एकमात्र रसोपासना प्रादुर्भावक श्रीहिताचार्य ही हैं, किन्तु उन्होंने रसरीति सम्बन्धी जो कुछ भी विधान दिया है वह 'राधासुधानिधि', 'हितचतुरासी' और 'स्फुटवाणी' में सूत्र रूप में ही दिया है। सम्प्रदायाचार्य के उन्हीं सूत्रों के आधार पर सेवकजी ने 'सेवकवाणी' नामक ग्रन्थ में हरिरामजी व्यास ने 'व्यास वाणी' में, प्रबोधानन्द जी ने 'वृन्दावन महिमामृत' आदि ग्रन्थों में, और हितघुवदास जी ने 'सिद्धान्त विचार' नामक लघुकाय गद्य रचना एवं अपनी अन्य रचनाओं में विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है।

### ८.२.२. श्यामा-श्याम की निकुंजकेलि वर्णनात्मक ग्रन्थ :

परमेष्ठ रस मूर्ति श्यामा-श्याम की निकुंज केलि का वर्णन करना तो वृन्दावन रस रसिकों का प्रधान वर्ण्य विषय रहा है, जिसका शुभारम्भ श्री हिताचार्य ने वि. सं. १५७० के लगभग कर दिया था। अतः सभी रसिकों ने इसका वर्णन करके अपनी वाणी



को सफल बनाया है। अन्य-अन्य विषय तो आनुषंगिक रूप में वर्णन किये गये हैं। अतः निकुंज केलि वर्णनात्मक रचनाओं का परिगणन नहीं किया जा सकता।

### ८.२.३. स्वेष्ट के नाम-धाम तथा स्वरूप का महिम्न गान :

इस विषय पर आलेखनारम्भ श्री हिताचार्य की 'रससुधानिधि' नाम्नी रस वाणी से ही हो गया था। श्री हिताचार्य का अनुगमन करते हुए गोस्वामी वनचन्द्रजी ने 'प्रियानामावली', हितघुवदास जी ने 'प्रियानामावली' तथा 'वृन्दावन सत', प्रबोधानन्द सरस्वती ने 'वृन्दावन महिमामृत' तथा 'श्री हरिवंशाष्टक', कृष्णदास भावुक ने 'वृन्दावनाष्टक', नागरीदास जी ने 'श्री हरिवंशाष्टक', गो. कृष्णचन्द्र जी ने 'श्रीव्यासनन्द-नाष्टक', अनन्यअली जी ने 'श्री लाड़िली जू की नामावली' और चाचा वृन्दावनदास जी ने 'श्री राधानामावली', 'श्रीराधा-चरणाष्टक', 'यमुना महिमा बेली', 'वृन्दावन महिमा बेली' तथा 'हितप्रताप बेली', 'श्रीहरिवंश सहस्रनाम' नामक ग्रन्थ निर्माण किये हैं।

### ८.२.४. नख-शिख वर्णन :

इस रस धारा का उद्गम भी श्रीहिताचार्य कृत "ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आजु बनी" इस पद विशेष की रचना के रूप में हुआ है। उनकी इस वाणी का आधार पाकर हितघुवदास जी, रसिकदास जी, गो. ब्रजलाल जी, अनन्यअली जी तथा ब्रजजीवनदास जी आदि रसिकों ने परमेश्वर युगलवर के नखशिख सौन्दर्य वर्णन को अपनी-अपनी वाणी का वर्ण्य विषय बनाया है।

### ८.२.५. उत्सव वर्णन :

श्री हिताचार्य ने अपनी वाणी में उपास्य के जिस क्रीड़ा धाम वृन्दावन का परिचय दिया है, उस वृन्दावन में नित्य ही शरद और बसन्त बनी रहती है। ऐसे शारदीय तथा बासन्ती सुषमा से संयुक्त वृन्दावन में प्रेम और मदन की लोल लहरियों से सदा ललित; लाड़िली लाल रस की मधुर केलियाँ किया करते हैं। सम्भवतः इसीलिये उन्होंने नित्य विवाहोत्सव के साथ शरद, बसन्त और वर्षा ऋतु के नित्य उत्सवों का ही वर्णन किया है। किन्तु परवर्ती कतिपय रसिकों ने रास, बसन्त, होली, वनबिहार, जलबिहार, झूला तथा होली डोलोत्सव के अतिरिक्त साँझी, खिचरी, श्यामा-श्याम की जन्म बधाई गान, श्रीहिताचार्य का जन्मोत्सव तथा श्रीसेवक जन्मोत्सव गान को भी अपनी वाणी का विषय बनाकर रसिक वाणी साहित्य को विपुलकाय बनाया है।



### ८.२.६. अष्टयाम-सेवा-पद गान :

श्रीहिताचार्य ने परमाराध्य श्यामा-श्याम की अष्टयामी सेवा का मूर्त विधान मानसी सेवा तथा प्रगट सेवा के रूप में रसोपासना की सम्प्रतिष्ठा के साथ-साथ ही कर दिया था। उन्होंने अष्टयामी सेवा के अन्तर्गत आने वाले सुरतान्त समय के पद, प्रातः वनविहार के पद, स्नान के पद, राजभोग पश्चात् शैया बिहार के पद, सन्ध्या पूर्व वनबिहार के पद, जल बिहार के पद, सन्ध्या आरती के पद, रास के पद, नित्यविवाह के पद तथा रात्रि शैया बिहार के पद प्रणीत किये हैं। हितघुवदास जी ने श्री हिताचार्य कृत पदों से प्रेरणा प्राप्त करके अष्टयामी सेवा के समय-समय के पद विरचित करके तथा उन्हें समय प्रबन्धाकार अष्टयाम समय प्रबन्ध के रूप में लिखने की परम्परा डाल दी। उनके पश्चात् गो. दामोदरवर जी, गो. कमलनयन जी, अतिबल्लभ जी, गो. रूपलाल जी, खुश्यालदास जी, चतुरअली जी, चाचा वृन्दावनदास जी, दूसरे वृन्दावनदास जी [चाचा जी से पृथक्] रतनदास जी तथा राधिकाचरणदास जी आदि-आदि रसिकों ने भी अष्टयाम समय प्रबन्ध ग्रन्थों का निर्माण किया।

### ८.२.७. ऐतिहासिक ग्रन्थ :

वाणी ग्रन्थ निर्माता रसिकों में ही ऐसे अनेक रसिक हुए हैं जिन्होंने सम्प्रदाय के इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों तथा भक्त चरित्र ग्रन्थों का भी निर्माण किया है। इस अंग का शुभारम्भ श्री हिताचार्य के शिष्य हरिरामव्यास जी द्वारा कतिपय रसिक भक्तों के सूक्ष्म पद्यात्मक परिचय से हुआ। तत्पश्चात् हितघुवदास जी ने 'भक्त नामावली', उत्तमदास जी ने 'श्री हित हरिवंश चरित्र', जैकृष्णदासजी ने, 'हित कुल शाखा', 'अतिबल्लभदासजी ने और खुश्यालदास जी ने 'श्री हरिवंश वंशावली', चाचा वृन्दावनदास जी ने, 'रसिक अनन्य परचावली', 'भक्ति कल्पतरु' या 'हित कल्पतरु', 'चार बसन्त प्रबन्ध', 'श्री हित हरिवंश सहस्रनाम', 'हरिकला बेली', 'ब्रज प्रसाद बेली', 'इष्ट पद वन्दन बेली', 'महत मंगल बेली', 'हितरूप चरित्र बेली', गोविन्दअली जी ने 'भक्त गाथा', गो. चन्द्रलालजी ने 'वृन्दावन प्रकाश माला', 'मन्दिर विलास', गो. जतनलाल जी ने 'रसिक अनन्यसार' और लाड़िलीदास जी ने 'कामवन प्रसंग', आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है।

### ८.३. वाणी साहित्य की धारार्ये :

यह निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि श्रीहरिवंशोदित प्रेमोपासना किंवा रसोपासना का परमोपास्य वह 'प्रेम' किंवा 'रस' है जो नित्य नव दम्पति रूप से वृन्दावन में नित्य प्रेम केलि परायण बना रहता है। दम्पति रूप में नित्य प्रत्यक्ष श्री श्यामा-श्याम



लोक सृष्टि तथा भक्त रक्षा आदि कार्यों से सदा सुदूर, ऐश्वर्य लीला, अवतार लीला, ब्रजलीला न करके प्रेम की मधुर केलियों में ही नित्य निमग्न बने रहते हैं। वे एकमात्र प्रेम-मदन-सिन्धु की लोल लहरियों से नित्य ललित बने रहते हैं। निरन्तर दम्पति की सेवा में संलग्न, अनन्य उत्कट व्रतधारी गुसाँई श्रीहित हरिवंश के नेत्र, मन और वाणी श्यामा-श्याम की प्रेम केलियों में निमग्न बने रहते हैं<sup>१</sup>। ऐसी स्थिति में उनकी अनन्य वाणी वृन्दावन की नित्य निकुंजकेलि के अतिरिक्त ऐश्वर्य लीला, या ब्रजलीलादि अन्य कुछ वर्णन ही कैसे कर सकती थी? यही कारण है कि उनकी वाणी द्वारा कृष्ण रसामृत नहीं प्रत्युत कृष्ण रसामृत का भी सार किंवा प्रेम की रस केलियों का ही वर्णन हुआ है। जिसके पठन-श्रवण से श्रीराधा चरण-रति प्राप्त होती है<sup>२</sup>। इसी जीवन में राधाकिंकरी-भाव और अन्त में राधाकिंकरी रूप प्राप्त होता है। श्रीहरिवंश वाणी-समुद्र के अनन्य अवगाहक सेवकजी, नागरीदास जी तथा हितध्रुवदास जी आदि रसिकों ने तथा अन्यान्य सभी भक्तगणों ने श्री हरिवंश वाणी के सम्बन्ध में यही मत प्रगट किया है<sup>३</sup>।

वृन्दावनस्थ निकुंज केलि के गायन की यह परम्परा अखण्ड रूप से निरन्तर चलती आ रही है। श्रीसेवकजी, गो. वनमालीदास जी, गो. गोपीनाथ जी, गो. मोहनचन्द

१. श्रीराधा चरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी। कुंज केलि दम्पति तहाँ नित करत खवासी॥

— म. मा., ना. दा., छं. सं. ६०

२. हितहरिवंश यथामति वरनत कृष्ण रसामृत सार। श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद-अम्बुज सुकुमार॥

—हि. चौ., प. सं. ३०

३. [क] कही नित केलि रस खेल वृन्दाविपिन, कुंज तें कुंज डोलनि वखानी।

पट न परसन्त निकसन्त वीथिनु सघन, प्रेम विद्वल सु नहिं देह मानी॥

मगन जित तित चलत छिन सु डगमग मिलत, पंथ वन देत अति हेत जानी।

रसिक हित परम आनन्द अवलोकि तन, सरस विस्तरत हरिवंश वानी॥

—से. वा., वाणी प्रकरण, छं. सं. २

[ख] समुझौ श्रीहरिवंश सु वानी। रसद मनोहर सब जग जानी॥.....

श्रीहरिवंश नाम उच्चार। नितबिहार रस कहुँ अपारा॥.....

रास रंग रति वरनी न जाई। नित-नित श्री हरिवंश जु गाई॥.....

करत पान रस मत्त सदाई। श्री हरिवंश प्रेम रति गाई॥

—से. वा., वाणी प्रकरण, छं. सं. १, ५, ६

[ग] जमुना वन सहचरि सहज सरस सम्पदा बान। रसिकनरेश कृपाल वर वानी सौं परै जान॥

कोतुक कोलाहल कुशल कोमल कल सुकुमार। वानी मृदु मंगल मई खेल सु हेल पसार॥

—ना. दा. की वा., ने. ना. दा., दो. सं. ४०१, ३७५

[घ] श्री गुसाँई श्रीहरिवंशचन्द्र जू प्रगट भये युगल केलि रस माधुरी प्रगट करिवे कौं और सबनि

मिश्रित गाई, श्री प्रेम की आशक्तता श्री गुसाँई जू ने गाई॥..... यहाँ श्रीजी जो रस प्रगट कर्यौ,

ता रस उपासना में कछू न मिलै।

—ब्या. ली., 'सिद्धान्तविचार' हि. ध्रु. दा.



जी, गो. सदानन्द जी, गो. जोरीलाल जी, गो. दामोदरवर जी, नेहीनागरीदास जी, लालस्वामी जी, हितध्रुवदास जी, अनन्यअली जी, गो. रसिकलाल जी, रसिकदास जी, गो. सुखलाल जी, मीठा जी, वृन्दावनदास जी [चाचाजी से पृथक], लाड़िलीदास जी, रतनदास जी, भजनदास जी, सर्वसुखदास जी, चेतनदास जी, कृष्णदास जी भावुक, प्रीतमदास जी, स्वामिनीशरण जी, राधिकाचरणदास जी और मदनमोहनदास जी आदि-आदि इसी धारा के अनन्य निमज्जक हैं। किन्तु इस धारा के साथ ही एक ऐसी धारा का प्रवाह भी चलता दिखाई देता है जिसमें निकुंज लीला गान के साथ-साथ ब्रजलीला का भी शिष्टाचार के रूप में गायन हुआ है। स्वामी श्री हरिदास जी, हरिराम व्यास जी, गो. कृष्णचन्द्र जी, अलिमोहन जी, माधौरसिक जी, बली जी, अलिकल्याण जी, दामोदर स्वामी, चाचा वृन्दावनदास जी, सहचरिसुख जी आदि-आदि रसिक इसी धारा के निमज्जक हैं। इस गहन आलोड़न के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि इस रसिक-वाणी-साहित्य में उपर्युक्त दो धाराओं का प्रवाह निरन्तर चलता आ रहा है।

#### ८.४. वाणी साहित्य का स्वरूप वैभव :

रस और रसिक रूप श्यामा-श्याम के लीला रस पान का उद्गलन ही 'रसिक वाणी साहित्य' है। वास्तव में इन्हीं शब्दों में ही इसका अपना स्वरूप वैभव आलोकित हो जाता है; फिर भी यह वाणी साहित्य-सागर अनेक प्रकार के साहित्य के सुरम्य रत्नों का आकर भी है—यह तथ्य अनालोकित ही रह जाता है। अतः आगे के पृष्ठों में इस वाणी साहित्य-सागर के अन्तराल में सुरक्षित साहित्य-रत्नों का परिचय देने का प्रयास करेंगे।

#### ८.४.१. रस केलि वर्णन-साहित्य :

उपास्य श्यामा-श्याम की रस लीला किंवा क्रीड़ाओं का वर्णन करना ही रसिकों की वाणी का एकमात्र वर्ण्य विषय है और प्रायः सभी रसिकों ने केलि वर्णनात्मक पदों की थोड़ी बहुत रचना अवश्य ही की है। अतः इस साहित्याकर के रसकेलि वर्णनात्मक पद-रत्नों की संख्या अगणनीय है—यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कही जा सकती।

श्रीहिताचार्य कृत हित वाणी, गो. वनमालीदास जी की वाणी, गो. गोपीनाथ जी कृत वाणी, गो. मोहनचन्द्रजी की वाणी, हरिरामजी व्यास की वाणी, प्रबोधानन्द जी सरस्वती की वाणी, नागरीदास जी की वाणी, कल्याण पुजारी जी की वाणी, हित ध्रुवदासजी की वाणी, लालस्वामी जी की वाणी, दामोदर स्वामी जी की वाणी, रसिकदास जी की वाणी, गो. सदानन्दजी की वाणी, अनन्यअली जी की वाणी, गो. कमलनयन जी की वाणी, मीठाजी की वाणी, कृष्णदास भावुक की वाणी, प्रेमदास जी की वाणी, चाचा वृन्दावनदास



जी की वाणी ब्रजजीवनदास जी कीवाणी प्रीतमदास जी की वाणी और राधिकाचरणदास जी की वाणी आदि-आदि रसिकों की वाणियाँ इसी साहित्याकर के सुरम्य रत्न हैं।

### ८.४.२. रस सिद्धान्त वर्णन-साहित्य :

इस साहित्य के मूलाधार श्रीहिताचार्य प्रणीत 'राधासुधानिधि' आदि ग्रन्थ हैं, जिनमें आचार्य चरण ने उपासना के रस सिद्धान्तों का सूत्र रूप में आलेखन किया है। सेवकजी, प्रबोधानन्दजी सरस्वती, हितघुवदासजी, गो. दामोदरवर जी आदि ने इन्हीं सूत्रों का विशदीकरण—'सेवकवाणी', 'वृन्दावन महिमावृत', 'सिद्धान्त विचार', 'हस्तामलक' आदि ग्रन्थों में किया है।

### ८.४.३. अष्टयाम सेवा-साहित्य :

श्री हिताचार्य ने 'राधासुधानिधि' की श्लोक सं. १६ और १३४ आदि श्लोकों में सेवा संबंधी विधान बताते हुए लिखा है कि श्रीराधाकिंकरीगण अहर्निश अपने परम प्रेष्ठ प्रीतम युगल श्री श्यामा-श्याम की सेवा में संलग्न रहती हैं। वृन्दावन रसोपासक रसिक इन्हीं राधाकिंकरीगणों की भाव-भावना के माध्यम से युगल की अष्टयामी केलि का दर्शन करता है—सखियों के अनुगत होकर प्रत्येक समय में युगलवर की अष्टयाम सेवा किया करता है। उस अष्टयामी केलि का वर्णन और अष्टयामी-सेवा में सम्प्रविष्टि-विधान वर्णन ही इस अष्टयाम सेवा-साहित्य का वर्ण्य विषय है। इस साहित्याकर के कुछ ग्रन्थ-रत्नों के नाम निम्नांकित हैं :—

हितघुवदास जी कृत 'रस मुक्तावली लीला' तथा अष्टयाम पदावली, गो. कमलनयन जी कृत 'अष्टयाम', अतिबल्लम जी कृत 'अष्टयाम', गो. रूपलालजी कृत 'विजय चौरासी', चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'अष्टयाम समय प्रबन्ध', [ प्रथम से चतुर्दश ] वृन्दावनदास जी [दूसरे] कृत 'अष्टयाम', चतुरअली जी कृत 'अष्टयाम', लाड़िलीदास जी कृत 'अष्टयाम पदावली', गोविन्दअली जी कृत 'अष्टयाम', रतनदास जी कृत 'अष्टयाम', आनन्दी बाई जी कृत 'निजभाव विचार'। ब्रजजीवनदास जी कृत 'रस आन्धिक सत', गो. रूपलाल जी कृत 'मानसिक सेवा समय प्रबंध' खुश्यालदास जी कृत 'अष्टयाम'; इत्यादि।

### ८.४.४. वर्षोत्सव-पद-साहित्य :

श्यामा-श्याम के नित्य केलि घाम वृन्दावन में नित्य ही शरद ऋतु और बसन्त ऋतु का मधुर वातावरण बना रहता है, अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा और हिम-शिशिर-ऋतु के



आगमन काल में भी—श्रीवृन्दावन शरद और बसन्त की मनोहारी और मनमोदकारी शोभा श्रृंगार सम्पत्ति से समृद्धवान् सुशोभित बना रहता है। श्रीराधाकिंकरीगण प्रत्येक ऋतु के विशिष्ट मनोरथ रूप—वर्षाऋतु के झूलनोत्सव, ग्रीष्मऋतु के जलबिहार, वनबिहारोत्सव, बसन्त ऋतु के होली उत्सव जैसे उत्सवों पर परम प्रेष्ठ दम्पति का विविध प्रकार के लाड़ों से लाड़ लड़ाया करती हैं। राधाकिंकरी भावानुभावित रसिकजनों ने उन सभी ऋतु उत्सवों का सरस-मधुर वर्णन करके रस का पान किया है और कराया है। वर्षोत्सव का यह निरवधि साहित्य अनेक वर्षोत्सव पद संग्रहों के रूप में इस साहित्याकर में सुरक्षित है। परमेष्ठ का प्रत्येक उत्सव चिर पुरातन काल से अद्यावधि इन पदों के समाजगान द्वारा ही मनाया जाता है। कहना अत्युक्ति न होगी कि श्रीहरिवंशोदित समाजगान और वाणी प्रणयन एक दूसरे के जीवनाधार हैं।

#### ८.४.५. महिमा तथा स्वरूप गान-साहित्य :

स्वेष्ट की रस लीला से निष्पन्न रूप का गान, रसिकजनों की वाणी का मुख्य विषय तो रहा ही है; किन्तु इस गान परम्परा के साथ-साथ ही इष्ट की महिमा, धाम-महिमा, श्रीहरिवंश-महिमा और श्री हरिवंश-स्वरूप-गान करने की परम्परा भी चिर पुरातन काल से चली आ रही दिखाई देती है। यही कारण है कि इस साहित्याकर के रत्नों की संख्या भी अगणित ही है। इस आकर के रत्नों के कुछ नाम निम्नांकित हैं :-

श्रीहिताचार्य कृत 'यमुनाष्टक', प्रबोधानन्द सरस्वती कृत 'हरिवंशाष्टक', 'वृन्दावन महिमामृत', गो. कृष्णचन्द्र कृत 'वैयासिकी अष्टक', नागरीदास जी कृत 'हरिवंशाष्टक', गो. मोहनचन्द जी कृत 'स्वामिनी अष्टक' एवं 'श्रीकृष्णाष्टक', मीठाजी कृत 'हित बधाई अष्टक', गो. ब्रजलाल जी कृत 'कृष्णाष्टक', रसिकदास जी कृत 'हिताष्टक', गो. जयबल्लभ जी कृत 'हरिवंशाष्टपदी', गो. चतुरशिरोमणिलाल जी कृत 'वंशीस्तोत्र', गो. रंगीलाल जी कृत 'राधिकेश स्तोत्र', 'हरिवंश अष्टोत्तरशतनाम' तथा 'सौभाग्याष्टक', चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'हितप्रकाशाष्टक', 'हितरूपाष्टक', 'यमुना महिमा बेली', 'वृन्दावन महिमा बेली', 'हितस्वामिनी अष्टक', 'विपिनेश्वरी अष्टक', 'स्वामिनी चरणाष्टक' और 'श्रीकृष्ण चरणाष्टक', शंकरदत्त जी कृत 'राधाबल्लभाष्टक', प्रेमदास जी कृत 'हरिवंश अष्टोत्तर शत नाम', सर्वसुखदास जी कृत 'हितशतनामाष्टक', गोपाल पण्डित कृत 'हरिवंश स्तव' व 'हरिवंश षट्पदी', लोकनाथ जी कृत 'हरिवंशाष्टक', मनोहरदास जी कृत 'हरिवंशाष्टक', भागवतावतंश कृत 'हरिवंशाष्टक', किंकर शिवप्रसाद जी कृत 'हरिवंशाष्टक'; आदि।



### ८.४.६. मंगलगान-साहित्य :

यह साहित्य 'महिमा गान साहित्य' का ही एक विशिष्ट रूप है, इसीलिये इसे पृथक् नाम से अभिहित किन्तु महिमागान साहित्याकर के अंचल में ही स्थित उल्लेख किया गया है। इस साहित्याकर में आचार्यवर गो. श्री हित हरिवंश जी के स्वरूप गान मूलक 'श्री हरिवंश मंगल' नामक रत्नों का संचय है। इन मंगल संज्ञक रत्न निर्माताओं के कतिपय नाम निम्नांकित हैं :-

सेवक जी द्वारा विरचित 'श्रीहरिवंश मंगल', गो. सदानन्द जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', लालस्वामी जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', कल्याण पुजारी जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', गो. रूपलाल जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', गो. चतुरशिरोमणिलाल जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', प्रेमदास जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', सहचरिसुख जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', गो. मोहनलाल जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', स्वामिनीशरण जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', वृन्दावनदास जी [ द्वितीय ] कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', कृष्णदास जी भावुक कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', मीठा जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', ब्रजजीवनदास जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', राधिकाचरणदास जी 'ढोंगीबाबा' कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', मदनमोहनदास जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', अलबेलीशरण जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', हीरासखी जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', ललिताशरण जी कृत 'श्रीहरिवंश मंगल', आदि।

### ८.४.७. जन्म बधाई-पद-साहित्य :

इस साहित्याकर में रसिकों द्वारा उद्गीत श्रीराधा-श्रीश्यामसुन्दर, श्रीहित हरिवंश जी और श्री सेवक जी की जन्म बधाइयों के पदों के अनेक संग्रह हैं। इनके जन्मोत्सवों पर रसिकजन इन पदों का गान किया करते हैं। इन जन्म बधाई के पदों में जन्मोत्सव का सुन्दर सरस वर्णन तो है ही, साथ ही श्रीहरिवंश और श्रीसेवक जी का उत्कर्ष पूर्ण स्वरूप गान भी है। इस जन्म बधाई गान के साथ-साथ गुरुवर्य-जन्म बधाई गान की परम्परा भी प्राप्त होती है। गुरुवर्य-जन्म बधाई गायकों में जयकृष्णदास जी, चाचा वृन्दावनदास जी और राधिकाशरण जी [ गो. गोर्वधनलाल जी के शिष्य ] आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

### ८.४.८. अनूदित ग्रन्थ किंवा टीका साहित्य :

श्री हरिवंशोदित रसोपासना में 'राधासुधानिधि', 'हित चौरासी', 'स्फुट वाणी' और 'सेवकवाणी' का स्थान अनेक दृष्टियों से अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा है। रसिकजन इनका नित्यप्रति पाठ किया करते हैं। इन वाणियों के भावार्थ अत्यन्त गूढ़ हैं। अतः कतिपय



महानुभावों ने इनकी टीकायें लिखकर अथवा ब्रजभाषा में ही पद्यानुवाद करके इन वाणी ग्रन्थों को सबके लिए सरल, सुगम और सुबोध बनाने की कृपा की है। इन ग्रन्थों के साथ ही कुछ अन्य ग्रन्थ भी हैं, जिन पर रसिकजनों ने टीका लिखकर इस आकर को समृद्धवान बनाया है। उनमें से कतिपय टीका ग्रन्थों और टीकाकारों के नाम निम्नांकित हैं :—

१. टीका राधासुधानिधि—टीकाकार—तुलसीदास जी, हरिलाल जी 'व्यास', लोकनाथ जी, रतनदास जी, नरोत्तमदास जी, स्वामिनीशरण जी, हितदास जी [भोरीसखी के शिष्य], गो. लाड़िलीलाल जी, वृन्दावनदास जी [चाचाजी से पृथक], हरीदास जी, गो. जुगलबल्लभ जी, गो. रंगीलाल जी, ब्रजगोपालदास जी आदि।

२. टीका हितचतुरासी—टीकाकार—गो. रसिकलाल जी, गो. ब्रजभूषण जी, गो. सुखलाल जी, गो. चन्द्रलाल जी, धरनीधरदास जी, जुगलदास जी, केलिदास जी, प्रेमदास जी, रतनदास जी, लोकनाथ जी, कमल कुँवरि रानी, राधिकाचरणदास 'ढोंगीबाबा' आदि।

३. टीका स्फुटवाणी—टीकाकार—रतनदासजी, ब्रजगोपालदासजी, गो. जुगलबल्लभ जी, प्रियादास जी शास्त्री [पटना वाले], स्वामिनीशरण जी, भोलानाथ जी आदि।

४. टीका यमुनाष्टक—टीकाकार—गो. चन्दलाल जी, गो. जुगलबल्लभ जी आदि।

५. टीका सेवकवाणी—टीकाकार—हरिलालजी 'व्यास', रतनदास जी, सर्वसुखदास जी, ब्रजगोपालदास जी, राधिकाचरणदास जी 'ढोंगीबाबा', हित गोपाल जी आदि।

६. टीका कर्णानन्द—टीकाकार—गो. कृष्णचन्द जी [स्वयं ग्रन्थ प्रणेता], तथा प्रबोधानन्द जी, गो. रसिकलाल जी, गो. चन्द्रलाल जी।

७. टीका राधानुनयविनोद महाकाव्य—टीकाकार—अनन्त भट्ट।

८. टीका राधाउपसुधानिधि—टीकाकार—गो. चन्द्रलाल जी, भोलानाथ जी आदि।

९. टीका प्रबोधानन्द जी कृत हरिवंशाष्टक—टीकाकार—गो. सुखलाल जी, लोकनाथ जी, आदि।

१०. टीका वृन्दावनमहिमामृत—टीकाकार—गो. चन्दलाल जी

११. टीका नागरीदास जी कृत हरिवंशाष्टक—टीकाकार—हरिलालव्यास जी, रतनदास जी, राधिकाचरणदास जी 'ढोंगीबाबा' आदि।

१२. टीका हितध्रुवदास जी कृत सिद्धान्त विचार—टीकाकार—सर्वसुखदास जी, तथा राधिकाचरणदास जी 'ढोंगीबाबा'।

१३. टीका हितध्रुवदास जी कृत वृन्दावनसत—टीकाकार—बलदेव कवि, राधिकाचरणदास 'ढोंगीबाबा'।

१४. टीका अध्वविनिर्णय—टीकाकार—प्रियादास जी शास्त्री [पटना वाले], तथा गो. जुगलबल्लभ जी आदि।

१५. टीका सेवाविचार—टीकाकार—गो. ब्रजलालजी [स्वयं रचयिता], भोलानाथजी।

१६. टीका नाभा जी कृत भक्तमाल—टीकाकार—ब्रजजीवनदास जी एवं राधिका-बल्लभशरण जी 'हड़िया बाबा' आदि।

१७. टीका द्विदल सिद्धान्त—टीकाकार—गो. जुगलबल्लभ जी।

१८. टीका बल्लभ रसिक जी कृत साँझी—टीकाकार—हरिलालव्यास जी।

#### ८.४.६. लक्षण ग्रन्थ साहित्य :

वाणी साहित्य के अपरिमित आकर की एक निधि लक्षण ग्रन्थ भी हैं। इन लक्षण ग्रन्थों का भी अपना एक वैशिष्ट्य है जो कि वाणी साहित्य के रसिक को उसकी इष्ट वस्तु की ओर बलात् उन्मुख कर देता है। वह वैशिष्ट्य है—लक्षण के उदाहरण। सहचरिसुख जी कृत 'बसन्त माला', 'होरी में सात्विक' तथा 'रस निरूपण' आदि ग्रन्थ, गो. चतुर शिरोमणि लाल जी कृत 'अलंकार वर्णन' ग्रन्थ, ब्रजजीवनदास जी द्वारा विरचित 'हृदयाभरण' आदि ग्रन्थ इसी तथ्य के प्राणवान प्रमाण हैं। लक्षण ग्रन्थों की परंपरा में गो. मनोहरबल्लभ जी का नाम भी अविस्मरणीय है, जिन्होंने 'छन्द पयोनिधि' 'अलंकार मयूष' और 'छन्द सुधाकर' आदि लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

#### ८.४.१०. नाट्य साहित्य :

साहित्य के क्षेत्र में नाट्य ग्रन्थों का भी एक विशिष्ट स्थान होता है। आज की राजनीति-रश्मियों में आलोकित काव्य क्षेत्र में चाहे नाट्य साहित्य का स्वरूप भले ही धूमिल पड़ गया हो किन्तु आचार्य भरत, अभिनव गुप्त, मम्मट तथा रुद्रट आदि आचार्यों के समय में यह नाट्य साहित्य मूर्धन्य स्थान पर स्थित था। आचार्य भरत ने तो रस शास्त्रों के आधारभूत ग्रन्थ का नाम ही 'नाट्य शास्त्र' रखा था। श्री हिताचार्य ने 'रस' को ही अपना उपास्य बनाया था। संभवतः इसीलिए उन्होंने अपनी परमोपास्या श्रीराधा को नाट्य कला की मधुर-मंजुल मूर्ति के रूप में देखा है, दिखाया है और वर्णन किया है :—

लज्जान्तः पटमारचय्य रचित स्मायप्रसूनांजलौ।

राधांगे नव रंग धाम्नि ललित प्रस्तावने यौवने॥

श्रोणी हेम वरासने स्मरनृपेणाध्यासिते मोहनं।

लीलापांग विचित्र ताण्डव कला पाण्डित्यमुन्मीलति॥



श्रीहिताचार्य के पश्चात् किन-किन रसिकों ने कौन-कौन से नाटक-ग्रन्थ निर्मित किये, यह तो अनुसन्धेय है; किन्तु वि. सं. १७४५ में विरचित गो. ब्रजलाल जी कृत 'प्रेम चन्द्रोदय' नामक नाटक अवश्य प्राप्त होता है।

#### ८.४.११. ऐतिहासिक साहित्य :

इस साहित्याकर में दो प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थ रत्न हैं। पहिले प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थ वे हैं जिनमें श्रीहिताचार्य का जीवन चरित्र वर्णित है; तथा दूसरे प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थ वे हैं, जिनमें सम्प्रदाय के रसिकजनों और सम्प्रदाय की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है, उनमें से कुछ ग्रन्थ-रत्नों के नाम निम्नांकित हैं :—

हरिरामव्यासजी के 'कतिपय पद' हितध्रुवदासजी कृत 'भक्त नामावली', उत्तमदास जी कृत 'श्रीहरिवंश चरित्र', गो. जतनलाल जी कृत 'रसिक अनन्यसार', भगवत मुदित गौड़ीय कृत 'रसिक अनन्यमाल', खुश्यालदास जी कृत 'हित वंशावली', जयकृष्णदास जी कृत 'हितकुल शाखा', गोविन्द अली जी कृत 'भक्त गाथा', चाचा वृन्दावनदासजी कृत 'रसिक अनन्य परचावली', 'श्रीहितरूप चरित्रबेली', 'हित परिकर वन्दन पत्रिका', 'बसन्त प्रबन्ध प्रथम', 'बसन्त प्रबन्ध द्वितीय', 'बसन्त प्रबन्ध तृतीय', 'बसन्त प्रबन्ध चतुर्थ', 'हित भक्ति कल्पतरु', 'भक्ति प्रसाद बेली', 'इष्ट पद वन्दन बेली', 'हरिकला बेली', प्रियादास जी कृत 'सेवक चरित्र', गो. चन्द्रलाल जी कृत 'वृन्दावन प्रकाश माला', 'मन्दिर विलास', श्रीलाङ्गिलीदास जी कृत 'कामवन प्रसंग', प्राणनाथ जी कृत 'प्रश्नोत्तरी', गो. मनोरथलाल जी कृत 'हित वंशावली', 'प्रीतमदास जी कृत 'हितचन्द्र प्रकाश' आदि।

#### ८.४.१२. यश गान साहित्य :

जिस प्रकार रसिकजनों ने स्वेष्ट का सुयश मानकर रसिकों के चरित्र, साम्प्रदायिक ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन तथा सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन करना भी रसिक अनन्यता के विपरीत नहीं माना है और रसिक चरित्र ग्रन्थों का निर्माण किया है। सम्भवतः उसी प्रकार कतिपय रसिकों ने स्वेष्ट का यश मानकर ब्रजलीला का भी गान किया है। यद्यपि यह निर्विवाद और निरापद सत्य तथ्य है कि वृन्दावन रसोपासक जगत में इस यश गान का उपासना की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रहा है, और न है; फिर भी इस यश गान की परम्परा चिर पुरातन काल से चली आ रही दिखाई देती है। हितध्रुवदास जी ने अपने 'सिद्धान्त विचार' नामक लघुकाय ग्रन्थ में इस यश गान लेखन का एक अन्य कारण बताते हुए यह कहा है कि —“रसिकन सब कछू गायौ है, ऐपै यह देखि लैनों कै उनकौ हीयौ कहाँ ठहरानौ है। ....औरनि के समुझाइवे के हेत कह्यौ है।” रसिकवर बिहारिनिदास जी ने भी हितध्रुवदास जी की भाँति स्वामी



श्री हरिदास जी, बीठलविपुल जी तथा किशोरदास जी आदि रसिकों की वाणी में वर्णित नन्दनन्दन-वृषभानुनन्दिनी के जन्म-कर्म, संबंधी पदों का उल्लेख देखकर उस ब्रजलीला गान को 'शिष्टाचार' की संज्ञा दी है<sup>१</sup>। इस आकर में अधिक ग्रन्थ-रत्नों का आलेखन नहीं हुआ है; स्फुट पदों की संख्या बहुत अधिक है। इन स्फुट पद प्रणेताओं के नाम हैं— स्वामी हरिदासजी, हरिरामव्यासजी, कृष्णदासजी गो., बलीदासजी, माधौ रसिक जी, आदि। अलिकल्याणजी कृत 'राधा जनम लीला' और चाचा वृन्दावनदास जी जैसे अनन्य रसिक द्वारा विरचित 'राधा लाड़सागर' और 'ब्रज प्रेमानन्द सागर' आदि ग्रन्थ भी इसी साहित्याकर के रत्न हैं।

### ८.४.१३. गद्य साहित्य :

रसिक वाणी साहित्य का यह आकर भी अपने आप में सभी प्रकार से समृद्धिवान है। इस आकर में भी रस केलि वर्णनात्मक ग्रन्थ, रस सिद्धान्त वर्णनात्मक ग्रन्थ तथा इतिहास वर्णनात्मक ग्रन्थ पर्याप्त रूप में सुरक्षित हैं। कतिपय ग्रन्थ रत्नों के नाम निम्नांकित हैं :—

श्रीहिताचार्य द्वारा लिखित 'पत्र द्वय' ये पत्र द्वय विक्रम सम्वत् १६०० के आसपास के लिखे हुए हैं। इन पत्रों को श्रीहिताचार्य ने वृन्दावन से देववन में निवास कर रहे अपने शिष्य बीठलदास और नाहरमल को लिखा था। यद्यपि ये ब्रजभाषा के कोई ग्रन्थ विशेष नहीं हैं, किन्तु इन पत्रों में सर्वाधिक प्राचीन ब्रजभाषा का स्वरूप सुरक्षित है। अतः इन पत्रों को इस आकर की अमूल्य और अप्रतिमनिधि के रूप में ससम्मान सुरक्षित रखा गया है। अन्य कतिपय गद्य ग्रन्थों के नाम निम्नांकित हैं :—

दामोदर स्वामी कृत 'भक्तिभेद सिद्धान्त', हितघुवदासजी कृत 'सिद्धान्त विचार', प्राणनाथ जी कृत 'हस्तामलक', अनन्यअली जी कृत 'स्वप्न विलास', चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'स्वप्न विलास', प्रियादास जी कृत 'सेवक चरित्र', गो. चतुरशिरोमणिलाल जी कृत 'भावना सागर', स्वामिनीशरण जी कृत 'हितानन्द सागर', राधिकाचरणदास जी कृत 'हितपथ दर्शक वचनिका' इत्यादि। कतिपय टीका ग्रन्थ भी हैं जो कि ब्रजभाषा गद्य में ही उल्लिखित हैं, जिनका नामांकन टीका साहित्य में किया जा चुका है।

### ८.४.१४. संस्कृत भाषा-साहित्य :

यह आकर भी सभी प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण है, कतिपय ग्रन्थों के नाम निम्नांकित हैं :—

१. जनम-करम वृषभानुनन्दिनी-नैदन्दन शिष्टाचारौ।



गो. श्रीहितहरिवंश जी कृत 'राधासुधानिधि', व 'यमुनाष्टक', गो. वनमालीदासजी कृत 'प्रियानामावली', गो. कृष्णचन्द जी कृत 'कर्णानन्द', 'आशास्तव', 'राधानुनय विनोद महाकाव्य' 'उपसुधानिधि', 'वैयासिकी अष्टक', 'मानाष्टपदी' [प्रथम-द्वितीय], गो. मोहनदास जी कृत 'स्वामिनी अष्टक', अनन्तभट्ट जी कृत 'कृष्णदास हित स्तोत्र', प्रबोधानन्द जी सरस्वती कृत 'वृन्दावन महिमामृत', 'संगीत माधव', 'आश्चर्य रास प्रबन्ध', 'निकुंज विलास स्तव', 'हरिवंशाष्टक', गो. वृन्दावनदास कृत 'अध्वविनिर्णय', गो. ब्रजलाल जी कृत 'सेवाविचार', 'प्रेमचन्द्रोदय नाटक', 'मनः प्रबोध', हरिलालव्यास जी कृत 'गो. कृष्णचन्द रचित मानाष्टपदी की टीका', 'राधासुधानिधि की टीका', शंकरदत्त कवि कृत 'श्रीहरिवंश वंश प्रशस्ति', 'अलंकार शंकर', 'सप्त श्लोकी व्याख्या', प्रियादास जी कृत 'भक्ति प्रभा', 'वेदान्तसार', 'श्रुतितात्पर्यामृत', 'सुसिद्धान्तोत्तम', 'वैष्णव सिद्धान्त', गो. रंगीलाल जी कृत 'द्विदल निर्णय', 'ब्रजानन्दामृत', 'उत्सव बोध', इत्यादि।

## ८.५. वाणी साहित्य के विविध मोड़ क्यों ? :

रस भक्ति साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा से जुड़ी हुई एक बात का उल्लेख कर देना यहाँ पर परमावश्यक है कि वि. सं. १७०० के पश्चात जैसे-जैसे रसिक समाज लोक के निकट आने लगा वैसे-वैसे ही उसके द्वारा निर्मित साहित्य भी लोक की छाया से प्रतिविवित होने लगा। रस भक्ति साहित्य के विपुलकाय भाण्डागार का गहनतम अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इसमें विशुद्ध निकुंज लीला गान विषयक एवं रसोपासना के सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त अवतार कालीन ब्रजलीला गान विषयक ग्रन्थ, भक्ति ग्रन्थ, [भक्ति स्वरूप विवेचक ग्रन्थ महिम्न तथा स्तव ग्रन्थ, अभिलाषा तथा प्रार्थना मूलक ग्रन्थ एवं उपदेशात्मक ग्रन्थ] नीति ग्रन्थ, काव्य ग्रन्थ, लक्षण ग्रन्थ, अनूदित ग्रन्थ, नाट्य ग्रन्थ एवं ऐतिहासिक ग्रन्थ, [भक्त चरित्र ग्रन्थ तथा वंशावली वर्णन ग्रन्थ] भी प्राप्त होते हैं।

इन विविध विषयों पर उल्लिखित ग्रन्थ-रत्नों के बाहुल्य से जहाँ पर एक ओर इस साहित्यागार की श्री वृद्धि हुई है—सार्वजनीन आकर्षण और सम्मान प्राप्त हुआ है—वहीं पर दूसरी ओर एक शुद्ध विचारक के समक्ष ही नहीं विशुद्ध वृन्दावन रस रसिक के सामने भी एक प्रश्न खड़ा दिखाई देता है, और वह यह कि वृन्दावन रस रसिकों की क्रोड़ में साहित्य सृजन के ये विविध मोड़ कैसे ?

'कवि' मानव समाज की ही एक इकाई होता है। उसे अपनी बात कहने की शिक्षा-दीक्षा समाज से ही प्राप्त होती है। यही कारण है कि प्रत्येक कवि की भाषा में



और वर्णन शैली में भिन्नता पाई जाती है। इतना ही नहीं उसकी रचनाओं में तत्कालीन समाज के स्वरूप की विभिन्न झाँकियाँ भी देखने को मिलती हैं।

कवि, भक्त कवि और रसिक कवि ये तीनों ही काव्य सृजन की दृष्टि से देखने पर सर्वसाधारण को यद्यपि एक जैसे ही दिखाई देते हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह बात भी हमें स्वीकार करनी पड़ती है कि अमुक रसिक कवि लोक छाया से सर्वथा दूर और अमुक रसिक कवि अमुक रचना निर्माण काल में लोक छाया के अनिकट और अमुक रचना के निर्माण काल में लोक छाया के निकट रहा है। इस निकटता के कारण ही उसे कभी शिष्टाचार का पालन करना पड़ा है, तो कभी परिस्थितियों से प्रताड़ित होकर प्रभु से प्रार्थना करनी पड़ी है और कभी जागतिक जीवों को कष्टातुर देखकर दयार्द्र हृदय से ज्ञान-वैराग्य तथा भक्ति मूलक उपदेश देने के लिए विवश भी होना पड़ा है। यही कारण है कि रस भक्ति धारा के समृद्ध साहित्यागार में विविध विषयक ग्रन्थ-रत्न प्राप्त होते हैं।

## ८.६. वाणी साहित्य का काल विभाजन :

### ८.६.१. श्रीहित हरिवंश काल : [वि. सं. १५५६ से १६०६]

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि देशकाल जन्य परिस्थितियों का प्रभाव समाज पर अवश्य ही पड़ता है। कवि, भक्त तथा रसिकगण भी सामाजिक प्राणी ही हैं। अतः उनके मन, मस्तिष्क, वाणी और विचारों पर भी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य नहीं है। काव्य के क्षेत्र में यह प्रभाव काव्य या वाणी की विषय वस्तु, भाषा और शैली पर प्रभूत रूप से प्रत्यक्ष होता है। जहाँ पर उपर्युक्त तथ्य सार्वजनीन मान्यता के रूप में सभी को स्वीकार है वहीं पर यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अपवाद रूप में ऐसे भी एकाधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं कि अमुक महापुरुष के अवतरण से समाज, धर्म, काव्य तथा संगीत आदि के क्षेत्र में परिवर्तन आ गया था। रस भक्ति धारा किंवा रसिक वाणी साहित्य, के मूल उत्सकार श्रीहिताचार्य ऐसी ही अन्यतम और अप्रतिम महान विभूति थे। इन्होंने उपासना, काव्य और संगीत इन तीनों ही क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। आचार्यचरण ने रसोपासना के रस सिद्धान्तों का संस्थापन और अपनी रसानन्दानुभूतियों का चित्रण ऐसी गूढ़ शैली, तथा विलक्षण विधा से किया जो व्यक्त होती हुई भी अव्यक्त और अव्यक्त होती हुई भी व्यक्त रही। इनके विद्यमान काल [ वि. सं. १५५६ से वि. सं. १६०६ ], में रचना करने वाले स्वामी श्री हरिदास जी, हरिरामब्यास जी, गो. वनमालीदास जी, नवलदास जी, सेवादास जी, प्रबोधानन्द जी, और अलिमोहन जी आदि हित शिष्यों की रचनायें प्राप्त होती हैं। इन सभी की रचनाओं में श्रीहिताचार्य



के भाव और भाषा शैली का ही प्रत्यक्ष प्रकाश दिखाई देता है। अतः हम इस समय के रचना काल को रस भक्ति धारा के मूल उत्सकार 'श्रीहितहरिवंश काल' के नाम से अभिसंज्ञात करते हैं।

### ८.६.२. श्री हित सेवक काल : [वि. सं. १६१० से १६६०]

रसिक वाणी साहित्य के संस्पष्टा श्रीहिताचार्य के वि.सं. १६०६ में निकुंज गमन कर जाने के कारण रसिक जगत के मन-प्राण और वाणी तक में कुछ शैथिल्य जैसा आ चला था। उसी समय सेवक जी प्रणीत सेवकवाणी [ रचना काल वि. सं. १६१० के लगभग ] जैसी महान कृति का प्राकट्य हुआ। वाणीकार सेवक जी ने 'सेवकवाणी' में श्रीहिताचार्य प्रदत्त रस सूत्रों का भाष्य तो किया ही साथ ही उनके द्वारा आविर्भूत रसोपासना को अभिनव आभरण से अलंकृत करके रसिक जगत और रसिक वाणी साहित्य को भी अनुप्राणित कर दिया। श्रीहिताचार्य ने अपनी वाणी में जिस गूढ़ और रहस्यमयी शैली से रसोद्गान किया था वह सर्वसाधारण के लिए सुबोध नहीं थी। मर्म रसिक ही इसे पूर्ण रूपेण समझ पाते थे। अतः तत्कालीन रसिक जगत की इस समस्या को पहिचानकर सर्वप्रथम सेवक जी ने ही यह उद्घोषणा की कि श्री हरिवंश वाणी में शुद्ध नित्य निकुंज रस का ही गान है, अन्य किसी रस की मिलौनी नहीं। उन्होंने बताया कि श्रीहिताचार्य ने नित्यबिहार रस का ही गान किया है; श्रीमद्भागवत वर्णित श्रीकृष्ण की तथा अवतारों की अन्य किसी लीलाओं का नहीं। संभवतः इसीलिए तत्कालीन आचार्यासनासीन श्रीहिताचार्यात्मज गो. वनमालीदास जी ने इनकी वाणी को श्रीहरिवंश वाणी के साथ-साथ ही लिखने पढ़ने का आचार्यादेश घोषित कर दिया। फलतः सभी रसिकों ने यह स्वीकार किया कि "सेवक वानी जे नहिं जानैं। तिनकी बात रसिक नहिं मानैं।।" इसी समय से रसिक वाणी जगत में भी सेवक जी का मधुर प्रभाव छा गया। अतः हम सेवकवाणी-रचनाकाल से लेकर सेवकवाणी प्रभाव काल तक [ वि. सं. १६१० से लेकर वि. सं. १६६० तक ] के समय को 'श्रीहित सेवक काल' के नाम से अभिसंज्ञात कर रहे हैं। इस काल के प्रमुख वाणीकार रसिक हैं—नेही नागरीदासजी, कल्याण पुजारी जी, कन्हर स्वामी, स्वामी चतुर्भुजदास जी, वैष्णवदास जी, लालस्वामी जी, माधौ रसिक जी, गो. मोहनदास जी, नित्यानन्ददास जी आदि।

### ८.६.३. श्री हित ध्रुव काल : [ वि. सं. १६६० से १७७५ ]

श्रीहिताचार्य ने जिस 'रस' को अपनी उपासना का उपास्य और जिस रसोद्गान को अपनी वाणी का विषय बनाया था वह 'वन विहार रस' स्वयं निष्पन्न रस था। इसीलिए हरिरामव्यास जी, प्रबोधानन्द जी सरस्वती तथा सेवक जी आदि मर्मज्ञ हित रसिकों ने



इस रस का शास्त्र निर्माण करने की आवश्यकता नहीं समझी। उदारचेता हित ध्रुवदास जी ने विचार किया कि भविष्य में होने वाले रसिकजन श्री हिताचार्य के संस्कृत सूत्रों का गूढार्थ समझने में असमर्थ होंगे। अतः उन्होंने रस केलि गान के साथ-साथ श्री हिताचार्य द्वारा प्रदत्त रस सूत्रों का सरल सुबोध ब्रजभाषा में सरलीकरण और विशदीकरण करके सभी रसिकों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। सेवक जी की भाँति हितध्रुवदास जी ने भी हित वाणी का अभिप्रेत विषय नित्य निकुंज लीला गान किंवा नित्यबिहार ही बतलाया। उनके वैयक्तिक प्रभाव और वाणी-प्रभाव से अनेकानेक व्यक्ति वृन्दावन रस की ओर उन्मुख हुए; जो आगे चलकर वृन्दावन रस धारा के निमज्जक बनकर वाणी-वैभव-विस्तारक बन गये। ध्रुवदास जी के इस प्रयास से रसिकों और रसिक वाणीकारों को एक नवीन आलोक प्राप्त हुआ। परिणामतः वृन्दावन रस रसिकों की अभिवृद्धि और रसिकवाणी साहित्य भी अपनी श्री वृद्धि के साथ-साथ विशालकाय होता चला गया। इसीलिए हमने वि. सं. १६६० से वि. सं. १७७५ तक के वाणी साहित्य काल को 'श्रीहित ध्रुव काल' नाम से अभिसंज्ञात किया है। इस काल में अनेक वाणीकार रसिक हुए हैं। जिनमें से कतिपय के नाम निम्नांकित हैं —

गो. दामोदरवर जी, दामोदर स्वामी जी, हित बिठ्ठल जी, गो. सदानन्द जी, सन्त ललितसखी जी, हितअनूप अली, अनन्यअली जी, कृष्णदास जी भावुक, गो. रसिकलाल जी, गो. सुखलाल जी, गो. गुलाबलाल जी बाँके, रसिकदास जी, प्राणनाथ जी, सहचरिसुख जी, अतिबल्लभदास जी, लोकनाथ जी, तुलसीदास जी, गो. कमलनयन जी, गो. कुंजलाल जी, जैकृष्णदास जी, धरनीधरदास जी; आदि।

### ८.६.४. श्री हित रूप काल : [वि. सं. १७७५ से १८५०]

हितध्रुव काल के समाप्त होते-होते [वि. सं. १७७५] तक राजनैतिक परिस्थितियों के कारण श्री हित रसिक अनन्य जगत भी कुछ संकटापन्न हो चला था। अतः उपासना क्षेत्र के साथ-साथ रसिक वाणी साहित्य के सृजन में गतिऽवरोध होना स्वाभाविक था। उसी समय गो. हित रूपलाल जी [जन्मकाल-वि. सं. १७३८] का प्रभाव-प्रभाकर लोक प्रत्यक्ष हुआ; जिसने रसिक जगत की उपासना गति तथा रसिक वाणी साहित्य को एक संजीवनी सुधा प्रदान कर दोनों को ही सशक्त गतिवान बनाया। विलक्षण शक्ति सम्पन्न गोस्वामी जी ने नित्य निकुंज लीला गान के साथ-साथ ब्रजलीला गान करने का एक विशिष्ट प्रकार सृजन करके तत्कालीन वाणीकार रसिकों को एक सम्बल प्रदान कर दिया। यह विशिष्ट प्रकार की मधुर पयस्विनी पूर्ण वेग से प्रवाहित हो चली। गोस्वामी जी के ही शिष्य प्रेमदास जी तथा चाचा वृन्दावनदास जी आदि वाणीकारों ने प्रभूत साहित्य सृजन करके इस वेग को तरंगाणित करने का स्तुत्य प्रयास किया। गो. हित



रूपलाल जी की इसी प्रभाव-प्रभा के कारण हमने वाणी साहित्य के इस समय को [वि. सं. १७७५ से १८५० तक के समय को] 'श्री हित रूप काल' की संज्ञा दी है।

प्रेमदास जी, चाचा वृन्दावनदास जी, खुश्यालदास जी, हितबल्लभदास जी, गो. चन्द्रलाल जी, गो. चतुरशिरोमणिलाल जी, ब्रजजीवनदास जी, वृन्दावनदास जी [द्वितीय] प्रियादास जी [सेवक चरित्रकार] आनंदीबाई जी, गो. मनोरथलाल जी, हरिलाल व्यास जी, भोरीसखी जी, हितदास जी, गो. किशोरीलाल जी, केलिदास जी, मीठाजी, बाबरी सखी जी, गो. नित्यकिशोर जी, आदि रसिक इसी काल के प्रमुख वाणीकार हैं।

### ८.६.५. श्री हित रतन काल : [ वि. सं. १८५० से १९६५ ]

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना अनन्यता प्रधान होने के कारण सबके लिए सुगम न थी। श्री हित रूप शिष्य चाचा वृन्दावनदास जी, प्रेमदास जी तथा गोवर्धनादि रसिकों द्वारा ब्रज की मधुर लीला गान के अमोघ आकर्षण ने उसे और भी दुर्गम बना दिया। फलतः उसका वास्तविक स्वरूप बिरले हित कृपा प्राप्त सौभाग्यशालियों के लिए ही सुबोध रह गया। अधिकांश हित धर्मी भी उससे अपरिचित जैसे हो चले थे। उसी समय श्री हित लाङ्गिलीदास जी के शिष्य रतनदास जी ने अपने गुरुवर की वाणी [सुधर्म बोधिनी-रचना काल वि. सं. १८४२] से प्रेरणा पाकर 'सेवकवाणी' के हार्द-श्री हरिवंश की परात्परता का पुनः प्रकाश करके 'हित वाद' का मधुर निनाद किया। रतनदास जी के इस नवीन पटामरण से प्रसाधित रसिकवाणी साहित्य रसिकों के सरस चित्तों को बलात् आकर्षित करने लगा। अतः हमने वि. सं. १८५० से वि. सं. १९६५ तक के काल को वाणी साहित्य का 'श्री हित रतन काल' नाम से अभिसंज्ञात किया है। इस काल में होने वाले प्रमुख वाणीकारों के नाम हैं :- सर्वसुखदास जी, चेतनदास जी, भजनदास जी, ब्रजगोपालदास जी, स्वामिनीशरण जी, गो. मोहनलाल जी, गो. गोवर्धनलाल जी, तथा गो. जुगलबल्लभ जी आदि।

'श्रीहित रतन काल' के पश्चात् भी वाणी ग्रन्थों की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। इस समय के वाणीकारों में प्रीतमदास जी, भोलानाथ जी 'भोरी सखी', राधिकाचरणदास जी 'ढोंगीबाबा', मनोहर अली, ललिताशरण जी और मदनमोहनदास जी आदि रसिकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

### ८.७. वाणी साहित्य का स्वरूप सौन्दर्य और रूप सौन्दर्य :

#### ८.७.१. स्वरूप और रूप की परिभाषा :

उपनिषदों में ब्रह्म, परमात्मा और भगवान आदि नामों से संबोध्य एकान्त परम तत्त्व का सर्व संव्यापी रूप ही उसका अपना निज रूप-'स्वरूप' व्याख्यान किया गया



है और ब्रह्म के साकार अनन्त रूपों में प्रत्यक्ष जड़-चेतन को उसका अनन्त 'रूप' कहा गया है। श्रुति वर्णित स्वरूप और रूप के इस रूप विवेचन के आधार पर आत्मा किंवा परमात्मा का सौन्दर्य उसका 'स्वरूप सौन्दर्य' और उसके प्रकट साकार रूप का सौन्दर्य उसका 'रूप सौन्दर्य' शास्त्रानुमोदित और सुधीजन सम्मत सिद्ध होता है।

किसी की महानता किंवा मूल्यांकन के दो आधार होते हैं। पहला आधार उसका अन्तःस्वरूप होता है जोकि उसके आन्तरिक सौन्दर्य पर अवलंबित रहता है। यह आन्तरिक सौन्दर्य उदारता, सहिष्णुता, समदर्शिता और प्रभु-प्रेम-परायणता आदि-आदि स्वाभाविक गुणों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। दूसरा आधार उसका बाह्य रूप होता है जो कि उसके शारीरिक सौन्दर्य पर निर्भर रहता है। उसके आन्तरिक सौन्दर्य को उसका 'स्वरूप सौन्दर्य' या आत्मा का सौन्दर्य तथा शारीरिक सौन्दर्य को 'रूप सौन्दर्य' कहा जाता है।

इस प्रकार लोक-मान्य विचार धाराओं और सच्चास्त्रों से संप्राप्त उद्बोध के आधार पर 'स्वरूप' और 'रूप' को इन शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है—

लोक प्रत्यक्ष अनन्त नाम-रूपाकृत शरीरों में संव्याप्त आत्मा ही 'स्वरूप' संज्ञक और उसका सौन्दर्य ही 'स्वरूप सौन्दर्य' संज्ञक होता है।

लोक प्रत्यक्ष अनन्त नाम-रूपाकृत जड़-चेतन ही 'रूप' संज्ञक और उस अनंत साकार रूप का सौन्दर्य ही 'रूप सौन्दर्य' संज्ञक होता है।

ऊपर किये गये इस विवेचन से जहाँ पर एक ओर 'स्वरूप' और 'रूप' की परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित हो जाती हैं वहीं पर दूसरी ओर 'स्वरूप सौन्दर्य' और 'रूप सौन्दर्य' के अदूर दर्शन करने का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

### ८.७.२. स्वरूप और रूप का सौन्दर्य पार्थक्य :

काव्य शास्त्र मनीषियों ने 'रस' को काव्य की आत्मा कहा है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला कोई न कोई शरीर ही होता है। इसी प्रकार 'रस' रूप आत्मा का स्वरूप कोई न कोई काव्य ही प्रकट करता है। इस न्याय से 'रस' काव्य की आत्मा और 'काव्य' रस का कलेवर स्वतः प्रमाण प्रमाणित हो जाता है।

इस प्रकार हमारी दृष्टि में आत्मा स्वरूप रस के प्रकाशक—भाव, विभाव और अनुभाव आदि का सौन्दर्य ही काव्य का 'स्वरूप सौन्दर्य' और कलेवर स्वरूप काव्य के अंगों [भाषा शैली, छन्द, अलंकार, गुण, शब्द शक्ति आदि] का सौन्दर्य ही उसका 'रूप सौन्दर्य' कहा जाना चाहिए।



### ८.७.३. रसिकवाणियों में स्वरूप सौ. तथा रूप सौ. का अनुसन्धान :

काव्य कला कोविद कविजन क्षर और अक्षरालम्बित अपने काव्य को कला कमनीय बनाने के उद्देश्य से स्वरूप सौन्दर्य [ भावात्मक सौन्दर्य ] और रूप सौन्दर्य [ कलात्मक सौन्दर्य ] के उपकरणों से प्रसाधित किया करते हैं। किन्तु वृन्दावन रसोपासक रसिकजन प्रयत्नतः किसी काव्य का निर्माण ही नहीं करते। वे तो अपने उपास्य की रस केलि का वर्णन—उस रूप रस का सहज उद्गलन—किया करते हैं जो कि इन्द्रियातीत होता है। इसी तथ्य को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि रसिकों द्वारा रचित 'रस केलि वर्णनात्मक वाणी साहित्य' कवि प्रतिभाजन्य न होकर रसपानाधिक्य रसोद्गलन ही है। उनका यह रसोद्गलन उस रस केलि कलित रूप का सहज, सुन्दर और मुखर प्रतिविम्ब होता है जो प्रतिक्षण नित्य नवल रहता है। श्रीहिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की रस वाणियाँ उसी रस रूप का समुद्गान हैं। एतावता इनकी वाणियों में काव्य रस के उपकरणों का अनुसन्धान करना अनुचित नहीं तो उचित भी नहीं कहा जा सकता। इन पंक्तियों का अन्तराशय यह नहीं कि इनकी वाणियों में स्वरूप सौन्दर्य और रूप सौन्दर्य का सर्वथा अभाव है। वस्तुतः इनकी वाणियाँ इन दोनों प्रकार की सौन्दर्य संपत्ति से सम्पन्न हैं। किन्तु यहाँ यह सौन्दर्य श्री सहज विकीर्णित हुई है—प्रयत्नतः नहीं। वाणी साहित्य का स्वरूप सौन्दर्य और रूप सौन्दर्य ये दोनों ही सहज रूप वृषभानुनन्दिनी की भाँति ही अकृतिम, अप्रतिम और सहज होता है। यही कारण है कि इनकी वाणियों को पढ़कर जहाँ एक ओर वृन्दावन रस के अनन्य रसिकों की हार्दिक संतुष्टि होती है, वहीं दूसरी ओर काव्य रस मर्मज्ञ, कविजन भी वाणी का अवगाहन करके झूम उठते हैं।

श्रीहिताचार्य तथा तदनुगत रसिक वाणीकार वृन्दावन रस के रसिक हैं—काव्य रस रसिक कवि नहीं। 'वृन्दावन रस' काव्य के नव रसों से भिन्न और सब रसों का मूल आद्य रस है। काव्य रस की भाँति कृत्रिम न होकर यह स्वयं निष्पन्न रस है। इस रस का मधुर वैचित्र्य यह भी है कि रस रूप श्यामा-श्याम को पूर्ण संयोग में वियोग की भी अनुभूति होती रहती है। स्वयं व्यक्त इस रस की आस्वादन विधा भी बड़ी विचित्र है। कविजनों की दृष्टि में आलंबन रूप में परिलक्षित श्यामा-श्याम रस मूर्ति होते हुए रसास्वादन कर्ता—रसिक रूप भी हैं। सामाजिक रूप में संदृष्ट रस रूपा राधाकिंकरीगण लीला द्रष्टा तो हैं ही लीला स्रष्टा और लीला की अविभाज्य अंग भी हैं। ये लीला द्रष्टा किंकरियाँ तो रसासव पान करती ही हैं, उद्दीपन रूप में ही नित्य प्रत्यक्ष रस वृन्दावन भी रस का आस्वादन किया करता है। वृन्दावन रस के इस वैचित्र्य विशेष के कारण ही इस रस के उपासक द्वारा उद्गलित रस वाणियों का स्वरूप सौन्दर्य और रूप सौन्दर्य भी उस वैचित्र्य विशेष से अछूता दिखाई नहीं देता है। वह वृन्दावन रस रसिकों, भक्तों,



और कवियों को उनकी मनोवांछित वस्तु देकर पूर्ण संतुष्ट किया करता है। श्री हिताचार्य तथा तदनुगत रसिकों की रस वाणियों में स्वयं व्यक्त स्वरूप सौन्दर्य व रूप सौन्दर्य इसी सुन्दर तथ्य की सत्यापित प्रति है। रसिक वाणी साहित्य का स्वरूप सौन्दर्य कवि प्रतिभा जन्य काव्य की भाँति रूप सौन्दर्य का मुखापेक्षी नहीं होता। जैसा कि सहज कजरारे नेत्रों को अंजन की और सहज अरुणाधरों को लिपिस्टिक लगाने की आवश्यकता नहीं होती। वाणी का रूप सौन्दर्य कविता के रूप सौन्दर्य की भाँति पाठक को अपने रूप जाल में जन्त्रित नहीं करता, प्रत्युत उसे अपने स्वरूप सौन्दर्य [रस रूप श्यामा-श्याम] की ओर उन्मुख करके वास्तविक स्वरूप सौन्दर्य-दर्शन का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

### ८.८. वाणी साहित्य की विपुलता :

रस भक्ति धारा के वाणी साहित्य की वह विपुलता भी साहित्यिकजनों के लिए एक अत्यन्त आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है और बनी रहेगी। जिसका आधार है—वाणी साहित्य का विषय वैविध्य और रचनाओं की अपरिमितता। ब्रज साहित्य को सागर के रूप में प्रशंसित करने का श्रेय वस्तुतः गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना के रस वाणी साहित्य की विपुलता को ही है। इस रस धारा का विपुल साहित्य बहुत कुछ विनष्ट हो जाने पर भी संस्कृत तथा ब्रजभाषा में आज भी इतने अधिक रूप में विद्यमान है कि यदि उसे ब्रज साहित्य से पृथक् कर दिया जाय तो ब्रज साहित्य में अँगुलियों पर गिनने योग्य ग्रन्थ ही शेष रह जायेंगे। लेखक द्वारा वि. सं. २००७ में प्रकाशित 'साहित्य रत्नावली' नामक ग्रन्थ ही इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण है। इन वाणी ग्रन्थों की अनेकानेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ वृन्दावन, मथुरा, वरसाना, संकेतवट, सिवार ग्राम, नन्दग्राम, राधाकुण्ड, बठैन, बादग्राम, हाथरस, कुसुमसरोवर, गोवर्धन, अलीगढ़, बड़ौना, जयपुर, जोधपुर, कोटा, उदयपुर, अलवर, भरतपुर, छतरपुर, कोलारस, अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, उन्नाव, पटना, मिर्जापुर, दंतिया, बनारस, इलाहाबाद, कानपुर, दिल्ली, नीम का थाना, शिवपुरी, डुंगासरा, झाँसी, लखनऊ, हर्दीगंज, ग्वालियर, आगरा, मिण्ड, छत्तीसगढ़, कलकत्ता, कासगंज, बीकानेर आदि स्थानों के व्यक्तिगत संग्रहों तथा राजकीय संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

### ८.९. वाणी साहित्य का प्रभाव :

साहित्य और संगीत इन दोनों कलाओं का प्रभाव अमोघ होता है। इस तथ्य के सम्बन्ध में सर्वसाधारण मानव, विद्वदजन, कविगण और भक्त कवि सभी एक मत हैं। यदि साहित्य और संगीत इन दोनों का चमत्कार एक साथ ही प्रकट होकर अपना विशिष्ट सौन्दर्य, विशिष्ट माधुर्य और विशिष्ट मादकता का अखण्ड निर्झर करता हो तो



वह प्रभाव निश्चित रूप में महा अद्भुत होगा। रसिक वाणी साहित्य ऐसा ही अद्भुतानन्द मूलक रस साहित्य है, जिसका प्रत्येक पद और प्रत्येक छन्द संगीत की अमन्द मन्दाकिनी-प्रवाहक है। संगीतात्मकता इस साहित्य का कमनीय कलेवर बनकर प्रत्यक्ष हुई है। यह ऐसा साहित्य है जो कि कविजन कृत-नव रस धृत काव्य रस की छाया से भी असम्पृक्त है; और भक्तों के भक्ति रस से भी सर्वांशतः पृथक् है, फिर भी यह काव्य रस रसिक कवियों, भक्त कवियों और वृन्दावन रस रसिकों को उनका अभीष्ट आनन्द देने में पूर्ण सक्षम है। वन विहार रस वर्णनात्मक यह वाणी साहित्य अवतार समूहों के भजनी या लीलावतार श्री राम-कृष्ण के अनन्य भक्तों को भी अपनी अद्भुत मधुरिमा से आकृष्ट कर लेता है। तब वे भक्तगण अपना व्रत और अपनी मर्यादा छोड़कर इस रस साहित्य से प्राप्त वन विहार रस किंवा वृन्दावन रस का पान करने लगते हैं। वाणी साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्री हिताचार्य के जीवनकाल में ही उनके द्वारा आविर्भूत 'वन विहार रस' का प्रभाव अनेकानेक श्रीकृष्ण भक्तों और राम भक्तों पर पड़ चुका था। आचार्य चरण की वाणी ही इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण है :-

जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हियैं।

तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन विहार रस पियैं<sup>१</sup>॥

सूरदास, नन्ददासादि पुष्टि मार्गीय भक्त, गदाधर भट्ट, माधौ मुदित, भगवत मुदित, तथा बल्लभरसिक जी, आदि गौड़ीय भक्त, श्री भट्ट, रूपरसिक, किशोरीदास जी तथा रसिकगोविन्द आदि निम्बार्कीय भक्तों की वे रचनायें भी इस तथ्य की पुष्ट प्रमाण हैं, जिनमें राधाप्राधान्य, राधाकिंकरीभाव से नित्य नवदूलह और नित्य नवदुलहिनी की अष्टयामी सेवा का प्रत्यक्ष वर्णन है। यथा -

श्री सूरदास जी [ पुष्टिमार्गीय ] के शब्दों में -

पाछें ललिता आगे श्यामा आगे पिय मारग फूल बिछावत जात।

कठिन-कठिन कली बीन करत न्यारी प्यारी-पग गड़िवेई डरात॥

दीरघ लता करनि निरवारत लै डारत द्रुम-बेली पात।

सूरदास प्रभु की अधीनता देखत मेरे नैन सिरात<sup>२</sup>॥

नवल निकुंज नवल रस दोऊ राजत हैं अतिशय रँग भीने।

कुसुमनि सेज भोर उठि आवत आलस जुत अंशनि भुज दीने॥.....

सूरज प्रभु प्यारी मुख निरखत सखिन सहित ललितादिक दृग दीने<sup>३</sup>॥

१. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. २०

२.३. सू. सा., सू. दा., प. सं. ३२३४, ३३२५

श्री नन्ददास जी [ पुष्टिमार्गीय ] के शब्दों में—

चौपत चरन मोहनलाल।

कुँवरि राधे पलँग पौढ़ी सुन्दरी नव बाल॥

कबहुँ कर गहि नैन लावत कबहुँ छावत भाल।

नन्ददास प्रभु छवि निहारत प्रीति के प्रतिपाल<sup>१</sup>॥

श्रीवृषभानु सुता पद पंकज जिनके सदा सहाइ।

इहि रस मगन रहत जे तिन पर नन्ददास बलि जाइ<sup>२</sup>॥

रंग रँगिली राधिका रंगीलौ गिरधर पीय। ये रँग भीने दोउ बसौ नन्ददास के हीय<sup>३</sup>॥

श्री भगवत्मुदित जी [गौड़ीय] के शब्दों में —

सुनि-सुनि कुँवरि सयानी ये तू जीवनि मेरी। बात कहौं हित हरष की पिय मूरति तेरी॥

रस बस तेरे श्याम यौं ज्यों मीन पियासा। अधर सुधा जल माधुरी जीवन धन आसा॥

मोहन मीन मतंग है मधुकर मधु ज्ञाता। चातक चतुर चकोर है छवि शशि सौं राता॥

तेरे रस में रस मत्थौ कछु की कछु गावै। रूप रसासव माधुरी पीयें सुख पावै<sup>४</sup>॥

पिय कौं प्रानन ते अति प्यारी।

छिन-छिन रूप अनूप छविनु चहि रहत चित्त चैन बिहारी॥

कोटि-कोटि शशि कोटि मदन लखि, कोटि कमल-दामिनि दुति वारी।

भगवत मुदित सरूप सुधा तें, मन मनोज छवि सहज सिंगारी<sup>५</sup>॥

श्री बल्लभरसिक जी [गौड़ीय] के शब्दों में —

नैननि में नैन कहूँ नैननि ही बेध लेत, सैननि समेत है करै न सुधि यारी की।

केसरि की आड़ जीय आह आड़ तोरति है, वे सिर ही करन कौं वेसर तयारी की॥

अटकाइ-अटकाइ अधर रही लटकाइ, राखत है मन इहि बानि लटकारी की।

‘बल्लभरसिक’ मुसिकनि बाँधि लेत तरु, जीवनि जियारी है पियारी ही बिहारी की<sup>६</sup>॥

कुरसी पै बैठाय प्रिया कौं लगे लाल तब जाबक दैन।

तुरसी भौंहें लखि तिरछौंहें झुके लजौंहे नैन॥

वरजत हू लरजत कर गरजन तरजन मानत हैं न।

‘बल्लभरसिक’ महा उर लावत पावत तबही चैन<sup>७</sup>॥

१ से ३. न. ग्र., न. दा., प. सं. १५, २०, ३५

४, ५. म. मु. की प., म. मु. प. सं. १५, २५

६, ७. ब. र. की प., ब. र., प. सं. २६, २८



श्री भट्ट जी [ निम्बार्कीय ] के शब्दों में —

राधे जू सुन्दर छत्ता हमारौ ।

मोहि सहित श्री श्यामा लायक बनयौ बानिक विचारौ ॥

भीजेंगे जु वसन तन भामिनि छिन इक मेह निवारौ ।

‘श्रीभट’ हठ न कियौ हित जान्यौ आनि गह्यौ हिय प्यारौ’ ॥

रूप रसिक जी [ निम्बार्कीय ] के शब्दों में —

निकसि चले दोऊ बहियाँ जोरी ।

प्रमुदित संग लगी प्रमदावलि, लहि चंदहि ज्यों तृषित चकोरी ॥

विकसित वदन सदन सुख सोहन, मन मोहन छवि फवि नहिं थोरी ।

श्रीहरिप्रिया सिंगारि सिंहासन, बैठे आनि किशोर-किशोरी ॥

## ८.१०. वाणी साहित्य और विविध वाणीकार :

रस भक्ति धारा के वाणी साहित्य की संसृष्टि का शुभारम्भ रस भक्ति धारा के आविर्भावक श्रीहिताचार्य की वाणी से ही हो जाता है। इस ऐतिहासिक सत्य के साथ यह भी परम सत्य है कि वाणी साहित्य-संसृष्टि का यह क्रम अद्यावधि चलता ही जा रहा है। वाणी सृजन की इस अनवरुद्ध गति को देखते हुए सुनिश्चित रूप से यह कह देना कि गो. हित हरिवंशोदित रस भक्ति धारा में कुल इतने वाणीकार और कुल इतनी वाणियाँ हैं बाल बुद्धि का वचन विलास मात्र ही होगा। यह बात इसलिए कहनी पड़ रही है कि लेखक ने वि. सं. २००७ में अपनी प्रारम्भिक खोज का एक शोध विवरण ‘राधाबल्लभीय साहित्य रत्नावली’ के रूप में लोकार्पित किया था। इस ‘साहित्य रत्नावली’ में दो सौ छत्तीस रसिकों द्वारा विरचित वाणियों के नामोल्लेख किये थे, किन्तु निरन्तर नवीन खोज के आधार पर आज वाणीकार रसिकों की संख्या तीन सौ से ऊपर पहुँच गई है और उनके द्वारा रचित अनेकानेक अज्ञात वाणियों के नाम भी ज्ञात हुए हैं।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही इस वाणी साहित्य-सृजन का शुभारम्भ हो गया था। तब से अब तक इस रसिक परम्परा में न जाने कितने ही रसिक हुए और उनके द्वारा न जाने कितनी और कौन-कौन सी वाणियाँ विनिर्मित हुईं; यह कहना सर्वथा असम्भव है। अतः यह कहना ही सुधीजन सम्मत होगा कि रसिक वाणी साहित्य की इयत्ता सीमा का निश्चितांकन नहीं किया जा सकता। हाँ यह अवश्य कहा

१. श्री.भ. प., श्री भ., प. सं. २२

२. रु.र. की पदा., रु.र.प.सं. ७४ [निम्बार्कीय वैष्णवगण इन पदों को श्रीहरिव्यास जी कृत कहते हैं]

जा सकता है कि हमारी खोज में अद्यावधि इतने वाणीकारों और उनके द्वारा विरचित इतनी वाणियों का पता लगा है।

वाणीकारों के नामों के अनुसन्धानाधार रसिक चरित्र ग्रन्थ और प्राप्त वाणी प्रतियाँ हैं। कतिपय नामों की जानकारी खोज विवरणात्मक ग्रन्थों और रसिकों द्वारा विरचित उन ग्रन्थों से भी प्राप्त हुई है जिन ग्रन्थों में रचयिता ने अपने पूर्ववर्ती या समकालीन रसिकों के ग्रन्थ अथवा उन ग्रन्थों के किसी पद का उद्धरण दिया है। इस प्रकार वाणी प्रणेता रसिकों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। १.—सर्व ज्ञात वाणीकार रसिक, २.—अल्पज्ञात वाणीकार रसिक और ३.—सर्वथा अज्ञात वाणीकार रसिक। इन तीनों प्रकार के वाणीकार रसिकों की वर्णाधारित नामावली निम्नांकित है :—

१. सर्व ज्ञात वाणीकार रसिक : अनन्यअली जी, अतिबल्लभदास जी, आनन्दी बाई, उत्तमदास जी। कल्याणदास जी पुजारी, कमलनयन जी गो., किशोरीदास जी, किशोरीलाल जी गो., कुंजलाल जी गो., कृष्णदास जी गो., कृष्णदास जी भावुक, कृपालाल जी गो., खरगसेन जी, गुलाबलाल जी गो., गोपीनाथ जी गो. गोविन्दअली जी, चतुर्भुज स्वामी, चतुरशिरोमणिलाल जी गो., चन्द्रसखी जी, जतनलाल जी गो., जुगलबल्लभ जी गो., स्वामी बालकृष्ण जी, तुलाराम जी [बावरी सखी], दामोदरवर जी गो., दामोदर स्वामी जी, ध्रुवदास जी, नागरीदास जी, नरवाहन जी, प्रबोधानन्द जी सरस्वती, प्रेमदास जी, ब्रजलाल जी गो. ब्रजजीवनदास जी, भोरीसखी जी [प्राचीन], भोरीसखी जी [अर्वाचीन], मोहनदास गो. [मोहनचन्द जी गो.], रूपलाल जी गो. रतनदास जी, लाल स्वामी जी, लाङ्गिलीदास जी [सु. बो. कार], वनमालीदास जी गो., वृन्दावनदास जी [चाचाजी], सेवक जी, सदानन्द जी गो., सहचरिसुख जी, सुखलाल जी गो., स्वामी हरिदास जी, हरिलालव्यास जी, हरिरामव्यास जी, हरिलाल जी गो., आदि।

२. अल्पज्ञात वाणीकार रसिक : इन्द्रमणि जी गो., कवीन्द्र, कृपासिन्धुलाल जी गो., किशोरीलाल जी गो. [अधिकारी], कमल कुँवरि रानी 'हितदासी', कुन्दनदास जी, केवलराम जी, कन्हर स्वामी, कुँवरि अली, कविरानी [मि. बन्धु], खेमदास जी, गंगाबाई, गोपाल प्रसाद [रैसलपुर वाले], गोवर्धनलाल गो. [प्रेम कवि], चतुरअली, जोरीलाल जी गो., जमुना बाई, जयबल्लभ जी गो., तुलसीदास जी, दयासिन्धुलाल जी गो., दया सखी जी, द्वारिकादास [मि. ब.], धरनीधरदास, निकुंजअली [मि. बन्धु], नवनीतलाल जी गो., नवलसखी जी, नरोत्तमदास जी, परमानन्ददास [गुलाबलाल गो. के शिष्य], परमानन्द जी गो. [मि. बन्धु], प्राणनाथ जी, प्रियादास जी [रूप. मं. निर्माता], प्रियादास जी [पटना], प्रियादास जी [दनकौर], प्रियादास जी, प्रेम कुँवरि, प्रियाअली जी, बलीदास



जी, ब्रजभूषण जी गो. [वनचन्द्र सुत], बल्लभसखी जी [कमलनयन जी गो. के शिष्य], बल्लभदास जी [महन्त], ब्रजजीवनलाल [मि. ब.], ब्रजभूषणलाल [मि. व.], मनोहरबल्लभ जी गो., माधौ रसिक, मीठा भाई, मोहनलाल जी गो. [छोटी सरकार वाले], मुकुन्दलाल जी गो., मोहनमत्त जी, रसिकदास जी, रसिकानन्द जी गो., रसिकलाल जी गो., रूपलाल जी गो. [अधिकारी], रामदास जी, रसिकसखी जी [चन्द्रसखी जी के शिष्य] लक्ष्मण भगत, लोकनाथजी [सुखलाल जी गो. के शिष्य] लालसखी जी, वृन्दावनदास जी [चाचा जी से पृथक], वृन्दावनदास जी गो., वखत कुँवरि रानी [प्रियासखी] वंशीधर जी, स्वामिनीशरण जी, सर्वसुखदास जी, सर्वसुखराइ जी, सेवासखी जी, सुन्दरीशरण जी, हितलाल जी गो., हीरासखी जी, हितदास जी [भोरीसखी के शिष्य], हितअनूप जी, हरजीमल जी, हितशरण जी आदि।

३. सर्वथा अज्ञात वाणीकार रसिक—अलिमोहन जी, अलिकल्याण जी, अलि भगवान जी, अनन्त भट्ट जी, अनन्यदास जी, अभयराम जी, अलबेलीदास जी, अलबेलीशरण जी, आनन्दलाल गो., इच्छासखी, उदयलाल गो., उत्तम जी 'नेह', उत्तमदास जी नागा, किशोरीसखी जी, कान्हादास जी, केलिलाल जी गो., केलिदास जी, किशोरीशरण जी, कृष्णदासी जी, केशवदेव ब्रजवासी, किशोरीदास जी [अमिलाषमालकार], किंकर शिवप्रसाद जी, कुंजदास जी, कुंजदासी जी, कृष्णप्रसाद जी, कृष्णअली जी, कृपाअली जी, कीर्तिलाल जी गो. [गो. चन्द्रलाल सुत], कृष्णदास जी [नवरत्नकार], खुश्याल जी, खुशवख्तराय जी, गोवर्धनदास जी [ब्रजजन], गोवर्धनेश जी, गोस्वामीदास जी, गोपीलाल जी गो., गोवर्धननाथ जी, गोवर्धनलाल जी गो., गोविन्दलाल जी गो. गोपालबल्लभ जी गो., गोपाल पण्डित जी, गोपाल हित, चन्द्रसखी जी [उदयलाल जी गो. के शिष्य], चेतनदास जी, जगदीशलाल जी गो., जदुबल्लभ जी गो., जगन्नाथदास जी, जमुनादास जी, जन्त्रीस्वामी जी, जगदीशनारायण जी, जयकृष्णदास जी [कमलनयन जी गो. के शिष्य], घनश्यामदास जी, जुगलदास जी [इन्द्रपति जी गो. के शिष्य], जयदेव कवि, जुगलकिशोर जी गो., जयदासी जी, जुगलदास जी, झूठास्वामी जी, दम्पतिकिशोर जी गो., दुलहिनिदासी जी, दम्पतिदासी जी, दयानिधि जी गो., दम्पतिअलि जी, दीनदयाल जी, धीरजदास जी, निर्मलदास जी, नवलदास जी, नरहरिदास जी गो., नागरवर जी गो., नित्यानन्ददास जी, नित्यकिशोरजी गो., नन्दबल्लभ जी गो., नित्यबल्लभ जी गो. नारायणदास जी, नाथभट्ट जी, प्यारेलाल जी गो., प्रीतमदास जी, प्रीतमलाल जी गो. प्रेमपथपथिक जी, प्रहलाददास जी, प्रियालाल जी गो., परमानन्ददास जी [भक्तिदीपकार], बालकृष्णदास जी, ब्रजगोपालदास जी, ब्रजनिधिबल्लभ गो., बैजनाथ शास्त्री पटना, ब्रजनाथ जी [भोलानाथ जी 'भोरीसखी' के भाई],



बिट्ठलदास जी, ब्रजदासी जी, बुलाखीदास जी, बल्लभसखी [रसिकसखी जी के शिष्य], ब्रजपति जी गो., बल्लभदास जी [रूपलाल जी गो. के शिष्य], बल्लभदास जी [किशोरीलाल जी गो. के शिष्य], ब्रजमोहन जी गो., बीठलराय जी गो., बल्देव कवि जी, भगवानदास जी [रसिकबल्लभ जी के शिष्य], भजनदास जी, भागवतावतंश जी, मधुरानन्द जी, मनोहरअली जी, मनोहरदास जी, मनोरथलाल जी गो., मदनमोहनदास जी, मोहनदास जी [गो. दामोदरवर जी के शिष्य], माधुरीदास जी, मोहन जी [केलिकल्लोल आदि ग्रन्थों के प्रणेता], मथुरा हित, माखनचोरदास जी, माधौमुकुन्द जी, मुरलीसखी, मन्नीलाल जी गो., यज्ञेश्वर द्विज, राधादास जी, [प्रथम] राधिकाशरण जी, राधिकाशरण जी [उपनाम—संतदास], राधिकाचरणदास जी [प्रसिद्ध नाम—ढोंगीबाबा], रासदासी जी, राधाबल्लभशरण [पूर्वनाम पं. रामनाथ], रूपअली जी, रूपदास जी, रामकृष्ण हित, रसिकमुकुन्द जी, रूपनाथ जी गो., रंगीलाल जी गो., रंगीदास जी, रसन भाई, राधालालजी गो., रमनलाल जी गो. राधामोहन माली, राधामोहनदास जी, राधाचरण जी [पूर्वनाम—लल्लू जी], राधाबालकृष्ण हित, राधिकाबल्लभशरण जी [हड़िया बाबा], ललिताशरणजी, ललितशरण [चतुरसिंह], लक्ष्मीदास हित, ललितसखी जी [ललितादिक], लड़ैतीदास जी [बरसाना], लाड़िलीलाल जी गो., ललितकिशोरी जी गो., लालदास जी [चन्द्रसखी जी के शिष्य], लाड़लीदास [खीरस्तवकार], विलासदास जी गो., विष्णुसखी जी, विपिनदासी जी, बनबारीलाल जी गो., वैष्णवदास जी, विजयसखी जी, वीर भाई जी, वेणी कवि, विमलादासी, शंकराचार्य जी, शंकरदत्त जी कवि, श्यामशाह तोमर, श्यामादासी या श्यामाअली, सुन्दरदास [पूर्वनाम—सदाशिवलाल], सोमनाथ जी भट्ट, सुखदान कवि, शीलसखी, सोनकुँवरि, सुन्दरदास जी [हुलासलाल जी गो. के शिष्य], श्यामलाल जी गो., श्यामदास जी, सिंगारसखी जी, श्यामादास जी, सुजनसखी जी, श्यामसखी जी, सनेही जी, सन्तदास जी, सुखसखी जी [कृष्णदास जी के शिष्य], श्रीपतिशरण जी, सेवादास जी, हितनिधि जी, हितदासी जी, हरीदास जी, हितप्रसाद जी [पूर्वनाम—गंगादास] हितप्रसाद जी [प्राचीन], हितराम जी [फतेहसिंह], हितसुख जी, हितदास जी [अग्रवन वाले], हित घनश्याम, हुलासलाल जी गो., हित रघुनाथदास जी, हीरादास जी, हितूलड़ैती अली, हितकिशोर जी गो., आदि।

उपर्युक्त नामावली में उल्लिखित सभी वाणीकार रसिकों का विस्तृत ऐहिक परिचय, उनकी संपूर्ण वाणियों का नामोल्लेख, उनके प्राप्ति स्थल और उन संपूर्ण वाणियों के स्वरूप सौन्दर्य व रूप सौन्दर्य पर प्रकाश डालना यहाँ स्थान सापेक्ष और समय सापेक्ष है। और अभी तो बहुतों का परिचय तथा वाणी ग्रन्थ तक सर्वथा अज्ञात हैं। निजी संग्रहों और शोध संस्थानों में वेष्टनवद्ध हैं; जिनके दर्शन प्राप्त करना भी



अत्यन्त दुसाध्य कार्य है। अतः हम यहाँ रस भक्ति धारा के आविर्भावक श्री हिताचार्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए तीनों वर्गों के इन रसिक वाणीकारों का संक्षिप्त परिचय और उनके द्वारा प्रणीत प्राप्त वाणियों की नामानुक्रमणिका मात्र ही प्रस्तुत कर रहे हैं।

#### ८.१०.१. आचार्य प्रवर गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र जी महाप्रभु :

जन्मस्थान—ब्रजस्थ बादग्राम [मथुरा से आगरा जाने वाले मार्ग के मध्य],  
जन्मकाल—वि. सं. १५५६ बैशाख शुक्ला एकादशी, सोमवार, जनक—श्री व्यास मिश्र [देववन निवासी], जननी—तारारानी [ब्रजस्थ इंदीनगर नरेश विप्र की सुता], जाति—मिश्र  
संज्ञक ब्राह्मण, गुरुवर्य—रसमूर्ति श्री राधा, जन्मकाल के समय नाम—हरिवंश, श्रीराधा द्वारा रसोपासना की मन्त्र दीक्षा प्रदान करते समय 'हित' छाप की प्राप्ति; अतः इसी समय से हितहरिवंश नाम, रसिक जगत में 'रस रसिकाधार', 'श्रीजू', 'श्रीजी', 'गुसाँई जी', 'हितजू' और 'श्री हिताचार्य' के नाम से भी विख्यात, बाल्यकाल से ही रसमयी रचनाओं का रसोदगलन, रचनारम्भकाल—वि. सं. १५६४ से प्रारम्भ, वि. सं. १५६६ में सेव्य स्वरूप श्रीरंगीलाल जी का प्रागट्य और देववन में ही गादी सेवा की संस्थापना, लघु वय में ही ज्ञानू, नाहरमल, बीठलदास आदि शरणागतों को रसोपासना की मन्त्रदीक्षा प्रदान, भार्या—रुक्मिणी जी, संतति—वनमालीदास जी, कृष्णदास जी, गोपीनाथ जी, सुत और सुता—साहिब दे तथा राइब दे, इकत्तीस वर्ष तक देववन निवास, बत्तीसवें वर्ष के वयक्रम काल में पंचकोसी वृन्दावन में प्रस्थान, अपनी गुरुवर्य श्रीराधा की आज्ञा से मार्ग में चिरथावल नामक ग्राम में कृष्णदासी और मनोहरी नामक दो विप्र कन्याओं से विवाह, विवाह के दहेज में सेव्य स्वरूप श्री राधाबल्लभलाल जी की प्राप्ति, पंचकोसी वृन्दावन में प्रथम पदन्यास की तिथि—वि. सं. १५६० कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी, ब्रज प्रदेश के नरवाहन जैसे खूँखार दस्युराज का चित्ताकर्षण और उसे दीक्षा प्रदान, वृन्दावनस्थ कोइलिया घाट [अपभ्रंश नाम—कोरिया घाट] से लेकर तीर घाट [अपभ्रंश नाम—चीर घाट]—तक के भूमि भाग का अधिग्रहण, जन शून्य वृन्दावन में अपने आवास स्थल अथवा श्री राधाबल्लभलाल जी के मंदिर की स्थापना [वर्तमान में यह स्थल हित घाट के सन्निकट कोरिया घाट के नाम से प्रसिद्ध है और यहाँ पर श्री हिताचार्य के लघु तनय गो. मोहनदास जी के वंशज निवास कर रहे हैं], श्री राधाबल्लभलाल जी का प्रथम पाटोत्सव—वि. सं. १५६१ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी [अपने निज शिष्य नरवाहन द्वारा नव निर्मित मंदिर में], वृन्दावन निवासकाल में मोहनदास नामक एक पुत्र रत्न की प्राप्ति दिव्य देन—पंचकोसी वृन्दावन के साथ-साथ यहाँ के लीला स्थलों [रासमण्डल, सेवाकुंज, धीरसमीर, वंशीवट, मानसरोवर, हिंडोलस्थल, शृंगारवट, वनविहार] का



प्राकट्य, स्वेष्ट सेवा [ विधि निषेध शून्य अष्टयामी प्रगट सेवा और मानसी सेवा] संस्थापन, रसोपासना की संसृष्टि व प्रचार-प्रसार, रसपान विधा विनिर्मिति—नित्य रासलीलानुकरण प्राकट्य, समाज संगीत समुद्भव, रसलीला गान किंवा वृन्दावन रसात्मक काव्यधारा का प्रागट्य। शिष्य परिकर—रंगा, मेधा, अलिमोहन, प्रबोधानन्द सरस्वती, हरिराम जी व्यास आदि पेंतालीस शरणागतों को रसोपासना की मन्त्रदीक्षा प्रदान, परम प्रभावी महदाचरण—अनुपम उदारता, शरणागत पालिता, निरभिमानीता, निर्वैरता, सहज स्वाभाविक कृपालुता, विभव विरक्ति, इष्ट सेवा परायणता, अनुग्रह की अदभुतता। निकुंजगमन—मानसरोवर के निकट भँवर भँवरनी वन में विक्रम संवत् १६०६ की आश्विन पूर्णिमा को। विशेष ज्ञातव्य—ऐतिह्य प्रमाणों से परिपुष्ट श्री हिताचार्य का विस्तृत जीवनवृत्त प्रस्तुत प्रबंध के सप्तम अध्याय में लिखा जा चुका है। रचनायें—१. यमुनाष्टक २. रससुधानिधि किंवा राधासुधानिधि [ दोनों संस्कृत रचनायें ] ३. श्री मुखपत्री—प्रथम और द्वितीय [ ब्रजभाषा गद्य रचनायें ] ४. स्फुटवाणी ५. हितचौरासी [ दोनों ब्रजभाषा पद्य में ]

रचना-उदाहरण —

अनंग-जय मंगल ध्वनित किंकिणी डिंडिमः, स्तनादि बर ताड़नैर्नखर दन्त घातैर्युतः।  
अहो चतुर नागरी नवकिशोरयोर्मञ्जुले, निकुञ्ज निलयाजिरे रतिरणोत्सवोजृम्भते<sup>१</sup>॥  
विचित्र रत्न वद्ध सत्तटद्वयश्रियोज्ज्वलां, विचित्र हंस सारसाद्यनन्त पक्षि संकुलाम्।  
विचित्र मीन मेखलां कृताति दीन पालितां, भजे कलिन्दनन्दिनी दुरंत मोह भंजिनीम्<sup>२</sup>॥

तू रति रंग भरी दिखियत है री राधे, तैं रहसि रमी मोहन सौँऽव रैन।  
गति अति शिथिल प्रगट पलटे पट, गौर अंग पर राजत ऐन॥  
जलज कपोल ललित लटकति लट, भृकुटि कुटिल ज्यों धनुष धृत मैन।  
सुन्दरि रहिव कहिव कंचुकि कत, कनक कलश कुच बिच नख दैन॥  
अधरविंव दलमलित आलस जुत, अरु आनंद के सूचत सखि नैन।  
जै श्री हित हरिवंश दुरत नहिं नागरि, नागर मधुप मथत सुख सैन<sup>३</sup>॥

सुन्दर पुलिन सुभग सुखदायक।

नव-नव घन अनुराग परस्पर, खेलत कुँवर नागरी-नायक॥

१. रा. सु. नि., गो. हि. ह., श्लो. सं. २२४

२. य. अ., गो. हि. ह., श्लो. सं. ४

३. स्फु. वा., गो. हि. ह., प. सं. १०



शीतल हंससुता रस वीचिन, परसि पवन सीकर मृदु वरषत।  
 वर मन्दार कमल चम्पक कुल, सौरभ सरस मिथुन मन हरषत।।  
 सकल सुधंग विलास परावधि, नाचत नवल मिले सुर गावत।  
 मृगज-मयूर-मराल-भ्रमर-पिक, अद्भुत कोटि मदन सिर नावत।।  
 निर्मित कुसुम शयन मधु पूरित, भाजन कनक निकुञ्ज विराजत।  
 रजनी मुख सुख रासि परस्पर, सुरत समर दोऊ दल साजत।।  
 विटकुल नृपति किशोरी कर धृत, बुधि बल नीवी बन्धन मोचत।  
 नेति-नेति वचनामृत बोलत, प्रणयकोप प्रीतम नहीं सोचत।।  
 जै श्रीहित हरिवंश रसिक ललितादिक, लता भवन रंघन अवलोकत।  
 अनुपम सुख भरि भरित विवस असु, आनंद वारि कण्ठ-दृग रोकत'।।

“ श्री सकल गुन सम्पन्न रसरीति बढावनि चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान  
 बीठलदास जोग लिषितं श्रीवृन्दावन रजोपसेवी श्रीहरिवंश जोरी सुमिरन बंचनौ। जोरी  
 सुमिरन मत रहौ। जोरी जो है सुख वरसत हैं। तुम कुशल स्वरूप हौ। तिहारे हस्ताक्षर  
 बारम्बार आवत हैं; सुख अमृत स्वरूप हैं; पत्री बाँचत आनन्द उमड़ि चलै है। मेरी  
 बुद्धि कौं इतनी शक्ति नार्ही जो कहि सकौं .....।”

## २. अलिमोहनदास जी :

गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—  
 १. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में यत्र तत्र बिखरी हैं। ] रचना-उदाहरण—

रसभीनी प्यारी पियहि रिझायौ।

मनसिज तंत्र पोषि अँग-अँग प्रति, रतिपति पाँय लगायौ।।

सुरति समर रस रासि जुगलवर, सु मिलत वैनु बजायौ।

‘अलिमोहन हित’ उमगि अंक भरि, अधर सुधा रस प्यायौ।।

## ३. अतिबल्लभदास जी :

गुरु—कमलनैन जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. उत्सव  
 बीजक, २. गुरु परनाली, ३. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] ४. फुटकर  
 सवैया ५. वृन्दावनाष्टक ६. मंत्र ध्यान पद्धति ७. समय प्रबन्ध [ अष्टयाम ] ८. हित चौरासी  
 टीका, [ केवल एक पद—‘नयौ नेह नव...’ की ही प्राप्त है; इसी को किसी-किसी प्रति

१. हि. चौ., गो. हि. ह., प. सं. ७२

२. श्री मु. प., गो. हि. ह., प्रथम

में 'वार्ता' नाम से भी लिखा गया है। ] रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

जै जै जै सुर-नर-मुनि भाखें।

महा प्रेम कौ सुरतरु प्रगट्यौ, सुफल भई अभिलाखें।।.....

हित जू जनम बधाई गावै, मन दै अर्थ विचारै।

स्वारथ सकल हौंहि परमारथ, जुगल चरन चित धारै।।

'अतिबल्लभ' की दुर्लभ आशा सोऽब सुलभ करि पाई।

परिकर जुत वंशावलि वरनन, जनम बधाई गाई।।

#### ४. अनन्यअली जी [ पूर्व नाम-भगवानदास ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन से बाहर किसी स्थल में, जन्मकाल—वि. सं. १७३८, परिवारीजन—माँ तथा भाई आदि हित धर्मी, जाति—वैश्य, दीक्षा गुरु—गोविन्दलाल जी गो. [ गो. कृष्णचन्द वंशीय ] दीक्षा ग्रहण—आठ वर्ष की स्वल्पायु में वि. सं. १७४६ में, वृन्दावन आगमन और विरक्त जीवन—ज्येष्ठ शु. द्वितीया वि. सं. १७५६ से, पूर्व नाम—भगवानदास, प्रिया-प्रदत्त नाम—अनन्यअली, भजनकुटी—वृन्दावनस्थ वनबिहारस्थल, [ प्राचीन परिक्रमा पथ में विद्यमान हितध्रुवदास जी की कुटी के निकट ], इष्ट-सेवा-संनिष्ठ, निकुंजगमन—वि. सं. १७८६—१७९० के लगभग, ये अपने समय के प्रभावी रसिकों में से थे। लालसखी जी, अलिभगवान जी आदि रसिकों को इन्हीं की कृपा से इष्ट वस्तु प्राप्त हुई थी। रचनार्य—

१. आशा अष्टक, २. आँख मिचाई लीला, ३. उत्थापन समय विलास लीला, ४. क्रीड़ा सर खेल विलास लीला, ५. कुंज विलास लीला, ६. कंचन लता लीला, ७. गान विलास लीला, ८. ग्रीष्म रितु विलास लीला, ९. गेंद खेल विलास लीला, १०. चरण प्रताप लीला, ११. चन्द्रलता लीला, १२. चन्दन चित्र विचित्र विलास लीला, १३. चातुर्य विलास लीला, १४. चौपड़ खेल विनोद लीला, १५. चंग खेल विलास लीला, १६. छवि लता लीला, १७. छवि चन्द्रावली लीला, १८. जल नौका खेल विलास लीला, १९. जल बिहार लीला, २०. जीव पुकार, २१. जुगल सभा [ समाज ] विनोद लीला, २२. झीने चीर विलास लीला, २३. डर विलास लीला, २४. थल नौका खेल विनोद लीला, २५. दरस विलास लीला, २६. दान विलास [ विनोद ] लीला, २७. नवल जुगल विनोद लीला, २८. नवल विलास लीला, २९. निद्रा विलास लीला, ३०. निडर विलास लीला, ३१. नेत्र विलास लीला, ३२. परिचर्या विलास लीला, ३३. पद्यावली, ३४. पावस रितु विलास लीला, ३५. प्रतिविंब विलास लीला, ३६. प्रेम आशावली [ प्रथम सतक ], ३७. फूल विलास लीला [ प्रथम ], ३८. फूल विलास लीला [ द्वितीय ], ३९. बसन्त रितु विलास लीला, ४०. भड्डू खेल विलास



लीला, ४१. भोरता विलास लीला, ४२. महा शीतल विलास लीला, ४३. मगन विलास लीला, ४४. मन विनती, ४५. माधुरी लता लीला, ४६. मान विलास लीला, ४७. मृदुता सीमा [ विलास ] लीला, ४८. मैना मंत्र मोहनी लीला, ४९. मोहनता सीवाँ लीला, ५०. मंगल विनोद लीला, ५१. रहसि वचन विलास लीला, ५२. रहसि झगरा विलास लीला; ५३. रवनी लता लीला, ५४. राजभोग विलास लीला, ५५. रूप विलास लीला, ५६. लज्जा विलास लीला, ५७. ललित लता लीला, ५८. लाड़िली जू की नामावली लीला, ५९. लाल जू की नामावली लीला, ६०. लावण्य मुक्ता लता लीला, ६१. लीला चरणाष्टक, ६२. व्याह विनोद लीला [ प्रथम-द्वितीय ], ६३. वचन विलास लीला, ६४. विरह विलास लीला, ६५. विमल विलास लीला, ६६. वृन्दावन वास अवस्था [ प्रथम से चतुर्थ ], ६७. वृन्दावन रजधानी लीला, ६८. वंशी विलास लीला, ६९. शरद रितु विलास लीला, ७०. शिशिर रितु विलास लीला, ७१. श्री हित हरिवंश नामावली, ७२. श्री हित हरिवंशाष्टक, ७३. षट रितु विलास लीला, ७४. स्वप्न, ७५. स्वप्न विलास लीला, ७६. स्नान विनोद लीला, ७७. सज्जा समय विलास लीला, ७८. सतरंज खेल विलास लीला, ७९. सिंगार विनोद लीला, ८०. सुरतांत विलास लीला, ८१. सुरत सिंगार लीला, ८२. सुकुमारता सीमा लीला, ८३. सेवा विलास लीला, ८४. सैन समय विलास लीला, ८५. सौरभ विलास लीला, ८६. संध्या समय विलास लीला, ८७. संयोग विलास लीला, ८८. हास विलास लीला, ८९. हिमरितु विलास लीला, ९०. हितध्रुवदास जू की वाणी की फलस्तुति.

#### अप्राप्त रचनार्ये—

१. ललित विलास लीला, २. मौलिकता विलास लीला, ३. होरी विलास लीला, ४. हिंडोल विलास लीला, ५. फूलडोल विलास लीला, ६. उसीर कुञ्ज विलास लीला, ७. हित विलास लीला, ८. रस विलास लीला, ९. प्रेम विलास लीला, १०. झूलन विलास लीला, ११. रास विलास लीला, १२. सौन्दर्य विलास लीला, १३. प्रेम आशावली लीला के अन्य शतक, १४. हस्त-कमल विलास लीला; इत्यादि। रचना-उदाहरण —

अलक न इनकों जानिये नाम और सुनि लेहि।  
डाख्यौ नृपति सिंगार ने मोहन कंटक येहि॥  
रूप-कूप के दरस कों गये लाल के नैन।  
खिसलि पख्यौ मन श्याम कौ बूढ़त अब निकसै न॥  
तबहि नृपति सिंगार ने मोहन कंटक डार।  
निकसत नहिं मन श्याम कौ गोता खात अपार॥

[—रूप विलास लीला से]

#### ५. अलिभगवान जी :

जन्मस्थान—डूंगासरे, दीक्षा गुरु—कुंजलाल जी गो. विरक्त वेष दाता गुरु—अनन्य अली जी, इनके पूर्वज परम्परा से निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे, गान कला कुशल, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] विशेष ज्ञातव्य—गोविन्दअली जी कृत 'भक्त गाथा' की "वानी भनी बिहार रस नहीं आन रस काज" [ छं. सं. ४६ ] से ज्ञात होता है कि इन्होंने अपनी वाणी में विशुद्धतम नित्य निकुञ्ज की केलि का ही गान किया था। रचना-उदाहरण—

खेलत फाग मुदित नटनागर नव नागरि राधा प्यारी।

उड़त गुलाल कुलाहल सुनियत राग रंग अति भारी॥

नवल वधू अति सुन्दरि राजत राजत रासबिहारी।.....

उत पट पीत अरगजा भिंजयौ इत शोभित भीर्जी सारी।

'अलिभगवान' सरस रस बाढ़्यौ देखौ री नैन निहारी॥

#### ६. अनन्यदास जी :

गुरु—कीर्तिलाल जी गो., [ श्रीराधाबल्लभलाल जी के मन्दिर के सेवाधिकारी ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

जै जै मंगल आजु बधाई।

श्री हरिवंश कुल वंश उजागर, श्री सुन्दर चन्दलाल गुसाँई॥

तिन घर प्रगटे लाल कीरति हित, श्री श्यामकुँवरि की कूख सिराई।

रितु बसन्त छट चैत उजारी, ता दिन जनमे ये सुखदाई॥

होत जनम परकाश भयौ जग, श्री वृन्दावन आनंद छाई।....

मानि सनेह नेह लखि प्रीति सौं, 'दास अनन्य' अपनाई॥

#### ७. अभयराम जी ब्रजवासी :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जाति—गोरये ठाकुर, विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, इन्होंने अपनी रचनाओं में अपने गुरुदेव को स्मरण करते हुए लिखा है कि— " हित कुल में गुरुदेव मिले अरु इष्ट मिले श्री बल्लभ राधा।" इनके वंशज ठाकुर श्री नत्थीसिंह जी आज भी दुसायत मौहल्ला वृन्दावन में रहते हैं। रचनायें— १. वृन्दावन रहस्य विनोद, विशेष ज्ञातव्य—इनकी ये रचना दो खण्डों में हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित है। रचना-उदाहरण —



धनि-धनि वृन्दावन की लता पियारी।  
 फूले कदम-माधुरी लपटी, बोलत कोइल कारी॥  
 छहौ राग छत्तीस रागिनी, कुंज-कुंज उच्चारी।  
 'अभयराम' वन रज की महिमा, देखत हैं पिय-प्यारी॥

८. अलबेलीशरण जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी प्रायः सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु-स्वामिनीशरण जी, गुरु प्रदत्त नाम-बिहारीशरण, विद्यमानकाल-बीसवीं शती का मध्यकाल, रचनायें—  
 १. पदावली। रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

जै जै श्री हित स्वामिनि दासी सुखकरी। जे जन आये शरण तासु की भय हरी॥  
 श्री हित तत्व अगोचर दृष्टि कराइयौ। जुगल केलि नव प्रेम अमी रस प्याइयौ॥  
 प्याइयौ रस अमी अद्भुत अभय कीनों काल सौं।  
 राखि अपनी कोद लीनों, तोरि दृढ़ भव-जाल सौं॥  
 'हित अलबेलीशरण' मंगल गाइ रति पावै खरी।  
 जै जै श्री हित स्वामिनि दासी सुखकरी॥

९. अलबेलीदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गो. चन्द्रलाल जी कृत 'वृन्दावन प्रकाश माला' [ छन्द सं. ५८ ] से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ये श्री हित धर्म परायण थे और केशीघाट के निकट गंगाधर ताँतिया के तीन घाटों पर बनी खुली हुई तिवारीदार बैठक में जहाँ हित धर्मी परम भागवत सौनी जू निवास करते थे; उसी के निकट बने एक बगीचे में रहते थे। विद्यमानकाल—वि. सं. १७७० से १८५० के मध्य आनुमानित। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

लागत सोहनी घरनि।

प्रगट कियौ रसिकनि कौ सर्वसु, बड़भागिनि व्यास मिश्र की घरनि॥  
 बोलनि लगे मुदित खग-मृग अलि, श्री राधा-राधा ये वरन।  
 गौर-श्याम अंगनि परिमल जुत, अनिल बहन लग्यौ ताप-हरन॥  
 गुपत प्रगट कीनों वपु अपनों, विपिनराज अरु तनयातरनि।  
 जल-थल फैलि रही दम्पति-दुति, श्रीहित जन्म आनंद की भरनि॥  
 द्विज-समाज राजत रिषि आँगन, साधत लगन गनक लै गुरनि।  
 बजत मृदंग नचत-गावत गुन, द्वार भेरि दुन्दुभि की घुरनि॥

चित हित भरी सहचरी झुंडन, आई हैं सजि-सजि आभरन।  
तारासुवन बधाई गाई, पाई रति, 'अलबेली' चरन॥

१०. अनन्त भट्ट जी :

जन्मस्थान—गुर्जर प्रान्त, ब्राह्मण कुलोत्पन्न, गुरु—कृष्णदास जी गो., विद्यमान काल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. राधानुनय विनोद महाकाव्य [ गो. कृष्णदास जी कृत ] की टीका, २. श्रीकृष्णदासहित स्तोत्र। रचना-उदाहरण —

परिपूर्णत्वमाह सदेति असौ श्रीकृष्ण चन्द्रौऽसः सतां रूपौ नित्य स्वरूपः सदा सोदासैः सेवकै रसिकैः सहितोयतःसदासादी सदैवानुग्रहनशीलः यद्वा सत् श्रेष्ठः आ सम्यक् सोऽसौ श्री कृष्णचन्द्र इत्यंगुल्यग्रेण दर्शयति नित्य स्वरूपः सदा सादी अतिशयेनानुग्रहण शीलश्च अतोदासादभि व्याप्यांददः पुन्य हीनान् कृपण जनानपि सदः सद्गतिः स साद् रक्षितवाने ददा वित्यर्थः कीदृशादासात् सासु साददसाददः प्राणै सह रक्षकश्चोपक्षयस्य हर्ता तस्मात् प्राण घनादिभि प्राणिमात्राणां सुखदातुस्तता दुःख हर्तुश्चेत्यर्थः कीदृशः सः असदि साददः यतोधमेऽनुग्राहकः शरणप्रदः।

[ राधानुनय विनोद महाकाव्य की टीका से ]

११. आनन्दी बाई जी :

जन्मस्थान—गुजरात प्रान्त, [अन्तःसाक्ष्य के आधार पर] गुरु—रसिकानंदलाल जी गो. [ गो. किशोरीलाल जी के पुत्र ], वि. सं. १८३६ के कुछ काल पूर्व हित धर्म में दीक्षित, इन्हीं के गुरु भ्राता प्रियादास जी द्वारा विरचित एक दोहे से ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने पति, पिता पुत्र तथा भाइयों को छोड़कर इस रस भजन पथ में पग रखा था—“पति-सुत सम्पति बन्धु सौं नसाइ ममत इहि कालं। नन्दी बाई ने भजे हित जू के दोऊ लाल॥” आनंदीबाई की एक रचना से यह भी ज्ञात होता है कि ये वि. सं. १८४० में नितान्त जरा जीर्ण हो गई थीं। इन्हें अपनी मातृभाषा, ब्रजभाषा और संस्कृत भाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त था। इन्होंने स्वरचित कृतियों में श्री हिताचार्य प्रणीत कतिपय श्लोक गुम्फित करते हुए उनका ब्रजभाषा में पद्यानुवाद भी किया है। विद्यमानकाल—वि. सं. १७५० से १८५० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. निजभाव विचार [अष्टयाम] २. पदावली [ स्फुट व उत्सव आदि के पद ] रचना-उदाहरण —

झम-झम-झम झमकन्त ठमक-ठम ठम-ठम ठमकनि।

झनक-झनक झनकार झनक-झन झन-झन झन-झनि॥

द्रुमकनि-द्रुमकनि द्रुमक-द्रुमक द्रुम द्रुम-द्रुम द्रुमकनि।

झनकन-झनकनि झनक झनक-झन झन-झन झन-झनि॥



ठननि-ठननि ठन रहि तुमकि, बलि 'आनन्दी' उचरन वचन ।

भूषन धुनि झर लागि रही, रुनुनु-रुनुनु झुन-झुन झनन ।।

[—निज भाव विचार से ]

१२. आनन्दलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—चतुरशिरोमणिलाल जी गो., श्रीराधाबल्लभ मन्दिर के सेवाधिकारी, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—'वृन्दावन धामानुरागावली' कार गोपाल कवि ने इनका परिचय इन शब्दों में दिया है —

आनँदलाल तहाँ अधिकारी अति गुनग्य उपकारी ।

श्री राधाबल्लभ कौ अधिकार जु तिनकौ अब तहँ ठाँ री ।।

कविता में कोविद रु रसिक गुन गाहक धीरजमाना ।

हितकुल के मण्डन भावुक अति राखत सबकौ माना ।।

रचनायें—१. पदावली, [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

झूलत भोग लगावैं श्री राधाबल्लभ ।

पूवा पूरी जलेबी लड्डुआ, मलाई मिश्री पावैं ।।श्रीराधा.।।

भोजन करत परस्पर रुचि सौं, सखिजन लै लै आवैं ।।श्रीराधा.।।

'हित आनँद' श्री व्याससुवन पै हरषि-निरखि बलि जावैं ।।श्रीराधा.।।

१३. इन्द्रमणि जी गो. :

जनक—जोरीलाल जी गो., विद्यमान काल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—  
१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. माहेश्वरी संहिता की टीका, [ पद्यानुवाद ]  
रचना-उदाहरण —

भजन प्रीति रसरीति गीति अति नवकिशोर वर ।

निगम नीव सुख सीव परम पेशल मधुराक्षर ।।

नित्यबिहार अपार सार आधार भक्तजन ।

सदानन्द-सुत-नन्द रच्यौ सुख कन्द 'इन्द्रमनि' ।।

विमल पुन्य जन धन्य सो, पठन-श्रवन गोविन्द करै ।

ब्रह्मादिकन अगम्य पद, श्री वृन्दावन गहि अनुसरै ।।

[—माहेश्वरी संहिता की टीका से ]

१४. इच्छासखी जी :

जन्मस्थान—गुजरात प्रान्त, गुरु—प्रियालाल जी गो., [ गो. रूपलाल वंशीय गो.

दयासिन्धुलाल जी के सुत ], पूर्व नाम—अज्ञात, विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी का मध्यकाल, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

आजु निकुंज महल में गावत, प्रियालाल दोऊ रँगभीने।  
बाजे सब मिलि बजत मधुर गति, मोहैं अलाप कहैं सुर झीने॥  
राग-रागिनी मूरति धरिकैं, चक्रित भये मनौं लिखि दीने।  
'इच्छासखी' निरखि या छवि कौं, प्रान वारि न्यौछावर कीने॥

१५. उदयलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—किशोरलाल जी गो. [ गो. हरिप्रसाद जी के पुत्र ]  
विद्यमानकाल—वि. सं. १६६० से १७६० तक आनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

आजु बधाई मंगल मेरे, गावत सखी सयानी जू।  
कुंज-कुंज फूलनि अति प्रफुलित, प्रेम लता हुलसानी जू॥  
मानत मोद लाल-लाड़िली दोउ, बोलत मधुरी वानी जू।  
देत परस्पर चितवनि-विहँसनि, श्री हित निजु सखि जानी जू॥  
जमुना जल तरंग रँग-रँग छवि वृन्दावन रजधानी जू।  
माधव मास ग्यास उजियारी, प्रगट भये जग जानी जू॥  
श्री राधाबल्लभ नित प्रति सेवत, कुंज कुटी मन मानी जू।  
'जै श्री उदयलाल हित' सर्वसु मोहन, हित चरननि शुभ थानी जू॥

१६. उत्तमदास जी [ प्रथम ] :

जन्मस्थान—पटना, पूर्व नाम—उत्तमचन्द, गिरधरलाल जी गो. के सत्संग से वृन्दावनागमन, गुरु—कुंजलाल जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—१. श्री हरिवंश चरित्र, रचना-उदाहरण —

सावधान सेवा में आप। कहैं सुनैं नहिं असद अलाप॥  
कर्म-धर्म व्रत संयम जितने। किंकर किये भक्ति के तितने॥  
एकादशि-द्वादशि व्रत गायौ। महाप्रसाद ते तुच्छ दिखायौ॥  
कोटि एकादशि व्रत जो कीयें। सो फल सीथ-सीथ प्रति लीयें॥  
सबनि प्रसाद प्रताप वखान्यौ। पै सर्वसु करि हित जू जान्यौ॥....

श्रीहरिवंश चरित्र बहु, सुने-कहे नहिं जाँहिं।  
'उत्तमदास' लिखे जु प्रभु प्रेरे है हिय माँहिं॥



१७. उत्तमदास जी नागाजी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—नीम का थाना, अन्य ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल बीसवीं शदी का प्रारंभिक काल, रचनायें—१. ध्यान कली, २. वृन्दावन महिमा, ३. सवैया [ कतिपय ], ४. श्रृंगार मञ्जरी, रचना-उदाहरण —

विषया रस लीन अलीन महा, दुख दारुन दाह सहै अति भारी।  
ज्ञान रु ध्यान कौ नाश करै, लव मात्र ही कौ सुख हू पर नारी॥  
जो पुनि संत कहैं कोऊ ज्ञान की भूसत हू कटु वर वीचारी।  
बादहि होत कुम्हार कौ कूकर, खाली हृदय गुरु रीति बिसारी॥  
अन्त समय जमराज कौ किंकर, डारि दैहैं गल फाँसि करारी।  
'उत्तमदास' विचारि कहै, विषया रस लीन की होय खुवारी॥

१८. उत्तम नेह जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी रचनायें—१. हित चौरासी की टीका, [ पद्यानुवाद ], रचना-उदाहरण —

ऐसी प्यारी कौन जाहि मिलत लाल भौन, करत निशि के सुख मौन केलि विस्तारी है।  
प्रात सेज पर सुहाये केलि चिन्ह अंग छाये, सकुचि दोऊ मुसिकाये चैन नैन उर धारी है॥  
उर नख विराजै चन्द्र अंग- अंग पर राजै, पलटि भूषन पट साजै अटपटे बैन प्यारी है।  
सखी हरिवंश पास करत प्रशंश रसिक राधापति हंस 'उत्तम नेह' मो बिहारी है॥

१९. कल्याणदास जी पुजारी [ प्रथम ] :

जनक—धर्मदास, गुरु—वनमालीदास जी गो., श्री राधाबल्लभलाल जी निज मन्दिर में पुजारी, विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. रसिक जीवन जस, २. स्फुट कवित्त-सवैया, ३. पदावली [ बसन्त, होरी, हित जू की मंगल बधाई, गुरु उत्कर्ष-बधाई, पावस, रास, सुरतांत, शैया बिहार आदि के पद ], ये तीनों रचनायें 'कल्याण पुजारी जी की वाणी' के नाम से विख्यात हैं। इन्होंने अपने अनेकों पदों में 'कली' छाप भी लगाई है। रचना-उदाहरण —

नैना मिले नैननि धाइ।

मान कौ अपमान कीयो, लिये लाल बुलाइ॥

मनहिं मन दुहुँ ओर चोरनि, बदे अनभय भाइ।

प्रेम-सागर उभय उमड़े, सेत हेत मिटाइ॥

गौर-श्यामल अंग संगम, कोक वेदनि चाइ।  
देखि फूली 'कली' दम्पति, करत केलि अघाइ॥

[—पदावली से]

२०. कल्याणदास जी छाप-'अलि कल्याण' [ द्वितीय ] :

गुरु—अलिमोहनदास जी, विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. लाड़िली जू की जनम लीला। रचना-उदाहरण स्वरूप कतिपय छन्द —

श्री गुरु पद-रज बन्दन करिहौं। ता करि दुरमति सागर तरिहौं॥  
दुरमति जाइ सुमति कछु पाऊँ। तौ इक लीला ललित सुनाऊँ॥१॥...  
श्री राधा जू की जनम कहानी। कृष्ण हृदय परमानंद दानी॥  
अधम महारस उद्यम कीनों। पूरव ग्रन्थन में मन दीनों॥५॥...  
श्री राधा जनम लीला यह कही। रसिक सन्त करि मानों सही॥  
श्री अलिमोहन पद रज परसी। 'दास कल्याण' हियें कछु दरसी॥६०॥

२१. कन्हर स्वामी जी :

गुरु—वनमालीदास जी गो., श्रीराधाबल्लभलाल जी के निज मन्दिर के पुजारी, विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. दोहावली, २. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं। ] रचना-उदाहरण—

जय जय श्री वनचन्द्र पद पाय महा आनन्द।  
निशि-बासर सुमिरन करुँ 'कन्हर' गये दुख द्वन्द॥  
स्वर्गादिक चाहूँ नहीं नहिं चाहूँ कछु और।  
नित्य-नित्य निरखत रहौं 'कन्हर' जुगलकिशोर॥  
वाणी श्री हरिवंश की दृढ़ करि चित में धारि।  
'कन्हर' सहज उपाय यह भव सौं होवै पार॥  
सेवा सुख कैसैं कहौं 'कन्हर' कह्यौ न जाइ।  
रूप माधुरी अंग प्रति हिय मैं रहि समाइ॥

[—दोहावली से]

२२. कमलनयन जी गो. :

जन्मकाल—वि. सं. १६६२ आसाढ़ कृष्णा पंचमी, जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—रासदास जी गो., श्री राधाबल्लभ मन्दिर के सेवाधिकारी, सेवाधिकार काल—वि. सं. १७२२ से वि. सं. १७५३ अगहन शुक्ल एकादशी तक, भजनस्थली—वृन्दावनस्थ सिंगारवट एवं गोविन्द घाट [ चैन घाट ] पर स्थित रासमण्डल के मध्य, विशेष ज्ञातव्य—मुस्लिम उत्पात



के कारण वि. सं. १७२६-१७२७ के मध्य इन्हीं गोस्वामी जी के सेवाधिकार में श्री राधाबल्लभलाल जी को कामवन ले जाया गया। रचनायें—१. समय प्रबन्ध, २. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

दम्पति रूप अनूपम देखत नैना न अघाने।  
निरखि-निरखि मुसिकात परस्पर, अंग-अंग सुख साने॥  
मिस ही मिस पिय कर उर लावत, नागरि तबही जाने।  
'श्री कमलनैन हित' लपटाइ लाल कौं, दीये सुख मनमाने॥

[—पदावली से]

२३. [ महारानी ] कमलकुँवरि जी 'हितदासी' :

जन्मस्थान—उदगवाँ नामक ग्राम, [ दतिया—मध्यप्रदेश से तेरह मील दूर स्थित ], जनक—बहादुरसिंह, [ दीवान ] विवाह—सरीला [ हमीरपुर ] रियासत के दीवान अनुरुद्धसिंह के प्रपौत्र के साथ, गुरु—श्री हितात्मज गो. गोपीनाथ जी के वंशज, गिरधरलाल जी गो. [ झाँसी वाले ], विद्यमानकाल—वि. सं. १६०० से १६६० के मध्य आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य—'कमलकुँवरि' नाम के साथ-साथ इन्होंने अपने कतिपय पदों में 'हितदासी' छाप भी प्रयुक्त की है। रचनायें—१. अनल मोचन अष्टक [ दावानल मोचन अष्टक ], २. ग्रीष्म ऋतु के दोहा और कवित्त ३. करुणा चौतीसी ४. कवित्त संग्रह ५. चतुरासी तिलक [ हित चौरासी-टीका ], ६. तुलसी चरित ७. द्वादश यश की फलस्तुति ८. पदावली [ फुटकर, हित जू की जनम बधाई, लाल जू की जनम बधाई, प्रिया जू की जनम बधाई, गुरुवर्य गो. गिरधरलाल जू की जनम बधाई, श्रीकृष्ण वंशावली, श्रीकृष्ण जनमकुण्डली, भाँड़न की नकल, आदि। ] ९. बसन्त बिहार लीला १०. बारहमासी ११. विष मोचन अष्टक १२. सावन बिहार लीला, आदि। रचना-उदाहरण

आजु गुलाब के हौद भरे खस, खाने विचित्र सुगंध सुहाये।  
बेला-गुलाब-चमेली जहाँ सखि, आनि लै झाड़ विचित्र लगाये।  
फूलनि सेज सम्हारि तबै श्री लाड़िली-लाल निकुंज में आये।  
शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर, चलै तहँ केलि करै मन भाये।

सुमन सेज परजंक पर पौढ़े श्यामा-श्याम।  
'कमलकुँवरि' कब देखिहै यह शोभा सुख धाम॥  
यह शोभा कब देखिहौं श्रीवृन्दावन जाय।  
'कमलकुँवरि' विनती करै निशि-बासर जस गाय॥

[—ग्रीष्म रितु के छन्दों से]

## २४. कविरानी जी :

सम्प्रदाय के साहित्य में न तो इनका कोई परिचय ही प्राप्त है और न कोई रचना ही। हाँ 'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों में अवश्य इनका संक्षिप्त परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

“नाम—कविरानी, चौबे लोकनाथ की स्त्री [ बूँदी ], ग्रन्थ—स्फुट पद, रचनाकाल—१७६०, विवरण—इनके पति [ लोकनाथ जी ] राव राजा बुद्धसिंह के साथ काबुल जाने वाले थे तब इन्होंने निम्न छन्द उनके पास लिख भेजा था। जिस पर राव राजा ने उनका काबुल जाना बन्द कर दिया। इनका काव्य साधारण श्रेणी का है। रचना-उदाहरण—

मैं तो यह जानी ही कि लोकनाथ पाय पति, संग ही रहोंगी अरधंग जैसे गिरिजा।  
एते पै विलक्षण है उत्तर गमन कीनों, कैसें कै मितत जो वियोग विधि सिरजा।  
अब तौ जरूर तुम्हें अरज किये ही बनें, वेऊ दुज जानि फरमाइहें कि फिरजा।  
जोपै तुम स्वामी आजु कटक उलंघि जैहौ, पाती माँहि कैसें लिखूँ मिश्र मीन मिरजा।

## २५. कवीन्द्र जी :

जन्मस्थान—नरवरगढ़ [ बुन्देल खण्ड ] जनक—सखीसुख [ राधाबल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध वाणीकार—सहचरिसुख जी ], जाति—ब्राह्मण, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. रसदीप २. कवित्त-सवैया [ प्राचीन हस्तलिखित संग्रहों में बिखरे हैं। ] रचना-उदाहरण —

तू तौ री कहति मनमोहन लखे मैं, मनमोहन लखे कौ एकौ लक्षण लहौती तैं।  
वैसें ही 'कवीन्द्र' सुधि बुधि तौ सबै है अरु, दीनी नहिं अबै लोक लाजहि चिनौती तैं।।  
धंग होतौ चित्तु री कुरंगनैनी कहैं हम, अंगनि अनंगवारी अगनि अगौती तैं।  
बाबरी भई है तैं न सामरी सवीह देखि, सामरी सवीह देखि बाबरी न होती तैं।।  
[—कवित्त संग्रह से, पृ. सं. ५५]

## २६. कान्हादास जी :

जन्मस्थान—सिकन्दरा [ दिल्ली के निकट ], जाति—भटनागर कायस्थ, पूर्व नाम—कन्हैयालाल, गुरु—भजनलाल जी गो. [ रासवंश के तत्कालीन सेवाधिकारी ], निवास स्थली—गोवर्धन ग्राम व वृन्दावन, विरक्त वेष दाता गुरु—प्रेमदास जी [ श्री राधाबल्लभ मन्दिर, वृन्दावन ], विद्यमानकाल—वि. सं. १८७० से वि. सं. १९४० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. कवित्त-सवैया, २. चन्द्रावली गूजरी गीत, ३. जुगलध्यान, ४. पदावली, ५. प्रीति



परीक्षा, ६. बाराखरी, ७. सनत्कुमारसंहिता का भाषानुवाद, ८. हरि भक्तन की महिमा।  
रचना-उदाहरण—

श्याम-गौर नव किशोर संग सखी चहूँ ओर, बिहरत वृन्दा अरण्य आजु भोर री॥  
कोकिल-पिक-शुक-चकोर करत फिरत शब्द घोर, डोलि रहे हंस जोर बोल मोर री॥  
फूल रहे फूल डार झूले द्रुम फलनि भार, पंछी बहु बार-बार करत शोर री॥  
रविजा के तीर-तीर परसत त्रिविध समीर, निरखत हैं नव निकुंज जल हिलोर री॥  
अनुपम छबि अति अपार शोभा सौन्दर्य सार, मोचत मद कोटि मार चित्त चोर री॥  
चेतन गति जड़न देत चेत होत जड़ अचेत, निरखत हैं जासु ओर नैन कोर री॥  
देखें घन रूप श्याम दामिनि ज्यों संग भाम, जीवत शिव दग्ध काम भौं मरोर री॥  
'कान्हदासि' कह्यौ मान निरखन हित विवि सुजान, देह सौं दुराइ प्रान दै अँकोर री॥  
[—पदावली से]

२७. किशोरीदास जी [ प्रथम ] :

गुरु—ब्रजभूषण जी गो., [ वनमालीदास गो. के सुत ] विद्यमानकाल—सत्रहवीं  
शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ नित्य केलि के पद, श्री हित जू की बधाई, लाल-प्रिया  
जू की बधाई के पद ] रचना-उदाहरण —

भैया हो अद्भुत मंगल आज।  
प्रगटे श्री हरिवंशचन्द्र वर, रसिकन के सिरताज॥  
घर-घर वन्दनवार साथिये, संपति साजि सिंगार।  
नाचत-गावत प्रेम विवस गति, प्रमुदित तन न सँभार॥  
पञ्च शब्द मिलि बाजे बाजें, धुनि सुनि श्रवन सिरात।  
भूषन वसन लुटावत बहु विधि, आनंद उर न समात॥  
जाचक जन सब किये अयाची, पुजई मन की आश।  
श्री व्याससुवन की चरन बलैया, लग्यौ 'किशोरीदास'॥

२८. किशोरीदास जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी प्रायः सभी तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें—१. अभिलाष माल,  
[ खण्डित रूप में, गो. ब्रजबल्लभलाल जी बँगला वालों के निजी संग्रह में सुरक्षित ],  
यह ग्रन्थ पद, छप्पय, कवित्त, दोहा और अरिल्ल आदि छन्दों में विरचित है। कुल ६२ छन्द  
हैं। कृति १६ वीं शताब्दी की ज्ञात होती है। कतिपय छन्दों से यह भी ज्ञात होता है कि  
ग्रन्थ प्रणेता किशोरीदास जी, वृन्दावन से बाहर के निवासी थे। रचना-उदाहरण—

राधाप्यारी और न माँगों भूल।

वास देहु वृन्दावन रानी श्री रविजा कौ कूल॥

रसिकन-मुख बानी रस सानी, सकल रसन कौ मूल।

‘दास किशोरी हित’ करुना करि, मेटौ हिय की सूल॥

२६. किशोरीलाल जी गो. [ प्रथम ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—आश्विन मास कृष्णा अष्टमी वि. सं. १७७७  
जनक—रूपलाल जी गो., जननी—गुलाबकुँवरि, सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री राधाकान्त जी,  
विशेष ज्ञातव्य—चाचा वृन्दावनदास जी ने इनके निकुंज गमन का वर्णन करते हुए लिखा  
है कि—“श्री विग्रह कर ही में रह्यौ जब कुंज भवन कीयौ गवन” इस पंक्ति के आधार  
पर गो. जी का निकुंजगमन चाचाजी के अन्तिम रचना काल [ वि. सं. १८४४ ] के पूर्व  
ही स्थिर होता है। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] उदाहरण—  
श्री राधाकान्त रस-फाग खेलत रंग महल में।

केशर रँग दृग प्रीति हियें अति वन्दन उर अनुराग सनि रहे प्रेम दहल में॥  
मृदु मुसिकाइ कहत हो-होरी मधुर अलापत राग छकि-छकि मदन गहल में।  
‘जै श्री किशोरीलाल हित’ रूप बढ़नि लखि सखी प्रसंशत भाग पगि रहीं लाड़ टहल में॥

३०. किशोरीलाल जी गो. अधिकारी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—भाद्रपद शु. अष्टमी वि. सं. १६०८, जनक—  
हरिलालजी गो. [ विलासदास जी गो. के वंशोद्भव, बालकपन में ही पिताश्री का निकुंज  
गमन, पालन-पोषण पितामह लाड़िलीलाल जी गो. और तत्पश्चात् पितामह के ही छोटे  
भ्राता चन्द्रलाल जी गो. द्वारा, वयस्क होने पर श्री राधाबल्लभलाल जी के मंदिर का  
सेवाधिकार सँभाला। ‘विज्ञ वृन्दावन’ नामक मासिक पत्रिका का संचालन,  
निकुंजगमन—वि. सं. १६६६, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

कब धौं हृदय-क्यारी में प्रेम-बीज अंकुरैगौ, कब धौं रस प्रेमिनि की संगति करावौगी।  
कब धौं वो रूप माधुरी कौ नैन निरखेंगे, कब धौं विवि प्रेम छबि छकनि छकावौगी॥  
कब धौं परिकर में ‘हित किशोरी’ जू कृपा करि, हा-हा अपनाय कब सहचरी बनावौगी।  
टेर सुनों प्यारी जू अवेर जिन कीजै अब, कुंजन की खवासी कब दासी पै करावौगी॥

३१. किशोरीसखी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—घनश्यामलाल जी गो., [ गो.  
मुकुन्दलाल जी के पुत्र ], विद्यमानकाल—वि. सं. १७८० से वि. सं. १८६० के मध्य



आनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण-स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

श्री मुकुन्दलाल जी के बाजें, आनक दुन्दुभि माई।  
 प्रगटे श्री हित घनश्याम जी, जननी कूख सिराई।।  
 चन्द्रमुखी चंचल वसन, लसनि अंग छबि छाई।  
 नाचत-गावत सोहिले, आनँद उर न समाई।।.....  
 श्री राधाबल्लभ दिन दूलह, दुलहिनि लाड़ लड़ाई।  
 'किशोरीसखी हित' हिलग सौं दै असीस मन भाई।।

३२. किशोरीशरण जी :

इनका नाम और रचनायें सर्वप्रथम हमें 'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों से ही ज्ञात होती हैं। विवरण निम्नांकित है—“नाम—किशोरीशरण, ग्रन्थ—१. अष्टयाम पद प्रबन्ध, २. अभिलाष माला ३. विशुद्ध रस दीपिका नाम्नी भागवत की टीका। विवरण—इनका प्रथम ग्रन्थ हमने दरबार छतरपुर में देखा है। कविता साधारण श्रेणी की है। कुल ५६ पद इस ग्रन्थ में हैं।”

३३. किशोरबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, [ गो. वनमालीदासात्मज गो. राधाबल्लभदासजी के वंशज ]  
 विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्धकाल, रचनायें—१. कवित्त-सवैया । रचना-उदाहरण—

वृन्दावन विचरौ अरु ब्रज रज लै शीश धरौ,  
 आनँद में मग्न है गोविन्द गुन गाउ रे।  
 भाव रे अनन्य गहि नाम राधा-राधा कहि,  
 कृष्ण-कृष्ण जपि सब तृष्णा बुझाउ रे।।  
 चेरौ है 'किशोरबल्लभ' सदा राधाबल्लभ कौ,  
 जानि जन आपुनों बसैहैं निजु गाँव रे।  
 एरे मन ! बाबरे तू गाव रे हरिवंश नाम,  
 सदा रसिक भक्तनि के शरण रहु राव रे।।

३४. किंकर शिवप्रसाद जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. हरिवंशाष्टक, रचना-उदाहरण—

.....पुरावंशी रूपस्तदनु हरि सौख्यात्सहचरी।  
ततोऽपि श्री राधा चरण-कमल प्रेम मधुनः।  
समास्वादे राधामृत निधि ग्रन्थम् करो।  
दयार्तुदीनानां स हित हरिवंशो विजयते॥८॥

॥ इति श्री हरिवंशाष्टक किंकर शिवप्रसाद रचितं संपूर्णम् ॥

### ३५. कीर्तिलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—चन्द्रलाल जी गो. [ रास वंशीय सेवाधिकारी ], जननी—श्यामकुँवरि, जन्मकाल—चैत्र शुक्ला षष्ठी, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. कुरुक्षेत्र लीलामृत, २. चतुष्पदी ३. प्रेम प्रश्नोत्तरी ४. पदावली [ स्फुट पद, पद संख्या २१० ] ५. मानसी सेवा प्रकरण, ६. वर्षोत्सव निर्णय, ७. विनयाष्टक, ८. विनय पच्चीसी ९. वृन्दावन विनोद सत, १०. हरिवंशाष्टक, ११. हिंडोरा षोडशी। विशेष ज्ञातव्य—उपर्युक्त सभी ग्रन्थ गो. मनोहरलाल जी के निजी संग्रह—अहमदाबाद में सुरक्षित हैं; हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों के रूप में।

### ३६. कुँवरिअली जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी का मध्यकाल, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—

प्रगटे हित जू हित निर्वाहक।

परम अनन्य रसिक चूड़ामणि, प्रिया प्रेम अवगाहक॥

व्याससुवन पद-कमल भजन बिनु, दिन बितये ते नाहक।

‘श्री कुँवरिअली’ इहि सम नहिं दूजौ, दीनजननि कौ गाहक॥

### ३७. कुञ्जलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—आषाढ़ बदी दसमी वि. सं. १६६६, जनक—रासदास जी गो., रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

भोर किशोर-किशोरी जू होरी, सेजहि बैठे अली छत खेलैं।

पगिया श्याम रच्यौ गुन कंचन, गोरी के भाल समेटि धमेलैं॥

चुपच्यौ वदन अलक जुग गण्डन, हरषी अतर लगाइ नवेलैं।

मन माने पहिराइ सहाने, पट-भूषन उर हार हमेलैं॥

तिय पिय कौ निजु वेष बनायौ, अंजन दै मुख मीढ़ि फुलेलैं।

त्यौंही पिय छल सौं मलि उरजनि, खुरजनि अनखि प्रिया कर पेलैं॥



उमगि-उमगि बातनि बहु घातनि, हँसत लसत रस सरसत केलैं।  
जै श्री कुंजलाल हित की सहचरिगन, रूप अनूप दृगनि भरि झेलैं॥

३८. कुञ्जदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. कवित्त-सवैया [ कतिपय ], रचना-उदाहरण —

हित ही कौ वृन्दावन हित ही विराजमान, हित ही की जमुना जू हित ही बहतु है।  
हित ही के गौर-श्याम हित ही की सहचरि सब, हित ही की भूमि जहाँ हित ही रहतु है।  
हित ही की लता-बेलि हित ही के फूल-फल, हित ही के मत्त अलि गुंजन करतु हैं।  
कहै 'हित कुञ्जदास' छाँड़िकैं जगत आश, हित ही के चरन की शरन रहतु हैं।

३९. कुञ्जदासी जी :

'मिश्र बन्धु विनोद' में इनका परिचय निम्नांकित शब्दों में दिया है—“नाम—कुंजदासी, ग्रन्थ—स्फुट पद, जन्मकाल—वि. सं. १६३०, विवरण—राधाबल्लभीय।”

४०. कुन्दनदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—श्री लाड़िलीदास जी [ श्रीहित रासमण्डल के महन्त ], निवास स्थली—श्री हित रासमण्डल, विद्यमानकाल—बीसवीं शती का उत्तरार्ध काल, रचनायें—१. पदावली २. ललित विलास ३. साँझी लीला। रचना-उदाहरण —

सावन तीज सुहावनि भामिनि, झूलत जन्म महोत्सव गायौ।  
घूमि घटा झुकि झूमि रहीं हित, नेह के मेहन भीजतु आयौ॥  
चमकि रहीं चहुँ ओर छटा हित, नाम अटान पै मोर सुनायौ।  
चातक सेवी जिते हित धर्म के, 'कुन्दन हित' रस लूटि लुटायौ॥

[—पदावली से]

४१. केलिदास जी :

गुरु—कुंजलाल जी गो., जीवन सम्बन्धी अन्य ऐहिक तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—चाचा वृन्दावनदास जी की वाणियों का लेखन करने वाले केलिदास जी से भिन्न, रचनायें—१. हित चौरासी-टीका, २. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय पंक्तियाँ—

नित्य व्याह श्री वृन्दावन नित दूलह-दुलहिनि जोरी जू।  
विविध विनोद वीधि विधि राखे, नवल किशोर किशोरी जू॥....

चरन-कमल परसत कोमल कर, चाटु वचन मुख बोलत।  
अलकलड़ी रति लाड़ लड़ावत, पुलक दशा तन लोलत॥  
यह रसरती समीति व्याह की 'केलिदास' मन भाई।  
व्याह विनोद संग संतत रहौ, सुखमय संध्या गाई॥

४२. केलिलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—दयालाल जी गो. [ रास वंशीय ] विद्यमानकाल—  
उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-  
उदाहरण—

अरी यह तौ होरी खेलन के मिस आयौ मेरें, गही री अचानक आन।  
भरि-भरि मुठी गुलाल उड़ायौ, मुख लपटायौ मेरे जान॥  
हौं तो कहत कछू नहिं याते, करति हौं जु गुरुजन की कान।  
त्यौं-त्यौं ढीठ लँगर यह मोहन, पिचकारी भरै तान॥  
भृकुटी धनुष चलत दृग दोऊ, मारत कटाक्षनि बान।  
'जै श्री केलिलाल हित' की यह छवि पर, वारों शशि अरु भान॥

४३. केवलराम जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—स्वामी रामदास जी [ गो.  
कुंजलाल जी के शिष्य ] विद्यमानकाल—वि. सं. १७३० से १८०० के मध्य आनुमानित,  
पदों में छाप—'केवलराम वृन्दावन जीवनि', रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं.  
में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

झूलत मोहन रसिक हिंडोरें।  
उर-बैजन्ती माल विराजत, मुकुट चमक चितवनि चित चोरें॥  
अलकें छूटि रही जैसी नागिनि, लहकि-लहकि लहकति दुहुँ ओरें।  
'केवलराम वृन्दावन जीवनि' हँसि चितवनि जिय बसि गई मोरें॥

४४. केशवदेव जी ब्रजवासी :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जाति—सनाढ्य ब्राह्मण, जनक—पण्डित चिरंजीलाल जी,  
गुरु—जुगलबल्लभ जी गो., निकुंजगमन—वि. सं. १६६७ भाद्रपद कृष्णा द्वादशी, रचनायें—  
१. वृन्दाविपिन विनोद। रचना-उदाहरण —

वृन्दावन के वृक्ष की समता दीजै काहि। हरि-राधा पोषत सदा नेह नीर सौं जाहि।  
वृन्दावन के वास ते कोटिक पाप नसाइ। जैसैं वरषा के भये सूख जवासौ जाइ॥



वृन्दावन के वास ते अनुभव लीला होइ। करैं कृपा श्रीलाड़िली पाथर पारस होइ।  
अरी सखी वृन्दाविपिन परम अलौकिक जान। महिमा जाकी कही है श्रीहरिवंश वखान।।  
[—वृन्दाविपिन विनोद से, छं. सं. ४, १६, २८, ५०]

४५. कृष्णदास जी गो. [कृष्णचन्द्र जी गो.]-[प्रथम] :

जन्मकाल—माघ सुदी नवमी वि. सं. १५८७, जन्मस्थान—देववन, जननी—  
रुक्मिणी जी, जनक व गुरु—गो. हित हरिवंश जी, सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री राधामोहनलाल  
जी, [ राधामोहन घेरा, वृन्दावन में विद्यमान], रचनायें—१. आशा स्तव, २. उपसुधानिधि,  
३. कर्णानन्द<sup>१</sup> [अर्थ कौमुदी टीका सहित], ४. चतुर्गीत, ५. पदावली [ १८ पद सिद्धान्त  
के व ४५ पद रस के ], ६-७. मानाष्टदी [ प्रथम और द्वितीय ], ८. राधानुनय विनोद  
महाकाव्य, ९. व्यासनन्दनाष्टक [ यही अष्टक श्रीहरिवंशाष्टक या हिताष्टक के नाम से  
भी विख्यात है। ] रचना—उदाहरण —

[१] क्रीड़त वर जोरि कुञ्ज वरषत आनन्द पुञ्ज,  
निरखत ललितादि नैन सरस केलि री।  
नव किशलय सेज रचित विविध रतन भवन खचित,  
सकल सौंज सुहृथ बनी समर झेलि री॥  
गौर-श्याम प्रचुर रंग बाढ़्यौ रस अति अभंग,  
पुलकि-पुलकि भुजनि भरत अंश मेलि री।  
जै श्री कृष्णदासि हित उपासि निरखत हौं मन्द हासि,  
कृपा करौ सुख निधान सरन मेलि री॥

[—पदावली से]

[२] बालालि लाली लीला लवालो लंबिव लोविलः।  
लोलालि बालो लंलो लोवे लावी बवले बलः॥

[—राधानुनय विनोद महाकाव्य, पंचम सर्ग से]

४६. कृष्णदास जी 'भावुक' [द्वितीय] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी  
का उत्तरार्ध, गुरु—विनोदबल्लभ जी गो., [ गो. वनमालीदासात्मज गो. राधा-बल्लभदास  
जी के वंशोद्भव ], विशेष ज्ञातव्य—बादग्राम में गो. हितहरिवंश जी के जन्मोत्सव का

१. 'कर्णानन्द' की वि. सं. १६५० में लिखी गई एक सर्वाधिक प्राचीन प्रति रस भारती संस्थान, वृन्दावन  
में सुरक्षित है।

बृहद् आयोजन इन्होंने ही प्रारम्भ किया। प्रेमदास जी द्वारा वि. सं. १७६२ में रचित 'हित चौरासी की टीका' में इनका सादर स्मरण किया गया है। ये अपने समय के कुशल संगीतज्ञ और प्रसिद्ध वाणीकार थे। बादग्राम में इनकी भजन कुटी आज भी विद्यमान है। निकुंजगमन—वि. सं. १८१७ के यवनोत्पात में, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. फाग खेल वरनन अष्टक, ३. वृन्दावनाष्टक, ४. विपिन बिहार बत्तीसी, ५. मानलीला, ६. समय प्रबन्ध [ अष्टयाम ], ७. हरिवंशाष्टक, रचना-उदाहरण—

मंजुल निकुंज फूल-फूलन रची री। लाल-पीत-सेत सुमन-सोसनी खची री॥  
 फूल जाल रन्धनि में चन्द्रमनी कौंधें। लजी कोटि दामिनी की आँखें चकचौंधें॥  
 दुखनन-तिखनन झमक झरोखनि झाँई। नाना विधि फूलनि की सौरभ महकाई॥  
 मोतिन वितान तने जोतिन जगमगी। चन्द्र की मयूखन पग-भूषन है लगी॥  
 फूलन सिंहासन पर बैठे पिय-प्यारी। वदन की जोति फूल फैली उजियारी॥  
 फूलन के दल-दल प्रतिविंव लसैं ऐसैं। मनु मुकर मन्दिर में चन्द्र बसैं जैसैं॥  
 फूलन सिंगार कियें फूल खेल खेलैं। अरुझत हैं फूल हार फूल की हमेलैं॥  
 फूली सखी गावें जस प्रेम फूल हीयें। 'कृष्णदासि हित' बजावै वीना कर लीयें॥

[—पदावली से ]

#### ४७. कृष्णदास जी [ तृतीय ] :

जन्मस्थान—बंगाल प्रान्त, [ अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, अन्य ऐतिहासिक तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें—१. नवरत्न [ द्वादश स्थाकों में ], विशेष ज्ञातव्य—'साहित्य रत्नावली', में इनकी रचना 'नवरत्न' का नाम कृष्णदास गो. की रचनाओं की नामानुक्रमणिका में दिया गया है किन्तु अन्तःसाक्ष्य से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आलोच्य कृष्णदास जी बंगाल प्रान्त के निवासी हैं तथा कृष्णदास गो. [ गो. हित हरिवंश तनय ] से पृथक हैं। रचना-उदाहरण —

श्री वैयासिक पाद-पदम युगलं यद्वांगुली पत्रकं।  
 प्रोन्मीलन्नख चन्द्रिकान्ति सुषमा सुस्निग्ध भावार्चितं॥  
 प्रेमा मोदि मुदा सुधा रस मधुस्वयंदि प्रणे पालिनो॥  
 भूयाद्वोलिक चित्र मेव रसिकाः स्फीतं तदीयं रजः॥

[—नवरत्न, नवम स्थाक, श्लो. सं. ७ ]

#### ४८. कृष्णदासी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी। गुरु—संभवतः गो. कुंजलाल जी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में



बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

मन्दिर सुन्दर वर भल राजें । श्री हित ललितादिक सखिन समारजें ॥  
व्यासनन्द पद-पंकज ध्याऊँ । मन-मन्दिर रचि पचि बनाऊँ ॥  
रचि-पचि बनाऊँ जारी झरोखा वारी किवारी सँवारी ।  
प्रेम सरवर आनन्द तरुवर प्रीति बेलि गुलक्यारी ॥  
तहाँ सेवति कुंजलाल बाल पद-पदम चढ़े प्रेम छाजें ।  
'कृष्णदासि हित' मन मन्दिर सुन्दर वर भल राजें ॥

४६. कृष्णप्रसाद जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

श्री भक्तलाल जू के बजति बधाई, फागुन चौथ कृष्ण पक्ष माई ।  
प्रगटे सुत श्री हीरालाल जू, हित कुल पद्धति ओप बढाई ॥  
गावति बधू सोहिले रचि-रचि, पंच शब्द मंगल धुनि छाई ।  
चौक साथिये बन्दनमाला, बन्दीजन कुल कीरति गाई ॥  
रसिक सभा सुख दैन महत गुन शरनागती भक्ति वर दाई ।  
श्री राधाबल्लभ भजन जजन रति 'कृष्णप्रसाद हित' बलि-बलि जाई ॥

५०. कृष्णअली जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय हैं । उन्नीसवीं शती में लिखित राधाबल्लभीय पद संग्रहों में इनके द्वारा विरचित कतिपय पदों का उल्लेख यह कहने के लिए विवश करता है कि ये विक्रम की उन्नीसवीं शती के अन्तर्मध्य में विद्यमान रही होंगी । रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

प्रफुलित लता लगत अति प्यारी ।  
झूमि-झूमि लहलहात तरुन में, पाय वारि मनु भई सुखारी ॥  
शोभा की निधि सीम न दीखत, हरित भूमि ऊपर तरु डारी ।  
तैसेई लेत हिलौरें जमुना, नम में छाई घटा अति कारी ॥  
अंश भुजा धरि तिन तर बिहरत, नैदनंदन-वृषभानुदुलारी ।  
'कृष्णअली' हित जू की कृपा सौं यह रस देखनि कौ अधिकारी ॥

५१. कृपालाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—गोपाललाल जी गो. [ गो. कमलनैन जी अधिकारी के भ्राता गो. कुञ्जलाल जी के पुत्र ] विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से

उन्नीसवीं के प्रथम चरण तक, रचनायें—१. राधासुधानिधि-टीका, विशेष ज्ञातव्य—इनके द्वारा विरचित 'राधासुधानिधि' की टीका वैकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है। टीका के प्रारंभिक श्लोकों से ज्ञात होता है कि यह टीका कोऽपि नरोत्तम की प्रेरणा से लिखी गई—“तत्कृपापांग लेशेन प्रेरितोहं नरोत्तमः। टिप्पणं चषकं कुर्वे श्रीमद्राधासुधानिधेः” [ श्लो. सं. ३ ] किन्तु टीका की परिसमाप्ति पर उल्लिखित “वियद्राम पुराणाब्दे भाद्रे शुक्ल हरेस्तिथौ। शनौ नरोत्तमे नेदं चषकं पूरितं त्वभूत।।” [ श्लो. सं. ५ ] इस श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि यह चषक नाम्नी टीका भाद्रपद शु. एकादशी वि. सं. १८३२ में शनिवार के दिन नरोत्तम के द्वारा पूरी हुई। इन उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि यह टीका नरोत्तम जी की प्रेरणा से गो. कृपालाल जी ने प्रारंभ की थी; किन्तु वे उसे पूर्ण करने के पूर्व ही निकुंजगामी हो गये। अतः टीका का शेष भाग गो. जी को टीका करने की प्रेरणा देने वाले रसिक नरोत्तम जी द्वारा ही वि. सं. १८३२ में पूर्ण किया गया। रचना-उदाहरण —

“इदानीं सीमाष्टकं रूपान्तरेण श्री राधा नामाश्रितं दर्शयति। प्रेमोल्लासेति।। सौख्य सीमा सा राधा जयति। सुखस्य भावः सौख्यं तस्य सीमा अवधिः तां प्राप्य अन्यत्र वृद्धेरभावत् केवलं सौख्यस्यैव सीमा न किं तु अन्यस्या पीत्याह। कथं भूता राधा। प्रेमोल्लासैक सीमा। प्रेम्णो। य उल्लासस्तस्य एका सीमा तां त्यक्त्वा प्रेमोल्लासोन्यत्र न गच्छति.....।” [ रा. सु. नि., श्लो.सं. १३० की टीका से ]

#### ५२. कृपाअली जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में लिखित राधाबल्लभीय पद संग्रहों में इनके कतिपय पदों का उल्लेख है। अतः इनका विद्यमान काल उन्नीसवीं शती का अन्तर्मध्य काल सुनिश्चित है। रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

निज छबि छटा में छके पिय-प्यारी।

जा छबि देखि अपनपौ भूलत रसिया चतुर बिहारी।

वे उन वे उनके मदमाते दोऊ चतुर खिलारी।

ललितादिक हित दुहुँन लड़ावत तन की दशा बिसारी।

‘कृपाअली’ हित परिकर की लखि मगन भई सुकुमारी।

#### ५३. कृपासिन्धुलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—रसिकानन्दलाल जी गो. विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—



खेलत हैं बसन्त रस छाके राधा जू-निर्तविहारी।  
 होहो-होहो थेई-थेई कहि-कहि निर्तत दै करतारी॥  
 बाजे बजत ताल-भेदनि मिलि, गावत सँग सहचारी।  
 'जै श्री कृपासिन्धु हित' लाल भुजनि भरि, मुख माँड़त हँसि प्यारी॥

५४. [ स्वामी ] कृपाराम जी :

पारीख गोत्रीय एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न, गुरु—स्वामी नन्दराम जी, निवास स्थली—गुरुवर्य द्वारा निर्मित 'नन्दराम जी का बगीचा'-वृन्दावन में, विद्यमानकाल—वि. सं. १७५० से १८३० के बीच अनुमानित, रचनायें—१. अष्टादश रहस्य । विशेष ज्ञातव्य—ये ग्रंथ गो. ब्रजभूषणलाल जी राजभोगिया [ श्रीराधाबल्लभ घेरा, वृन्दावन ] के निजी संग्रह में सुरक्षित है।

५५. खरगसेन जी :

जन्मस्थान—भानुगढ़, कायस्थ कुलोत्पन्न, माधौसिंह के प्रधान, प्रारंभ से ही रसिकजनों का संग, गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सोलहवीं सदी के अन्तिम चरण से सत्रहवीं सदी के पूर्वार्ध तक, रचनायें—१. दान केलि दीपक, २. पदावली [ दोनों रचनायें अप्राप्त ], नाभाजी कृत भक्तमाल से ज्ञात होता है कि इन्होंने विपुल वाणी का सृजन किया था। जिसमें से नाभाजी ने 'दानकेलि दीपक' नामक एक रचना का नामोल्लेख भी किया है —

गोविन्द चन्द गुन कथन कौं खरगसेन वानी विशद।.....

'दान केलि दीपक' प्रचुर अति बुद्धि उचारी'॥.....

हितध्रुवदास जी, गोविन्दअली जी तथा कृष्णगढ़ वाले नागरीदास जी ने भी इनकी 'वाणी' का सुस्पष्ट उल्लेख किया है;<sup>१</sup> किन्तु अभी तक हमें इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हो सकी है।

५६. खुश्यालदास जी :

जन्मस्थान—वृन्दावन के ही निकट किसी ग्राम में, गुरु—गो. गोविन्दनाथ [ गो.

१. म. मा., ना. दा., छं. सं. १६१

२. [क] खरगसेन के प्रेम की बात कही नहीं जात। लिखत ललित लीला करत गये प्रान तजि गात॥

— ब्य. ली., हि. ध्रु. दा., भक्तनामावली, छं. सं. ८३

[ख] श्री हरिवंश प्रसाद ते खरगसेन वानी विशद ।

— म. गा., गो. अ., छं. सं. २६

[ग] 'एक गृहस्थ कायथ महा वैष्णव खरगसेन नाम; सो विष्णुपद बहुत बनायौ करै।.....

— प. प्र. मा., ना. दा., कृष्णगढ़ाधीश

वनचन्द्र-सुता हितकिशोरी जी के वंशज ] विद्यमानकाल-वि. सं. १८०३ में विद्यमान रचनायें-१. उत्सव वर्ष दिन के २. प्रिया जू कौ नाम सत ३. समै विचार [ अष्टयाम ] ४. सार विचार ५. हित वंशावली । रचना-उदाहरण-

जै जै श्री हरिवंश दयाल ।

करुना-सिन्धु प्रेम रस-दाता प्रेम रूप अति परम कृपाल ॥

श्री वृन्दावन वास देत छबि नैन जुगल निज जन की चाल ।

निज रसिकनि कौ संग देत अरु निज वानी दै करैं प्रतिपाल ॥

सखी भाव निजु सहचरि कौ सँग टहल देत हिय करत विशाल ।

दम्पति मोद भरे हँसि विलसत सो रस दै जन करत निहाल ॥

वन विहरन अरु रास रैन सुख आलस भरे नैन कछु लाल ।

श्री हित गोविन्दनाथ प्रगट है कर सिर धरि जन कियौ 'खुश्याल' ॥

[—हितवंशावली से ]

५७. खुश्यालबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान-वृन्दावन, जनक-दयाबल्लभ जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज गो. राधाबल्लभदास जी के वंशज ], सेव्य स्वरूप-ठाकुर श्री नृत्यबिहारी जी, विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें-अप्राप्त, विशेष ज्ञातव्य-गोपाल कवि कृत 'वृन्दावन धामानुरागावली' से ज्ञात होता है कि इन्होंने कोई न कोई रचना अवश्य की थी किन्तु आज तक हमें प्राप्त नहीं हो सकी है -

पुनि खुश्यालबल्लभ गोस्वामी कौ मन्दिर इक सोहै ।

श्री हित कुल राधाबल्लभदासहि के वंशी जोहैं ॥

तिनके सेव्य सु नृत्यबिहारी ठाकुर तामैं राजैं ।

तिनके वंशहि के चरित्र अति अद्भुत कहि कवि लाजैं ॥

सब गुनग्य सब पंडित ज्ञाता सब भावना प्रवीना ।

श्रीजी की सेवा में तत्पर कविता करत नवीना ॥

[—वृ. धा., गो. क., पृ. सं. ५६-६० ]

५८. खुशवख्तराय जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु-नित्यबल्लभ जी गो., विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध, रचनायें-इनकी अभी तक कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नहीं हो सकी है; चाचा वृन्दावनदास जी की प्रशस्ति का एक छप्पय छन्द ही मिला है जो निम्नांकित है -



वानी रचना रुचिर चारु पद अक्षर रस भरि।  
 स्वाँस वृथा नहिं जात मनौं लागी सावन झरि।  
 ब्रज-वन कुंजनि केलि लाल-ललना दुलरावत।  
 रसिकजननि मन तोषि पोषि हिय सबनि सिरावत।  
 कहै कहाँ लौं दास मति सुलप राज गुन रवि उदित।  
 श्री रूपलाल रस मद छके वृन्दावन चाचा जग विदित॥

५६. खेमदास जी :

गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सत्रहवीं सदी का पूर्वार्ध, रचनायें—  
 १. पदावली, [ प्रा. ह. लि. प. सं. में यत्र तत्र बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण स्वरूप एक  
 पद की कतिपय पंक्तियाँ—

आजु हौं नन्दहि जाँचनि आयौ।  
 जनम सुफल करिवे कौं अपनौं रहसि बधायौ गायौ॥.....  
 इहि विधि विदा भयौ जब ढाँढ़ी कीरति जस सौं छायौ।  
 ब्रजवासीन विचारि 'खेम हित' लिखि पट्टौ पकरायौ॥

६०. गुलाबलाल जी गो. :

जन्म स्थान—वृन्दावन, जनक—गिरधरलाल जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज  
 ब्रजभूषण जी गो. के पौत्र ], प्रसिद्ध वाणीकार गो. जतनलाल जी इन्हीं के अग्रज थे।  
 गुरु—मोहनलाल जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. अनन्य सभा  
 मण्डन सार [ अनन्य रीति, गुरु प्रताप, माता-पिता सुख, श्री हित प्रताप, श्री गुरु प्रणाली,  
 सम्प्रदायार्थ, यमुना प्रताप, नाम प्रताप, प्रसाद प्रताप, वृन्दावन प्रताप, आचार्य अर्थ, अनन्य  
 सभा मिलन, दृढ़ निश्चय, लाड़िली वर्णन, श्याम वर्णन, न्यारी भावना ], २. अनन्य अष्टक  
 ३. अष्ट सिद्धि ४. आनन्द सेवक चितावनी ५. दोहावली ६. पदावली ७. पञ्चाध्यायी [ श्री  
 हित जू के पाँच चरित्र ] ८. फुटकर पद ९. भक्त दुख मोचन पच्चीसी १०. रेखता ११.  
 सनेह सिद्धान्त १२. साधु लक्षण [ सेवक सुख बाईसी ], १३. सिद्धान्त सुख बाईसी १४.  
 सिद्धान्त वेद चितावनी १५-१६. सुखद ब्रजदास कौं प्रेषित पत्री [ प्रथम और द्वितीय ]  
 १७. सुपन १८. हरिवंशाष्टक १९. हिरदै सिद्धान्त निधि। रचना-उदाहरण—

मिलिवौ अनन्य सभा कौ नीकौ।

अपनी पूँजी बढ़ै छिनहिं-छिन, नितबिहार पिय-प्यारी जी कौ॥

और के मिलें आप कौं खैचैं, आवत स्वाद लगै ये फीकौ।  
‘हित गुलाब’ निरखत वा छवि कौं, अपनी गति सोई है ठीकौ॥

[—पदावली से]

६१. गोविन्दलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—विलासदास जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनार्ये—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. भावना शत [ अष्टयाम ], रचना-उदाहरण—

लाल के आलस जुत सखि नैन।  
चितै-चितै मुसिकाय वदन-विधु, सूचत हैं सुख रैन॥  
लटपटे पेंचन बाँधे अलकन, भृकुटि चारु सुख दैन।  
नासा बिच मोती अति झलकत, अधर विम्ब चमकै नैन॥  
उर वनमाल लटकि लट दूटी, शिथिल वसन छबि मै न।  
बैठे हैं भुज मेलि परस्पर, बोलत मधुरे बै न॥  
रहीं निहारि रसिक सखि भीजी, कहा कहाँ हित सैन।  
‘जे श्री गोविन्द हित’ चितवति हैं प्यारी, पलक ओट तिरछै न॥

६२. गोविन्दअली जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—गो. कृष्णदेव जी के आत्मज गो. ब्रजलाल जी [ गो. कृष्णचन्द्र वंशीय ], निवासस्थली—गो. कृष्णचन्द्र जी के सेव्य श्री राधामोहन जी का मन्दिर, वृन्दावन, विद्यमानकाल—वि. सं. १७६० से १८६० के मध्य आनुमानित। रचनार्ये—१. अष्टक, २. अष्टयाम, ३. कुंडलियाँ, छप्पै व दोहा-स्फुट, ४. भक्त गाथा या रसिकभक्त गाथा [ रचनाकाल—वि. सं. १८४४ ], रचना-उदाहरण—  
श्रीहरिवंश सरोज पद ‘अलिगोविन्द’ आधार। पिवत सदा सौरभ सदा मत्तभयौ गुंजार॥  
मत्त भयौ गुंजार हार हित नाम गिरा जस। करत मिथुन गुन गान केलि क्रीड़ा सुख सर्वस॥

कंज कुसुम की कुंज में, बिहरत जुगलकिशोर हृद।

श्री व्यासनंद की कृपा ते, सहज पलोटीं कुँवरि पद॥

[—कुंडलियाँ से]

६३. गोपीनाथ जी गो. :

जन्मकाल—फाल्गुनी पूर्णिमा वि. सं. १५८८, जन्मस्थान—देववन, जननी—रुक्मिणी जी, जनक व गुरु—गो. हित हरिवंश जी, सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्रीरंगीलाल जी [ देववन



में ही विराजमान ], रचनायें—१. पदावली [ प्राचीन हस्तलिखित संग्रहों में यत्र तत्र बिखरी हैं। ] रचना-उदाहरण—

श्यामा जू ठाढ़ी हैं मज्जन कीयें, टारति मुख ते सगवगी आछी अलकैं।  
नीलाम्बर छवि फवि जु रही तामें, राजति अंगनि झलकैं॥  
ताहू में अति चपल नैन पिय के आनन, संभ्रम चैन न पावत पलकैं।  
जै श्री हित गोपीनाथ आइ तिहि औसर, निरखत छबि मन बाढ़ी रति ललकैं॥

६४. गोपीलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—दयासिन्धुलाल जी गो., विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—  
राधिकाबल्लभलाल हो-हो होरी खेलहीं। रंगनि पिचक भरि सनमुख मेलहीं॥  
धावत तकत घात अंकनि सकेलहीं। लाल मुख माँड़ि प्यारी हँसि भुज पेलहीं॥  
गावति सुघर सखी तानन नवेलहीं। 'श्री गोपीलाल हित' रूप छकि रस झेलहीं॥

६५. गोपालबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—कमलबल्लभ जी गो. [ गोस्वामीवनमालीदासात्मज गो. राधाबल्लभदास जी के वंशोद्भव ] वर्तमान में वृन्दावन में विद्यमान, रचनायें—१. भक्त शिरोमणी नरवाहन जी, रचना-उदाहरण—

बल तेज देखि नरवाहन का, लोग सभी भय खाते थे।  
क्षत्रिय तमाम थे वशवर्ती, राजाज्ञा पूर्ण कराते थे॥  
बस लूट मार करि द्रव्य प्रजा का, हरण आप करवाता था।  
जो वीर पथिक आ जाता था वह यमपुर भेजा जाता था॥  
हा ! बहुत दिनों से यों ही ब्रज में रीति अनीति कराता था।  
सब कर्म-धर्म का लोप कराकर, लूट धर्म सिखलाता था॥

६६. गोपाल पण्डित जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. हरिवंश स्तव षटपदी २. हरिवंश स्तव, [ दश श्लोकी ], रचना-उदाहरण—

हरिवंशपदाब्जस्य मधुनोन्मत्त षटपदीमदीय, मुख पदमेस्तु रमयाणा शुभप्रदा।  
एषा स्तुवनौकोक्ता 'गोपाल' नाम्ना द्विजराज सूनुना वर्षे षड्रस दिगो पठतां भक्तिमतां  
प्रेष्टदा॥ इति श्री मद्धित हरिवंश स्तव दशश्लोकी समाप्ता॥

६७. गोपालदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, का पूर्वार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

श्री द्विजराज के हो आनंद बढ़्यौ अपार।  
जुरि-जुरि आवहीं हो लै-लै भेंट सब नर-नारि।  
गली-गली माँझ आजै हो टूटत माल मोती हार।  
मंगल गावहीं हो हरषीं वधू बारंबार।

हरषे सब नर-नारी॥ वाह वाह॥ भीर भई अति भारी॥ वाह वाह ॥  
रँगभीनी गावत गारी॥ वाह वाह॥ कोऊ नाचत दै तारी॥ वाह वाह॥.....

रँग भूच्यौ भारियाँ हो तिहि पर वारियाँ सुरलोक।  
धनि-धनि आजु बासर हो गये विश्व के हू शोक।  
होहु चिरजीवनों हो श्री महारानी तेरौ लाल।  
यह आज विरधि मंगल हो विधि लिखि दियो तेरे भाल।

व्यास मिश्र चिरजीवौ॥ वाह वाह ॥ परिकर सब चिरजीवौ॥ वाह वाह॥  
मिश्र जू दान दिवाया ॥ वाह वाह ॥ मुक्ता झर वरषाया ॥ वाह वाह॥  
'हित गुपाल' गुन गावै॥ वाह वाह॥ ललन निरखि सुख पावै॥ वाह वाह॥

६८. गोपालप्रसाद जी शर्मा :

जन्मस्थान—रैसलपुर, होशंगाबाद, जन्मकाल—वि. सं. १९३०, जाति—ब्राह्मण, गुरु—किशोरीलालजी गो. [ अधिकारी—विलासवंश ], रचनायें—१. गीता भाष्य [ भक्ति बोधनी ], २. भ्रमोच्छेदन ३. बाल पंचरत्न ४. मेरे गुरुदेव ५. रसिक अनन्य वैष्णव वार्ता ६. रमणी पंचरत्न ७. स्फुटवाणी-टीका ८. सेवकवाणी-टीका ९. [ श्री ] हित चरित्र । रचना-उदाहरण—

“ श्री हित जी के वृन्दावन पधारते ही ऐसा बानिक बना था कि ब्रजवासियों के झुण्ड के झुण्ड आपके दर्शनों को आने लगे। क्योंकि प्रतिभावान पुरुषों में ऐसी कोई एक स्वाभाविक शक्ति होती है कि वे जीवों के चित्त को आकर्षण करके अपनी ओर खींच लेते हैं। तिस पर विशेषता यह और थी कि प्रतिभावान होने के अलावा श्री हित दयालु तो साक्षात् हित के अवतार ही थे। .....”

[—श्री हित चरित्र से, पृ. सं. ३८ ]



६६. गोस्वामीदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें—१. श्री हित स्तव [ हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित ]।

७०. गोवर्धनदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु दामोदरवर जी गो., [ वि. सं. १६३४ से १७१४ ], विद्यमानकाल—अठारहवीं शती का पूर्वार्ध, विशेष ज्ञातव्य—हितोत्सव, और राधा जन्मोत्सव आदि उत्सवों पर ये ढाँढी बनकर श्री राधाबल्लभ मन्दिर में नृत्य करते थे। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

श्री वृषभान के हो आँगन मंगल भीर। देश-देश के भिक्षुक आये पढ़त विरद आभीर॥  
जनम सुन्यौ श्री कुँवरि कौ भिक्षुक आये धाइ। देश-देश ते गुननि अपु लाये भेंट बनाइ॥

.....इक सूवा हाथ पढ़ावै । राधे जू कौ सुजश सुनावै॥

या ढाँढी निकट बुलावौ। शुक कंचन चौंच मढ़ावौ॥

चौंच लाल अरु रँग हस्थौ ग्रीवा तौ पचरंग। बोलत मुख राधामोहन अक्षर परत न भंग।  
बहु रीझे वृषभानजू हाटक खरौ मँगाइ। सुवा चौंच कीनी जटित बहु विधि गान कराइ॥

इक कोइल मधुर सिखाई। राधे कहि लेत बलाई॥

तब रीझि भानु जू ताकौं। पग-पैजनि दीनी ताकौं॥

जटित लाल हीरा नगनि सुन्दर धुनि कल गोल।

कोइल पग कौ पैजनी उदै अस्त कौ मोल॥

.....यह आनंद मंगल जितनौं। कापै कहि आवै तितनौ।

ब्रजजन दासनि कौ दासा। 'गोवर्धन' गाइ हुलासा॥

७१. गोवर्धननाथ जी :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—रामनाथ जी [ गो. वनचन्द्र जी की सुता श्री हित किशोरी जी के वंश में समुत्पन्न ] विशेष ज्ञातव्य—नामाजी की भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार श्री प्रियादास जी गौड़ीय ने इन्हीं का सहयोग प्राप्त करके 'भक्ति रस बोधनी' नामक टीका का सुलेखन किया था—यह तथ्य उन्हीं के द्वारा विरचित 'टीका' के अन्तिम छन्दों में उल्लिखित है। रचनायें—१. पदावली २. कवित्त-सवैया [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरे हैं ] ३. रस सार संग्रह [ ये इनका स्वतंत्र ग्रंथ न होकर विभिन्न कवियों द्वारा लिखे गये कवित्त-सवैया का संकलन है ] रचना-उदाहरण—

बड़ेई प्रवीन चित रस में कवित्त जिते, बीन-बीन लिये तामें बीनि पुनि लीये हैं।  
 सु कवि समुद्र जल कविता में बूड़त लै, रतन बनाव रचि आभरन कीये हैं॥  
 जोपै हौ रसिक तौपै रसिक सिंगार लखौ, सहज सिंगार होत जासौं जीय जीये हैं।  
 'गोवर्धननाथ' हाथ जोरि कहै छीवौ जिन, जोपै प्रेम-दुख-सुख हीये कौं न छीये हैं॥  
 [—रस सार संग्रह से]

### ७२. गोवर्धनेश जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी,  
 रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—

उसीर भवन छायाँ सुमन तामें बैठे राधा-रवन,  
 एरी अलि ! अंश भुजानि मेलि।  
 मृगमद घसि अंग लगाइ कर्पूर जल छिरकाय,  
 अलप बूँदें चुचाइ शीत लागै दोऊ री, करत सुखद केलि॥  
 गावत सारंग सरस कोकिला सुनि होत विवस,  
 चल होत अचल या रस पुलकित द्रुम-बेलि।  
 'गोवर्धनेश हित' विलास ग्रीष्म रितु सुख निवास,  
 ललितादिक निरखि नैन प्रवेश सु रस झेलि॥

### ७३. गोवर्धनलाल जी गो. अधिकारी :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—जुगललाल जी गो., जन्मकाल—वि. सं. १६१८ कार्तिक  
 कृष्णा द्वितीया, बाल्यकाल से ही इन्हें श्री राधाबल्लभलाल जी की श्रीअंग सेवा, पाक  
 सेवा, समाजगायन सेवा और उत्सव आदि करने का चाव था। अतः थोड़े ही दिनों में  
 रासवंश के सेवाधिकारी प्रेमलाल जी गो. के पश्चात् श्री राधाबल्लभ मंदिर के रासवंशीय  
 सेवाधिकारी का पद ग्रहण कर लिया, निकुंजगमन—वि. सं. १६७४ से पूर्व [ इन्हीं के  
 कृपापात्र प्रीतमदास जी ने वि. सं. १६७४ में विरचित 'हित चन्द्र प्रकाश' नामक वाणी  
 ग्रन्थ में इनके निकुंजगमन का वर्णन किया है। ] रचनायें—१. पदावली [ रस के पद,  
 स्फुट पद, रितु उत्सव के पद व वर्षोत्सव के पद ], रचना-उदाहरण —

आगम देखि वन रितुराज।  
 विविध शोभा भयौ कानन, 'फूल पल्लव साज।।  
 मत्त अलि कल गुंजहीं तहँ, नदित कोकिल कीर।  
 जरी जरद वितान शोभित, हंस तनया तीर॥



कनक सिंहासन जटित नग, रहे जगमग हीर।  
तहँ विराजे मुदित दम्पति, सखिनु-चहुँदिसि भीर।।  
प्रथम फाग बसन्त पंचमि, खेल उड़त अबीर।  
'जै श्री हित गोवर्धन' जहाँ गावत, प्रेम पुलक शरीर।।

७४. गोवर्धनलाल जी गो. 'प्रेम कवि' [ बँगला वाले ] :

जन्मकाल—वि. सं. १६३३ कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा, जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—  
कीर्तिलाल जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज गो. ब्रजभूषण जी के वंशोद्भव ], निकुंज  
गमन—वि. सं. २००० श्रावण पूर्णिमा, रचनायें—१. दृढ़ रसिक अनन्य वैष्णव धर्म २. प्रेम  
प्रकाश ३. प्रेम जगदीश ४. प्रेम शतक ५. महाप्रसाद सहिमा ६. रागमाला ७. विलासिनी  
कर्मठी चरित्र ८. शठ शतक, आदि। रचना-उदाहरण—

व्रत-तीरथ-तप-यज्ञ-दान-दम-दया धर्म श्रुति जेते।  
हरि प्रसाद समता नहिँ पावैं वृथा कर्म दुख देते।।  
इनके बल निर्बुद्धि न मानै श्री प्रसाद कौं जोई।  
छुआछूत, अपरसी भूत मरि हरि प्रसाद अरि सोई।।  
हम प्रसाद सम मिथ्या यह भुवि अहंकार नहिँ मोरे।  
अलंकार मणि वस्त्र विभूषित वृथा अंग ध्वज कोरे।।  
बोले शिव सुनि शिवा महातम श्री प्रसाद कौ देखौ।  
एकादशी यौं कहि विरमत भई अंतरहित हरि लेखौ।।

[—प्रेम जगदीश से]

७५-७६ गंगा बाई और जमुना बाई :

जन्मस्थान—कामा नामक ग्राम, मनोहर नामक वैष्णव द्वारा मथुरा में पालन पोषण  
व गान कला की शिक्षा, यौवनावस्था में ही श्री हिताचार्य के शिष्य परमानन्ददास जी  
के सत्संग से जगत से वैराग्य और आचार्य चरण गो. हित हरिवंश जी से दीक्षा ग्रहण,  
विद्यमान काल—सोलहवीं सती के अन्तिम चरण से सत्रहवीं सती के पूर्वार्ध तक। हित  
ध्रुवदास जी द्वारा विरचित 'भक्तनामावली' से ज्ञात होता है कि इन दोनों ने 'वाणी'  
रचना की थी; किन्तु हमें अभी तक इनकी 'वाणी' का कोई भी पद प्राप्त नहीं हो सका है—

गंगा-जमुना तियनि में परम भागवत जानि।  
तिनकी वाणी सुनत ही बड़ै भक्ति उर आनि॥

७७. गंगादास जी 'हितप्रसाद' [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—गोविन्दलाल जी गो. [ गो. हीरालाल जी के पुत्र ] विशेष ज्ञातव्य—रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित 'बयालीस लीला' की एक प्राचीन ह. लि. प्रति से ज्ञात होता है कि इनका पूर्व नाम गंगादास था। श्री हित शरणागत होने पर इनका नाम 'हितप्रसाद' हुआ। वि. सं. १८१५ में ये वृन्दावन में विद्यमान थे। हितबल्लभ जी नामक रसिक ने इनके पाठ हेतु बयालीस लीला की यह प्रति लिखी थी। [ अन्तिम पुष्पिका देखें—प्र. पृ. सं. २५ ] रचनायें—१. पदावली, [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

श्री हित हीरालाल सदन आजु, बजति बधाई भाँति भली है।  
श्री गोविन्दलाल सुत जनमे, अगहन दसमी तिथि पिछली है॥  
बनिता चारु बधाये गावति, घर-घर बाढ़ी रंग रली है।  
चौक साथिये बन्दनमाला, गहमह है रही विपिन गली है॥  
पंच शब्द धुनि गान कुलाहल, बन्दी पढ़त वंश अवली है।  
दान-मान सबकों दियौ सादर, तात-मात मन आश फली है॥  
श्री रतनकुँवरि जननी बड़भागिनि, इष्ट लड़ावनि सुमति ढली है।  
उत्सव साजि सन्तजन पोषति, बिनुमित प्रीति हियें उझली है॥  
श्रीराधाबल्लभ निज परिकर की प्रगटी वपु धरि अलि महली है।  
'हितप्रसाद' कर धरि अपनायौ वास दियौ वन रास थली है॥

७८. गंगादास जी छाप—हितप्रसाद [ द्वितीय ] :

जन्मकाल—वि. सं. १६१० के लगभग, अल्पायु में ही हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और बँगला भाषा की शिक्षा ग्रहण की, गुरु—कन्हैयालाल जी गो., निवासस्थली—गो. हित हरिवंश जी की जन्मस्थली बादग्राम में, इन्होंने बादग्राम में 'हितगढ़' नामक व्यासनन्दन भवन का निर्माण प्रारंभ किया और वहाँ पर ये लाङ्गिलीदास जी के सहयोग से प्रतिवर्ष श्री हित जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से किया करते थे। विशेष ज्ञातव्य—नाम गंगादास तथा पदों में प्रयुक्त छाप— 'हितप्रसाद' [ उन्नीसवीं शताब्दी में हुये हितप्रसाद जी से पृथक ] निकुंजगमन—पौष पूर्णिमा वि. सं. १६६७। रचनायें— १. पदावली, रचना- उदाहरण—

मुझे अफसोस प्यारे हित ! अलग मैं क्यों पड़ा तुझसे।  
जुदाई के तसव्वर में सबौ दिन दुख लगा मुझसे॥  
विषय से तर्क नहीं जर्ग फरेवी एक दुनिया में।  
मगर तस्वीर तेरी का दिलो जाँ से गुमनियाँ में॥



दरी खानें लियें माला कदम वो सी हुसूले को।  
 रहम दिल सख्त क्यों कर हो प्रिया पद तू रसूले को॥  
 तमन्ना है किसी से की अहद मानिंद तिफले के।  
 मुस्तकिल हूँ खता सा करो फलाना बूद विफले के॥  
 मुंतकिव एव दुनिया से कुनंदा गर्क एकी में।  
 है ख्वाहिस पाद श्रीहित की हँसो रसिको ये नेकी में॥  
 सुनी दमकौल सेवक ईव दौरा की महरवानी।  
 इश्क इक बाल ने बखशा हिज्ज व्याकुल मेरी जानी॥  
 बुजुर्गी तुझ पै रोशन है विकल आजिज विचारा है।  
 अरज 'परसाद हित' करता गरज दुख से पुकारा है॥

७६. घनश्यामदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], विशेष ज्ञातव्य—ये घनश्यामदास जी स्वामी हरिदास जी की शिष्य परम्परा के नरहरिदास के शिष्य घनश्यामदास जी [ नरहरिया घनश्याम ] से पृथक हैं, रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

ललित निकुंज बिहारी खेलत कुंज में। पिय कियें सखी कौ रूप सखिन के पुंज में॥  
 सीस सुगंध छबीले छूटे वार हैं। मनु चन्दन खम्भ सौं खेलें भुजंग कुमार हैं॥...  
 कुंजन में गुहि फूल निकुंज बनावई। ललना तोकों नित ही नित लाड़ लड़ावई॥  
 बात सुनै रोमांच किशोरी के भयौ। वृषभानुलली ललिताहि हार हिय कौ दयौ॥  
 फूलि उठी छबि पुंज छबीली भामिनी। सखि अंश भुजा गति हंस चली गज गामिनी॥  
 को वरनै रोमांच सखी जुग चन्द कौ। ऊगि उठ्यौ अंकुर मानों आनंद कौ॥...  
 हौं बलिहारी जाउँ बिहारिनि नाम के। नित्यबिहार कौ हार कण्ठ 'घनश्याम' के॥

८०. [स्वामी] चतुर्भुजदास जी :

जन्मस्थान—गढ़ा ग्राम, द्विज कुलोद्भव, गुरु—वनमालीदास जी गो., श्री हिताचार्य के शिष्य सेवक जी के मित्र, सेव्य स्वरूप—ठा. श्री मुरलीधर जी [ गढ़ा में विराजमान ] रचनाओं में अपने इष्ट 'मुरलीधर' के नाम की भी छाप है। विद्यमानकाल—सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक, रचनायें—१. पदावली, २. द्वादश यश [ १. शिक्षा सकल समाज जस, २. धर्म विचार जस, ३. भक्ति प्रताप जस,

१. 'द्वादश यश' की वि. सं. १७२८ में लिखी एक सर्वाधिक प्राचीन प्रति रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है।

४. संत प्रताप जस, ५. शिक्षा सार जस, ६. हितोपदेश जस, ७. पतित पावन जस, ८. मोहिनी जस, ९. अनन्य भजन जस, १०. राधा प्रताप जस, ११. मंगल सार जस, १२. विमुख भंजन जस ] ३. यमुनाष्टक । विशेष ज्ञातव्य—ये स्वामी चतुर्भुजदास जी पुष्टिमार्गीय चतुर्भुजदास जी [ अष्टछापी ] से पृथक हैं । रचना-उदाहरण —

ललित लवंग लता मन्दिर में, ललित लाल मिलि ललित नवाजी ।  
ललना लालन सहित अति प्रमुदित, ललिता ललित वीन वर साजी ।।  
ललित वदन में उठत ललित गति, आलापति दसनावलि राजी ।  
ललित चन्द में मनु चपला छवि, चंचलता तजि एकत ब्राजी ।।  
तैसेई ललित कलित अलि कुल मिलि, ललित भँति सब विपिन विराजी ।  
'चतुर्भुज मुरलीधरन' ललित अति, देखत रतिपति गति सब लाजी ।।

[—पदावली से ]

#### ८१. चतुरअली जी :

ऐहिक-जीवन संबंधी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—गो. घनश्यामलाल जी [ गो. मुकुन्दलाल जी के पुत्र ] विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शती के मध्यकाल तक आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य—इन्होंने चाचा वृन्दावनदास जी की भाँति अपने अनेकों पदों में पदान्त की तुक में अपने नाम छाप, के साथ अपने गुरु [ घनश्यामलाल ] का नाम भी लिखा है । रचनायें १. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. वंशी प्रसंशा ३. विलास माधुरी ४. समय प्रबन्ध [ अष्टयाम ] रचना-उदाहरण—

लटकि-लटकि पग धरत लाड़िले लताभवन में रति रस ररैं ।  
सुख वरषत हरषत मन करषत अंशनि पर विवि बाहु धरैं ।।  
मन्द-मन्द आवत कल गावत नैनन-भृकुटिनु भाव भरैं ।  
'चतुरअली हित' या छबि ऊपर तन-मन-धन बलिहार करैं ।।

[—समय प्रबन्ध से ]

#### ८२. चन्द्रसखी जी [ प्रथम ] :

गुरु—उदयलाल जी गो. [ गो. वनचन्द्र जी के प्रपौत्र गो. किशोरलाल जी के पुत्र ], विशेष ज्ञातव्य—ये चन्द्रसखी जी स्वामी बालकृष्णदास जी के शिष्य 'चन्द्रसखी जी से पृथक हैं । विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—



खेलत बसन्त हरिवंशचन्द। प्यारी-पिय निरखत आनन्द॥  
 प्रफुलित प्यारी-लाल कुञ्ज। अति सुगन्ध सौरभ के पुंज॥  
 नैन भृंग गुञ्जत सुवास। रूप माधुरी मधुर हास॥  
 अँग-अँग भूषन बजत वीन। गावति छबि सहचरि प्रेम लीन॥  
 निशि-दिन रूप सुधा कौ पान। छिन न तृपित मानत सुजान॥  
 मुसिकनि बूका छुटत अंग। लोचन कटाक्ष पिचकारी रंग॥  
 श्री प्रिया-लाल कौ प्रेम रूप। कीयौ प्रकाश तजि जगत भूप॥  
 जै श्री उदयलाल हित हैं कृपाल। 'हित चन्द्रसखी' निरखति निहाल॥

८३. [ महंत ] चन्द्रसखी जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—हरिलाल जी गो., [ गो. कुञ्जलालजी के सुवन ], विरक्त वेष दाता गुरु—स्वामी बालकृष्णदास जी, निवास-स्थली—वृन्दावनस्थ धीरसमीर [ श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत इस स्थल पर आज भी इनकी बृहद् कुंज 'चन्द्रसखी जी कुंज' के नाम से विख्यात है । ] विद्यमानकाल—अठारहवीं शती का उत्तरार्ध, विशेष ज्ञातव्य — इन्होंने अपने अधिकांश पदों में अपने नाम के साथ अपने गुरुवर्य बालकृष्णदास जी की छाप भी संप्रयुक्त की है—“चन्द्रसखी हित बालकृष्ण छबि ....।” रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. ज्ञान चौवनी। रचना-उदाहरण—

ये दोऊ रंग भरे रस साने।  
 आनँदकंद रूप-निधि सजनी, नीके आजु दरसाने॥  
 अँग-अँग छबि की उठत तरंगें, अरुन नैन अरसाने।  
 पौछे कज्जल-पीक कपोलन अंचल लै ललिता ने॥  
 रोचक पवन निकट जमुना, वृन्दावन कुंज ठिकानें।  
 सुख समूह दम्पति सम्पति की महिमा कौन वखानें॥  
 अनुकम्पा जु पार को पावै इनकी येई जानें।  
 'चन्द्रसखी हित बालकृष्ण' गुन गावत वेद-पुरानें॥

८४. चन्द्रलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—गोवर्धननाथ जी, [ गो. वनमालीदासजी की सुता श्री हित किशोरी जी के वंशज ], निवासस्थली—कोइलिया घाट, विद्यमानकाल—अठारहवीं शती के उत्तरार्ध से वि. सं. १८५७ के लगभग तक, रचनायें—१. अभिलाष बत्तीसी,

२. उपसुधानिधि [ गो. कृष्णचन्द्रजी कृत ] की टीका, ३. कवित्त-सवैया ४. कर्णानन्द [ गो. कृष्णचन्द्र जी कृत ] की टीका, ५. किशोरीअली जी [ वंशीअली जी के शिष्य ] को प्रेषित कतिपय पत्र, ६. निकुंज विलास [ दम्पतिअली जी कृत 'निकुंज विलास' ग्रन्थ से पृथक ], ७. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], ८. भावना पच्चीसी ९. भागवत सार पच्चीसी १०. मन्दिर विलास ११. यमुनाष्टक [ श्री हित जू कृत ] की टीका १२. वृन्दावन प्रकाश माला १३ से १७. वृन्दावन महिमामृत [ प्रबोधानन्द जी कृत ] की टीका [ प्रथम से पंचम शतक ], १८. ब्रजलीला-अरिल्ल, १९. समय प्रबन्ध या अष्टयाम [ संकलन ], २०. समय पच्चीसी २१. हिताष्टक २२. हित-चौरासी सूचनिका २३. हित चौरासी की टीका २४. हित शरणागत फलस्तुति २५. हित जू के कृपापात्र [ रसिक नामावली ]। रचना-उदाहरण—

माई बाजत बधाई व्यास-सदन।

श्री हरिवंशचन्द्र वर प्रगटे चलि सखि निरखैं ललित वदन॥

जिनकौ नाम लेत ही सजनी दुरित वृन्द कौ होत दवन।

'जै श्री चन्द्रलाल हित' छवि पर वारैं कोटि-कोटि रति-मदन॥

[—पदावली से ]

८५. चतुरशिरोमणिलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—कीर्तिलाल जी गो., श्री राधाबल्लभलाल जी के मन्दिर के सेवाधिकारी, इन्हीं के सेवाकाल में श्री राधाबल्लभलाल जी कामवन से वृन्दावन आये, विद्यमानकाल—विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी, निवास स्थली—वृन्दावन, राधाकुण्ड और कामवन, पदों में प्रयुक्त छाप—'हितचातुर', 'चतुर', 'चातुर', 'चातुरताई', 'कीरति कौ सुत' रचनायें—१. अलंकार वर्णन ग्रन्थ २. कवित्त-सवैया ३. नाम मौक्तिकाष्टक ४. प्रार्थनाष्टक या हिताष्टक ५. फुटकर वाणी [ पदावली ], ६. भावना सागर ७. राधिकाष्टक ८. विनय पच्चीसी [ प्रथम ] ९. विनय पच्चीसी [ द्वितीय ], १०. सुरत रसाष्टक ११. हरिवंशाष्टक १२. हित वंशी स्तोत्र, आदि। रचना-उदाहरण—

भौरन गुञ्ज सु लुञ्ज करै मन, कानन चित्र विचित्र रचावैं।

मान कौ मान न देत कछू, तिय लाल के हीय में हाल रचावैं॥

अद्भुत रंग अहो 'हित चातुर', दम्पति के जु उमंग खचावैं।

चाह-उछाह समेत अनंग, बसन्त अनन्तहि केलि मचावैं॥

[—पदावली से ]

८६. चतुरसिंह जी गौड़ छाप—'ललितशरण' :

जन्मस्थान—महकमा खास, जयपुर स्टेट, जाति—गौड़ ब्राह्मण, नाम—चतुरसिंह



पदों में प्रयुक्त छाप 'हित ललितशरण', गुरु-वनमालीलाल जी गो. [ छोटी सरकार वाले ], वर्तमान में वृन्दावन में विद्यमान, रचनायें-१. हितायन [ हित हरिवंश चरित-रचनाकाल-वि. सं. १६८६ ], रचना-उदाहरण-

श्री हरिवंश तिहारी छबी लखि चारहु वेद थकाय गये हैं।  
जो ऋगवेद सु ज्ञान दिये सब, प्रेम के पन्थ समाय रहे हैं॥  
अर्चन वन्दन सेवन कौं लखि अथर्व-यजूर नसाय गये हैं।  
साम के गुन्न 'ललित शरन्न' जु रास-विलास विलाय रहे हैं॥

८७. चेतनदास जी छाप-'चितवनिअलि' :

गुरु-जादौ रसिक जी, विद्यमानकाल-वि. सं. १७७० से १८४५ के मध्य आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य-इनके पदों की छाप 'हित चितवनि' 'हित चितवनि अलि' और 'चेतनअली' है। रचनायें-१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ]  
२. वृन्दावनाष्टक, रचना-उदाहरण-

बाँह गही री प्रेम रस बोरी।  
इनकौ प्रेमहु अकथ कहानी, हौं हूँ है रही नेह निहोरी॥  
इक कर सिर वर धस्यौ एक कर, तिरज ग्रीव करि चिवुक टटोरी।  
हौं सकुचाइ लजाइ रही री, इन मुसिकाइ लाज सब तोरी॥  
स्वेद-कम्प-वेपथ अँग व्याप्यौ, ठगी गई दृग लगी ठगोरी।  
हौं तौ रस बस होइ रही री, रसिया संग लगी रँग ढोरी॥  
जोवन मद रस रूप रंग मद, सौरभ सार नेह मद घोरी।  
'चितवनि हित' एते मद छाकी, भूलनि भूलि है रही भोरी॥

[—पदावली से ]

८८. छबीलेबल्लभ जी गो. :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, १. बलभद्र जन्मोत्सव [ हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित। ]

८९. जदुबल्लभ जी गो. :

गो. वनचन्द्रात्मज, गो. राधाबल्लभदास जी के वंश में उत्पन्न, विद्यमानकाल-अठारहवीं शताब्दी, रचनायें-१. पदावली, २. वृन्दावनाष्टक। प्रियादास जी कृत 'सेवक चरित्र' [ रचनाकाल वि. सं. १८४२ ] में इनके द्वारा प्रणीत जो एक पद संकलित है वह निम्नांकित है —

व्यास सुन्यौ हरिदास सुन्यौ, नरवाहन-बीठलदास सुन्यौ।  
नागरीदास से दास किते, 'जदुबल्लभ' एक सौं एक भन्यौ॥  
स्वामी चतुर्भुजदास सुन्यौ, पै सेवक ने गुन नीके गुन्यौ।  
श्री हरिवंश के नाम प्रताप सौं कुंजनि कौ सुख खेत लुन्यौ॥

६०. जयकृष्ण जी [ प्रथम ] :

जन्मस्थान—सेई बच्छवन, तुलाधार कुल में उत्पन्न, गुरु—कमलनैन जी गो., विद्यमानकाल  
अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-  
उदाहरण —

दूलह लाल दुलहिनी राधा।  
और नाम कवि वृथा ही धरत हैं, कहँ यह छबि कहँ प्रीति अगाधा॥  
रूप रासि रस रासि रसिक दोऊ निरखत नैन पूजत सब साधा।  
दै बीरी 'जैकृष्ण सखी हित' निकट न बिछुरत हैं पल आधा॥

६१. जयकृष्णदास जी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—मथुरा, तुलाधार कुलोत्पन्न, गुरु—कुंजलाल जी गो., ये जयकृष्णदास  
जी गो. हित हरिवंश जी का जन्मोत्सव बड़े उत्साह के साथ बादग्राम में प्रतिवर्ष किया  
करते थे। विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. हितकुल शाखा, २. पदावली  
[ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय  
पंक्तियाँ —

माधव मास उजारी ग्यासि।  
श्री व्यासकुँवर की बरसगाँठ है, मंगल सुख की रासि॥...  
सहज विपिन संपति दृग दरसैं, सरसैं संग सजाती।  
प्रबल चौप दंपति रस विलसैं, सब विधि शीतल छाती॥  
श्री कुंजलाल गुरुराज कृपा-बल, केलि कला गुन गाऊँ।  
चरन शरन 'जयकृष्णदास हित', जनम बधाई पाऊँ॥

[—पदावली से]

६२. जतनलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—गिरधरलाल जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज गो.  
ब्रजभूषण वंशोद्भव ] विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. अनन्य सार या  
रसिक अनन्य सार, २. समय प्रबन्ध, ३. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ]



पदों में प्रयुक्त छाप 'हित ललितशरण', गुरु-वनमालीलाल जी गो. [ छोटी सरकार वाले ], वर्तमान में वृन्दावन में विद्यमान, रचनायें—१. हितायन [ हित हरिवंश चरित-रचनाकाल—वि. सं. १६८६ ], रचना-उदाहरण—

श्री हरिवंश तिहारी छबी लखि चारहु वेद थकाय गये हैं।  
जो ऋगवेद सु ज्ञान दिये सब, प्रेम के पन्थ समाय रहे हैं॥  
अर्चन वन्दन सेवन कौं लखि अथर्व-यजूर नसाय गये हैं।  
साम के गुन्न 'ललित शरन्न' जु रास-विलास विलाय रहे हैं॥

८७. चेतनदास जी छाप—'चितवनिअलि' :

गुरु—जादौ रसिक जी, विद्यमानकाल—वि. सं. १७७० से १८४५ के मध्य अनुमानित, विशेष ज्ञातव्य—इनके पदों की छाप 'हित चितवनि' 'हित चितवनि अलि' और 'चेतनअली' है। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ]  
२. वृन्दावनाष्टक, रचना-उदाहरण—

बाँह गही री प्रेम रस बोरी।  
इनकौ प्रेमहु अकथ कहानी, हों हू है रही नेह निहोरी॥  
इक कर सिर वर धर्यौ एक कर, तिरज ग्रीव करि चिवुक टटोरी।  
हों सकुचाइ लजाइ रही री, इन मुसिकाइ लाज सब तोरी॥  
स्वेद-कम्प-वेपथु अँग व्याप्यौ, ठगी गई दृग लगी ठगोरी।  
हों तौ रस बस होइ रही री, रसिया संग लगी रँग ढोरी॥  
जोवन मद रस रूप रंग मद, सौरभ सार नेह मद घोरी।  
'चितवनि हित' एते मद छाकी, भूलनि भूलि है रही भोरी॥

[—पदावली से ]

८८. छबीलेबल्लभ जी गो. :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, १. बलभद्र जन्मोत्सव [ हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित। ]

८९. जदुबल्लभ जी गो. :

गो. वनचन्द्रात्मज, गो. राधाबल्लभदास जी के वंश में उत्पन्न, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली, २. वृन्दावनाष्टक। प्रियादास जी कृत 'सेवक चरित्र' [ रचनाकाल वि. सं. १८४२ ] में इनके द्वारा प्रणीत जो एक पद संकलित है वह निम्नांकित है —

व्यास सुन्यौ हरिदास सुन्यौ, नरवाहन-बीठलदास सुन्यौ।  
नागरीदास से दास किते, 'जदुबल्लभ' एक सौं एक भन्यौ॥  
स्वामी चतुर्भुजदास सुन्यौ, पै सेवक ने गुन नीके गुन्यौ।  
श्री हरिवंश के नाम प्रताप सौं कुंजनि कौ सुख खेत लुन्यौ॥

६०. जयकृष्ण जी [ प्रथम ] :

जन्मस्थान—सेई बच्छवन, तुलाधार कुल में उत्पन्न, गुरु—कमलनैन जी गो., विद्यमानकाल  
अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-  
उदाहरण —

दूलह लाल दुलहिनी राधा।  
और नाम कवि वृथा ही धरत हैं, कहँ यह छबि कहँ प्रीति अगाधा॥  
रूप रासि रस रासि रसिक दोऊ निरखत नैन पूजत सब साधा।  
दै बीरी 'जैकृष्ण सखी हित' निकट न बिछुरत हैं पल आधा॥

६१. जयकृष्णदास जी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—मथुरा, तुलाधार कुलोत्पन्न, गुरु—कुंजलाल जी गो., ये जयकृष्णदास  
जी गो. हित हरिवंश जी का जन्मोत्सव बड़े उत्साह के साथ बादग्राम में प्रतिवर्ष किया  
करते थे। विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. हितकुल शाखा, २. पदावली  
[ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय  
पंक्तियाँ —

माधव मास उजारी ग्यासि।  
श्री व्यासकुँवर की बरसगाँठ है, मंगल सुख की रासि॥...  
सहज विपिन संपति दृग दरसैं, सरसैं संग सजाती।  
प्रबल चौप दंपति रस विलसैं, सब विधि शीतल छाती॥  
श्री कुंजलाल गुरुराज कृपा-बल, केलि कला गुन गाऊँ।  
चरन शरन 'जयकृष्णदास हित', जनम बधाई पाऊँ॥

[—पदावली से ]

६२. जतनलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—गिरधरलाल जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज गो.  
ब्रजभूषण वंशोद्भव ] विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. अनन्य सार या  
रसिक अनन्य सार, २. समय प्रबन्ध, ३. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ]



विशेष ज्ञातव्य—किसी-किसी प्रति में 'हित हरिवंश जू के बाल चरित' और 'वृन्दावन वर्णन' नामक रचनायें इनके नाम से पृथक् रूप से उल्लिखित मिलती हैं। वस्तुतः ये इनकी कोई स्वतन्त्र रचनायें न होकर 'रसिक अनन्य सार' ग्रन्थ के ही एक अंश विशेष हैं।  
रचना-उदाहरण—

होरी आजु की बनी।

खेलत नवल लाड़िली पिय सौं, ललितादिक सखि सुख सनी॥

बाजत ताल-मृदंग झाँझ-डफ, देखौ क्यों न सजनी।

'जय श्री जतनलाल हित' रीझि परस्पर, छवि निरखत अपनी॥

[—पदावली से]

६३. जयबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—श्री बल्लभ जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज गो. राधाबल्लभदास जी के वंशोद्भव ] विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. हित हरिवंशाष्टक [ हित अष्टपदी ]।  
रचना-उदाहरण—

रँग भीनी जोरी होरी खेलें हो।

कबहुँक लटकत दोऊ नीके, अंश भुजा वर मेल॥ टेक॥

अरस परस छिरकत छिरकावत, करि नैननि की कोर।

लै गुलाल मुख लावत प्यारी, प्रीतम कौ चित चोर॥

कुमकुम लै मोहन प्यारी पै, डारत हैं बड़भाग।

अरुन कमल पर वरषत मानों, नील सरोज पराग॥

निरखि-निरखि ललितादिक विवि छवि, तृन तोरत बलि जात।

'जै श्री जयबल्लभ हित' यह सुख निरखत, आनंद उर न समात॥

[—पदावली से]

६४. जयदासी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

प्रगट भयौ री आली पूरन चन्द री। घर-घर मंगल गावें भयौ आनन्द री॥

सुन्दर वदन प्यारौ सुख कौ कन्द री। रसिक मुकुटमणि व्यास कौ नन्द री॥

ग्यारस उज्यारी आली माधव मास री। तारारानी सुत जायौ सुख की रासि री॥

नर-नारी फूले फिरें गावें आछी तान री। बाजत मृदंग बीना और नीशान री॥

ताता थेई ता थेई नाचत सुढ़ार री। शोभा-सिन्धु उमङ्घौ मानों सुख कौ न पार री॥  
नेगिन समूह आये देत हैं असीस री। चिरजीवौ लाला यह कोटिक बरीस री॥  
दान-मान बहु दीयौ रही न सँभारि री। द्विजराज खोलि दियो सकल भंडार री॥  
सबनि की आश पूजी भई मन भाई री। सुख कौ समुद्र बाढ्यौ कह्यौ नहिं जाई री॥  
सुर-मुनि कौतिक आये चढ़िकैं विमान री। यह सुख निरखत भूलीं सब आन री॥  
बलि-बलि 'जयदासी' वारत है प्रान री। श्री व्यासकुँवर वर कौ हियैं रहौ ध्यान री॥

६५. [ स्वामी ] जयदेव जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु-सुन्दरवर जी गो. [ गो. वनमालीदास जी के सुवन ], विद्यमानकाल-सत्रहवीं के उत्तरार्ध से अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल, रचनायें-१. राधासुधानिधि-टीका। रचना-उदाहरण —

एक गिरि गोधन उठायौ करि यत्न प्यारे, ताही के प्रताप नाम पायौ गिरिधारी है।  
स्वामिनी के तन के विलोकि युग स्वर्ण शैल, कम्पित सु सारी सुधि देह की बिसारी है।  
'कवि जयदेव' तापै भाखौ अब गर्व बैन, जानि परी नीके बलवन्तता तिहारी है।  
जाकी सखि या विधि अनेक परिहास करें, सोई वृषभानुसुता रक्षक हमारी है।

[—रा. सु. नि.-टी., श्लो. सं. २२३]

६६. जगदीशनारायण जी :

जन्मस्थान-जयपुर, जाति-खण्डेलवाल वैश्य, गुरु-वनमालीलाल जी गो. [ छोटी सरकार वाले ], वर्तमान में वृन्दावन में विद्यमान, रचनायें-१. श्री हित राधा नाम विलास, रचना-उदाहरण —

श्री राधा-राधा जो कहैं जाति-पाँति नहिं ध्यान।  
श्री राधा-राधा गौंय नित अति हित हिरदय मान॥  
श्री राधा-राधा नाम कौ जब तू जानै सार।  
श्री राधा-राधा कहि तभी लेय दीनता धार॥  
श्री राधा-राधा नाम है मंगल सबकौ ईश।  
श्री राधा-राधा नाम कौ सबहि नवावत शीश॥  
श्री राधा-राधा स्वामिनी हित वनमाली नाम।  
श्री राधा-राधा रटत नित 'जगदीश हित' निष्काम॥

६७. जगदीशलाल जी गो. :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें-१. भावना प्रकाश २. हरिवंशाष्टक [ ये दोनों रचनायें हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित हैं। ]



६८. जगन्नाथ जी :

वरारी नामक ग्राम के निवासी, गुरु—ब्रजलाल जी गो. [ अधिकारी ] साधना स्थली—वरसाना, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. शतपदी [ अप्राप्त ], रचना-उदाहरण—

राधिका जनम जग जाचक जहाँ लौं आइ, पाइ रहे छाड़ सुधि कुँवरि उदै भई।  
घुरहिं निशान सौं वितान तने ठौर-ठौर, पढ़त पुरान द्विज मंगल घटा ऊनई॥  
इत बरसाने कौ नरिन्द्र गाजि घोरि-घोरि बरसत रतन-मनि भूषन विभौ दई।  
गोधन के ठाठ और भंडार हाट 'जगन्नाथ' बाँटि गोपराज आजु कीरति कलि में लई॥

जौन्ह सी फूलि रही चहुँ ओर।

निरखि लाल चकचौंधत वदन-शशि उजियारी प्रीतम नैन-चकोर॥

हाव-भाव लावण्य ललित गति, उपजत छवि नहिं थोर।

'जगन्नाथ' राधापति जीवन, अविचल रहौ यह जोरि॥

६९. जमुनादास जी :

गुरु—चतुरशिरोमणिलाल जी गो. [ अधिकारी ] विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. श्री हरिवंशाष्टक, रचना-उदाहरण स्वरूप कतिपय पंक्तियाँ—

श्री मानसरोवर रतन भूमि पर कूजत कोकिल-कीर अरु हंस।

बोलत मोरी-मृगी-भँवरीन की वानी समूह कौ प्रगट्यौ उजंश॥

विविध बैठका-बुर्ज-तिवारी सँवारी सु प्यारी जू बोलीं प्रशंश।

श्री हित कीरति चतुरशिरोमणि श्री राधाबल्लभ श्री हरिवंश॥

१००. जन श्यामदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

खेलौ होरी फाग सबै मिलि झूमक गावैं॥टेक॥....

जहँ तहँ सब खेलैं मगन अपने-अपने जोर।

निरखि काम आयुध तजे देखि जोरी जुगलकिशोर॥

रंज-मुरज-डफ-दुंदुभी बहु विधि मुरली की घोर।

किलकत कौतूहल करें मनौं आनंद निरत मोर॥

फगुवा कौ पट ऐंचते मुरली आई हाथ।

फगुवा दीयें ही बनै तुव सुनि गोकुल के नाथ॥

होरी खेलत रँग रह्यौ चले जमुन जल न्हात।  
 सिंहपौरि ठाढ़े हरि मन वारि-वारि दैहिं प्रान॥  
 नर-नारी आनँद भयौ तन-मन मोद बढ़ाइ।  
 श्रीहितहरिवंश प्रताप ते 'जनश्यामदास' बलि जाइ॥

१०१. जादौ रसिक जी :

जन्मस्थान—गुजरात प्रान्त, हित ध्रुवदास जी की वाणी से प्रभावित होकर वृन्दावन आगमन, गुरु—मीठाजी, जादौ रसिक जी वृन्दावनस्थ रासमण्डल पर प्रतिवर्ष हितोत्सव का आयोजन बड़े बृहद् रूप में करते थे, जिसमें श्री हितरूप सुत गो. किशोरीलाल जी चाव लेकर सम्मिलित होते थे। निकुंजगमन—वि. सं. १८१३ के मुस्लिम आक्रमण में। रचनायें— १. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

कहावत हैं हरि मन कौं हरन, मृगनैनी मन हरि लीयौ।  
 अलक फंद मुख-चन्द सुधा पर सहज माधुरी मोहिनी नैकु चितै आधीन कीयौ॥  
 नवल किशोरी दिनन की थोरी भोरी बतवनी भोख्यौ सब विधि रूप-गुन तोही कौं दीयौ।  
 'जादौ हित' मोहन की जीवनी नैकु न बिसरत, न्यारी होत छिन धरकै हीयौ॥

१०२. जुगलदास जी [ प्रथम ] :

गुरु—कुंजलाल जी गो., समाज गायन के प्रमुख गायक, नरवर नरेश गजसिंह, कोटा नरेश भीमसिंह आदि इन्हीं के कृपापात्र थे। निकुंजगमन—पौष मास वि. सं. १७६२ विशेष ज्ञातव्य—इनकी भजनकुटी एवं सेव्य स्वरूप का मन्दिर वृन्दावनस्थ कुंजगली में स्थित है। चाचा वृन्दावनदास जी ने 'गुरु कृपा चरित्र बेली' नामक ग्रन्थ में इनका चरित्र विस्तार पूर्वक लिखा है। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

खेलत चौपरि प्रीतम-प्यारी।  
 नेह बिसात बिछाइ परस्पर, विविध भाव-रँग सार सँवारी॥  
 पाँसे चलत मनोरथ दुहुँदिशि, मोद-विनोद बढ़्यौ अति भारी।  
 बाजी बदी दैन आलिंगन, जो जीतै देहि लाज निवारी॥  
 बीच दई हितअली चतुर निधि, हार-जीत की समुझनिहारी।  
 रौंट करनि नहिं पावै कोऊ, न्याव करै मन माँझ विचारी॥  
 सुनि मुसिकाइ सेज पर लटके, पूरन करी आश पिय-प्यारी।  
 'जुगल' नैन अवलोकत यह सुख, पल-पल माँहिं जात बलिहारी॥



१०३. जुगलदास जी [ द्वितीय ] :

गुरु-चतुरशिरोमणिलाल जी गो., विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें-  
१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पक्तियाँ-

बधाई श्री कीर्तिलाल घर बाजै।

श्री चतुरशिरोमणिलाल जनम लियौ, धनि-धनि बासर आजै।।

सावन बदि सातैं पावस रितु सजल घटा घन गाजै।

हरित भूमि सरवर जल पूरित, द्रुम नव ओप विराजै।।.....

श्री राधाबल्लभलाल लड़ावत सुजश सकल जग राजै।

‘जुगलदास हित’ चरन-कमल रति, देहु रसिकनि सिरताजै।।

१०४. जुगलदास जी [ तृतीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु-इन्द्रपति जी गो., [ गो. कृष्णचन्द्र वंशज ब्रजपति जी गो. के सुवन ], विद्यमानकाल-वि. सं. १८०० से १८६० के मध्य आनुमानित, रचनायें-१. जुगल कृत्य २. हित चौरासी की टीका। रचना-उदाहरण-

...माते गयन्दनि की चूर होत गति जब, लटकि चलत प्यारी नवल किशोरी है।  
नीलपट प्यारौ प्यारी करत न न्यारौ यातैं, प्रीतम कौ रंग राखे संग निशि-भोरी है।  
पीताम्बर रंग अंग जानिकैं सु प्यारी जू कौ, प्रीतम पियारौ राखे अंग लपट्यौ री है।  
हिय अनुराग प्रानप्यारी कौ प्रगट मानों, सोहै मन मोहै पाग कहै सिर खोरी है।

कहत जु हितअलि निरखिकैं, ऐसैंई करौ विलास।

सुरत रंग बोरी रहौ, यह जोरी सुखरासि।।

[ -हि. चौ., प. सं. ६, बनी श्रीराधा-मोहन जू की जोरी-की टीका से ]

१०५. जुगलबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान-वृन्दावन, जनक-आनन्दबल्लभ जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज गो. राधाबल्लभदास जी के वंशोद्भव ] जन्मकाल-वि. सं. १६०६, श्री राधाबल्लभलाल जी के मन्दिर में दैनिक होने वाले समाजगायन में पखावज वादक, निकुंजगमन-वि. सं. १६६८ के लगभग, रचनायें-१. आत्मविचार, २. कृपा पच्चीसी, ३. द्वादश यश [ स्वामी चतुर्भुजदास जी कृत ] की टीका, ४. द्विदल सिद्धान्त की टीका, ५. पदावली [ रस के पद, स्फुट पद व वर्षोत्सव के पद ], ६. प्रिया प्रेमावलम्बिनी वैराग्य मंजूषा, ७. प्रेम सरोवर,

८. प्रेम प्रकाश, ६. मधुराष्टक, १०. यमुनाष्टक [ श्री हिताचार्य कृत ] की टीका, ११. युगल अष्टयाम १२. युगल सहस्रनाम १३. राधानुनय विनोद [ गो. कृष्णचन्द्रजी प्रणीत राधानुनय विनोद महाकाव्य से पृथक ], १४. राधासुधानिधि-टीका, १५. राधाउपसुधानिधि-टीका, १६. विमुख पच्चीसी १७. विराड् मूर्द्धनि १८. वृन्दावन विलास १९. समय शतक २०. सिद्धान्त सार स्मृति २१. सिद्धान्त माँझ २२. सिद्धान्त जीवनी २३. हित सत नाम स्तोत्र सटीक २४. हितामृत सटीक २५. हित चन्द्रिका २६. हितोपदेश सटीक २७. हित सुधा शशि; आदि । रचना-उदाहरण —

बादर घुमड़ानौ नील श्याम सरसानौ आजु, नीलाम्बर जानौ मानौ घटा घुमड़ाई है ।  
विद्युत की कौंध पीत प्रिया-प्रतिविम्ब देखौ, वंशी धुनि घोर सोई गरजन ठहराई है ।।  
नूपुर झनकार झिल्ली-झींगुर सुहायौ शब्द, दादुर-पपैया दैया किंकिणी बजाई है ।  
मोतिन की माल वग पंकति निहारि देखि, सखी ! 'हित जुगल' रूप पावस चलि आई है ।।  
[—पदावली-पावस रितु ]

१०६. जुगलकिशोर जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—नन्दकिशोर जी गो. [ हितात्मज गो. मोहनचन्द्र वंशीय ], श्रीमद्भागवत तथा भक्ति शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता, विद्यमानकाल—वि. सं. १७१० से वि. सं. १८०० के मध्य आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य—इनकी कुंज वृन्दावनस्थ कोइलिया घाट पर आज भी विद्यमान है जिसमें इनके वंशज गो. सोहनकिशोर जी निवास कर रहे हैं । रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—

भजि श्रीहरिवंश जनम सुधरै ।

प्रेम भक्ति कलि माँहिं प्रकाशी, जिहि सुमिरत भव-सिन्धु तरै ।।

परम कृपालु जगत हित कर्ता, काहे न ता पद ओर ढरै ।

श्री जुगलकिशोर रूप रस अँचवै, मन-क्रम-वच ज्यों सरन परै ।।

१०७. जोरीलाल जी गो. :

जन्म स्थान—देववन नगर, जनक—सदानन्द जी गो., विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक, रचनायें—१. समय प्रबन्ध [ अष्टयाम ], २. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

फूलन के निवारे मधि बैठे दोऊ राधा लाल, फूल भरी सखी फूल डाँड़िनु सौं खेवैं ।।  
कोऊ नाचत कोऊ सरस मृदंग लियैं, कोऊ गावत कोऊ कुसुमन जल भेवैं ।।



शीतल सरस भोग लै लै आवैं थारी भरि, सरस सुगंध सँवारि सब मेवैं॥  
 'जै श्री जोरीलाल हित' जल के विनोद मोद, चन्दन लगाइ हरिवंशि अलि सेवैं॥  
 [—पदावली से]

१०८. झूठा स्वामी जी :

गुरु—वनमालीदास जी गो., सेव्य स्वरूप ठा. श्री रसिकराय जी, [ झूठा स्वामी जी की कुंज, अठखम्बा बाजार, वृन्दावन में विराजमान ] विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली, विशेष ज्ञातव्य—हमें अभी तक इनकी कोई रचनायें देखने को नहीं मिल सकी हैं, किन्तु स्वामिनीशरण जी ने 'हितानन्द सागर' में, प्रीतमदास जी ने 'हित चन्द्र प्रकाश' में और मिश्र बन्धुओं ने अपने खोज विवरण 'मिश्र बन्धु विनोद' में इन्हें वाणीकार लिखा है और इनकी रचना 'पदावली' लिखी है।

१०९. तुलसीदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—सुखलाल जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. यमुनाष्टक, ३. राधासुधानिधि-टीका, ४. हरिवंशाष्टक। विशेष ज्ञातव्य—कहीं-कहीं पर इन्होंने अपनी छाप 'वृन्दा' भी लगाई है। रचना-उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय पंक्तियाँ —

मधुरितु, नव-नव कुंजनि रँग भरे खेलत फाग।  
 जै जै श्री राधाबल्लभ उझलत अति अनुराग॥  
 संग सहेली रँगिली गावत फागुन गीत।  
 जिनके श्रवन सुनत ही उपजत अद्भुत रीति॥  
 चलत सु मुठी गुलाल की मुख पर डारत बाल।  
 निरखत शोभा रहि गये जै जै श्रीसुखलाल॥  
 यह सुख निरखत सजनी ब्रजमणि हित हरिवंश।  
 कृष्णा पद में 'वृन्दा' नवनीत मनु चुनि हंस॥

११०. दम्पतिकिशोर जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—नवलकिशोर जी गो. [ गो. मोहनचन्द्र वंशीय ] विशेष ज्ञातव्य—चाचाजी कृत 'हितभक्तिकल्पतरु' में इनका नामोल्लेख है। विद्यमानकाल अठारहवीं शताब्दी, नरवरगढ़ नरेश ने इनसे प्रभावित होकर इन्हें एक कुंज प्रदान की थी। सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री राधाप्राणबल्लभलाल जी [ श्री राधाबल्लभ जी के मन्दिर

के निकट आगरे वाली गली में विराजमान ] रचनायें—१. पदावली, २. कवित्त-सवैया [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरे हैं ] रचना-उदाहरण—

‘दम्पतिकिशोर’ दोऊ बैठे हिण्डोर बीच, गावत मलार राग घोर के धमाके में।  
मोर शोर छाये वग पाँति सरसाये वन, लागत सुहाये वीर बिज्जु के जमाके में।  
धार हार पिय कौ मनोरथ सब आली गन, चोली बाँध सौत मन रूप के चमाके में।  
झुकि जात झूलि जात फल जात फूलि जात, खुलि जात घुलि जात झूलक झमाके में।  
[—कवित्त संग्रह से]

१११. दम्पतिदासी जी :

जन्मस्थान—राजस्थान प्रान्त, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शती के मध्य काल तक अनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

म्हारा रसिया री से झाँ सुख रंग रा।  
निभृत निकुंज में विशद बिहार सखी द्वन्द सुछन्द जंगरा॥  
अति अलबेली लाड़ गहेली प्यारी दल मोर्याँ छै अनंगरा।  
‘दम्पतिदासी हित’ मिलि रस पीजै यह सुख अभंगरा॥

११२. दम्पतिअलि जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, इनके कतिपय पद और कवित्त-सवैया श्रीवंशीधर जी ने अपने ग्रन्थ ‘माधुर्य विलास’ [ रचनाकाल वि. सं. १७७४ ] में उद्धृत किये हैं, इस आधार पर इतना ही ज्ञात होता है कि ये वि. सं. १७७४ के अनिश्चितकाल पूर्व हित रसिक समाज में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। रचनायें—१. निकुंज विलास [ अष्टयाम ] [—गो. चन्द्रलाल जी कृत ‘निकुंज विलास’ से पृथक ] २. पदावली, ३. कवित्त-सवैया [ वंशीधर जी कृत माधुर्य विलास में उद्धृत ] रचना-उदाहरण—

श्री गुरु नेह सरूप शशि हिय में करौ प्रकाश।  
अष्ट प्रहर की केलि कौ जान परै आभास॥  
श्री श्यामा अरु श्याम के अमल कमल पद चार।  
तिनकौ वन्दन करि कहूँ तिनकौ कछु ब्यौहार॥  
गौर-श्याम नित एक रस नौतन नेह अछेह।  
एक वय क्रम एक मन एक प्रान द्वै देह॥  
पिय-प्यारी वृन्दाविपिन नितविहार रस एक।  
बिछुरत नार्ही पलक हू बीतत कलप अनेक॥



फूले फूलन स्वेत बिच अलि बैठे मधु लैन।

‘दम्पति हित’ वृन्दाविपिन धारे अगनित नैन॥

[—निकुंज विलास से]

११३. दयासिन्धुलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—रसिकानन्दलाल जी गो., विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. विनय पच्चीसी, रचना-उदाहरण—

होरी खेलत कुञ्जबिहारी।

अबीर गुलाल मुठी भरि डारत, रंगनि छिरकत भरि पिचकारी॥

सजनी बीन-मृदंग बजावति, गावत चौंप बढ़ावति भारी।

‘जै श्री दयासिन्धु हित’ रसिक रँगीले, हो-हो कहि पटकावति तारी॥

[—पदावली से]

११४. दयासखी जी :

गुरु—घनश्यामलाल जी गो. [ गो. मुकुन्दलाल जी के पुत्र ], निवासस्थली—बिहार घाट के निकट, संगीतकला-निपुण, विद्यमानकाल—वि. सं. १७८० से १८६० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

अरी हेली आवौ रंग रँगीले छैल छबीले॥टेक॥

चतुर सुघर सुन्दर मोहन सौं, होरी खेलैं रंग बढ़ाय॥

बीन-मृदंग-उपंग-बांसुरी, साँचे सुरनि मिलाय।

चौंज भरी अति ललित मनोहर, नई-नई तानें गाय॥

चोबा-चन्दन-बूका-वन्दन-अबीर गुलाल उड़ाय।

‘दयासखी’ घनश्यामलाल कौं, लीजै भलैं नचाय॥

११५. दयानिधि जी गो. [ दयालाल जी गो. ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, राधाबल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध वाणीकार गो. चन्द्रलाल जी [ गोवर्धननाथ जी के सुत ] के वंश में उत्पन्न, ये अपने समय के प्रसिद्ध और कुशल कवि थे। व्याकरण, ज्योतिष और अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण इन्हें बाल्यकाल में ही अनेक राजाओं से सम्मान प्राप्त हो चुका था, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. अन्योक्ति पच्चीसी २. उद्धव पच्चीसी, ३. कवित्त-सवैया ४. नृसिंह चरित्र ५. पत्र साहित्य ६. पीराष्टक ७. प्रेम बत्तीसी ८. भ्रमर

गीत ६. रससुधानिधि १०. वर्ण एकाक्षरी ११. विरहायक, आदि। रचना-उदाहरण—  
 साँवरौ सलौना दिये भाल पै दिठौना सोहे, कानन तयौना वैस उमय उठौना है  
 नीके कै लखौ ना किन आजु लौं दिखौ ना, सुन्दर सुठौना 'दयानिधि' कै चिठौना है  
 रूप सरसौना दरसौना बरसौना लाग, तामें लगौना तन पानन अरौ न है  
 चित्त उरझौना सुरझौना नहिं हौना सखी, नन्दजी को छौना कियौ बरसौना टैन है।  
 [—कवित्त सतर है]

विशेष ज्ञातव्य—इनकी रचनाओं में 'दयानिधि' नाम के साथ-साथ 'दयालाल' छाप भी अनेक स्थलों पर आई है। अन्तःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य से इन दोनों छन्दों में रचना करने वाला एक ही रचनाकार ज्ञात होता है। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवय कवि को काव्य शास्त्र की शिक्षा और कवित्व की शिक्षा इन्हीं गोस्वामी दयानिधि जी से प्राप्त हुई थी। गोपाल कवि ने भी अपनी एक रचना 'वृन्दावनवासीन के कवित्त' में गो. दयानिधि के स्वरूप परिचयात्मक अनेक छन्द लिखे हैं, जिनमें से दो छन्द निम्नांकित हैं—

सुहृद सभा में बतरात विकसत मुख, सहज कौ वचन लिखत छन्द चाल सौ।  
 लिखत थमें न कर कलम बनावत में, ऊगें उर उकति अनेकनि कौ जाल सौ।।  
 निज मनभाये तथा पर फुरमाये बनि जात दोहा-अरिल-कवित्त वर हाल सौ।  
 चन्द्रलाल वंश है प्रशंस देश-देशन में, आजु तौ न सु कवि दुनी में दयालाल सौ।।

उलटी लिखें चीठी कवित्तन में, इतमें कछु चीज चुकावत हैं।

सतरंज बनावत औरनि कौं, घर कौं कहि बात पठावत हैं।।

कर प्रश्न कौ उत्तर दैन रहें, मुख राधिका-राधिका गावत हैं।

श्री गुसाँई दयालाल जू या विधि, अष्ट विधान बनावत हैं।।

११६. दामोदरदास जी गो. [ दामोदरवर जी गो. ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—वि. सं. १६३४ आषाढ़ पूर्णिमा, जनक—सुन्दरवर जी गो., गुरु—वनमालीदास जी गो., श्री राधाबल्लभलाल जी मन्दिर के अधिकारी, अधिकार काल—वि. सं. १६६० से वि. सं. १७१४, गोस्वामी श्री हितहरिवंशोदित नित्य रासलीलानुकरण के पुनरुद्धारक, विशिष्ट कार्य—रासस्थल की स्थापना, [वर्तमान में यह स्थल अठखम्भा बाजार, वृन्दावन में स्थित है।] चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'हित रूप चरित्र बेली' में "शिष्य बहत्तर अस भये जुगल भजन लौ लीन" से ज्ञात होता है कि गो. दामोदरवर जी ने बहत्तर शिष्यों को हित शरणागत करके रसोपासना का मर्म हृदयंगम कराया। रचनायें—१. पदावली [ सिद्धान्त के पद, अष्टयामी क्रीड़ा के पद, ऋतु उत्सव के पद ] रचना-उदाहरण—



झूलत नवल रंग हिंडोल।

श्यामसुन्दर सुन्दरी कल, कमल वदन सु बोल॥

मृदु बैन चैन सु नैन निरखत, अतिहि सरस सलोल।

अंग उर प्रतिविंव प्रेषन, पीत-नील निचोल॥

निजुसखी सहज सु प्रेम पूरन, हरषि हिथैं अलोल।

‘जै श्री दामोदर हित’ सदा यह सुख, करत कुंज कलोल॥

११७. [ स्वामी ] दामोदरदास जी :

जन्मस्थान—कीर्तिपुर [ बिहार ], विप्र कुलोत्पन्न, गुरु—लालस्वामी जी, विद्यमान-काल—सत्रहवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—इन्होंने श्री मद्भागवत महापुराण की दसौं हस्तलिखित प्रतियाँ करके भागवत पठन करने वालों को वितरित की थीं। रचनायें—  
१. आशा त्याग, २. कृष्ण ध्यान पच्चीसी, ३. गुरु प्रताप, ४. जजमान कन्हाई जस, ५. दोहावली [ साखी ], ६. नेम बत्तीसी, ७. पदावली, [ बसन्त, होरी, होरीडोल, फूलडोल, फूलरचना, जलबिहार, चन्दन, वरषा ऋतु के पद, हिंडोरा, रास, मान के पद, व्याहुलौ, दिवारी, चौपर के पद, अष्टयामी क्रीड़ा के पद, सिद्धान्त के पद ] ८. प्रातः स्मरण चतुष्क, ९. बसन्त लीला, १०. भक्ति भेद सिद्धान्त, ११. भिक्षु गीत, १२. भागवत महिमा, १३. मध्याक्षरी, १४. रस लीला, १५. रहस्य विलास, १६. रास पञ्चाध्यायी [ प्रथम-कवित्त छन्दों में ] १७. रास पञ्चाध्यायी [ द्वितीय—रोला छन्दों में ], १८. षटपदी शिक्षा, १९. स्वगुरु प्रताप [ गुरु प्रताप ग्रन्थ से भिन्न ], २०. समय प्रबन्ध [ अष्टयाम ] २१. हरि नाम महिमा, २२. हरि-अवतार नाम हारावली। रचना-उदाहरण —

चलौ क्यों न देखैं री-देखि खरे कुंज की परछाँहीं।

एक भुजा गहैं डार कुंज की एक भुजा गरवाहीं॥

छवि सौं छबीली रही लपटि लटकि मनु, कनक बेलि वर तरु तमाल अरुझाँहीं।

जै श्री ‘दामोदर हित’ नवल प्रिया-पिय बातें कहत ये, रँगें हैं प्रेम रँग माँहीं॥

[—पदावली से ]

११८. द्वारिकादास जी :

‘मिश्र बन्धु विनोद’ के खोज विवरणों में इनका परिचय निम्नांकित शब्दों में दिया गया है—“नाम—द्वारिकादास साधु राधाबल्लभीय, ग्रन्थ—फुटकर भजन।”

११९. दीनदयाल जी :

जन्मस्थान—सिवनी, जनक—श्रीबल्लभ जी, गुरु—गिरिधरलाल जी गो. [ झाँसी

वाले ], विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण, रचनायें—१. श्री लाड़िली लाल वृन्दावनचन्द्र जू कौ नित्यबिहार [ अष्टयाम ] रचनाकाल—वि. सं. १९८३, रचना-उदाहरण—

मंगल आरति सखिन उतारी।  
मंगल निरखि-निरखि हरषित मन, मंगल दम्पति की बलिहारी॥  
मंगल मोर मुकुट-द्युति चन्द्रिका, मंगल पीत-नीलाम्बर सारी॥  
मंगल कुंज सघन द्रुम-बेली, मंगल विहंग वचन उच्चारी॥  
मंगल रूप स्वरूप जुगलवर, मंगल बाल करत किलकारी॥  
मंगल नीर उतारि वसन पुनि, मंगल जै जै धुनि उच्चारी॥  
मंगल श्री हरिवंश कृपा बल, 'दीनदयाल'दृगन छवि धारी॥

१२०. दुलहिनिदासी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—गो. रूपलाल जी, विद्यमानकाल—अठारहवीं शती के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक आनुमानित, रचनायें— १. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

प्रथम जोरि पानि सिर नाऊँ। गुरु हित रूप जू कृपा मनाऊँ॥  
देहु दया करि यह मैं चाहूँ। व्यासनन्दन जू शरन सुख पाऊँ॥  
यमुना-मानसरोवर न्हाऊँ। श्री वृन्दावन अटल बसाऊँ॥  
अनन्य दासिन की दासि कहाऊँ। हित ललितादिक होहु सहाऊँ॥  
सब धर्मिन तैं लघु लड़काऊँ। निशि-दिन चरन-कमल लपटाऊँ॥  
कुंज केलि देखत न अघाऊँ। लाल-लाड़िली सुख दुलराऊँ॥  
कभूँ अंश धरि वीन बजाऊँ। 'दुलहिनिदासी' हित गुन गाऊँ॥

१२१-१२२. दौलतराम और माणिकचन्द्र :

जन्मस्थान—बाबई ग्राम, जाति—गौड़ ब्राह्मण, ये दोनों परस्पर भाई-भाई थे, विद्यमानकाल— बीसवीं शती का पूर्वार्ध, रचनायें—१. पदावली । रचना-उदाहरण स्वरूप दोनों के एक-एक पद निम्नांकित हैं —

चलौ हित कुंज में देखैं हिंडोरा। नटैं पिक-सारिका कुहुकैं जु मोरा॥  
प्रिया-पिय झूलहीं पहिरैं पटोरा। तरनिजा हंस ध्वनि भ्रमरीनु जोरा॥  
सखी गावैं सु हाथन लै तमोरा। चलौ हित कुंज में देखैं हिंडोरा॥  
अली वनचन्द्र जू वीना प्रवीना। पखावज बाज सेवक कर तधीना॥



सखी हित व्यास गावैं स्वर सु झीना। जमा मल्हार घन आया नवीना॥  
मिला वाद्यंत्र लय स्वर एक डोरा। चलौ हित कुंज में देखैं हिंडोरा॥  
छयौ घन श्याम ताना सो विताना। दमक दामिनि जरीतारी समाना॥  
उड़ै वग पाँति झालरि मौक्तिदाना। घनुष पचरंग पताका सा रमाना॥  
हरित तृण पर्श मखमल भू न थोरा। चलौ हित कुंज में देखैं हिंडोरा॥  
झुलावत लाड़िली वपु श्रीहिताली। गहैं डाँड़ी मनोहर सुष्ठ भाली॥  
दिपैं तन वस्त्र भूषण विद्यमाली। मगन मन राजहीं उर रूप शाली॥  
पिया निजु हाथ झुलवन कौं निहोरा। चलौ हित कुंज में देखैं हिंडोरा॥  
निरखि छबि नैन बौरी सी जु तौरी। मिला अरविन्द मानों मत्त भौरी॥  
भई किस रीति जौरी सुःख होरी। कृपा हित रूप की सखियाँ सुनों री॥  
छकी 'दौलत' भनै बलवाय तोरा। चलौ हित कुंज में देखैं हिंडोरा॥

चलौ कुंज में झूलैं हिंडोला। लता फूली सघन अलि मत्त टोला॥  
स सीकर वृष्टि मारुत मन्द डोला। रहे तरु भूमि वन धारैं निचोला॥  
चिवुक श्री बाल कर धरि लाल बोला। चलौ हित कुंज में झूलैं हिंडोला॥  
जनाश्रय चन्द्रशाला पद्म रागी। सितासित थंभ बल्ली पीत पागी॥  
मणी पन्ना जवनिका जोति जागी। कलश तोरन पताका चित्र लागी॥  
बने बातायनं मोती अमोला। चलौ हित कुंज में झूलैं हिंडोला॥  
निलय में फर्श पंकज दल समा री। चिते मर्कत के थंभा औ मयारी॥  
जटित चौकी व मखमल सौकुमारी। अहा कहा डाँडियाँ झालरि किनारी॥  
छुटौ मन जात प्यारी सुख अतोला। चलौ हित कुंज में झूलैं हिंडोला॥  
वचन सुनि श्याम श्यामा तुर्त गमनी। गती गजराज पावन कर्त अवनी॥  
चढ़ी सोपान क्रम सौं परम रमनी। निवेसित आप हित एकान्त भवनी॥  
मिला परसाद 'माणिक' भर सु झोला। चलौ हित कुंज में झूलैं हिंडोला॥

१२३. धरनीधरदास जी :

जन्मस्थान—उदयपुर, गुरु—दामोदरवर जी गो., विद्यमानकाल—वि. सं. १६५० से १७४६ के अनिश्चितकाल पूर्व तक आनुमानित रचनायें—१. हित चौरासी-टीका, २. पदावली । [ प्रा. ह. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

देखति हौ जु प्रिया तुम आजु, महारस प्रीतम रंग भरी हौ।  
मोसों दुरै नहिं चोरी किशोरी जू, लालन सौं रति जुद्ध लरी हौ॥

रुरै लर मोतिनु की लर छूटी, निवी बँध छोरि सनेह दरी है।

आनँद सौं पिय लूट करी, निधि रूप कपोलनि पीक परी है॥

वानी हित हरिवंश की, सागर ते गंभीर। कही गई मोपै जिती, तितौ गहै खग नीर॥

जुग रस माते रसिकवर, तिनमें होइ जु वास। 'हित धरनीधरदास' की, पुरवौ यहई आस॥

[ हितचौरासी की टीका से ]

१२४. धीरजदास जी :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—हीरालाल जी [ व्यास वंशीय गोस्वामी ], गुरु—माधवलाल जी गो. [ राधाबल्लभीय गो. मुकन्दलालात्मज गो. घनश्यामलाल जी के सुत ] विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—

जयति घनश्याम अभिराम जित काम सुख, धाम वर वाम रस बस बिहारी।

जयति गोविन्द ब्रजचन्द नँदनन्द रस, कंद मन फंद प्रिय विपिन चारी॥

जयति हरिवंश धर पुलिन वर रास कर, राधिका वर सुघर मोदकारी।

जय कृपा-रासि निजु पास वन वास की, आश 'धीरजदास' कान डारी॥

१२५. [ हित ] ध्रुवदास जी :

जन्मस्थान—देववन, जन्मतिथि—आश्विन मास-शरद पूर्णिमा, कायस्थ कुलोत्पन्न, जनक—श्यामदास जी, गुरु—गोपीनाथ जी गो., [ श्री हितहरिवंश-नन्दन ] वृन्दावनस्थ श्री हित रासमण्डल पर दस वर्ष की स्वल्पायु में ही इष्ट-कृपा-प्राप्ति और वाणी स्फुरण, बालक ध्रुव की भाँति बाल्यकाल में ही इष्ट-साक्षात्कार कर लेने के कारण ध्रुवदास नाम से प्रसिद्ध हुए; इनके पितामह बीठलदास जी श्री हिताचार्य के शिष्य थे, वृन्दावन के प्राचीन परिक्रमा पथ पर स्थित वन विहार स्थल में इनकी भजन कुटी आज भी अत्यन्त जीर्ण रूप में विद्यमान है। विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. अनुराग लता लीला, २. आनंद लता लीला, ३. आनंद दशा विनोद लीला, ४. आनंददष्टक, ५. ख्याल हुलास लीला, ६. जुगल ध्यान लीला, ७. जीवदशा, ८. दान लीला, ९. निर्त विलास लीला, १०. नेह मञ्जरी लीला, ११. प्रिया जू की नामावली, १२. प्रीति चौवनी, १३. प्रेमावली लीला, १४. प्रेमलता लीला, १५. पद्यावली, १६. ब्रजलीला, १७. बृहद् वावन पुरान की भाषा टीका, १८. वैद्यक ज्ञान, १९. वृन्दावन सत, २०. वनविहार लीला, २१. भक्त नामावली, २२. भजनाष्टक, २३. भजन कुण्डलियाँ, २४. भजन सत, २५. मन शिक्षा, २६. मणि श्रृंगार लीला, २७. मान लीला, २८. रस मुक्तावली लीला, [ अष्टयामी क्रीड़ा वर्णन ] २९. रस



हीरावली लीला, ३०. रस रत्नावली लीला, ३१. रहस्य मञ्जरी लीला, ३२. रति मञ्जरी लीला, ३३. रहस्य लता लीला, ३४. रसानन्द लीला, ३५. रस विहार लीला, ३६. रंग हुलास लीला, ३७. रंग विनोद लीला, ३८. रंग विहार लीला, ३९. सभा मण्डल लीला, ४०. सिद्धान्त विचार, ४१. सिंगार सत लीला, [ प्रथम, द्वितीय, तृतीय शृंखला ] ४२. सुख मञ्जरी लीला, ४३. हित सिंगार लीला । विशेष ज्ञातव्य—उपर्युक्त सभी रचनायें हित ध्रुवदास जी कृत 'ब्यालीस लीला' और 'पद्यावली' के नाम से प्रकाशित भी हो चुकी हैं । 'हित ध्रुववाणी' का यशोद्गान अनेक प्राचीन रचनाकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं में किया है; कतिपय के नाम निम्नांकित हैं—

भगवत मुदित जी, जतनलाल जी गो., अनन्यअली जी, कृष्णदास जी भावुक, चाचा वृन्दावनदास जी, वृन्दावनदास जी [ द्वितीय ], भाई रसन जी, गोविन्दअली जी, राधादास जी, सर्वसुखदास जी, बल्देव कवि, गोपाल कवि, महारानी कमल कुँवर जी [ हितदासी ], स्वामिनीशरण जी, प्रीतमदास जी, राधिकाचरणदास जी, मदनमोहनदास जी, वियोगी हरि जी; आदि । रचना-उदाहरण—

रँगीली करति रँगीली बात ।

सुनि-सुनि नवल रसिक मन मोहन फिरि-फिरि फिरि ललचात ।।

चितै-चितै मुख मधुर माधुरी उरजनि सौं लपटात ।

'हित ध्रुव' रस कौ सिन्धु उमड़ि चलयौ पिय के हिय न समात ।।

१२६. नरवाहन जी :

जन्मस्थान—भैगाँव, [ ब्रज वृन्दावन में बच्छवन के निकट यमुना तट पर ], गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सोलहवीं सदी के अन्तिम चरण से सत्रहवीं सदी के पूर्वार्ध तक । श्री हित शरणागत होने से पूर्व ब्रज में आतंककारी दस्युराज के रूप में प्रसिद्ध, रचनायें—अतिबल्लभदास जी द्वारा वर्णित 'हित बधाई' की पंक्तियों से ज्ञात होता है कि इन्होंने 'दानकेलि' सम्बन्धी कोई रचना की थी किन्तु आज तक यह हमें कहीं नहीं प्राप्त हो सकी है —

विपिन निकट श्री यमुना तट नरवाहन जनम वखान्यौ ।

दान केलि कौ दान मान जुत सुयश गान हम जान्यौ<sup>१</sup> ।।

श्री हिताचार्य ने इनकी इष्ट-नाम प्रियता पर रीझकर इन्हें अपने दो पद प्रदान कर दिये थे । इसका उल्लेख हित ध्रुवदास जी ने इन शब्दों में किया है —

कहा कहौं नहिं कहि सकत नरवाहन कौ भाग।  
श्री मुख जाकौ नाम धर्यौ निजु वानी अनुराग'॥

प्राचीन हस्तलिखित पद संग्रहों में इनके द्वारा रचित एक निम्नांकित पद प्राप्त होता है —

जिन कोउ और कछू जिय जानैं।  
जुगल किशोर बिहार विपिन वर कल लीला गुन गावैं॥  
संगी मुख्य राधिका विट कौ, अधम होय सु न मानैं।  
ज्ञान लोप भयौ कपिलदेव ज्यों श्रुति मथि व्यास बखानैं॥  
मही बीज गिल लयौ वेन बल फेरि सकल सुख ठानैं।  
सो सुख शुक्-नारदमुनि भाख्यौ काल पाइ जु भुलानैं॥  
जो रस श्री हरिवंश प्रगट कियौ रस लीलान बखानैं।  
मान मनावनि पिय प्यारी कौ अहर्निशि हृदये आनैं॥  
प्रचुर रीति जानि 'नरवाहन' ललितादिक आई लैन।  
रहसि चली लै श्री हरिवंशहि जहँ राधा द्रुम ऐन॥

१२७. नवलदास जी :

जन्मस्थान—रेवाड़ी, धूसर वैश्य कुलोत्पन्न, गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सोलहवीं सदी के अन्तिम चरण से सत्रहवीं सदी के पूर्वार्ध तक। रचनायें—  
१. साखी, इनकी कतिपय साखियाँ नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित 'माधुरी' पत्रिका में भी प्रकाशित हैं। भगवत मुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल' में इनका एक दोहा संकलित है —

जो कोउ जरै जंजीर तन, तौ तोरूँ सत सात।  
प्रेम तन्तु अटक्यौ 'नवल', मटक्यौ तनक न जात'॥

१२८. नवलसखी जी :

जन्मस्थान—ब्रजमंडल में किसी स्थल पर, गुरु—ब्रजलाल जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ]  
रचना-उदाहरण—

१. . ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., भक्तनामावली, छं. सं. ४६.  
२. र. अ. मा., भ. मु., नवलदास जी की परचई



रास में जराइ जटित मर्कत मणि हेम खचित, नील-पीत-हरित रंग मंडली की शोभा।  
अति अद्भुत झलक छवी रही अभूत शोभा फवि, बीच-बीच सुरतरंग उपजत अति गोभा।  
एक रूप एक वैस एक ही समान सबै, एक ते विचित्र एक चितवत चित चोभा।  
'नवलसखी' अति उदार देखत छवि बार-बार, वारि फेरि डारत मन मनसिज मन लोभा।

१२६. नवनीतलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—सुखलाल जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनार्ये—पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ]। रचना-उदाहरण—

सखी आजु महल में है बसन्त। मिलि खेलत प्यारी-लाल कन्त॥  
गौर-श्याम दोऊ भरे रंग। कोटिक छवि की उठवत तरंग॥  
हितसखि सोहैं प्यारी साथ। रतननि पिचकारी लियें हाथ॥  
वनमाली सखि कृष्ण संग। कनक झारी भरि लियें रंग॥  
सखी गोपीनाथ लीयें गुलाल। मोहन सखि निरखत हैं सु ख्याल॥  
लियें सुन्दर सखि कुमकुम-अबीर। अतर-अरगजा-गुलाबनीर॥  
सखि दामोदर संग रास-विलास। लियें चन्दन-वन्दन मथि सुवास॥  
केशर रँग भरे कनक माट। श्याम सखी दैहिं बाँट-बाँट॥  
सुख सजनी लीयें सकल सौंज। दोऊ मिलि खेलत मन की मौज॥  
जुवति जूथ ललितादि संग। कोऊ वीना कोउ लियें मृदंग॥  
कोऊ निरत कोउ करत गान। कोउ वारत आपुने प्राण॥  
खेल मच्यौ अति भई भीर। मनु वरषत आनन्द नीर॥  
'जै श्री हित नवनीत' निरखत बिहार। कछु कहि न सकत शोभा अपार॥

१३०. नन्दकिशोर जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—मेघश्याम जी [ श्री हरिवंशात्मज गो. मोहनचन्द्र जी के पौत्र ] विद्यमानकाल—सत्रहवीं के अन्तिम चरण से अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध तक।  
रचनार्ये—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

देखौ माई रँगिली ढाँढ़िनिया आई।

झमकि-झमकि पग-नूपुर बजवत, लजवत चन्द-जुन्हाई॥

पट-भूषन बकसत ब्रजरानी, तिनकों नाहिं लखाई।

'नन्दकिशोर' ललन लौने की, माँगति झगरि बलाई॥

१३१. नन्दबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—प्रेमबल्लभ जी गो., [ श्री हित पौत्र गो. राधा-

बल्लभदास जी के सुत गो. शिरोमणिदास जी के वंशोद्भव ] विद्यमानकाल—अठारहवीं शती के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं का पूर्वार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

मंजु कुंज मधि पौढे प्यारे।

कंज-दलनि ठनि तलप सुवासित, राजत षोडष द्वारे॥

लता माधुरी सुमन विकच तहाँ, भ्रमर निकर मँड़रारे।

सुभग तरनिजा तट अति राजत, नलिन प्रफुल्लित न्यारे॥

मारुत त्रिविध गवाछनि आवत, किरन मयंक सुचारे।

चाँपत चरन 'श्री हित नैदबल्लभ', विवि कोमल सुकुमारे॥

१३२. नरहरिदास जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, प्रसिद्ध वाणीकार चन्द्रलाल जी के वंश में उत्पन्न, विद्यमानकाल—वि. सं. १८८० से १९५० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. वृन्दावन दर्पण [ रचनाकाल—वि. सं. १९३६ ], विशेष ज्ञातव्य—इन्हें रीवाँ नरेश महाराजा रघुराजसिंह से सम्मान प्राप्त था और ये उन्हीं के आश्रित कवि थे। रचना-उदाहरण —

उदय जाके होत उर अज्ञान-तम कौ नाश।

निरखि नलिनी भक्ति प्रेम-तड़ाग करति विकास॥

विमल वानी-चन्द्रिका तन ताप हरि सुख देत।

जयति श्री हरिवंशचन्द्र चकोर रसिकनि हेत॥.....

साक्षात हरि अंश वपु व्यास मिश्र कुल हंस।

जगत प्रसंश पवित्र मति जै जै श्रीहरिवंश॥

जब लागि श्री हरिवंश की कृपा कटाक्ष न होइ।

रसिकअनन्य उपासना तब लागि लहै न कोइ॥

रसिकअनन्य उपासना बिनु कहा प्रेम प्रकाश।

बिना प्रेम कह होत है उर में दृढ़ विश्वास॥

दृढ़ विश्वास बिना कहा जुगल चरन की आश।

जुगल चरन प्रापत बिना मिटै न भव की त्राश॥

रितु गुन निधि गज-मुख दसन संवत माधव मास।

'वृन्दावन दर्पण' प्रगट कीनों 'नरहरिदास'॥

[—वृन्दावन दर्पण से, पृ. सं. १, २, ३६]



### १३३. नरोत्तमदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शती के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं के पूर्वार्ध काल के मध्य, रचनायें—१. राधासुधानिधि-टीका, [ गो. कृपालालजी द्वारा प्रारम्भ की गई टीका का शेष भाग ], विशेष ज्ञातव्य—इस टीका के मंगलाचरणात्मक श्लोकों से यह ज्ञात होता है कि इन नरोत्तमदास जी की प्रेरणा से यह टीका गो. कृपालालजी द्वारा प्रारंभ की गई थी किन्तु परिसमाप्ति के एक श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि 'चषक' नाम्नी यह टीका वि. सं. १८३२ की भाद्रपद शुक्ला एकादशी शनिवार के दिन रसिक नरोत्तमदास जी के द्वारा ही पूर्ण हुई। ऐसा ज्ञात होता है कि गो. कृपालालजी वि. सं. १८३२ के पूर्व ही निकुंजगामी हो गये होंगे। अतः टीका का शेष भाग इन्हीं नरोत्तमदासजी द्वारा पूर्ण हुआ। आधारभूत श्लोक निम्नांकित हैं—

प्रारम्भ—

तत्कृपापांगलेशन प्रेरितोहं नरोत्तमः। टिप्पणं चषकं कुर्वे श्रीमद् राधासुधानिधेः॥

अन्तिम—

वियद्राम पुराणाब्दे भाद्रे शुक्ले हरे स्थितौ। शनौ नरोत्तमेनेदं चषकं पूरितंत्वभूत॥

### १३४. [ नेही ] नागरीदास जी :

जन्मस्थान—बेरछा ग्राम, [ बुन्देलखण्ड ], पँवार क्षत्रिय कुलोत्पन्न, गुरु—वनमालीदास जी गो., निवासी स्थली—वृन्दावन और बरसाना, इन्होंने बरसाने में श्रीराधा की आज्ञा से वि. सं. १६३६ के लगभग उनका मन्दिर निर्माण करवाया और वहीं पर वृन्दावन से अपने गुरु, गुरुकुल, और रसिक समाज को बुलाकर श्रीराधा जन्मोत्सव प्रारंभ किया। बरसाने के गहवरवन में इनकी प्राचीन कुटी 'मोर कुटी' के नाम से आज भी विद्यमान है। रचनायें—१. दोहावली [दोहा संख्या-६३७], २. पदावली [पद संख्या-३३१], ३. हरिवंशाष्टक, विशेष ज्ञातव्य—गोपाल कवि ने 'वृन्दावन धामानुरागावली' में इनके द्वारा प्रणीत दोहों की संख्या अठारह सौ लिखी है; किन्तु अभी तक हमें इनके ये सम्पूर्ण दोहे नहीं मिल पाये हैं। रचना-उदाहरण —

पल-पल प्रबल केलि पसरि।

पल-पल अधर पियूष पान करि, पल-पल परे हैं प्रेम के बस री॥

पल-पल मुख मधु स्वाद नये-नये, पल-पल चौप चसक की गस री।

'नागरीदासि' तलप सुख पल-पल, पल-पल नव रति करननि कस री॥

[—पदावली से]

१३५. नागरवर जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—वनमालीदास जी गो., विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'रसिक अनन्य परचावली' की "नव रास रंग वरन्यौ नवल, दृग-चकोर करि रस पियौ। श्रीनागर नरवर सुभट नवल नेह भीज्यौ हियौ।।" इन पंक्ति द्वय से ज्ञात होता है कि इन्होंने श्यामा-श्याम की केलि वर्णनात्मक कोई रचना अवश्य ही की थी किन्तु आज तक हमें इनके द्वारा विरचित एक भी पद प्राप्त नहीं हुआ है।

१३६. नाथ भट्ट जी :

इनका परिचय हितध्रुवदास जी की 'भक्त नामावली' में इन शब्दों में दिया गया है— "भक्त गदाधर नाथ भट विद्या भजन प्रवीन। सरस कथा वानी मधुर सुनि रुचि होत नवीन।।" रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] वि. सं. १७८६ में प्रतिलिपि की गई 'रसिक अनन्य माल' के सेवक चरित्र वर्णनान्त में इनका एक सवैया भी प्राप्त होता है; जो निम्नांकित है —

मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध न कोऊ, सेवक सौ हरिवंश उपासक।  
आन धरम्मी सौं संग नहीं, हरिवंश धरम्मिन में बस बासक।।  
हरिवंश पतिव्रत लै निवह्यौ, दुख पाइ खिस्याइ रहे उपहासक।  
हरिवंश कृपा रस मत्त सदा, सोई 'नाथ' कहै अब यामें कहा सक।।

१३७. नारायणदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—चतुरशिरोमणिलाल जी गो. [ रासवंशीय सेवाधिकारी ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. चतुःश्लोकी-टीका २. रासपंचाध्याई-टीका, विशेष ज्ञातव्य—गोपाल कवि ने अपने ग्रन्थ 'वृन्दावन धामानु-रागावली' में इन दोनों उपर्युक्त रचनाओं का उल्लेख किया है, किन्तु हमें अभी तक ये रचनायें नहीं मिल पायी हैं —

चतुरशिरोमणि जी कौ शिष नारायणदास प्रवीनों।

चतुःश्लोकी-पंचाध्याई पै टीका तिन कीनों।।

[—वृ. धा., गो. क., पृ. सं. ६०]

१३८. नित्यानन्ददास जी :

जन्म स्थल—उत्कल देश, विप्र कुलोत्पन्न, गुरु—श्री सेवक जी, विद्यमानकाल — सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—



कुंज के आँगन में दोऊऽब, चाँदनी बैठे राजें ।  
वरन-वरन कुसुमनि की सज्जा, कोटि अनंगनि लाजें ॥  
कहत बात मुसिकात परस्पर, अति अनूप छवि छाजें ।  
'नित्यानन्द' निरखि दम्पति सुख, मिलि सहचरी समाजें ॥

१३६. नित्यकिशोर जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—नवलकिशोर जी गो. [ गो. मोहनचन्द्र वंशीय ]  
विशेष ज्ञातव्य—चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'हितभक्तिकल्पतरु' में इनका नामोल्लेख  
है । विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी  
हैं ] रचना-उदाहरण—

खेलैं-खेलैं हो अलबेली नवेली, नवल रसिक सौं बसन्त ।  
नवलहि विपिन नवल द्रुम बेली, नवल कुसुम सरसन्त ॥  
नवल मधुप-शुक-पिक जु नवल सुर, नवल अली हुलसन्त ।  
'जै श्री नितकिशोर हित' निरखि रूप छबि, नित नव सुख विलसन्त ॥

१४०. नित्यबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, गो. वनमालीदासात्मज राधाबल्लभदास जी के वंश में  
उत्पन्न, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. धर्मार्थ दर्शन, २. स्फुट पद,  
रचना-उदाहरण—

ग्रन्थ संस्कृत प्रथम हौ संग्रह धर्म विचार । शिष्य खुशबखतराय हित भाषा कौ संचार ॥  
श्री राधाबल्लभलाल कौ 'बल्लभ नित्य' मनाय । श्री हरिवंशाचार्य मत अनुयायी पद नाय ॥

अल्प बुद्धि मेरी कहा रचना ग्रन्थ प्रकार ।  
घट-बढ़ होय सो सोधियौ परउपकार विचार ॥  
विनय करौं कर जोरिक्कें सुनियौ साधु समाज ।  
धर्मार्थ दर्शन ग्रन्थ कौ अंगीकृत महाराज ॥

[—धर्मार्थ दर्शन ग्रन्थ से ]

१४१. निकुंजअली जी :

टोड़ी-फतेहपुर स्टेट की महारानी, जन्मकाल—वि. सं. १६४०, राज्य वैभव को  
त्यागकर वृन्दावन निवास, गुरु—किशोरीलाल जी गो. [ विलास वंशीय सेवाधिकारी ],  
वर्तमान में वृन्दावन में विद्यमान, रचनायें—'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरण में इनकी  
'स्फुट पद' नाम्नी एक रचना का उल्लेख है किन्तु अभी तक हमें इनका एक भी पद  
प्राप्त नहीं हो सका है ।

१४२. निर्मलदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु-सेवासखी जी [ स्वामी जुगलसुन्दरदास जी के शिष्य ], विद्यमानकाल-अठारहवीं शती के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शती के प्रारम्भिक काल तक, रचनायें-१. निर्मल प्रकाश, रचना-उदाहरण-

.....विधि निषेध जिनके नहीं भाई। हित मत माँहिं सोई ठहराई॥  
 राधाबल्लभी सो पिय-प्यारी। राधेबल्लभ व्रत उर धारी॥  
 श्रीहितहरिवंश प्रगट यह गायौ। अपने मत कौं प्रगट दिखायौ॥...  
 सेवासखि सतगुरु सोई जानी। प्रगटे सखिन हेत हित आनी॥  
 गुरु-सतगुरु कौ भेद यह कह्यौ सकल समुझाइ।  
 सो स्वामी करि प्रगट सब 'निर्मल' लई जगाइ॥

१४३. प्यारेलाल जी गो. :

जनक-प्रीतमलाल जी गो. [ वनमालीदासात्मज गो. नागरवर जी के पुत्र केशौराय की पुत्री के वंशोद्भव ] विद्यमानकाल-वि. सं. १६१८ में विद्यमान, प्यारेलाल जी गो. ने अपनी पूर्व वंश परंपरा स्वरचित 'ब्रह्मवैवर्त पुराण टीका' के ब्रह्म खंड में लिखी है। रचनायें-१. ब्रह्मवैवर्त पुराण की टीका, [ रचना काल वि. सं. १६१८ ] २. राधिका सिद्धान्त। रचना-उदाहरण -

श्री मन्त्रित्य किशोरीबल्लभ योः पाद पल्लवानौमि गोस्वामि।  
 श्री सद्गुण सागर नागर निषेविताञ्छश्चत्॥२॥  
 श्री हित पूर्व निषेव्यां निजार्य्य सेव्यां च लाडिली वन्दे।  
 हित नित्य लाल नाम्नी धाम्नी स्वाभीष्ट संपदांश्चत्॥३॥  
 [ -ब्रह्मवैवर्त पुराण टीका-ब्रह्म खंड ]

१४४. परमानन्ददास जी [ प्रथम ] :

गुरु-वनमालीदास जी गो., विद्यमानकाल-सत्रहवीं शताब्दी, अन्य ऐहिक तथ्य अनुसन्धेय रचनायें-१. भक्तिदीप, विशेष ज्ञातव्य-इस ग्रन्थ में कुल ६६ पत्रा हैं, किन्तु बीच-बीच में अनेक पत्रा खण्डित हैं, केवल ४० पत्रा ही प्राप्त हैं। अनुमानतः इसमें बारह उल्लास हैं। ग्रन्थकार ने अपना नाम हित परमानन्ददास लिखा है और अपने को गो. वनचन्द्र जी [ वनमालीदास जी गो. ] का कृपापात्र शिष्य बतलाया है। इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रति रणछोड़लाल जी गो. के निजी संग्रह, अहमदाबाद में सुरक्षित है।

१४५. परमानन्ददास जी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान-दतिया, गुरु-गुलाबलाल जी गो., विद्यमानकाल-वि. सं. १७७० से



१८५० तक आनुमानित, सेव्य स्वरूप— ठाकुर श्री विजय राधाबल्लभलाल जी [ वर्तमान में छीपीगली, वृन्दावन में विद्यमान ] विशेष ज्ञातव्य—इनके वंशज श्री राधामोहन नागार्च आदि आज भी दतिया में निवास कर रहे हैं। रचनायें—१. गुरु भक्ति विलास, २. जमुना माहात्म्य, ३. रस विवाह भोजन, ४. पदावली [ सेवक जी कौ मंगल, गुरुवर्य गो. गुलाबलाल जी कौ मंगल, जमुना मंगल, गो. हीरालाल जी कौ मंगल, हित बधाई, रेखता छन्द आदि ] ५. राधाष्टक, इन सभी रचनाओं का उल्लेख 'मिश्र बन्धु विनोद के खोज विवरणों' में किया गया है। रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

....जै जै श्री गुरु गुलाब हित शरणागत हूजिये। महल टहल मन भाव चाव सम पूजिये॥

शैया सुख सर्वोपरि मन में आवहीं। श्री राधाबल्लभलाल सनेह बढ़ावहीं॥

बढ़ावहीं जु सनेह राधा बल्लभ नित हित नेह सौं।

जगत भ्रम त्रय ताप मेटत, नाम-अमृत-मेह सौं॥

'हित परमानन्ददास' कौं निज, वास विपिन दृढ़ दीजिये।

जै-जै श्री गुरु गुलाब हित शरणागत हूजिये॥

[—पदावली से ]

१४६. परमानन्द जी गो. [ तृतीय ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—वि. सं. १६२२, जनक—चन्द्रलाल जी गो. [ विलासदास जी गो. के वंशज ], निकुंजगमन—वि. सं. १६८२, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

मैं आयौ शरण तिहारी। श्री हित जू शरण तिहारी॥

हूँ नीच अधम मैं भारौ। सब ठौर भटकत हौं हारौ॥

तुम नौका है चरण सहारौ। भव-सागर ते तारौ॥

पड़ौ मैंझधार, तरंग अपार, गयौ प्रभु हार, भवोदधि खारी॥श्री हित जू॥

प्रभु तुम हो दीनदयाला। मैं अति ही सुने कृपाला॥

ज्यों गज कौं कियौ निहाला। त्यों मेटौ भव के जाला॥

'हित परमानन्द' कहे पद बंध, काटौ दुख द्वन्द, भक्ति हितकारी॥श्री हित जू॥

१४७. प्रबोधानन्द जी 'सरस्वती' :

जन्मस्थान—बंग प्रान्त, वृन्दावन आगमन व दीक्षाकाल वि. सं. १५६४ के लगभग, गुरुवर्य—गो. श्री हित हरिवंश जी, वृन्दावन आने से पूर्व मायावादी सन्यासी के रूप में काशी निवास, रचनायें—१. आश्चर्य रास प्रबन्ध, २. कर्णानन्द [ गो. कृष्णचन्द्र जी कृत ]

की टीका ३. प्रेम विलास स्तव [ निकुञ्ज विलास स्तव ] ४ से २०. वृन्दावन महिमा मृतम् [ प्रथम से सत्रह शतक ] २१. संगीत माधव २२-२३. हरिवंशाष्टक [ प्रथम और द्वितीय ] रचना-उदाहरण —

वन्दे वृन्दाविपिन ममन्दम्।

प्रेम-महा रस वेग विजृम्भित मदन महोत्सव कन्दम्॥

अद्भुत-सुरभि-समय सहजोदय मधुरलता तरु जालम्।

नव मकरन्द-महाद्भुत-परिमल-मत्त विचलिदलि मालम्॥.....

आसृत कुसुम घटित-मधु भाजन-मञ्जुल कुञ्ज कुटीरं।

राधा-माधव-नव रति लीला गान मुदाकुल-कीरम्॥.....

प्रिय रस मत्त 'सरस्वति' वर्णित-वृन्दावन महिमानं।

पिवत बुधाः श्रवणेन सुधा रस सार मुदाकर गानं॥

[—संगीतमाधव, प्रथम सर्ग से ]

जीवनवृत्त सम्बन्धी कतिपय भ्रान्तियाँ व निराकरण :

श्री प्रबोधानन्द नामक एक भक्त श्री चैतन्यदेव के भी शिष्य हुए हैं। वह दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उन्होंने 'चैतन्य चन्द्रामृत' तथा 'नवद्वीप शतक' नामक ग्रन्थ की रचना भी की थी। अभी कुछ दिनों से कतिपय गौड़ीय भक्त वृन्द श्री हित हरिवंश चरणाश्रित प्रबोधानन्द को तथा श्री चैतन्य चरणाश्रित प्रबोधानन्द, इन दोनों भक्तों को एक ही भक्त सिद्ध करने के साथ-साथ ही उनको चैतन्य चरणाश्रित सिद्ध करने का प्रयास करने लगे हैं; किन्तु इन दोनों में इतने अधिक पार्थक्य हैं कि जिन्हें निरस्त करना सर्वथा असम्भव है। वे पार्थक्य निम्नांकित हैं —

श्रीचैतन्य-चरणाश्रित प्रबोधानन्द

श्रीहितहरिवंश-चरणाश्रित प्रबोधानन्द

१. ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे।

ये बंगाली महात्मा थे<sup>१</sup>।

१. अन्तःसाक्ष्य—प्रबोधानन्द जी की रचनाओं में भी इनकी मातृभाषा बंगला के प्रयोग बहुल प्राप्त होते हैं। यथा—श्रील, खेलाकरे, चूड़ा, असमोर्ध्व, कतकत।

'खेलाकरे' शब्द—वैदग्धी रस सागरे नवनवानंगैक खेलाकरे।

—वृ. म., प्र. स., द्वितीय शतक, श्लो. सं. ७३ तथैव—११/२२, ६/७२, ११/११४, १/४४, ४५

'श्रील' शब्द—सर्वत्यक्त्वा शरणं गमं श्रील वृन्दावने त्वां॥.....अपि च हृदि कठोर श्रील वृन्दावनस्य।

—वृ. म., प्र. स., दशम शतक, श्लो. सं. ११ एवं प्रथम शतक, श्लो. सं. ७०

—एवमपि १/६२, १७/६५, १७/१२०, ६/८, ७/३६, १४/५५

शेष टिप्पणी भाग अगले पृष्ठ पर



२. ये गौर और गौर लीला धाम नीलाचल तथा नवद्वीप के अनन्य निष्ठ थे।
३. ये नीलाचल में ही श्री चैतन्य चरण चंचरीक बने थे। किन्तु किसी के मत से काशी में श्री चैतन्य कृपा से कृष्ण-भक्त बन गये थे।

ये श्रीवृन्दावन धाम और श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधा के अनन्यैकनिष्ठ थे<sup>१</sup>।

ये काशी से सन्यासी रूप में ही वृन्दावन आये व वृन्दावनस्थ सभी धर्माचार्यों से विवाद करने के पश्चात् गो. श्रीहित हरिवंश जी के चरणाश्रित हुए<sup>२</sup> और गुरु आज्ञा से आजीवन सन्यासी भेष में ही

पिछले पृष्ठ का शेष टिप्पणी भाग—

‘घूड़ा’ शब्द—एक चित्र शिखण्ड चूड़ परं।

—वृ. म., प्र. स., द्वितीय शतक, श्लो. सं. ४४ तथैव ३/२७, ६/७४, ६/४०, १३/१२, १५/६ इनकी रचनाओं में श्री राधा की सारी के छोर में ‘गुच्छा’ के दर्शन होते हैं। यह निश्चित रूपेण उनके बंगाली होने के ही लक्षण हैं—

निचोले नाति सूक्ष्मेण स्वगुच्छांचल शोभिना।.....दिव्य कौशेय कूर्पास गुच्छांचल निचोलनी।

—वृ. म., प्र. स., अष्टम शतक, श्लो. सं. ८, ७१ एवमपि—६/५६

बहिसाक्ष्य—

मये प्रबोधानन्द सरस्वती॥ दण्डी सन्यासी बड़मती॥

बंगाला के हुते निवासी॥ भक्ति लेस नहिं तिनके भासी॥

—अ. अ. की वा., चरण प्रताप लीला, अ. अ., छं. सं. ८६, ६०

१. इनकी वृन्दावनैकनिष्ठा का प्राणवान और मुखर प्रमाण इनके द्वारा विरचित—‘श्रीवृन्दावन महिमामृत’ ग्रन्थ ही प्रत्यक्ष है —

मिलन्ति चिन्तामणि कोटि कोटयः स्वयं बहिर्दृष्टि मुपैति वा हरिः।

तथापि वृन्दावन धूलि घूसरं न देह मन्यत्र कदापि यातु मे॥

—वृ. म., प्र. स., सप्तदश शतक, श्लो. सं. २३

२ [क] प्रबोधानन्द से कवि थोरे। जिन श्री राधाबल्लभ की लीला-रस में सब रस घोरे॥

.....यह प्रिय ‘व्यास’ आस करि श्री हित हरिवंशहि प्रति कर जोरे।

—व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ७७

[ख] प्रबोधानन्द हुते सन्यासी। जाके गुरुमत शून्य उपासी॥

काशी ते वृन्दावन आये। एक मास रहि अति सुख पाये॥

सबही ठाकुर द्वारे देखे। और सब आचारज पेखे॥

सबके मत नीके करि जाने। पै प्रबोध के मन नहिं आने॥

स्तुति अष्टक करि शुठि करी। चित्तवृत्ति हित चरनन घरी॥

सुनि करुना करि रीति बताई। अभिलाषा पुजई मन भाई॥

—र. अ. मा., भ. मु., [गौड़ीय] प्रबोधानन्द जी की परचई

४. चैतन्य चरणाश्रित होने के पश्चात् आजीवन नीलाचल में ही रहे थे।

५. ये अपने उन गुरुदेव श्रीगौरांगदेव को अपना सर्वस्व मानने वाले हैं, जिन्होंने वृन्दावन त्यागकर नीलाचल को अपनी लीला भूमि बनाई थी। निवास स्थान बनाया था<sup>५</sup>।

६. ये भक्ति रस के उपासक थे।

रहे<sup>१</sup>। आचार्य चरण के अन्तर्हित होने के पश्चात् हित रसरीति का भार इन्होंने ही सँभाला<sup>२</sup> और तत्पश्चात् गो. वनमाली दास जी ने उसी का निर्वाह किया।

श्रीहरिवंश चरणाश्रित होने के पश्चात् इन्होंने आजीवन वृन्दावन वास किया। वृन्दावन की सीमा से बाहर कभी भी नहीं गये<sup>३</sup>।

इन्होंने आजीवन वृन्दावन में ही निवास किया था। ये श्रीवृन्दावन को त्यागने वाले, त्यागने की प्रेरणा देने वाले, श्रीवृन्दावनवास में बाधक गुरु को भी त्यागने वाले थे; इतना ही नहीं वृन्दावन की सीमा के बाहर साक्षात् श्री हरि से भी मुख फेर लेने वाले थे<sup>४</sup>।

ये वृन्दावनरस के अनन्य रसिक थे<sup>६</sup>।

१. प्रबोध कही मुहि नाम सुनावौ। आयौ शरण प्रभू अपनावौ॥  
श्रीजी कही तुम यौ मत करौ। मन कौ भाव सु हम पर धरौ॥  
ऊपर ज्यौ है त्यों ही राखौ। सन्यास धर्म में ही रस चाखौ॥  
जुगल मन्त्र तब तुरत सुनायौ। गोप्य कह्यौ काहू न जतायौ॥

—श्री ह. च., उ. दा., प्रबोधानन्द सरस्वती कौ प्रसंग, छं. सं. २३ से २६

२. आगम-निगम सिन्धु मथि लह्यौ। श्री हरिवंश कृपा करि कह्यौ॥..... पुनि परबोधानन्द जु लही। रस सागर लीला मथि कही। श्री राधा सु प्रताप जस॥ श्री वनमालीदास सु रीति। निर्वाही दिन-दिन अति प्रीति। भजन भक्ति अगनित करत॥

—द्वा. य., स्वा. च. दा., राधा प्रताप जस

३. संकल्प एवोद्य कृतो गृहीत्वा तीर्थाम्बु वृन्दाविपिनं न हातुम्।

—वृ. म., प्र. स., एकादश शतक, श्लो. सं. ४१ एवमपि-११/४२. १२/५५

४. कलिन्द तनया तटे स्फुरदमन्द वृन्दावनं। विहाय लवणाम्बुधे पुलिन पुष्प वाटीगतः॥  
धृतारुणपटः परीहृत सु पीतवासा हरि। स्तिरोहित निजच्छविः प्रगट गौरिमा मे गतिः॥

—चै. च., प्र. न., श्लो. सं. १७८

५. सा मे न माता स च मे पिता न स मे न बन्धुः स च मे सखान्।  
स मे न मित्रं स च मे गुरुर्नयो मे न वृन्दावन वास मा दिशेत्॥

—वृ. म., प्र. स., सप्तदश शतक, श्लो. सं. ३५

६. हित्वा वृन्दावन रस कथा मन्य वार्ता रुचिश्चेत्। ज्ञातं क्षित्वा परमममृतं भोक्तुमिच्छुः स्वविष्टा॥

—वृ. म., प्र. स., प्रथम शतक, श्लो. सं. ६७



- |                                                                                                                                                                                                                                                                     |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>७. ये नवद्वीप या नीलाचल के अनन्य थे।</p> <p>८. ये नवद्वीपशतक' तथा 'चैतन्य चन्द्रामृत' ग्रन्थ के रचयिता थे।</p> <p>६. ये अपने गुरुदेव श्रीचैतन्यदेव को श्री कृष्ण रूप में देखने वाले थे; गुरु सखी, सखी, गोपी, यूथेश्वरी या निजेश्वरी रूप में देखने वाले नहीं।</p> | <p>ये वृन्दावनधाम के अनन्य थे<sup>१</sup>।</p> <p>ये 'वृन्दावनमहिमामृतम्' 'संगीत माधव' 'हरिवंशाष्टक' आश्चर्य रास प्रबन्ध' तथा 'प्रेम विलास' आदि ग्रन्थों के रचयिता थे।</p> <p>ये अपने गुरुदेव श्री हिताचार्य को<sup>२</sup> श्रीराधा की निजसखी, प्रियसखी, अन्तरंगासखी, मुख्यासखी और प्राण सखी के रूप में देखने वाले थे<sup>३</sup>।</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

गौड़ीय ग्रन्थों में श्री प्रबोधानन्द जी का नामोल्लेख सर्वप्रथम गोपाल भट्ट जी कृत 'हरि भक्ति विलास' नामक ग्रन्थ के मंगलाचरण में मिलता है। ग्रन्थकार ने स्वयं को प्रबोधानन्द का शिष्य लिखा है —

भक्तेविलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्य शिष्यो भगवत् प्रियस्य॥

गोपाल भट्टो रघुनाथदासं सन्तोषयन् रूप सनातनौ च<sup>४</sup>॥

दूसरा परिचय कवि कर्णपूर कृत 'गौरगणोद्देश दीपिका' ग्रन्थ में इसप्रकार मिलता है—  
तुंगविद्या ब्रजेयासीत् सर्वशास्त्र विशारदा। सा प्रबोधानन्दयति गौरोद्गान सरस्वती<sup>५</sup>॥

श्री जीव गोस्वामी जी ने अपनी 'वैष्णव वन्दना' में प्रबोधानन्द को 'चैतन्य चन्द्रामृत' ग्रन्थ का प्रणेता लिखा है और गोपाल भट्ट को उनका शिष्य लिखा है —

१. त्यक्त्वा वृन्दावनमिदमहो चेदबहिर्यासि नूनं। क्षिप्त्वा कल्पद्रुम वरवनं हन्त शाखोटमेषि॥  
—वृ. म., प्र. स., प्रथम शतक, श्लो. सं. ६७

२. गुरु संकेत—

स्वे साधौ मिलिते शृणोति कथयत्यात्मेशयोर्माधुरी। श्रीवृन्दावन मावसेन्मम समाराध्यः स सर्वात्मना॥  
सद्बन्धुः परमः स मे सद्गुरुः सर्वस्वभूतः स मे। तत्पादे निपतामि दण्डवदहं सर्वाभिमानोज्झितः॥  
—वृ. म., प्र. स., चतुर्दश शतक, श्लो. सं. ३८

३. तत्तद् यूथाधिनाथाभिः शिक्षितादृत लालिताः। तत्र कांचित्तनुं सौम्यां श्रीराधात्यनुकम्पिताम्॥  
क्षणं चरण विच्छेदाच्छीश्वर्याः प्राण हारिणीम्। पदारविन्द संलग्न तथैवाहर्निशं स्थिताम्॥  
—वृ. म., प्र. स., अष्टम शतक, श्लो. सं. १७, २१, २२

बहुना किं स्व कान्तेन क्रीडन्त्यापि लतागृहे। पर्यकाधिष्ठापितां वा वस्त्रैर्वाच्छादितां क्वचित्॥

—वृ. म., प्र. स., सप्तम शतक, श्लो. सं. २३

४. ह. म. वि., गो. म. जी.

५. गो. ग. दी., क. क.

प्रबोधानन्द सरस्वती वन्दे विमलां जय मुदा।

चन्द्रामृत रचित यत् शिष्यो गोपाल भट्टः<sup>१</sup>॥

श्री गोविन्ददेव मन्दिर के अधिकारी हरिदास गोस्वामी के शिष्य राधाकृष्ण गोस्वामी ने 'साधन दीपिका' नामक ग्रन्थ में प्रबोधानन्द को गोपाल भट्ट का चाचा लिखा है—  
श्रीमद् प्रबोधानन्दस्य भ्रातृपुत्र कृपालयम् । श्रीमद् गोपाल भट्ट तं नौमि व्रजवासिनम्<sup>२</sup> ॥

गौड़ीय ग्रन्थों से प्राप्त उपर्युक्त साक्ष्य से निर्भ्रान्ततः ये तथ्य प्राप्त होते हैं कि एक प्रबोधानन्द दाक्षिणात्य ब्राह्मण वंश में पैदा हुए थे। वे गोपाल भट्ट के पितृव्य थे। वे चैतन्यदेव के यशगायक अनन्यभक्त और 'चैतन्यचन्द्रामृत' ग्रन्थ के रचयिता थे।

'चैतन्य चन्द्रामृत' ग्रन्थ से प्राप्त निम्नांकित श्लोकों से यह भी ज्ञात होता है कि ये प्रबोधानन्द चैतन्यदेव के साथ बहुत दिनों तक रहे थे और उनके तिरोधान के पश्चात् इन्होंने भी नीलाचल में ही निवास किया था। इन्होंने श्रीचैतन्यदेव की जगन्नाथ-दर्शन यात्रा का वर्णन करते हुए अद्वैत तथा वक्रेश्वरादि भक्तों के संग संकीर्तन करने का तथा नाम संकीर्तन में प्रगट होने वाले श्रीचैतन्य के प्रेमावेश-भावों का भी उल्लेख किया है—

बध्नन् प्रेम भर प्रकम्पित करो ग्रन्थीन् कटि डोरिकैः  
संख्यातुं निजलोक मंगल हरेकृष्णेति नाम्नां जपन्  
अश्रुस्नानमुख स्वमेवहि जगन्नाथं दिदुर्गता  
यातै गौर तनु विलोचन मुदं तन्वन हरिः पातुवः<sup>३</sup> ॥

पूर्ण प्रेम रसामृताब्धि लहरी लोलांग गौरच्छटा  
कोट्याच्छादित विश्वमीश्वरविधि व्यासादिभिः संस्तुनम्  
दुर्लक्ष्याश्रुति कोटिभिः प्रकटयन् मूर्तिं जगन्मोहिनी  
माश्चर्यं लवणोदरोधसि परंब्रह्म स्वयं नृत्यति<sup>४</sup> ॥

उक्त ग्रन्थ से यह बात भी स्पष्ट होती है कि ग्रन्थकार ने 'चैतन्य चन्द्रामृत' ग्रन्थ की रचना नीलाचल में ही बैठकर की थी। सम्भवतः यह रचना चैतन्य-तिरोभाव के लगभग पाँच वर्ष पीछे तक ही की गई थी—

श्रीभक्तिः क्वचिदुज्ज्वलापि चहरेवाङ्मात्र एव स्थिता  
हा चैतन्य कुतो गतासि पदवी कुत्रापि ते नेक्ष्यते<sup>५</sup> ॥

१. वै. व., जी. गो.

२. सा. दी., रा. कृ. गो.

३. ४. चै. च., प्र. न., श्लो. सं. १६, १३० एवमपि—श्लो. सं. २७, ३८, ४४, ७१ तथा १३१ से १३५ तक

५. चै. च., प्र. न., श्लो. सं. १३७



नीलाचल-स्थित ग्रन्थकार प्रबोधानन्द जी; श्री चैतन्य की क्रीड़ास्थली श्रीजगन्नाथ और समुद्र तट में श्री चैतन्य को न देखकर विरह-कातर स्वर में कहते हैं कि—“हाय ! यह वही समुद्र तट, वही गौड़ नगरी और वही पुरुषोत्तमपुरी है; किन्तु आज इन सबको देखते हुए श्री चैतन्य के दर्शन नहीं हो रहे हैं —

सैवेयं भुवि धन्य गौड़ नगरी वेलापि सैवाम्बुधेः  
सोयं श्री पुरुषोत्तमो मधुपतेस्तान्येव नमामि तु  
नो कुत्रापि निरीक्ष्यते हरि प्रेमोत्सव स्तादृशो  
हा चैतन्य कृपानिधान तव किं वीक्ष्ये पुनर्वैभवम्<sup>१</sup> ।।

चैतन्य सम्प्रदाय की मान्यतानुसार श्रीचैतन्यदेव का नीलाचल में स्थायी निवास वि. सं. १५७२ से प्रारंभ होकर उनके तिरोभाव काल वि. सं. १५८४ या १५६० तक सुस्थिर है। प्रबोधानन्द जी कृत ‘चैतन्य चन्द्रामृत’ से प्राप्त तथ्यों के आधार से यह तथ्य भी निरापद रूप से ज्ञात हो जाता है कि ‘चैतन्य चन्द्रामृत’ कार प्रबोधानन्द नीलाचल में ही श्री चैतन्य चरण-चंचरीक बने। वहीं निवास करते हुए उन्होंने ‘चैतन्य चन्द्रामृत’ ग्रन्थ की रचना की और चैतन्यदेव के तिरोधान काल के अनिश्चित काल पश्चात् तक नीलाचल में ही निवास किया था। ‘नवद्वीप शतक’ ग्रन्थ तो उनके नवद्वीप निवास का एकान्त साक्षी है ही; ‘चैतन्य चन्द्रामृत’ में प्राप्त एक श्लोक से भी यह सुस्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि वे नवद्वीप धाम के ही अनन्य भक्त थे—वृन्दावन के नहीं, वे वृन्दावन तो कभी आये ही नहीं थे।

चैतन्य सम्प्रदाय की उपर्युक्त ऐतिहासिक सामग्री से यह बात निर्व्रान्त रूप से सुस्पष्ट हो जाती है कि ‘वृन्दावन महिमावृत’, ‘प्रेम विलास स्तोत्र’, किंवा ‘निकुञ्ज विलास स्तव’, ‘संगीत माधव’, ‘हरिवंशाष्टक’, ‘आश्चर्य रास प्रबन्ध’ आदि ग्रन्थों के प्रणेता प्रबोधानन्द सरस्वती पाद गो. हित हरिवंश जी के शिष्य थे और ‘चैतन्य चन्द्रामृत’ तथा ‘नवद्वीप शतक’ प्रणेता प्रबोधानन्द श्री चैतन्यदेव के शिष्य थे। यह कहना निराधार और इतिहास विपरीत एक असत्य कल्पना है कि ये दोनों प्रबोधानन्द दो नहीं हैं—एक ही हैं और वह श्री चैतन्यदेव के शिष्य हैं।

प्रबोधानन्द जी कृत ‘संगीत माधव’ में प्राप्त ‘रसिक सरस्वति’ या ‘सरस्वती’ छाप<sup>२</sup> भी प्रबोधानन्द सरस्वती को श्री हिताचार्य का शिष्य कहने के लिए विवश करती

१. चै. च., प्र. न., श्लो. सं. १३६

१. ‘रसिक सरस्वति’ गीत महाद्भुत श्रीराधा रूप रहस्यं। वृन्दावन रस लालस मनसा मिदमुपगोयमवस्यं ।।

—सं. मा., प्र. स., द्वितीय सर्ग

है; क्योंकि श्री हिताचार्य ने उन्हें अपनी रसोपासना में दीक्षित करने के पश्चात् भी 'सरस्वती' संज्ञक संन्यासी भेष में ही रहने की आज्ञा दी थी। संगीत माधव प्रणेता ने ग्रंथ के अनेक छन्दान्त में रचयिता की छाप [नामोल्लेख] 'रसिक सरस्वती' लिखी है। चैतन्य सम्प्रदाय के समग्र संस्कृत साहित्य, बंग भाषा साहित्य एवं ब्रजभाषा साहित्य का आलोड़न करने पर भी किसी रचनाकार की यह छाप प्राप्त नहीं होती। प्राप्त हो भी नहीं सकती क्योंकि यह छाप वृन्दावन रसोपासना प्रवर्तक गो. हित हरिवंश जी के शिष्य प्रबोधानन्द सरस्वती के जीवन की परिचायक है—उन्हीं के जीवन से अभिन्न संबंध रखने वाली है।

'संगीत माधव' प्रणेता प्रबोधानन्द सरस्वती श्री हित चरणाश्रित होने से पूर्व शांकर सन्यास की सरस्वती नाम्नी शाखा में दीक्षित थे। निराकार ब्रह्म के उपासक थे। श्री हिताचार्य के चरणाश्रित होने पर उन्होंने गुरुवर्य श्री हिताचार्य से उज्ज्वल रंग में रँगने की प्रार्थना की थी; उस समय श्री हिताचार्य ने आज्ञा दी थी कि तुम नाम और भेष परिवर्तन मत करो। इसी संन्यासी भेष में रहकर रसोपासना का आनन्द लाभ करो। इसीलिए प्रबोधानन्द जी आजीवन संन्यासी भेष में ही रहे और 'सरस्वती' छाप से रचना भी करते रहे। ग्रंथ प्रणेता ने 'सरस्वती' छाप के साथ 'रसिक' शब्द का प्रयोग करके यह भी व्यक्त कर दिया है कि रचनाकार शांकर सन्यासावलम्बी न होकर रस का उपासक रसिक है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि शांकर सन्यासावलम्बी संन्यासीगण तथा गौड़ीय संतगण स्वयं को 'रसिक' नाम से अभिसंज्ञात नहीं करते और न किसी दूसरे के द्वारा 'रसिक' नाम से अभिसंज्ञात ही किये जाते हैं।

इस प्रकार 'संगीत माधव' रचयिता प्रबोधानन्द सरस्वती की यह 'रसिक सरस्वती' छाप भी यह उद्घोष करती है कि यह प्रबोधानन्द सरस्वती श्री चैतन्यदेव के शिष्य नहीं प्रत्युत श्री हिताचार्य के ही शिष्य थे।

१४८. प्रह्लाददास जी :

गुरु—दामोदरवर जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनार्य—१. पदावली  
[ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना—उदाहरण—

हिमरितु सुखद शिशिर रितु आई, अद्भुत शोभा देखौ आय।  
प्यारी जू के फरगुल सोहै, प्रीतम पहिरैं सरस कवाय।।  
कुञ्ज भवन में उज्ज सुहायौ, कनक अँगौठी धरी बनाय।  
जरत अगरसत अंबर संबर, परम सुगन्धि रही महकाय।।



ज्यों-ज्यों मधुर शीत तन व्यापत, बैठत अँग सों अंग मिलाय।  
'हित प्रह्लाद' श्रीराधाबल्लभ, देखत री मेरे नैन सिराय॥

१४६. प्राणनाथ जी :

गुरु-दामोदरवर जी गो., विद्यमानकाल-अठारहवीं शताब्दी, रचनायें-१. प्रश्नोत्तरी, २. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] ३. हस्तामलक, रचना-उदाहरण —

मंगल मोद विनोद व्यास घर।

प्रगट्थौ बाद अनादि विमल रस, महाराज गुरुराज रसिकवर॥

परिपूरन प्रेमा कौ दायक, लायक सब विधि गौर भजन भर।

कुंज केलि कोविद कल क्रीड़ा, 'प्राणनाथ' मधु मत चरन तर॥

[ -पदावली से ]

१५०. प्रियालाल जी गो. [ प्रथम ] :

जन्मस्थान-वृन्दावन, जनक-गोपीलाल जी गो., विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध से बीसवीं शती के प्रारम्भ तक, विशेष ज्ञातव्य-ये प्रियालाल जी गो.; नागरवर गो. के पुत्र केशौराय की पुत्री के वंशोद्भव प्रियालाल जी गो. से पृथक हैं। रचनायें-१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण-

आजु मिलि मंगल गावैं माई।

रानी तारा ढोटा जायौ, है सुख सुन्दरताई॥

केशर चन्दन अजिर लिपावौ, मोतिनु चौक पुरावौ।

कंचन सीक सँवारि साथिया, द्वारैं केलि रुपावौ॥

तीन लोक की सकल संपदा, या सुख पर तर वारी।

'जै श्री प्रियालाल' हित प्यारे मुख पर, कोटि-कोटि बलिहारी॥

१५१. प्रियालाल जी गो. [ द्वितीय ] :

नागरवर जी गो. के पुत्र केशौराय की पुत्री के वंश में उत्पन्न, वि. सं. १६१६ में विद्यमान, रचनायें-१. राधासिद्धान्त तरंगिणी [ रचनाकाल-वि. सं. १६१६ ] विशेष ज्ञातव्य-यह ग्रन्थ हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित है।

१५२. प्रियादास जी [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु-रूपलाल जी गो. [ गो. हरिलाल-सुत ], विद्यमानकाल-अठारहवीं शताब्दी, रचनायें-१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

जै जै हित रूप प्रिया हित रूप मई । श्री राधाबल्लभ रीझि सु अँग-अँग छबि दई ॥  
 फानूस में ज्यों दीप त्योंहि छबि जगमगै । निरखत नैन सुनत सबहिनु के मन लगै ॥  
 लगै नैननि बैन मन में, प्रेम बीज बेली दई ।  
 सदा अंकुर फूल-फल-दल, भाव-भीजी नित नई ॥  
 भयौ मंगल 'दास प्रिय' मन आश पूरन सब भई ।  
 जै जै श्री हित रूप प्रिया हित रूप मई ॥

१५३. प्रियादास जी दनकौर वाले [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—यमुना तटवर्ती दनकौर [ द्रोणाचारज जू कौ खेरौ ], जाति—ब्राह्मण, जनक—श्रीनाथ तिवारी, जननी—ब्रजकुँवरि जी, अग्रज—हितदास जी, सज्ञानसखी जी नामक हित रसिक के सत्संग से प्रभावित होकर बाल्यकाल में ही रसोपासना में दीक्षित, गुरु—रसिकानन्दलाल जी गो., [ गो. किशोरीलाल जी के सुत ], निवासस्थली—गो. दामोदरवर जू कौ रासस्थल, वृन्दावन [ वर्तमान में बल्लीगंज, अठखम्भा नाम से विख्यात ], गुरु बहिन—आनन्दीबाई जी, प्रियादास जी की 'सेवकवाणी' के प्रति अत्यन्ताशक्ति देखकर सेवक जी ने इन्हें दर्शन दिया और अपनी जन्मतिथि बतलाई । सेवक जी द्वारा निर्दिष्ट की गई जन्मतिथि के आधार पर इन्होंने सेवक जी महाराज का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाना प्रारंभ किया । विद्यमानकाल—वि. सं. १७८० से १८६० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. दोहावली [ १२३७ ], २. पदावली [ १२८ ], ३. सेवक प्रिया विलास [ सेवक चरित्र ] ४. सेवक जू कौ अष्टक [ सेवक हिलग या सेवक की हित नामाशक्ति ], रचना- उदाहरण—

मुदे दृग पानिप आनन चारु ।

सुपने माँहिं सुरत रँग बूड़त, हितअलि मन क्रीड़ा ये चारु ॥

नेति-चाटु वच द्वन्द पद्यौ है, मच्यौ है दपटि रसिकमनि सारु ॥

झगर निवार दियो रस दुहुँवनि, अदलि बदलि विस्तार ॥

इहै भौ हठी हठीलौ निजु मन, हित हरिवंश उदार ॥

तन-मन मथन कियैं सचु पावैं, 'प्रियादासि' बलिहार ॥

[—पदावली से, प. सं. ११८ ]

१५४. प्रियादास जी [ तृतीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी प्रायः सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—श्री हितलाल जी गो. ये प्रियादास जी श्री हित रासमण्डल पर नित्य प्रति समाज गायन करते थे, निवासस्थली—भीमकुंज के निकटस्थ रूपराम की कुंज में, विद्यमानकाल—वि. सं. १७७० से १८५० तक



आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य—गोविन्दअली जी कृत 'भक्त गाथा' में उल्लिखित छप्पय संख्या ८८ की "पद धमार रस पुष्ट सुजस सेवक विस्तारै" इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि इन्होंने होरी धमार के पद, सौरत रस के पद और सेवक सुजस सम्बन्धी पदों का प्रणयन किया था किन्तु अभी इनकी कोई भी रचनायें प्राप्त नहीं हो सकी हैं। ये प्रियादास जी 'सेवकचरित्र' कार प्रियादास जी के समकालीन हैं; किन्तु उनसे पृथक हैं।

१५५. प्रियादास जी रीवाँ वाले [ चतुर्थ ] :

जन्मस्थान—रीवाँ रियासत, गुरु—चन्द्रलाल जी गो. [ गोवर्धननाथ जी के सुत ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पद रत्नावली २. भक्ति प्रभा ३. राधाबल्लभ भाष्य ४. राधाकृष्ण विवाह ५. वेदान्त सार ६. वैष्णव सिद्धान्त ७. सुसिद्धान्तोत्तमः ८. श्रुति तात्पर्य। रचना-उदाहरण—

बन्दीं श्री गुरु वदन सुधाकर। शीतलकर अति सरस मनोहर॥

सुधा श्रवत मुख-शशि निशि-भोर। ग्रहण करत मम श्रवण-चकोर॥

सो अमृत कौ करिकैं गान। वानी प्रेम सु रस में सान॥.....

वरनत राधाकृष्ण कौ सुखमय सरस विवाह।

श्रवन-कटोरा में भरत आवत सु सुख अथाह॥.....

'प्रियादास' मन में रहौ श्रीराधाबल्लभलाल।

तिन पद संगी चरन की धूल रहौ मम भाल॥

[—राधाकृष्ण विवाह ग्रन्थ से]

१५६. प्रियादास जी शास्त्री पटना वाले [ पंचम ] :

जन्मस्थान—पटना, गुरु—सनेहीलाल जी गो., विद्यमानकाल—वि. सं. १८७० से वि. सं. १९४० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. अनन्याश्रय पद्धति २. अध्ववि निर्णय [ गो. वृन्दावनदास जी कृत ] की टीका [ रचनाकाल—वि. सं. १९२१ ], ३. उत्सव बोध ४. उत्सव निर्णय ५. ईशावास्योपनिषद् व्याख्या ६. चाह बेली ७. जमुनाष्टक [ श्री हित जू कृत ] की टीका ८. तत्त्व निर्णय ९. तिथि निर्णय १०. निज मत दर्पण ११. नित्यबिहारिणी स्तव १२. परकीया भाव खण्डन १३. प्रमाण चतुष्टय १४. प्रकाशानन्द पूर्व संज्ञा १५. प्रार्थना शतकम् १६. प्रिया चरण-चिन्ह तात्पर्य १७. भागवत प्रकाश १८. भक्ति रत्नाकर १९. मत बोध २०. महोत्सव निर्णय या वर्षोत्सव निर्णय [ रचनाकाल—वि. सं. १९१३ ] २१. राधा तत्त्व दर्पण २२. [ श्री ] राधाबल्लभाष्टक २३. राधाभक्ति मंजूषा २४. राधाष्टकम् २५. व्यासनन्दन भाष्य २६. व्रतोत्सव निर्णय २७. विलक्षण भक्ति मीमांसा २८. सम्प्रदाय निर्णय २९. स्फुटवाणी-टीका ३०. सारासार विवेक चतुर्विधि निर्णय ३१. सूत्र विमर्षिणी ३२.

सुश्लोक मणि माला [ रचनाकाल—वि. सं. १६१४ ], ३३. संक्षिप्त सार ३४. सिद्धान्त निर्णय ३५. सेवा दर्पणम् ३६. हित मतार्थ चन्द्रिका [ रचनाकाल—वि. सं. १६०५ ], ३७. हित कथामृत तरंगिणी । रचना-उदाहरण—

श्री राधाबल्लभं नत्वा सम्प्रदायानुसारतः । करोम्यहं 'प्रियादासो' महोत्सव विनिर्णयम् ।।  
प्राचीन बहवो ग्रन्थाः सन्ति निर्णयकाः युतः । तथापि महनु मुद्गीतां बोधताय मतिर्ममः ।।  
[—महोत्सव निर्णय, श्लो. सं. १-२ ]

१५७. प्रियादास जी [ षष्ठम ] :

जन्मस्थान—चौबेपुर नामक ग्राम [ कानपुर जिलान्तर्गत ], जनक—दुर्गाप्रसाद जी, जन्मकाल—भाद्रपद शु. अष्टमी वि. सं. १६१५, जाति— शुक्ल गोत्रीय कान्य कुब्ज ब्राह्मण, चित्रकार एवं शिल्पकार, गुरु—गिरधरलाल जी गो. झाँसी वाले [ श्री हितात्मज गो. गोपीनाथ जी के वंशोद्भव ] निकुंजगमन—वि. सं. १६७३ । रचनायें—१. अनुराग शतक, २. अज इन्दुमती नाटक ३. दोहावली, ४. निकुंजदेवी स्तवराज, ५. पदावली, ६. प्रिया रसिक विनोद, ७. ब्रज रस कवितावली, ८. भक्तिज्ञानानन्दामृत वर्षिणी, ९. राधाष्टक, १०. वरसाना शतक, ११. वृन्दावन तत्व रास, १२. विवेकार्थ प्रकाश, १३. शास्त्र सार सिद्धान्त मणि, आदि । रचना-उदाहरण—

मन की पीर मनहिं पहिचानै ।

जो कदापि कहिहै काहू सों तौ वाकौं कोऊ साँच न मानै ।।

ताते मौन भये हम बैठे दुःख के हाथ बिकाने ।

है अति गुप्त भाव कौ रस जो चाहत तापै बजत दिवाने ।।

बिना कृपा हित कुँवरि-लाल के टरिहैं न दुःख सयाने ।

'प्रियादास हित' पीर प्रसूती बूझौ बाँझ ताहि का जानै ।।

[—पदावली से ]

१५८. प्रियाअली जी :

'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों में इनका परिचय इन शब्दों में दिया गया है—“नाम प्रिया अली [ टोड़ी ], ग्रन्थ—हित जू की विनय के पद, जन्मकाल—वि. सं. १६३५, विवरण—राधाबल्लभीय ।”

१५९. प्रियादत्त जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—बीसवीं शती का पूर्वार्ध काल, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—



हिंडोला कुंज श्री सेवक छबीला मन लुभाया है।  
 जु सोना-हीर-पन्ना खचि सु मंडल गोल बनाया है॥ हिंडोला॥  
 चहुँदिशि वृक्ष मन्दारं प्रफुल्लित झूमहीं भारं।  
 कदम तरु बीच सह डारं हिंडोला मधि सुहाया है॥ हिंडोला॥  
 लै डोरी लाल मखतूली जटित मणि पाटुली झूली।  
 सु गर्जन मेघ अनुकूली सु घन तरुवर पै आया है॥ हिंडोला॥  
 चमकती दामिनी चिम-चिम झिंगारौ शब्द है झिम-झिम।  
 सु सीकर वर्षहीं रिमझिम यौ मोती दल जड़ाया है॥ हिंडोला॥  
 लडैती-लाल सजधज कर जु पचरँग चीर चूँनरि धर।  
 मनों घन-दामिनी ऊपर ले हरि का धनु झुकाया है॥ हिंडोला॥  
 घिरी चहुँ ओर हित बाला सजै तन वस्त्र बहु माला।  
 लखैं भूली-सी मृगमाला मिलाकर साज गाया है॥ हिंडोला॥  
 अली हित आठ सेवा की कुशल सब भाव भेवा की।  
 गहैं भर थालि मेवा की अतर सेवक लगाया है॥ हिंडोला॥  
 अली वनचन्द्र श्री मोहन सखी कृष्णदासि अँग सोहन।  
 श्री गोपीनाथ छवि जोहन, डबा बीरी सजाया है॥ हिंडोला॥  
 चँवर श्री व्यास-हरिदासी-प्रबोधानन्द कर पासी।  
 अली नरवाहनें प्यासी चरन हित मन लगाया है॥ हिंडोला॥  
 सु झूलन फूल मुसिकानें सखीजन थार सजि आनैं।  
 जु सन्ध्या भोग रुचि मानैं सुहृदअलि ने पवाया है॥ हिंडोला॥  
 कराकर आँचवन बीरी सुगन्धन सौं भरी सीरी।  
 सु औसर जानि अति नीरी जु आरति कौं मँगाया है॥ हिंडोला॥  
 बलैया लैय अलि चित जू सु वारैं प्रान-मन-वित जू।  
 उतारैं आरती हित जू मणिनु सौं जगमगाया है॥ हिंडोला॥  
 सुरंगित पुष्प अंजुलि भर विविध रँग मुक्त माणिक धर।  
 जु वारत प्राण जीवन पर उच्छिष्टामृत बँटाया है॥ हिंडोला॥  
 चले पुनि कुंज एकान्ता जु मल्हकत कन्त अरु कान्ता।  
 सखी मुख देखहीं क्षान्ता सुरत-सिन्धू बढ़ाया है॥ हिंडोला॥  
 आलिंगन-चुम्बन भारी प्रिया मुख नेति उच्चारि।  
 ललन ललना जु उर धारी भदन प्राकृत लजाया है॥ हिंडोला॥

अलीजन गीत जयकारैं उतै पिक-मोर किलकारैं।  
 इतै भूषण सु झनकारैं मनौं डिमडिमि बजाया है॥ हिंडोला॥  
 दुरैं प्रमुदित सबै सखियाँ अनूपम सुःख कौं लखियाँ।  
 अली सेवक निरखि अँखियाँ कहैं सब मिलि बधाया है॥ हिंडोला॥  
 बढ़ा सुख भौन भोजन में सजी आरति सु सौंजन में।  
 चलौ चित फेरि मौजन में अलिन परसाद आया है॥ हिंडोला॥  
 करैं पुनि खेल पावस कौं करैं मन-नैन ता बस कौं।  
 बदैं हितअली सावस कौं धरैं वीन राग जमाया है॥ हिंडोला॥  
 निकट गुरुआलि के होकर 'प्रियादत्त' जक्त कौं खोकर।  
 मनानँद बाढ़ में रोकर दुरित दुख कौं भगाया है॥ हिंडोला॥

[—पदावली से]

१६०. प्रीतमलाल जी गो. :

नागरवर गो. के पुत्र केशौराय की पुत्री के वंश में उत्पन्न, इन्हीं के पुत्र प्यारेलाल जी ने वि. सं. १६१८ में 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' की टीका की है। अतः इनका विद्यमानकाल उन्नीसवीं शताब्दी सुनिश्चित है, रचनायें—१. हिताष्टक, २. तत्वाष्टक ३. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

आजु किशोरी-हरि खेलत रंग।

अलि ! रस माते गावत 'गारिनु, तान तरंग अभंग॥

पिचक धार रँग झर अति लायौ, घन सु गुलाल उतंग।

'जै श्री हित प्रीतम' रस वादी स्वादी, दोउ अनंग उमंग॥

१६१. प्रीतमदास जी :

जन्मकाल—वि. सं. १६१० के लगभग, जन्मस्थान—फतेहपुर जिलान्तर्गत किसी ग्राम में, गुरु—गोवर्धनलाल जी गो. [ रास वंशीय सेवाधिकारी ], निकुंजगमन—वि. सं. १६८० के लगभग, रचनायें—१. अभिलाषा २. पदावली [ गुरुवर गो. गोवर्धनलाल जी की जन्म बधाई, सेवक बधाई, हित बधाई, लाल जू की बधाई, प्रिया जू की जन्म बधाई, गो. रासबिहारीलाल जी, गो. किशोरीलाल जी व गो. राधालाल जी की मंगल बधाई, हित जन्म-माँझ, फुटकर माँझ, रसिकों का स्वरूप परिचय, स्फुट तथा विनय के पद, श्री हित नाम-वाणी व स्वरूप उत्कर्ष, गुरुदेव-निकुंजगमन, श्री राधाबल्लभलाल जू कौ पाटोत्सव, बसंत, होरी, डोल, मलार, हिंडोला, शैयाबिहार, रास, सुरतान्त, मंगला एवं अन्य रस



पदावली ] ३. प्रातः स्मरण चतुष्क, ४. व्यास सुवन करुणा प्रार्थना, ५. वृन्दावन विनोद बेली, ६. मन संबोधनार्थ बेली, ७. रसोद्गार [ वचनिका ] ८. रसिक नामावली, ६. [ श्री ] राधाबल्लभ विलास १०. ललिता सौभाग्य, [ ललितकिशोरी जी का स्वरूप परिचय ] ११. सेवाकुंज विलास १२. [ श्री ] हरिवंश विलास, १३. हित कृपा अभिलाष बेली, १४. हितवाणी उत्कर्ष, १५. हित चन्द्र प्रकाश १६. हित विनयावली, १७. हित मन प्रबोध, १८. हित स्वरूप उत्कर्ष यश । विशेष ज्ञातव्य—स्वयं रचयिता की हस्तलिपि में लिखी गई 'हितचन्द्र प्रकाश' नामक रचना की प्रति रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित है । रचना-उदाहरण—

श्री हरिवंश हँसैं विलसैं कल केलि कलोल भरे हुलसावैं ।  
दम्पति रूप महादभुत धारि सु मंजुल कुंज लसैं पुलकावैं ।।  
प्रेम अनंग अभंग तरंग परे रस रंग हिये कुलकावैं ।  
'हित प्रीतमदासि' पदाम्बुज सेवति अंक धरे लखिकैं सचु पावैं ।।

[—पदावली से ]

१६२. प्रेमदास जी [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—रूपलाल जी गो. [ गो. हरिलाल-सुवन ], विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शती के द्वितीय दशक के मध्य, निकुंजगमन—वि. सं. १८१३ में हुए अहमदशाह अब्दाली के उत्पात में, विशेष ज्ञातव्य—चाचा वृन्दावनदास जी ने 'रसिक अनन्य परिचावली' [ छप्पय सं. २०४ ], 'बसन्त प्रबन्ध चतुर्थ' [ छं. सं. ६७ ], 'हित रूप चरित्र बेली' [ छ. सं. ४३४ ] और 'हरिकला बेली' आदि ग्रन्थों में इनका संक्षिप्त परिचय दिया है । 'रसिक अनन्य परिचावली' की "भाव कल्पतरु आदि दै रस ग्रन्थ रचे दृढ़ भाव पन" इस पंक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन्होंने 'भाव कल्पतरु' नामक किसी रस ग्रन्थ की रचना के साथ-साथ अन्यान्य ग्रन्थों की भी रचना की थी; किन्तु अभी तक 'भाव कल्पतरु' नामक ग्रन्थ अप्राप्त ही है । ये अपने समय के प्रसिद्ध वाणीकार थे । रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. भाव कल्पतरु या निज भाव कल्पतरु, ३. रस सार संग्रह ४. हितअलि सिंगार ५. हित चौरासी-टीका, ६. हितहरिवंशचन्द्र वर नाम रत्नावली । रचना-उदाहरण—

रँग हो हो होरी खेलत प्यारी प्रान पियारे लाल सौं ।  
छके छैल छह रितु एकति करि राजत रूप रसाल सौं ।।  
फूली झूमक देत सखीजन, फूले गावत पिय-प्यारी ।  
गुंजत मनौ मधुप मधुरितु में, लखत रूप की फुलवारी ।।

लाल गुलाल उड़त नभ घमङ्घौ शीतल रवि सौ आनि छयौ।  
 वह ग्रीषम काके जिय भावत, यह ग्रीषम जग जीत लयौ॥  
 अरस परस छिरकत केशर रँग, करिकैं रस वरषा सोहैं।  
 ताल-मृदंग मेघ ज्यों गरजत, हँसनि दामिनी मन मोहैं॥  
 झिलमिलात दर्पन से अँग-अँग, सहज शरद रितु देह लियैं।  
 नाचत नैन नवल नटुवा से, भुज विलास में ताल दियैं॥  
 चरचत चतुर चारु चन्दन लै, भीजि वसन तन लपटाने।  
 ऐसैं शीतल होत परस्पर, मनु हिमरितु के सुख साने॥  
 निरखि हरषि वर वदन माधुरी, पुलकि-पुलकि रमकत झमकैं।  
 शिशिर माँहि रोमांचित से है, हौन दुलाई कौं दमकैं॥  
 छह रितु रूप अनूप-अनूपम, श्यामल-गौर स्वरूप कियैं।  
 खेलहु खेल झेलि रस हिलमिलि, 'प्रेम' सहित करि वास हियैं॥

#### १६३. प्रेमदास जी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान-गुजरात प्रान्त, गुरु-नवललाल जी गो., विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—गोविन्दअली जी कृत 'भक्तगाथा' [ छप्पय सं. ७७ ] की "श्री नवललाल गुरु कृपा बल युगल ग्रन्थ टीका कियौ"—इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि इन्होंने 'राधा-सुधानिधि' और 'हित चौरासी' अथवा 'हित चौरासी' और 'सेवकवाणी' इन दो ग्रन्थों पर टीकायें की थीं; ये दोनों टीकायें अभी तक हमें कहीं देखने को नहीं मिली हैं।

#### १६४. प्रेमदासी जी :

जन्मस्थान—नसिरापुर नामक ग्राम [ कानुपर के निकट ], जन्मकाल—कार्तिक शु. अष्टमी वि. सं. १६४८, जाति—कान्य कुब्ज ब्राह्मण, जनक—श्री सुदर्शननाथ पं. राधेश्याम जी दीक्षित, गुरु—किशोरीलाल जी गो. [ अधिकारी-विलास वंश ] विवाह—कानपुर जिलान्तर्गत विल्हौर नामक ग्राम में, पति—सूर्यप्रसाद जी शुक्ल, पति की अधार्मिक प्रकृति के कारण परिवार त्यागकर विरक्त वेष ग्रहण, विरक्त वेष दाता गुरु—बाबा नवेलीशरण जी, निवास स्थली—वृन्दावनस्थ मदनटेर में विद्यमान, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

चंचलता सिगरी तजिकैं थिर है रहु रे यह बात भली है।  
 सेव्य प्रिया पद-पंकज धूर सजीवन मूर बिहार थली है॥  
 बारहि बार यही मन कौं उपदेशत है निज 'प्रेमअली' है।  
 ठाकुर नन्दलला हमरे ठकुराइनि श्री वृषभानुलली है॥



१६५. [ महारानी ] प्रेमकुँवरि जी :

जन्मकाल—वि. सं. १६४५, विवाह—दतिया नरेश महाराजा गोविन्दसिंह से, दतिया की महारानी, निकुंजअली [ टोड़ी—फतहपुर की रानी ] से साहचर्य, उन्हीं के सत्संग से हितोपासना में दीक्षित, गुरु—किशोरीलाल जी गो. [ विलास वंशीय सेवाधिकारी ], वि. सं. १६७४ में विद्यमान, रचनायें—१. चन्द्रप्रकाश २. स्फुट पद, विशेष ज्ञातव्य—इन दोनों रचनाओं का उल्लेख 'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरण में किया गया है; किन्तु अभी तक हमें इनकी कोई रचना देखने को नहीं मिल सकी हैं।

१६६. प्रेम पथ पथिक जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें—१. श्री हित चरित्र, [ हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित ]।

१६७. फतेहसिंह जी छाप—'हितराम' :

काशी नागरी प्रचारणी सभा, काशी के खोज विवरणों में हितराम जी का परिचय इन शब्दों में दिया गया है—“फतेहसिंह—उपनाम—‘हितराम’, कछवाहा क्षत्रिय, रामशाह नरेश के पुत्र, हित हरिवंश के अनुयायी, संवत् १७२२ के लगभग विद्यमान, ग्रन्थ—१. हरि भक्ति सिद्धान्त, [ पद्य ] २६→१२०। इनके कतिपय कवित्त-सवैया भी प्राचीन ह. लि. प. सं. में बिखरे पड़े हैं। एक कवित्त निम्नांकित है—

विधना बड़ाई दई ताहि तकि आवै कोऊ,  
ताकी दया करिकैं दया के रस ढरिये।  
ताकों धन दीजै जस लीजै भली कीजै जग,  
जीवन यहै है दुःख दीननि के हरिये ॥  
कहै 'हितराम' जोपै गाँठ ते न दियौ जाय,  
तोपै पल एक उपकार ते न टरिये।  
अपने कहे ते जोपै औरनि कौ भलौ होइ,  
जीभ के हलाइवे की काहिली न करिये ॥

१६८. बलीदास जी :

द्विज कुलोत्पन्न, गुरु—वनमालीदास जी गो., विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं। ] रचना—उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

जनम बधाई कुँवरि लली की।  
प्रगटी प्रभा अभूत सुगंधनि, हरि-अलि कंज-कली की ॥

सुमुख समूह सिहात हियें सुनि, इहि विधि बात भली की।  
कीरति रानी की कल कीरति, गावति सुफल फली की।।.....  
वेगि बधौवा गयौ महावन, विदा भई महली की।  
हेरी देत अघैहै नाँहीं, अब चढ़ि बनी 'बली' की।।

१६६. बल्लभसखी जी :

काशी निवासी, गुरु-कमलनैन जी गो., विद्यमानकाल-अठारहवीं शताब्दी, रचनायें-१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

बना फूलों दा बैंगला जोर।

लाल बाग गुललाल चँबेली शीसफूल सिरमोर।।

जरद दुपट्टा पगड़ी जामा, जुलफें जुलम करोर।

'बल्लभ सखी हित' साहिब फूली अंबुज दृग झकझोर।।

१७०. बल्लभदास जी [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु-रूपलाल जी गो. [ गो. हरिलाल-सुत ], विद्यमानकाल-अठारहवीं शती का उत्तरार्ध काल, पदों में छाप-'हित बल्लभ', 'बल्लभ हित', तथा 'बल्लभ'। रचनायें-१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—

एरी ! सुनि सुजान मान मौन छाँड़ि मनभावन सों, निपट आधीन तासों रूसनों न रस।  
घड़ी पल छिन कल न परत प्रान प्यारे कौं, तेरौ मग हेरत हरि दीजिये दरस।।  
तू तौ वृषभानुजा कठोर होत वाही तैं, वे दयाल चाहैं बाल सुख की बरस।  
'बल्लभ हित' लाल मनमोहन सों, भेंटि री ! सखीन के समाज की तरस।।

१७१. [ महंत ] बल्लभदास जी प्रसिद्ध नाम-'बल्लभसखी' [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु-रसिकसखी जी [ चन्द्रसखी जी के शिष्य ], विद्यमानकाल-अठारहवीं शती के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शती के प्रारंभिक काल तक, रचनायें-१. बल्लभसखी जी की वाणी २. सेवकवाणी कौ सिद्धान्त, विशेष ज्ञातव्य-'हिन्दी साधने' के एक संकलन में वृन्दावन के महंत बल्लभसखी की ओर से तत्कालीन पेशवा बालाजी बाजीराव के नाम लिखा एक पत्र भी संकलित है। यह पत्र वि. सं. १८११ की अगहन सुदी ६ को लिखा गया है और जिसमें आलोच्य बल्लभसखी द्वारा पेशवा बालाजी बाजीराव के लिये मंगल कामना की गई है।

'बल्लभसखी जी की वाणी' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति बाबा काशीदास



जी [ महंत वनचन्द्र जी का डोल ] के निजी संग्रह में सुरक्षित है; जिसमें से एक छन्द नीचे उद्धृत है—

श्री चन्द्रसखी कवि परम गुरु रसिकदास गुरुदेव।

‘बल्लभ’ नित सुमिरन करे यों पाइव हरि कौ भेव॥

राधा अरु प्यारे कौ सुमिरन नित कीजै। नैननि भरि आनँद सों प्रेम सुधा पीजै॥  
सुर-नर-मुनि ध्यान धरैं शेष सहस गावैं। कोटिक जुग बीत गये पार नहीं पावैं॥  
एक बार गावै सो प्रेम भक्ति पावै। नौधा कौं छोड़िकें दशधा कौं धावै॥  
जागी हित दम्पति अरु चन्द संग आये। रसिकसखी दरस दिये ‘बल्लभ’ सुख पाये॥

१७२. बल्लभदास जी [ तृतीय ] :

गुरु—किशोरीलाल जी गो. [ गो. हित रूपलाल-सुत ], निवासस्थली—व्यास वंशीय श्री प्रियादास जी के सेव्य स्वरूप त्रिभंगीलाल जी के मन्दिर में, विद्यमानकाल—वि. सं. १७७० से १८६० के मध्य आनुमानित। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

बघाई आजु व्यास मिश्र घर, बाजत रँगिली भाँति।

लै-लै भेंट बाद उमझौ सब, इक आवति इक जाति॥

बाँधत बन्दनवार द्वार इक, फूले अँग न समाति।

जै श्री किशोरीलाल हित रूप प्रगट लखि ‘बल्लभ’ बलि-बलि जाति॥

१७३. बल्देव कवि जी :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—सिद्धराय जी, [ मुरलीराय जी के वंशज ], विद्यमानकाल— उन्नीसवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—गोपाल कवि कृत ‘वृन्दावन-धामानुरागावली’, [ पृ. सं. १६७ ] में इनका संक्षिप्त परिचय दिया हुआ है। रचनायें— १. पदावली २. वृन्दावनसत [ ध्रुवदास जी कृत ], की टीका, रचना-उदाहरण —

रावरी कृपा तौ अति तनक सुगम नाहिं, तापर बढ्यौ है सो प्रसन्नता कौ चाव है।  
‘कवि बल्देव’ और कौन है उपाय यामैं, ताकौ लखिवे में नाहिं आवै नैंकु भाव है॥  
वंशी अवतार जे कृपा सों भव पार करैं, देख्यौ जग खोजिकें न और दूजौ दाव है।  
चरन शरन हरिवंश जू की जानि लीनी, जातैं बन्यौ एरे ! मन सहज बनाव है॥

१७४. बनवारीलाल जी गो. :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें—१. हरिवंशाष्टक [ प्राप्ति स्थल—बनवारीलाल जी पचौरी, अलीगढ़ के निजी संग्रह में ]।

१७५. [स्वामी] बालकृष्णदास जी [प्रथम] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु-हरिलाल जी गो. [कुंजलाल गो. के सुत], विद्यमानकाल-अठारहवीं शताब्दी, निवासस्थली-श्रीहित रास मण्डल, वृन्दावन, विशेष ज्ञातव्य-राधाबल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध वाणीकार चन्द्रसखी जी इन्हीं के कृपापात्र शिष्य थे। उन्होंने अपने अधिकांश पदों में अपने नाम के साथ-साथ इनके नाम की भी छाप लगाई है—“चन्द्रसखी हित बालकृष्ण छवि”, रचनायें—१. पदावली [प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं] रचना-उदाहरण —

बैठे कुञ्ज सदन में सोहैं, करत राधामोहन व्यारी।

एक थारी एकै जल झारी, एक वैस इक रूप उजारी॥

मधु मेवा पकवान मिटाई, दम्पति अति रुचिकारी।

प्यारी के कर पावत प्यारौ, प्यारे के कर पावत प्यारी॥

दूध सिराय लै आई ललिता, प्यारी जू पियौ लाल करै मनुहारी।

‘हित बालकृष्ण’ जूँठन कौं बोली, लै-लै री लै-लै प्राण अधारी॥

१७६. [स्वामी] बालकृष्ण तुलाराम जी - छाप ‘बाबरीसखी’ [द्वितीय] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, जन्मस्थान-ब्रज क्षेत्र, गायन-वादन और पद प्रणयन में परम चतुर, विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध काल, विशेष ज्ञातव्य-ये अपने पदों में ‘बाबरीसखी’ नाम की छाप प्रयुक्त करते थे—इसका उल्लेख कृष्णगढ़ाधीश नागरीदास जी ने अपनी ‘पद प्रसंग माला’ नामक रचना में इन शब्दों में किया है—“रूप नगर ठाकुर श्री गोवर्धननाथ जी जन्माष्टमी के दिवस एक ब्रजवासी गुनी नाम तुलाराम ताकी प्रसिद्ध छाप ‘बाबरीसखी’ सो नृत्य गान प्रेम सहित ठाकुर आगे करत भयौ .....।” रचनायें—१. पदावली [प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं], रचना-उदाहरण —

लड़ैती जू के नैननि नींद घुरी।

आलस बस जोवन बस मद बस, पिय के अंश दुरी॥

पिय कर परस्यौ सहज चिवुक वर बाँकी भौंह मुरी।

‘बाबरीसखी हित’ व्याससुवन बल, देखत लतनि दुरी॥

१७७. बिठ्ठलदास जी :

गुरु-नागरवर जी गो. [गो. वनमालीदासात्मज], विद्यमानकाल-वि. सं. १६६५ से १७२५ के मध्य अनुमानतः। रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण —



मिटै त्रिविध तन ताप जबहि हरिवंश भजन सुनि।  
उपज्यौ रास हुलास गाय दम्पति रस मन गुनि॥  
बतयौ मोहि निज धाम विपिन वृन्दा सुखकारी।  
क्रीड़त श्यामा-श्याम रहत रितु छहौं सदा री॥

श्री नागरवर परसाद पद, 'हित बिठल' अति सुख लह्यौ।  
श्री हरिवंश नाम सु प्रताप निधि, जात न कछु मोपै कह्यौ॥

१७८. बीठलदास जी :

जन्मस्थान—देववन, कायस्थ कुलोत्पन्न, नाहरमल जी के लघु भ्राता, जूनागढ़ के प्रधान मन्त्री, गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से वि. सं. १६०६ तक, रस भक्ति धारा के प्रसिद्ध वाणीकार हित ध्रुवदास जी इन्हीं के पौत्र थे। रचनार्ये—अभी तक हमारी खोज में इनकी कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नहीं हुई है। कतिपय पद 'प्राचीन पद संग्रहों' में उल्लिखित हैं, जिनमें से एक पद निम्नांकित है—

मना वृषभानुनन्दिनी जाँचि।  
जा राधा-मुरलीधर ध्यावत ताहि गाइ नित नाँचि॥  
जाकी शक्ति जोगमाया बल रस कौं रसिक कहावै।  
सो वृन्दावननाथ प्रेम बस अपने अंग नचावै॥  
आनन्दित निजु शक्ति शिरोमनि नख-शिख श्याम अचेत।  
ताकी कृपा कटाक्ष बिना हरि काहू कछू न देत॥  
परम कृपालु दयालु दुखीजन कामधेनु सुखरासि।  
श्री बरसाने खेत कलपतरु दै दिन 'बीठल' वासि॥

१७९. बीठलराय जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—नागरवर जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण, रचनार्ये—१. पदावली [प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं] रचना—उदाहरण—

सदा जगमत सेवक प्यारौ श्री हरिवंश नवेल।  
सेवक के सिर मंडन हित जू सेवक हित दृग तारे खेल॥  
सेवक की जीवनि श्री हित जू सेवक पालक रस दै केल।  
सेवक की आशा श्री हित जू साँचौ फल हरिवंश अलेल॥  
सेवक की शोभा श्री हित जू सेवक प्राननि प्रान दलेल।  
विद्या सेवक हित सेवक तारक हित मोदित हित सेवक सकेल॥

सेवक की अभिलाषा हित जू हित आत्मा सेवक रहे मेल।  
सेवक हृदै अस्थान श्री हित कौ हित लीला रस मत्त सब पेल॥  
सेवक कौ भोजन श्री हित जू हित सेवक बिहरत भुज मेलि।  
'जै श्री हित बीठल' सेवक हित प्रीतिहि समुझि लपटि ज्यों तरु सौं बेल॥

१८०. बुलाकीदास जी :

गुरु-गोपाललाल जी गो. [ गो. कुंजलाल जी के पुत्र ], विद्यमानकाल-वि. सं. १७४० से १८१० के मध्य आनुमानित, रचनायें-१. पदावली, २. दोहावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण-

श्री हरिवंश-श्री हरिवंश-श्री हरिवंश गावौ । श्री व्यासकुँवर लाड़िले के चरन-कमल धावौ ॥  
हित प्रताप जुगल केलि में प्रवेश पावौ । 'हित बुलाकी' रंगमहल-सहचरी कहावौ ॥  
करनी ही सो करि चुके अब कछु करने नाँहि । श्री हरिवंश सरन गही परे विपिन रज माँहि ॥  
बिगरे तौ-अति ही भली सुधरै तौ सुधराय । 'बुलाकीदास' हरिवंश बिनु और न कछु सुहाय ॥

१८१. ब्रजभूषण जी गो. :

जन्मस्थान-वृन्दावन, जनक-वनमालीदास जी गो., विद्यमानकाल-सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें-१. हित चौरासी-टीका, २. पदावली । रचना-उदाहरण-

निर्तति रासमण्डल पिय-प्यारी ।

उघटि-उघटि नाना छवि सौं गति, लेत अनुपम भारी ॥

बाजत ताल मृदंग बीन मिलि, मुरली मधुर महारी ।

गावनि मधुर सरस ताननि सौं, राग - रागिनि सवारी ॥

जमुना पुलिन शरद चन्द्र निशि, त्रिविध पवन सुखकारी ।

विलसत छवि सौं बिहारी-बिहारिनि, 'हित ब्रजभूषण' बलिहारी ॥

१८२. ब्रजपति जी गो. :

जनक-जयदेव जी गो. [ गो. कृष्णचन्द्र वंशीय ] विद्यमानकाल-सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक, रचनायें-१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण -

देखौ वन विहरति पिय-प्यारी ।

नाचत गावत वैनु बजावत, जमुना तट सुखकारी ॥

वंशीवट के निकट अली सँग, रासमण्डली धारी ।

उरप तिरप गति लेत सुलप अति, 'हित ब्रजपति' बलिहारी ॥



१८३. ब्रजलाल जी गो. :

जन्मकाल—वि. सं. १७१५ माह बदी द्वितीया, जन्मस्थल—वृन्दावन, जनक—बिहारीलाल जी गो., गुरु—कमलनैन जी गो., विशेष ज्ञातव्य—गो. कमलनयन जी के पश्चात् श्रीराधाबल्लभलाल जी के मन्दिर का सेवाधिकार इन्हीं को प्राप्त हुआ। निकुंज गमन—वि. सं. १७८५—१७८६ के लगभग, रचनायें—१. अष्टयाम, २. कृष्णाष्टक, ३. पदावली [ विभिन्न उत्सव व सिद्धान्त ] ४. प्रेम चन्द्रोदय नाटक ५. प्रबोध चन्द्रोदय नाटक [ अप्राप्त ], ६. मन प्रबोध ७. राधा प्रत्यंग वर्णन ८. राधाकृष्ण संयोग श्रृंगार, ९. राधाकृष्ण विप्रलम्भ श्रृंगार १०. सेवासत या सेवा विचार, ११. संस्कृत गीत, १२. हृदयराम वैष्णव काव्य [ अप्राप्त ], रचना-उदाहरण—

राधे तेरे तन में बिना ही साँझ कौन यह, ऊगत है शशि अद्भुत तासु रीति है।  
काम के धनुष आपु पास हो सो नित धरे, तम के समूह कौं तकत पै न जीति है।।  
और सुनों पास चक्रवाक दोउ मिले रहैं, पंकजनि अंक में नचावैं धरि प्रीति है।  
सो तू कहै हौं तौ न बचावति हौं मोहन कौं, कहौ 'ब्रजलाल' तेरी कहा परतीति है।।

[—राधा प्रत्यंग वर्णन, से छं. सं. २७]

१८४. ब्रजदासी जी :

गुरु—मीठा जी, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान, रचनायें—१. पदावली, २. कवित्त-सवैया [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरे हैं ], रचना-उदाहरण—

खेलत होरी गोरी के सँग राधाबल्लभ रँगनि रँगिलौ।  
छिरकत चौप चाइ सौं दुहुँ-दिशि धाइ धरत उर रँगनि रँगिलौ।।  
गहि लीनों जब नवल किशोरी पीत रंग रँग्यौ रँगनि रँगिलौ।  
दै अंजन गुलचा दयौ गालनि नाचत लालन रँगनि रँगिलौ।।  
बाजे विविध बजावत सहचरि, भावत अति जिय रँगनि रँगिलौ।  
श्रवन पकरि बैठारि उठायौ, प्रिया जैति गायौ रँगनि रँगिलौ।।  
सकल गुननि की सीवाँ दोऊ, वरनै कोउ हित-रँगनि-रँगिलौ।  
'ब्रजदासी' रिझवारि लड़ैती, कियौ सब भाँतिनु रँगनि रँगिलौ।।

[—पदावली से]

१८५. ब्रजगोपालदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—रतनदास जी,

विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से बीसवीं शती का पूर्वार्ध, रचनायें—  
१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. स्फुटवाणी-टीका, ३. सेवकवाणी-टीका,  
४. राधासहस्रनाम ५. राधासुधानिधि-टीका। रचना-उदाहरण —

तारा रानी लियें गोद में मुख-चन्दाहि निहारैं।  
राधे-राधे कहि दुलरावत किलकि-किलकि किलकारैं॥  
अरुन पगनि की चलनि रंग भरी मानों कमल झिलारैं।  
'ब्रजगुपाल हित' देखि मगन भई रानी-व्यास खिलारैं॥

[—पदावली से]

१८६. ब्रजनिधिबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, गो. वनमालीदास सुत, गो. राधाबल्लभदास जी के वंश में  
समुत्पन्न, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात्, रचनायें—१. धाम क्षेत्र, २.  
पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], ३. संजीवन चरितावली, रचना-उदाहरण—

विघ्न हरन मंगल करन तारातनय उदार।  
जिनके चरनन जो भजै छिन में होहि भव पार॥  
वृन्दावन जमुना पुलिन जुगल रूप सुकुमार।  
जिनके सुमिरन करत ही उत्तरत भव संसार॥  
श्रीराधाबल्लभ इष्ट पुनि आचारज हरिवंश।  
उठि प्रभात सुमिरन करत दुरत पाप कौ अंश॥  
धाम क्षेत्र इहि विधि कह्यौ हितप्रभु कृपा मनाइ।  
पढ़ै सुनै धारन करै 'ब्रजनिधि' सब सुख पाय॥

१८७. ब्रजमोहन जी गो. :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—आनुमानिक—उन्नीसवीं  
शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

रसिया न मानैं मेरी आँखिन भरत गुलाल।  
अछन-अछन पाछैं अलबेलौ निरखि नवेली बाल॥  
गोहन पश्यौ सखी 'ब्रजमोहन' करत अनौखे ख्याल।  
निपट निडर बलिहार बिहारी भुज भरि होत निहाल॥

१८८. ब्रजजीवनदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—हरिलाल जी गो.—[ गो.



वनमालीदासात्मज गो. ब्रजभूषण जी के प्रपौत्र गो. उदयलाल जी के पुत्र ], इन्होंने अपने गुरुवर्य गो. हरिलाल जी को 'हरिसहचरि' नाम से भी स्मरण किया है। विद्यमानकाल-वि. सं. १७६५ से १८७५ के मध्य आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य-रचनाओं में छाप- 'ब्रजजीवन', 'ब्रजजीवनदास', 'ब्रज जीवन हित' 'ब्रजजीवना'। अपने समय के ये कुशल संगीतज्ञ और काव्य प्रतिभा सम्पन्न रसिक थे। गो. चतुरशिरोमणिलाल जी [ अधिकारी-रासवंश ] से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्वरचित 'हृदयाभरण' नामक ग्रन्थ में इन्होंने गोस्वामी जी को सादर स्मरण भी किया है। रचनायें-१. कवित्त संग्रह [ ३५६ कवित्त प्राप्त हैं-जिनमें श्री हित प्रिया-प्रीतम जू के नख-शिख का वर्णन, वर्षोत्सव का वर्णन और षट ऋतुओं का वर्णन कवित्त छन्दों में है ], २. गाजीपुर निवासी हरेराम विलास [ हरेराम-दिनचर्या ], ३. चतुरासी सार, ४. चतुरासी माहात्म्य, ५. छद्म चौवनी ६. पदावली साँझी ७. पदावली-वर्षोत्सव [ १७३ पद ], ८. भक्तमाल [ नाभाजी कृत और प्रियादास जी कृत ] की टीका-बृहद [ दोहा-चौपाई छन्दों में ], ९. भक्तमाल-टीका [ कवित्त छन्दों में ], १०. भक्तमाल-टीका [ अरिल्ल छन्दों में ], ११. भक्तमाल-टीका [ माँझ छन्दों में ], १२. मंगल बड़े महाराज कौ, १३. रस आन्धिक सत, १४. [ श्री ] राधा जनम बधाई, १५. राम जनम बधाई, १६. रामचन्द्र की सवारी, १७. वाणी, १८. वृन्दावन सन्त षोड़षी [ श्रीहित रसिकमाल ], १९. सत्संग सार, २०. सेवकवाणी-माहात्म्य, २१. हरि सहचरि विलास, २२. [ श्री ] हित वंशावली २३. [ श्री ] हित जनम बधाई, २४. हृदयाभरण। रचना-उदाहरण- शरद कुहू में देखौ शोभा दीपमालिका की, 'ब्रजजीवन' बनि ठनि बैठे जु लला-लली। हीरा-लाल-पन्ना रु जवाहर की रोशनी में, मानिक की टाटी जगमगत भला भली। समै दान बत्ती के जु झाड़ बहु रंग वारे, लटकैं फनूस लैनटैन नवलावली। झिलिमिलि झिलि झालरीन में झलाझली है, झालरी झिलनि झिलमिलनि झलाझली।। चन्दन-अगर-बूका-वन्दन-गुलालन की, अतर-फुलेल मुख साँधे की मलामली। मँहदी करनि 'ब्रजजीवन' सँवारी लाल, कंगन-बलय-पहुँची-आरसी-छला छली।। कंचुकी जंगाली अंग झलकैं गुलाली सारी, बादला किनारी झल्लू पल्लू की हला हली। झिलिमिलि झिलि झालरीनि में झलाझली है, झालरी झिलनि झिलमिलनि झलाझली।।

[—कवित्त संग्रह से, दीपदान उत्सव]

१८६. ब्रजनाथजी शास्त्री :

जन्मस्थान-पटना, अन्य ऐतिहासिक तथ्य शोध के गर्भ में, रचनायें-१. अनुराग लतिका [ हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित ]।

१६०. ब्रजजीवनलाल जी :

इनका संक्षिप्त परिचय केवल 'मिश्रबन्धु विनोद' के खोज विवरण में ही मिलता है—“नाम-ब्रजजीवनलाल, ग्रन्थ-स्फुट पद, जन्मकाल-वि. सं १६५६, विवरण-राधाबल्लभीय ।”

१६१. ब्रजभूषणलाल जी :

इनका संक्षिप्त परिचय केवल 'मिश्रबन्धु विनोद' के खोज विवरण में ही मिलता है—“नाम-ब्रजभूषणलाल, ग्रन्थ-१. मानसिक ध्यान २. स्फुट पद । जन्मकाल-वि. सं. १६५७, विवरण राधाबल्लभीय ।”

१६२. वैजनाथ जी :

जन्मस्थान-भेलसा [ मध्यप्रदेश ], जनक-छेदीलाल जी, जाति-सकसैना कायस्थ, कोलारस-जिला शिवपुरी में नाजिर-पद पर रहे, विद्यमानकाल-बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, विशेष ज्ञातव्य-प्रसिद्ध वाणीकार भोलानाथ जी सकसैना इन्हीं के अनुज थे, रचनायें-१. पदावली २. राधासुधानिधि-टीका [ इन दोनों रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ श्रीराधागोपाल जी के मन्दिर, कोलारस, जिला-शिवपुरी में आज भी सुरक्षित हैं । ]

१६३. भगवानदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु-रसिकबल्लभ जी, विद्यमान काल-उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें-१. त्रिपदी छन्द [ कतिपय ], विशेष ज्ञातव्य-रस भारती संस्थान, वृन्दावन में इनकी हस्तलिपि में लिखी हुई एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है । इस प्रति में प्रेमदास जी कृत 'हित चौरासी-टीका', हरिराम व्यास जी कृत 'रासपञ्चाध्यायी' तथा लालस्वामी जी कृत 'कवित्त एवं फुटकर पद' उल्लिखित हैं । 'हित चौरासी'-टीका की अन्तिम पुष्पिका में लेखक ने लिपिकाल का एवं 'रासपञ्चाध्याय' की अन्तिम पुष्पिका में स्वरचित कतिपय त्रिपदी छन्दों का भी उल्लेख किया है; जो निम्नांकित हैं —

“ इति श्री चौरासी पद की राग की संख्या संपूर्ण ।। संवत् १८६६ क्वार मासे कृष्ण पक्षे तिथि ८ लिषितं जलालाबाद संपूर्ण ।। ”

“ इति श्री व्यास जी कृत रासलीला संपूर्ण ।।

अब लेखक कछु लिखत जु छन्द । यह पद मोती प्रेमानन्द । मनियाँ उनतीस तीस सैंह ।।  
पोई प्रीति-गुन सौं रचि माल । पहिरी उर हों भयौ निहाल । श्रीहरिवंश कृपा करी ।।  
पढ़ै-सुनै यह पद चित लाइ । तिन उर गौर-श्याम झलकाँइ । विमल भक्ति में दृढ़ रहैं ।।  
रसिकबल्लभ जू हैं बढनार । तिनकी पद-रज मैं सिर धार । विपिन वास दृढ़ आस है ।।



लिखितं यहै भगवानदास । रसिक अनन्यनि पद-रज आश ॥ श्री वृन्दावन में वास है ॥  
कातिग बदि शुभ दिन चतुरदशि । खेलत चौपर दोऊ हैंसि-हैंसि । ता दिन पोथी लिखी है ॥  
॥ इति संपूर्ण ॥

१६४. भजनदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु-चेतनदास जी, [ छाप-  
'चितवनअलि' ] विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें-१. निज मन्त्रार्थ, [ भजनदास  
जी की वाणी ], रचना-उदाहरण —

श्रीगुरु हित चेतन कृपा वरनों हित रसरीति ।  
होत कृपा सत्संग तिन व्यासनंद पर प्रीति ॥  
हित व्यापक सब जगत में भुवन चतुर्दश माँहिं ।  
पशु-पक्षी चैतन्य-जड़ हित बिनु कछू जु नाँहिं ॥  
सो स्वरूप प्रत्यक्ष हित भेद न परत लखाय ।  
कृपा करें हरिवंश हित तब ही सुमिरौ जाय ॥  
हितमय वृन्दाविपिन है हितमय सेवाकुंज ।  
अगनित सहचरि हित मई हित विलसत सुख पुंज ॥  
'श्रीहित चितवनि' कृपा बिनु कौन चलै यह चाल ।  
प्रेम गैल अति कठिन है कछू न लागै ताल ॥

१६५. भागवतावतंश जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल-उन्नीसवीं शताब्दी,  
रचनायें-१. हरिवंशाष्टक, रचना-उदाहरण —

सदा ध्यायन् वृन्दावन नव निकुंजावनि बलि तडित्वं तत्तत्त्व प्रणि हित हृदामोद बलितः ।  
हितीशानाचार्यो जयति यदति कांति चकितः सहस्रां श्रुशंकं समजनितिश्चीन गमनः ।  
गौड़ श्रीहरिवंश हंस उदितश्चैतन्य चन्द्रश्चतौद्धा चेतो भगद्विलोचनतया विश्वप्रकाशेधतौ ।  
याभ्यां प्रति प्रेमभक्ति पदवी व्यक्ती कृत्या सद्गुणैः तस्या हंत चरन्ति संतत मभी संतो बहंतो मुदां ।  
[—इति श्री भागवतावतंश रचितः श्री हित हरिवंशाष्टक संपूर्ण ]

१६६. भोलानाथ जी 'भोरीसखी' [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु-ब्रजपति जी गो., [ गो.  
कृष्णचन्द्र वंशीय ], नाम-भोलानाथ, पदों में प्रयुक्त छाप-'भोरीसखीहित' और 'भोरीअलि',  
अपने समय के प्रमुख समाजगान गायक, विद्यमानकाल-अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध  
से उन्नीसवीं के द्वितीय दशक के मध्य आनुमानित, रचनायें-१. पदावली [ प्रा. ह. लि.

प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

पौढ़े माई श्री राधाबल्लभलाल ।

वृन्दावन घन नव निकुंज में, संग प्रिया नव बाल ।।

एक सेज पर इक पट ओढ़े, करत रँगीले ख्याल ।

उर सौं उर मुख सौं मुख जोरत, उरझी बाहु मृनाल ।।

आलसजुत घूमत रस झूमत, रस भरे नैन विशाल ।

दुरि देखत ललितादिक रन्धनि, धनि जिय मानि निहाल ।।

छूटी अलक दूटी हारावलि, श्रम जलकन बने भाल ।

‘भोरीसखी हित’ चरन पलोटत, पीवत रूप रसाल ।।

१६७. भोलानाथ जी ‘भोरीसखी’ [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—भेलसा [ मध्यप्रदेश में भोपाल नगर के निकट ], जन्मकाल—वि. सं. १६४७, नाम—भोलानाथ, जनक—छेदीलाल जी, जाति—सक्सैना कायस्थ, बड़े भ्राता—बैजनाथ जी [ कोलारस—जिला शिवपुरी में नाजिर ], शिक्षा—बी. ए., छतरपुर नरेश विश्वनाथसिंह के धार्मिक परामर्शदाता, कुछ ही दिनों में पुत्र और पत्नी का देहान्त, गृहस्थ जीवन से मुक्त होकर वृन्दावनागमन और शेष जीवन वृन्दावन में ही व्यतीत, गुरु—गोवर्धनलाल जी गो. [ रासवंशीय सेवाधिकारी ], पदों में प्रयुक्त छाप ‘भोरी’, ‘भोरी अली’, ‘भोरी सखी’, ‘हित भोरी’, निकुंजगमन—वि. सं. १६८६ [ बयालीस वर्ष की आयु में ], विशेष ज्ञातव्य—वृन्दावन आगमन से पूर्व भी अनेक पदों का प्रणयन, वृन्दावन में निवास स्थली—श्रीराधाबल्लभलाल जी के मन्दिर में, रचनायें—१. अध्ववि निर्णय [ वृन्दावनदास जी गो. कृत ] की टीका, २. अष्टयाम, ३. उपसुधानिधि [ कृष्णदास जी गो. कृत ] की टीका, ४. पदावली [ संख्या ६०० से ऊपर ], ५. राधासुधानिधि-टीका, [ पद्यानुवाद ], ६. सेवा विचार [ गो. ब्रजलाल जी कृत ] की टीका, ७. सुधर्मबोधिनी [ लाड़िलीदास जी कृत ] की टीका, ८. स्फुटवाणी की टीका, ९. श्री राधाबल्लभ भाष्य, आदि । रचना-उदाहरण —

यह रज यह गति यह रहनि यह सुहाग यह भाग ।

देहु सोहनी करि कृपा यह अपनों अनुराग ।।

तुम मेरे हाथनि परौ मो मन तुम तन माँहि ।

एकमेक है सोहनी चरन-रेनु विलसाँहि ।।

मैं रज मिलि रज होउँगी तुम जु बुहारौ आय ।

तुम मोहि ठेलत चलौगी मैं तुमसौं लपटाय ।।



अहो सोहनी ! मम हृदय रहै तोहि लपटाय।  
 प्यारी-प्रीतम चरन-रज दुरलभ देहु मिलाय।।  
 धन्य-धन्य वे रसिकजन मन-तन कुंजनि आय।  
 तुम्हें हाथ लै सोहनी भवन बुहारत गाय।।  
 या तन हू मैं प्रीति सौं तुमही कौं दुलरात।  
 श्रीवन वीथिनु रमत हैं लियैं सोहनी हाथ।।  
 तिन चरनन में सोहनी देहु प्रीति अति मोहि।  
 'हितभोरी' यह आश धरि दिन-दिन सुमिरौं तोहि।।

१६८. मधुरानन्द जी :

इनके पूर्वाश्रम सम्बन्धी सभी बातें अभी अनुसन्धेय हैं। केवल अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी में लिखे गये 'पद संग्रहों' में इनके कतिपय पद प्राप्त होते हैं। इस आधार पर इनका विद्यमानकाल अठारहवीं शती के अनिश्चितकाल पूर्व माना जा सकता है। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

प्रगटे श्रीहरिवंश नरेश दिनेश द्विजेश श्री व्यास मिश्र गृह,

शेष-महेश-सुरेश-शारदा-नारद जस रस भावन।

बलि बलि पन्द्रहसौ सम्वतसर रितु बसन्त माधव मास ग्यास उजियारी-

सुप्रसन्न श्री राधाबल्लभ जू आपु ही सु रूप धरि प्रीति प्रतीति रसरती दृढ़ावन।।

अति उत्साह बाद अनादि सुघर परिकर उधारन निगम सारु नित्यबिहार-

स्नेह आचार-अचारज येई श्रीवृन्दावन कुंज-निकुंज इष्ट लीला रस दरसावन।

'हित मधुरानन्द' सुछन्द तत्सुख कन्द श्री तारा जू नन्दन,

पद द्वन्द शरन हौं- अरु जेते विशद-विशद गुन गावन।।

१६९. मथुरा हित जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना उदाहरण—

कुंज भवन मोहन करत हैं काम केलि।

बैठे पुहुप तलप ऊपर प्यारी के कंठ भुज मेलि।।

हाव-भाव मृदु हास विलास ललिता पियत सखी नैननि पर रेलि।

'मथुरा हित' मोहन ढिंग राधा, सुरति समय रस झेलि।।

२००. मनोरथलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—चुन्नूलाल जी गो., वि. सं. १८१३ में विद्यमान,

रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. हित वंशावली, रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

श्री हित जू बाद लियौ औतार।

माधव मास ग्यास उजियारी, शुभ नक्षत्र शुभ वार॥

वृन्दावन रसरिति कहन कौं, प्रगटे व्यास-कुमार।

घर-घर मंगल भयौ सबनि के घर-घर जै-जै कार॥.....

भई मन भावन भीर भाँवती रही न देह सँभार।

जै श्री मनोरथलाल हित तन-मन वरनौ शोभा-सिन्धु अपार॥

[—पदावली से ]

२०१. मदनमोहनदास जी :

जन्मस्थान—रीवाँ रियासत में मुकुन्दपुर नामक ग्राम [ वर्तमान में मध्यप्रदेशान्तर्गत जिला—सतना ], जन्मकाल—फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी वि. सं. १६५७, सुसम्पन्न वैश्य परिवार में उत्पन्न, जनक—शिवप्रसाद जी [ ये ही आगे चलकर राधिकाचरणदास जी 'ढोंगी बाबा' के नाम से विख्यात हुए ] जननी—जसोदादेवी, [ हरिवंशदासी जी ] पितामह—त्रिवेणीदास जी, पत्नी— ब्रजलता जी, सत्ताईस वर्ष की आयु में नाजिर पद से त्यागपत्र, वृन्दावनागमन—वि. सं. १६८६ में—इसी समय से यहीं पर परिवार सहित स्थाई निवास, गुरु—रूपलाल जी गो. [ विलास वंशीय सेवाधिकारी ] निवासस्थली—श्री राधिकाबल्लभलाल जी का मन्दिर सेवाकुंज, गली वृन्दावन, रचनायें—१. स्फुट पदावली, २. हित शास्त्र [ प्रणयन में संलग्न ] ३. हित हरिवंश चरित्र, ४. हित हरिवंशाष्टक ५. हित अष्टयाम सम्बन्धी कतिपय पद, रचना-उदाहरण—

शरद-निशि देखि विवि रास कौ मन कस्यौ।

तीर कालिन्दिनी मणिनु मण्डल जहाँ, तहाँ ठाढ़े भये सबनि कौ मन हस्यौ॥

मुरलि पिय अधर धरि तान नव विस्तरि, मणिनु मण्डल मनौं अमी बिनुमित झर्यौ।

करत परशंश पुनि-पुनि जु नव नागरी, और सबहीन कौ सुनत धीरज टस्यौ॥

भले जू रसिक तुम लई स्वामिनि रिझै, कहत सब अली गुन अधिक वंशी भस्यौ।

विकट आलाप पुनि उरप तिरपन सहित, तत थेई-तत थेई जुगल मुख उच्चस्यौ॥

फरहरत ललित पट सुलप लेत अति विकट, भलैं जू भलैं कहि हितअली आदस्यौ।

वीन हितअलि सु कर प्रिया नव गति लई, अहा-अहा मिष्ट रव पीय निजु मुख कस्यौ॥

गति जु ऐसी लई चकित थकित सब भई, राग हू मूर्ति धरि प्रिया-पायन पस्यौ।

भये मन मुदित यौ देखि कौतिक सबै, निशा सँग निशापति प्रेम-फन्दन पस्यौ॥



आज के रास कौ लास ऐसौ कछू, मनहरन विपिन हू कौ गयौ मन हस्यौ।  
'दासि हित मदनमोहन' जु विवि वदन की, ओप लखि अपनपौ अलिनु वारन कस्यौ॥

२०२. मन्नीलाल जी गो. 'प्रेमबन्धु' [ बँगला वाले ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—वि. सं. १६३७, जनक—श्री नन्दकुमार जी गो. बँगला वाले [ गो. वनमालीदासात्मज गो. ब्रजभूषण वंशोद्भव ], विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. गुरु गीता २. स्फुट पद ३. सेवा शतक, ४. हित नवपदी ५. हित बारहखड़ी, ६. हिताष्टक, आदि। रचना-उदाहरण —

कक्का करि हित वन्दना राधाबल्लभलाल। आचारज हरिवंश हित मोपर होहु दयाल॥  
खख्खा खेवक विश्व के युगल चरन निरधार। भवसागर सौं पार है होहि नरन उद्धार॥  
गंगा गुरु की कृपा सौं कहा सुलभ जग नाहिं। मनसा-वाचा-कर्मणा सर्वपाप नसिजाहिं॥  
'प्रेम बन्धु' बारहखड़ी पढ़ै-सुनै चित लाय। पूर्वोत्तर सब जन्म कृत वर्तमान अघ जाय॥  
श्रीराधाबल्लभ चरन सरन रहै मन मोर। 'प्रेमबन्धु' हरि भक्ति में चाखै सुरस अथोर॥  
[ —हित बारहखड़ी से ]

२०३. मनोहरदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, संस्कृत भाषा के विद्वान व दर्शनशास्त्र के विज्ञाता, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. हरिवंशाष्टक। रचना-उदाहरण—

यः चतुर्व्यूह रूपेण वृन्दारण्ये विराजते। हरिवंश इति नाम रसना मिष्ट दायकं॥२॥  
हितेन प्राप्यते राधा हितेन सखि जूथपा। हितेन प्राप्यते धाम हित नैव रसज्ञता॥११॥

अत्यन्त मूढ़ै मयि धर्म वर्जिते, सर्वाधमं उत्तम वस्तु कांक्षिणी।

हे व्याससूनुः करुणैक राशिः स्तनोतु भक्ति निजा पाद पद्मयौ॥

॥ इति श्री हिताष्टक वैष्णव मनोहरदास कृत संपूर्ण ॥

२०४. मनोहरअली जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, पूर्वनाम—अज्ञात, गुरु—गोवर्धनलाल जी गो. [ रासवंशीय सेवाधिकारी ], विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, विशेष ज्ञातव्य—प्रीतमदास जी द्वारा वि. सं. १९५५ में प्रतिलिपि की गई 'ब्यालीसलीला' की अन्तिम पुष्पिका में इनका नाम सादर स्मरण किया गया है । [ अली मनोहर रसिकवर गुरु गोवर्धनलाल, इनके पद-पंकज सुमिरि मेद्यौ भ्रम तत्काल ], रचनायें—१. गुरु गोवर्धनलालाष्टक, २. पदावली । रचना-उदाहरण—

श्रीगोवर्धनलाल हित रूप रसज्ञ रसाल। चरन-कमल आश्रित सदा मोपै द्रवहु दयाल॥  
परमरसिक करुना अयन श्रीगोवर्धनलाल। चरन शरन की आश मुहि दूजौ नाहिं दयाल॥  
हित रूपी सम्पति हमें दई लखाय तत्काल। श्री गोवर्धनलाल जू रसिक लाड़िली लाल॥  
नाम 'मनोहर अली' जू दियौ कृपा करि बाल। टहल बुहारी कुंज की श्री गोवर्धनलाल॥  
श्री गोवर्धनलाल गुरु श्री गुरु अष्टक जान। पाठ करत करिहैं कृपा श्री हरिवंश सुजान॥  
[—गुरु गोवर्धनलालाष्टक से]

२०५. मनोहरबल्लभ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—श्री प्रतापबल्लभ जी गो. [ गो. वनमालीदासात्मज  
गो. राधाबल्लभदास जी के वंशज ] विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्धकाल,  
रचनायें—१. अलंकार मयूष २. कीर दूत ३. गोपिका गीत ४. छन्द पयोनिधि ५. छन्द सुधाकर  
६. जमुनाष्टक [ श्री हित जू कृत ] की टीका ७. नास्तिक-आस्तिक संवाद ८. विनयाष्टक  
९. राधासुधानिधि-टीका १०. राधा कृपा कटाक्ष की टीका ११. राधा प्रेमामृत तरंगिणी १२.  
लक्ष्मी विलास १३. हित चौरासी-टीका, १४. हित सूत्र भाष्य १५. हित विनोद शिक्षा।  
रचना-उदाहरण —

राधाबल्लभलाल जी श्रीहरिवंश कृपाल। वृन्दावन वनचन्द्र भजि पाप-पुञ्ज कौं काल॥  
जो श्रीहितहरिवंश कौ ज्ञान-ध्यान चित देय। पढ़ै सुनै नित प्रेम सौं सोई हरि पद लेय॥  
श्रीराधाबल्लभलाल के सेवी हित कुल जान। श्रीप्रतापबल्लभ तनय नाम 'मनोहर' मान॥  
वृन्दावनवासी सदा गौड़ जाति विख्यात। गादी पाई ललित की सुन्दरबल्लभ तात॥  
अपनी गादी मोहि दै आप निकुंजनि माँहिं। सेवत श्यामा-श्याम पद सखी रूप धरि ताहि॥  
मूल शहर लखनऊ है वैश्य जाति बल्देव। भ्रात किशोरीलाल हैं राजखजाने सेव॥  
मेरे शिष्य दोऊ भये और सकल परिवार। बसे अजुध्या में सदा फैजाबाद मँझार॥  
ज्ञान रीति पद्धति सकल उन पूछी चित लाय। हितविनोद उनके लिये कियौ सकल सुखदाय॥  
[—हित विनोद ग्रन्थ से, छन्द सं. ६० से ६७]

२०६. माधौ रसिक जी :

गुरु—वनमालीदास जी गो., विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली  
[ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ  
नीचे दृष्टव्य हैं —

ऐसौ नन्द कौ नन्दन खेलै हो हो हो होरी होलैं।

ग्वालबाल संग लिये ब्रज की वीथिनु डोलैं॥



शोभित हैं सखा संग सौंधे में भीने। वरन-वरन सब सुगंध फेंटनि भर लीने॥  
कंचन के माँट विविध अरगजा भराये। जोई मिलै वीथिनु में ताही के सिर नाये॥

रतन जटित पिचकरा कर कुमकुमा सौं भरहीं।  
तकि-तकि हरि छिरकहीं वे ओट अंचल करहीं॥  
नील-पीत अंचल लै गाँठ सखिन जोरी।  
हँसत श्याम लजात श्यामा पट झका झकझोरी॥  
उड़त लाल गुलाल विविध वन तन छवि छाजैं।  
जुवती जन मंडली घन-दामिनी विराजैं॥  
बलि-बलि 'माधौ रसिक' यह प्रसाद पाऊँ।  
श्यामा-श्याम दंपति गुन जनम-जनम गाऊँ॥

२०७. माधौदास जी [ माधौ मुकुन्द जी ] :

जन्मस्थान—बरसाना, गुरु—मुकुन्ददास जी, विद्यमानकाल—वि. सं. १६१० से १६६० के मध्य अनुमानित। इन्होंने स्वरचित पदों में अपने नाम के साथ अपने गुरुवर्य का नाम भी स्मरण किया है—“प्रभु मुकुन्द माधौ सुखदाई, हाथ बिकानी श्री राधावर के”। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

अहो रानी जायौ है मोहन पूत॥ बधावौ ब्रजराज के॥ टेक॥  
मास माधौ द्यौस आठैं रोहिनी बुधवार।  
जसोदा की कूख जनमे, कृष्ण लियौ अवतार॥.....  
मुकुन्द के प्रभु नित्य नौतन, करहु भोग विलास।  
देखि ब्रज की सम्पदा, जन फूले हैं 'माधौदास'॥

२०८. माधुरीदास जी :

जन्मस्थान—ब्रजस्थ कामवन, जनक—मोहनदास जी, विप्र कुलोत्पन्न, गुरु — दामोदरवर जी गो., रासमण्डली संचालक, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

मँहदी अलकलड़ी के रचि-रचि, हाथनि-पाँड़ लगावैं।  
पलका पर लली कमल-कली सी, अलि-भँवरी धपि धावैं॥  
कनक थार भरि घोरि धरी है, भान-अजिर छवि पावैं।  
देत सबनि कौं सादर रानी, वारिद-प्रेम बढ़ावैं॥

अपने-अपने पाननि चित्रित, छवि सौं मीड़ि छुड़ावैं।  
कनक लता सी कोउ-कोउ लड़कत, कीरति कौं दरसावैं॥  
जगमग-जगमग होति दसौं दिसि, कोकिल सी मिलि गावैं।  
मोहि लियौ मन रूप 'माधुरी' देह-दसा बिसरावैं॥

२०६. माखनलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, गो. वनमालीदासात्मज, गो. ब्रजभूषण जी के वंशज, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—इनकी कोई भी रचना अभी तक हमें नहीं मिल सकी हैं, किन्तु गोपाल कवि कृत 'वृन्दावन धामानुरागावली' के कतिपय छन्दों से ज्ञात होता है कि इन्होंने कुछ न कुछ रचनायें अवश्य की थीं। आधारभूत छन्द निम्नांकित हैं—

पुरुषोत्तमलालहि के दोहित चार अनूप सुहाये।  
सुखलाल, रु माखन, गोवरधन, रतनलाल पुनि गाये॥  
तिनमें इक जगदीशलाल-माखनलालहि कौं जानौं।  
कविता करत अनूपम जो जिन राजनि सौं हित मान्यौ॥

[—वृ. धा., पृ. सं. ६५]

२१०. माखनचोरदास जी छाप—'चोरअली' :

जन्म स्थान—जयपुर स्टेट, वर्तमान में सीकर जिला, जनक—पन्नालाल जी ब्राह्मण, जननी—पद्मावती, जाति—ब्राह्मण, जन्मकाल—वि. सं. १६५० बैशाख शु. तृतीया, पूर्वनाम—माँगीलाल, गुरु—श्री ललितादास जी से नीम के थाने नामक स्थल में हित धर्म की दीक्षा ग्रहण, गुरुवर्य के साथ ही वि. सं. १६७१ में वृन्दावनागमन, वि. सं. १६८५ से सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार में अप्रतिम सहयोग, पुष्कर, द्वारिका, तथा गुजरात के बड़ौदा-अहमदाबाद आदि स्थानों में परिभ्रमण और अनेक प्राचीन वाणियों की अनुप्रति करने में संलग्न, वि. सं. २०१० में पुनः वृन्दावन आगमन, श्रीहित रासमण्डल के महंत श्रीहित कुंदनदास जी से सत्संग, स्थायी निवास स्थली—श्रीहित रासमण्डल, वृन्दावन, रचनायें—१. पदावली एवं कवित्त-सवैया २. भाव कलिका ३. मन शिक्षा [ हित ध्रुवदास जी कृत ] की टीका, ४. विविध विषयों पर लेख, पदों में छाप—'माखनचोर', 'चोरमाखन', 'नवनीत के चोर', 'चोरअली', रचना-उदाहरण—

मुकुट मयूर मंजु छहरै लला के शीश, लाड़िली की चूँनरी के झूमका झलाके हैं।  
उनके श्रवण-मणि कुण्डल अमोल गोल, उनकौ तरौना देखि भानु छवि छाके हैं।



उनकों विलोकि लाजें कोटि घन कारे कंज, उनकौ स्वरूप कोटि दामिनी कलाके हैं।  
एरे मन मेरे 'चोर माखन' बसेरौ कीजै, राधिका रँगिली औ बिहारीलाल बाँके हैं।

२११. मीठा जी :

जन्मस्थान—गुजरात प्रान्त, नाम—मीठा भाई, जन्मकाल—१७५०-६० के मध्य  
आनुमानित, वृन्दावन आगमन—वि. सं. १७८२ से अनिश्चित काल पूर्व, गुरु—मुकुन्दलाल  
जी गो., जादौ रसिक, रतन बाई, ब्रजदासी और जुगलदास जी ऊदा आदि इन्हीं के  
कृपापात्र शिष्य थे। विद्यमानकाल—वि. सं. १८१८ के अनिश्चित काल पश्चात्। रचनायें—  
१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. रतिरण केलि लता, ३. हित बधाई  
अष्टक। विशेष ज्ञातव्य—इनके पदों में तीन प्रकार की छाप मिलती हैं। अधिकांश स्थलों  
पर 'हित मकरन्द' या मकरन्द नाम के साथ 'मिष्ट' छाप, कुछ स्थलों पर केवल 'मिष्ट'  
छाप और कहीं पर केवल 'हित मकरंद' छाप। रचना-उदाहरण —

नवल निकुंज-विराजहीं दम्पति रस-पागे। मुहाँचुही ज्यों ज्यावहीं बतरस-अनुरागे॥  
ग्रीव-लटक-भृकुटी-मटक चल नैन सुहाये। करनि डुलनि-वेसर नचनि-मृदु मुरि मुसिकाये॥  
हाव-भाव भूँचौ भाँवतौ कहि-कहि कल वानी। कुच वैभव दरसाइकैं करि व्याज ऐँझानी॥  
हा प्यारी! कहि पिय धुके छवि सोत समायौ। 'मिष्ट' प्रिया भुज भरि लियौ अघरामृत प्यायौ॥

२१२. मुरलीधर जी :

गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, अन्य ऐहिक  
तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में यत्र तत्र बिखरी हैं ]  
रचना-उदाहरण—

ए हो आजु अति ही रीझि रही तिहारे बानिक, छवि रूप चटक पर अटकी।  
कही न जात शोभा पीतपट की अरु वनमाला टटकी, री ! पुनि मुकट की लटक पलट की॥  
रोम-रोम रमि रही चितवनि-मुसिकनि, सुधि न परत कछु मो या घट की।  
'हित मुरलीधर' प्रभु निर्त गति भेदनि, मटकनि नागर नट की॥

२१३. मुकुन्दलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—हरिलाल जी गो., माता—कृष्णकुँवरि, जन्मकाल—  
वि. सं. १७३८ से कुछ समय पूर्व, विशेष ज्ञातव्य—१. इन्हीं के कृपापात्र मीठा जी ने इन्हें  
'हित मकरंद' नाम से स्मरण किया है। २. इनकी समाधि भी अपने पितृचरण हरिलाल  
गो. जी के निकट है [ वृन्दावन परिक्रमा पथ पर भीमकुंज से थोड़ा आगे बढ़ने पर ]।  
३. निज धर्म रक्षार्थ वि. सं. १७८० से लेकर १७६६ तक इन्होंने अपने अनुज गो. रूपलाल

जी के साथ-साथ सकुटुम्ब दिल्ली में निवास किया। सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री राधानित्यबिहारी जी [ वर्तमान में अठखम्भा बाजार वृन्दावन में विद्यमान ] निकुंजगमन—वि. सं. १८१३ के यवन-आक्रमण में, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं। ] रचना-उदाहरण —

आजु बधाई व्यास-महल में।

जनम द्यौस हरिवंशचन्द्र कौ, सब जन प्रमुदित प्रेम गहल में॥

गावत गुनी जुवति रचैं मंगल, व्यास मिश्र छके रंग दहल में।

जैश्री मुकुन्दलालहित रसिकनि उर बढी, अलि भावक रुचि कुंज टहल में॥

२१४. मुरलीसखी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, श्री राधाबल्लभलाल जी के फूल शृंगार व फूलबँगला बनाने में हार्दिक रुचि, समाजगान-गायक, विद्यमानकाल—वि. सं. १७६० से १८४० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. भावना शतक, रचना-उदाहरण—

शीतल सदन में राजत प्रिया-पिय, मधि सहचरि ललितादि करें केलि।

महल उसीर रह्यौ पूरित गुलाब नीर, अतर-अरगज-चन्दन सुगंध रेलि॥

चहुँओर छुटत फुहारे जल ठौर-ठौर, चादर परति गान करति तहँ जुवति नवेलि।

सुमन सेज पर बिहरत श्यामा-श्याम, प्रेम बस परस्पर अंश भुज मेलि॥

असित प्रवाह आगैं बहत तरल तामें, तरु झुके झूमि-झूमि लपटी माधुरी बेलि।

त्रिविध समीर चल मंजु कुंज गुंजें अलि, होत बलि 'मुरली' नैननि सुख झेलि॥

[ —पदावली से ]

२१५. मोहनदास जी गो. [मोहनचन्द्र जी गो. ] :

जन्मकाल—कार्तिक बदी दशमी वि. सं. १५६८, जन्मस्थान—वृन्दावन, जननी—कृष्णदासी जी, जनक व गुरु—गो. हित हरिवंश जी, रचनायें—१. कृष्ण चन्द्राष्टक, २. राधिका स्वामिनी अष्टक, ३. पदावली. [ प्राचीन हस्तलिखित संग्रहों में यत्र तत्र बिखरी हैं। ] रचना-उदाहरण —

विशेष ज्ञातव्य —

विक्रम संवत् २००७ में प्रकाशित 'राधाबल्लभीय साहित्य रत्नावली' में पृष्ठ सं. २ पर श्री हिताचार्य के शिष्य मेधा जी का नाम वाणीकारो में उल्लिखित किया था; किन्तु गहन अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ कि ये मेधा जी श्री हिताचार्य के शिष्य श्री मेधा जी से भिन्न पुष्टि मार्गीय 'मेधा प्रभु' हैं। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में श्री हिताचार्य के शिष्य मेधा जी के नाम का उल्लेख वाणीकारों में नहीं किया गया है।



सोहति री दुहुँनि कौ लाड़।

हँसि-हँसि बात कहति जब पिय सौं, परति कपोलनि गाड़॥

निरखि थके नागरवर नैना, मेटि पलनि की आड़।

जै श्री हित मोहन प्रिय प्रेम पिछान्यौ, मिली उर अँचल छाँड़॥

२१६. मोहनदास जी :

जन्मस्थान—ब्रजस्थ कामवन, विप्र कुलोत्पन्न, गुरु—दामोदरवर जी गो., रासमण्डली संचालक, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि .प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय पंक्तियाँ—

श्री वृन्दावन महदी राचनी सौरभ सरस सुगंधा।

महमहाइ मंजरी मौरी भ्रमत भँवर मद अंधा॥.....

महदी कौ रंग चुहचुहौ, रँगे दोऊ सुकुमार।

रंग रँगमगी सहचरी, झुकि झूमि झरोखनि द्वार॥

सुभग सुहागिनि रँग भरी, रँग भीनौ सुहागिनि-कंता।

मँहदी के रँग रँगि रहे, मधुप मालती मंता॥

रंग कुँवरि के महल में, रंग कुँवरि के हेज।

रंग कुँवरि की बात में, रंग कुँवरि की सेज॥.....

रँग माती सब वन विभौ, उभै केलि रँगरासी।

जै श्री दामोदर हित कृपा ते निरखै 'मोहनदासी'॥

२१७. मोहनमत्त जी :

जन्मस्थान—पंजाब प्रान्त, अन्य ऐहिक तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. माँझें [ 'मोहनमत्त जी की माँझें' नाम से प्रसिद्ध ] २. साखी, रचना-उदाहरण—

लखा मस्त इक व्यास मिश्र दा उस सेवक मस्ताना।

टका-भक्त बीबी का चेला विषे मुहब्बत माना॥

पोथी थोथी गढ़े साइरी हुण मस्ती क्या आना।

'मोहनमत्त' भगे ये खोजे छोड़-छोड़ मैदाना॥

२१८. मोहन जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विशेष ज्ञातव्य—रसिक वाणीकार मोहनमत्त जी से पृथक, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. आनंद लहरी २. केलि कल्लोल ३. हुलास मोहिनी। रचना-उदाहरण —

सुनिये सहेली प्रेम की इक बात मोसों री।  
 खरी ये दुहेली नेह की गति कहीं तोसों री॥  
 लागा सलोना लोयना तन सुधि न राखी री।  
 न्यारी न होइ कोइना ज्यों शहत माखी री॥  
 सूधी कहानी प्रेम की मुख कहत बाँकी री।  
 लखि दीठि न्यारी मिलन की हित दुहुँ घाँ की री॥  
 जहाँ रूप लाग्यौ दीठ सौं तहाँ रीति ऐसी री।  
 हैं जहाँ एक रु दोय ना तहाँ प्रीति कैसी री॥

[— हुलास मोहिनी से ]

२१६. मोहनलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—प्रियालाल जी गो., जन्मकाल—वि. सं. १६११, गुरु—राधालाल जी गो., श्रीजी की शृंगार सेवा, साँझी-सेवा तथा फूल बँगला की सेवा करने में परम निपुण, निकुंजगमन—वि. सं. १६६२, रचनायें—१. पदावली [ सिद्धान्त की रस की तथा संपूर्ण उत्सवों की ] रचना-उदाहरण—

रंग के महल में रँगीले सब साज धरे, प्यारी रँगी प्यारे रँग प्यारी रंग प्यारी के।  
 गिलम गलीचानि गद्दा मसलंद लागि, विराजे प्रिय-लाल परदा छोरे जु तिवारी के॥  
 रुचिर अँगीठी हू रोशनी बहु भाँति करि, अलिगन विलोकत हैं ठाढी ढिंग जारी के।  
 'मोहन हित' दम्पति जू हिम की बहार में सु, करत बिहार पट मूँदि चित्रसारी के॥

२२०. यज्ञेश्वर द्विज :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—किशोरीलाल जी गो. [ गो. रूपलाल-सुवन ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. हितरूप किशोरीलाल आगमन महोत्सवम्, विशेष ज्ञातव्य—वि. सं. १८२५ में रचित यह एक छोटा सा संस्कृत ग्रन्थ है। इसमें यज्ञेश्वर द्विज ने अपने गुरुवर्य गो. किशोरीलाल जी की भड़ौंच यात्रा का वर्णन किया है। वे दयालुदास और तत्पुत्र लल्लू जी के आमन्त्रण पर वहाँ पहुँचे थे और वहाँ से बड़ौदा [ बटपत्तन ] पधारे। फिर देवग्राम होते हुए राजपुर [ अहमदाबाद ] पधारे। भड़ौंच में आपने लल्लूदास जी की स्त्री की प्रार्थना पर उसे पुत्र-प्राप्ति का वरदान दिया था और राजपुर से लौटकर पुत्र-प्राप्ति होने पर भड़ौंच पधारे। उसी समय इस ग्रन्थ की रचना हुई। इस ग्रन्थ की प्राचीन हस्तलिखित प्रति गो. गोवर्धनलाल जी, बड़ी सरकार वाले [ अठखम्भा बाजार, वृन्दावन ] के निजी संग्रह में सुरक्षित है।



२२१. रसिकलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—विलासदास जी गो., गुरु—दामोदरवर जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—कर्णानन्द [ कृष्णदास गो. कृत ] की टीका, २. गीतगोविन्द [ जयदेव जी कृत ] की टीका, ३. हित चौरासी-टीका, ४. पदावली । रचना-उदाहरण—

श्री दामोदरवर चरन हरन चित तिमिर-दिवाकर ।  
दुर्घट भव-निधि तरन सरन जाँचत सुरेस नर ।।  
विमल कमल के वरन सकल सुख संपति दाइक ।  
'रसिक' सीस आभरन धरन सुन्दर दुति लाइक ।।  
तिनकौ नित चित ध्यान धरि, कर्णानंद भाषा करत ।  
जासौं बुधि उनमान मति, ताही विधि कछु अनुसरत ।।  
[—कर्णानन्द की टीका से ]

२२२. रसिकानन्दलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—किशोरीलाल जी गो. [ गो. रूपलाल-सुवन ] विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, श्री हितलाल गो. के अनुज, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

यह रितु आई री बसन्त फूल्यौ पिय-प्यारी मन भाई ।  
अली मदन फूलीं चहुँ ओरनि, गावत अतिहि सुहाई ।।  
राग हिंडोल तान नव लीनी, छबि कछु वरनि न जाई ।  
'जै श्री हित रसिकानन्द' त्रिभंगी, वन्दन रँग झर लाई ।।

२२३. रसिकदास जी [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—धीरीधर जी गो., [ गो. वनमालीदासात्मज गो. नागरवर जी के पौत्र ], विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—१. अभिलाष लता २. अद्भुत लता ३. अतन लता ४. आनन्द लता ५. कौतिक लता ६. चारु लता ७. तरंग लता ८. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] ६. प्रसाद लता १०. मनोरथ लता ११. माधुर्य लता [ रचनाकाल—वि. सं. १७४४ ], १२. रस कदम्ब चूड़ामणि, १३. रस सिद्धान्त चिन्तामणि, १४. रहस्य लता १५. रतन लता १६. रति रंग लता १७. विलास लता १८. विनोद लता १९. सुख सार लता २०. सौभाग्य लता २१. सौन्दर्य लता २२. शुक सारौ चरित लता-२३. सिंगार चूड़ामणि २४. हिताष्टक २५. हुलास लता । रचना-उदाहरण—

मधुरितु माधुरी कुंजनि खेलत नवल किशोर।  
 सुनि-सुनि प्रेम प्रसंगनि अंगनि छबि नहिं थोर॥  
 बोलत-डोलत रँग भरे कहि-कहि हो-हो होल।  
 उमगि चले जनु अगनित छविनु के छबीले टोल॥  
 रँग-रँग चीर अबीरनि शोभा कही न जाइ।  
 छवि फुलवारिनि ते मनु उड़ि पराग झलकाइ॥  
 रँग भरे भूषन शोभित झलकत झलक अपार।  
 मनहु त्रियन की श्रीयनि ते मधु उमग्यौ पिय प्यार॥  
 पिय रस भरि मुरली मधि वरषत हैं रँग धार।  
 तियनि के हियन कौं सींचत लखियतु अँखियन चारु॥  
 बहु लावनि सौरभ सौं पिय तन-मन लीनों छाइ।  
 मन भाये रँग ढरियतु लहियतु नहिं उपमाइ॥  
 रँग-रँग भरत भरावति भावति भामिनि-कंत।  
 इहि छबि छीट छटानि ते छबीले भये हैं बसंत॥  
 वरन-वरन तन उपमा यह रस प्रेम विलास।  
 'रसिकदास' हिय रँग भरे बसहु सदा अनियास॥

[—पदावली से]

२२४. रसिकदास जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—चन्द्रसखी जी [ स्वामी बालकृष्णदास जी के शिष्य ], चन्द्रसखी जी के पश्चात् श्री हित रासमण्डल के महन्त, विद्यमानकाल—वि. सं. १७३० से १८१० तक आनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], विशेष ज्ञातव्य—पदों में प्रयुक्त छाप 'रसिकसखी' है। रचना-उदाहरण—

प्यारी की मल्हकनि गति पर पिय-दृग उरझे आवैं।  
 कहौ कौन सी चतुर सहेली जो पिय कौं समझावैं॥  
 होरी खेलहु दृग उरझावहु यौं कहि हियहि सिरावैं।  
 'रसिकसखी' प्यारी सुनि मुसकी तू कह बात बनावैं॥

२२५. रसिकमुकुन्द जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—रूपलाल जी गो. [ हरिलाल जी गो. के सुवन ], विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—



मन श्री राधाबल्लभ कहु रे।

हित हरिवंश जु रीति वखानी ताही सौं दृढ़ गहु रे॥

वृन्दावन की कुंज-कुंज में होइ बाबरौ रहु रे।.....

हित हरिवंश-नाम मुख-उचरै ताही कौ मुख चहु रे।

‘रसिक मुकुन्द’ सुमिरि हित चित में रूप रंग रस लहु रे॥

२२६. रतनदास जी :

जन्मस्थान—पूर्व दिशा में पूरनिया नामक ग्राम, दीक्षागुरु—गोवर्धनलाल जी गो, विरक्त वेष दाता गुरु—लाड़िलीदास जी [ सुधर्मबोधिनी कार ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, निवासस्थली—मानसरोवर के निकट [ यह स्थल आज भी ‘रतनदास जी कौ नगरा’ नाम से विख्यात है ] एवं वृन्दावनस्थ—सेवाकुंज परिसर में, रचनायें—१. अष्टयाम [ समय प्रबन्ध ], २. नव रंग विहार [ नाव विलास ], ३. पदावली [ मल्हार के पद, झूलन उत्सव के पद, लाल जू की बधाई, लाड़िली जू की बधाई, सिंगार के पद, रास के पद, दिवारी के पद, हिम रितु के पद, खिचरी उत्सव के पद, सिद्धान्त के पद, होरीधमार आदि के पद ], ४. भ्रम भंजन विचार कुण्डलियाँ, ५. रस चिन्तामणि, [ दोहावली ] ६. रविजा रंग महल बिहार [ विलास ], ७. राधासुधानिधि-टीका, ८. वन बिहार लीला [ वन बिहार, व्याहुलौ, नवलासी आदि के पद ], ९. स्फुटवाणी-टीका, १०. सेवकवाणी-टीका ११. हित चौरासी-टीका १२. हित हरिवंशाष्टक [ नागरीदास जी कृत ] की टीका, रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

झूलत मो मन भावैं। श्री राधाबल्लभ॥ रमकनि-छबि बरसावैं। श्री राधाबल्लभ॥  
सखि चावनि-लाड़ लड़ावैं। श्री राधाबल्लभ॥ मोद-विनोद न मावैं। श्रीराधाबल्लभ॥

अति छबि छाई मन हुलसाई, पावस-रितु वन आई।

द्रुम-बेली फल-फूलि चहुँदिशि, समीर सौरभ घमड़ाई॥

हरित भूमि पर इन्दुवधुन की, फिरति पाँति हरषाई।

गावत शुक्र-पिक-निर्तत शिखण्डी, ‘रतनदास’ उमगाई॥.....

२२७. रसन भाई जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, संभवतः देववन निवासी, गुरु—पुरुषोत्तम जी, रचनायें—१. ध्रुवदास जी प्रसाद वाणी २. रस सार संग्रह [ संकलन ], रचना-उदाहरण —

लोभी लंपट लालची नहीं भक्ति कौ लेश।

पुरुषोत्तम पहिलें मिले सतगुरु दियौ उपदेश॥

कहाँ तू कहाँ वृन्दाविपिन कहँ हरिवंश उदार।  
 कहाँ किशोरी लाड़िली ताकौ सोच अपार॥  
 लोभ लग्यौ निज नाम कौ लालच की गति आनि।  
 रसिक अनूपम कृपा ते ध्रुववानी पहिचान॥  
 दिव्य वृन्दावन देववन रसिक नृपति कौ राज।  
 बीठलदास की नाइवी तासौं मेरौ काज॥  
 जै जै सेवक ध्रुवदास श्याम बीठल सुत जाये।  
 जै जै सेवक ध्रुवदास गुरु गोपीनाथ जु पाये॥.....  
 'रसन' सारसंग्रह कियौ भजन भाव परकाश।  
 सेवक ध्रुवदास कृपा करी पूरी मन की आश॥

२२८. रमणलाल जी गो. :

'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों में इनका परिचय निम्नांकित शब्दों में दिया गया है—“नाम—रमणलाल गोस्वामी., ग्रन्थ—हित मार्ग गवेषिणी, रचनाकाल—वि. सं. १६०० से पूर्व, विवरण—राधाबल्लभीय।”

२२९. रामदास जी :

जन्मस्थान—ब्रजस्थ बच्छवन, गुरु—कृष्णदास जी गो., विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—

नाचत लाल-प्रिया सुखदाई।

थेई-थेई कहत लाल मुरली में, दुरनि-मुरनि दृग चंचलताई॥

नूपुर कुनित रुनित भूषन दुति, मुकुट काछनि छबि कही न जाई।

तैसौई मन आनन्द बढ्यौ अति, तैसिय सरस स्वर गौरी गाई॥

तैसौई मोद बढ्यौ प्यारी मन, निरखि-निरखि पिय कण्ठ लगाई।

कमल नयन हित नटनागर पर, 'रामदास' तहँ बलि-बलि जाई॥

२३०. रामकृष्ण जी [ प्रथम ] :

गुरु—दामोदरवर जी गो., अथवा दामोदर स्वामी, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, अन्य सभी ऐहिक बातें अज्ञात, पदों में भी कहीं-कहीं इन्होंने अपने गुरुवर्य का नाम सादर स्मरण किया है। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण—

अद्भुत नट भेष धरें नाचत गिरिधरन लाल, उघटत संगीत तत्त थेई-थेई ताधे।  
 लेत उरप मान लाग डाट सुधर तान आन, गनन ननननन गति बंधान साधे॥



शरद निशा पूरन चंद त्रिविध वायु बहत मन्द, खग-मृग-द्रुम-बेलि-पत्र रटत राधे-राधे  
जुवती मंडल समूह राग रंग अति कुतूह, 'रामकृष्ण' हित दामोदर चरण-अंबुज आराधे  
२३१. रामकृष्ण जी चौबे [ द्वितीय ] :

रामकृष्ण जी चौबे का संक्षिप्त परिचय और उनकी रचनाओं के नाम 'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों में इस प्रकार दिये गये हैं—“नाम—हित रामकृष्ण चौबे [ कालिंजर निवासी ] रचनायें—१. अवतार चेतावनी २. अष्टक ३. श्री कृष्ण विलास ४. ग्वाल पहेरी लीला ५. नायिका भेद दोहा ६. प्रतीति परीक्षा ७. बज्रनाभ की कथा ८. रास पंचाध्याई ९. रुक्मिणी मंगल [ प्रथम-द्वितीय ] १०. विनय पच्चीसी ११. विनय अष्टक १२. विष्णु अवतार चरित १३. वृषभानु की कथा १४. स्फुट कवित्त १५. स्फुट पद। रचनाकाल—१८१० विवरण—इनके ये सब ग्रन्थ हमने दरबार छतरपुर में देखे हैं। इनका समय जाँच से लिखा गया है। आप पन्ना नरेश महाराज हिरदैशाह के समय से राजा अमानसिंह के समय तक कालिंजर के किलेदार रहे। ये राधाबल्लभीय थे। प्रथम त्रैमासिक रिपोर्ट में 'कृष्ण विलास' का रचनाकाल १८१७ लिखा है। इनमें काव्य गरिमा साधारण श्रेणी की है। रचना-उदाहरण—

पंकज वरन रवि छवि के हरन चारि फल के फरन देवतरु सम गाइये।  
विधि के सरन भेटैं जिय की जरनि गावै धरा के धरन सदा हिय में रमाइये॥  
जन पै ढरन दुख दारिद हरन असरन के सरन 'रामकृष्ण' उर ध्याइये।  
संकट हरन भव-निधि के तरन सब सुख के करन गुरु चरन मनाइये॥”  
[—मिश्र बन्धु विनोद से]

२३२. राधिकाचरणदास जी 'ढ़ोंगी बाबा' :

जन्मस्थान—मुकुन्दपुर नामक ग्राम [ मध्य प्रदेशान्तर्गत रीवाँ रियासत में ]  
जनक—त्रिवेणीदास जी, जन्मकाल—वैशाख कृष्ण नवमी मंगलवार वि. सं. १६४०, पूर्व नाम—शिवप्रसाद, संत बालकदास जी के दैनिक सत्संग से जगत से वैराग्य व पुत्र-पत्नी आदि सभी परिवार को त्यागकर पैंतालीस वर्ष की आयु [ वि. सं. १६८५ ] में वृन्दावनागमन, मंत्र दीक्षा गुरु—रूपलाल जी गो. [ विलास वंशीय सेवाधिकारी ] गुरुवर्य द्वारा नाम परिवर्तन-नवीन नाम-राधिकाचरणदास, विरक्त वेष दाता गुरु—बाबा राधाबल्लभशरण जी, निवास स्थली—मानसरोवर, पिपरौली ग्राम, मोरकुटी-वरसाना, व्यासभवन बादग्राम, वृन्दावनस्थ अँधेर घाट, हितघाट, कोइलिया घाट, मदनटेर, पुराना कालीदह, सेवाकुंज क्षेत्र, श्रीराधाबल्लभलाल जी का मन्दिर आदि स्थल। पूर्ण वैराग्यमय जीवन व्यतीत करते हुए भी श्रीजी के वर्षोत्सव करने का इन्हें अत्यधिक चाव है, अतः



ये श्रीजी के वर्षोत्सव के अनेकानेक बृहद् आयोजन करते ही रहते हैं। समाजगान गायक, [ तानपूरा अथवा झाँझ के साथ ], एकान्त प्रिय, जन सम्पर्क से बचने के लिए स्वयं अपने को ढोंगी बताते हैं, अतः इनकी प्रसिद्धि 'ढोंगी बाबा' के नाम से अधिक है; इनके अनेक पदों में भी 'ढोंगी' नाम की छाप प्राप्त होती है। रचनायें—१. अनन्य रसिक-हृदयाभरण सप्ताह, २. इकईस प्रसंग, ३. करुवाष्टक, ४. कृपा प्रार्थना शतक, ५. [ श्री ] गुरु कृपा रहस्य, ६. गुनीजन लीला [ छदम पर छदम ] ७. तत्त्व सार चेतावनी लीला, ८. द्वादश सम्बन्ध वचनिका, ९. दोहावली, १०. नाम सुयश प्रकाश बेली, ११. पदावली [ रस के पद व स्फुट पद ] १२. प्रीति प्रतीति प्रकाश बेली, १३. वन लीला सौरभ, १४. वाणी सुयश प्रताप बेली, १५. विस्मय विहण्डन बेली, १६. वृन्दावन सत [ हित ध्रुवदास जी कृत ] की टीका, १७. [ श्रीमद् ] भागवत सार, १८. रसिक हृदयाभरण, १९. समय प्रबंध, २०. सिद्धान्त वचनिका, २१. सिद्धान्त विचार [ हित ध्रुवदास जी कृत ] की टीका [ पद्यानुवाद ] २२. सुविधि उपदेश प्रताप बेली, २३. सुन्दर सुभाव पच्चीसा, २४. शंका समाधानावली, २५. सेवकवाणी- टीका [ पद्यानुवाद ], २६. सेवकवाणी कौ सार विचार, २७. सेवकवाणी कौ उपसंहार, २८. शंशय हरन षोडशी, २९. हिताष्टक [ नेही नागरीदास जी कृत ] की टीका [ पद्यानुवाद ], ३०. हित चौरासी-टीका [ पद्यानुवाद ], ३१. हित महापुष्प जी के मंगल [ सेवक जी कृत ] की टीका [ सेवकवाणी के अन्तर्गत की गई टीका से पृथक्, पद्यानुवाद ], ३२. हित मूरि संजीवन प्रसंग बेली, ३३. हित धर्मीनु धर्म प्रसंग बेली, ३४. हित यश रसामृत सिन्धु, ३५. हित यश रस रत्नावली, ३६. हित तत्त्व मर्म वचनिका, ३७. हित रहस्य प्रबोध, ३८. हित पच्चीसी, ३९. हित पथ दर्शक वचनिका, ४०. हित चतुरासी जू कौ अष्टयाम समय प्रबंध [ संकलित ], रचना-उदाहरण—

.....हित-चित-आनंद सिन्धु रस अकह अमित जु वखान।

तहँ सेवक कौ भाव सो गुनिये पवन समान॥

सो सेवक के भाव करि इहि समुद्र के मौहिं।

लीला रूपी लहर दिन कोटि-कोटि लहराहिं॥

जाकौ जैसौ भाव है तेहिं अधिकारनुसार।

धाम-रूप-लीलान की उमड़त लहर अपार॥

सो गुरु प्रभु जु त्रयात्मक तत्त्व भयो निर्धार।

भाव भेद के हेतु करि दरसत अमित अपार॥

गुरु हितरूप हि कृपा ते इकईस बन्यौ प्रसंग।

करि प्रतीति रहनी बने यही कृपा कौ अंग॥



‘चरण राधिकादासि’ दै नाम कृपा करि ज्योंहि।  
अपनी करि क्यों त्यागिहैं है दृढ़ निश्चय योंहि॥

[—‘इकईस प्रसंग’ नामक ग्रन्थ से]

झूलन डोल गुलाब पै उर फूल भरी बतरानि।  
मूलनि भुज गरवाँह दै, विवि मोहनि मृदु मुसिकानि॥  
रंग रँगीली सहचरी त्यों रँगी प्रेम के लार।  
दम्पति लाड़ लड़ावनी कीये निज उर कौ हार॥  
कोऊ तान अलापिकैं मन गति मति करत अपंग।  
अद्भुत परननि ताल सुनि छिन होत सचेत उमंग॥  
रमक झमक की बढ़नि में लागति ललना उर लाल।  
सखि लखि तन-मन वारहीं हैंसि प्रीतम होत निहाल॥  
उमग्यौ आनँद-अम्बु निधि कहि को थाहनि समरत्थ।  
उछरनि-डूबनि है रही हित कौतुक योंहि अकत्थ॥  
हितसहचरि हित डोल नित-नित-नित हित प्यारी-पीय।  
हित रूप ‘राधाचरणदासी’ नित जीवन जीय॥

[—पदावली से]

२३३. राधिकादास जी [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—सुखलाल जी गो., विद्यमान काल—अठारहवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—गोविन्दअली जी कृत ‘भक्त गाथा’ [ छप्पय सं. ५४ ] में इनके स्वरूप परिचात्मक छप्पय की “छप्पै और कवित्त नित्त कहि सन्त लड़ाये” इस पंक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है इन्होंने किसी रसिक चरित्र ग्रन्थ का प्रणयन किया था; किन्तु अभी तक इनके द्वारा विरचित वाणी साहित्य के हमें कहीं भी दर्शन नहीं हो सके हैं।

२३४. राधादास जी या राधिकादास जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—गोपालदास जी निवासस्थली—गो. बट्टीलाल का बाग, वृन्दावन, विद्यमानकाल—वि. सं. १६०५ में विद्यमान, रचनायें—१. हितघुववाणी की फलस्तुति। रचना-उदाहरण—

निर्त विलास सु रास रस करत विचित्र कल गान।  
कौतुक मृदु नागरि नवल सुभग प्रेम की खान॥

मानलीला लखि मान छबि रूप अनूप अपार।  
पगनि परत अति नेह बस नागर नव सुकुमार॥  
दानलीला दानी भये पिय माँगत यह दान।  
अहो लड़ैती लाड़िली भूलि करौ जिन मान॥  
श्री गोपाल सु दास प्रभु श्रीधुवदास उदार।  
तिन मुख सौं आज्ञा भई, 'राधादास' विचार॥

२३५. राधिकाबल्लभशरण जी 'हड़िया बाबा' :

जन्मस्थान—अज्ञात, नामकरण संस्कार का नाम—सुखदेव, घर बार छोड़कर विरक्त सन्त बनने पर नाम—महादेवदास, हितरसरीति में दीक्षा ग्रहण करने पर नाम—राधिकाबल्लभशरण, अपने पास रज-विनिर्मित हड़िया रखने और इस हड़िया से ही याचक को उसकी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करा देने के कारण नाम—हड़िया बाबा, विद्यमानकाल—वि. सं. १६०० से १६६५ तक आनुमानित, इन्होंने अपनी रचनाओं में 'सुखदेव', 'महादेव' और 'राधिकाबल्लभशरण' ये तीनों ही छाप संप्रयुक्त की हैं। रचनायें—१. भक्तमाल [नाभा जी कृत] की टीका [टीका काल वि. सं. १६५५ से १६५६], निवासस्थल—वरसाना, राधाकुण्ड, नौबारी-चौबारी, वृन्दावनस्थ सेवाकुंज क्षेत्र और स्वामी नन्दराम जी का बगीचा, निकुंजगमन—नन्दराम जी के बगीचे में, रचना-उदाहरण—

ऐसी करौ प्रिय प्यारी रँगिली जू नैननि सौं पद-पंकज देखें।  
और न चाह रहै उर में नर जीवन जन्म सफल कै देखें॥  
प्रीति पुरातन यौं उमगै जैसैं सावन की सरिता वर पेखें।  
'राधिकाबल्लभशरण' कहै सु हमारे यौं भाग कौ शेष न लेखें॥

२३६. राधाबल्लभशरण जी [पूर्व नाम—पंडित रामनाथ] :

जन्मस्थान—उत्तर प्रदेश राय बरेली का चँदनिहा नामक ग्राम, जनक—पं. प्रयागदत्त जी शर्मा, जाति—कान्य कुब्ज ब्राह्मण, पूर्व नाम—रामनाथ, गुरु—जुगलबल्लभ जी गो., संस्कृत व ब्रजभाषा के प्रकाण्ड विद्वान, विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. ऊषा विलास, २. प्रेमामृत तरंगिणी, ३. प्रेमलता, ४. राधिका विरहानल, ५. राधा प्रमाण कुसुमांजलि [संकलित], ६. लालित्य पद कुसुमाकर, ७. ललिता विनय लता, ८. हित सरोजिनी, आदि। रचना-उदाहरण—

सोने सी कछु पीत-रक्त सुषमा, श्री मूर्ति में यौं फबी।  
ज्यों गोरोचन से सु चित्र-रचना, हो त्यों भली क्या छबी॥



पीली किंचित गौरिमाऽरुण छटा, है फैलती कुंज में।  
ऐसी दिव्य त्रिज्योति शान्ति लखिके, होगी मनो गुञ्ज में॥

[ललिता विनय लता से छं. सं. ३१]

२३७. राधिकाशरण जी [ प्रथम ]:

जन्मस्थान—अवध नगर, वृन्दावन आगमन व दीक्षा ग्रहण—वि. सं. १६४६, गुरु—  
गोवर्धनलाल जी, [ रासवंश के सेवाधिकारी ], निवासस्थली—प्रारम्भ में अपने गुरुवर्य  
के पास [ श्री राधाबल्लभलाल जी के मन्दिर के बगल में ] तत्पश्चात् परिक्रमा पथ पर  
स्थित गऊ घाट की एक गुफा में, निकुंजगमन—वि. सं. १६७४ के कुछ वर्षों पूर्व  
[ प्रीतमदास जी ने वि. सं. १६७४ में रचित 'हित चन्द्र प्रकाश' में इनकी स्वरूप  
परिचयात्मक छप्पय में लिखा है कि—“वृन्दावन तन तजि बसे कुंजमहल हितसखी  
लहि” ] रचनाओं में छाप—‘राधिकाशरण’, ‘शरण राधिका’, ‘शरण राधा’, ‘हित राधा  
शरण’, रचनायें—१. गुरुवर्य गो. गोवर्धनलाल जी की मंगल-बधाई, २. वृन्दावनाष्टक  
३. श्री हरिवंशाष्टक, रचना-उदाहरण —

हंसजा विमल नीर सुन्दर सु तीर जहाँ, विपिन प्रकाशमान कोटि भानु तूल है।  
तहाँ प्रिया-प्रीतम जू खेलत निरन्तर सु, सखिनु समाज सँग आनंद सु फूल है॥  
जहाँ हितसजनी जू शासन करत जात, सोई-सोई गान-तान खेल अनुकूल है।  
कहत ‘शरण राधा’ दंपति कौ सुख चाहै, भजि हरिवंश हित कारण सु मूल है॥

[—वृन्दावनाष्टक से, छं. सं. १]

२३८. राधिकाशरण जी प्रसिद्ध नाम-सन्तदास [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—मीरपुर, [ जम्मू कश्मीर में ], जन्मकाल—वि. सं. १६३३, जाति वैश्य,  
गुरु—राधालाल जी गो., [ गो. गोवर्धनलाल जी—सेवाधिकारी रासवंश के सुत ], विरक्त  
वेषदाता गुरु—श्री स्वामिनीशरण जी, निवासस्थली—वृन्दावनस्थ धीरजलाल जी की  
बगीची और सनेही जी की बगीची, श्री राधाबल्लभ जी की फूल श्रृंगार की सेवा में और  
सन्त सेवा में अत्यन्त प्रीति; इसी कारण ‘सन्तदास’ नाम से विख्यात, इन्होंने सोलह  
वर्ष तक निरन्तर प्राचीन हित रसिकों द्वारा रचित जीर्णशीर्ण वाणियों की प्रतिलिपि करके  
उन्हें नवीन रूप प्रदान किया। निकुंजगमनकाल—वि सं. १६६३, रचनायें—१. पदावली,  
२. सेवा शतक भावना, रचना-उदाहरण —

सुमिरि हरिवंश उर शंश करें नंश हरि, वंश रस नाद कौ पंथ सूझै।  
कृपा हित-चरन-बल रसिकजन मण्डली, माँहिं सिर नाइ हित धर्म बूझै॥

रसिकजन करुना करि मधुर वच बोलिकैं, लेत अपनाइ हित जान नित कौ।  
ज्यों संग हितस्वामिनीशरण गुरु-कृपा-बल, 'राधिकाशरण' लह्यौ मर्म हित कौ॥

२३६. राधालाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—वि. सं. १६४२ आश्विन शु. तृतीया, जनक—  
गोवर्धनलाल जी गो. [ रासवंश के सेवाधिकारी ], बाल्यकाल से ही श्रीजी की श्री अंग  
सेवा के साथ-साथ श्रीजी की पाक सेवा, फूल सेवा और सोहनी सेवा भी अपने हाथ  
से ही किया करते थे। पिताश्री गो. गोवर्धनलाल जी के जीवन काल में ही निकुंजगमन  
[ वि. सं. १६७४ से कुछ काल पूर्व ], रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

लाल रंग भरि खेलत होरी।

इत डफ ढोल-पखावज बाजत, झाँझ-वीन रँग बोरी॥

उत पिचकारी तकिकैं मारत, प्यारी गुलाल कर झोरी।

फाग सुहाग झलक दृग ढरकैं, 'हित राधालाल' की ओरी॥

२४०. रासरँगिलीदासी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—स्वामिनीशरणजी, निवास  
स्थली—स्वामी नन्दराम जी का बगीचा, वृन्दावन, विद्यमानकाल—वि. सं. १६०० से १६७५  
के मध्य आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य—इनके हस्त लेख में लिखी कतिपय रसिक वाणियों  
की प्राचीन प्रतियाँ रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित हैं। रचनायें—१. पदावली,  
रचना- उदाहरण —

प्रेम नगर के डगर जे परसे, तिनकी रहनी न्यारी।

श्री हित रस-जस सागर क्रीड़त, सुरत अन्त की त्यारी॥

मन-मतंग मतवाला डोलत, रंक राज न हिया री।

'रासरँगिली' हित रस झीली, कृत दासी हित प्यारी॥

२४१. राधाबालकृष्ण हित :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी,  
विशेष ज्ञातव्य—ये राधाबालकृष्ण हित जी चन्द्रसखी जी के गुरुवर्य स्वामी बालकृष्णदास  
जी और स्वामी बालकृष्ण तुलाराम जी इन दोनों से भिन्न हैं, रचनायें—१. पदावली [ प्रा.  
ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

आजु रँगिली बधाई ब्रज छाड़ रही।

हितसजनी कौ जनम द्यौस है, सखि सब मंगल गाइ रही॥



फूल उठी साखा द्रुम बेली, सरस सुगंधनि लाइ रही।

‘राधाबालकृष्ण हित’ तन-मन फूले, रसिकनि के जिय भाइ रही।।

२४२. राधामोहनदास जी [ प्रथम ] :

जनक—राजा जयसिंह देव, गुरु एवं भक्ति प्रबोधक—चन्द्रलाल जी गो, रूपलाल जी गो., मोतीलाल जी गो. तथा प्रियादास जी [ गो. चन्द्रलाल जी के शिष्य ] अपर नाम—बलभद्र, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध काल, रचनायें—१. श्रीमद्भागवतार्थ दिग्दर्शनम् २. श्री राधाबल्लभ भाष्यम् [ रचनाकाल—माघ कृष्णा प्रतिपदा, गुरुवार, वि. सं. १८६४ ] रचना-उदाहरण —

“श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा जयसिंहदेव सुत अनन्त श्री राधाबल्लभस्य कृपापात्रास्याधिकारी श्रीराधामोहनदास अपर नाम बलभद्रः। चन्द्रलालं-रूपलालं-मोतीलालं गुरुं तथा। प्रियादासं तथाऽऽचार्यं वन्दे भक्ति प्रबोधकम्।।”

२४३. राधामोहन जी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, माली कुलोत्पन्न, निवासस्थली—ठाकुर मदनमोहन जी महाराज के मन्दिर के निकट, विद्यमानकाल—बीसवीं शती का मध्य काल, रचनायें—१. दोहे [ कतिपय ], विशेष ज्ञातव्य—इनकी रचनायें अभी तक अप्राप्त ही हैं। रस भारती संस्थान, वृन्दावन में एवं अन्य संग्रहों में इनकी द्वारा हस्तलिपि में लिखी गई प्राचीन रसिकों द्वारा रचित वाणियों की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं। किसी-किसी प्रति की अन्तिम पुष्पिका में इनका रचा हुआ एक दोहा अवश्य उल्लिखित है। एक वाणी की अन्तिम पुष्पिका निम्नांकित है —

“।। इति श्री नागरीदास जी कृत अष्टक अर्थ रसिकानन्दिनी वचनिका की  
जै जै श्री हित हरिवंश।।

वृन्दावन में लिखत है मदनमोहन निज ठाम। माली हमारी जाति है राधामोहन नाम।

मिति माघ बदी पंचमी शनिचरवार।। संवत् १९५३।।

[—रस भारती संस्थान, वृन्दावन क्रमांक ७१]

२४४. रूपअली जी :

जन्मस्थान—अलवर के निकट किसी ग्राम में, पूर्व नाम—रूपचन्द्र, गुरु—गोवर्धनलाल जी गो., विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] विशेष ज्ञातव्य—गो. रूपलाल जी से पृथक, छाप—‘रूप अली हित’ और ‘रूप अली’, रचना-उदाहरण —

लाड़ी जी थारौ अविचल रहौ जी सुहाग॥ हो हो हो हो॥  
अलकलड़े रिझवार छैल सौं, नित नव बढौ अनुराग॥  
यौं नित बिहरौ ललितादिक सँग, वृन्दावन निजु बाग॥  
'जै श्री रूपअली हित' जुगल नेह लखि, मानत निजु बड़भाग॥

२४५. रूपदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—रूपलाल जी गो. [ गो. हरिलाल सुवन ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

आजु सखी हरिलाल के बाजति आनँद बधाई।  
प्रगट भये श्री रूपलाल जी, सुख-सागर निधि आई॥  
घर-घर ते सब सुन्दरी, गावति मंगल सुहाई।  
ढोल-दमामे बाजहीं सरस, सहनाई सुर छाई॥  
धुजा पताका राजहीं, मंगल कलश धराई।  
सकल सवासिनि साथिये, चित्र विचित्र बनाई॥  
कंचन थार करनि लिये, भेंट भली लै आई।  
बैशाखी बदि सप्तमी कुसुमावलि बरसाई॥  
जाचकजन कौं दान दै, मन की आश पुजाई।  
'रूपदास' के हिय बसौ जनम बधाई गाई॥

२४६. रूपनाथ जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—चन्द्रलाल जी गो. [ गोवर्धननाथ जी के सुत ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

कौन-कौन गुन कहौं तिहारे, गुन-गन-सागर श्री गुरु चन्द।  
श्री राधा वर पद-कमलनि कौ, मन-अलि लेत सदा मकरन्द॥  
हित जू की वानी रस सानी, अति मन मानी लहि सुखकन्द।  
सेवक, व्यासदास, ध्रुव आदि जे, तिन जस कहत छकत आनन्द॥  
जीव उधारन-कारन हितमय वपु धरि बहु विचरे जु स्वच्छन्द।  
राजसी-तामसी जन हू कें उर, भक्ति प्रकाशी श्री नँदनन्द॥  
देह गेह में भटकत नाहीं, जुगल नेह के परे जु फन्द।  
जिहि सिर हाथ धर्यौ सु तर्यौ भव-सागर के मेटे दुख द्वन्द॥



वन सौं तन बिछुरैं सफरी ज्यों, व्याकुल होत अमन्द ।  
भ्रम-तम नाशि प्रकाशि 'रूप हित' निज वन वास देहु जग वन्द ॥

२४७. रूपलाल जी गो. [प्रथम] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—वि. सं. १७३८ वैशाख कृष्णा सप्तमी, जनक—हरिलाल जी गो. [ गो. कुञ्जलाल-सुत ], जननी—कृष्णकुँवरि, नौ वर्ष की आयु में ही वाणी स्फुरण, सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री राधाकान्त जी [ वर्तमान में अठखम्भा बाजार, वृन्दावन में विराजमान ], हित धर्म प्रचार हेतु यात्रायें—गुजरात, बड़ौदा, पूर्वी प्रान्त, त्रिवेणी, काशी, पटना, गंगासागर, गौड़देश, इन्द्रप्रस्थ [ दिल्ली ], प्रयाग, नन्दग्राम, बरसाना, नौवारी, चौबारी, रतनकुण्ड, गोवर्धन, गोविन्दकुण्ड आदि स्थलों में, निकुंज गमन—वि. सं. १८०१ स्मारक स्थल—श्रीहित रासमण्डल के निकट, विशेष ज्ञातव्य—चाचा वृन्दावनदास जी ने स्वरचित 'हितरूप चरित्र बेली', 'हितरूप अन्तर्धान बेली', 'हितरूप सुजश पच्चीसी', 'हितरूप अष्टक' आदि रचनाओं में इन गो. रूपलाल जी का चरित्र विस्तार पूर्वक लिखा है। प्राप्त रचनायें—१. आचार्य गुरु सिद्धान्त, २. गूढ़ ध्यान ३. नित्यबिहार जुगल ध्यान [ लाल जू कौ ध्यान और प्रिया जू कौ ध्यान ] ४. पदावली [ सम्पूर्ण वर्षोत्सव की ] ५. वाणी विलास ६. वृन्दावन रहस्य सर्व सुख सार ७. वृन्दावन सारोद्गार ग्रन्थ की भाषा ८. ब्रज भक्ति प्रकाशोल्लास ९. भक्ति भाव विवेक रत्नावली १०. मन शिक्षा बत्तीसी ११. मानसिक सेवा समय प्रबंधोल्लास [ शृंगार समयोल्लास, जल क्रीड़ा प्रबन्धोल्लास, राजभोग क्रीड़ा, उत्थापन, सन्ध्या समय क्रीड़ा, सैन क्रीड़ा ] १२. रस रत्नाकर १३. रूपलाल जी गो. द्वारा प्रेषित पद्यात्मक पत्र १४. समय प्रबन्ध [ विजय चौरासी प्रथम—द्वितीय ] १५. सर्व तत्त्व सिद्धान्त निर्णय १६. साधुलक्षण १७. सिद्धान्त के पद १८. सिद्धान्त सार। रचना-उदाहरण—

चन्दन चित्र विचित्र बनायौ।

शीतल सरस सुगंध मनोहर, रचना रुचिर सुहायौ॥

अरगज भीने वसन लसन अँग सौरभ जित तित छायौ।

तैसेई साज समाजनि अलिगन सारँग राग जमायौ॥

लताभवन झमकत तरनिजा, त्रिविध समीर बहायौ।

शीतल भोग लगाय जाय बलि ललितादिक मन भायौ॥

करि कर्पूर आरती अद्भुत अगर बगर महकायौ।

हित चित 'रूप' अनूप खुमारी प्यारी प्रेम बढायौ॥

[—पदावली से ]

२४८. रूपलाल जी गो. [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—आषाढ़ बदी पंचमी वि. सं. १६५७, जनक—किशोरी लाल जी गो. [ विलासवंशीय सेवाधिकारी ] स्वल्पायु में ही रसिक संत प्रीतमदास जी, मौनी बाबा, गंगादास जी, माधुरीशरण जी, स्वामिनीशरण जी तथा संतदास जी आदि-आदि रसिक संतों का संग लाभ, वर्तमान में श्रीराधाबल्लभलाल जी के मन्दिर में अधिकारी पद पर सुशोभित, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

हित पद-पद्म मधुव्रत तिनपै तन-मन-प्रानन वारी हैं।

हित कौ नाम सुनावत हित सौं हितमय जीवन धारी हैं॥

हित शरनागति लावैं सबकों जे भटकत संसारी हैं।

‘जै श्री रूपलाल हित’ लाल किशोरी वृन्दावन अधिकारी हैं॥

२४९. रंगीदास जी :

जन्मस्थान—झाँसी, वैश्य कुलोत्पन्न, पूर्व नाम—रंगीलाल, गुरु—गिरधरलाल जी गो. [ झाँसी वारे ] विरक्त वेष दाता गुरु—प्रीतमदास जी, विद्यमानकाल—वि. सं. १६३० से वि. सं. २००० तक आनुमानित, विशेष ज्ञातव्य—इन्होंने अपना सम्पूर्ण धन श्री राधाबल्लभलाल जी की सेवा में समर्पित कर दिया; जिससे श्रीजी के होरी खेल हेतु बड़ी-बड़ी चाँदी-सोने की पिचकारियाँ व घड़े निर्मित कराये गये। बहुत से प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की अनुप्रति करके इन्होंने उन वाणी ग्रन्थों का भी उद्धार किया। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. समय प्रबन्ध [ अष्टयाम ] रचना-उदाहरण —

बधाई बाजति रंग भरी लागत परम सुहाई गावत मन हुल्लास।

कुँवर भयौ तारारानी के कुल मण्डन तिथि ग्यास॥

बन्दीजन अरु भिक्षुक आये पूजी सबकी आश।

श्री गुरु गिरिधरलाल कृपा बल जस गावत ‘रंगीदास’॥

[—पदावली से ]

२५०. रंगीलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—आनन्दलाल जी, [ रासवंशीय सेवाधिकारी ] इन्होंने बड़ौदा में श्री राधाबल्लभ जी का एक बृहद मन्दिर बनवाया और वहीं निवास करते रहे, निकुंजगमन—वि. सं. १६०६, रचनायें—१. आनन्द चन्द्रोदय नाटक २. उत्सव बोध सटीक [ रचनाकाल—१६०५ ] ३. द्विदल सिद्धान्त निर्णय ४. नवरत्न स्तोत्र ५. बृहद भक्ति



हंस ६. ब्रजानन्दामृत [ रचनाकाल-वि. सं. १६०३ ] ७. मन प्रबोध सटीक ८. मत बोध ९. माहेश्वर पञ्चरात्र टीका १०. राधा भक्ति लहरी ११. राधारमणाष्टक सटीक १२. राधिकेश स्तोत्र १३. राधासुधानिधि-टीका [ प्रेम तरंगिणी नाम्नी ] १४. राधिका मानस पूजा १५. राधा अष्टोत्तर सत नाम १६. लघु भक्ति हंस १७. सिद्धान्त लेश सन्दर्भ १८. सेवा विचार सटीक १९. सौभाग्याष्टक २०. हरिवंश अष्टोत्तर सत नाम। रचना-उदाहरण—

श्रीहरिवंशचन्द्रश्च तारापति सुतोऽमलः, श्रीव्यासनन्दनः स्वामी गोस्वामी बाद जन्म भूः।  
रसिका सकारी च रासलीला बिहार वित, सुधानिधि सुधाकर्ता चतुरासी विमोक्षकः॥  
[—श्री हरिवंश अष्टोत्तर सत नाम, श्लो. सं. १६, १७ ]

२५१. [ सन्त ] ललितसखी जी :

इनके जीवन से सम्बन्धित सभी ऐहिक बातें अनुसंधान के गर्भ में हैं। वि. सं. १७६७ के पद संग्रह में इनके पदोल्लेख के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वि. सं. १७६७ के पूर्व ही ये हित रसिक समाज में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इनके पदों में—‘संत ललित सखि’, ‘ललितादिक’, ‘ललित सखी’, और ‘ललित लता’ ये चार छापें मिलती हैं। गोविन्दअली जी ने अपने ‘भक्तगाथा’ ग्रन्थ में इनके ‘जयकृष्ण’ नामक एक शिष्य का परिचय दिया है—“श्री गुरु ललितलताअली अनुकम्पा वन वास। अनुराग भर्ख्यौ जैकृष्ण हिय हित पद कियौ प्रकाश।” विभिन्न संग्रहों में उल्लिखित अनेक पदों के आधार पर अभी इनकी एक ही रचना—१. ‘पदावली’ का नाम ज्ञात हो सका है। रचना-उदाहरण—

बनि ठनि बैठे री, पुहुप सिंहासन रूपरासि।

प्रेम उमंग अंग-अंगनि छकि रहे करत विलास विविध हास॥

कैसिय अमल चाँदनी शोभा देत, प्रफुलित कंज अरु पवन सुवास।

यह छवि निरखत दृग न अघात क्योंहूँ, ‘संत ललितसखि’ आस पास॥

२५२. लक्ष्मीदास जी :

गुरु-दामोदरवर जी गो., विद्यमानकाल अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—  
१. पदावली [ प्रा. ह. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

रथ पर सोहत हैं दोउ वीर।

देखनि छवि जुवती जुरि आई, साँवल गौर शरीर॥

चितवत ही मन हरे सबनि के कोऊ धरै न धीर।

‘लक्ष्मीदास हित’ नन्द-लाड़िलौ, मेटत कामिनि पीर॥

### २५३. ललिताशरण जी :

जन्मस्थान—गोरखपुर जिले के किसी छोटे से ग्राम में, जन्मकाल—वि.सं. १६५६ के लगभग, जाति—सरयूपारी त्रिपाठी ब्राह्मण, पुलिस कर्मी की नौकरी त्यागकर वृन्दावनागमन, दीक्षा गुरु—जुगलबल्लभ जी गो., विरक्त वेष दाता गुरु—बाबा राधाबल्लभ शरण जी, वृन्दावन में मदनटेर पर विद्यमान, रचनायें—१. ललित पदावली, रचना-उदाहरण —

....जै जै श्री हरिवंश वास श्री वन कियौ। सर्वोपरि रस सार सोई रसिकनि दियौ।।  
 फूले कुमुद अनेक रसिक मुख-विधु लखैं। बरसत आनंद अमी सोई सब मिलि भखैं।।  
 सब मिलि भखैं निशि-दिन सोई वानी विमल प्रगटी अहो।  
 सब मिलि कहत हरिवंश हित कौं, गाय गुन आनंद लहौ।।  
 सोई नाम-गुन कौं गाइ 'ललिताशरण' तिन पद-रज लियौ।।  
 जै जै श्री हरिवंश वास श्री वन कियौ।

### २५४. लक्ष्मण भगत जी :

जन्मस्थान—मीरपुर नामक नगर [ पश्चिम जम्बू देश में ], गुरु—गोवर्धनलाल जी गो. [ रासवंश के अधिकारी ], विद्यमानकाल—वि. सं. १६०० से १६७५ तक, रचनायें—१. जुगल विनोद [ पंजाबी भाषा में १६२ छन्द ], २. फुटकर गजल ३. श्री राधा मंगल [ ५८ अरिल्ल छन्दों में ], श्री हित गुरु बारहमासी [ १२ छन्दों में ] रचना-उदाहरण—

रसिकराज पद-कमल सदा मन ध्याइये। वृन्दाविपिन नरेश जुगल गुन गाइये।।  
 रँगभरे मोहनलाल रँगी रस नागरी। रँग भरी सखी समाज सकल गुन आगरी।।  
 सुन्दर भुजा विशाल श्याम तन गौर की। हस्त-कमल नख-चन्द्र सु जुगलकिशोर की।।  
 ग्रीवा सुभग कपोत रेख त्रय सोहनी। बाँके गोल कपोल चिबुक मन मोहनी।।  
 'राधा मंगल' नाम ये गीत उदार है। श्री हरिवंश प्रसाद कह्यौ रस सार है।।  
 'लक्ष्मण हित' वरदान देहु अब दया करि। वृन्दाविपिन बिहार पाऊँ सुख सहज करि।।  
 [—श्रीराधा मंगल से, छं. सं. १, ८, १५, १६, ५५, ५८ ]

### २५५. लड़ैतीदास जी 'तालधारी' :

निवास स्थान—बरसाना, गुरु—रूपलाल जी गो. [ गो. हरिलाल नंदन ], विशेष ज्ञातव्य—इनके द्वारा बनवाया हुआ विशाल कूप एवं इनकी जमीन पर निर्मित सरकारी अस्पताल, आज भी बरसाने वासियों द्वारा 'लड़ैती का कुआ' और 'लड़ैती का अस्पताल' इन नामों से विख्यात हैं। चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'यमुना प्रताप बेली' की अन्तिम



पंक्तियों—‘लड़ैती रचना रुरौ’ तथा ‘बसन्त प्रबन्ध’ [चतुर्थ], की ‘तालधारी छाप लड़ैतीदास’ इन पंक्तियों से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि ये वाणी रचना में परम निपुण थे और इन्होंने अपने पदों में ‘तालधारी’ छाप का प्रयोग किया था; किन्तु अभी तक इनकी रचनायें अप्राप्त ही हैं। रचनाओं के नाम अज्ञात, विद्यमानकाल—वि. सं. १८०० से पूर्व।

२५६. लल्लू जी [छाप-‘राधाचरण’] :

जन्मस्थान—दतिया, जनक—श्रीराधारमण जी नागार्च, गुरु—रूपलाल जी गो. [विलास वंशीय सेवाधिकारी], वर्तमान में वृन्दावन में विद्यमान, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

श्री सुकुमारीलाल सुजश जग छाड़है। जिनकौ शुद्ध चरित्र सबनि मन भाड़है॥  
शरनागत कौं देत अभय कौ दान हैं। पोषत सबके प्रान करत सनमान हैं॥

करत सबकौ मान कहा गुन-गान इक मुख कीजिये।

निरखि सुखद स्वरूप अपने भाग्य कौ फल लीजिये॥

गावत जु ‘राधाचरण’ मंगल सबनि कौ सुखदाइ है।

श्री सुकुमारीलाल सुजश जग छाड़है॥

२५७. ललितकिशोरी जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—वि. सं. १६४० आसाढ़ शु. द्वितीया, जनक—श्यामलाल जी गो. [राधारमणीय गो.], पति—प्यारेलाल जी गो. [राधाबल्लभीय गो. श्रीनन्दकुमार जी के मझले पुत्र], सत्रह वर्ष की स्वल्पायु में ही निकुंजगमन, निकुंज गमनकाल—वि. सं. १६५७ सावन बदी सप्तमी, विशेष ज्ञातव्य—प्रीतमदास जी ने ‘ललिता सौभाग्य’ नाम्नी अपनी एक लघु रचना में इनके स्वरूप परिचयात्मक नौ छप्पय छन्द लिखे हैं। रचनायें—१. पदावली २. हित ललित तरंगिणी [यह ग्रन्थ गो. मन्नीलाल जी बँगला वाले द्वारा वि. सं. १६७४ में प्रकाशित भी हो चुका है], रचना-उदाहरण —

रंग भरे दोउ लाल री छकनि छके छबि राजैं।

बैठे सेज गुलाब की अंग अनंगनि साजैं॥

कोक कलनि के भाय सौं कर-दृग नचन उमंगा।

विहँसत भरि अँकवारि लै सखि लखि प्रेम अमंगा॥

परिरम्भन-चुम्बन चतुर उर सौं उर जु मिलावैं।

सुरत समर रस में मगन हितअलि नैन सिरावैं॥

कल कंकन-किंकिनि नदित नूपुर धुनि रही छाई।  
 बिछियन रव कल हंस मनु वलय रु चुरी घुराई॥  
 पग पेलनि-झगरनि मुदित चिवुक सुचारु प्रलौवैं।  
 नीवी बन्धन-डोरि कटि शिथिल उरज पट गोवैं॥  
 मल्हकि बाँहु रुकत सु उर हार-हमेलनि तोरैं।  
 प्रेम रसासव में मगन अधर सुधा रस बोरैं॥  
 ललितादिक चहुँ दिशि खरी रंघनि-दृग टक लावैं।  
 'हित ललितकिशोरी' धन विलसि चट करजनि बलि जावैं॥

[—हित ललित तरंगिणी से ]

२५८. लक्ष्मीनारायण जी :

'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों में इनका परिचय इन शब्दों में दिया गया है—“नाम लक्ष्मीनारायण [ दतिया ], रचना—१. हित जी कौ प्रागद्य २. स्फुट छन्द। जन्मकाल—वि. सं. १६३५, विवरण—राधाबल्लभीय।

२५९. [ स्वामी ] लालदास जी [ प्रथम ] :

जनक—चतुर्भुज विप्र, द्विज कुलोत्पन्न, गुरु—गोपीनाथ जी गो., दीक्षा ग्रहण देववन नगर में, वृन्दावन आकर श्री हिताचार्य द्वारा आविर्भूत वंशीवट नामक लीलास्थली में निवास, विद्यमानकाल सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. कवित्त, सवैया व छप्पय, २. पदावली, विशेष ज्ञातव्य—पदों में 'लालदास', 'लाल', 'लाल बल्लभ', 'लाल हित' 'हित लाल' आदि छाप प्रयुक्त हैं। रचना-उदाहरण—

केलि के मन्दिर सेज सरोजनि, लाड़िली-लाल दियैं गरवाहीं।  
 देखनि मध्य निमेष महा दुख, लोचन लोल तृषा न सिराहीं॥  
 साँवल उज्ज्वल केलि कला रस, माधुरी सार सुधा वरषाहीं।  
 गाइन चारत मल्ल पछारत, कुंज के आँगन आवत नारी॥

२६०. लालदास जी [ द्वितीय ] :

गुरु—चन्द्रसखी जी [स्वामी बालकृष्णदास जी के शिष्य], विद्यमानकाल—अठारहवीं शती का अन्तर्मध्य काल, इन्होंने स्वरचित पदों में अपनी नाम छाप के साथ-साथ अपने गुरुवर्य चन्द्रसखी जी के नाम की भी छाप लगाई है। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

राजत श्री राधे मृगनैनी।

केश सुदेश साँधे सौं भीने गुही जुही सौं बैनी॥



मानों नव नागिनि छवि कारी किधौं ललित अलि सैनी।  
वदन-चन्द कल अलकैं झलकैं मोहन मन हरि लैनी॥  
चितवनि चारु चितै चित चोरत चलत कटाक्ष सु पैनी।  
'लालदास हित' चन्द्रसखी प्रभु पिय तन-मन सुख दैनी॥

२६१. लालदास जी [ तृतीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. भक्त उरवशी [ नामाजी कृत भक्तमाल की टीका ], ये टीका लीथो टाइप में प्रकाशित है।

२६२. लालसखी जी :

दीक्षा गुरु—आनन्दलाल जी गो., विरक्त वेष दाता गुरु—अनन्यअली जी, विद्यमान काल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. दोहावली, २. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], ३. यमुनाष्टक, ४. विवाह विनोद हित जी कौ, ५. हरिवंशाष्टक, [ हिताष्टक ], विशेष ज्ञातव्य—इनके द्वारा रचित 'ललित लीला' नाम्नी एक लघु रचना एवं कुछ 'फुटकर पद' इलाहाबाद म्यूजियम में सुरक्षित हैं। जिनमें रचयिता का नाम 'लाल जी साहू' [ लाल सखी ] कृत उल्लेख है। रचना-उदाहरण—

सखी तन श्याम की प्रिया वर वाम की, महल के काम की अति उदारैं।  
निकट सब जाम की मुकट मणि धाम की साँवरी नाम कहि जुग उचारैं॥  
कुंज बहु पुंज तट मध्य तेरे लसैं, राधिका धव लसैं केलि कारैं।  
प्रगट हरिवंश हित सच्चिदानन्द चित, 'लालसखि' नित्य नैना निहारैं॥  
[—यमुनाष्टक से ]

२६३. लाड़िलीदास जी [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—रूपलाल जी गो. [ गो. हरिलाल सुवन ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

प्रगटे श्री हरिलाल बाल है, रूप माधुरी नैन सिरावन।  
नित्यबिहार प्रताप दृढ़ावन, श्याम स्वरूप-गौर तन गावन॥  
हित की बात सबनि समुझावन, हित हरिवंश हिये में लसावन।  
वृन्दावन निज वास बसावन, रास-विलास रहसि दरसावन॥.....  
जनम बधाई जननि गवावन, प्रेम प्रवाह दृगनि झर लावन।  
नित्य धाम-धामी सु बुलावन, 'लाड़िलीदास' के भाग खुलावन॥

२६४. लाड़िलीदास जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी प्रायः सभी तथ्य अनुसन्धेय, जन्मस्थान—वृन्दावन से कहीं बाहर, गुरु—घनश्यामलाल जी गो. [ गो. मुकुन्दलाल जी के सुत ], निवासस्थली—रूपघाट, वृन्दावन एवं कामवन, विरक्त वेषदाता गुरु—बिहारिनिदास जी [ गो. गुलाबलाल जी के शिष्य ], विद्यमानकाल—वि. सं. १७६० से १८५० तक आनुमानित, रचनायें—१. कामवन विलास [ कामवन प्रसंग ], २. पदावली [ भावकृत ], ३. प्रश्नोत्तर पच्चीसी, ४. स्वप्न विलास ५. सुधर्म बोधनी [ रचनाकाल—वि. सं. १८४२ ] विशेष ज्ञातव्य—इन्होंने स्वरचित पदों में कहीं-कहीं 'निजदासी' नाम की छाप भी दी है। रचना-उदाहरण—

दोऊ मिलि खेलत हैं उठि भोर।

कुसुम गेंद लै करनि परस्पर, डारत हैं चित चोर।।

हँसत हँसावत खेल बढ़ावत, सखी माल चहुँ ओर।

दम्पति के हित में चित अटक्यौ, विवि मुख-चन्द्र-चकोर।।

गिरत गेंद लालन कर ते जब, गुलचा देत हँसि दौर।

हम हारे तुम जीतीं सब मिलि, कहत लाल कर जोर।।

प्यारी प्रेम विवश लखि प्रीतम, लिये अंक सिरमौर।

'निजुदासी' यह खेल झेल उर, लै बलाइ तृण तोर।।

[—पदावली-भावकृत से ]

२६५. लाड़िलीदास जी [ तृतीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, निवासस्थली—वंशीवट, रचनायें—१. खीरस्तव, रचना उदाहरण—

श्री वृन्दावन वंशीवट तट कालिन्दी के तीर।

'लाड़िलीदास' साँची कहै हम खीर पै भये फकीर।।

'लाड़िलीदास' की वीनती सुनियौ हो ! बलवीर।

मुक्ति राखि धरि ओवरैं मोहि खवावौ खीर।।....

भुवन तेग करी सार की जैमल रन भये धीर।

'लाड़िलीदास' साँची कहै मोहि खवावौ खीर।।....

दूध घटै जो नन्द घर सागर घटै जु नीर।

'लाड़िलीदास' के चित ते तऊ न बिसरै खीर।।....

जिन हिय हिलगन खीर सौं राखौ तिनके पास।

रीझि जिमावैं प्रीति सौं खीर 'लाड़िलीदास'।।....



याकौ नाम जु तसमई अर्थ महाई गूढ़।  
एकौ छिन बिसरै नहीं रसना रहै आरुढ़॥

२६६. लाड़िलीलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, गो. वनमालीदासात्मज गो. ब्रजभूषण जी के वंशोद्भव, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से बीसवीं शती के प्रारम्भिक काल तक, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. राधासुधानिधि-टीका। रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

अहो खेलत नव सुकुमार री। रँग हो हो होरी अद्भुत जुगल खिलार री॥टेक॥

नवल निकुंज नवल द्रुम बेली, झुकीं अवनि पर आय।  
कुसुमित विविध सुगंध महक सौं, रह्यौ विपिन महकाय॥  
फलन भार तरु डार झूमि झुकि, शोभित जमुना तीर।  
नाचत मगन मयूर मनोहर, मन्द-सुगन्ध समीर॥  
गुंजत फिरत मत्त मधुपावलि, कली-कली रस लेत।  
कूजत विपुल विहंग जहाँ तहाँ, मदन बधाई देत॥  
राधा करावचित कर हितअलि, गायौ मननि अगम्य।  
राधा पद अंकित सर्वस्थल वृन्दावन अति रम्य॥.....  
हिय 'हित लाड़िलीलाल' केलि रस, खेल मेल सुख गाय।  
श्री हरिवंश कृपा बल यह छबि नैननि रहै समाय॥

[—पदावली से ]

२६७. लोकनाथ जी :

गुरु—सुखलाल जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. अनन्य लक्षण २. निजु महल ३. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], ४. रस तरंग ५. राधासुधानिधि की टीका, ६. वृन्दावन स्वरूप ७. हरिवंशाष्टक ८. हित चौरासी-टीका, ९. हित हरिवंशाष्टक [ प्रबोधानन्द जी कृत ] की टीका। रचना-उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय पंक्तियाँ —

आजु कौ द्यौस सुहायौ, अति हरष बढ़त मन।  
जनमत श्रीहरिवंश चन्द्र कौ, मंगल सब जग छायाँ॥  
धरति निसाननि व्योम दुन्दुभी, बाजत सुख उपजावैं।  
मागद भूत बन्दीजन धारन, महा मुदित जस गावैं॥.....

ता छिन नभ वानी यौं प्रगटी, यह बालक सुखदानी।  
रसिक सभा सिरताज प्रगट भयौ, जुगल प्रेम रस दानी।।  
सुर-किन्नर जै-जै जै बोलैं, विमुख समूह विलाये।  
'लोकनाथ हित' वरनि बधाई, परम प्रेम सुख पाये।।

'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों में इनका परिचय इन शब्दों में दिया गया है—“नाम—लोकनाथ चौबे [ बूँदी—राधाबल्लभीय ] ग्रन्थ—१. रस तरंग, २. हित चौरासी का भाष्य, समय—१७६०, विवरण—यह महाशय दरबार बूँदी में राजा बुद्धसिंह के आश्रित थे और इन्होंने उन्हीं के नाम से यह ग्रन्थ बनाया। एक बार राव राजा काबुल जाते थे; उस समय कवि जी को भी साथ चलने का हुकुम हुआ। तब इनकी स्त्री ने जो कवि थीं; इनके पास एक छन्द लिख भेजा जिसे राव राजा को दिखाकर इन्होंने वहाँ जाने से छुट्टी पाई। इनका काव्य साधारण श्रेणी का है। उदाहरण—

भूषण निवाज्यौ जैसैं शिवा महाराज जू ने, वारन दै वावन धरा पै जस छाव है।  
दिल्ली साह दिलिप भये हैं खानखाना जिम, गंग से गुनी कौं लाखै मौज मन भाव है।।  
अब कविराजन पै सकल समस्या हेत, हाथी-घोड़ा-तोड़ा दै बढ़ायौ बहु नाँव है।  
बुद्ध जू दिवान 'लोकनाथ' कविराज कहै, दियौ इकलौरा पुनि धौलपुर गाँव है।।”  
२६८. वनमालीदास जी गो. [ वनचन्द जी गो. ] :

जन्मकाल—चैत्र बदी छट वि. सं. १५८५, जन्मस्थान—देववन, जननी—रुक्मिणी जी, जनक व गुरु—गो. हित हरिवंश जी, सेवाधिकार काल—वि. सं. १६०६ से प्रारंभ, निकुंजगमन काल—वि. सं. १६६५, रचनायें—१. प्रिया नामावली २. पदावली [ प्राचीन हस्तलिखित पद संग्रहों में यत्र तत्र बिखरी पड़ी हैं। ] रचना-उदाहरण—

राधे श्याम सँग बिहरन्त।

रितु बसन्त सुचारु अवनी अनिल सुभग बहन्त।।

नूत पल्लव वदति कोकिल विपिन खग जुत शोभ।

कुसुम कुन्द कदम्ब केतुकि द्रुमनि षटपद लोभ।।

लसत उन्मद मत्त निरत रुचिर अद्भुत मोर।

चकित मन्मथ शरन जाँचत निरखि जुगल किशोर।।

अगरसत घन चरचि कुमकुम अंग उड़त अबीर।

जै श्री दासि वनमाली जुवति कृत गान विवस अधीर।।

[—पदावली से]



२६६. [ महारानी ] वखतकुँवरि जी छाप—‘प्रियासखी’ :

दतिया राज्य की महारानी, गुरु—परमानन्ददास जी, सेव्य स्वरूप—ठाकुर विपिन बिहारी श्री प्रियाबल्लभजी, [ वर्तमान में छीपी गली, वृन्दावन में विराजमान ] पदों में प्रयुक्त छाप—‘प्रियासखी’, विद्यमानकाल—अठारहवीं शती के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध काल तक, रचनायें—१. प्रियासखी जी की वाणी [ वि. सं. १८४८ की प्राचीन हस्तलिखित प्रति दतिया लाइब्रेरी में सुरक्षित ], रचना-उदाहरण—

सखी री ! ये दोऊ होरी खेलैं ।

रंगमहल में [ श्री ] राधाबल्लभ, रूप परस्पर झेलैं ॥

रूप परस्पर झेलत होरी, खेलत खेल नवेलैं ।

प्रेम-पिचक पिय नैन भरे तिय, रूप-गुलाल सु मेलैं ॥

कुन्दन तन पर केशर फीकी, श्याम-गौर भये मेलैं ।

सुरत समर के सूर लरत दोउ, दूटत हार हमेलैं ॥

सनमुख मुख मुसिकात झपटि झुकि लाड़िली लालहि पेलैं ।

‘प्रियासखी हित’ यह छबि निरखत, सुख की रासि सकेलैं ॥

२७०. वंशीधर जी :

जन्मस्थान बरसाना, गुरु—कमलनैन जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—अपने प्रिय मित्र हित अनूप जी कृत ‘माधुर्य विलास’ को उनके निकुंज गमनोपरान्त इन्होंने ही पूर्ण किया । रचनायें—१. माधुर्य विलास [ उत्तरार्ध ], २. कवित्त-सवैया [ प्रा. ह. लि. सं. में बिखरे हैं ] रचना-उदाहरण —

रंगनि की पोट मन हाथनि में धरी रहैं, चाहैं जब खोल देत कर सी बनाई है ।

नई-नई गति तामें मति हू की मति जात, मृदु मुसिकात पात-पात छबि छाई है ॥

ग्रीवा कर नैन संग चलन लटक माँहि, मन लटकाइ फेरी आपुनी दुहाई है ।

कहाँ लौं वखानों गुन ‘वंशीधर’ लाल-प्यारी, सुघराई हू ने जहाँ सीखी सुघराई है ॥

२७१. वंशीलाल जी गो. :

ऐहिक जीवन संबंधी सभी तथ्य अनुसन्धेय हैं; केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये गो. वनमालीदास जी के पुत्र नागरवर गो. के पुत्र केशौराय की पुत्री के वंश में उत्पन्न हुए थे । रचनायें—१. राधेय सिद्धान्त, [ रचनाकाल—वि. सं. १६०६ ] विशेष ज्ञातव्य—यह ग्रन्थ श्री राधाप्रताप जी गो. के निजी संग्रह अहमदाबाद में सुरक्षित है ।

२७२. विलासदास जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जन्मकाल—वि. सं. १६६५ चैत्र बदी चतुर्थी, जनक—

दामोदरदास जी गो., विशेष ज्ञातव्य—बरसाने में नागरीदास जी द्वारा प्रारम्भ किये गये प्रिया जन्मोत्सव को इन्होंने और अधिक विस्तार पूर्वक मनाना शुरू किया। रचनायें—  
१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण —

सेज विराजत प्रीतम-प्यारी।

प्रफुलित कंज सु फूले दोउजन तैसिय शरद उजियारी॥

बोलत कोकिल अनुपम शब्दनि काम केलि अनुसारी।

निरखत सुख ललितादिक आली, प्रेम बद्धौ अति भारी॥

मदन जुद्ध अँग-अँग परस्पर, नागरि नवल बिहारी।

अवदति रसना कटि वसना ऊपर, विरमि केलि बलकारी॥

कल जस गावत नूपुर की धुनि, प्रीतम हरि मनुहारी।

अपनेई रँग रँगें जुगलवर, 'हित विलास' बलिहारी॥

२७३. विपिनदासी जी :

जन्मस्थान—राजस्थान या हरियाणा प्रान्त, गुरु—गो. मुकुन्दलाल जी, पूर्व नाम अज्ञात, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शती के मध्यकाल तक आनुमानित। रचनायें—१. पदावली, [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

नेही आतुर री हेली परसन देत है। सेज सुहेज री हेली मनमथ खेत है॥

मनमथ खेत जुद्ध लूटि प्यारी को जीतै को हारहीं।

बहुत विधि समुझात आली बात उरने धारहीं॥

सोवौ बलिकें बाहिर आई झटपट दै मन वारहीं।

'विपिनदासी हित' लपटि सोये प्रेम कौ नै पारहीं॥

२७४. विष्णुसखी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. श्री हरिवंशाष्टक, रचना-उदाहरण—

सकल कष्ट नाशक यह अष्टक, हित हरिवंशहि जो नर गावैं।

तृण सम त्यागैं भोग-मोक्ष-सुख जदपि सो तिहि पाछे धावैं।

'विष्णुसखी' जीवन सु बिहारी, तिहि प्यारी पद प्रीति बढ़ावैं।

रीझैं हित हरिवंश कृपा तिहि, श्री राधाबल्लभ उर छावैं॥८॥

२७५. विमलादासी जी :

जन्मस्थान—झाँसी, जन्मकाल—वि. सं. १६६०, जाति—कायस्थ कुलोत्पन्न,



राजकीय विद्यालय में अध्यापिका, गुरु—रूपलाल जी गो. [ अधिकारी विलासवंस ], अध्यापन कार्य त्यागकर वर्तमान में वृन्दावन निवास, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण —

प्रिया उर फूलन नई-नई।  
छिन-छिन प्रति औरै गति बदलत, तन-मन फूल छई॥  
फूल श्रृंगार बने तन शोभित, जगमग जोति भई।  
फूलन बरसत फूलन सरसत, मनु गौर घटा उनई॥  
छबि पावस ऋतु मनु झर लागी, पिय-तन-मन भिंजई।  
फूले हाव-भाव कल कोकन, फूली केलि नई॥  
विलसत मौज सौंज फूलन लै, सुरत-समर-विजई।  
पिवत रसासव दोऊ छिन-छिन, तन-मन सुधि भुलई॥  
हितसजनी फूली गुन गावति, बीना अंक लई।  
'विमलअली हित' वारत पुष्पन, जै धुनि कुंज छई॥

२७६. विजय सुकवि गो. :

जन्मस्थान-- वृन्दावन, व्यास वंशीय गोस्वामी, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] विशेष ज्ञातव्य—इन्होंने अपने अधिकांश पदों में अपने नाम की छाप 'विजयसखी' भी दी है। रचना-उदाहरण—

आजु अति भीर व्यास के द्वार।  
सुन्दर महा मनोहर मूरति लीनों हित अवतार॥  
घर-घर चित्र पताका सोहत बाँधत बन्दनवार।  
गावत मंगल गीत सुहाये, आनंद बढ्यौ अपार॥  
राधा नाम सुनाय मन्त्र कौं, करिहैं जग उद्धार।  
'विजय सुकवि' सेवक की जीवनि, रसिकनि कौ आधार॥

२७७. वीर भाई जी :

जन्मस्थान—रानेरि नगर [ गुजरात प्रान्त में ], वैश्य वंशोत्पन्न, गुरु—जयबल्लभ जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, रचनायें—१. बसन्त वरनन २. कवित्त-सवैया [ प्रा. ह. लि. सं. में बिखरे हैं ] रचना-उदाहरण—

लाड़िली लड़ैती प्रिया प्यारी श्री बिहारी जू की, भाँवती नवेली अलबेली तन गोरी जू।  
वृन्दावन-रानी त्रिभुवन ठकुरानी रूप, रंग की निधानी मुसिकानी थोरी-थोरी जू॥

‘वीर’ बलिहारी वृषभान की दुलारी कोटि, चन्द उजियारी हितकारी बन बोरी जू,  
प्रेम प्रीति सागर उजागर रस रूप गुन, आगर अनूप राधा नागरि किमोरी जू,  
[—कविन्द सङ्ग्रह में]

२७८. वेणी कवि जी :

गुरु—कमलनैन जी गो., चाचा वृन्दावनदास जी कृत ‘वसन्त प्रदम्ब’ की प्रकृतियों से ज्ञात होता है कि इन्होंने लाड़िली-लाल के रहस्य पूर्ण रस विचार से संवेदित कोई रचना की थी; किन्तु यह अभी तक हमें नहीं मिली है। विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी रचनायें—१. कवित्त-सवैया [ प्रा. ह. संग्रहों में बिखरे हैं ] रचना—उदाहरण —

ढरी रस बातनि छबीली रंग भरी प्यारी, लाल अधरानि में नयनि लगीं बामिनी  
खुलि दसनावली मरीचिका झरत फूल, छुटि अलकावली प्रफुल्ल जौन बामिनी  
वैनु धुनि ‘वेणी’ कोटि राग रंग रैनी भाँति, जात न वखानी चौंज पुंज अनिसमिनी  
लै-लै हाथ-हाथ बतरात हँसि मुरि जात, सोहै दुलरानि सो सिहानि मीनो मारिनी

२७९. वैष्णवदास जी :

जन्मस्थान—भेलसा नगर, गुरु—वनमालीदास जी गो. विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना—उदाहरण—

वारी मेरे मोहन आउ बले हू जाऊँ बले।

कुंज सदन में विविध कुसुमगन वरषत सुरंग गुत्ताल लहे॥  
मनहुँ बसंतु सैन रचि राख्यौ विलसहु दंपति कन लहे॥  
कोकिल कलरव पारस कूजत सारस विगसत अरुनि लहे॥  
भृंग झकोरनि झरत पराग सु मारग कोमल चलहु लहे॥  
जलज भुजंग लवंग लता अवलंबित फोफल फलनि लहे॥  
मनहुँ दिव्य वीरी रचि राखी खाहु खवाबहु मदन लहे॥  
इहि विधि कुसुमलता फूलति अध झूलति मंद सखीर लहे॥  
कुंज कुटी उत्कंठित मनु कर माल डुलावति समुद्र लहे॥  
चंदन तर अध केसरि विगसति सीकर वरषत अरुनि लहे॥  
मरदत मलयानिल मनि भूमि सु अँग-अंगानि बर बहै लहे॥  
इहि विधि वचन सुनत ललिता के प्रमुदित प्रवसित कुंज लहे॥  
वरषत हरषत मोद निरंतर निरवधि रंगानि लहे लहे॥  
बलि ‘वैष्णवदास हित’ राधाबल्लभ सुख बल्ली अँ फलै लहे॥



२८०. वृन्दावनदास जी गो. [ प्रथम ] :

जनक-कृष्णदास जी गो., गुरु-वनमालीदास जी गो., विद्यमानकाल-सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें-१. अध्ववि निर्णय, २. सेवा विवेक, ३. गूढ़ ध्यान, ४. महा रहस्यात्मक ध्यान, ५. हित मालिका । विशेष ज्ञातव्य-‘अध्ववि निर्णय’ ग्रन्थ की श्लोक सं. २७ “ग्रन्थे सेवा विवेकाख्ये” ये ज्ञात होता है कि इन्होंने ‘सेवा विवेक’ ग्रन्थ की रचना की थी; किन्तु हमें यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिल सका है । चाचा वृन्दावनदास जी कृत ‘रसिक अनन्य परचावली’ की “कियौ ग्रन्थ रस सार इष्ट सेवा विधि निरन्यौ” इस पंक्ति से यह भी ज्ञात होता है कि चाचाजी ने भी इस ग्रन्थ का अध्ययन किया होगा । क्रमांक ३, ४, ५, पर उल्लिखित ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध है । रचना-उदाहरण—

गृहमेध पदे येन स्थितं सरसि पद्मवत् ।

नमामि तमहं नित्यं गुरुं श्री वनमालिनम् ।।

हितं श्री हरिवंशाख्यां गुरुं नत्वा पितामहम् ।

श्री वृन्दावनदासेन निर्णयः क्रियतेऽध्वनः ।।.....

पितुः श्री कृष्णदासस्य कर्णानंदाभिदा गिरः ।

जयन्ति यद्वालादीहे मूढोप्यध्ववि निर्णयम् ।।

—[अध्ववि निर्णय, श्लोक सं. २, ३, ५]

२८१. [ चाचा ] वृन्दावनदास जी [ द्वितीय ] :

जन्मकाल-वि. सं. १७५० के लगभग, जन्मस्थान-वृन्दावन के अतिरिक्त ब्रज के किसी ग्राम में, [ अन्तः साक्ष्य-“जनम ते सेई जु ब्रज रज अब हियौ अकुलाइ।” करुणाष्टक, तथा “जहँ जन्म्यौ तहँ कहँ हुती मुहि तुम चरन चिन्हार । कृपा रावरी प्रेरिकैं बिनु श्रम लाई लार ।।३।। बिनु जाँचे बिनु श्रम दियौ श्री वृन्दावन वास । बिनु उद्यम अपनाइकैं कियौ आपुनौं दास” ।।५।। आर्त पत्रिका एवं बहिसाक्ष्य-“शुद्ध ब्रजवासी सुखरासी हैं उपासी गाढ़े ।” वृ. प्र. मा. ] बाल्यावस्था से ही वृन्दावन निवास—[ अब सुधि लीजिये प्रभु आइ । जनम ते सेई जु ब्रज रज अब हियौ अकुलाइ ।। ... करुणाष्टक ] जननी-जनक और जाति-अनुसन्धेय, नाम-हित शरणापन्न होने से पूर्व इनका क्या नाम था ? यह तो अज्ञात ही है, हाँ इतना निश्चय ही है कि इनका यह ‘वृन्दावनदास’ नाम गुरु-प्रदत्त ही है—[ “आश मोहि गौर-श्याम घर की । नाम धराइ तिहारौ करौं परवाह कौन नर की ।। सुदृढ़ राखिहौ शरण गही लज्जा धर की ।।११।।” इष्ट भजन पच्चीसी ।। ] गुरु पुत्र गो. किशोरीलाल जी के पुत्रों [ गो. रसिकानंदलाल जी और गो. हितलाल जी, द्वारा इनसे चाचाजी कहे जाने के कारण इनकी प्रसिद्धि



‘चाचाजी’ के नाम से अधिक हो गई। ज्ञानार्जन—ब्रजवासी होने के कारण ब्रजभाषा पर साधिकार ज्ञान तो इनकी पैत्रिक सम्पत्ति ही थी; संस्कृत भाषा का अध्ययन भी इन्होंने सम्यक् प्रकार से किया था। ‘यमुना स्तव’ के एक छन्द में विशुद्ध संस्कृत क्रिया का प्रयोग—“हुलासदा निवासदा जगत्र पावनी सदा अभय करोति सर्वदा सु वीनती सुनाइये,” आदि। ‘भ्रमरगीत’ नामक स्वरचित रचना की समाप्ति पर लिखा है कि मैंने इस रचना में श्री शुक-मुख-वर्णित श्रीमद्भागवत के भ्रमर गीत का [ हिन्दी ] भाषानुवाद किया है— [ “श्री शुक मुनि भागौत में भ्रमर गीत कियौ गान। सो मैं कछु भाषा करी सुनियौ सन्त सुजान।।”.... भ्रमरगीत ] ज्योतिष ज्ञान सूचक कतिपय छन्द—अप-अपने घर राहु-रवि सुख पावैं सब कोइ। शनी-चन्द्र मिलैं एक घर जग गनैं पातिक सोइ।।१५१।। को है रवि ते अति बली जाकी अतुलित जोति। दोष नीच छाया परैं सोऊ मानत छोति।।१५२।। विवेक पत्रिका ]

दीक्षा गुरु—रूपलाल जी गो. [ गो. हरिलाल-सुवन ]—“नमो-नमो गुरु गोस्वामि कृपाल। जिनकौ दृढ़ व्रत इष्ट निवाह्यौ नाम विदित श्री हित रूपलाल।।” इष्ट पद वन्दन बेली, दीक्षाकाल—वि. सं. १७७७ से १७८० के मध्य, निवास स्थली—वृन्दावनस्थ गुरुवर्य गो. रूपलाल जी का भवन [ अठखम्भा ], सेवाकुंज क्षेत्र, दावानलकुंड, कामवन, कृष्णगढ़, भरतपुर, दीरघपुर, कोसी, पुष्कर आदि। [ रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य के ही आधार पर ], इन्होंने अपने गुरुवर्य के निकुंजगमन [ वि. सं. १८०१ ] के पश्चात विरक्त वेष ग्रहण कर लिया था और ब्रजवासियों की मधुकरी ग्रहण करते थे—“मेरे मन वृन्दावन शरण गहि। कटि -कोपीन-गूदरी-करुवा मचलि कुंज कौ कौन गहि।।३८।। वृन्दावन सेवौ विधि भली। उत्तम वृत्ति मधुकरी भिक्षा बैठि पाइ पुलिनस्थली।।५२।।” वृन्दावन जस प्रताप बेली। उनके द्वारा किये गये इस कार्य की जब ब्राह्मण समाज ने आलोचना की तो उन्होंने निर्भीकता पूर्वक इसका उत्तर देते हुए कहा कि —

काहू की पाँति में पाँति न बैठिवौ, काहू की जाति में जाति न पाइवौ।  
बेटा के व्याह बरात न जोरिवौ, बेटी के व्याह न न्यौति बुलाइवौ।  
हाड़ औ चाम कौ चोखौ कहा जिय, ब्रह्म कौ अंश यौ वेद बताइवौ।  
निंदक स्वान से भूसौ करौ, ‘वृन्दावन हित’ हरिदास कहाइवौ।।

[—कवित्त पच्चीसी, छं. सं. १७ ]

एक छन्द में उन्होंने अपनी दैन्यताभिव्यक्ति में ही अपने को ‘साधु’ संज्ञा से अभिसंज्ञात किया है —

हम आठहु गाँठ कपूत बने, ते सपूत ज्यों हरि मन भावत हैं।  
गुन एकौ नहीं तापै ऐंड़ भरे, लाइकता में पाँय अड़ावत हैं।।



विद्या न पढ़े अभिमान बढ़े देखौ, एते पै साधु कहावत हैं।  
वृन्दावन बलि हित रूप कृपा निगुनैनिनु हू अपनावत हैं॥

[—स्फुट सवैया ]

‘इष्ट भजन पच्चीसी’ नामक अपनी एक रचना में उन्होंने अपना परिचय इन शब्दों में दिया है —

हरि की आश बढ़ी ही राखौं। सत्य-सत्य हौं मुख ते भाखौं॥  
दन्त न हे जब दूध पिवायौ। हरि सब कष्ट निवारि जिवायौ॥  
बड़ौ भयौ हरि यह मति दीनी। आनि गुरुन की शरणी लीनी॥  
हरि गुरु रूप भये हित कर्ता। भाँति-भाँति सन्देहनि हर्ता॥  
नाम-धाम सौं प्रीति बढ़ाई। सतसंगति सुख सीर बनाई॥  
दियौ हरि लीला रस धन मोटौ। देत-लेत नहिं आवै टोटौ॥....  
देवी-देव मनावत हार्यौ। जनम-मरन काहू न निवार्यौ॥  
लखि चौरासी भ्रमि-भ्रमि भूल्यौ। सुत-दारा-धन पाइ जु फूल्यौ॥  
बिछुरै-मरै गयें दुख दाढ्यौ। भवसागर ते किनहु न काढ्यौ॥  
झूठी आशा ता संपति की। समुझि शरन गही राधापति की॥  
गावत-सुनत सुखित भयौ ऐसौ। रंक सुमेरनि पावै जैसौ॥  
दियौ निकुंज महल विश्रामा। अनुभव दरसे श्याम रु श्यामा॥  
मरौ किन अनखि कुतरकी वादी। वृन्दावन हित रूप सवादी॥

वि. सं. १८३५ से वि. सं. १८४९ में रचित अपनी रचनाओं में इन्होंने अपनी वृद्धावस्था का, शारीरिक कष्ट का, मन की दुर्बलता का और अपने साथी रसिकों के निकुंजगमन कर जाने का सुस्पष्ट वर्णन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि इन्हें पूर्ण आयु प्राप्त हुई थी—

गुप्त खेल परिकर मिले साथी सुमति अनेक।  
अब कपाट गाढ़े जड़े हौं बाहिर रह्यौ एक॥  
इच्छा कहौं कि भाग्य फल जिहि कृत पर्यौ विदेश।  
हियौ भयौ अति गादरौ उज्ज्वल भये जु केश॥  
तन जु भयौ अति दूबरौ मन दूबरौ निराट।  
डगमगात है नाव री अब लगाइये घाट॥  
जरा ग्रसित यह तन भयौ लीने रोग दबाइ।  
भई ब्रज भूमि सुमेरु सम चलौं कौन के पाइ॥

एक धाम बिछुरनि जु दुख दूजौ दुख जु शरीर।  
 तीजे निरअपराध दुख देत नीच वे पीर॥  
 अब जु बरष दस बीस ते खुले विपति भण्डार।  
 या ब्रज गरुवे सुखनि की विदित करी हटतार॥  
 ठारहसै पैंतीस यौं संवत् माधौ मास।  
 शुक्ल पक्ष एकादशी भयौ ग्रन्थ परकास॥

[—आर्त पत्रिका ]

कोउ नहिं मर्मी पास अब कासौं बूझौं जाइ।  
 जिन हित खोयौ जनम सब ते सब गये पलाइ॥  
 धर्मी-मर्मी चलि गये हुती प्रीति जिन लार।  
 'वृन्दावन हित' सठ रहे उलटी समुझनहार॥  
 थोरे दिन रहै पाहुनौ प्रीति करें सब कोइ।  
 मचलि रहै घर बहुत दिन न्याइ निरादर होइ॥  
 सर-सरिता सूखे सबै परजा भई विहाल।  
 उपजत नाही अन्न तृण रचि कलि उलटी चाल॥  
 या जीवन ते हो हरी ! मरिवौ भलौ निदान।  
 अन्याई कलि नृप भये हरत प्रजा के प्रान॥  
 कर्म-धर्म गये दूरि दुरि बिगरे चारों वरन।  
 आसरमी भये तापसी किहि विधि होइ भव तरन॥

[—इष्ट मिलन उत्कण्ठा बेली—रचनाकाल—वि. सं. १८४१ ]

वि. सं. १८३१ से १८३६ तक इन्होंने किशनगढ़ नरेश के यहाँ ही निवास किया। वृन्दावन की स्थिति सुधरने पर इनका पुनः श्री वनागमन हुआ, जिसका वर्णन उन्होंने 'कृपा उद्योताष्टक' नामक अपनी एक लघु रचना [ रचनाकाल—पौष कृ. ११ वि. सं. १८३६ ] में इन शब्दों में किया है —

प्रभु पेस्यौ जु नृप कौ हियो।  
 भृत्य अपने संग दै पुनि पटै वन कौ दियो॥  
 नित नई करि प्रीति मुहि षट वर्ष सुखित जु कियो।  
 आरति कौ आलाप मोहन श्रवन दै सुनि लियो॥  
 बाट में बहु विघ्न ऐपै, कर न काहू छियो।  
 वृन्दावन हित रूप तरु बेलीनु देखत जियो॥



निकुंजगमन—वि. सं. १८४५ से १८४६ के मध्य,—वि. सं. १८४५ के पूर्व तो इसलिये नहीं कि वि. सं. १८४४ तक की उनकी रचनायें प्राप्त हैं। तथा वि. सं. १८४६ के पश्चात् इसलिये नहीं कि सेवाकुंज स्थित उनके स्मारक स्थल पर लगे हुए शिलालेख में “श्री राधाबल्लभ श्री हरिवंश। गुरु हित रूप जगत परसंश।। वृन्दावन हित तिनकौ भृत्य। सवा लक्ष वाणी तिन कृत्य।। वि.सं. १८४...।” ये पंक्तियाँ उल्लिखित हैं। [ चतुर्थ अंक नष्ट हो चुका है। ]

विशेष ज्ञातव्य—चाचा वृन्दावनदास जी न तो कोरे कवि ही हैं और न कोरे भक्त ही। वे एक साथ ही जगत के महाकवि, ब्रज साहित्य सम्राट, और महान रसिकभक्त भी हैं। उनके कवित्व में रसिकता का और रसिकता में महा कवित्व का प्रत्यक्ष दर्शन है। इतना ही नहीं वे एक साथ ही समदृष्टा और खरे समालोचक भी हैं। वे अनुवादक भी हैं तो मौलिक ग्रन्थों के सृष्टा भी। उपदेशक भी हैं तो इतिहास लेखक भी। इनकी अनेक रचनाओं पर पृथक-पृथक रूप से शोध कार्य होना अपेक्षित है।

रचनायें—१. से १४. अष्टयाम समय प्रबन्ध [ प्रथम से चतुर्दश तक ], १५. अभिलाष बत्तीसी १६. आनन्द वर्द्धन बेली १७. आर्त पत्रिका १८. इष्ट सुमिरन बेली १९. इष्ट पद वन्दन बेली २०. इष्ट भजन पच्चीसी २१. इष्ट मिलन उत्कण्ठा बेली २२. कलि चरित्र बेली २३. कवित्त पच्चीसी २४. करुणा बेली २५. करुणाष्टक २६. कृष्ण सुमिरन पच्चीसी २७. कृष्ण चरन चिन्ह अष्टक २८. कृष्ण विवाह उत्कण्ठा बेली २९. कृष्ण गिरि पूजन बेली ३०. कृष्ण गुन-नाम-रूप मंगल बेली ३१. कृष्ण सगाई अभिलाष बेली ३२. कृष्ण बाल केलि पच्चीसी ३३. कृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा बेली ३४. कृपा उद्योताष्टक ३५. कृपा मनोरथ पत्रिका ३६. कृपा अभिलाष बेली [ राधाकृपाभिलाष बेली ] ३७. कुञ्ज सुहाग पच्चीसी ३८. कुशस्थली अष्टक ३९. ख्याल विनोद ४०. गर्व प्रहार बेली ४१. गुरु महिमा प्रताप बेली ४२. गुरु कृपा चरित्र बेली ४३. छद्म षोडशी ४४. छद्म अष्टपदी ४५. ज्वर उराहनी ४६. जग निर्वेद पच्चीसी ४७. जसुमति मोद प्रकाश पच्चीसी ४८. दान बेली ४९. दास पत्रिका ५०. नवनीत चोर पच्चीसी ५१. पदावली [ बसन्त, होरी, होरीडोल, फूलडोल, फूलरचना, श्री हित जू की जनम बधाई, चन्दन कुंज, उसीर कुंज, नौका बिहार, जल बिहार, पावस ऋतु के पद, झूलनोत्सव, पवित्रा, राखी, साँझी, दीपावली, विवाहोत्सव, हिमऋतु के पद, खिचरी उत्सव, मानसरोवर के पद, रथयात्रा, लाल जू की जनम बधाई, प्रिया जू की जनम बधाई, अष्ट सखिन की जनम बधाई, हित बिन्दु कुल की जनम बधाई, राम जनम बधाई, बल्देव जनम बधाई, अन्नकूट, ब्रजलीला के पद, भैयादोज, स्फुट पद, सिद्धान्त के पद आदि। ] ५२. पद प्रार्थना पच्चीसी ५३. प्रिया भुराई अष्टक



५४. प्रिया लाड़ अष्टक ५५. प्रिया रूप गर्व पच्चीसी ५६. प्रिया महदी छवि उत्कर्ष षोड़षी, ५७. प्रिया गान षोड़षी ५८. प्रेम प्रकाश षोड़षी ५९. प्रेम पहेरी ६०. पुष्कर माहात्म्य ६१. से ६४ बसन्त प्रबन्ध [ प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ ] ६५. बसन्त अष्टक ६६. बनजारौ लीला ६७. बारह मास बिहार बेली ६८. बारह खड़ी भजनसार बेली ६९. विपिनेश्वरी अष्टक ७०. विवेक पत्रिका ७१. विवेक लक्षण बेली ७२. विवाह मंगल बेली ७३. विमुख उद्धारन बेली या [ अधम उधारन बेली ] ७४. वृन्दावन जस प्रकाश बेली ७५. वृन्दावन अभिलाष बेली ७६. वृन्दावन महिमा बेली ७७. वृन्दावन प्रेम विलास बेली ७८. वृषभानुजा अष्टक ७९. वृषभानु सुजस पच्चीसी ८०. ब्रज विनोद बेली ८१. ब्रज प्रसाद बेली ८२. ब्रज प्रेमानन्द सागर ८३. भजन उपदेश बेली या भजन कुण्डलिया बेली ८४. भक्ति प्रार्थना बेली ८५. भक्ति प्रसाद बेली ८६. भक्ति उत्कर्ष बेली ८७. भक्त सुजश बेली ८८. भ्रमरगीत भाषा ८९. मन प्रबोध बेली ९०. मन हित उपदेश बेली ९१. मन परचावन बेली ९२. मन चेतावनी बारहमासी ९३. मथुरा प्रताप अष्टक ९४. महत गुन लक्षण बेली ९५. महत मंगल बेली ९६. मुरलिका उत्कर्ष पच्चीसी ९७. मंगल [ जुगल ] विनोद बेली ९८. यमुनाष्टक ९९. यमुना स्तव १००. यमुना महिमा बेली १०१. यमुना प्रताप बेली १०२. युगल प्रीति प्रकाश पच्चीसी १०३. युगल सनेह पत्रिका १०४. रसिक अनन्य परचावली १०५. रसिक यश वर्द्धन बेली १०६. रसना हित उपदेश बेली १०७. राधा लाड़ पच्चीसी १०८. राधा नाम-रूप उत्कर्ष बेली १०९. राधा बाल विनोद पच्चीसी ११०. राधा छवि सुहाग पच्चीसी १११. राधा लाड़ सुहाग ११२. राधा नामावली या [ राधा नाम पत्रिका ], ११३. राधा रूप प्रताप बेली ११४. राधा जन्मोत्सव बेली ११५. राधा चरण चिन्हाष्टक ११६. राधा प्रसाद बेली ११७. रास उत्साह वर्द्धन बेली ११८. ललिता प्रेम कहानी ११९. लाड़िली लाल जू कौ गौनौचार १२०. सत्संग महिमा बेली १२१. स्वामिनी श्रृंगार अष्टक १२२. स्वप्न [ गद्य में ], १२३. सुबुद्धि चितावन बेली १२४. सुमति प्रकाश बेली १२५. सेवकवाणी की फलस्तुति १२६. सेवक जस विरदावली १२७. सेवक भक्ति परचावली १२८. श्री हरिवंश सहस्रनाम १२९. हरि कला बेली १३०. हरि प्रताप बेली १३१. हरि इच्छा बेली १३२. हरि नाम बेली १३३. हरि भक्ति गीता १३४. हित प्रकाशाष्टक १३५. हित रूप अष्टक १३६. हित रूप स्वामिनी अष्टक १३७. हित कृपा विचार सार बेली १३८. हित प्रताप बेली १३९. हित स्वरूप बेली १४०. हित रूप चरित्र बेली १४१. हित रूप अन्तर्धान बेली १४२. हित रूप सुजश पच्चीसी १४३. हित भक्ति कल्पतरु १४४. हित परिकर वन्दन पत्रिका १४५. होरी अष्टक १४६. ज्ञान प्रकाश बेली ।

अप्राप्त रचनायें—१. कृष्ण लाड़ सागर २. कृष्ण केलि सागर ३. राधिका केलि सागर ४. श्री हित रत्न सागर ५. निकुंज विलास सागर ६. ब्रज बिहार सागर, ७. माखनचोर



लहरी, अविस्मरणीय बात—‘ब्रज प्रेमानन्द सागर’ की रचना जिस प्रकार एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में की गई है; उस तरह ‘लाड़ सागर’ नामक किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना चाचाजी ने नहीं की है। वस्तुतः यह उनकी अन्य-अन्य रचनाओं का ही एक संकलन है। ये रचनायें हैं—राधा बाल विनोद पच्चीसी [ वि. सं. १८३२ ], कृष्ण बाल विनोद या कृष्ण विवाह उत्कण्ठा बेली [ वि. सं. १८३१ ], कृष्ण सगाई अभिलाष बेली [ वि. सं. १८१२ ], कृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा बेली [ वि. सं. १८१३ ], विवाह मंगल बेली [ वि. सं. १८१७ ], लाड़िली-लाल जू कौ गौनौचार, ब्रज विनोद बेली [ वि. सं. १८०४ ], राधा छबि सुहाग पच्चीसी [ वि. सं. १८३२ ], जसुमति मोद प्रकाश पच्चीसी [ वि. सं. १८३२ ], और राधा लाड़ सुहाग [ वि. सं. १८३५ ]। रचना-उदाहरण—

बरबस तनहिँ कँपावत जाड़ौ।

पवन प्रचण्ड बहत है प्यारी जू, देहु रजाई आँचल आड़ौ।।

चलहु कुंज में हिलमिलि बैठें, वन बिहरनि कौ हठ अब छाँड़ौ।

वृन्दावन हित रूप बिहारिनि, अपु बल बहियाँ याकौँ ताड़ौ।।

[—पदावली, हिमरितुउत्सव से ]

## २८२. वृन्दावनदास जी [ तृतीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी प्रायः सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—रूपनाथ जी गो. [ गो. चन्द्रलाल जी के सुवन ], विद्यमानकाल—वि. सं. १७८० से १८५० के मध्य आनुमानित, अन्तःसाक्ष्य से यह भी ज्ञात होता है कि ये श्री हरिवंशोदित रसोपासना में दीक्षित होने से पूर्व अन्यान्य भक्ति सम्प्रदायों में भी दीक्षित रहे होंगे, सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री राधिकाबल्लभलाल जी, छाप—‘वृन्दा’, ‘वृन्दावनरानी’, ‘वृन्दावनेश’, ‘वृन्दावन हित’, ‘वृन्दावनदास’, ‘वृन्दावन’ इत्यादि। विशेष ज्ञातव्य—ये चाचा वृन्दावनदास जी के समकालीन किन्तु उनसे पृथक् हैं। रचनायें—१. अष्टयाम सेवा प्रबन्ध, २. पदावली व अन्य छन्द, ३. माँझावली [ श्री हित जन्म की माँझ एवं रसिक सुयश की माँझ ] ४. राधासुधानिधि-टीका, ५. हित हरिवंश जू की छप्पे [ नाभा जी कृत ] की टीका [ पद्यानुवाद ], ६. हित हरिवंश जू की छप्पे [ नाभाजी कृत ] की टीका [ ब्रजभाषा-गद्यानुवाद ], ७. श्री हरिवंशाष्टक। रचना-उदाहरण—

बनी चित्रशाला। लसैं दीपमाला।। बजैं द्वार वीना। बजावैं प्रवीना।।

घने फूल फूले। अली-वृन्द झूले।। पढ़ैं कीर-सारौ। बढ़ै रंग भारौ।।

बने मोर - मोरी। बना संग गोरी।। सखी रंग रागी। सदा मोद पारी।।

फवे सेहरा री। नये नेहरा री।। रची पुष्प सज्जा। सची है सु लज्जा।।

यहै फूल सैनी। किधौं दुग्ध-फैनी॥ बनी जू विराजें। बना संग राजें॥  
 वधू रूप सीवाँ। कियें नम्र ग्रीवाँ॥ अहा मोद माती। महा रंग राती॥  
 हियें हार मोती। दिपें अंग-जोती॥ गले पोत कारी। कुचें पीनता री॥  
 लसै भाल टीकौ। रचौ है सु नीकौ॥ लटैं अल्प लोलैं। कपोलन कलोलैं॥  
 दियो है दिठौना। मनौं भृंग छौना॥ बनी भौंह ऐंठी। सदा ही अमैंठी॥  
 लसैं कर्णफूली। प्रभा है अतूली॥ हँसैं हैं रसाली। फबी होठ लाली॥  
 महा रूप जुक्ता। डुलैं नाक-मुक्ता॥ चलैं नैन बाँके। रहैं हैं न ढाँके॥  
 बड़े हैं ढरारे। भरे नेह भारे॥ खुलैं फेर झपैं। लखें लाल कम्पैं॥  
 करैं चोट ऐसी। नहीं ओट तैसी॥ भरे भाय 'वृन्दा'। बने मोद कन्दा॥

[—अष्टयाम सेवा प्रबन्ध से]

### २८३. श्यामशाह जी तूँवर :

गुरु—दामोदरवर जी गो., तूँवर कुलोत्पन्न, निकुंजगमन—वि. सं. १७१४ के लगभग, रचनायें—१. भान ज्यौनार, २. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], विशेष ज्ञातव्य—भगवत मुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल' से ज्ञात होता है कि इन्होंने कोई ऐसा ग्रन्थ प्रणयन किया था जिसमें नन्दराय का वृषभानपुर गमन और वहाँ पर उनकी ज्यौनार का वर्णन था; किन्तु हमें यह ग्रन्थ अभी तक कहीं नहीं प्राप्त हो सका है। उपर्युक्त तथ्य की आधारभूत पंक्तियाँ निम्नांकित हैं —

नन्दराय वृषभान कै आये। परिकर जुत सब न्यौत बुलाये।

सो ज्यौनार भली विधि वरनी। वानी और रसिक मन हरनी॥

रचना-उदाहरण —

नवल नेह नये मेह नई भूमि अरु नवल दुलहिया।

नवल चात्रक मोर कोकिला करैं किलोर, नवल प्रीति उर जुगल उलहिया॥

नवल छबीली प्यारी पहिरैं कसूँभी सारी, बूढ़ की सी गति आछी नवल पुलहिया।

नवल नन्दकुमार 'श्यामशाहि' बलिहार, नवल शीस पर नवल कुलहिया॥

### २८४. श्यामलाल जी गो. :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. श्री हरिवंश चरित २. वैष्णव नित्य कृत्य ३. वृन्दावन उत्पत्ति, ४. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] विशेष ज्ञातव्य—क्रमांक १ से ३ तक की ये रचनायें गो. रणछोड़लाल जी के निजी संग्रह अहमदाबाद में सुरक्षित हैं। रचना-उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय पंक्तियाँ —



नवल किशोरी भोरी भोर नव होरी कौ मन कीनों।  
 नवल सखी सब नवल भाँति सजि नव किशोर रँग भीनों॥  
 नव गुलाल लीयें बहु भाँतिनु बाजे नवल बजावैं।  
 नवसत भूषन लसैं सिथिल अँग विथुरी अलक सुहावैं॥  
 राग बन्धान भैरवी उपजैं हो-हो होरी बोलैं।  
 तिहि शोभा सहचरि सब सुख निधि लालन कौ मन लोलैं॥.....  
 हार मानि होरी सुख जीते क्यों कहि सकत वखान।  
 'जै श्री श्यामलाल हित रूप' रँगौली जोरी रसिकनि प्रान॥

२८५. श्यामदास जी [ ढाँढिनि ] - [ प्रथम ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, अन्तः साक्ष्य से इतना ही ज्ञात होता है कि ये ब्रजवासी थे और श्री हित गोवर्धनदास जी नामक रसिक के उपदेश से इनकी वृत्ति हित-चरणों में संलग्न हुई थी। ये आजीवन इन्हीं के साथ रहे। श्री राधा जन्मोत्सव पर ये ढाँढिनि बनकर नृत्य करते थे और इनके साथ ढाँढी बनते थे हित गोवर्धनदास जी। स्वरचित एक पद की अन्तिम पंक्तियों में इन्होंने इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार किया है—“अपनों नाम कहति कीरति सौं ढाँढिन सुख की रासी। ढाँढी संग गोवर्धन मेरे हैं निज श्यामादासी॥” इनकी रचनाओं में ‘श्याम अली’ ‘अलि श्यामा’ ‘श्याम’ ‘श्यामदास’ ‘श्यामादासी’ ‘हितअलिश्यामा’ आदि छाप प्रयुक्त मिलती हैं। विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं। ] रचना-उदाहरण —

.....नाम लली कौ श्रीराधा। गुननि अगाधा। सुनत मिटै भव बाधा॥  
 अहो वृन्दाविपिन विलासिनि सखियन जीवनि मई॥  
 सुनि भंडार लुटाये। जगत जस छाये। सुनि नीरस खिसाये॥  
 अहो कोटि कुबेर की सम्पति घर-घर भरि रही॥  
 ‘हितअलिश्यामा’ ठाढ़ी। गुननि गहै गाढ़ी। रूप मथि काढ़ी॥  
 अहो देखि लली कौ जनम सु तौ जकि थकि रही॥  
 जो यह दाई गावै। परम सुख पावै। मन हियौ सिरावै॥  
 अहो होइ जुगल कौ उपासक विपिन कृपा करें॥

२८६. श्यामदास जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—गो. घनश्याम लाल जी के तनय [ माधौलाल जी गो. अथवा नवनीतलाल जी गो. ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं

शताब्दी, रचनायें—१. श्री कृष्ण विलास २. कवित्त-सवैया। रचना-उदाहरण—

रंग भरे प्यारे बैठे प्यारी संग एरी सखि ! छवि कह कहीं मोपै वरनी न जाति हैं।  
लाल कर दर्पन लै दिखरावति हैं लाड़िली कौं, दोऊ रीझि-रीझि हैंसि-हैंसि मुसिकाति हैं।  
मोरचन्द्रिका पर सु मन लग्यौ प्यारी जू कौ, प्यारे जू कौ मन अँग-अँग में लुभाति है।  
दुहुँ की कांति देखैं बलिहारी 'श्यामदास', निरखि-निरखि शोभा हियरौ सिराति है।

२८७. श्यामसखी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, निवासस्थल—धीरजलाल गो. का बाग, वृन्दावन, विद्यमानकाल—बीसवीं शती का मध्य काल, रचनायें—१. दोहे [ कतिपय ] विशेष ज्ञातव्य—रचनायें अभी तक अप्राप्त हैं। रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित इनकी हस्तलिपि में लिखी 'स्वामिनीशरण जी की वाणी' की एक हस्तलिखित प्रति की अन्तिम पुष्पिका निम्नांकित है जिसमें उनके द्वारा रचित एक दोहा अवश्य मिलता है—

“इति श्री हित वरिसोत्सव की जै जै श्री हरिवंश स्वामिनी राधे।। मिती जेठ वदी  
६ बुधवार ।। सम्वत् ।। १९५३।।

श्री वृन्दावन मध्य में धीरजलाल के बाग।

‘श्यामसखी’ कर लेखनी लिखी सु रस में पाग।।”

२८८. श्यामादास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—स्वामी वैष्णवदास जी, निवासस्थली—श्री हित रासमण्डल, वृन्दावन, विद्यमानकाल—वि. सं. १८८० से वि. सं. १९५० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. वृन्दावन प्रदक्षणा, रचना-उदाहरण —

श्री हरिवंश मनायकें लीला कहीं विचार।

वृन्दावन रस अगम है सबही सुख कौ सार।

स्वामी श्री गुरुदेव जू नाम वैष्णवदास।

तिनके पद वन्दन करौं, करैं बुद्धि परकाश।.....

सर्वेश्वर कौ घाट बताऊँ। बिहारघाट पै बहुचौ आऊँ।।

जमुना जी में अँचवन लीजै। श्री राधाबल्लभ दरशन कीजै।।.....

किशोरीबल्लभ के गुन गाऊँ। राधा-माधव चित्त में लाऊँ।।

सन्तबल्लभ के दरशन कीजै। वृन्दावन बिहारी सुख लीजै।।

सन्त जिते वृन्दावन वासी। इनकी पद-रज में जु उपासी।।.....

हित कुल की है महिमा भारी। मैं कहा कहीं शारदा हारी।।

‘श्यामासखी’ वृन्दावन वासी। मति परमान लीला परकाशी।।



संवत् उन्नीस सै बीस जू श्रावण मास उजार।

बुद्धवार पूरन भई तिथि षष्ठी निरधार।।

[ इति श्री वृन्दावन की प्रदक्षणा हरि दरसन लीला दासानुदास श्यामादास कृत संपूर्ण ]

२८६. स्वामिनीशरण जी :

जन्मस्थान—वाराणसीके निकट किसी ग्राम में, जन्मकाल—वि. सं. १८६५, मंत्र दीक्षा गुरु—जमुनादास जी [ गो. दयासिन्धुलाल जी के कृपापात्र ], गुरुवर्य द्वारा 'स्वामिनी शरण' नाम प्रदत्त, उपदेश दाता गुरु—मोहनलाल जी गो., [ छोटी सरकार वाले ] स्थाईनिवास—वृन्दावनस्थ नन्दराम जी का बगीचा, निकुंजगमन—वि. सं. १६७० के लगभग, रसोपासना में दीक्षित होने के पूर्व ये रामानन्द सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय में भी दीक्षित हुये थे। निम्बार्कीय होने पर इनका नाम 'राधासर्वेश्वरदास' था। रचनायें—१. पदावली [ सिद्धान्त की, रस की, स्फुट और वर्षोत्सव आदि ], २. प्रिया हित सुगन्ध नामावली, ३. मधुकरी भाव मंजरी, ४. मंगलाष्टक, ५. मोहनलाल जी गो. को प्रेषित एक पत्र, ६. राधासुधानिधि-टीका ७. स्फुटवाणी-टीका, [ केवल 'मोहनलाल के रँग राची' इस एक ही पद की प्राप्त है ], ८. 'जब लागि सहज न बदलई' [ नेही नागरीदास जी कृत ] इस दोहे की टीका, ९. हिताष्टक, १०. हित महामंगल स्तोत्र ११. हित कृपा कटाक्ष चालीसा, १२. हितहरिवंश नामावली, १३. हित राधा नामावली, १४. हित स्वामिनी पच्चीसी १५. हितानन्द सागर लहरी, १६. हित गुरु मंत्र दाता [ श्रीजमुनादास जी ] भजन सार, १७. हित धर्म उपदेश दाता सतगुरु [ मोहनलाल जी गो. ] भजन सार, १८. हित सुमिरनी, १९. हित बारहखड़ी सुमिरनी, २०. हित बोधनी। विशेष ज्ञातव्य—इन्होंने स्वरचित शताधिक पदों में अपने गुरुवर्य 'जमुनादास जी' के नाम की छाप और कतिपय पदों में अपने पूर्व नाम 'राधासर्वेश्वरदास' की छाप भी प्रयुक्त की है। अन्य सभी स्थलों पर 'स्वामिनी शरण' नाम की ही छाप है। रचना-उदाहरण —

जै जै श्री हित दुलहिनि-दूलहु।

मौरी मौर सैहरौ कंकन, बँधे हितहि रस झूलहु।।

करि अधरामृत दूधाभाती, रंगमहल सुख फूलहु।

'हित स्वामिनीशरण' प्रीतिहि की, ग्रन्थि कबहुँ जिन खूलहु।।

[—पदावली से, पृ. सं. १२८ ]

२६०. सदानन्द जी गो. :

जन्मस्थान—देववन, जनक—गोपीनाथ जी गो., विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण स्वरूप एक

पद की कतिपय पंक्तियाँ —

अँग-अँग छवि मन भाँवती हो सजनी देखहु नैन निहारि।।टेक।।  
 श्री वृन्दावन रानी राधा सुन्दर रूप निधान।।  
 बनितन गन चूड़ामणि मण्डन मोहन जीवन प्रान।  
 ललित अलक कुसुमनि सौं गूँथित, सैँदुर रचित सीमन्त।।  
 मनु रतिपति मृग क्रीड़ा कारन, कियौ सखि उदित बसन्त।....  
 भरत परस्पर प्रीतम-प्यारी हिय भारी अनुराग।।  
 निरखि-निरखि सुख हरषि कहति यौ यह बड़भागी फाग।  
 श्री वृन्दावन कालिन्दी तट, खेल बद्धौ सुख सार।।  
 'जै श्री सदानन्द हित' व्याससुवन बल गावत जुगल बिहार।।

२६१. सन्तदास जी :

गुरु—दामोदरवर जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें  
 —१. राधासुधानिधि-टीका, २. बहद् अष्टयाम, विशेष ज्ञातव्य—ये दोनों ग्रन्थ हित रूप  
 संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित हैं।

२६२. सहचरिसुख जी [ सखीसुख या सुखसखी ]

पूर्व नाम—सखीसुख, श्री हिताचार्य की रसोपासना में दीक्षित होने के पश्चात्  
 पूर्णतः प्रभावित होने पर 'सुखसखी' और 'सहचरिसुख' नाम से भी पद प्रणयन,  
 जन्मस्थान—नरवरगढ़ [ बुन्देल खण्ड ], जाति—ब्राह्मण, जन्मकाल—वि. सं. १७१० के  
 आसपास, रसोपासना में दीक्षित होने के पूर्व भी ये काव्य कला के कुशल शिल्पी थे।  
 दीक्षागुरु—कमलनैन जी गो., निवासस्थली—कामवन तथा वृन्दावनस्थ वंशीवट, रचनायें—  
 १. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] २. बसंतमाला [ बसन्त में अष्ट सात्विक ]  
 ३. रस निरूपण, ४. रंगमाला ५. होरी में सात्विक, ६. षड्भक्तु वर्णन, ७. स्फुट छन्द  
 [ कवित्त-सवैया ] रचना-उदाहरण—

दोउ मिलि आजु वन बरसत फूले, रितु बसन्त छवि दरसत।  
 झूलत डोल रूप रचि नैननि, भूलत पल फूलत अँग-अंगनि, वंशीवट रस सरसत।।  
 देखि-देखि देखिबौ करत चितवनि दर्पन भई नव निकुंज में, देखनि कौं तरु तरसत।  
 'सहचरिसुख' राधामोहन के वर विहार वर नैन परत मुख, पुलकति अंबर परसत।।  
 [—पदावली से, पृ. सं. १२८]

२६३. संदाशिवलाल जी—उपनाम—सुन्दरदास :

जन्मस्थान—लखनऊ, माथुर कायस्थ कुलोत्पन्न, गुरु-गो. वंशीलाल जी [ गो.



कृष्णचन्द्र वंशीय ] रचनायें-१. गुरुपरनाली, २. पदावली, ३. राधासुधानिधि-टीका । पदों में छाप-‘सुन्दरदास’ विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक । रचना-उदाहरण—

आजु दोऊ निरखे रंग भरे ।  
नँदनन्दन-वृषभानकुँवरि वर अंशनि भुजनि धरे ।।  
फूली फूल लता लपटी तरु ता तर दोऊ खरे ।  
घूँघट खोल खोल हिय दोऊ लागत सुभग गरे ।।  
अवलोकत पिय प्रिय मुख सुन्दर पलकनि गति बिसरे ।  
बरसत रंग सरस परसत अँग प्रेम की ढार ढरे ।।  
ललितादिक निरखत छबि ठाढ़ी इकटक नयन करे ।  
‘सुन्दर’ निरखि हरषि न्यौछावर तन-मन प्रान करे ।।

[—पदावली से ]

२६४. सर्वसुखराय जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—गुलाबलाल जी गो. ‘बाँके’ [ गो. ब्रजभूषण वंशोद्भव ] विद्यमानकाल—वि. सं. १७६० से १८६० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. पंचरत्न, २. फुटकर सवैया-कवित्त, ३. मन चेतावनी [ कर्म छुड़ावनी और नित्यबिहार इसी के अन्तर्गत हैं ], ४. हित जन्म सुख, ५. हित प्रभु सुमिरिनी [ त्रिभंगी छन्द में ], विशेष ज्ञातव्य—रचनाओं में छाप ‘सुखद’, ‘जन सुखद’ और ‘सुखदा’, इनके गुरुवर्य गो. गुलाबलाल जी ने इनको कतिपय पत्र वृन्दावन से प्रेषित किये थे; जिनकी अनुप्रतियाँ रस भारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित हैं । रचना-उदाहरण—

प्रथमहिं श्री हित प्रभु कृपा ‘सुखद’ सुमिरि आनंद ।  
यथा बुद्धि वरनों कछू सुजस त्रिभंगी छन्द ।।  
जै गुलाब हित जै हरिवंशहि । एक वस्तु द्वै रूप प्रसंशहि ।।  
सर्वोपरि लीला अधिकारी । जै-जै हरि द्विज कुल अवतारी ।।  
द्विज कुल अवतारी नर वपु धारी नित्यबिहारी रसिकमनी ।  
निरखत सुख झेली कुंजन केली वर अलबेली शोभ सनी ।।  
सब विधि सम्पन्नै परम प्रसन्नै जढ़त वरन्नै कित्त घनी ।  
सेवक रुचि राचे ध्रुवहि जे जाँचे, हितप्रभु साँचे कृपा धनी ।।

२६५. सर्वसुखदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, दीक्षा गुरु—चाहनलाल जी.

गो. [ गो. कुंजलाल जी के प्रपौत्र, गो. गिरिधरलाल जी के सुवन ] विरक्त वेषदाता गुरु-रतनदास जी, विद्यमानकाल-वि. सं. १८०० से १८८० के मध्य आनुमानित, रचनायें— १. दोहावली, २. पदावली, ३. भावना षोड़सी [ इसी को किसी प्रति में 'अष्टयाम विधि' और किसी प्रति में 'सुभावना प्रकाश' नाम से लिखा गया है ], ४. मौँझ बत्तीसी, ५. वृत्ति विवेचन ६. स्वामी जशाभास, ७. सिद्धान्त पच्चीसी, ८. सिद्धान्त विचार [ ध्रुवदास जी कृत ] का पद्यानुवाद, ९. सुकृत दशावधी, १०. सेवकवाणी-टीका [ पद्यानुवाद ], ११. हित शत नामाष्टक [ हिताष्टक ] १२. हितवाणी आभास [ श्री हिताचार्य विरचित कतिपय पदों की टीका ], १३. हित दशावधी १४. हित प्रभावली। विशेष ज्ञातव्य—किसी-किसी प्रति में 'पंचरत्न' नाम्नी एक रचना सर्वसुखदास जी की वाणी में उल्लिखित मिलती है किन्तु अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि वह गो. गुलाबलाल जी के शिष्य सर्वसुखराय जी कृत है; सर्वसुखदास जी कृत नहीं। रचना-उदाहरण—

वृन्दावन कमनीय अवनि में मनिमय भवन रमाने।  
नव दल-फूल फलित तरु बल्ली मानहुँ तान विताने॥  
जमुना कूल कमल-कुल फूले अलि अनुकूल भुलाने।  
त्रिविध समीर भीर छवि 'सबसुख' खग मृगालि मिलि गाने॥

[—भावना षोड़षी से]

२६६. सनेही जी :

जन्म स्थान—बड़ौन नगर, गुरु—रासबिहारीलाल जी गो., विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शती के उत्तरार्धकाल से बीसवीं शती के पूर्वार्ध काल के मध्य, रचनायें—१. प्रेम सुधा निधि। रचना-उदाहरण—

अजहूँ सेवाकुञ्ज मैझारी। क्रीड़त नित्यबिहार बिहारी॥  
सहचरि वृन्द संग सुख मानैं। जाहि लगी सोई पै जानैं॥.....  
श्री हरिवंश अनन्य उपासी। वेणु स्वरूपा कुल अविनासी॥  
हरि के घर की रीति बिकाने। जाहि लगी सोई पै जानैं॥  
श्री हरिवंश धर्म असि धारा। तापर चढ़िबौ कठिन विचारा॥  
चलै तौ पहुँचै ठीक ठिकाने। जाहि लगी सोई पै जानैं॥  
नमो-नमो गुरु रासबिहारी। हित स्वरूप वृन्दावन चारी॥  
राधाबल्लभ हित सरसाने। जाहि लगी सोई पै जानैं॥

विक्रम इविकस उनईस सत, सम्बत कौ निरधार।

ता दिन पूरन ग्रन्थ भौ, रसिकन कौ रस सार॥.....



[ श्रीमद् रहस्य रस सार प्रेमसुधानिधे हित सनेही कृत सम्पूर्ण,  
माह वदि १ संवत् १६२१ लिखी दसखत सुहस्त के । ]

२६७. सिंगारसखी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शती का प्रारम्भिक समय, रचनायें—१. कवित्त-सवैया [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरे हैं ] रचना-उदाहरण—

जस जावौ जवाहर जावौ देश अरु वेष जावौ, मेरे चिन्ता कछू याकी नैंकु हू न चित में ।  
मातु जावौ पितु जावौ सजन सनेही जावौ, दासी-दास जावौ किन अबही छिन कित में ।  
गति जावौ मति जावौ पति जावौ प्रतीति जावौ, जावौ गिना न मेरौ जत में रु मत में ।  
कहत है 'सिंगारसखी' रहौ मेरौ मन सदा, जुगलकिशोर जू के चरननि की रति में ।

२६८. शीलसखी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—किशोरीलाल जी गो. [ गो. हित रूपलाल-सुत ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

हिंडोरे रंग भर्यौ प्यारी के झूलें श्री कुंजबिहारी झुलावै ।  
तान तरंग अनंग नचे सुख-सागर नागर गावै ॥  
देत पिया मचकी लचकी कटि-हार हियें उरझावै ।  
अंक लियौ भरि नाह नवेली, सहेली के नैन सिहावै ॥  
बंक चितै हँसि बोलि प्रिया-पिय पाइनि लागि रिझावै ।  
'शीलसखी हित' रूप रसासव पान करै ललचावै ॥

२६९. सुजनसखी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

हिंडोरे झूलत रंग रँगीले ।  
नव निकुंज रस पुंज सदन में, छबि साँ छैल छबीले ॥  
नव-नव भूषन वसन अंग अँग, नव-नव नेह नवीले ।  
नव वृषभानसुता-नैदनंदन, महा रस मत्त छकीले ॥  
इत नव तरुनि मैन मन हरनी चहुँ दिशि रहीं फवीले ।  
निरखि हरषि झुलवति अरु गावति तान तरंग रसीले ॥

सारस-हंस-चकोर-मोर-पिक, कूजत मधुप मतीले।

‘सुजनसखी’ लखि दम्पति कौ मुख, नैननि वास बसीले॥

३००. सुन्दरदास जी [ प्रथम ] :

जनक—माखनलाल जी [ व्यास वंशीय ], गुरु—भोलानाथ जी ‘भोरीसखी’ [ प्राचीन ], विद्यमानकाल—वि. सं. १७६० से १८४० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

रस भोगी दिन परम सुहाये।

बैठे कुंजमहल दोऊजन, नव भूषन नव सखिनु बनाये॥

धरी अँगीठी आगे सजनी, ज्यों-ज्यों अधिक मगन अति भाये।

‘सुन्दर प्रभु हित’ प्यारी छबि पर, कोटिक चन्द्र लजाये॥

[ प्रा. ह. लि. प. सं., पृ. सं. ३३ ]

३०१. सुन्दरदास जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, गुरु—हुलासलाल जी गो., रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], रचना-उदाहरण —

श्री जीवनलाल घर बजत बधाई।

श्री हुलास वर नन्दन प्रगटे फागुन सुदि दुतिया सुखदाई॥

नर-नारी मिलि मंगल गावत, पंच शब्द धुनि कानन छाई।

वंश सवासि चौक सथिये रचि, झगरि लीक लेहि अपु मनभाई॥

श्री राधाबल्लभ के निज मन्दिर, फाग खेल की धूम महाई।

पुर-पुर घर-घर फूल बढ़ी अति, निरत-गावत रँग झर लाई॥

द्विज जाचक बन्दीजन कौं, गोस्वामि दान दै आस पुजाई।

रसिकन सँग हित की रति गावत, ‘सुन्दरदास’ लियौ अपनाई॥

३०२. सुखसखी जी [ सहचरिसुख—‘सुखसखी’ से पृथक ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, गुरु—कृष्णदास जी [ संभवतः कृष्णदास जी भावुक ], विशेष ज्ञातव्य—आलोच्य वाणीकार गो. कमलनयन जी के शिष्य सहचरिसुख ‘सुखसखी’ जी से पृथक हैं, रचनायें—१. प्रेम विनोद २. बिहार बत्तीसी ३. भक्त उपदेशनी ४. ज्ञान बत्तीसी, रचना-उदाहरण—

नमो-नमो श्रीगुरु चरन शरनहि बड़ौ प्रताप।

श्री प्रेम रूप प्रगटत भये श्रीकृष्णदास हित आप॥



करौ कृपा कछु जस कहूँ यह अक्षर रस रूप।  
 भावत नाव जु नेह की जो समुझै सुख रूप॥.....  
 सब निशि सुख ही में गई निरखत जुगल बिहार।  
 औरहु सुख वा रंग कौ छाड़ रह्यौ रस सार॥.....  
 तुमसौं हा हा खात हौं सुनौं रसिक कर जोर।  
 राखौ चरनन-कमल तर अहो प्रिया सिरमौर॥  
 बिहार बत्तीसी हरि मिलन दरसैं जुगलकिशोर।  
 'सुखसखि' दुहुँनि सिंगारि करि मिले रसिक सिरमौर॥

[—बिहार बत्तीसी से]

### ३०३. सुखदान कवि :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, इनका 'अलंकार ग्रंथ' इलाहाबाद म्यूजियम में सुरक्षित है। [ क्रमांक नं. १२५ पर] यह ग्रन्थ श्री हिताचार्य की स्तुति से प्रारम्भ है और इसमें उदाहरण भी वृन्दावन रस के दिये गये हैं।

### ३०४. सुखलाल जी गो. [ सुख सजनी ] :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—श्यामलाल जी गो. [ गो. विलासदास वंशीय ]  
 विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. भावामृत—प्रथम [ ब्रजभाषा में ] २.  
 भावामृत-द्वितीय [ संस्कृत भाषा में ] ३. श्रीमद्भागवत-टीका, ४. रास पंचाध्याई, ५. फुटकर  
 दोहा ६. हिताष्टक [ प्रबोधानन्द जी कृत ] की टीका, ७. हित चौरासी-टीका, ८. पदावली  
 [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] विशेष ज्ञातव्य—इनकी कुंज और समाधि वृन्दावनस्थ  
 जुगल घाट पर आज भी भग्न रूप में स्थित है। इन्होंने अपने अनेक पदों में 'सुखसजनी'  
 छाप भी दी है। एक पद की कतिपय पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं —

अलकलड़े अलबेले दोऊ नागर नेह नवीने।

होरी खेलि झेलि नव-नव सुख कुंज केलि मन दीने॥

रँगमगे बसन फबे मृदु अंगनि नख-शिख रंगनि साने।

लटकि चले भुज अंश परस्पर, अंतर रस सरसाने॥.....

विविध विनोद मोद मिलि विलसत, आनंद मगन महारी।

'जै श्री हित सुखलाल' बिहार विलोकत, प्रान करत बलिहारी॥

### ३०५. सुन्दरीशरण जी :

'मिश्र बन्धु विनोद' के खोज विवरणों में इनका परिचय इन शब्दों में दिया गया है—“नाम—सुन्दरीशरण [ जयपुर ] ग्रन्थ—नाटक एवं स्फुट पद, जन्मकाल—सं. १६४०  
 विवरण—राधाबल्लभीय।”

३०६. सेवकजी :

जन्मस्थान—जबलपुर जिलान्तर्गत गढ़ा नामक ग्राम, जन्मकाल—वि. सं. १५८० के लगभग, जाति—ब्राह्मण, गुरु—गो. हित हरिवंश जी, रचनायें—१. सेवकवाणी [रचनाकाल—वि. सं. १६१०], रचना-उदाहरण —

रितु बसन्त वन फल सुमन, चित प्रसन्न नव कुञ्ज।  
हित दम्पति रति कुशल मति, वितु संचित सुख पुञ्ज॥  
वितु संचित सुख पुञ्ज, गुञ्ज मधुकर सु नाद धुनि।  
रुञ्ज, मृदंग, उपंग, धुञ्ज, डफ, झंझ, ताल सुनि॥  
मञ्जु जुवति रस गान लुञ्ज इव खग तहँ विथकितु।  
भुञ्जत रास विलास कुञ्ज नव सचि बसन्त रितु॥

३०७. सेवादास जी [ प्रथम ] :

गुरु—गो. हित हरिवंश जी, विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—  
१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में यत्र तत्र बिखरी हैं। ] रचना-उदाहरण—

राधा नंदकुमार कुञ्ज में, आलसजुत जागे रस पागे।  
घूमत अरुन नैन अनियारे, झूमि-झूमि दोउ अंकनि लागे ॥  
बैनी अरुझि रही अलकनि सौं, कुंचित केश कुण्डल सौं खागे।  
'सेवादास' परस्पर विंवित, क्यों सुरझैं तन-मन अनुरागे॥

३०८. सेवादास जी [ द्वितीय ] :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—दयानिधि जी गो. [ गो. चन्द्रलाल जी के वंशज ] विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध से बीसवीं शती के प्रारंभिक काल तक, रचना—१. गुरु शतक अष्टयाम, विशेष ज्ञातव्य—यह रचना इन्होंने उदंबर विप्र कुलोत्पन्न कोऽपि बल्लभदास जी [ ज्ञानबाई मन्दिर के पुजारी ] की प्रेरणा से वंश पुरा के शिवलाल जी नामक व्यक्ति के भवन में संभवतः १६०६ वि. सं. में की थी। इन दोनों से इनका क्या सम्बन्ध था ? यह अभी अनुसन्धेय है। रचना-उदाहरण—

गुरु बिनु गति पावै नहीं, गुरु बिनु मिलै न ज्ञान।  
गुरु बिनु भ्रम भागै नहीं, गुरु बिनु मिलै न मान॥  
जिमि सूरज परकाश ते रजनी कौ तम नाश।  
त्यौं गुरु-सूरज के उदै अंतर होत उजाश॥  
विप्र उदंबर जात में बल्लभदास कहाय।  
ग्यान बाई मन्दिर सुभग सेवा करत सवाय॥



बल्लभ गुरु मुख ने कह्यौ गुरु महिमा कहि देहु।  
हरि-गुरु में अन्तर नहीं अतनी कौ निज नेहु॥  
तिनके भाव भलौ भयौ गुरुदत्त अष्टजाम।  
दयानिधि कौ दास तिन 'दास सेवा हित' नाम॥  
वंश पुरहि के वास में रहत दास शिवलाल।  
ग्रन्थ बन्यौ गुरु भजन कौ कहि गुरु मुख की चाल॥  
संवत् औ गणि शतक पर नव आश्वनि नवरात।  
चन्द्रवार तिथि षष्टमी गुरु गाये अधरात॥

॥ इति श्री गुरु शतक अष्टजाम ग्रन्थ महाराज श्री दयानिधि जी के दास  
सेवाहित दास कृत सम्पूर्ण॥ शुभम भवतु॥

[—गुरु शतक अष्टयाम, छं. सं. १०७ से ११३]

३०६. सेवासखी जी. :

जन्मस्थान—भीष्मपुरी, [ चिर पुरातन काल में यह स्थान 'मनोरमा' नाम से विख्यात सरस्वती नदी के तट पर 'उद्दालक मुनि का स्थान' इस नाम से प्रसिद्ध था ], जन्मकाल—मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी वि. सं. १६६६, एक मास की आयु में ही माता का निधन, अन्य अग्रज—सुखदेव, पुरन्दर, पूला, बदली, गुरु—स्वामी जुगलसुन्दरदास जी [ गो. दामोदरवरात्मज गो. विलासदास जी के शिष्य ], सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री राधा मुरली मनोहर जी, [ वर्तमान में अठखम्भा बाजार, वृन्दावन में स्थित सेवासखी जी की कुंज में विद्यमान ] वि. सं. १८०१ से कुछ वर्ष पूर्व सेवासखी जी का गो. रूपलाल जी [ गो. हरिलाल-नन्दन ] से भी सम्मिलन हुआ था, निकुंजगमन—आश्विन सुदी ६ चन्द्रवार, वि. सं. १८०१ के लगभग, विशेष ज्ञातव्य—उपर्युक्त विवरण सेवादास जी के शिष्य निर्मलदास जी कृत 'निर्मलप्रकाश' ग्रन्थ के आधार पर दिया गया है। रचनायें—१. अरिल्ल २. अंग-अंगजा मंगल ३. गुरु दीपिका ४. चरित्र ५. जग्यास उद्दीपन ६. जागनी के पद ७. जिकिरि ८. दोहावली ९. पत्री १०. पदावली [ समै विलास बसंत, फागुन होरी, लाड़िली जू कौ अन्नप्रासन, चैत्र कौ डोल, बैशाख में चन्दन यात्रा, वन बिहार, जेठ में जल बिहार, आषाढ़ में मलार, सावन में हिंडोला, भादों में जनम बधाई, रास के पद, दीपमालिका, गोवर्धन पूजा, अगहन महात्म्य, बरसाने के पद, गोकुल के पद, रहसि के पद ], ११. ब्रह्म निरूपन १२. महाकारन १३. महा मंगल १४. मन परीक्षा १५. मुद्रा १६. वास्तव परचै १७. विवेक सार सूरति १८. [ श्री ] वृषभान वंशावली १९. विवाह सुख २०. वैराग्य उद्दीपन, २१. सरूप उद्दीपन, २२. समै विलास [ अष्टयाम ] २३. शबद २४. सिरिरि २५. सिंगार

शिरोमणि। रचना-उदाहरण—

मंगल आरति करि चित लाइ।

मंगल महा शिरोमणि मंगल, मंगल सारि वरनि नहिं जाइ॥

मंगल रहसि रमत राधावर, मंगल मुरली मधुर बजाइ।

मंगल जुगल किशोर विराजत, मंगल झूमक निर्त सुहाइ॥

मंगल जूथ बने जुवती सँग, मंगल सजि सिंगार बनाइ।

मंगल अखंड मंडल वन मंगल, मंगल सखी सरस सुर गाइ॥

मंगल कहत-सुनत मंगल सुख, मंगल आनंद अति बहु भाइ।

मंगल कंचन थार भरत मणि, मंगल जोति रही छवि छाइ॥

मंगल प्रेम मगन 'सेवासखि', कर लियें थार वारने जाइ॥

[—समै विलास से]

३१०. सोमनाथ जी भट्ट :

द्विज कुलोत्पन्न, गुरु—वनमालीदास जी गो., विद्यमानकाल—सत्रहवीं शताब्दी, रचनायें—चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'रसिक अनन्य परचावली' [ छप्पय सं. १५५ ] 'बसन्त प्रबन्ध' [ द्वितीय ] तथा 'श्री हरिवंश सहस्रनाम' [ छन्द सं. २३८ ] से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि इन्होंने भक्ति रहस्य सम्बन्धी किसी रसमय ग्रन्थ का तथा कुछ अन्य वाणी ग्रन्थों का प्रणयन किया था; किन्तु अभी तक हमें इनकी कोई भी रचना देखने को नहीं मिल सकी है।

३११. [ महारानी ] सोनकुँवरि जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, इनकी रचनायें स्टेट लाइब्रेरी दतिया में सुरक्षित हैं। विद्यमानकाल—अठारहवीं शती के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध तक।

३१२. शंकराचार्य जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. श्री राधाबल्लभाष्टक २. हितमण्डल स्तोत्र। रचना-उदाहरण—

राधिकाबल्लभोल्लशज्यौवनं जीवनं योषितोमदृशो दृश्यतां।

क्रीडया मत्त मात्तंगवन्मथरं क्रीडया संयुतं भूविलासोद्गमं॥३॥

[—श्रीराधाबल्लभाष्टक से]



चक्रे नुति श्री हितमण्डलस्य तत्कुल्यदासः खलु 'शंकराख्यः'।  
आज्ञा कृता श्रीगुरुयाय दैव वृन्दावने कुञ्ज निवास कांक्षीः॥

[—श्री हितमण्डल स्तोत्र से]

३१३. शंकरदत्त जी कवि :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, गुरु—चतुरशिरोमणिलाल जी गो. [ रासवंशीय सेवाधिकारी ] विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. अलंकार शंकर [ रचनाकाल—वि. सं. १८६७ ], २. चतुःश्लोकी विवर्णनम् ३. राधिका मुख वर्णन काव्य ४. सद्वृत्ति मुक्तावली ५. सप्तश्लोकी व्याख्या ६. [ श्री ] हरिवंश नाटकम् ७. [ श्री ] हरिवंश वंश प्रशस्ति [ रचनाकाल—वि. सं. १८५४ ] ८. [ श्री ] हित चरित्र, [ ये सभी रचनायें हित रूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित हैं । ] रचना-उदाहरण—

वेद बाण वसुक्माभिरामिते वैक्रमाब्दके । फाल्गुने द्वादशी शुक्ले ग्रन्थ पूर्ति रभूविच्छुमा ॥  
[—श्रीहरिवंश वंश प्रशस्ति से]

३१४. श्रीपतिशरण जी :

जन्मस्थान—डिहिया नामक ग्राम [ रीवाँ रियासत ], विप्र कुलोत्पन्न, विद्यमानकाल—बीसवीं शती का पूर्वार्ध, विशेष ज्ञातव्य—इनके पौत्र पण्डित श्री हीरालाल जी आज भी डिहिया नामक ग्राम में निवास कर रहे हैं । रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

प्यारी के गल बाँह दियें पिय झूलत रंग हिंडोनमा ।

सजि-सजि झमकि झुलावहिं सजनी, निरखहिं छबि दृग कोरनमा ॥

कबहुँ झोंकहिं मन्द हिंडोरहि, कबहुँक अतिशय जोरनमा ।

'श्रीपति' मगन भये तिहि ओसर, आनँद-सिन्धु हिलोरनमा ॥

३१५. [ स्वामी ] श्री हरिदास जी :

जनक—आसुधीर जी, जन्मकाल—वि. सं. १५६६, वृन्दावनागमनकाल—वि. सं. १५६१ के लगभग, सेव्य ठाकुर—श्री कुञ्जबिहारी जी, [श्री बाँकेबिहारी जी], भजन स्थली—निधिवन, निकुंजगमन काल—वि. सं. १६३२ के लगभग, रचनायें—१. पदावली [ सिद्धान्त के पद और रस के पद ] विशेष ज्ञातव्य—स्वामी जी द्वारा विरचित पदों की कुल संख्या अनिश्चित है; क्योंकि सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में लिखी गई अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में इनके पद बिखरे पड़े हैं । इन संपूर्ण पदों का संकलन अपेक्षित है । रचना-उदाहरण —

प्यारी कर कंकन बाँध्यो भले हो लाल तुम खोल ।

पानि परसि दुलही के दूलहु पियरे भये कपोल ॥



स्वेद सिथिल अति हरष हिये में मेटी दृग चंचलताई लोल।

श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी निरखि नागरी आपुही बिकाने बिनुमोल ॥

[—विवाह विलास से, संकलित, संकलनकर्त्री-कृष्णावती जी, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ५४]

जीवनवृत्त सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य —

लेखक ने स्वामी श्री हरिदास जी का ऐतिहासिक जीवनवृत्त लिखने का कभी विचार भी नहीं किया था। किन्तु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध-प्रकाशन के समय अकस्मात् डॉ. गोपाल दत्त जी द्वारा लिखित 'स्वामी श्री हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य' तथा डॉ. शरणबिहारी जी गो. द्वारा लिखित 'कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव' इन दोनों शोध प्रबन्धों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दोनों सुयोग्य लेखकों ने स्वामी जी के जीवनवृत्त सम्बन्धी सामग्री-संकलन करने में पर्याप्त परिश्रम किया है। गोपाल दत्त जी ने स्वामी श्री हरिदास जी को निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी सिद्ध करने वाली सामग्री का संकलन करके उसे प्रकाशित किया है। गो. शरणबिहारी जी ने स्वामी जी को विष्णु स्वामी सम्प्रदायानुयायी सिद्ध करने वाली सामग्री का तथा स्वतन्त्र सम्प्रदाय सिद्ध करने वाली सामग्री का संकलन और प्रकाशन किया है। दोनों लेखकों ने अपने-अपने प्रबन्ध लेखन द्वारा साहित्य जगत को एक विशिष्ट साहित्यिक इतिहास सामग्री से अवगत कराया है। अतः उनका यह कार्य स्तुत्य है; किन्तु फिर भी स्वामी श्री हरिदास जी के जीवनवृत्त परिचायक वह विपुल सामग्री जोकि गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना से सम्बन्धित थी; सभी विद्वानों से अछूती ही बनी रही और जिसकी जानकारी भी इन दोनों लेखकों को 'निजमत सिद्धान्त' अध्ययन द्वारा पूर्ण रूप से थी। क्योंकि 'निजमत सिद्धान्त' ग्रन्थ के अध्ययन काल में इन दोनों विद्वानों की दृष्टि ग्रन्थोल्लिखित निम्नांकित पंक्तियों पर भी अवश्य ही पड़ी होगी —

श्री हरिदास न्यून करि गाये। श्री हित जू कौ अधिक बताये ॥

ताकी बहु पोथी लिखवाई। सेवक हुते तहाँ पठवाई ॥

इस विपुल ऐतिहासिक सामग्री का प्रकाशन करना भी इन दोनों लेखकों का परम कर्तव्य था; किन्तु दोनों लेखकों ने उस विपुल सामग्री का प्रकाशन नहीं किया। क्यों नहीं किया ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में इन दोनों विद्वानों के द्वारा इस सामग्री-गोपन से विद्वद् जगत का बड़ा अपकार भी हुआ है। श्री हरिवंशी-हरिदासी के पारस्परिक सम्बन्ध का गोपन इन दोनों लेखकों द्वारा जानबूझकर किया गया है; इसका स्थूल और जीता जागता प्रमाण यह है कि इन दोनों ने सोलहवीं शताब्दी से चली आ रही संयुक्त नाम स्मरण की ऐतिहासिक परंपरा में



श्री हरिवंशी-हरिदासी के स्थान पर<sup>१</sup> अब हरिदासी-हरिवंशी लिखने की नींव डाली है। स्वामी जी के जीवनवृत्त संबंधी यह सामग्री ऐतिहासिक तथ्यों से अनुप्राणित है और

१.[क] श्रीहरिवंश से रसिक स्वामी हरिदास से अनन्यनि की को वपुरा कर सकै सारी।

जिन वृन्दावन साँचौ करि जान्यौ श्री राधाबल्लभ-कुंजबिहारी॥

श्रीहरिवंशी-हरिदासी सौ मिलि कुंज केलि रस गाइ सुनायौ।

कब मिलिहैं वे सखी सहेली हरिवंशी-हरिदासी।

श्री हरिवंशी-हरिदासी गावति सुघर प्रवीन रवाव बजावति।

श्री हरिवंशी फूलत हरिदासी निरखत सुरत हिंडोर।

गावत सबै सखी मिलि नाचत हरिवंशी-हरिदासी जू।

श्री हरिवंशी-हरिदासी बोली नहिं समाज सहचरि कोऊ जन।

व्यासदासि आगे ही ठाढ़ी सुख निरखति बीते तीनों पन।

मिलि हैं हित-ललितादिक दासी रास में गावत सुनि मन।

श्री हरिवंशी-हरिदासी जहाँ । मुहि करुना करि राखौ तहाँ॥ नित्यबिहार आधार दै।

— व्या. वा., ह. व्या., प. सं. १२, २, १०१, २४६, २१, २५३, २७८, १०३, २६८.

[ख] भ. मा., ना. दा., छं. सं. ६०, ६१

[ग] जै जै श्रीहरिवंश हंस हित कोविद वानी। ललिता ललित प्रसंश केलि कल दशा वखानी॥

श्री हरिदास अनन्य श्री कुंजबिहारी हित करन।.....

— वृ. म. की टी., टी.—भ. मु., छं. सं. १

[घ] श्री हरिवंश गुसाई मजौ। कुंज केलि रस ही में सजौ॥

श्री स्वामी हरिदास रसीले। तिनके उर में जुगल बसीले॥

— भ. सु., प्रि. दा. [गौड़ीय]

[ङ] .....रसिकदास बाँके विलास बिना कृपा श्री हरिवंश-हरिदास ऐसौ को जु कहि सकै।

—र. दा. जी की वा., र. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ७७, प. सं. ६

[च] हमारे माई आई वेदव्यास। श्री हरिवंश रु व्यास गदाधर परमानंद नंददास॥

श्री हरिदास-बिहारिनिदासी विठ्ठलविपुल सुजान।.....

— ना. स. ना. दा. [कृष्णगदाधीश]

[छ] रूप सनातन ब्रज कह्यौ वृन्दावन हरिवंश। नित्यबिहार उपास में श्री हरिदास प्रसंश॥

—रु. स. की वा., रु. स., साखी

[ज] दूर-दूर सखी सहेली एक ललिता पास। तहाँ दरशन द्वै सखी कौ श्री हरिवंशी-हरिदास॥

— प्रा. प. सं., ह. लि. प्र., कोऽपि अज्ञात रसिक कृत

[झ] श्री हरिवंशी-श्रीहरिदासी सर्वोपरि रस रासी।.....श्री हरिवंशी-हरिदासी जू करि कृपा लेहिं अपनाई

रे।.....हमारे इनके वचन प्रमान। श्री हरिवंश गुसाई-श्री हरिदास किये जे गान।.....गावत

हरिवंशी-हरिदासी विरद प्रसिद्ध तिहारौ जू।.....नित दम्पति कौ लाड़ लड़ावत हरिवंशी-हरिदासी

रे।.....हरिवंशी-हरिदासी वंशी सँग राजत ललितादि अली।

—कि. अ. की वा., कि. अ., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १३, १४, १५, १८, १३७, १७८

[ञ] भ. मा. टी., टी.—प्रि. दा. [गौड़ीय] छं. सं. ३६४ से ३६७

विपुलकाय है। अतः हम उसे साहित्यिक जगत की जानकारी के लिए ही यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रस्तुति में लेखक का कोई अपना आग्रह नहीं है। प्राचीन वाणी साहित्य में एतत् संबंधी समुपलब्ध सामग्री का वाणीकार के ही शब्दों में ज्यों का त्यों प्रकाशन किया गया है।

स्वामी श्री हरिदास जी का सम्बन्ध गो. हित हरिवंश जी से और गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना से किस प्रकार का था ? उस रसोपासक जगत में उनका क्या स्थान था ? इन सब बातों का सम्यक् ज्ञान रसिक त्रिवेणी के एक अंग विशेष श्री हरिरामव्यास जी को ही था। अतः हम इन सभी बातों का प्रकाश व्यास जी की वाणी से ही प्रारम्भ करते हैं; क्योंकि उन्होंने श्री हरिवंशी-हरिदासी [ गो. हित हरिवंश जी और स्वामी हरिदास जी ] को निकट से देखा था और वे उन दोनों के निकुंजगमनकाल तक उनके साथ-साथ ही रहे थे।

हरिरामव्यास जी ने श्री हिताचार्य को 'रस' और 'रसिकों का आधार', 'रसिक अनन्य सभा का श्रृंगार' 'सुहाग सिंदूर', 'रसिक अनन्य सभा का सौभाग्य', 'रसिक-तारागण-मण्डल-मण्डित कुमुदबन्धु' और 'कुंज महल रस का भेव 'नित्यबिहार' का प्राकट्यकर्ता लिखा है —

हुतौ रस रसिकन कौ आधार।

बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ कापै चलि है भार॥....

बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ उठिगौ ठाठ सिंगार।

व्यास एक कुल कुमुदबन्धु बिनु उड़गन झूठौ थार<sup>१</sup>॥

श्री राधाबल्लभ व्यास के इष्ट-मित्र गुरुदेव।

श्री हरिवंश प्रगट कियौ कुंज महल रस भेव<sup>२</sup>॥

स्वामी श्री हरिदास जी को भूत-भविष्य-वर्तमान में 'अद्वितीय रसिक', 'बिहार गायक', और 'अनन्य नृपति' कहकर प्रकीर्तित किया है —

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास॥..ऐसौ रसिक भयौ नहीं हैहै भुवमण्डल-आकाश<sup>३</sup>॥  
बिहारहि स्वामी बिनु को गावै। बिनु श्री हरिवंश राधिकाबल्लभ को रसरीति सुनावै<sup>४</sup>॥

हितध्रुवदास जी [ रचनाकाल—वि. सं. १६५० से १६६८ ] ने गो. हित हरिवंश जी को युगल की रस केलि माधुरी [ नित्यबिहार ] का प्राकट्यकर्ता और स्वामी श्री हरिदास जी को उस नित्यबिहार का गायक कहकर प्रकीर्तित किया है —



“श्री गुसाँई श्री हरिवंश चन्द्र जू प्रगट भये जुगल रस माधुरी प्रगट करिवे कौं। और सबनि मिश्रित गाई। प्रेम की आशक्तिता श्री गुसाँई जू ने गाई।..... श्रीजू जो रस प्रगट कस्यौ ता रस उपासना में कछू न मिलै। अद्भुत उपासना सबनि ते न्यारी है।”

रसिक अनन्य हरिदास जू गायौ नित्यबिहार।  
सेवा में हू दूर किये विधिनिषेध जंजार।।  
सघन निकुञ्जनि रहत दिन बाढ्यौ अधिक सनेह।  
एक बिहारी हेत लगि छाँड़ि दिये सुख गेह।।  
रंक छत्रपति काहु की धरी न मन परवाह।  
रहे भीजि रस भजन में लीने कर करवाह<sup>१</sup>।।

नामा जी ने ‘भक्तमाल’ की छप्पै संख्या ६०, ६१ और ६२ में क्रमशः श्री हरिवंश गुसाँई, स्वामी श्री हरिदास जी और हरिरामव्यास जी,—इन ‘रसिक त्रिवेणी’ का परिचय दिया है। गो. हित हरिवंश जी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि श्री हरिवंश गुसाँई राधाचरण प्रधान कुंजकेलि परायण दम्पति की खवासी किया करते थे। वे स्वेष्ट के महाप्रसाद को ही सर्वस्व मानने वाले, विधिनिषेध के बन्धनों से निर्बन्ध और अनन्यता का उत्कट व्रत निर्वाह करने वाले थे। श्री हरिवंश गुसाँई की यह भजन रीति सबके लिये सुबोध नहीं है। व्याससुवन श्री हरिवंश द्वारा प्रवर्तित पथ—‘श्री हरिवंशोदित रसोपासना पथ’<sup>२</sup> को अच्छी तरह से वही समझ सकता है जो उनका अनुसरण करेगा।

स्वामी श्री हरिदास जी का परिचय देते हुए नामा जी ने लिखा है कि स्वामी हरिदास जी आसुधीर के कुल के प्रकाशक थे। [ रसोपासना पद्धति का पूर्णतया निर्वाह करने के कारण ] इनकी छाप ही ‘रसिक’ पड़ गई थी। अर्थात् रसिक हरिदास के नाम से विख्यात हो गये थे। वे अपनी गान कला से और समयानुसार उत्तम-उत्तम भोग लगाकर श्याम-श्यामा को प्रसन्न किया करते थे।

इसी प्रकार प्रियादास जी गौड़ीय ने भी श्री हिताचार्य के जीवन पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उन्होंने श्री राधिकाबल्लभलाल की आज्ञा से उनके वृन्दावनधाम, धाम

१.२. ब्या. ली., हि. ध्रु. दा., सिद्धान्त विचार और भक्तनामावली, छं. सं. १२, १३, १४

३. नामा जी के इस ऐतिहासिक तथ्य को भगवत मुदित जी गौड़ीय ने भी परम सत्य स्वीकार करते हुए लिखा है कि—

जे आये हरिवंश पथ सिद्ध भये जु अनन्य। भगवत तिनकी परचई वरनीं होहुँ सु धन्य।।

की निकुंजों में होने वाले उनके विलास, [ नित्यबिहार ] और उनकी अष्टयामी सेवा का प्रकाश किंवा प्रागट्य किया। यह प्रकाश श्री हिताचार्य के द्वारा ही हुआ था अतः उन्होंने राधाचरण प्रधान उपासना को 'हित जू की रीति' [व्याससुवन-पथ] के नाम से अभिसंज्ञात करते हुए उसे 'कोऊ लाखनि में एक जानै' लिखा है<sup>१</sup>। प्रियादास जी गौड़ीय ने स्वामी हरिदास जी के सम्बन्ध में केवल इतना ही उल्लेख किया है कि उन्हें श्यामा-श्याम के जाप से रसिकता की छाप प्राप्त हुई—

स्वामी हरिदास रस रासि को वखान सकै रसिकता छाप सोई जाप मधि पाइयै<sup>२</sup>।

अतिबल्लभदास जी [ वि. सं. १७५४ में विद्यमान ] ने अपनी वाणी में नरवाहन जी, सेवक जी, स्वामी हरिदास जी और व्यास जी को श्री हित-सुरतरु में ही निवास करने वाले पक्षियों के रूप में अभिवन्दित किया है —

हित सुरतरु लपटी हित बेली। फूली फली सहज रस केली॥  
ता पर शुभ पक्षी बहु बसहीं। पोषे ताही के रसं बस हीं॥  
भृंग-कीर-कोकिल अरु हंस। बसत निरन्तर करत प्रशंश॥  
श्री सेवक-स्वामी हरिदास। श्री नरवाहन श्री जुत व्यास॥

श्री नरवाहन भृंग, हंस सेवक बड़ ज्ञाता।  
कोकिल श्री हरिदास, व्यास शुक जग विख्याता।  
भृंग पुष्प रस लेय, कीर अमृत फल चाखइ।  
हंस परागहि पाइ, मंजरिय कोकिल भाखइ<sup>३</sup>।

उत्तमदास जी ने श्री हरिवंश चरित्र [ रचनाकाल—वि. सं. १७३६ ] वर्णन सन्दर्भ में स्वामी हरिदास जी का परिचय देते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं —

श्री हरिदास बड़े उपकारी। हित जू कृपा ते मिले बिहारी॥  
है विरक्त सेवा पधराई। सो सब विधि हित जू ते पाई॥  
श्री कुंजबिहारिनि कुंजबिहारी। हित जू की पद्धति उर धारी॥  
गादी मधि थापी सुकुमारी। सदन पुलिन में लखे बिहारी॥  
श्यामा-श्यामहि गाइ रिझावैं। बाँके सुर बाँके पद गावैं॥  
पृथ्वीपति आवैं जब नेरैं। अन्तराइ लखि तिनहिं न हेरैं॥

१. २. म. मा. टी., टी.—प्रि. दा., छं. सं. ३६६, ३६४, ३६७

३. अ. ब. दा. की वा., अ. ब. दा., द्वितीय प्रकाश, प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. २ से ५



‘उत्तम’ चरित अनेक जुत श्री स्वामी हरिदास।

चोबा डाख्यौ पुलिन में दम्पति-भवन-सुवास<sup>१</sup>॥

गोस्वामी श्री रूपलाल जी [ विद्यमानकाल—वि. सं. १७३८ से वि. सं. १८०१ ] ने श्री हिताचार्य को निगम-अगम से अगम्य नित्यबिहार रस का त्रिभुवन में विस्तार करने वाला लिखा है। साथ ही यह भी लिखा है कि उन्होंने यह नित्यबिहार रस स्वामी हरिदास जी, हरिरामव्यास, नरवाहन, बीठलदास, सेवक जी आदि रसिकों को भी प्रदान किया—

व्याससुवन श्री रसिक शिरोमनि। श्री हित प्रेम सुधा सर्वसु धनि॥

नित्यबिहार केलि आधार। सो रस निगमनि-अगम अपारा॥.....

वंशी निजुसहचरि वपु धाख्यौ। रसिकनि हित त्रिभुवन विस्ताख्यौ॥

प्रभु श्री राधा वर दरसाये। नीरस रसमय करि सरसाये॥

ज्ञान-धर्म-व्रत-कर्म दिखाये। किये भक्ति किंकर बिसराये॥

स्वामी श्री हरिदासहि दीनों। व्यास मानसिक कौ सुख लीनों॥

नरवाहन बीठल निजु दासा। सेवक आदिन पुरई आशा॥

श्री वृन्दावन-कुंज-निकुंजा। दियौ सकल सुख आनंद पुञ्जा॥

रास-विलास प्रगट दरसायौ। सो रस विरले काहू पायौ॥.....

होइ नित्य जो यह रस गावै। जै श्री रूपलाल हित वांछित पावै<sup>२</sup>॥

अनन्यअली जी ने ‘चरण प्रताप लीला’ [ रचनाकाल—वि. सं. १७७३ ] में स्वामी हरिदास जी का परिचय निम्नांकित शब्दों में दिया है —

श्री स्वामी हरिदास रसीले। वृन्दावन में आइ बसीले॥

अति प्रसिद्ध जग भगतहि जानै। सेवत श्री नरसिंह प्रमानै॥

पहिलैं हे नरसिंह उपासी। नैननि आगे दरस प्रकाशी॥.....

श्री हित जू के शरनैं आये। श्रवनहि में वर मन्त्र जु पाये॥

लोक-वेद की करी न कान्यौ। श्री व्यासनन्द पद सौं मन मान्यौ॥

कुंजबिहारी सिर पधराये। विधिनिषेध जंजाल छुटाये॥

भये सु अति दृढ़ रसिक उपासी। श्रीजू नाम धख्यौ हरिदासी॥

अपनी सखि करि नेरे लीनी। महल टहल गावन की दीनी॥

१. श्री ह. च., उ. दा., स्वामी हरिदास जी कौ प्रसंग

२. गो. रू. ला. की वा., प्रा. ह. लि. प्र. पृ. सं. ६

अथ श्री स्वामी जू कौ पद-राग गौरी

नमो रँगीली के निजु अंश।

गुह्य रीति रस करी प्रकाशित को जानैं यह गंस॥

जा तन कृपा दृष्टि भरि चितवत कर्म-नेम सब कीने नंश।

श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी श्री गुरु श्री हरिवंश॥

रसिक छाप हरिदास की प्रगट जगत के माँहिं।

वेपरवाही भये अति तिन सम कोऊ नाँहिं॥

गो. जतनलाल जी ने अपने 'रसिक अनन्य सार' [ रचनाकाल-वि. सं. १७७६ के लगभग ] नामक ग्रन्थ में स्वामी हरिदास जी का परिचय निम्नांकित शब्दों में दिया है—

स्वामी हरिदास आस वृन्दावन आये करि, कीयौ है निवास जाइ बैठे निधिवन में।

सेवा नरसिंह एक सालिग्राम संग रहैं, गान-तान में प्रवीन अपने सुख तन में॥

हित जू की शरन पाइ पाये हैं बिहारी जू, गये हैं सन्देह सबै हित जू के दरसन में।

कुंज-कुंज शोभा नव कुंज ही बिहारी जू की, नये-नये भाव रचि गाये हैं पदन में॥

गहे जु श्री हरिवंश पद स्वामी श्री हरिदास।

सखीभाव ही कौं लहैं दम्पति निकट निवास॥

महा अनन्य हित कृपा ते स्वामी श्री हरिदास।

कुंजमहल की टहल में हितसखि संग निवास॥

गो. चन्द्रलाल जी ने अपनी 'रसिक नामावली' नामक लघु रचना में स्वामी श्री हरिदास जी को श्री हित-कृपापात्रों की श्रेणी में स्मरण किया है —

कृपापात्र हित जी के कहौं। तिनके नाम सुमिरि सुख लहौं॥.....

स्वामी श्री हरिदास प्रवीन। हित सु कृपा दम्पति रस लीन॥

श्री हरिवंश धर्म मधि हठी। मिली जुगल परिकर करमठी॥.....

'चन्द' जुगल हित रस छके, रसिकजननि की आश।

इनकी करुना दृष्टि सौं दम्पति केलि प्रकाश॥

रसिकन की नामावली पढ़ै-सुनै निशि भोर।

श्री वृन्दावन वास लहि, निरखै जुगलकिशोर॥

१ अ. अ. की वा., चरण प्रताप लीला, अ. अ., छं. सं. ४२ से ४५, ५० से ५५

२. र. अ. सा., गो. ज. ला., स्वामी हरिदास जी की कथा, पृ. सं. ६८ से १००

३. र. ना., गो. च. ला., छं. सं. १, १३, १४, ४६, ५०



गो. जदुबल्लभ जी ने सेवक जी को हित धर्मियों में प्रधान धर्मी के रूप में चित्रित करते हुये अन्य हित धर्मियों का नामोल्लेख किया है जिनमें स्वामी हरिदास जी का भी नाम उल्लिखित है —

व्यास सुन्यौ हरिदास सुन्यौ नरवाहन बीठलदास सुन्यौ।  
नागरीदास से दास किते 'जदुबल्लभ' एक सौं एक भन्यौ॥  
स्वामी चतुर्भुजदास सुन्यौ पै सेवक ने गुन नीके गुन्यौ।  
श्री हरिवंश के नाम प्रताप सौं कुंजनि कौ सुख खेत लुन्यौ<sup>१</sup>॥

चाचा वृन्दावनदास जी [ विद्यमानकाल—वि. सं. १७५० से वि. सं. १८४५ ] ने बसन्त खेल वर्णन व्याज से श्री हरिवंश-भृत्यों का संक्षिप्त चरित्रांकन करते हुए आसुधीर सुत स्वामी हरिदास जी का नाम श्री हरिवंश-भृत्यों में ही परिगणन किया है —

“अथ श्रीहरिवंशचन्द्र जू कौ निजु भृत्य परिकर सहित बसन्त खेल वरनन॥”  
श्री व्याससुवन सँग बन्यौ समाज। रितुराज खेल कौ सबहि साज॥.....  
लियैं प्रणत जनन मण्डली लार। कीयैं बसन्त रितु कौ सिंगार॥  
तहाँ व्यास करन बाजै मृदंग। मति कुशल रचत संगीत अंग॥  
हरिदास गुनिन के सिर सु मौर। भरे महाभाव लखि श्याम-गौर॥  
चितवृत्ति करैं रस कुंज दौर। नित फाग खेल रचैं और-और॥.....  
सबके जु मुकुटमणि व्यासनन्द। पुनि सुकल सुमोखन कुल सु चंद॥  
सुत आसुधीर-मूरति अनन्द। धनि भक्ति थंभ परबोधानंद॥.....  
धर्मी मर्मिन सौं भयौ मेल। वृन्दावन हित गरुवौ सु खेल<sup>२</sup>॥

‘रसिक अनन्य’ परचावली’ नामक एक अन्य ग्रन्थ में भी उन्होंने स्वामी जी को हित रसिकों में परिगणित करते हुए उनका स्वरूप परिचय इन शब्दों में दिया है —

बाँकौ विशद बिहार निहारनि बाँके पन की।  
सेवन बाँकी रीति बिहारी बंक सदन की॥  
कहनी रहनी बंक बंक गति रचना पद की।  
वरनी बाँकी केलि स्वामिनी शोभा हद की॥

मानौं घन अनुराग कौ, रसिकनि हित रह्यौ घुमडि घुर।  
रस अगाध महिमा फुरी, श्री स्वामी हरिदास उर<sup>३</sup>॥

१. पदा., गो. ज. ब., प. सं. २, [ 'सेवक चरित' से उद्धृत पृ. सं. २१४ ]

२. ब. प्र. [ प्रथम ] चा. वृ. दा., छं. सं. १, ७, ८, १७, ७२, ७६

३. र. अ. प., चा. वृ. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. ३४२, ३४३

उन्होंने अपनी एक रचना 'हित स्वरूप बेली' में जहाँ श्री हरिवंश को रस भजन-पथ का प्राकट्यकर्ता लिखा है वहीं एक रचना 'भक्तिप्रसाद बेली' में आसुकुलोद्भव स्वामी श्री हरिदास जी को उस रस भजन पथ के वीर कहकर प्रशंसित किया है—

प्रगट कियौ रस भजन पथ श्री हरिवंश उदार।

वृन्दावन हित रूप बलि श्रुति स्मृति कौ सार<sup>१</sup>॥

महा महिमा जुगल जासु रसना फुरी ।

भानुजा तट निकट निपट कमनी भवन, मिथुन रस रवन वरनी कला चातुरी॥

आसुकुल धीर अति वीर रस भजन पथ, जयति हरिदास जिन सुमति अनुभव दुरी।

ढारि सौरभ पुलिन जाय विवि तन सनी, दर्द दरसाय प्रभु भावना हू दुरी॥

विकट वैराग अनुराग दम्पति चरन, सु पद रचना कथन रूप रस माधुरी।

वृन्दावन हित सकल गुननि कौ गहर अति, सुमति सींच्यौ हियौ कुँवरिविपिनेश्वरी<sup>२</sup>॥

चाचाजी ने 'इष्ट पद बंदन बेली' में भी स्वामी हरिदास जी के स्वरूप परिचयात्मक दो पद लिखे हैं, जिनमें उनकी भावना स्थली—निधिवन का, उनके सेव्य ठाकुर श्री बाँके बिहारी जी का, उनके द्वारा अली भाव से हित स्वरूप रसिक प्रिया-प्रियतम की रस लीलायें देखने का और उन ललित लीलाओं को पद प्रणयन के माध्यम से तथा संगीत रीति से गायन करने का वर्णन तो किया है किन्तु नित्यबिहार प्राण और श्री राधा चरण प्रधान कोऽपि विशिष्ट रसोपासना प्रगट करने का नहीं। वे आधारभूत पद द्वय निम्नांकित हैं—

नमो-नमो बाँके जु बिहारी।

श्री हरिदास भाव अलि सेये, रस लीला नैननि सु निहारी॥

परचे हिय की हिलग माहिली, इष्ट मिष्ट जस वरन्यौ भारी।

वृन्दावन हित रूप रसिक प्रिय, राधापति जस गान अहारी<sup>३</sup>॥

नमो-नमो हरि प्यासे निधिवन।

श्री 'हरिदास भावना कौ थल, निरखे तहाँ गौर-साँवल तन॥

ताके मध्य कुंज अति कमनी, दुलराये जु बिहारी दृढ़ पन।

वृन्दावन हित रूप रिझाये, गान कुशल लह्यौ भक्ति अचल धन<sup>४</sup>॥

प्रद्युम्न-पुत्र श्री वंशीअली जी के शिष्य किशोरीअली जी ने अनेकों स्थलों पर श्री

१. हि. स्व. बे., चा. वृ. दा., अन्तिम छन्द

२. म. प्रा. बे., चा. वृ. दा., छं. सं. ७६

३. ४. इ. प. बे., चा. वृ. दा., प. सं. ३२, ६६.



हरिवंश नामोल्लेख के पश्चात् स्वामी हरिदास जी का नामोल्लेख अनन्य धर्म प्रतिपालक एक विशिष्ट रसिक के रूप में तो किया है किन्तु श्री हिताचार्य की भाँति स्वामी हरिदास जी को अनन्यता प्राण-विधि निषेध निर्बन्ध किसी पथ विशेष का प्रवर्तक नहीं लिखा है। यहाँ पर यह अविस्मरणीय है कि उन्होंने इस पन्थ को 'श्री हरिवंश पन्थ' नाम से अभिसंज्ञात किया है—

हमारे माई इनके वचन प्रमान।

श्री हरिवंश गुसाँई श्री हरिदास किये जे गान<sup>१</sup>॥

नित दम्पति कौं लाड़ लड़ावत श्री हरिवंशी-हरिदासी रे<sup>२</sup>।

तिनकी गूढ़ केलि दरसाई हित जू सुरस सनी<sup>३</sup>।

पन अनन्य विरले जन पारैं।

तेई जग में दुर्लभ जानौं जे हरिवंश पन्थ पग धारैं॥

विधि निषेध की शंका तजिकैं राधाबल्लभ नाम उचारैं।

बड़भागी रस भागी तेई अली किशोरी कहत पुकारैं<sup>४</sup>॥

वृन्दावनदास जी [चाचा वृन्दावनदास जी के समकालीन किन्तु उनसे पृथक] ने अपने 'अष्टयाम सेवा प्रबन्ध' ग्रन्थ के मंगलाचरण में श्री हरिवंश को स्वामी हरिदास जी के उर-स्थल में कुंज-क्रीड़ा का बीज वपन करने वाला बतलाया है —

जै जै श्री हरिवंश परम करुना मई। नृप नरवाहन ताहि जुगल पद निधि दई।

कुञ्ज-क्रीड़ा बेलि श्री हरिदास के उर में बई<sup>५</sup>।

इसी ग्रन्थ में ही आगे उन्होंने कतिपय वाणीकार हित रसिकों की वाणियों का संक्षिप्त परिचय दिया है। जिसमें स्वामी हरिदास जी को कुंज रस माधुरी गायक के रूप में और उनके प्रत्येक पदों को हित की डोरी में गुँथे हुए रत्नों के रूप में देखा है—

नव-नव क्रीड़ा रतन मृदुल हित डोरि सुहाई।

रसिक सुघर हरिदास केलि कल माल बनाई।

बिहारी-बिहारिनि सुजस विलसि बतरस रँग भीने।

लटपटात अँग-अँग संग गावत सुर झीने।

कुंज पुंज रस माधुरी, गूढ़ रहसि को कहि सकै।

श्री स्वामी की कृपा बिनु, वृथा बाबरौ सौ बकै<sup>६</sup>।

१ से ४, कि. अ. की वा., कि. अ., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १५, १३७, १३, १४

५, ६. अ. से. प्र., वृ. दा. [द्वितीय] प्रा. ह. लि. प्र., प. सं. ३, १३

अपने एक अन्य ग्रन्थ 'माँझावली' में भी उन्होंने हित रसिकों की नामावली में स्वामी हरिदास जी को स्मरण किया है —

स्वामी जी, सेवक जी, श्री हरिवंशदास जस सागर।  
हरीदासतुलाधार, लाल, दांमोदर हितध्रुव, नागर।।.....  
वृन्दावन हित राधाबल्लभ भजन सुधा के आगर<sup>१</sup>।।

श्री हरिलालव्यास ने 'रसिक मोदिनी' नामक सेवकवाणी-टीका [रचना वि. सं. १८३७] के मंगलाचरण में हित रसिकों की वन्दना करते हुए व्यासदास, नरवाहन, नवलदास, छबीलेदास, नाहरमल, बीठलदास, मोहनदास, हरीदास, और स्वामी हरिदास जी आदि रसिकों को हित रस अनुकूल अनन्यों की अवली में परिगणित किया है —  
व्यास, नरवाहन, नवल औ छबीलदास, नाहर सु बीठल, मोहन, हरीदास हैं।..  
स्वामी श्री हरीदास, रसिक प्रबोधानन्द, और हित रस अनुकूल जे अनन्य हैं।।  
हितकुल मण्डन श्रीहितरूपसुत दास दास, 'व्यास हरिलाल' पै कृपा करौ सरन्य है<sup>२</sup>।

लाड़िलीदास जी ने 'सुधर्म बोधिनी' [रचना काल वि. सं. १८४२] के प्रथम प्रसंग में श्री हरिवंश के धर्म पुत्रों की नामावली में स्वामी हरिदास जी का नाम स्मरण करते हुए उन्हें इष्ट अनन्य बतलाया है —

धर्म पुत्र हरिवंश के चार स्वरूप विचार।  
तिनकी कहनि रहनि प्रगट, हित सौं उर में धार।।  
गुरु अनन्य सेवक प्रगट इष्ट अनन्य हरिदास।  
धाम अनन्य प्रबोध जू , भक्त अनन्य श्री व्यास<sup>३</sup>।।

ब्रजजीवनदास जी ने अपनी वाणी में 'हित जू की जन्म बधाई' वर्णन के व्याज से कतिपय हित परिकर के रसिकजनों का नामोल्लेख किया है। जिसमें उन्होंने स्वामी हरिदास जी को हित परिकर में ही स्मरण किया है —

मधुरितु विपिन सुहावनौ बाजत रंगीली बधाई।  
श्री व्याससुवन जू कौ सोहिलौ रसिकन कौं सुखदाई।।.....  
याही भाँति सब परिकर श्री वनचन्द्र सुं पास।  
श्री गोपीनाथ मन मोहन श्री कृष्णदास सुखरासि।।

१. माँ. व., वृ. दा. [द्वितीय] पृ. सं. २२

२. र. मो. ना. से. वा. टी., टी.-ह. व्या., मंगलाचरण

३. सु. बो., ला. दा., प्रथम प्रसंग, छं. सं. ८८, ८९



नरवाहन जु बजावत उघटत भेद मृदंग।  
नई-नई परन उपजावत धु-धु-धु धु धु धु-धु धु संग॥  
लिये तमूरा गावत श्री स्वामी हरिदास।  
सप्तम की धुनि छावत देत ताल श्री व्यास॥.....  
चिरजीवौ रसिकनि मुकुटमणि नित वन करौ विहार।  
श्री उदयलाल के लालन 'ब्रजजीवन' प्रान आधार'॥

स्वामिनीशरण जी ने 'हित बोधनी' नामक रचना में जहाँ गो. हितहरिवंश जी को नित्यबिहार प्राकट्यकर्ता स्वीकार किया है वहीं स्वामी हरिदास जी को उस नित्यबिहार का उपासक बतलाते हुए उन्हें इष्ट-निष्ठित और हित-सेवी कहा है —

हित जू कृपा तजी जग आश। वन बसि सेये 'हित' हरिदास॥  
श्री हरिदासी निष्ठित इष्ट। श्री हित कृपा बिहारी इष्ट॥  
नित्यबिहार-उपासक खम्भ। सेवी हित अति अरु नहिं दम्भ॥

स्वामी हरिदास जी ने श्री हित को किस प्रकार से लाड़ लड़ाया है; इसकी विस्तृत चर्चा स्वामिनीशरण जी ने 'हितानन्द सागर लहरी' नामक ग्रन्थ में की है किन्तु विस्तार भय से उसकी सारभूत एक पंक्ति ही यहाँ उद्धृत कर रहे हैं —

“..... अरु सर्वोपरि महा विरक्त नरेश, प्रेम स्वरूप श्री ललिता जू कौ अवतार श्री स्वामी हरिदास जू महाराज ने श्री हित हरिवंश चन्द्रमा जू कौ लाड़ लड़ाये॥”

श्री प्रीतमदास जी ने भी 'हितचन्द्र प्रकाश' नामक ग्रन्थ में हित रसिकों के उत्कर्ष वर्णन में स्वामी हरिदास जी का नाम स्मरण करते हुए उन्हें हित सेवी और रसिकों में रसवन्त की उपाधि से विभूषित किया है —

हरीदास अति ही गुनवन्त। सेवी हित रसिकन-रसवन्त॥

हीरासखी कृत 'अनुभव रस' नामक ग्रन्थ में भी स्वामी हरिदास जी को श्री हित कृपापात्र रसिकों की नामावली में परिगणित किया गया है—

कृपापात्र हितजू के भाखूँ। तिनके नाम सुमिरि रस चाखूँ॥  
शिष्य प्रशिष्यन में सिद्ध जानौँ। महल-टहल बिच मन लपटानौँ॥

१. ब्र. जी. दा. की वा., ब्र. जी. दा., हित जू की जनम बधाई, प. सं. १

२. हि. बो., स्वा. श., छं. सं. ५१, ५५, ५६

३. हि. सा. ल., स्वा. श., पृ. सं. २५ से २८

४. हि. च. प्र., प्री. दा., प्रा. ह. लि. प्र., पृ. सं. १३०

स्वामी श्री हरिदास कहाये। श्री हित कृपा भई निधि पाये।।.....

यह श्रीहित परिकर सदा, विविध भाँति सुख दैन।

तिन पद रज बंदन करूँ, बार-बार निजु नैन।।

सुनहु रसिक विनती करत 'हीरासखी' अजान।

कह्यौ चहत अनुभव सुरस, सूक्ष्म बुद्धि प्रमान'।।

मदनमोहनदास जी ने श्रीजू [ श्री हिताचार्य ] के कृपापात्र वर्णन करते हुए श्री हरिदास नामक तीन रसिकों का नाम स्मरण किया है, जिनमें स्वामी हरिदास जी का नामोल्लेख भी है —

आये जे हित की शरण वरनों तिनके नाम।

श्री हित जू करिकैं कृपा राखि लिये निजु धाम।।.....

भावुक पूरनदास बड़ पंडित श्री हरिदास।।.....

हरिवंशदास प्रियादास पुनि हरीदासतुलाधार।।.....

स्वामी श्री हरिदास जू जयति प्रबोधानन्द।

व्यासदास जै जै जयति जै सेवक वर चन्द'।

गो. हित हरिवंशोदित रसोपासना में स्वेष्ट की लीला में उपासक की सम्प्रविष्टि राधाकिंकरी रूप से ही विधेय है। श्री हिताचार्य ने 'राधासुधानिधि' के "यद् राधा पद किंकरी कृत हृदां सम्यक् भवेद गोचरं" इस श्लोक [ सं. २६५ ] में इस तथ्य को रसोपासना के विधान रूप में तो वर्णित किया ही है; साथ ही लीला वर्णनात्मक प्रसंगों में भी अनेक स्थलों पर अपने इसी राधाकिंकरी रूप की अभिव्यक्ति की है। यथा —

उभय संगम सिन्धु सुरत पूषणबन्धु, द्रवत मकरन्द हरिवंश अलि पावै'।  
देखत हरिवंश आलि निर्तनी सुधंग चालि, वारि फेर देत प्रान देह सौं दुरी'।।

अतः श्री हिताचार्य के इन सूत्र वाक्यों के आधार पर अनेक हित रसिकों ने स्वामी हरिदास जी को श्यामा-श्याम की लीला में श्री हितअली के साथ हरिदासी सखी के रूप में भी देखा है। यथा —

हरिरामव्यास जी के शब्दों में —

१. अ. र., ही. स., रसिक नामावली, पृ. सं. ६, ७

२. हि. शा., म. मो. दा., पृ. सं. ५५

३.४. हि. चौ., प. सं. ८१, १०



झूलत फूलत रँग भरे मैन।

श्री हरिवंशी-हरिदासी सनमुख, कान लगे बोलत कछु बैन<sup>१</sup>।.....

मीठा जी के शब्दों में —

दुहुँ मीतनि की गिरा गद-गद सुनि, हितअलि हिय भरि आयौ।.....

रूप सुधा ललिता हरिदासी झमकि अंक में लीनी<sup>२</sup>।

गोस्वामी सुखलाल जी के शब्दों में —

रतन छरी कर कंज में नरवाहनी विचारि।.....

श्री वनचन्द्रक आदि दै व्यासदासि-हरिदासि।।

करत चँवर चहुँ ओर ते पग मग कुंज निवासि<sup>३</sup>।

वृन्दावनदास जी [चाचाजी से पृथक] के शब्दों में —

चन्दन हिंडोरे चढ़े झूलत हैं राधालाल, रूप की अवधि दोऊ मिलत गला गली।

चंचल लजीले कजरारे हैं सुहाने नैन, हरिदासी गावैं तान अतर ढलाढली।।

भोग धरि आरती उतारैं हितसजनी जू, राईलौन वारैं व्यासदासी जू भलाभली।

झिलमिल झिलि झालरीन में झलाझली है, झालरी झिलनि झिलमिलनि झलाझली<sup>४</sup>।।

गो. गोवर्धनलाल जी [अधिकारी रासवंश] के शब्दों में —

हितसजनी चौरी लियें सींचति दृग-हिय खेत।.....

गावत श्री हरिदासि जू सावन सुघर अलाप।

नरवाहनि जु मृदंग लै परन बजावति थाप<sup>५</sup>।।

स्वामी हरिदास जी के जीवनवृत्त-परिचायक सामग्री में 'रसिक त्रिवेणी' [ आचार्य गो. हित हरिवंश जी, स्वामी श्री हरिदास जी और हरिराम व्यास जी ] के एक प्राचीनतम चित्र का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जिस चित्र में गो. हित हरिवंश जी अपने निवास स्थान पर आचार्य मुद्रा में पद्मासन से विराजमान हैं। उनके अर्धोन्मीलित नेत्रों से ज्ञात होता है कि वे सम्मुख बैठे हुये स्वामी हरिदास जी द्वारा गाये जाने वाले किसी ऐसे गेय पद—जिसमें उनकी स्वामिनी रस रूपा श्री राधा के लीलामय रूप का चित्रण होगा—के रागानन्द में निमग्न हैं। हाथ में तानपूरा लिये गायकोचित आसन पर बैठे स्वामी

१. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. ३२६

२. मी. जी. की, वा., मी. जी., प. सं. ३०

३. भा. मृ. गो., सु. ला., सेवाध्यान नामक द्वितीय खण्ड, दो. सं. ३७, ४२

४. वृ. दा. की. वा., वृ. दा. [द्वितीय], स्फुट कवित्त, छं. सं. ७

५. गो. गो. ला, की वा., गो. गो. ला., झूलन के पद, प. सं. १



# रसिककविवेणी



रसरसिकाधार गो० श्री हितहरिवंशचन्द्र महाप्रभु, रसिक अनन्यनृपति  
स्वामी श्रीहरिदास जी, रसिक अनन्य श्रीहरिराम व्यास जी ।





हरिदास जी श्री आचार्योन्मुख और उन्हीं पर दृष्टि जमाये हुए उन्हें वे कोई राग गाकर सुना रहे हैं। रसिकअनन्य श्री हरिरामव्यास जी भी आचार्य चरण के सम्मुख बैठे हुए अपने हाथ से स्वामी जी और उनके कलकण्ठ से निनादित रागानन्द की ओर श्रीमन्महाप्रभु को संकेत करते हुए दिखाई दे रहे हैं। अनन्य नृपति स्वामी श्री हरिदास जी तथा हरिरामव्यास जी दोनों की दृष्टि एकटक श्रीहिताचार्य के मुख मण्डल पर टिकी हुई है; जो कि चित्रकार के इस अन्तर्भाव को व्यंजित करती है कि दोनों की आत्मा आचार्य गो. हित हरिवंश जी की रीझनि और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए लालस मानस बनी हुई है।

३१६. हरिरामव्यास जी :

जन्मस्थान—ओरछा [ बुन्देलखण्ड ] जनक—श्री सुमोखन जी शुक्ल, जाति—शुक्ल संज्ञक ब्राह्मण कुलोत्पन्न, जन्मकाल—वि. सं. १५४८ के लगभग, वृन्दावनागमनकाल—कार्तिक कृष्ण पक्ष वि. सं. १५६१, गुरुवर्य—गो. हित हरिवंश जी, सेव्य स्वरूप—ठाकुर श्री युगलकिशोर जी, [वर्तमान में पन्ना रियासत में विराजमान] भजन स्थली व निवास स्थली—वृन्दावनस्थ व्यास घेरा में। निकुंजगमन—वि. सं. १६५० के लगभग, रचनायें—व्यास वाणी, [ साखी रासपञ्चाध्यायी, सिद्धान्त के पद और रस के पद] वाणी की सर्वाधिक प्राचीन प्रति वि. सं. १७६६ की श्रीवासुदेव जी खेमरिया, कोलारस के संग्रह में उपलब्ध है। रचना-उदाहरण —

निरुपम राधा नैन तुम्हारे।

बंक विशाल श्याम-सित-लोहित तरलित तुंग अनियारे॥

अंजन छबि खंजन मद गंजन मीन पानि बुढ़हारे।

निशि-शशि डरत पंकज कुल सकुचत, बधिकन मृगज विडारे॥

पीक पलक भुव अलक कुटिल कल विकट निकट घुँघरारे।

डरत न हरत परायौ सर्वस 'व्यास' प्रान-धन वारै॥

[—व्यास वाणी, पद संख्या ५६]

जीवनवृत्त सम्बन्धी कतिपय भ्रान्तियाँ और उनका उन्मूलन :

'भक्त कवि व्यास जी' नामक ग्रन्थ के सुयोग्य लेखक श्री वासुदेव जी गोस्वामी ने श्री हरिराम व्यास जी का जन्मकाल वि. सं. १५६७ लिखा है और अपने इस मत को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये उन्होंने प्रेमदास कृत 'श्रीव्यास जन्म बधाई' के पद विशेष की निम्नांकित पंक्ति उद्धृत की हैं —



“शुभ सत पन्द्रह जानि सरसठ ता ऊपर अधिक।  
ता सम्बत में जानि प्रगट भये श्री व्यास जी।”

गोस्वामीजी ने यह भी लिखा है कि श्री व्यास जी वि. सं. १६१२ में वृन्दावन आये थे, उस समय उनकी आयु ४५ वर्ष की थी। इस आधार से भी उनका जन्मकाल वि. सं. १५६७ ही स्थिर होता है। अपने इस मत की पुष्टि के लिये उन्होंने बीसवीं शताब्दी में विरचित ‘लोकेन्द्र ब्रजोत्सव’ नामक ग्रन्थ की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं—

पैंतालिस वरषैं गई वृथा जगत सनमान।.....  
सोलह सै बारह सम्बत् में आये ब्रज सुख लीनों।  
रसिक सभा में पायौ आदर हरि-गुन गाइ प्रवीनों।।

यहाँ पर यह बात नितान्त अविस्मरणीय है कि गोस्वामी जी ने ग्रन्थ में कई स्थलों पर सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—“व्यास जी संत नवलदास जी के साथ वि. सं. १५६१ में वृन्दावन आये थे। वे कुछ दिनों ही वृन्दावन रहकर तीर्थयात्रा करने चले गये। आठ या नौ वर्ष में तीर्थयात्रा पूरी करके पुनः ओरछा पहुँचे। वहाँ पर कुछ दिन निवास करके वि. सं. १६१२ में पुनः वृन्दावन आये।”

किन्तु श्री व्यास जी द्वारा निर्मित पदावली का गम्भीर गवेषणात्मक अध्ययन करने से उपर्युक्त कल्पना का मूल्य सुस्पष्ट हो जाता है। श्री नवलदास जी के सत्संग से प्रभावित होकर श्री व्यास जी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मुझे अब कुछ नहीं करना है। शेष जीवन वृन्दावन में ही व्यतीत करना है। उन्होंने उसी समय ये पद लिखे थे —

अब न और कछु करने रहने हैं वृन्दावन।  
होनी होइ सु होइ भलैं किन दिन-दिन आयु घटत झूठे तन।।  
कह सुत-सम्पति कह गृह-दारा काटहु हरि माया के फन्दन।  
व्यास आश छाँड़हु सब ही की, कृपा करी राधा-नैदनन्दन<sup>१</sup>।।

हरि मिलि हैं वृन्दावन में। साधु वचन में साँचे जाने भूल भई मेरे मन में<sup>२</sup>।।

उपर्युक्त दोनों पदों से ये तथ्य प्राप्त होते हैं कि पद रचना काल में उनकी आयु २३-२४ वर्ष की नहीं अपितु कम से कम ४०-४२ वर्ष की थी। उन्हें गृह-सुत-सम्पति से पूर्ण वैराग्य हो चुका था। अतः उन्होंने उसी समय यह प्रतिज्ञा की थी कि अब मुझे और कुछ नहीं करना है— अखण्ड रूप से वृन्दावन में ही निवास करना है। मेरी आत्मा

१. म. क. व्या., वा. गो., पृ. सं. ५१०

२. ३. व्या. वा., ह. व्या., पृ. सं. १०३, १०४

स्वीकार करती है कि श्रीहरि वृन्दावन में अवश्य मिलेंगे। मैं साधु [नवलदास] के वचन सत्य मानता हूँ।

उनके जीवन में प्रत्यक्ष वृन्दावन निष्ठा का निकट अध्ययन करने से भी यही बात सुस्पष्ट होती है कि श्री व्यास जी वृन्दावन आकर पुनः ओरछा नहीं गये थे। उन्होंने अपनी पद रचना में स्थल-स्थल पर जिसप्रकार श्री वृन्दावन निष्ठा प्रगट की है, उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि व्यास जी श्री वृन्दावन से कभी बाहर [ओरछा तथा तीर्थाटन करने] भी गये थे। व्यास जी श्री श्यामा-श्याम से यही प्रार्थना किया करते थे कि हे प्रभो ! वृन्दावन से मेरे शरीर का वियोग कभी भी न हो। जो मनुष्य वृन्दावन छोड़कर इधर उधर भटकते फिरते हैं वे व्यक्ति उनकी दृष्टि में स्वान, गर्दभ तथा राक्षस आदि हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि जो वृन्दावन को त्यागकर इधर उधर भटकता है उसके सिर पर तो 'पनही ठोक'। श्री व्यास जी की यह एकान्त वृन्दावन वास निष्ठा निम्नांकित पदों में प्रेक्षणीय है —

मेरे तन सौं वृन्दावन सौं हरि जिन होहु बिछोहु<sup>१</sup>।

कहाँ हों वृन्दावन तजि जाऊँ<sup>२</sup>। .....

सुधासूयौ हरि मेरौ परलोक।

श्री वृन्दावन में कीन्हों दीनों, हरि अपनों निज ओक।।

ते नर राक्षस, कूकर, गदहा, ऊँट, वृषभ, गज वोक।

'व्यास' जु वृन्दावन तजि भटकत ता सिर पनहीं ठोक<sup>३</sup>।।

उपर्युक्त विवेचना का सारांश यह कि श्री व्यास जी वि. सं. १५६१ में वृन्दावन आकर एक बार ओरछा गये थे और वि. सं. १६१२ में पुनः वृन्दावन आये थे; यह एक असत्य निराधार और इतिहास-विरुद्ध धारणा है। सत्य यही है कि श्री व्यास जी की आयु वृन्दावन आगमन काल [वि. सं. १५६१] में ४२ वर्ष की थी<sup>४</sup>। इस आधार पर उनका जन्मकाल वि. सं. १५४८ या १५४६ के लगभग ही स्थिर होता है।

'भक्त कवि व्यास' के लेखक महोदय ने "श्री व्यास जी के दीक्षा गुरु उन्हीं के पिता सुकल सुमोखन जी थे"—ऐसा लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि श्री व्यास जी ने गोस्वामी श्री हित हरिवंश जी को दीक्षा गुरु नहीं—सद्गुरु बनाया था। अपने मत की पुष्टि के लिये उन्होंने श्री व्यास जी द्वारा विरचित निम्नांकित पदों की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। यथा —

१ से ३. व्या. वा., ह. व्या., प. सं. २८, २७, १०८, ११३, ११४ इत्यादि

४. र. अ. मा., भ. मु., व्यास जी की परचई



जै जै श्री गुरु सुकल वंश उदित भयौ। [ गुरु मंगल ]

श्री गुरु सुकल सहचरी ध्याऊँ दम्पति सुख रस सारं॥ [ मंगलाचरण ]  
हमारी जीवन मूरि प्रसाद। श्रीगुरु सुकल प्रताप व्यास यह रस पायौ अनहाद॥  
श्री वृन्दावन में मंजुल मरिवौ। श्री गुरु सुकल प्रताप व्यास रस प्रेमसिन्धु उर भरिवौ॥  
कह्यौ भागवत शुक अनुराग। कैसैं समुझैं बिनु बड़भाग। श्री गुरु सुकल कृपा करी॥

यहाँ पर यह सिद्ध नहीं करना है कि श्री व्यास जी के दीक्षा गुरु गो. हित हरिवंश जी थे। यह तथ्य तो श्री व्यास जी की वाणी ही घोषित कर देती है। श्री व्यास जी द्वारा विरचित वे साखियाँ गो. श्री वासुदेव जी ने भी अपने ग्रन्थ में ससम्मान उद्धृत की हैं; जिनमें श्री व्यास जी ने गो. श्री हित हरिवंश जी को गुरु रूप में स्मरण किया है। हमें यहाँ पर इस ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन करना है कि श्री व्यास जी के दीक्षा गुरु उनके पिता श्री सुकल सुमोखन जी नहीं थे। यह तथ्य 'रसिक अनन्य माल' नामक ग्रन्थ में समुपलब्ध है; जिस ग्रन्थ में व्यास जी का नवलदास जी के साथ वि. सं. १५६१ में वृन्दावन आगमन वर्णन है और जो ग्रन्थ गोस्वामी जी को भी मान्य है।

'रसिक अनन्य माल' रचयिता ने श्री व्यास जी का चरित्र वर्णन करते हुए लिखा है कि वृन्दावन आने से पूर्व व्यास जी ने किसी को गुरु नहीं बनाया था, गुरु बनाने का विचार कर रहे थे —

तिनके पुत्र व्यास कुलवंत। अति गम्भीर कोउ लहै न अंत॥  
अर्थ पुराण सकल समुझावै। संशय कोऊ रहन न पावै॥  
ऊँचौ मन गुरु करन विचारै। ऐसौ करौं जु पार उतारै॥  
ऐसहि करत ठीक नहिं करी। बरस बयालिस आयु सु टरी॥  
चलि वृन्दावन दर्शन कीजै। श्री हरिवंशहिं कौं गुरु कीजै॥

महाप्रसाद—

१. व्यासहि वामन जिन गिनौ हरि भक्तन कौ दास। श्रीराधाबल्लभ कारनैं सह्यौ जगत उपहास॥

गुरुवर—

उपदेश्यौ रसिकन प्रथम तब पाये हरिवंश। जब हरिवंश कृपा करी मिटे व्यास के संश॥  
व्यास एक ही बात गहि श्रीराधाबल्लभ-धाम। और अनेकन भक्त सौं नाहिन मेरौ काम॥  
मोह-माया के फन्द बहु व्यासहि लीने घेरि। श्री हरिवंश कृपा करी लीनों मोकों टेरी॥  
श्री हरिवंश कृपा बिना निमिष नहीं कहूँ ठौर। व्यासदास की स्वामिनी प्रगटी सब सिरमौर॥  
स्वामिनि प्रगटी सुख भयौ सुर पुहुपन बरषाइ। हित हरिवंश प्रताप ते मिले निशान बजाय॥  
व्यास आश हरिवंश की तिनहीं के बड़भाग। वृन्दावन की कुंज में सदा रहत अनुराग॥  
श्रीराधाबल्लभ व्यास के इष्ट मित्र गुरुदेव। श्री हरिवंश प्रगट कियौ कुंज महल रस भेव॥

—व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. २६, १००, ४५, १०१, १०३, १०४, १०२, ६६

२. र. अ. मा., भ. मु., व्यास जी की परचई

श्री व्यास जी न तो सन्यासी से मन्त्र लेना उचित समझते थे और न अपने काका, बाबा से। ऐसे व्यक्तियों की उन्होंने कटु आलोचना की है और ऐसा लिखा भी है कि—

जैसी रीति सेख सोफिन की, ऐसी रीति चलावत॥  
सन्यासी पै मन्त्र सुनत हैं, ते कब भक्त कहावत॥  
कर्मठ गुरु सकल जग बाँध्यौ, करम धरम अरुझाये॥  
काका, बाबा, घर-गुरु कीने, घर ही कान फुकाये२॥

व्यास जी ने 'नवग्रह तथा गणेश पूजा करना' रसिक अनन्य धर्म में दाग लगाना घोषित किया था और पूजा करने-कराने वालों को श्राप भी दिया था। उनके द्वारा प्रदत्त श्राप उनके जीवन में ही प्रत्यक्ष भी हुआ था। जिसका वर्णन व्यास जी ने अपनी वाणी में इस प्रकार किया है —

जो हों सत्य सुकल कौ जायौ।  
तौ मेरौ पन साँचौ करि हरि हों दारुन दुख पायौ॥  
मो अनन्य के मन्दिर में जिन थापि गणेश पुजायौ॥  
तिनकौ वंश वेगि हरि तोरहु गाइ गूह जिनि खायौ॥.....  
जो में कह्यौ सोई हरि कीनों यह परचौ जग पायौ३॥

व्यास जी के घर पर बेटी के विवाह में गणेश पूजा पूर्व वंशानुगत परम्परा के अनुसार हुई थी। अर्थात् उनके पिता-प्रपिता को मान्य थी; क्योंकि वे रसिक धर्म में दीक्षित नहीं थे। यदि व्यास जी के परिवारीजन [ पिता आदि ] रसिक अनन्य धर्म में दीक्षित होते तो बेटी के विवाह में गणेश पूजा ही न होती। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें रसिक-अनन्य धर्म की दीक्षा वृन्दावन में गो. हित हरिवंश जी से ही प्राप्त हुई थी—अपने पिता सुकल सुमोखन जी से नहीं।

व्यास जी स्वेष्ट के प्रसाद को सर्वस्व समझते थे। इसीलिये उन्होंने भंगी की डलिया से श्री राधाबल्लभलाल जी का प्रसाद ले लिया था। यह वर्णन व्यास जी ने स्वयं अपनी वाणी में इस प्रकार किया है —

राखैं व्रत एकादशी महाप्रसाद ते दूर। ते नर जमपुर जाहिंगे मुख में मेलैं धूर४॥

एक पकौरी सब जग छूट्यौ।  
जप, तप, व्रत, संजम करि हारे, नैकु नहीं मन दूट्यौ॥  
माया-रचित प्रपंच कुटुम्बी, मोह जाल सब छूट्यौ॥  
व्यासदास हरिवंश कृपा ते, बसि वनराज प्रेम रस लूट्यौ५॥



“श्री राधाबल्लभ कारने सहचौ जगत उपहास”<sup>१</sup>

‘व्यासवाणी’ की एक पंक्ति से ऐसी भी भ्रान्ति हो सकती है कि सभी सन्त उनके गुरुदेव थे<sup>२</sup> किन्तु यहाँ “सन्त सबै गुरुदेव हैं” इस वाक्य से उनका अन्तराशय इतना ही है कि सभी सन्त मेरे आदरणीय हैं क्योंकि व्यासवाणी की एक अन्य साखी से ही यह भी प्रमाणित हो जाता है कि व्यास जी की हार्दिक और एकान्त प्रीति केवल श्री हिताचार्य के सेव्य श्री राधाबल्लभलाल, स्वेष्ट के लीला धाम वृन्दावन व उनके रसिकजनों से ही थी और अन्य किन्हीं भक्तजनों से नहीं। इस साखी से भी यही सिद्ध होता है कि भक्तवर सुकल सुमोखन उनके गुरु नहीं थे —

व्यास एक ही बात गहि श्री राधाबल्लभ धाम।

और अनेकनि भक्त सौं नहिंन मेरो कौ काम<sup>३</sup>।।

व्यासवाणी की उपर्युक्त पंक्तियों से ही यह तथ्य परिपुष्ट हो जाता है कि व्यास जी ने अपने पिता से गुरुमन्त्र नहीं लिया था। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न सहज ही सामने आता है कि व्यासवाणी की अर्वाचीन प्रतियों में अथवा प्रकाशित प्रतियों में वे पंक्तियाँ कैसे मिलती हैं, जिनमें सुकल सुमोखन जी को गुरु कहकर स्मरण किया गया है ?

उपर्युक्त पंक्तियों में प्राप्त व्यास जी के शब्दों से ही यह प्रमाणित किया जा चुका है कि व्यास जी को रसिकअनन्य धर्म की दीक्षा सुकल सुमोखन जी से नहीं—गो. श्री हित हरिवंश जी से ही प्राप्त हुई थी। यह रसिक अनन्य धर्म और यह रसोपासना गो. श्री हित हरिवंश जी द्वारा ही प्रादुर्भूत हुई थी—सुकल सुमोखन जी द्वारा नहीं। इन ऐतिहासिक तथ्यों को देखते हुए यह बात स्वयमेव ही सुस्पष्ट हो जाती है कि ‘व्यासवाणी’ की अर्वाचीन प्रतियों में अथवा प्रकाशित प्रतियों में जो पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं वह सब व्यास जी द्वारा विरचित नहीं हैं—कालान्तर में व्यास जी को उनके पिता का शिष्य सिद्ध करने के उद्देश्य से किसी व्यक्ति विशेष ने लिख दी हैं। इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण वि. सं. १७६६ में लिखित ‘व्यासवाणी’ की वह प्राचीनम प्रति भी है जिसमें ‘श्री गुरु सुकल कृपा करी’ आदि स्थलों पर ‘श्री हरिवंश कृपा करी’ आदि पाठ उल्लिखित हैं। यह प्राचीन हस्तलिखित प्रति पं. वासुदेव जी खेमरिया [ श्रीराधा गोपाल मन्दिर के निकट, कोलारस जिला—शिवपुरी ] के निजी संग्रह में आज भी सुरक्षित है।

१. व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. ३

२. आदि-अन्त अरु मध्य में गहि रसिकनि की रीति। सन्त सबै गुरुदेव हैं व्यासहि यह परतीति।।

—व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. २

३. व्या. वा., ह. व्या., साखी सं. ११२

### ३१७. हरिलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—कुञ्जलाल जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, विशेष ज्ञातव्य—वृन्दावन परिक्रमा पथ पर भीमकुंज से थोड़ा आगे बढ़ने पर इनकी समाधि विद्यमान है। रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—

जुगल किशोर. भोर उठि बैठे, रस भीने कीने दृग तारे।  
ओढ़ें नील-पीतपट सुन्दर, छबि-निधि कुँवर लड़ैते प्यारे॥  
सहचरि वीन-मृदंग बजावति, गावत गुन गन रति अनुसारे।  
जै श्री हित हरिलाल निरखि दम्पति मुख, हरषि-हरषि तन-मन-धन वारे॥

### ३१८. हरिलालव्यास जी :

जन्मस्थान—जूनागढ़ [ समुद्र तटस्थ ], जनक—साहिबराम व्यास, [ श्रीहितरूप कृपापात्र प्रेमदास जी के शिष्य ], गुरु—किशोरीलाल जी गो., [ हित रूपलाल जी गो. के सुत ], विद्यमानकाल—वि. सं. १७६० से १८६० के मध्य आनुमानित, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. मानाष्टपदी [ गो. कृष्णचन्द्र जी कृत ] की टीका, ३. राधासुधानिधि-टीका [ बृहद् व्याख्या—रसकुल्या ], ४. राधासुधानिधि-टीका, [ मध्य व्याख्या ], ५. राधासुधानिधि-टीका [ लघु व्याख्या ], ६. रस सिन्धु ७. साँझी [ बल्लभरसिक जी कृत ] की टीका, ८. सेवकवाणी-टीका, ९. हितहरिवंशाष्टक [ नेही, नागरीदास जी कृत ] की टीका १०. हित हरिवंश जन्मोत्सव। रचना-उदाहरण —

अपने मुख प्यारी मंगल गावै। हितसजनी कौं लाड़ लड़ावै॥  
मेरे हित की मूरति प्यारी। निशि-दिन सदा रहौं उर-धारी॥  
मो बिनु कछु नहिं याहि सुहावै। या बिनु मोहि कछू नहिं भावै॥  
यह मेरे नित रंग रँगिली। हौं याके नित हित गरवीली॥  
हौं याकी निज अन्तरजामिनि। रोम-रोम रमि रही इहि भामिनि॥  
हौं याके नित सुख में सुखी। सदा चलै लीयें मो रुखी॥  
मैं हौं प्रेम-समुद्र जहाज। मुहि काढ़न की याकौं लाज॥  
मैं नित गरजौं याहि बाहु बल। मो बिनु छिन नहिं याहि कहूँ कल॥  
यामैं मोमैं अन्तर नाहीं। सेवन हित भयौ भेद कहाहीं॥  
गाइ-गाइ हिय कण्ठ लगावैं। प्रेम-सिन्धु में दोऊ न्हावैं॥  
सुनि-सुनि लखि-लखि सखी सिहावैं। न्याय प्रेम रस रूप कहावैं॥  
यौं कियौ विद्वल सकल समाज। एक प्रेम हित कौ तहँ राज॥



‘हित हरिलाल अली’ इह पावै। जनम-जनम यह रस ही भावै।।

[—पदावली से]

३१६. हरिवंशदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण, रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण —

सखी री कुआ ही भाँग परी।

बाहर भीतर द्वै द्वै कूआ दोउन की एक लरी।।

हित हरिवंश वंश भयौ चाकर साधुन की गति मति बिगरी।

‘हरिवंशदास’ कछु प्रगट वखानत, कलियुग करी खरी।।

३२०. हरिजीमल जी :

जन्मस्थान—आगरा, विप्र कुलोत्पन्न, गुरु—कुञ्जलाल जी गो., हित धर्मियों के साथ वृन्दावनागमन, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—१. कवित्त-सवैया, २. पदावली, ३. हित वंशावली, विशेष ज्ञातव्य—जयकृष्ण जी कृत ‘हित कुल शाखा’ की—

“ता पाछे शिशु हित कुल आये। हरिजीदास लिखे सुनि पाये।।” [ छं. सं. २०३ ]

इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि इन्होंने ‘हित वंशावली’ वर्णनात्मक कोई ग्रन्थ अवश्य ही लिखा होगा जिसमें ‘हित कुल शाखा’ की भाँति ही श्री हिताचार्य के कुल में प्रकट होने वाले बालकों का वर्णन था; [ श्री हिताचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों का नहीं ] किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्त है। इनके पदों में ‘हरि जू’ छाप मिलती है। रचना- उदाहरण स्वरूप एक बड़े पद की कतिपय पंक्तियाँ —

अब मैं श्री हरिवंशहि गाऊँ। तब मैं तन-त्रय ताप नसाऊँ।।.....

श्रीपति श्री मुख जिनकाँ गावैं। शेष-महेश मुख अन्त न पावैं।।

नहिँ अन्त पावैं तिन्हें गावैं, नित्य नौतन प्रीति सौं।

जो करै कोटिक जतन कोऊ, काम है रसरिति सौं।।

रसरिति कौ निजु रूप श्री हरिवंश प्रगट वखानियौ।

निजु अन्न छोड़े कहत ‘हरि जू’ कौन छोकिल छानियौ।।

मैं रटौं श्री हरिवंश काँ हरिवंश मेरे प्रान में।

श्री हरिवंश के हित नवल जोरी रहै मेरे ध्यान में।।

रहन देत न चाह इत की यहै हित की बानि है।

प्रिया जू की कृपा कौ सुख जानि है सोई जानि है।।

[—पदावली से]

### ३२१. हरीदास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, जन्मस्थान-पूर्वी क्षेत्र [ अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ], विद्यमानकाल-वि. सं. १६०० से १६६० के मध्य आनुमानित, रचनायें— १. पदावली, २. राधासुधानिधि-टीका [ 'प्रिया पियूष' नाम्नी ] रचना-उदाहरण—

प्रेम प्रमोद भरी अति आतुर, मान की टेक तजी उर सारी।  
दिव्य अपार दया रस सागर, माधुरी सुन्दरता छबि न्यारी॥  
वेद नहीं गति जाहि की जानत, है रस-सिन्धु विलास की प्यारी।  
राधिका नाम महा सुकुमार सी, राजति कुञ्जनि रानी हमारी॥

[—रा. सु. नि. टी., श्लो. सं. ५१]

### ३२२. हठी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य प्रायः अनुसन्धेय, कालिंजर निवासी ब्राह्मण, विद्यमानकाल-अठारहवीं शती के उत्तरार्ध काल से उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध काल के मध्य, रचनायें—१. राधा सुधा शतक [ रचनाकाल-वि. सं. १८३७ ] २. स्फुट छन्द । रचना-उदाहरण—

चाँदनी के आँगन बिछौना नीके चाँदनी के,  
चाँदनी सी देखि अँखियन सुख लह्यौ है।  
चाँदनी से चीर चारु चाँदनी के आभूषण,  
चम्पक के गात न वखानौं जात कह्यौ है॥  
'हठी' आसपास बैठी सुघर सुजान सखी,  
जिन्हें देखि रति कौ गुमान जात बह्यौ है।  
राधे मुख-चन्द्र की निकाई ब्रजचन्द्र आजु,  
अवनी-अकाश लौं प्रकाश फैलि रह्यौ है॥

[—राधासुधा शतक से, छं. सं. ८१]

### ३२३. हितअनूपअलि जी :

जन्मस्थान-सहसवान नगर, ये किशोर वय में ही सपरिवार वृन्दावन निवास करने लगे थे। गुरु-कमलनयन जी गो., निकुंजगमन-वि. सं. १७७४ से कुछ समय पूर्व, रचनायें—१. माधुर्य विलास [ पूर्वार्ध ], २. पदावली [ प्रा. ह. प. सं. में बिखरी हैं ] विशेष ज्ञातव्य—'माधुर्य विलास' का पूर्वार्ध भाग पूर्ण करके ही ये निकुंज प्रवेश कर गये थे; अतः इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध भाग रसिकवर वंशीधर जी ने पूर्ण किया। इस ग्रन्थ की वि. सं. १७७६ में लिखी गई सर्वाधिक प्राचीन प्रति रसभारती संस्थान, वृन्दावन में सुरक्षित



है। रचना-उदाहरण—

आजु अति ही बने कुसुम सदन बैठे पिय-प्यारी।

वरनी न जात बनक की तनक छवि, अँग-अँग आनँद ओप महारी॥

दियँ गरवहियाँ हँसत लसत दोउ, फैलि फूलि रही रूप-उजारी।

‘हितअनूप’ सुख समय निहारत, वारत प्रान होत बलिहारी॥

[—पदावली से]

३२४. हित रघुनाथ जी :

गुरु—दामोदरवर जी गो., विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी, रचनायें—  
१. कवित्त-सवैया [ प्राचीन हस्तलिखित संग्रहों में बिखरे हैं ] रचना-उदाहरण —

सावन सुहावन में सुन्दर सुदी की तीज, भीजि रहे श्यामा-श्याम रस में दमकदार।

घोरिकैं घमंडित घटान की घमंडें घनी, घुमरि-घुमरि घेरे चंचला चमकदार॥

‘हित रघुनाथ’ मंद-शीतल समीर मन, सौरभ सौं सरस्यौ री छवि सौं छमकदार।

झूले झला झलकैं झुलावैं झुकि झूमि-झूमि, झमकि झुलावैं झीनी झूला में झमकदार॥

३२५. हितकिशोर जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—दम्पति किशोर जी गो., [ गो. मोहनचन्द्र वंशीय ]  
विशेष ज्ञातव्य—चाचाजी कृत ‘हितभक्तिकल्पतरु’ में इनका नामोल्लेख है। विद्यमानकाल—  
उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी  
हैं ] रचना-उदाहरण —

हा-हा प्यारी नागरि झूलौ हिंडोरे तुम, मानत जौ हौं बलि-बलिहारी।

तुम बिनु पलक कलप सम बीतत, सुनि विनती वृषभानुदुलारी॥

अपने करनि झुलाउँ गाऊँ, सप्त सुरनि तान गति न्यारी-न्यारी।

‘जै श्री हितकिशोर’ पिय वचन सुनि भामिनि, विहँसि मिले दोउ भरि अँकवारी॥

३२६. हितलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—किशोरीलाल जी गो., [ गो. रूपलाल-सुवन ]  
विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी  
हैं ] रचना-उदाहरण—

अहो आजु होरी झुरमुट रंगमहल में, चलत पिचक रंगनि भरी।

अतर गुलाबनि ढोरति शीशी, अबीर गुलालनि पोटरी॥

बाजे विविध बजत गहरी धुनि, तान मदन रस विस्तरी।

‘जै श्री हितलाल’ बढनि सुख शोभा, निरखि प्रसंशत सहचरी॥

### ३२७. हितदास जी [ प्रथम ] :

जन्मस्थान—अग्रवन [ आगरा ], विद्यमानकाल—वि. सं. १८३६ से अनिश्चित काल पूर्व, विशेष ज्ञातव्य—भोरीसखी जी के शिष्य हितदास जी से पृथक, रचनायें—इनकी कोई स्वतन्त्र रचना अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। प्रियादास जी कृत 'सेवक चरित्र' [ रचनाकाल वि. सं. १८४१ ] में इनके जन्मस्थान का नाम और एक छप्पय छन्द मात्र ही उल्लिखित है —

॥ अथ अगरवन के हितदास जू लड़ावैं हैं ॥

निगम सार सिद्धान्त भनी श्री सेवकवानी। परम तत्व हरिवंश रहसि रसरीति वखानी ॥

जुगल जाप निज नाम सुखद निश्चय करि गायौ। व्रत संजम फल तुच्छचाहसंदेहनशायौ ॥

चित प्रेम भक्ति पद-पद श्रवत, पाठ-मनन आनंद भर।

हित वृन्दाविपिन बिहार छबि, निरखैं नित 'हितदास' वर ॥

### ३२८. हितदास जी [ द्वितीय ] :

जन्मस्थान—मालवा देश, द्विज कुलोत्पन्न, हित रसिकों के सत्संग से वृन्दावनागमन, गुरु—भोलानाथ जी 'भोरीसखी', [ ब्रजपति जी गो. के शिष्य ], विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ], २. भागवत भाषा [ दशम स्कन्ध की ], ३. राधासुधानिधि-टीका [ ब्रजभाषा पद्यानुवाद ], ४. राधासुधानिधि-टीका [ संस्कृत-अन्वय ], विशेष ज्ञातव्य—कहीं-कहीं इन्होंने अपनी छाप केवल 'दास' ही प्रयुक्त की है। रचना-उदाहरण —

श्रीमद् राधासुधानिधि परम प्रेम रस सार।

भाव मात्र भाषा रचत निज बुधि के अनुसार ॥

श्री गुरु भोरीसखी के मुख सौं सुनि हिय आनि।

तिनहीं के परताप बल वरनत बुद्धि प्रमान ॥

जाकौ कभूँ एक नव खेल महा उत्सव में, सारी के छोर कौं चलाय वाय आई है।

धन्य अति धन्य सोई ताके तन लागत ही, मानत कृतार्थ पिय भाग की बड़ाई है ॥

योगी-योगीन्द्रनि के ध्यान हू सौं दुर्गम सो, ऐसे मधुसूदन के हिय सुखदाई है।

ऐसी जो है गोरी वृषभानु की किशोरी भोरी, ताकी दिशा बन्दि 'दासहित' सरसाई है ॥

[—रा. सु. नि. टी., श्लो. सं. १]

### ३२९. हितदासी जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शती रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना-उदाहरण—



पौढ़े ऊँची अटा बिहारी।

कुञ्ज बनी हीरनि की सुन्दर त्रिविध पवन रुचिकारी॥

ता मधि कुसुम दलन कल राजत षटपद गुंज सुखारी।

झीने पट झलकत तन शोभा 'हितदासी' बलिहारी॥

३३०. हितशरण जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, गुरु—रूपलाल जी गो. [ विलास वंशीय सेवाधिकारी ], विद्यमानकाल—बीसवीं शती का अन्तिम चरण, रचनायें—  
१. पदावली, रचना-उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ —

श्री रूपलाल सुखदैव कृपा अब कीजिये। वृन्दावन हित फेरि जगत कौं दीजिये॥  
बूढ़त या भव-सिन्धु उबारौ जीव कौं। दरसावौ माधुर्य सरस रस सीव कौं॥

आप प्रगटै सरस परिकर वेगि अब प्रगटाइये।

श्री राधिकावर लाल के नव नित्य कौतुक गाइये।

'हितशरण' की विनय नित-नित भाव वृत्ति हिय में जगै।

जय जय हित अलि अंश प्रगट जग जगमगै।

३३१. हितसुख जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—बीसवीं शताब्दी, गुरु—गोवर्धनलाल जी गो., [ रासवंशीय सेवाधिकारी ], रचनायें—१. पदावली, रचना-उदाहरण—

प्यारे दोउ जैवत हैं सुकुमार।

सरस सुगन्ध उठत उदगारैं, भरि खिचरी के थार॥

पापर कचरी तलप कटाक्षन, भृकुटि मुरनि कौ अचार।

जुरे परस्पर नैन दुहुँनि के , प्रेम रूप कौ अहार॥

पहिलैं प्रियहि जिमावत जैवत, रहत हैं वदन निहार।

ऐसी विधि सौं जैवत प्यारे 'हितसुख' की ज्यौंनार॥

३३२. हित गोपाल जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—बीसवीं शती का अन्तिम चरण, रचनायें—१. सेवकवाणी टीका [ रचनाकाल—वि. सं. १९६८ ], विशेष ज्ञातव्य—ये टीका गो. वृन्दावनबल्लभ जी, [ श्री राधाबल्लभ जी मन्दिर के निकट, वृन्दावन ] के निजी संग्रह में सुरक्षित है। रचना-उदाहरण—अन्तिम छन्द—

भूल चूक अपराध योनि मानुष गुन जानौं । क्षमावन्त आनन्द साधु लक्षण पहिचानौं ।  
निंदक जो निर्दोष ताहु में दूषन काढ़ै । निज जन कर्तव्य देखि सुजन कौं हर्षहि बाढ़ै ।  
'हित गुपाल' टीका करी मन्द बुद्धि अनुसार । जैसौ जो कोउ होय जो तैसौ करै विचार ।

३३३. हित रसिक जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, रचनायें—१. विनय बत्तीसी [ हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन में सुरक्षित ] ।

३३४. हितनिधि जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—अठारहवीं शताब्दी ।  
रचनायें—१. मानसी रतन, [ अष्टयाम ] रचना-उदाहरण —

ध्यान गुरुन कौ कीजिये छिन-छिन रुचि उपजाइ ।  
दम्पति कुंज निकुंज की केलि देत दरसाइ ॥ १ ॥  
इति श्री मानसी रतन कौ कीनों हार अनूप ।  
जो याकौ उर में धरै सो पावै वन भूप ॥ ७५ ॥  
'हितनिधि' हित सौं जब लखै जब हित जू कौ होइ ।  
तब प्यारी-पिय हेत सौं महल बसैहैं सोइ ॥ ७६ ॥

३३५. हितूलडैतीअलि जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विशेष ज्ञातव्य—वंशीधर जी कृत 'माधुर्य विलास' [ रचनाकाल वि. सं. १७७४ ] से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि हितूलडैतीअलि नामक कोई हित रसिक वंशीधर जी के अनिश्चितकाल पूर्व हुए थे और इन्होंने अपने किसी ग्रन्थ में लाड़ की नव दशाओं का वर्णन किया था । आधारभूत दोहा निम्नांकित है—

'हितूलडैतीअलि' लिखी लाड़ दशा नौ भाँति ।  
तिनकौ लिखौं उदाहरण जहँ अति रस सरसाँति ॥

रचना-उदाहरण —

कोऊ कहौ इ सुख लाड़ सौंज कौ लाड़ ग्यान नहिं कोइ ।  
लाली दशा ललित लाड़ित की, 'हितूलडैती' सोइ ॥  
क्यों ह्यौं हुलसि सबनि निजु घाँ ते लाड़ित लालन कीने ।  
लाली-लाला नाम याहि ते, लाड़ आदि सुख भीने ॥

[—माधुर्य विलास से उद्धृत—पृ. सं. ६७ ]



### ३३६. हीरादास जी :

ऐहिक जीवन सम्बन्धी सभी तथ्य अनुसन्धेय, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—इनकी कोई स्वतन्त्र रचना अभी तक हमें प्राप्त नहीं है; प्राचीन ह. लि. प. सं. में इनके द्वारा विरचित चाचा वृन्दावनदास जी की प्रशस्ति में लिखी गई केवल एक स्वरूप परिचयात्मक छप्पय ही प्राप्त होती है; जो कि निम्नांकित है —

हित वृन्दावनदास दूरि आशय गति जिनकी।  
 श्री व्यासनन्द पद प्रीति रीति अद्भुत गति तिनकी॥  
 ब्रज-निकुंज रस अकह कह्यौ सुनि मुसिकत दंपति।  
 सवालक्ष वाणी रचि दुलराये राधापति॥  
 औरौ बहु अवतार कथि, निज चित्त सु विपिन बिहार रुचि।  
 यह अटल छाप चाचा दई गुरु हित रूप उदार शुचि॥

[—हीरादास जी कृत]

### ३३७. हीरासखी जी :

जन्मस्थान—हाथरस [ जिला अलीगढ़ ], जन्मकाल—वि. सं. १६३५, जनक—किशोर जी, जननी—भवानी, दो वर्ष की आयु से ही माता-पिता के साथ वृन्दावन निवास, सात वर्ष की आयु में ही दीक्षा ग्रहण, दीक्षा गुरु—श्री मधुवनदास जी [ श्रीहित रासमण्डल के नागा जी ], छब्बीस वर्ष की आयु में ही 'अनुभव रस' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ का प्रणयन, निकुंजगमनकाल—वि. सं. १६६४ के अनिश्चित काल पश्चात्, निवासस्थली—श्री हित रासमण्डल, वृन्दावन, रचनायें—१. मंगल छन्द २. वन्दना श्री हित जी की ३. बधाई श्री हित जी की ४. भक्त नामावली ५. रसिक नामावली ६. वन्दना श्री गुरु जी की ७. विनय श्री प्रिया पद ८. विनय युगल पद ९. विनय सखी प्रति १०. अभिलाषा ११. लाल जू की बधाई १२. महादेव लीला १३. प्रिया जी की बधाई १४. बाल लीला १५. प्रथम मिलन १६. साँझी लीला १७. पद शरद के १८. पद चौसर के १९. पद गोवर्धन २०. गौ चारन २१. पद हेमन्त २२. पद खिचरी के २३. दान लीला [ प्रथम ] २४. दान लीला [ द्वितीय ], २५. दान लीला [ तृतीय ], २६. मान लीला २७. कपट चातुरी निवृत्त मान २८. बहार बसन्त की २९. बसन्त ३०. मान लीला बसन्त की ३१. दोहा परस्पर के ३२. उराहनी ३३. होरी ब्रज की [ प्रथम ] ३४. होरी मानसरोवर की ३५. होरी बाद की ३६. होरी ब्रज की [ द्वितीय ] ३७. होरी वृन्दावन की ३८. होरी रसिया ३९. सखी-श्याम कौ झगरौ ४०. द्वितीय होरी प्रसंग ४१. तृतीय होरी प्रसंग ४२. चतुर्थ होरी प्रसंग ४३. पंचम होरी प्रसंग ४४. षष्ठम होरी प्रसंग ४५. उराहनी [ द्वितीय ] ४६. लखेरिन लीला ४७. रँग बेचनहारी लीला ४८. पद होरीडोल के ४९. पद फूलडोल के ५०. चन्दन यात्रा ५१. पद

फूल बैंगला ५२. वन बिहार ५३. कुसुम कुंज ५४. विपिन विहरन ५५. जल बिहार ५६. विपिन आनन्द ५७. पद श्री यमुना जी के ५८. पद रावल-गोकुल-बरसाने के ५९. पद पावस के ६०. प्रथम झूलन ६१. झूलन छदम ६२. झूलन मान ६३. झूलन द्वितीय ६४. झूलन कुंज ६५. कुसुम हिंडोला ६६. झूलन वंशीवट ६७. झूलन जमुना तट ६८. पवित्रा धारण ६९. रक्षा बन्धन ७०. पद शयन के ७१. द्वितीय अभिलाष ७२. प्रथम अष्टयाम ७३. द्वितीय अष्टयाम ७४. तृतीय अष्टयाम ७५. चतुर्थ अष्टयाम ७६. वंशी लीला ७७. परस्पर मान लीला ७८. माखनचोरी ७९. पनघट लीला ८०. उराहनों [ तृतीय ] ८१. श्याम मोहिनी लीला ८२. अद्भुत लीला ८३. आँख-मिचौनी लीला ८४. पद प्रभुता के ८५. महिमा प्रिया जी की ८६. पद रास महिमा के ८७. पद रसिक-रीति के ८८. पद सिद्धान्त के ८९. पद सिद्धान्त के [ द्वितीय ], ९०. पद कपट वैराग के ९१. कलि प्रचार ९२. सिद्धान्त मन-प्रति, ९३. अभिलाष पूरन के पद ९४. अपुन पद्धति प्रचार। विशेष ज्ञातव्य—इन छोटी बड़ी उपर्युक्त सम्पूर्ण रचनाओं को हीरासखी जी ने 'अनुभव रस' नाम दिया है। यह 'अनुभव रस' वि. सं. १९६३ में वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित भी हो चुका है। रचना-उदाहरण—

आजु नव बैंगला की छबि न्यारी।

फूल गुलाबनि कौ सिंहासन बैठे प्रीतम-प्यारी॥

अतर महक आवति अति सुन्दर, सुख सरसावनहारी।

'हीरासखी हित' या छबि ऊपर तन-मन-धन बलिहारी॥

[—अनुभव रस से]

३३८. हुलासलाल जी गो. :

जन्मस्थान—वृन्दावन, जनक—जीवनलाल जी गो. [ गो. ब्रजभूषण वंशोद्भव, विद्यमानकाल—उन्नीसवीं शताब्दी, रचनायें—१. पदावली [ प्रा. ह. लि. प. सं. में बिखरी हैं ] रचना उदाहरण स्वरूप एक पद की कतिपय पंक्तियाँ—

माधौ शुभ मास ग्यास अद्भुत उजियारी।

हरिवंश चन्द व्यासनन्द जासु जनम धारी॥

लै-लै कर स्वासन कर कंचन की थारी।

आरतौ बनाय लाये दीपक मधि वारी॥.....

जाके गुन वरन करत सारंद पचि हारी।

उदय चन्द्र 'हित हुलास' छबि पर बलिहारी॥



## उपसंहार

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी भारत की स्वर्णिम शताब्दी मानी गई। क्यों मानी गई? इसके अनेक कारण हैं। जैसे—इस शताब्दी में साहित्य, संगीत, चित्र और नाट्य कला के साथ-साथ शिल्प कला, वास्तु कला तथा युद्ध कला आदि-आदि कलाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी। इस शताब्दी में ही यह भारत धन-धान्य से पूर्ण सभी प्रकार के विद्वद् समाज से परिपूर्ण था। इसी शताब्दी में यह देश अनेकानेक ईश्वरीय भक्तिभावों से भी सुसम्पन्न हुआ था। स्वर्णिम शताब्दी कहे जाने वाले उपर्युक्त सभी कारण सुधीजन सम्मन्य और इतिहास सम्मत परम सत्य हैं। निष्पक्ष, सूक्ष्म और गहनतम दृष्टि से देखने पर धन-धान्य की पूर्णता, कलाओं की उन्नति, अनेकानेक विद्याओं की सम्पन्नता, तथा भगवद्भक्ति जैसी शोभा सम्पत्ति की परिपूर्णता के प्रमाण सोलहवीं शताब्दी से चिर भूतकाल में भी प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि इन कारणों के अतिरिक्त फिर अन्य कारण कौन सा था; उसे स्वर्णिम शताब्दी कहने का? वह कारण है—रस भक्ति नाम्नी रसोपासना का आविर्भाव, जो कि सोलहवीं शताब्दी से पूर्व कभी भी देखी, सुनी या लिखी गई नहीं मिलती। इस रस भक्ति नाम्नी रसोपासना का आविर्भाव गो. हित हरिवंश जी ने विक्रम की सोलहवीं शती के उत्तरार्धकाल में किया। उन्होंने श्रुतियों से अलक्षित किन्तु उसके हृदय में ही संगुप्त रूप से विद्यमान परात्पर तत्त्व 'रस' को अपने परमोपास्य के रूप में प्रतिष्ठित किया।

‘हिन्दी भक्ति काव्य में रसभक्तिधारा और उसका वाणी साहित्य’ प्रबन्ध के इस आलेख्य विषय के प्रतिपादन में परिलक्षित भक्ति का स्वरूप, उसका क्रमिक विकास, इस विकास क्रम के विशाल प्रांगण में प्रदर्शित भक्ति की निर्गुण धारा तथा सगुण धारा, इन धारा द्वय की विमल दीप्ति में राम भक्ति शाखा तथा कृष्ण भक्ति शाखा के अमल-अदूर दर्शन और भक्ति की दोनों धाराओं के मध्य तथा दोनों से सर्वथा पृथक् रस भक्ति धारा का समुद्गम, अध्येताओं को एक सुमधुर चमत्कृति से चमत्कृत करके अभिनव ऐतिहासिक तथ्य से अवगत करायेगा। रस भक्ति के प्रमेय तत्व ‘प्रेम’ किंवा ‘रस’ की परात्परता के प्रभावी आलोक में प्रेमोपासना किंवा रसोपासना का प्रतिष्ठापन विद्वज्जनों, भक्तजनों और रसिकजनों को आत्म तुष्टि प्रदान करेगा, ऐसा हार्दिक विश्वास है।

प्रेमोपासना किंवा रसोपासना का सर्वाङ्गीण स्वरूप सर्वसाधारण को हृदयंगम हो सके; इस उद्देश्य से किया गया—उसके उपास्य, उपासक, उपासना विधा, सहायक तत्व और बाधक तत्वों का आलेखन; उपास्य स्वरूप चित्रण की चारु चन्द्रिका में ही उसके नाम, रूप, लीला, धाम और परिकर इन पाँचों अङ्गों का आमूलचूल चित्रण, अध्येताओं को रस भक्ति के स्वरूप ज्ञान का लाभप्रदायक मात्र ही नहीं प्रत्युत रसोपासना की अभीष्ट सिद्धि प्रदान करने में भी सक्षम सिद्ध होगा।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध—प्रेमोपासना प्रवर्तक श्री हिताचार्य द्वारा प्रदत्त—नित्य रासलीलानुकरण, समाज संगीत, पंचकोसी वृन्दावन एवं इस वृन्दावन के लीला स्थल, वृन्दावन रस की स्वतंत्र काव्य-धारा, राधाचरण प्रधान और अनन्यता प्राण रसोपासना तथा विधि निषेध शून्य अष्टयामी सेवा पद्धति—इन सभी दिव्य देनों के प्रागट्य का प्रमाण पुष्ट इतिहास ही सिद्ध होगा। यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि यह अभिनव शोधग्रन्थ रस भक्ति धारा के विपुल वाणी वैभव, अनेकानेक वाणीकारों और उनके द्वारा सहज उद्गलित वाणी साहित्य के सर्वाङ्गीण इतिहास का एकमात्र परिचायक सिद्ध होगा।

ऐसा पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत शोधग्रन्थ का अध्ययन अध्येताओं को रसभक्ति नाम्नी रसोपासना का यथार्थ स्वरूप-ज्ञान प्रदान कर सकेगा। ‘रस’ और ‘रसिक’ रूप से परिचित करा सकेगा। प्रबंध-अध्येता वृन्दावन रस का स्वरूप ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। श्री हिताचार्य की वाणी में ब्रज वर्णन है या विशुद्धतम नित्यबिहार वर्णन है—इसका निर्भ्रान्त निर्णय निश्चय ही प्राप्त कर सकेगा। वृन्दावन व उसके लीला स्थलों का, नित्य निकुंज लीलाओं का और नित्य निकुंजोपासना का प्रागट्य किसने किया है ?—इसके प्रमाण पुष्ट निर्णयों से अवगत हो सकेगा। श्री हिताचार्य के लोक जीवन और उनकी रचनाओं



का निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। रस भक्ति धारा के वाणी वैभव की विपुलता एवं उसके स्वरूप सौन्दर्य और रूप सौन्दर्य से परिचित हो सकेगा। 'रस भक्ति धारा' निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा इन दोनों से पृथक हिन्दी भक्ति काव्य की एक स्वतंत्र रस धारा है—इस ऐतिहासिक तथ्य को प्रबन्ध-पाठक निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करेगा। प्रेमोपासना और भगवदुपासना, भक्त और रसिक, वाणी और कविता, काम-केलि और प्रेम-केलि इन सभी के पार्थक्यों को भली भाँति हृदयंगम कर सकेगा। वृन्दावन रस सभी दृष्टियों से एक स्वतंत्र रस है—इस ऐतिहासिक तथ्य को पूर्ण विश्वस्ति के साथ स्वीकार कर सकेगा। गो. श्रीहित हरिवंशोदित रसोपासना सगुण भक्ति की राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा से, संत कबीर के रहस्यवाद से और सूफी सन्तों की सूफी साधना से सर्वथा पृथक है—यह ऐतिहासिक तथ्य भी अध्ययनशील पाठकों को पूर्ण रूपेण हृदयंगम हो सकेगा।

अपने आलेख को विद्वद् सम्मत ऐतिहासिक ग्रन्थों से प्राप्त प्रमाणों द्वारा परिपुष्ट बनाना विद्वद् जगत की चिर पूर्व स्वीकृत परम्परा रही है। इस परम्परा निर्वाह के साथ ही उपासना आविर्भावक मूलाचार्य की प्रमाण गिरा को ही प्राथमिकता देना इसी प्रबंध की दिव्य देन मानी जायेगी; जो कि परवर्ती सभी प्रबन्ध लेखकों को एक वैधानिक नियन्त्रण के रूप में स्वीकार करनी पड़ेगी—ऐसा हार्दिक विश्वास है।

यह बृहद् शोधप्रबन्ध गोस्वामी हित हरिवंशोदित रसोपासना के रसोपासकों की इष्ट-सिद्धि के लिए हितकर तो सिद्ध होगा ही अन्य सभी जिज्ञासुओं तथा अनुसंधित्सुओं के लिए भी मार्ग प्रदर्शक सिद्ध होगा।

## सहायक ग्रन्थ सूची

### हस्तलिखित वाणी-ग्रन्थ —

| ग्रन्थ का नाम                     | ग्रन्थकार                | प्राप्ति स्थल                          |
|-----------------------------------|--------------------------|----------------------------------------|
| अनन्यसार                          | गो. जतनलाल जी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| अनन्यअली जी की वाणी               | अनन्यअली जी              | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| अष्टयाम सेवा प्रबंध               | वृन्दावनदास जी [द्वितीय] | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| अतिबल्लभ जी की वाणी               | अतिबल्लभदास जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| अतिबल्लभ जी की वाणी               | अतिबल्लभदास जी           | हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन             |
| अतिबल्लभ जी की वाणी               | अतिबल्लभदास जी           | गो. श्यामलाल जी, वृन्दावन              |
| अतिबल्लभ जी की वाणी               | अतिबल्लभदास जी           | गो. ब्रजजीवनलाल जी, वृन्दावन           |
| अतिबल्लभ जी की वाणी               | अतिबल्लभदास जी           | बाबा ध्रुवअलीशरण जी, वृन्दावन          |
| आशा त्याग                         | दामोदर स्वामी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| अन्तःकरण प्रबोध                   | आचार्य बल्लभ             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| इष्ट पद वंदन बेली                 | चाचा वृन्दावनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| कर्णानन्द [वि. सं. १६५० की प्रति] | गो. कृष्णदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| कवित पच्चीसी                      | चाचा वृन्दावनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| किशोरीअली जी की वाणी              | किशोरीअली जी             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| केलि कल्लोल                       | हित मोहन जी              | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| कृष्ण गिरि पूजन बेली              | चाचा वृन्दावनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| कृष्णदास भावुक की वाणी            | कृष्णदास जी भावुक        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| कृष्णदास गो. की वाणी              | कृष्णदास जी गो.          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| गुरु कृपा चरित्र बेली             | चाचा वृन्दावनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| गो. वनमालीदास द्वारा लिखित पत्र   | गो. वनचन्द्र जी          | पं. जगदीशप्रसाद जी त्रिपाठी,<br>जबलपुर |
| गो. वनचन्द्र जी की वाणी           | गो. वनचन्द्र जी          | हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन             |
| गो. हितरूपलाल जी की वाणी          | गो. रूपलाल जी            | हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन             |
| गोकुलाष्टक                        | आचार्य बल्लभ             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| गोपीजनबल्लभ अष्टक                 | आचार्य बल्लभ             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| चतुःश्लोकी                        | आचार्य बल्लभ             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन              |
| चैतन्यचंद्रामृत                   | प्रबोधानन्द जी [गौड़ीय]  | बाबा कन्हैयादास जी, बरसाना             |
| तत्त्वसारप्रकाशिनी                | नन्ददास जी               | ब्रजबल्लभशरण जी, वृन्दावन              |



|                                                           |                              |                                  |
|-----------------------------------------------------------|------------------------------|----------------------------------|
| तत्त्वसार चेतावनी लीला                                    | राधिकाचरणदास जी              | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| द्वादश यश [ वि. सं. १७२८ की प्रति ] स्वामी चतुर्भुजदास जी |                              | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| दोहावली                                                   | सर्वसुखदास जी                | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| दोहावली संग्रहीत                                          | संकलन                        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| नागरीदास जी की वाणी                                       | नेही नागरीदास जी             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| निजमत सिद्धान्त                                           | किशोरदास जी                  | रसिकबिहारी जी का मंदिर, वृन्दावन |
| निरोध लक्षण                                               | आचार्य बल्लभ                 | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पद प्रसंग माला                                            | नागरीदास जी [कृष्णगढ़ाधीश]   | पं. रामलाल जी, भरतपुर            |
| पदावली                                                    | आनन्दीबाई जी                 | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | हित घनश्यामदास जी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | चन्द्रसखी जी                 | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | गो. जदुबल्लभ जी              | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | गो. ब्रजलाल जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | अतिबल्लभदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | गो. कुंजलाल जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | कृष्णदास जी भावुक            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | प्रेमदास जी                  | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| पदावली                                                    | चाचा वृन्दावनदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| फुटकर पद संग्रह                                           | निर्गुनिया संत               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| फुटकर सवैया                                               | सर्वसुखदास जी                | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| प्रश्नोत्तरी                                              | प्राणनाथ जी                  | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| प्राचीन पद संग्रह                                         |                              |                                  |
| [ प्रथम से चालीस तक ]                                     | संकलित                       | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| प्रीतमदास जी की वाणी                                      | हित प्रीतमदास जी             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| प्रेम पहेरी                                               | चाचा वृन्दावनदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| प्रेम विनोद                                               | सुखसखी जी [सहचरिसुख से पृथक] |                                  |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १८१५ ]                             | हितध्रुवदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १८६० ]                             | हितध्रुवदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १८७० ]                             | हितध्रुवदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |

|                                                         |                     |                                     |
|---------------------------------------------------------|---------------------|-------------------------------------|
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १६०७ ]                           | हितध्रुवदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १६४२ ]                           | हितध्रुवदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १६६२ ]                           | हितध्रुवदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. X ]                              | हितध्रुवदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. X ]                              | हितध्रुवदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १८१८ ]                           | हितध्रुवदास जी      | गो. ब्रजभूषण जी राजभोगिया, वृन्दावन |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १८७० ]                           | हितध्रुवदास जी      | गो. ब्रजभूषण जी राजभोगिया, वृन्दावन |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १८७० ]                           | हितध्रुवदास जी      | गो. ब्रजजीवनलाल जी, वृन्दावन        |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १६०४ ]                           | हितध्रुवदास जी      | गो. सोहनकिशोर जी, वृन्दावन          |
| ब्यालीस लीला [ वि. सं. १६४२ ]                           | हितध्रुवदास जी      | गो. बल्लदेवलाल जी, वृन्दावन         |
| बसंत, होरी व होरीडोल के पद<br>[ वि. सं. १७६७ की प्रति ] | संकलित              | छुट्टन भट्ट जी, वृन्दावन            |
| बसन्त प्रबंध [ प्रथम से चतुर्थ ]                        | चाचा वृन्दावनदास जी | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| बसन्त प्रबंध [ प्रथम से चतुर्थ ]                        | चाचा वृन्दावनदास जी | हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन          |
| ब्रजप्रसाद बेली                                         | चाचा वृन्दावनदास जी | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| ब्रजजीवनदास जी की वाणी                                  | ब्रजजीवनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| ब्रजभाषा का आदि काव्य और<br>आदि कवि                     | किशोरीशरण 'अलि'     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| बिहारिनिदास जी की वाणी                                  | बिहारिनिदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| भक्तमाल                                                 | नामादास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| भक्तमाल सटीक [ वि. सं. १७८२ ]                           | प्रियादास जी        | मनुआलाल जी पुजारी, वृन्दावन         |
| भगवतरसिक जी की वाणी                                     | भगवतरसिक जी         | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| भजनदास जी की वाणी                                       | भजनदास जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| भक्ति प्रार्थना बेली                                    | चाचा वृन्दावनदास जी | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| भगवतमुदित जी के पद                                      | भगवतमुदित जी गौड़ीय | गो. नवललाल जी, अहमदाबाद             |
| भक्त सुमिरनी                                            | प्रियादास जी गौड़ीय | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| भावामृत                                                 | सुखलाल जी गो.       | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| मधुराष्टक                                               | आचार्य बल्लभ        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |
| माधुर्यप्रकाश                                           | हितअनूप अलि जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन           |



|                                      |                                   |                                            |
|--------------------------------------|-----------------------------------|--------------------------------------------|
| मौझावली                              | वृन्दावनदास जी [द्वितीय]          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| मीठाजी की वाणी                       | मीठामाई जी                        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| मंगल जुगल विनोद बेली                 | चाचा वृन्दावनदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| मंत्र ध्यान पद्धति                   | अतिबल्लभदास जी                    | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| यमुनाष्टक                            | गो. हित हरिवंश जी                 | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| यमुनाष्टक                            | आचार्य बल्लभ                      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| युगल सनेह पत्रिका                    | चाचा वृन्दावनदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| युगल प्रीति प्रकाश पच्चीसी           | चाचा वृन्दावनदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| रसिकअनन्यमाल [ वि. सं. १७७० ]        | भगवतमुदित जी                      | गो. ब्रजबल्लभ जी, बैंगला वाले,<br>वृन्दावन |
| रसिकअनन्यमाल [ वि. सं. १७८६ ]        | भगवतमुदित जी                      | बाबा बैजनाथ जी, वृन्दावन                   |
| रसिकअनन्यमाल [ वि. सं. X ]           | भगवतमुदित जी                      | बाबा ध्रुवअलीशरण जी, वृन्दावन              |
| रसिकअनन्यमाल [ वि. सं. १८७६ ]        | भगवतमुदित जी                      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| रसिक नामावली                         | गो. चन्द्रलाल जी                  | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| रसिकभक्तगाथा                         | गोविन्दअली जी                     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| रसिकभक्तगाथा                         | गोविन्दअली जी                     | बाबा ध्रुवअलीशरण जी, वृन्दावन              |
| रसिकअनन्य परिचावली                   | चाचा वृन्दावनदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| रसिकअनन्य परिचावली                   | चाचा वृन्दावनदास जी               | हितरूप संग्रहालय, वृन्दावन                 |
| रसिक हृदयामरण                        | राधिकाचरणदास जी                   | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| रस निरूपण                            | सहचरिसुख जी                       | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| रसआन्हिकसत                           | ब्रजजीवनदास जी                    | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| राधासुधानिधि [वि. सं. १७१२ की प्रति] | गो. हित हरिवंश जी                 | गो. नवललाल जी, अहमदाबाद                    |
| राधासुधानिधि सटीक                    | संतदास जी [टीकाकार]               | हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन                  |
| राधासुधानिधि सटीक                    | तुलसीदास जी [टीकाकार]             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| राधासुधानिधि सटीक                    | लोकनाथ जी [टीकाकार]               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन                  |
| राधासुधानिधि सटीक,                   | भोलानाथ जी 'भोरीसखी' [टीकाकार]    | गो. मनोहरलाल जी,<br>अहमदाबाद               |
|                                      | [ प्राचीन ]                       |                                            |
| राधासुधानिधि सटीक                    | वृन्दावनदास जी, द्वितीय [टीकाकार] | र. भा. सं.                                 |

राधासुधानिधि सटीक

गो. कृपालाल जी एवं

नरोत्तमदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

हितदास जी, प्राचीन [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक, बृहद व्याख्या

हरिलालव्यास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक, मध्य व्याख्या

हरिलालव्यास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक, लघु व्याख्या

हरिलालव्यास जी [टीकाकार]

हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

रतनदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

हरीदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

कोऽपि अज्ञात रसिक [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक, [उक्त से भिन्न] कोऽपि अज्ञात रसिक [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

स्वामिनीशरण जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक, पद्यानुवाद

भोलानाथ जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक, हिन्दी गद्य

भोलानाथ जी [टीकाकार]

हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

बैजनाथ जी [टीकाकार]

श्रीराधागोपाल मंदिर, कोलारस

राधासुधानिधि सटीक

गो. मनोहरबल्लभ जी [टीकाकार] श्रीराधागोपाल मंदिर, कोलारस

राधासुधानिधि सटीक

रंगीलाल जी गो. [टीकाकार] गो. राधाप्रताप जी, अहमदाबाद

राधासुधानिधि सटीक

स्वामी जयदेव कवि जी [टीकाकार] बाबा कन्हैयादास, बरसाना

राधासुधानिधि सटीक

ब्रजगोपालदास जी [टीकाकार]

हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

लाङ्गिलीलाल जी गो. [टीकाकार]

गो. ब्रजबल्लभलाल जी,

बैंगलावाले, वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक

जुगलबल्लभ जी गो. [टीकाकार]

गो. वृन्दावनबल्लभ जी,

वृन्दावन

राधासुधानिधि सटीक, पद्यानुवाद

कोऽपि अज्ञात हित रसिक [टीकाकार]

बाबा हितबल्लभशरण

जी, बरसाना

राधासुधानिधि

गो. कृष्णदास जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

रीतिकालीन कवित्त संग्रह

संकलन

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

रूप रसिक जी की वाणी

रूपरसिक जी

बाबा बिहारीशरण जी, वृन्दावन

रूपसखी जी की वाणी

रूपसखी जी

रसिक बिहारी जी का मंदिर, वृन्दावन

लालस्वामी जी की वाणी

लालस्वामी जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन



|                                                      |                            |                                |
|------------------------------------------------------|----------------------------|--------------------------------|
| व्यासवाणी [ वि. सं. १७६६ की प्रति ]                  | हरिरामव्यास जी             | पं. वासुदेव जी खेमरिया, कोलारस |
| व्यासवाणी                                            | हरिरामव्यास जी             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावनमहिमामृतम्<br>[ प्रथम से सत्रह शतक तक ]      | प्रबोधानन्द जी सरस्वती     | गो. श्यामलाल जी, वृन्दावन      |
| वृन्दावनमहिमामृतम्, सटीक<br>[ सत्रहवाँ शतक ]         | भगवतमुदित जी [टीकाकार]     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावनमहिमामृतम्, सटीक<br>[ प्रथम से पंचम शतक तक ] | गो. चन्द्रलाल जी [टीकाकार] | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावन प्रकाश माला<br>[वि. सं. १८२५ की प्रति ]     | गो. चन्द्रलाल जी           | गो. अद्वैतचरण जी, वृन्दावन     |
| वृन्दावन प्रकाश माला                                 | गो. चन्द्रलाल जी           | गो. श्यामलाल जी, वृन्दावन      |
| वृन्दावन प्रकाश माला                                 | गो. चन्द्रलाल जी           | बाबा हितबल्लभशरण जी, बरसाना    |
| वृन्दावन प्रकाश माला                                 | गो. चन्द्रलाल जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावन शतक, सटीक                                   | बल्देवकवि [टीकाकार]        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावन शतक, सटीक                                   | राधिकाचरणदास जी [टीकाकार]  | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावन महिमा बेली                                  | चाचा वृन्दावनदास जी        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावन अष्टक                                       | कृष्णदास जी भावुक          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावनदास जी की वाणी                               | वृन्दावनदास जी [द्वितीय]   | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वृन्दावनधामानुरागावली                                | गोपाल कवि                  | गो. अद्वैतचरण जी, वृन्दावन     |
| वृन्दावन प्रेम विलास बेली                            | चाचा वृन्दावनदास जी        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| वैयासिकी अष्टक किंवा<br>हरिवंशाष्टक                  | गो. कृष्णदास जी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| स्फुटवाणी [वि. सं. १८०० की प्रति ]                   | गो. हित हरिवंश जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| स्फुटवाणी, सटीक                                      | रतनदास जी [टीकाकार]        | वैष्णव सिद्धनाथ, वृन्दावन      |
| स्फुटवाणी, सटीक                                      | ब्रजगोपालदास जी [टीकाकार]  | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| स्फुटवाणी, सटीक                                      | स्वामिनीशरण जी [टीकाकार]   | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |
| स्फुटवाणी, सटीक                                      | भोलानाथ जी [टीकाकार]       | हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन      |
| स्फुटवाणी, सटीक                                      | गोपालप्रसाद जी [टीकाकार]   | हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन      |
| स्फुटवाणी, सटीक                                      | गो. जुगलबल्लभ जी [टीकाकार] | हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन      |
| स्वामी हरिदास जी की वाणी                             | स्वामी हरिदास जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन      |

|                                  |                         |                                  |
|----------------------------------|-------------------------|----------------------------------|
| सर्वेस्वर प्रपत्ति               | निम्बार्कशरण देवाचार्य  | ब्रजबल्लभशरण जी, वृन्दावन        |
| सहचरिसुख जी की वाणी              | सहचरिसुख जी             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| समय प्रबन्ध                      | अतिबल्लभदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| समय प्रबंध [पंचम]                | चाचा वृन्दावनदास जी     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| समय प्रबंध [षष्ठम]               | चाचा वृन्दावनदास जी     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| समय प्रबन्ध [दसम]                | चाचा वृन्दावनदास जी     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| समय प्रबन्ध [एकादश]              | चाचा वृन्दावनदास जी     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| समय प्रबंध [त्रयोदश]             | चाचा वृन्दावनदास जी     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सार विचार ग्रन्थ                 | हित खुश्यालदास जी       | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सिद्धान्त के पद                  | स्वामी हरिदास जी        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सिद्धान्त विचार, सटीक            | सर्वसुखदास जी [टीकाकार] | राधागोपाल जी का मंदिर,<br>कोलारस |
| सिद्धान्त मुक्तावली              | आचार्य बल्लभ            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सिद्धान्त पच्चीसी                | सर्वसुखदास जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सुधर्म बोधनी                     | लाङ्गिलीदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सेवकवाणी [वि. सं. १७६६ की प्रति] | सेवक जी                 | गो. मनोहरलाल जी, अहमदाबाद        |
| सेवकवाणी [वि. सं. १८०० की प्रति] | सेवक जी                 | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सेवकवाणी, सटीक                   |                         |                                  |
| [हित प्रकाशिनी नाम्नी]           | रतनदास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सेवकवाणी, सटीक                   |                         |                                  |
| [रसिक मोदनी नाम्नी]              | हरिलालव्यास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सेवक जस विरदावली                 | चाचा वृन्दावनदास जी     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सेवकवाणी सिद्धान्त               | बल्लभदास जी महंत        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सेवक प्रिया विलास                |                         |                                  |
| [सेवक चरित्र]                    | प्रियादास जी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| सेवा विचार                       | ब्रजलाल जी गो.          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| श्री हरिवंश कृपा कटाक्ष चालीसा   | स्वामिनीशरण जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |
| श्री हरिवंश सहस्रनाम             | चाचा वृन्दावनदास जी     | रसभारती संस्थान, वृन्दावन        |



श्री हरिवंश चरित्र

[वि. सं. १७७० की प्रति]

उत्तमदास जी

गो. ब्रजबल्लभ जी, बैंगला वाले

वृन्दावन

श्री हिताचार्य द्वारा लिखित पत्र द्वय

गो. हित हरिवंश जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

श्री भट्ट जी की पदावली

श्री भट्ट जी

ब्रजबल्लभशरण जी, वृन्दावन

हरि कला बेली

चाचा वृन्दावनदास जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हरिवंशाष्टक

प्रबोधानन्द जी सरस्वती

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हरिवंशाष्टक, सटीक

गो. सुखलाल जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हरिवंशाष्टक, सटीक

लोकनाथ जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हस्तामलक

प्राणनाथ जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

धरनीधरदास जी [टीकाकार]

गो. हितानन्द जी, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

गो. रसिकलाल जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

अतिबल्लभदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

गो. सुखलाल जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

लोकनाथ जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

केलिदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

गो. चन्द्रलाल जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

जुगलदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

उत्तमनेह जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

प्रेमदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

रतनदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

राधिकाचरणदास जी [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चौरासी, सटीक

कोऽपि अज्ञात रसिक [टीकाकार]

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित शास्त्र

मदनमोहनदास जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित बघाई अष्टक

मीठा जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित चन्द्र प्रकाश

प्रीतमदास जी

रसभारती संस्थान, वृन्दावन

हित हरिवंश चरित्र

मदनमोहनदास जी

सहचरिशरण जी सूबेदार, इटावा

हित भक्ति कल्पतरु

चाचा वृन्दावनदास जी

गो. श्यामलाल जी, वृन्दावन

|                             |                          |                             |
|-----------------------------|--------------------------|-----------------------------|
| हित भक्ति कल्पतरु           | चाचा वृन्दावनदास जी      | गो. वृन्दावनबल्लभ, वृन्दावन |
| हित दशावधी                  | सर्वसुखदास जी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित प्रभावली                | सर्वसुखदास जी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित यश रसामृत सिन्धु        | राधिकाचरणदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित स्वरूप बेली             | चाचा वृन्दावनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हितध्रुव वाणी की फलस्तुति   | अनन्यअली जी              | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हितध्रुव वाणी की फलस्तुति   | रानी कमलकुँवरि 'हितदासी' | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हितध्रुव वाणी की फलस्तुति   | राधादास जी               | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित रूप चरित्र बेली         | चाचा वृन्दावनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित रूप चरित्र बेली         | चाचा वृन्दावनदास जी      | हितरूपसंग्रहालय, वृन्दावन   |
| हित रूप वाणी                | गो. हित रूपलाल जी        | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित स्वरूप उत्कर्ष यश       | प्रीतमदास जी             | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित छप्पे की टीका           | वृन्दावनदास जी [द्वितीय] | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित सुमिरनी                 | स्वामिनीशरण जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित कुल की जनम बधाई         | चाचा वृन्दावनदास जी      | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित बोधनी                   | स्वामिनीशरण जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हितानन्द सागर लहरी          | स्वामिनीशरण जी           | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित कृष्णदास स्तोत्र        | अनन्त भट्ट जी            | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हिरदै सिद्धान्त निधि        | गुलाबलाल जी गो.          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हिंडोरा षोड़षी              | कीर्तिलाल जी गो.         | गो. मनोहरलाल जी, अहमदाबाद   |
| हित चौरासी सूचनिका          | चन्द्रलाल जी गो.         | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित वंशी स्तोत्र            | चतुरशिरोमणिलाल जी गो.    | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हित जनम बधाई                | ब्रजजीवनदास जी           | व्यास भवन, बादग्राम         |
| हित तत्व मर्म वचनिका        | राधिकाचरणदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हितपथ दर्शक वचनिका          | राधिकाचरणदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |
| हितधर्मीनु धर्म प्रसंग बेलि | राधिकाचरणदास जी          | रसभारती संस्थान, वृन्दावन   |

#### विशेष ज्ञातव्य —

उपर्युक्त नामावली के अतिरिक्त अष्टम अध्याय में उल्लिखित सभी वाणी ग्रन्थ भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सहायक ग्रन्थ हैं।



## मुद्रित ग्रन्थ -

|                                                          |                   | चैतन्यचरितेरउपादान           | विमानबिहारी मजूमदार |
|----------------------------------------------------------|-------------------|------------------------------|---------------------|
| अनुभव रस                                                 | हीरासखी जी        | छान्दोग्य उपनिषद             | -                   |
| अणु भाष्य                                                | आचार्य बल्लभ      | जयाख्य संहिता                | -                   |
| आर्षेय ब्राह्मण                                          | -                 | जायसी ग्रन्थावली             | जायसी               |
| आत्म पंचक                                                | आचार्य शंकर       | तैत्तरीय उपनिषद              | -                   |
| आत्म बोध                                                 | आचार्य शंकर       | दादू दयाल की वाणी            | दादू दयाल जी        |
| आनंद वृन्दावन चम्पू                                      | कवि कर्णपूर       | नन्ददास ग्रन्थावली           | नन्ददास जी          |
| आदि पुराण                                                | -                 | नारद भक्ति सूत्र             | महर्षि नारद         |
| ईश्वर संहिता                                             | -                 | नारद पांचरात्र               | -                   |
| ऐतरेय ब्राह्मण                                           | -                 | नागर समुच्चय                 | नागरीदास जी         |
| ऐतरेय उपनिषद                                             | -                 | नाट्य शास्त्र                | आचार्य भरत मुनि     |
| ऋग्वेद                                                   | -                 | नाट्य शास्त्र-टीका           | अभिनव गुप्त         |
| कठोपनिषद                                                 | -                 | निम्बार्क भाष्य              | निम्बार्कआचार्य     |
| कबीर ग्रंथावली                                           | कबीरदास जी        | परम संहिता                   | -                   |
| कबीर साहित्य की परख                                      | परशुराम चतुर्वेदी | पद्म पुराण                   | -                   |
| काव्य प्रकाश                                             | आचार्य मम्मट      | पलदू साहब की वाणी            | पलदू साहब           |
| काँकरौली का इतिहास                                       | -                 | पाराशर संहिता                | -                   |
| कृष्णाश्रय                                               | आचार्य बल्लभ      | पाण्डुरंगाष्टक               | आचार्य शंकर         |
| कृष्ण गीतावली                                            | गो. तुलसीदास जी   | प्रेम पत्तनम्                | रसिकोत्तंश जी       |
| कृष्णाष्टक                                               | आचार्य शंकर       | प्रेम विलास                  | -                   |
| केनोपनिषद                                                | -                 | ब्यालीस लीला                 | हितघुवदास जी        |
| गरीबदास की वाणी                                          | गरीबदास जी        | बाल्मीकि रामायण              | महर्षि बाल्मीकि     |
| गद्यत्रय [ शरणागति गद्य,<br>श्री रंग गद्य, बैकुण्ठ गद्य] | आचार्य रामानुज    | बिहारी सतसई                  | बिहारी कवि          |
| गीत गोविन्द                                              | महाकवि जयदेव      | बिहार वाले दरियासाहब की वाणी | दरिया साहब          |
| गीता भाष्य-उपोदघात                                       | आचार्य शंकर       | बृहद् ब्रह्म संहिता          | -                   |
| गोपद ब्राह्मण                                            | -                 | बृहद् भागवतामृत              | सनातन गो.           |
| गौर गणोद्देश्य दीपिका                                    | कवि कर्णपूर       | बृहदारण्यक उपनिषद            | -                   |
| घट रामायण                                                | -                 | ब्रह्म वैवर्त पुराण          | -                   |

|                           |                   |                           |                    |
|---------------------------|-------------------|---------------------------|--------------------|
| ब्रह्म सूत्र भाष्य        | आचार्य शंकर       | वेदार्थ संग्रह            | रामानुजाचार्य      |
| भक्ति रसामृत सिन्धु       | रूप गोस्वामी पाद  | वैखानस आगम                | —                  |
| भक्तमाल                   | लालदास जी         | वैष्णव मताब्ज भाष्कर      | आचार्य रामानन्द    |
| भक्तमाल                   | नाभादास जी        | वैष्णव वन्दना             | जीव गोस्वामी       |
| भक्तमाल, सटीक             |                   | स्फुटवाणी                 | गो. हित हरिवंश जी  |
| [ भक्ति रस बोधनी ]        | प्रियादास जी      | सम्प्रदाय कल्पद्रुम       | —                  |
| भक्ति सागर-शब्द वर्णन     | —                 | सम्प्रदाय प्रदीप          | —                  |
| भगवन् मानस पूजनम् स्तोत्र | आचार्य शंकर       | सर्व दर्शन संग्रह         | मध्वाचार्य         |
| भाष्य                     | मध्वाचार्य        | सनत्कुमार संहिता          | —                  |
| मनुस्मृति                 | —                 | सर्वगी [ रज्जब ]          | —                  |
| महाभारत                   | —                 | साहित्य रत्नावली          | किशोरीशरण 'अलि'    |
| मलूकदास की वाणी           | मलूकदास           | साधन दीपिका               | राधाकृष्ण गो.      |
| मारवाड़ वाले दरियासाहब    |                   | सिद्धान्त रत्नाञ्जली      | हरिव्यास देवाचार्य |
| की वाणी                   | दरिया साहब        | सूर सागर                  | सूरदास जी          |
| मार्कण्डेय संहिता         | —                 | सेवकवाणी                  | सेवक जी            |
| मुण्डक उपनिषद             | —                 | संत काव्य                 | परशुराम चतुर्वेदी  |
| मोहनमत्त जी की मौंझ       | मोहनमत्त जी       | श्वेताश्वेत्तर उपनिषद     | —                  |
| राधासुधानिधि              | गो. हित हरिवंश जी | शतपथ ब्राह्मण             | —                  |
| रामार्चन पद्धति           | आचार्य रामानन्द   | शांडिल्य भक्ति सूत्र      | महर्षि शांडिल्य    |
| रामचरितमानस               | गो. तुलसीदास जी   | शिक्षाष्टक                | श्री चैतन्य देव    |
| व्यास वाणी                | हरिरामव्यास जी    | शुद्धाद्वैत मार्तण्ड      | —                  |
| वात्सायन काम सूत्र-टीका   | यशोधर             | शृंगार प्रकाश             | महाकवि भोज         |
| विज्ञान नौका              | आचार्य शंकर       | श्रीमद्भागवत महापुराण     | महर्षि वेदव्यास    |
| विवेक चूड़ामणि            | आचार्य शंकर       | श्रीमद्भागवत-सुबोधनी टीका | आचार्य बल्लभ       |
| विष्णु तत्त्व संहिता      | —                 | श्रीमद्भागवतगीता          | —                  |
| विष्णु पुराण              | —                 | हस्तामल स्तोत्र           | आचार्य शंकर        |
| वेदान्त रत्न मंजूषा       | पुरुषोत्तमाचार्य  | हरि भक्ति विलास           | गोपाल भट्ट जी      |
| वेदान्त कामधेनु           | —                 | हरिवंश पुराण              | —                  |
| वेदान्त पारिजात सौरभ      | निम्बार्काचार्य   | हयग्रीव संहिता            | —                  |



हित रहस्य प्रबोध राधिकाचरणदास जी

हित सुधा सागर संकलन

हिन्दी ऑफ मेडिकमयल

इण्डिया डॉ. ईश्वरी प्रसाद सिंह

हिन्दीसाहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य का

आलोचनात्मक इतिहास डॉ. रामकुमार वर्मा

खोज रिपोर्ट -

शिवसिंह सरोज शिवसिंह सेंगर

नागरी प्रचारणी की खोज रिपोर्ट

वाणी खोज विवरण किशोरीशरण 'अलि'

पत्र-पत्रिकाएँ -

प्रेम संदेश

ब्रज भारती

विष्णु प्रिया

# रस भारती संस्थान के प्रकाशन

## ● अनन्यअली जी की वाणी

वि. सं. १७३८ में जन्मे अनन्य रसिक श्रीअनन्यअली जी की यह वाणी रस रूप श्री श्याम-श्याम की रस केलि का वाङ्मय रूप है। इस वाणी में रचयिता की छोटी-बड़ी नव्यै रसमयी रचनाओं का संकलन-सम्पादन डॉ. जयेश खण्डेलवाल द्वारा किया गया है। वाणी प्रारंभ से पूर्व श्री किशोरीशरण 'अलि' द्वारा लिखित लघु शोध प्रबंध वाणीकार अनन्यअली जी के जीवनवृत्त और उनकी रचनाओं के स्वरूप का निकट परिचायक है।

## ● मीठा जी की वाणी

इस वाणी में गुजरात प्रान्त में वि. सं. १७६० के लगभग जन्मे मीठा भाई की 'हित बधाई अष्टक' 'रतिरण केलि लता' और 'पदावली' नामक तीन रचनाओं का संकलन है। रचनाओं का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रस मूर्ति श्यामा-श्याम की रस केलि वर्णना है।

## ● राधिकाचरणदास जी की वाणी [ प्रथम खण्ड ]

इस वाणी में रसिकवर राधिकाचरणदास जी की 'कृपा प्रार्थना शतक' 'तत्त्व सार चेतावनी लीला' 'हित पच्चीसी' 'सुन्दर स्वभाव पच्चीसा' इन चार रचनाओं का संकलन है। रचनाओं में रसोपासना संबंधी विविध ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला गया है।

## ● रस आन्हिक सत

रसिकवर ब्रजजीवन जी की इस लघु काय रचना में रसमूर्ति युगल की अष्टयामी रस केलि का वाङ्मय रूप प्रदर्शित किया गया है।

## ● हित अष्टयाम

इस अष्टयाम वाणी के रचयिता रसिकवर मदनमोहनदास जी हैं। वाणी में श्यामा-श्याम की अष्टयामी क्रीड़ाओं का वर्णन है।



### ● अलि-उराभरन

श्री किशोरीशरण 'अलि' कृत यह ग्रन्थ राधाकिंकरीभाव के भावुकों का उपजीव्य ग्रन्थ है। साथ ही यह सभी प्रकार के काव्य कला-कोविदों की मनस्तुष्टि करने में भी पूर्ण उपादेय है।

### ● सनेह सतसई

ब्रज साहित्य के अधिकारी विद्वान श्री किशोरीशरण जी 'अलि' प्रणीत इस सुरम्य रचना में 'प्रेम' के विविध आयामी रूप की कमनीय किरणों का विकीर्णन किया गया है।

### ● ब्रजजीवन और उनका कवित्त साहित्य

डॉ. जयेश खण्डेलवाल का यह लघु शोध प्रबंध ब्रजभाषा के अज्ञात रसिक कवि ब्रजजीवन जी के जीवनवृत्त एवं उनके कवित्त साहित्य का परिचायक तो है ही साथ ही अधुनातन अनुसंधित्सुओं के लिए अनुसन्धान के गहन क्षेत्र में प्रवेश पाने की कुंचिका स्वरूप है।

### ● प्रेम स्वरूप श्री हरिवंशचन्द्र और उनका जन्मोत्सव

श्री युत अलि जी के इस ग्रन्थ में श्री हिताचार्य की प्रेम स्वरूपता पर प्रमाण पुष्ट प्रकाश डाला गया है साथ ही हित हरिवंश जन्मोत्सव के पारम्परिक इतिहास को भी आलोकित किया गया है।

### ● हिन्दी भक्ति काव्य में रसभक्तिधारा और उसका वाणी साहित्य

यह बृहद् शोध ग्रन्थ वस्तुतः गो. श्री हित हरिवंशोदित रसोपासना किंवा प्रेमोपासना सम्बन्धी अनेकानेक गूढ़ गुत्थियों का उद्घाटक है; जिसकी रमणीय रश्मियों का कथंचित आलोक 'साहित्य रत्नावली' के रूप में वि. सं. २००६ में ही लोक प्रत्यक्ष हो चुका था। मर्मी साहित्यकार श्री युत अलि जी प्रणीत यह शोध ग्रन्थ श्री हित पदैक निष्ठ रसिकों को उनका अभीष्ट आनन्द वर्षक और समस्त सुबुधजनों का चित्ताकर्षण करने वाला है। ग्रन्थ रस और रसिक वाणी का साहित्य भी है और उसका प्रमाण पुष्ट इतिहास भी; इसीलिये यह रसिक-जनों को रसोल्लास और इतिहास प्रिय विद्वानों को अभीप्सित प्रकाश-प्रदायक है।













रस-मूल मुरलिका  
रस भारती संस्थान, वृन्दावन

---

पुस्तक प्राप्ति स्थान  
खण्डेलवाल एण्ड सन्स  
अठखम्भा बाजार, वृन्दावन  
दूरभाष — ४४३१०१